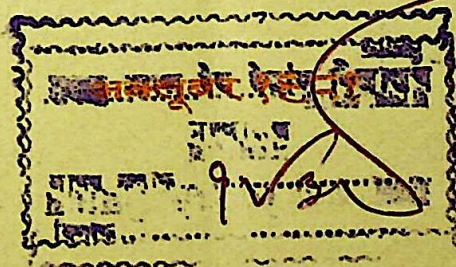


२६ ३५





आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक मासिक



काशी मुमुक्षु भवन सभा, वाराणसी

सन्देश

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि काशी मुमुक्षु भवन से 'मुमुक्षु' नामक आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक मासिक पत्रिका प्रकाशित होने जा रही है। विश्वनाथ की नगरी काशी त्रिशूल पर विराजित है—अर्थात् त्रिगुणातीत है। विश्व विराट् के समान काशी, तैजस—हिरण्यगर्भ के समान वाराणसी, प्राज्ञ—ईश्वर के समान अन्तर्वेदी और तुरीय ब्रह्मरूप अविमुक्त क्षेत्र है। इस पुरी के स्वरूप का विचार करने मात्र से अद्वैत वस्तु का बोध हो जाता है। इस पुरी के कंकड़-पत्थर भी शंकर के समान हैं। यहां शरीर त्याग करनेवालों को स्वयं भगवान् शंकर अन्त समय में तारक ब्रह्म का उपदेश करते हैं। यहां ऐसा कोई नहीं है जो मुक्त न हो।

यह पुरी संस्कृति व धर्म की जन्मभूमि एवं राजधानी है। यहां के महात्माओं एवं विद्वानों ने परम्परागत वैदिक सनातन धर्म की रक्षा एवं संवर्धन के लिए बहुत बड़ा तप एवं त्याग किया है। हमें पूरा विश्वास है कि 'मुमुक्षु' पत्रिका काशी के गौरवानुरूप स्थान ग्रहण करेगी।

आनन्द वृन्दावन

—अखण्डानन्द सरस्वती

*

*

*

इस समाचार से प्रसन्नता हुई कि काशी से 'मुमुक्षु' पत्रिका निकल रही है। मैं अब ८९ वें वर्ष में चल रहा हूँ और यह स्वाभाविक है कि इस वय में मेरी प्रवृत्ति कुछ अध्यात्म की ओर हो जाय। मेरे ऐसे और भी अनेक व्यक्ति होंगे। मुझे विश्वास है कि यह पत्रिका मेरे ऐसे लोगों के लिए एक बड़े अभाव को पूर्ति करेगी, कम वय के भी अनेक व्यक्तियों में अध्यात्म की पिपासा रहती है। वह उनके लिए भी उपयोगी होगी। आज जब हिन्दो में अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ सस्ते मनोरंजन या 'उपयोगिता' (भौतिक) की दृष्टि से निकाली जा रही हैं, 'मुमुक्षु' एक अभाव को पूर्ति करेगा। उसकी सफलता की हार्दिक कामना करता हूँ।

५३ खुर्शेद बाग

लखनऊ ४

—श्रीनारायण चतुर्वेदी

*

*

*

यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि काशी के मुमुक्षु भवन की ओर से 'मुमुक्षु' नामका मासिक पत्र प्रकाशित किया जा रहा है। मुझे विश्वास है, इस पत्र के द्वारा उन जिज्ञासुओं और मोक्षार्थियों को बड़ा आलोक मिलेगा जो मानव-जीवन के परम पुरुषार्थ (निःश्रेयस) की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं। मैं इस पत्र की निरन्तर अभ्युन्नति की मंगल कामना करता हूँ।

वेदपाठी भवन

मुजफ्फरनगर

—सीताराम चतुर्वेदी



फोन : ६४३८०

काशी मुमुक्षु भवन सभा

अस्सी, वाराणसी-२२१००५

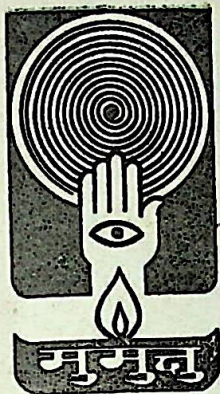
मान्यवर,

आप की सेवा में काशी मुमुक्षु भवन सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित 'मुमुक्षु' पत्र का प्रथम अंक भेजा जा रहा है। इस नवोदित मासिक पत्र के सम्बन्ध में अपने सुझाव तथा सम्मति भेजने की कृपा करें।

इस संस्था के सदस्य बनकर इस संस्था के सेवा-कार्य में सहभागी बनें।

सदभावी

पुरुषोत्तमदास मोदी



आध्यात्मिक
तथा
सांस्कृतिक
मासिक

वर्ष १ : अंक १
अक्टूबर १९८१

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी

वार्षिक : दस रुपए
एक अंक : एक रुपया

शंकराचार्य वाणी

श्रद्धाभक्तिध्यानयोगान्मुमुक्षो-

सुवतेर्हेतून्वक्ति साक्षाच्छ्रुतेर्गाः ।

यो वा एतेष्वेव तिष्ठत्यमुष्य

मोक्षोऽविद्याकल्पिताद्वेहबन्धात् ॥

—विवेकचूडामणि

भगवती श्रुति मुमुक्षु के मोक्ष के लिए तीन कारण बतलाती है—
श्रद्धा, भक्ति और ध्यानयोग । जो मुमुक्षु जन इन तीनों को अपना लेता है वह
अविद्या माया के द्वारा कल्पित शरीर-बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

शिवशक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ॥

—सौन्दर्यलहरी

यदि शिव शक्ति से संयुक्त हो तो वह सृष्टि कार्य में समर्थ हो जाता है ।
किन्तु इसके विपरीत यदि वह शक्ति से वियुक्त या अलग रहे तो स्वतः हिल
तक नहीं सकता । अतः विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्रादि देवों द्वारा पूज्या है
माता, कोई पुण्यहीन व्यक्ति आपको प्रणाम करने अथवा आपको स्तुति करने
में कैसे समर्थ हो सकता है । केवल पुण्यात्मा जन ही आपके प्रणमन या स्तवन
में कृतकार्य होते हैं ।

मुमुक्षु

मुमुक्षु का शब्दार्थ है मोक्ष की इच्छा करनेवाला। मोक्ष की परिभाषा अनेक सम्प्रदायाचार्यों, दार्शनिकों ने अलग-अलग की है। अद्वैत दर्शन के अनुसार जीव और ब्रह्म (ईश्वर) एक ही हैं। जीव जब साधना द्वारा माया को हटाकर ब्रह्म में लीन हो जाता है तब यही स्थिति मोक्ष है। द्वैत के अनुसार जीव और ब्रह्म दोनों की सत्ता अलग-अलग है। जब जीव (मनुष्य) भक्ति के द्वारा ईश्वर को अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है और उसके सगुण रूप के भजन-कीर्तन में जिस आनन्द का अनुभव करता, इष्ट के प्रति समर्पित भक्त के मन में विकल्पों की तरंगें तरंगित नहीं होतीं तब यही स्थिति मोक्ष है। ऐसे भक्त उस मोक्ष की कामना नहीं करते जिसमें जीव ब्रह्मलीन हो जाता है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार मुक्ति एक ही है और वह है त्रिविध दुःखों का आत्यन्तिक उच्छेद। मुक्तावस्था में क्या मिलता है, क्या दीखता है? यह सब विचार व्यर्थ है। सत् कर्म कीजिए। सदाचार-परायण रहिए। सद्बिचार धारण कीजिए। सुकृति का आदर कीजिए, विकृति का निरादर। द्वेष से द्वेष, क्रोध का विरोध, कामरस का परित्याग, लोभ का निराकरण, पाखण्ड का खण्डन, मद का दमन और सत्य-स्वरूप ब्रह्म की उपासना—इसी से जीव को ब्रह्मदर्शन होता है। यही मोक्ष है।

शैव सम्प्रदाय ने मोक्ष का अर्थ 'जीव को शिवत्व' की प्राप्ति माना है जो अद्वैत दर्शन से भिन्न नहीं है। शाक्तों के अनुसार भगवान् की भगवत्ता की मूलभूत आधार-शक्ति के आनन्दमय अंक की प्राप्ति ही मोक्ष है।

नास्तिक दर्शन के प्रवर्तक आचार्य चार्वाक ने पुनर्जन्म को अस्वीकार कर दिया है। उसके अनुसार वर्तमान जीवन को सुखमय बनाकर चारों ओर से समृद्धियों को जुटाकर अत्यन्त वैभव और ऐशोआराम का जीवन जीते हुए मृत्यु का आलिङ्गन करना ही सबसे बड़ा मोक्ष है।

जैन धर्म के अनुसार कर्म जात का क्षय होने पर और आत्मस्वरूप को आवृत्त करने पर जीव की ऊर्ध्वाभिमुख गति ही मोक्ष है। बौद्ध धर्म के अनुसार ज्ञान के विषय सम्पर्क रूप की कालिमा को निरस्त कर नितान्त निर्मल धारा प्रवाहित करना या उसे सदा के लिए निर्वाण कर देना ही मोक्ष है।

हजरत मूसा के अनुयायी यहूदी, महात्मा ईसा के अनुयायी ईसाई और पैगम्बर मुहम्मद के अनुयायी मुसलमान जीव की मुक्ति ईश्वरीय राज्य में प्रवेश पाना मानते हैं। यहूदी और ईसाई यह स्वर्गीय राज्य किसी मुक्तिदाता के द्वारा प्राप्त करेंगे। ईसाई तो ईसा मसीह को ही मुक्तिदाता मानते हैं। परन्तु ईसा को क्रूस पर चढ़ानेवाले यहूदी उन्हें मुक्तिदाता नहीं मानते। वे अपने मुक्तिदाता का इन्तजार कर रहे हैं। यहूदी, ईसाई और मुसलमान पुनर्जन्म नहीं मानते। उनका विश्वास है कि कयामत (महाप्रलय) के दिन सभी जीव अपने स्वरूप में उठ खड़े होंगे। उस समय यहूदियों के मुक्तिदाता, ईसाइयों के मुक्तिदाता येशु और मुसलमानों के मुक्तिदाता मुहम्मद अपने-अपने भक्तों को स्वर्ग राज्य में प्रवेश दिलायेंगे और बाकी को नरक में डाल देंगे।

[शेष पृष्ठ १० पर]

भक्ति क्या है ?

— स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती

परिभाषा

परमेश्वर के प्रति परमप्रेम को ही भक्ति कहते हैं। भक्ति के दो भेद बताये गये हैं—परा और अपरा। जिसमें सुख की प्राप्ति होती है वह अपरा भक्ति है और जिसमें शान्ति होती है वह परा भक्ति है। अपरा भक्ति से परा-भक्ति निष्पन्न होती है ? इष्टदेव के प्रति परमप्रेम होने से अन्यो के प्रति वैराग्य हो जाता है, केवल उपास्य देव में निष्ठा हो जाती है। यही पराभक्ति है और इसी से शाश्वत शान्ति मिलती है।

यह भक्ति ज्ञानरूप नहीं है, क्योंकि जिसका ज्ञान हो, उसी की भक्ति हो—यह नियम नहीं है। किसी-किसी का तो ज्ञान होने पर उससे द्वेष भी हो जाता है। अनुराग द्वेष का विरोधी है। ज्ञान राग और द्वेष दोनों में अनुगत है। अनुरागी पर भगवान् की कृपा होती है और उसे पूर्ण कल्याण की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु किसी-किसी का यह आक्षेप है कि राग अविद्या है, जो एक क्लेश है। परन्तु यह सिद्धान्त केवल सांसारिक राग के सम्बन्ध में है। भक्ति तो परमेश्वर विषयक राग है। इसमें केवल वृत्ति-निरोध करना होता अथवा द्रष्टा को अपने स्वरूप में स्थित होना होता तो उनका आक्षेप सत्य होता। यहाँ तो सम्पूर्ण विश्व सहित बुद्धि को परमेश्वर में लीन होना है।

भक्ति की पहचान

ईश्वर में परम प्रेम एक निजी अनुभूति की वस्तु है, उसे दूसरा कोई नहीं पहचान सकता। ऐसी स्थिति में प्रश्न

उठता है कि भक्ति की व्यावहारिक पहचान क्या है ? इसके लिए भक्ति के अनेक आचार्यों ने लक्षण बताये हैं, जिनके अनुसार इष्टदेव का चरित्र, नाम, गुण आदिका श्रवण-वर्णन और उन्हें गुणगुनाना, परम प्रियतम ईश्वर की प्यारी वस्तु में मन रमाना, भगवान् के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण, सम्पूर्ण जगत् को भगवद्रूप समझकर उसकी सेवा करना, अपनी मति, रति, गति, जीवन एवं प्राण भगवान् में लीन कर देना ही भक्ति की पहचान है।



लेखक

भक्ति कैसे मिले ?

भक्ति-सिद्धान्त का सर्वस्व ईश्वर है। जीव और जगत् उससे अभिन्न है। ऐसी स्थिति में ईश्वर अथवा उससे अभिन्न भक्त जनों के अनुग्रह के बिना भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु यह अनुग्रह प्राप्त करना जीव के वश में नहीं है। अतः साधन के रूप में अनुग्रह की गणना नहीं की जा सकती। जीव केवल इतना ही कर सकता है कि वह इस अनुग्रह की प्रतीक्षा करे, आकुल-व्याकुल अन्तर

से। दूसरी बात यह हो सकती है कि क्षण-क्षण और कण-कण में अनुग्रह का ही समीक्षण किया जाय। यह प्रतीक्षा और समीक्षा जीव की ओर से की जाती है। अतः इसका साधन कोटि में सन्निवेश हो जाता है।

स्वधर्म का निष्काम आचरण करके उसके द्वारा भगवान् की आराधना उनके सन्तोष का कारण है। योगाभ्यास के द्वारा विषयाभिमुख मन को लौटाकर ईश्वर के सम्मुख करना भी भक्ति का हेतु है। विनय और दैन्य द्वारा अपने अहं को

अत्यन्त क्षीण कर देने पर भी अन्तःकरण में भगवान् प्रकट हो जाते हैं।

भगवद्भक्ति प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित सात भूमियों की चर्चा की गयी है—

(१) भगवान् के नाम का आश्रय, (२) भगवान् के रूप का सहारा, (३) भगवान् के ऐश्वर्य का दर्शन, (४) सर्वत्र भगवान् की शक्ति का चिन्तन, (५) सर्वत्र भगवान् के गुणों का दर्शन, (६) सर्वत्र परमात्म-भाव की भावना, (७) आत्मा में परमात्म-स्वरूप की अनुभूति। इस प्रकार भक्ति का प्रत्येक अंग साधन भी है, फल भी है। भक्ति स्वयं फलरूप है। सभी फलों के फल हैं भगवान्। जहाँ वृत्ति उनसे एक हो जाती है, वहीं वह भक्ति हो जाती है। भक्ति चाहे जैसे भी मिले, भक्ति में आग्रह है, साधन में नहीं।

भक्ति का परिपाक

जिस प्रकार 'मैं जानता हूँ', 'चाहता हूँ', ये वृत्तियाँ स्वयं जानी जाती हैं, उसी प्रकार 'मैं अनुरागी हूँ', 'सेवक हूँ' ये वृत्तियाँ भी स्वयं जानी जाती हैं। परन्तु इनके परिपाक का निर्णय प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकता। लोक में जानकारी, चाह, अनुराग, सेवा—ये सब बदलते हुए देखे जाते हैं। अतः लौकिक दृष्टि से ही इनके सम्बन्ध में निर्णय किया जा सकता है। जैसे प्रियतम के नाम, चरित, चिह्न आदि के दर्शन-श्रवण से आँखों में आँसू, शरीर में रोमांच आदि देखकर हृदय के प्रेम का अनुमान किया जाता है वैसे ही भक्ति के सम्बन्ध में भी है। भक्ति का परिपाक निम्नलिखित भावनाओं से स्पष्ट होता है—

इष्ट का सम्मान, तत्सम्बन्धी वस्तुओं का भी सम्मान, प्रीति, विरह, अनन्यता, महिमागान, इष्ट के लिए जीना, सर्वस्व समर्पण, सबमें भगवान् का अनुभव करना, भगवान् के प्रतिकूल व्यवहारों को भी अनुकूल समझना।

भक्ति का अधिकारी

भक्ति में सबका अधिकार है। जो नीच से नीच योनि में उत्पन्न हुए हैं वे भी भक्ति के अधिकारी हैं। क्योंकि भक्ति प्रारब्धजन्य जातिगत अपवित्रता को मिटा देती है। इसलिए भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि का भेद नहीं होता। इसका कारण यह भी है कि वे सब

इन बाह्य भेदों की ओर से दृष्टि हटाकर भगवान् के सम्मुख हो जाते हैं, भगवान् के अपने हो जाते हैं।

नियम-पालन

जहाँ कर्मकाण्ड में देश, काल, दिशा, पवित्रता, स्थिति आदि नियमोपनियमों का विधान किया गया है वहाँ भक्ति के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है, जो बन्धनकारक हो। अपने इष्टदेव को सोते, बैठते, चलते, खाते-पीते किसी भी अवस्था में देख सकते हैं। भक्ति का ध्यान है मन की तृप्ति, आनन्द का आविर्भाव। जहाँ चित्त निर्मल हो, जहाँ इष्टदेव-स्मरण हों, जहाँ उनके रूप, लीला, नाम, धाम में तन्मयता हो, वही काल, वही देश, वही स्थिति सर्वोत्तम है।

भक्ति की शक्ति

भगवान् का थोड़ा-सा भी स्मरण अथवा नामकीर्तन बड़े-से-बड़े पापों को नष्ट कर देता है। श्रीमद्भागवत में अज्ञान से उच्चरित भगवन्नाम को भी महापाप का दाहक माना है। संकेत, परिहास, टेक, डाँट-फटकार और अवहेलना से भी नामोच्चारण समस्त पापों का नाशक होता है। अजामिल ने मरते-मरते अपने 'नारायण' नामक पुत्र को पुकारा था और वह कल्याण-पथ का पथिक हो गया था।

भक्ति के गुण

भक्ति के अनन्त गुण हैं। भक्ति साध्य है, साधन नहीं। भक्त भक्ति के सामने मुक्ति की भी उपेक्षा कर देते हैं। भक्ति सभी प्रकार के क्लेशों का नाश कर देती है। जैसे प्रदीप्त अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है वैसे ही भक्ति संचित्तादि पाप-समूहों को भस्म कर देती है।

भगवान् की भक्ति सर्वात्मा की सेवा है। क्योंकि वे सर्वात्मा हैं। इसी से भक्ति करवे पर सम्पूर्ण विश्व को तृप्त करने का फल मिल जाता है। भक्त को सभी प्रकार के सुख अनायास मिल जाते हैं। हृदय में भक्ति विराजमान होते ही चारों पुरुषार्थ तृणवत् हो जाते हैं। मुक्ति आदि सिद्धियाँ और अद्भुत मुक्तियाँ भक्ति की दासी हैं। किन्तु भक्ति दुर्लभ है। कोई भक्त अपने पौरुष के बल पर भक्ति को सुगम नहीं बना सकता और भगवान् भी भजन करने वालों को मुक्ति तो सुलभ कर देते हैं परन्तु भक्ति सबको

[शेष पृष्ठ १३ पर]

अर्थ को परमार्थ बनाइए

— स्व. भाईजी श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार

भारतीय संस्कृति में प्रसिद्ध चार पुरुषार्थ हैं—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। अर्थ सबसे पहले है; क्योंकि अर्थ के बिना संसार में जीवन-यापन नहीं हो सकता, पर अर्थ अनर्थ रूप बनकर पतन, भीषण दुःख एवं नरक-यन्त्रणा का कारण भी बन सकता है और अर्थ परमार्थ-रूप बनकर उत्थान, आत्यन्तिक सुख और परम कल्याण मोक्ष का हेतु भी बन सकता है। जो अर्थ धर्म-नियन्त्रित, धर्ममूलक और धर्म-साधनार्थ है, वह परमार्थ रूप है। उससे प्राप्त होने वाला 'काम' भी पवित्र है और उसका फल मोक्ष है। धर्म वही है, जिससे परिणाम में अपना और दूसरों का हित हो, जिससे सबका धारण हो। यह धर्म तथा अध्यात्म भारतीय संस्कृति की आत्मा है। पर जो अर्थ भोगवासना प्रेरित है, भोगमूलक और नीच स्वार्थ-मोहजनित संग्रह या इन्द्रिय-तृप्त्यर्थ है, उसका फल बन्धन है, नरक है। इसीसे धर्महीन तथा भौतिक भोगों में रचा-पचा मनुष्य पशु या असुर ही हो जाता है।

शुद्ध अर्थ का धर्म के साथ नित्य सम्बन्ध है। इसी से वर्ण धर्म के अन्तर्गत एक पूरा वर्ण—वैश्य वाणिज्य, गोरक्षण और कृषि आदि के द्वारा अर्थोत्पादन करके अपना एवं सबका जीवन-निर्वाह करता है, वाणिज्य आदि के द्वारा वह अपनी जीविका चलाता हुआ सेवा करता है और इसी के

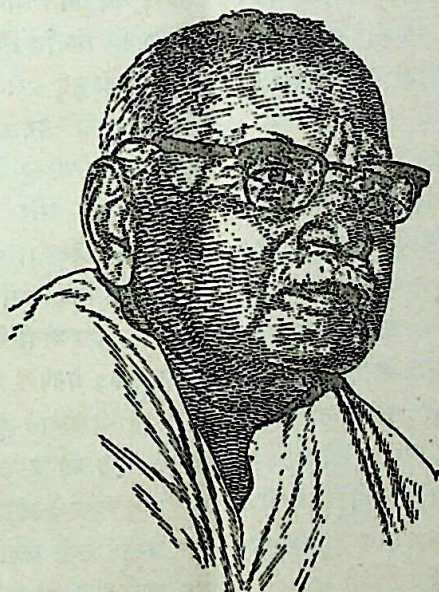
द्वारा वह मानव-जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष का अधिकारी होता है। हमारा प्रत्येक क्षुद्र-से-क्षुद्र कर्म भी धर्म से सम्बन्धित है; अतएव व्यापार-वाणिज्य भी धर्म से सम्बन्धित है। यह धर्म-सम्बन्ध आज क्रमशः भुलाया जा रहा है। इसी से व्यापार के पवित्र सेवा के क्षेत्र में क्षुद्र स्वार्थ का प्रवेश हो गया है और इसी से उसमें विभिन्न प्रकार के दोषों

का अवांछनीय उदय और संवर्धन हो रहा है एवं फलतः हमारा नैतिक पतन हो रहा है एवं हम आये हुए संकटों से मुक्त होने के लिए नित्य नये-नये संकटों को बुला रहे हैं।

'स्व' जितना सीमित होता है, उतना ही 'स्वार्थ' भी सीमित तथा संकुचित होता है। यही कारण है कि विश्व-चराचर में आत्म-दर्शन करनेवाला भारत-वर्ष आज राज्यों तथा जमींदारियों के विलयन के बाद भी एक राष्ट्र न होकर खण्ड-खण्ड हुआ जा रहा है और भूमि की सीमा, भाषावाद, जातिवाद आदि को लेकर भारतवासी आज

एक-दूसरे पर वैसे ही मूर्खतापूर्ण आघात करके अपना ही विनाश-साधन कर रहे हैं, जैसे कोई मनुष्य अपने ही अंगों को रक्षा के लिए अपने ही अंगों को अपने ही अंगों के द्वारा मार-काट रहा हो।

आज सद्बिचारों का परित्याग करके मनुष्य अवांछनीय व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन के लिए हेय प्रवृत्ति में लगा हुआ उसी



लेखक

में गौरव का अनुभव करता है। इसी से खाद्य पदार्थों में, रोगियों को रोगमुक्त करने के लिए दी जाने वाली दवाइयों में ऐसी चीजें मिलायी जाती हैं, जिनका स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। ऐसी बातें सुनने में आयी हैं कि धी में पशुओं की चरबी मिलायी जाती है, चीनी में आटा मिलाया जाता है, आटे में लकड़ी का चूरा मिलाया जाता है, पिसी हल्दी में घोड़े की लीद मिलायी जाती है; नकली जीरा, नकली काली मिर्च, नकली पीपल, नकली केसर, नकली तेल आदि बनते हैं, जो स्वास्थ्यनाश के साथ ही अन्य अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न करते हैं। बढ़िया वस्तु बताकर घटिया देना, तौल में कम देना, धोखा देकर दाम ज्यादा लेना या कम देना आदि अनेक दोष प्रधानतया नीच स्वार्थ के कारण ही व्यापारी-समाज में आ गये हैं। ये दोष धर्म-हीनता तथा अर्थ-पैशाचिकता के ज्वलन्त प्रमाण हैं, जो चोरी-डकैती से भी बुरे हैं।

व्यापारियों में वह परम्परागत ईमानदारी आज प्रायः नहीं रही है, जो रहनी चाहिए थी; पर यह भी निर्विवाद है कि यह रोग केवल व्यापारी-समाज में ही नहीं आया है, प्रायः सभी क्षेत्र इससे आक्रान्त हैं।

व्यापारियों की चोरी में अधिकारियों का भ्रष्टाचार भी एक प्रधान कारण है, चूंकि अधिकारियों में भी व्यक्तिगत नीच स्वार्थ है, जो उन्हें भ्रष्टाचार में लगाये रखता है और वे स्वाभाविक ही व्यापारियों से मिल-जुल कर चोरी करते-कराते हैं। व्यापारियों का स्थान आजकल सहकारी-मण्डलों को दिया जा रहा है और उन्हीं के द्वारा खरीद-बिक्री का काम करवाया जाता है; पर उनके भी कार्य-कर्ता उसी स्वार्थ से ग्रस्त हैं। अतएव वे भी चोरी करते हैं और उनसे सम्बद्ध स्वार्थरायण अधिकारी, शासक या नेतृवृन्द भी, जिन सहकारी-मण्डल वालों से स्वार्थ-सम्बन्ध है, चोरी करने-कराने में सीधे-पेढ़े सहायक होते हैं।

इसी के साथ-साथ सरकार की श्रमिकों तथा कर्मचारियों के साथ बरती जाने वाली नीति भी दोषपूर्ण है। महँगी के युग में उन्हें वेतन अच्छा अवश्य मिलना चाहिए, इसमें जरा भी दो मत नहीं हो सकते। पर उनमें काम न करके पैसे लेने की जो प्रवृत्ति बढ़ रही है, यह प्रत्यक्ष राष्ट्र की हानि है। इससे उत्पादन घटता है, उत्पादित वस्तु का मूल्य बढ़ता है, पूँजी लगाने वालों को लाभ कम मिलता है और श्रमिकों में अकर्मण्यता तथा आलस्य-प्रमाद की आदत पड़ जाती है,

जो आगे चलकर उनके लिए तथा प्रकारान्तर से देश के लिए बड़ी घातक होती है। सरकार को इन विषयों पर गहराई के साथ विचार करना चाहिए। मेरी समझ से मूल्यों पर तथा यातायात पर कम-से-कम प्रतिबन्ध लगाये जायें, उत्पादन पर प्रतिबन्ध न लगे, निजी उद्योगों पर प्रतिबन्ध हटा दिये जायें, व्यापारियों को बेरोक-टोक प्रतियोगिता करने दी जाय और माल चाहे जहाँ से चाहे वहाँ भेजा-लाया जा सके, तो बहुत कुछ सन्तुलन ठीक हो सकता है।

ईमानदारी घटने का एक प्रधान कारण 'जीवनस्तर ऊँचा करने का' आन्दोलन भी है। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों में देखा-देखी अनावश्यक अभाव बढ़ गया, आदतें बिगड़ गयीं, जीवन खर्चीला हो गया, स्वयं श्रम करने और काम सँभालने की वृत्ति घट गयी, आमोद-प्रमोद, छाया चित्र आदि के व्यसन बढ़ गये। इससे कुशिक्षा तथा असदाचार को प्रोत्साहन मिला। शिक्षालयों की स्थिति बिगड़ी, अग्रद्वैत धर्महीन शिक्षा मिली। फलतः चरित्रहीन, संस्कारहीन जीवन का निर्माण होने लगा। उसका दुष्परिणाम है—वर्तमान बढ़ती हुई अराजकता, किसी का भी किसी भी व्यवस्था को न मानना और इसमें गौरव का अनुभव करना, लूटपाट करना, राष्ट्रीय सम्पत्ति का नाश करना, तोड़-फोड़ करना, आग लगाना और दंगायी हिंसात्मक प्रवृत्तियों के लिए उत्साहित रहना। फलस्वरूप बाजार में अशान्ति, घर में अशान्ति, शिक्षालयों में अशान्ति, सरकारी कार्यालयों में अशान्ति, कारखानों में अशान्ति। ऐसी सार्वजनिक अशान्ति में व्यापार कैसे पनपे? वहाँ तो शान्ति चाहिए।

यह भी जानते हैं कि व्यक्ति हो चाहे राष्ट्र, बहुत अधिक ऋण बढ़ जाने से आर्थिक स्थिति बड़ी कमजोर हो जाती है, साख घटती है, सिर नीचा होता है और उसका बुरा प्रभाव सभी क्षेत्रों पर पड़ता है। फिर एक बुरी आदत पड़ जाती है। जब तक ऋण मिलता है, तब तक ऋण लेकर ही सब काम बड़ी शान से करने का मन रहता है। फिर वह चाहे हमारी सरकार की भाँति नया उद्योग-धन्धा हो या भूखे पेट में दाने डालने के लिए अनाज का प्रयोजन हो; शासन सुदृढ़ बनाना हो या युद्ध सामग्री का निर्माण या संग्रह करना हो; हवाई विमानों, समुद्री जहाजों या रेलों का सुधार-निर्माण हो या सड़कें-नहरें आदि निकालनी हों...एक-दूसरे प्रदेशों में, विभागों में, शासन तथा व्यक्तियों में इसके [शेष पृष्ठ १३ पर]

खोली द्वार

—श्री अण्णङ्गराचार्य

एक दिन बड़े सवेरे गोपियाँ नन्दबाबा के महल में जा पहुँचीं। बाहर के द्वारपाल ने तो आज्ञा दे दी किन्तु अन्दर के द्वारपाल ने उन्हें रोक दिया। फिर तो गोपियों और द्वारपाल में संवाद शुरू हो गया।

गोपी : कृपया यह नवरत्नजटित फाटक खोल दीजिए।

द्वारपाल : व्रजमण्डल में चारों ओर आतंक छाया हुआ है। भला इस समय फाटक कैसे खोला जा सकता है। और, तुम लोग हो कौन, जो फाटक खोलने के लिए कह रही हो ?

गोपी : ओ हो, क्या आप यह भी नहीं जानते कि भयापहारी भय-भंजन भगवान् के पास भय और आतंक फटकने भी नहीं पाता। और हम हैं भगवान की अनन्य प्रेमिका गोपी !

द्वारपाल : तुम्हारी बात ठीक हो सकती है। पर यह भी जान लो कि रामावतार के समय सत्ययुग से जुड़ा त्रेता-युग था। श्रेष्ठ काल। पिता महाराज दशरथ, पुत्र मर्यादा-पुरुषोत्तम धनुर्धर राम, नगरी थी अपराजिता अयोध्या, आचार्य थे महाज्ञानी वसिष्ठ, नागरिक धर्मात्मा और राम के मंगलाकांक्षी। अयोध्या के सभी निवासी यहाँ तक कि कीट-पतंग, तृण और कण तक राम के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होते थे। इसलिए उस समय भय के लिए कोई अवसर ही न था और न आतंक की छाया दिखती थी। किन्तु आज की बात अलग है। द्वार की पूँछ में कलियुग चिपका है। पिता नन्द पाँवतले चींटी दबने से चिहूँक उठते हैं। पुत्र हैं सुकुमार छैल चिकनियाँ ! और राज्य है अहीरों के राजा कंस का जिसके जहर से उगती घास भी मुरझाकर

काँटा बन जाती है। यहाँ के छकड़े, बगुले और बछड़े भी बड़े उलटे करतब दिखाते हैं। ऐसी दशा में आतंक और भय न होगा तब और कब होगा ?

गोपी : लेकिन हम लोग तो सुकुमारी प्रेममयी अबला हैं। फिर हमसे क्या भय हो सकता है ?

द्वारपाल : तुम्हारा कहना ठीक है। पर शूर्पणखा भी तो अबला ही थी जिसने द्वारपाल के न रहने पर पंचवटी में कितना बड़ा बवण्डर खड़ा कर दिया था।

गोपी : बस, बस हो गया। आप भले द्वार न खोलें पर उस कलमुँही बहुक्षपिया निश्चरी से हमारी तुलना न करें। क्या ऐसा करना आपको शोभा देता है ?

द्वारपाल : अजी, यह भेद-भाव मैं क्या जानूँ ? लेकिन पूतना भी तो गोपी ही बनकर आयी थी। उसका मन पूतना, पर तन यशोदा का था। क्या यह तुम्हें मालूम नहीं ?

गोपी : फिर वही बात। कहाँ उद्दण्ड धींगरी पूतना और कहाँ हम लोग छल-कपट से रहित प्रेमव्रती सरला बालिका।

द्वारपाल : अरे, तुम लोगों ने वत्सासुर की चर्चा तो सुनी ही होगी। वह तन का कितना छोटा पर मन का कितना खोटा था। क्या ऐसी पर विश्वास किया जा सकता है ?

गोपी : ऐसा मत कहिए। वे सब कंस के भेजे मायावी राक्षस थे। अकेले घात लगाकर आते थे। किन्तु हम तो गोल बांधकर आयी हैं। देखिए, अभी थोड़ी ही देर में भगवान् भास्कर उदयाचल पर अपनी किरणें बिखेरनेवाले हैं। हमसे भय मत खाइए। हम पर दया कीजिए।

द्वारपाल : लेकिन विवेक तो यह कहता है कि एक से अनेक भयंकर होते हैं। सचमुच, खर-दूषण के चौदह हजार सैनिकों ने भगवान् राम को कैसे घेर लिया था ! अच्छा, यह सब जाने दो। तुम लोगों ने यहाँ आने का अपना प्रयोजन तो बताया ही नहीं।

गोपी : हाँ, यह आपने काम की बात कही। हो सकता है यह जिज्ञासा हमारी पिपासा शान्त करे। लीजिए सुनिए ! हम एक विशेष दुर्लभ वस्तु पाने के लिए यहाँ आयी हैं। हमारे सर्वस्व सर्वज्ञ नन्दनन्दन ने उसे देने के लिए वादा किया है। हमें देखते ही वे उसे पूरा करेंगे।

द्वारपाल : लेकिन उन्होंने मुझसे तो कुछ नहीं बताया। मैं द्वार पालन करनेवाला उनका आज्ञाकारी अनुचर हूँ। क्या मेरी नियुक्ति यहाँ लोगों को मनमाने ढंग से घुसा देने के लिए हुई है ? आप लोगों के मन का बिना पता लगाये हम भीतर जाने की अनुमति नहीं दे सकते।

गोपी : हम लोग आपके लिए नये नहीं हैं और न अजनबी हैं कि आप हमारे मन का पता लगायेंगे। हम तो शुद्ध, बुद्ध, प्रेमपरिपूरित ब्रजांगना हैं। हमारे लिए उनके अतिरिक्त और किसी को पाना नहीं है और न किसी और को पाने के लिए कोई साधन ही चाहिए। उनके सिवा न और कोई हमारा धन है और न हमें और कहीं मन लगाना है। हम और किसी उपाय और उसके द्वारा और किसी को पाने की बात सर्वथा छोड़ चुकी हैं। उन्हीं की प्रशंसा, उन्हीं की मंगलाकांक्षा से हमारा हृदय भरपूर है। और कोई बुद्धि-बुद्धि हम नहीं जानतीं।

द्वारपाल : अच्छा, सच-सच बताओ। अन्दर जाकर तुम लोग करोगी क्या ? उन्होंने जिस दुर्लभ वस्तु को आज देने के लिए कहा है, वह है क्या ?

गोपी : हम वहाँ जाकर “गोकुलपते तव सुप्रभातम्” (हे गोकुलाधीश श्रीकृष्ण, यह तुम्हारा सुन्दर प्रभात है)।

भो कृष्ण ! भो माधव !! भो मुकुन्द

भो नन्दसूनो भगवन् ! मुरारे।

भोगीन्द्र भोगात्मक तल्पतस्त्वं

उत्तिष्ठ जागृह्यनुकम्पमानः ॥

(हे कृष्ण, हे माधव, हे मुकुन्द, हे नन्दनन्दन ! हे भोग करनेवालों में शिरोमणि ! इस भोगात्मक शय्या से उठकर कृपा कीजिए ।)

यही हमारी परम पुरुषार्थ-दुर्लभ वस्तु है। विश्वामित्र भी भगवान् राम को इसी प्रकार जगाकर मंगलाकांक्षा करते थे।

द्वारपाल : राम ! राम ! यह क्या कहा आप लोगों ने ? सोते समय भीतर प्रवेश की कड़ी मनाही है। कृष्ण ! कृष्ण !! यह तो पाप है और फिर सोते हुए को जगाना उससे भी बड़ा पाप है ! क्या आप लोगों ने रामकथा नहीं सुनी है ? सीताजी बाद में पछताया करती थीं—हाय हाय ! आर्यपुत्र सुखपूर्वक सो रहे थे मेरी गोद में। किन्तु कोए (जयन्त) के प्रहार करने पर मैंने उन्हें जगा दिया। यदि आप लोग शयनकालीन सौन्दर्य का दर्शन करने के लिए भीतर जाना चाहतीं तो शायद ऐसा करने की अनुमति मिल भी जाती पर सोते हुए को जगाने के लिए ? राम-राम ! आप लोग यहाँ खड़ी रहने लायक भी नहीं हैं। जल्दी यहाँ से भाग जाइए।

गोपी : आप केवल कह भर देने से पुण्यभागी बनेंगे। बस, इतना ही कह दीजिए—‘भीतर जाओ !’ आपको बड़ा पुण्य होगा। आप हमें रोककर पुण्य की उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ? अब ‘ना’ मत कहिए।

×

×

×

ऐसा कहकर सभी गोपियाँ द्वारपाल के चरणों पर गिर पड़ीं। उसका हृदय करुणा से भर आया। उसने कहा—गोपियो ! अच्छी बात है भीतर जाओ। मैं रोकता नहीं। पर फाटक स्वयं खोल लो !

गोपी : नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। हम अपने हाथों फाटक नहीं खोलेंगी, आप स्वयं खोल दें। रोकनेवाला अपने हाथों प्रवेश दिलाये तो क्या कहना ! विभीषण की शरणा-गति के समय रोकनेवाले थे सुग्रीव और प्रवेश दिलाना चाहते थे हनुमान। प्रवेश देने का निश्चय होने पर भगवान् ने सुग्रीव को ही आदेश दिया कि विभीषण को ले आओ न कि हनुमान को।

फिर तो द्वारपाल ने कपाट खोल दिया और गोपियों ने अन्तःपुर में प्रवेश कर श्रीकृष्ण की शयन मुद्रा देखी और भावमग्न होकर ‘उत्तिष्ठ गोकुलपते तव सुप्रभातम्’ का गान किया। तब उन्हें किस आनन्द की उपलब्धि हुई, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता !

जब भगवान् मेरे जीवन में आये

— स्वामी विवेकानन्द

प्रतीक्षानुर गुरु ने शिष्य नरेन्द्रनाथ का स्वागत ऐसे किया, जैसे कोई प्रेमल माँ दूर से आये पुत्र का करती है। नरेन्द्र के आने के पहले ही गुरु—श्रीरामकृष्ण को उसके आगमन का पूर्व-बोध हो चुका था। उन्हें नरेन्द्र के उज्ज्वल भविष्य का पूर्व-बोध भी था।

नरेन्द्र गुरु के प्रति आकर्षित अवश्य हुआ था, किन्तु आरम्भ में वह काफी संशयी था। उसका मन बार-बार गुरु की शिक्षाओं की आलोचना करने लगता था।

अपने पिता के निधन के बाद, तरुण नरेन्द्र संकटों से घिर गया। उसे कुछ नहीं सूझता था कि वह क्या करे? ऐसे ही एक निराशान्व क्षण में उसने संन्यासी बनने का निश्चय किया। जैसे ही रामकृष्ण को इस निश्चय का पता लगा, उन्होंने नरेन्द्र से सम्पर्क स्थापित किया।

आगे क्या हुआ, स्वयं नरेन्द्र के शब्दों में सुनिए :

एक दिन मेरे मन में सहसा विचार आया कि भगवान्, स्वामी रामकृष्ण की प्रार्थना सुनते हैं। तो मैं क्यों नहीं उनसे निवेदन करूँ कि वे मेरी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए माँ से, जिसके वे भक्त हैं, प्रार्थना करें? मैं भागा-भागा दक्षिणेश्वर मन्दिर गया, और उनसे निवेदन किया कि वे मेरे भूखे मर रहे परिवार के लिए प्रार्थना करें।

उन्होंने कहा, 'मैं माँ से ऐसी प्रार्थना नहीं कर सकता। मगर तुम स्वयं क्यों नहीं माँ से ऐसी प्रार्थना करते? तुम्हारे कष्टों का कारण यही है कि तुम अभी तक उनकी उपेक्षा करते रहे हो।'

मैंने कहा, 'मैं माँ को नहीं जानता। आप कृपा करके उनसे मेरी ओर से अवश्य प्रार्थना कीजिए। अवश्य!'

उन्होंने स्नेहशील स्वर में कहा, 'बेटे, मैं कई बार तुम्हारी ओर से माँ से प्रार्थना कर चुका हूँ। लेकिन चूँकि

तुम उन्हें स्वीकार नहीं करते, इसलिए वे मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं करतीं। अच्छा देखो, आज मंगलवार है। आज रात को काली के मन्दिर में जाना, माँ के सामने साष्टांग प्रणाम करके, उनसे कोई भी वरदान माँगना। वे तुम्हारी हर प्रार्थना स्वीकार कर लेंगी। वे ज्ञान और शक्ति का अक्षय स्रोत हैं और उनके संकल्प-मात्र से ही सारे जगत् का जन्म हुआ है। उनके पास सब कुछ देने की शक्ति है।'

मैंने उनकी बात पर अक्षरशः विश्वास किया। रात के नौ बजे, गुरुदेव ने मुझे मन्दिर में जाने को कहा।

मन्दिर में जाते समय मुख पर जैसे नशा-सा छाया था। मेरे पाँव लड़खड़ा रहे थे। हृदय धड़क रहा था। उमंग थी जीवित माँ को देखने और उनकी वाणी सुनने की।

मन्दिर में प्रवेश करके जैसे ही मैंने माँ की मूर्ति पर दृष्टि डाली, मुझे वे जीवित और चैतन्य दिखाई दीं, दिव्य प्रेम और सौन्दर्य से परिपूर्ण। मुझे लगा, मेरे चारों ओर दिव्य प्रेम का सागर लहरा रहा है, और मैं उसमें डूबा जा रहा हूँ।

आनन्दातिरेक में मैंने बार-बार माँ को साष्टांग प्रणाम किया और प्रार्थना की, 'माँ, मुझे विवेक प्रदान करो। मुझे ज्ञान और भक्ति का वरदान दो। आपको छवि सदा मेरे मन में अंकित रहे।'

मेरा अशान्त मन सहसा अगाध शान्ति से भर आया। मैं जगत् को भूल गया। मेरे मन में केवल माँ का दिव्य प्रकाश ही छाया था।

लौटने पर श्रीरामकृष्ण ने मुझसे पूछा, 'क्या तुमने माँ से अपनी सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रार्थना की थी?'

प्रश्न सुनकर मैं चौंक गया। मैंने कहा, 'नहीं, गुरुदेव!

उस प्रार्थना का तो मुझे स्मरण ही न रहा। मगर, उसका कोई उपाय है क्या ?

‘माँ के पास फिर जाओ, और इस बार अपनी सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति की प्रार्थना करना।’

मैं फिर मन्दिर में गया, पर माँ के दर्शन करते ही भूल गया कि मैं किस उद्देश्य से उनके पास आया हूँ। जितनी बार मैंने उनके आगे साष्टांग प्रणाम किया, उतनी बार प्रेम और भक्ति की ही याचना की।

द्वारा गुरुदेव से मिला, तो उन्होंने फिर वही प्रश्न पूछा। मैंने बताया कि मेरे साथ क्या बीती।

उन्होंने कहा, ‘अजीब आदमी हो तुम ! अपने ऊपर इतना संयम भी नहीं रख सके कि अपनी प्रार्थना को अपने मुँह से कह सको। अच्छा, फिर जाओ, और इस बार माँ से वह प्रार्थना करना न भूलना। जाओ, जल्दी जाओ।’

मैं तीसरी बार मन्दिर में गया। इस बार मुझे पक्के तौर पर याद था कि मैं क्यों आया हूँ। मुझे अपने ऊपर शर्म आने लगी। कितनी तुच्छ प्रार्थना लेकर आया हूँ मैं माँ के पास ? कितना मूर्ख हूँ मैं !

माँ के सामने नमन करते समय मैं ग्लानि और पश्चात्ताप से भरा था। मैंने आदरपूर्वक उनसे निवेदन किया, ‘माँ, मुझे आपसे ज्ञान और भक्ति के सिवा और कुछ नहीं चाहिए।’

और, मन्दिर से बाहर आते समय मुझे यह अनुभूति हुई कि जो कुछ हुआ, गुरुदेव श्रीरामकृष्ण के इच्छानुसार हुआ। नहीं तो, क्या कारण था कि तीन बार प्रयास करने

पर भी मैं अपनी प्रार्थना को माँ के सामने निवेदित न कर पाया।

मैंने उनकी सेवा में उपस्थित होकर कहा, ‘गुरुदेव ! आपने न मालूम कैसा जादू कर दिया है मुझ पर, जिससे मैं माँ के सामने जाकर अपनी स्मरण-शक्ति खो बैठता हूँ। अब कृपया मुझे यह वरदान दीजिए कि मेरे परिवार के लोगों को निर्धनता के कष्ट अनुभव न हों।’

उन्होंने कहा, ‘ऐसी प्रार्थना मैं अपने मुँह से नहीं कर पाता। इसीलिए, मैंने तुमसे यह प्रार्थना स्वयं करने के लिए कहा। पर, तुम भी नहीं कर पाये। ऐसा लगता है कि तुम्हारे प्रारब्ध में सांसारिक सुख है ही नहीं। ऐसे में मैं क्या करूँ ?’

अन्त में उन्होंने कहा—‘अच्छी बात है। तुम्हारे परिवार के लोगों को कभी रोटी-कपड़े की चिन्ता नहीं रहेगी।’

और उस दिन से आरम्भ हुआ एक नया जीवन उस नरेन के लिए, जो सब धर्मों के प्रति अपनी अचूक विवेक-दृष्टि के कारण, आगे चलकर विवेकानन्द के नाम से विख्यात हुए। हिन्दू धर्म में उनको पूर्ण श्रद्धा थी ही, उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर उन्होंने दुनिया-भर में उसका प्रचार किया। उन्होंने कहा—‘मेरी उस परमात्मा में श्रद्धा है, जो पापी में भी है, पुण्यात्मा में भी, दुखी में भी, सुखी में भी, निर्धन में भी, धनी में भी।’

स्वयं उसकी अनुभूति करके, इसी परमात्मा की अनुभूति वे आजीवन औरों को भी कराते रहे।

सम्पादकीय

[पृष्ठ २ का शेषांश]

इन धर्मों में सैद्धान्तिक विभिन्नता होते हुए भी सभी सत्य, प्रेम, सेवा, सहिष्णुता, ईश्वरभक्ति आदि के सदाचरण पर जोर देते हैं। और ये धर्माचरण ही मुक्ति या मोक्ष प्राप्त करने में सहायक बनते हैं।

‘मुमुक्षु’ इन्हीं आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों को आदर्श बनाकर प्रकाशित हो रहा है। अध्यात्म और संस्कृति को समझने में हमें सहायता मिले और तदनुकूल आचरण करने की हम प्रेरणा प्राप्त कर सकें यही इस पत्रिका का उद्देश्य है।

काशी मुमुक्षु भवन सभा अपने उद्देश्यों के अन्तर्गत पूरे परिसर में अनेक धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और

शैक्षिक प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ कर रही है। इन्हीं प्रवृत्तियों में एक मुमुक्षु पत्रिका का प्रकाशन भी है। इस पत्रिका के कल्पक स्व. श्री रामेश्वरलाल जी नोपानी आज हमारे बीच नहीं हैं। उनका अभाव हमें अत्यधिक खटक रहा है। वे काशी मुमुक्षु भवन सभा के परिसर तथा भवनों का जीर्णोद्धार, नवीनीकरण मात्र नहीं चाहते थे, उनका लक्ष्य था कि यह संस्था देश में आध्यात्मिक और धार्मिक चेतना जाग्रत करे ताकि भौतिकता की होड़ में देश को अध्यात्म परम्परा लुप्त न होने पाये। आशा है, सुधी पाठकों का सहयोग इस दिशा में प्राप्त होगा।

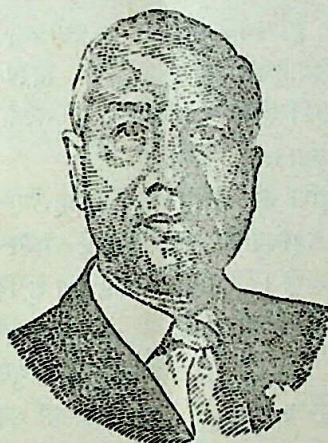
जीवन की चुनौती

— श्री लक्ष्मीनिवास बिरला

जीवन कैसे जिया जाय ? इसका उत्तर दे पाना सरल नहीं है। जीवन के तत्त्व और जीने की परिस्थितियाँ परस्पर अत्यन्त जटिल ताना-बाना बुनती हैं। विभिन्न परिस्थितियों का सामना करने के लिए कितने दृष्टिकोण अपनाये जा सकते हैं, इसकी कोई सीमा नहीं है। फिर भी, आम भाषा में, हर जीवन निराला है, जबकि हर जीवन दूसरे से अभिन्न है।

पहली बात यह है कि जीवन का सार उद्यम है। मानव-जीवन को जन्म देने की इच्छा में भी माता-पिता का उद्यम अपेक्षित है। वह किसान भी, जो अन्न और फलफूल वनस्पति-जीवन का विकास करता है, रुचिकर और उपयोगी उद्यम अपनाता है। नये जीवन के सृजन की इच्छा तथा निर्णय अपने आप में एक महाकार्य, एक आनन्दकर दायित्व है।

जीवन स्वयं एक रहस्य है; किन्तु एक बार जीवन के अस्तित्व में आने पर उसका संचालन अपनी निजी अन्तर्निहित शक्ति से—भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति से—होना चाहिए। पशु और वनस्पति-जीवन के बारे में तो हम कल्पना ही कर सकते हैं, किन्तु मानव-जीवन मनुष्य के जीवन-विषयक चिन्तन का निरन्तर रूपान्तर है। वही जीवन श्रेष्ठ जिया जाता है, जो जीने की ज्वलन्त इच्छा से उद्भूत तथा संकल्पित हो। व्यक्तिगत और सामाजिक दृष्टि से, हमारा विचार और कर्म, रूपान्तरकारी शक्ति प्रदान करते हैं और उस आदि-सत्ता को पूर्णता प्रदान करते हैं, जो जीवन का मूर्त रूप है।



लेखक

जीवन के अस्तित्व के मंच पर अवतरित होने पर उसकी भूमिका से पात्र का चरित्र प्रकट होता है। मानव-समाज का गठन मन की कही और अनकही भाषा के द्वारा होता है, क्योंकि मन ही जीवन को निर्दिष्ट मार्ग पर आगे बढ़ाता है। अन्ततः मन ही मनुष्य का निर्माता है और सृजन की दुनिया में मन के विकास का प्रतीक ही मानव है। मन सृजन की पराकाष्ठा है।

आज के समाज के सामने मुख्य चुनौती वर्धमान परिवर्तनों की दुनिया में पैदा होनेवाली कठिनाइयों और अवसरों की है। वह ऐसी पहले कभी नहीं थी। यों तो परिवर्तन सदा से मानव की परिस्थिति का भाग रहा है, किन्तु अन्तर अब परिवर्तन की गति का है। यह परिस्थिति मनुष्य की अपनी पैदा की हुई है। जीवन का नाटकीय कर्म संकटों से जूझना, अज्ञात और अज्ञेय को जानना है, क्योंकि मन की शक्ति ही सच्ची ज्योति है।

पुरातन समाज का ढाँचा सीधा-सादा था, विशेषकर विगत कोई सौ वर्षों में फैल-फूलकर वह जटिल हो गया है। उसका आकार विशाल हो गया है और सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि उसके विकास से व्यक्ति का क्षेत्र व्यापक हुआ है तथा अकेले ही उसे अपनी समस्याओं का सामना करना है।

एक ऐसे जहाज की मिसाल लीजिए, जो बीच समुद्र में डूबता हो और उसके यात्री तितर-बितर हो रहे हों, प्राण-रक्षा के लिए उन्हें लहरों से जूझना हो। वे एक-दूसरे की ओर समझदारी की दृष्टि डाल सकते हैं और सहायता के

लिए संकेत भी ले-दे सकते हैं, किन्तु एक-दूसरे के लिए कुछ कर नहीं सकते। ऐसी ही यह दुनिया है। यहाँ हर व्यक्ति को अपने लिए संघर्ष करना है। कदाचित् ही किसी को पकी-पकायी मिले।

अभी उस दिन मैंने अपना ट्रांजिस्टर खोला। 'विविध, भारती' का कार्यक्रम चल रहा था। एक गीत की दो पंक्तियाँ अब भी मेरे मन में चक्कर काट रही हैं : "न मुँह छुपा के जियो, न सर झुका के जियो।" इसकी संगीत-माधुरी के अलावा इसके गहरे अर्थ को भी समझना चाहिए। इस सन्देश की उपेक्षा कर भला कौन शान का जीवन व्यतीत कर सकता है ? पूर्ण जीवन जीने के लिए जीवन से संघर्ष करना होता है। बिना इस स्पष्ट तथ्य को स्वीकार किये जीवन की तरुण छाया और प्रखर प्रकाश का अनुभव नहीं हो सकता। तत्त्व के ढाँचे से अधिक महत्त्वपूर्ण जीवन की चमक है।

हम अनेक विरोधाभासों, अनेक द्वन्द्वों, अनेक अप्रकट रहस्यों की बात सोच सकते हैं। हो सकता है, उनमें कुछ सदा ही अज्ञात रह जायें और थोड़े-से व्यक्ति केवल जर्जर पत्रों तथा मर्मर संगीत की अस्पष्ट विडम्बनाओं को ही देख सकें। जो कुछ हमारे प्रयत्नों पर अंकुश लगाता है, उसे हम दैव (भाग्य) कहते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से सोचने और नैतिक अन्तर्दृष्टि से देखने से यह द्वन्द्व रहस्यवादी रूप धारण कर लेता है, हम इसे 'माया' कह सकते हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व में शाकवत धर्म की चर्चा करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा था :

उत्थानेन सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर !

न ह्युत्थानादुते देव राज्ञामर्थं प्रसाधयेत् ॥

पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चित्य मुञ्चते ॥

(पुत्र, सदा उद्यमपूर्वक प्रयत्न करो, उद्यम के बिना दैव—भाग्य राजाओं को भी सिद्धि प्रदान नहीं करता। मैं पौरुष को अधिक महान् मानता हूँ। दैव में विश्वास करने वाला मनुष्य उलझन में फँस जाता है।)

वास्तव में दुर्बल व्यक्ति ही दैव को दोष देते हैं। दैव का सही उपयोग हमारे व्यवहार में सम, उदात्तता लाना है। दैव का सर्वोत्तम उपयोग दुर्दम्य साहस का पाठ पढ़ाने में है, क्योंकि यदि दैव इतना व्यापक है तो मनुष्य भी उसी का अंग है, फिर क्या उसे दैव की अनिवार्य चुनौती को स्वीकार कर उसका सामना दैव से नहीं करना चाहिए ?

किन्तु यह केवल अपनी सफाई के लिए बहाना भर है। विचार-दोहन मनुष्य को दासता से निकाल कर स्वतन्त्रता प्रदान करता है। फिर भी, उसके सामने बड़ी-बड़ी समस्याएँ, बड़े-बड़े चमत्कार आ सकते हैं और उसे उनके साथ निर्वाह करना चाहिए।

बाधाएँ सामने आने पर कायरता दिखानेवाले व्यक्ति अपनी ही दृष्टि में गिर जाते हैं। तर्कहीन द्वन्द्व से अन्त-रात्मा सन्तुष्ट नहीं होती। पलायनवादी प्रवृत्ति मार्ग में और बाधाएँ ही खड़ी करती है।

मनुष्य के जीवन में सुरक्षा-जैसी कोई वस्तु नहीं है, उसे सावधानी से आगे बढ़ना है और गलत कदम पीछे हटाना है।

ग्रीक दार्शनिक एपिकटेटस ने स्वयं से प्रश्न किया, "मनुष्य इतनी समस्याओं के जाल में फँसा है, उसे क्या करना चाहिए ?" उसने स्वयं उत्तर दिया, "जो-कुछ हमारे अधिकार में है, उसका अधिक-से-अधिक लाभ उठाओ और शेष को उसके स्वाभाविक रूप में ग्रहण करो।"

इसीलिए 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में प्रार्थना की गयी है :

हिरण्यमेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

(अध्याय ५, ब्राह्मण १५)

(हिरण्य—स्वर्ण के पात्र ने सत्य के मुख को ढँक लिया है। हे पालन-कर्ता, उस आवरण को हटा दो, जिससे सत्य स्पष्ट रूप से दिखाई दे सके।)

जीवन का सौन्दर्य चेहरे की मुसकान में प्रतिबिम्बित होता है। मुख के भाव मन की बात प्रकट करते हैं। यदि अपना मन सबल है, मनुष्य को कुछ भी छिपाना नहीं है, तो वह संसार और उसके सभी निन्दा-बाणों का सामना कर सकता है। साहस-मिश्रित सौन्दर्य में लावण्य की गरिमा झलकती है और तब स्वभावतः मनुष्य अपनेपन की भावना अपने पर छाने का प्रयत्न करनेवाली किसी भी शक्ति के आगे उसे सिर नहीं झुकाने देती। बल से दमन का अधिकार नहीं मिलता, क्योंकि उससे मनुष्य के स्वतन्त्र रहने का मौलिक अधिकार छिनता है और उस अधिकार को त्याग देना मनुष्य-पद को ही खो देना है। रूसो कहता है :

"स्वतन्त्रता को त्यागना मनुष्य-पद को त्यागने-जैसा है।"

वेदान्त तो और भी आगे जाता है। एक महावाक्य है : 'तत्त्वमसि'—वह तू है अर्थात् तुम ईश्वर से अन्य नहीं हो। अतः जब तुम भय से या दीनता से किसी सांसारिक

जीव के आगे सिर झुकाते हो तो अपने देवत्व का अपमान करते हो। अभद्र अधिकार में वेष्टित किसी भी व्यक्ति के आगे निरन्तर सिर झुकाते रहने से अन्ततः मनुष्य उस बिन्दु पर पहुँच जाता है, “जिस बिन्दु पर अपमान कचोटना बन्द कर देता है।” (टी. एस. इलियट)

जीवन की गरिमा माधुर्य और शक्ति के सही मिश्रण में है। विनम्रता के राजकुमार ईसा मसीह ने अपनी महानता का परिचय उन लोगों को क्षमा करके दिया, जिन्होंने उन्हें दण्डित कर क्रूस पर चढ़ाया था।

सबलतम में भी इतना बल नहीं होता कि सदा उसी की प्रभुता चली रहे। रात्रि का बल उसके तमसाच्छादित रहने तक ही है। प्रकाश की एक क्षीणतम किरण दिखाई देते ही वह भाग खड़ी होती है। आम अभाव के कारण समाज पर अन्यायपूर्ण व्यवस्था छाई रही, जिसने सभ्यता की प्रगति को प्रभुता के साथ जोड़े रखा। परन्तु क्या यह अनिवार्य है? प्रसिद्ध जर्मन-दार्शनिक हर्बर्ट मारकस का कहना है कि ऐसा नहीं है। उसके अनुसार “प्रभुता सत्ता

के न्याय-संगत उपयोग से भिन्न है।” मार्क्स का उल्लेख करते हुए वह आगे कहता है, “मार्क्स के अनुसार सच्चे समाजवादी शासन में बागडोर ‘नीचे से’ खिंची चाहिए, देश के नेता जनता के केवल प्रवक्ता मात्र हैं।”

विगत अनेक वर्षों से मनुष्य के गौरव और गरिमा में वृद्धि हुई है। वह उड़कर चन्द्रमा पर जा रहा है और अन्तरिक्ष में अपने करतब दिखा रहा है। घटना-क्रम का विशेष महत्त्व दिखाई नहीं देता, क्योंकि यह क्रम काल से इतना सम्बन्धित नहीं है, जितना वास्तव में अन्तरिक्ष में भूत के भविष्य के साथ, और भविष्य के भूत के साथ असम्भव सामंजस्य-जैसे सदा विद्यमान तत्त्व से सम्बन्धित है। मानव-स्वभाव का स्वतन्त्रता-प्रेम परिभाषा से बदला नहीं जा सकता और न बदलेगा ही, यद्यपि कभी-कभी उसकी दिशा मुड़ सकती है। मनुष्य को अब तानाशाहों का कोई भय नहीं है, और निःसन्देह, मृत्यु तक की, भावनात्मक यातना न रहने पर यह भय होना असम्भव है। फिर भी, कभी-कभी बल से जो काम नहीं हो पाता, वह प्रेम-जैसे सरल साधनों से हो जाता है।

अर्थ को परमार्थ बनाइए

[पृष्ठ ६ का शेषांश]

लिए प्रतिद्वन्द्विता और आग्रह-दुराग्रह चलते हैं। भगवत्कृपा से उत्पादन बढ़ जाय, यथार्थ रूप में विकास हो, तब तो किसी तरह काम चल जाता है, पर कहीं दुर्भाग्यवश ऐसा न हो तो फिर बढ़ा हुआ कर्ज राष्ट्र के सम्मान तथा गौरव को नष्ट करने में कारण बनता है। भगवान् ही जाने, देश वा क्या होनेवाला है ?

ऊार जो कुछ भी कहा गया है, वह किसी दूसरे की आलोचना नहीं है। अपने द्वारा अपनी ही स्थिति का

दिग्दर्शन मात्र है; क्योंकि हम ही व्यापारी हैं, हम ही सरकार हैं, हम ही मालिक हैं, हम ही मजदूर हैं। सब एक ही शरीर के विभिन्न अंग हैं।

भगवान् हम सबको सद्बुद्धि दे। सरकारी अधिकारी, व्यापारी सभी व्यक्ति संकुचित स्वार्थ को छोड़ कर देश तथा राष्ट्र का हित सोचें तथा धर्मसम्मत सर्वहित-कारक अर्थो-पार्जन एवं अर्थतन्त्र का संचालन करें तो सभी का कल्याण हो सकता है और अर्थ परमार्थ बन सकता है। जब से समझें, तभी से मंगल !

भक्ति क्या है ?

[पृष्ठ ४ का शेषांश]

नहीं देते। भक्ति एक विशेष प्रकार का पूर्णानन्द है। भक्तिरस-सिन्धु के एक कण के बराबर भी ब्रह्मानन्द नहीं है। भक्ति की यह एक असाधारण विशेषता है कि वह भगवान् को प्रियतम से प्रेमी बना देती है। इसमें स्वयं भगवान् भक्त से आनन्द लेने लगते हैं। वे पाण्डवों के घर बिना बुलाये जाते और रहते हैं। यशोदा और नन्द की गोद में सिर रखकर

सोते हैं। सुदामा के आलिङ्गन से इतना आनन्द पाते हैं कि नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। यशोदा के हाथों बँध जाते हैं। गोपियों के प्रति अपने कौं निछावर कर देते हैं। इस प्रकार भगवान् को वश करने की सामर्थ्य भक्ति में है।

“भक्तेः फलमीश्वरवशोकारः।”

With Best Compliments of :

Rashtraudhyog Private Limited

Manufacturers of Transmission Line Insulator, Hardware
Fittings, Conductor Accessories, Groundwire
Accessories, Aluminium Bus Bars, Transmission
line tools and Aluminium Alloy castings
from 11 KV upto 400 KV lines.



WORKS :

Bakultala, Andul Road, Howrah-3.

Telephone No. 67-5604
67-6151

OFFICE :

"Jhunjhunwala Iron-Steel Bldg."
207, Maharshi Debendra Road,
Calcutta-700070

Telephone No. 33-6366
33-5506
34-0308

Telex : 021-2374
Gram : WIREDRON

भक्त और भगवान्

— श्री भागीरथजी कानोड़िया

एक छोटे-से करवे में एक ब्राह्मण रहता था, जो बहुत सन्तोषी था। वह सन्ध्या-वन्दन और पूजा-पाठ नियमित रूप से करता, भगवान् का नाम जपा करता और अपने आप जो कुछ प्राप्त हो जाता, उसमें सन्तोष मानकर अपना निर्वाह किया करता। कभी किसी से कुछ याचना नहीं करता था।

उसके पास शालिग्रामजी की एक मूर्ति थी। उसे भोग लगाकर ही वह स्वयं भोजन किया करता। ब्राह्मण को अपने-आप इतना-सा ही प्राप्त होता था कि वह रूखी-सूखी रोटी खा ले। घी-दूध के उसने कभी दर्शन नहीं किये थे और न इसके लिए उसने कभी चाह ही की थी।

ऐसा करते-करते कई वर्ष बीत गये। तब एक दिन शालिग्रामजी ने उसे स्वप्न में दर्शन दिये और कहा, “ब्राह्मण, तुम्हारी भक्ति देखकर तो मैं बहुत प्रसन्न हूँ, लेकिन नित्य रूखी-सूखी रोटी खाते-खाते मेरे पेट में दर्द होने लगा है। अतः कल तुम मुझे चुपड़ी रोटी देना !”

ब्राह्मण की आँख खुली तो उसने सोचा कि मैंने आज तक तो अपना जिन्दगी में किसी से याचना की नहीं। अब घी लाऊँ तो कहाँ से लाऊँ ? आखिर उसने सोचा कि जब महाराजजी ने अपने-आप ही मुँह खोलकर कह दिया है तो चलो, एक दिन उसकी बात रखने को अपना व्रत टूटा ही सही। सामनेवाले सेठ की हवेली से थोड़ा-सा घी माँगकर ले आऊँगा और आज चुपड़ी रोटी का भोग लगा दूँगा।

उस ब्राह्मण ने कभी किसी भी चीज के लिए याचना नहीं की थी, इसलिए जब वह घी माँगने गया तो हवेली की मालकिन ने बहुत आदर के साथ उसे घी दिया और अपने को धन्य माना। ब्राह्मण ने चुपड़ी रोटी का भोग लगाया और सन्तोष माना।

रात को फिर शालिग्रामजी दीख पड़े और बोले, “ब्राह्मण, तेरी चुपड़ी रोटी से मैं प्रसन्न हूँ, लेकिन कल भोग

के समय मुझे रोटी के साथ थोड़ा ज्यादा-सा ताजा-ताजा मक्खन अलग से भी दे तो मैं अधिक प्रसन्न होऊँ।”

ब्राह्मण हँसा और बोला, “महाराज, द्वापर युग को बीते आज पाँच हजार वर्ष हो चुके हैं। कहते हैं, उन दिनों नन्द बाबा के यहाँ नौ लाख गायें थीं, तो भी दूध-मक्खन से आपकी तृप्ति नहीं होती थी। अपने ही घर में यशोदा मैया से लुह-छिपकर, चुराकर आप मक्खन खाया करते थे और इसीलिए आपका नाम ‘मक्खनचोर’ पड़ गया था। इसके अलावा आप अहीर की ‘छोहरियों’ से चिरोरी कर-करके भी मक्खन माँगा करते थे, और वे छोहरियाँ आपको मनचाहा नाच नचाया करती थीं। बहुत दफे आप लूट-खसोटकर भी मक्खन खा जाया करते थे, जिसके फलस्वरूप आये दिन यशोदा मैया को शालिनियों से उलाहना सुनना पड़ता था। यशोदा मैया ने तंग आकर आपको एक बार ऊखल से भी बाँध दिया था, लेकिन मालूम होता है कि इतना सब होने पर भी और इतने वर्षों बाद-भी आपको मक्खन खाने की वह निगोड़ी आदत गयी नहीं। जो हो, मैं आपसे साफ कहे देता हूँ कि अगर आपको दूध-दही और घी-मक्खन के गटके आते हों, तो सामने सेठ की यह बड़ी-सी हवेली खड़ी है, वहाँ चले जाइए। रूखी-सूखी रोटी से सन्तोष होता हो, तो मेरी कुटिया तैयार है। मुझे रोज-रोज आपके लिए माँगकर लाने का यह धन्धा पार नहीं पड़ेगा।”

शालिग्रामजी ने ब्राह्मण के सिर पर हाथ रखा और कहा, “तुम्हारी रूखी-सूखी रोटी में जितना स्वाद है, वह दूसरे के घी-दूध में कहाँ ! तुम्हारी रोटी तो मेरे लिए शबरी के बेर और सुदामा के तन्दुल के बराबर है। तुम

१. खाने की तीव्र इच्छा।

[शेष पृष्ठ १८ पर]

Kesoram Industries & Cotton Mills Limited

9|1, R. N. Mukherjee Road, Calcutta-700001

Manufacturers of Cotton Textiles & Piece Goods, Rayon Yarn, Transparent
Cellulose Film, Sulphuric Acid, Carbon-di-Sulphide, Cast Iron Spun
Pipes & Fittings, Cement and Refractories etc.



Section :

Textile Section
Rayon & T. P. Sections
Spun Pipe Section
Cement Section
Refractory Section

Mills :

42, Garden Reach Road, Calcutta.
Tribeni, Dist : Hooghly.
Fansberia, Dist : Hooghly.
Basantnagar, Dist : Karimnagar (A.P.)
Kulti, Dist : Burdwan

मुमुक्षु भवन के संस्थापक पुण्यश्लोक

जुगलकिशोर बिरला

— श्री सीताराम सेकसरिया

सन् १९११ में मैं कलकत्ता आया था। १८ मल्लिक स्ट्रीट, कालीगोदाम में ठहरा और वहाँ बहुत दिन रहा। उन बातों को आज आधी शताब्दी से अधिक हो गये। उन दिनों कालीगोदाम में बलदेवदास जुगलकिशोर के नाम से आज के बिरला ब्रदर्स की फर्म थी। श्री जुगलकिशोरजी अपनी उस गद्दी का संचालन करते थे और काली-गोदाम में ही रहते थे। मुझे पहले-पहल वहीं उनके दर्शन का सौभाग्य मिला। परिचय उस समय नहीं हो सका, क्योंकि उस समय भी वह अपने-आप में एक विशेष आदमी थे। उनकी चर्चा रहती थी वहाँ काली-गोदाम में तथा समाज में। उन दिनों वह मारवाड़ी समाज के बड़े व्यापारियों में नहीं थे, पर उनके विचार, उदारता, नम्रता, सरलता, सादगी और स्नेहशीलता की चर्चा रहती।

काली-गोदाम में जो गद्दियाँ थीं, उनके साथ बासा याने खाने-पीने का प्रबन्ध रहता। उस बासे में भोजन करने का दस से बारह रुपया महीना खर्च लगता। उस समय बिरलों की गद्दी का जो बासा था वह काली-गोदाम में सबसे अच्छा माना जाता था। बासे में जीमनेवालों के लिए एक क्यारी होती थी। उसमें जीमते समय उस क्यारी को ग्वाला, जो वहाँ बरतन माँजने आदि का काम करता था, छू नहीं सकता था। जीमनेवाले को कोई चीज दी जाय तो वह बिना छुए हल्के हाथ से ऊँचे से गिरा दी जाती, पर बाबू जुगलकिशोरजी ऐसा न करते। वह उस ग्वाले को न तो अछूत मानते और न उसके साथ इस तरह का बर्ताव करते। वह कठोरी उसके हाथ से थाली में रखवाते या उसके हाथ से अपने हाथ में ले लेते। इस बात की चर्चा काली-गोदाम में हुआ करती कि जुगलकिशोरजी ग्वाले का परहेज नहीं

करते, यानी उसका छुआ खाते हैं। बात आज हँसी की-सी लगती है, पर उनके जीवन की श्रांक्तियों में श्रांक्तों तो उस समय की इस बहुत छोटी-सी बात में वे विचार नजर आते हैं, जो आगे जाकर हरिजन-आन्दोलन या छुआछूत या सवर्ण-अवर्ण के विचारों में प्रकट हुए।

उस समय तक बंगाली समाज में ब्रह्म-समाज की स्थापना हो चुकी थी और उसका प्रभाव बंगाल में काफी बढ़ रहा था। ऐसे ही आर्य समाज के विचारों का भी प्रभाव पंजाब तथा उत्तर भारत में बढ़ रहा था। श्री जुगलकिशोरजी पर आर्य समाज की समाज-सुधार की बात का प्रभाव पड़ा था, पर आर्य-समाज की मूर्ति-पूजा-निषेध तथा अन्य बातों का प्रभाव उनपर नहीं था। उस समय बड़ा संघर्ष था—आर्य समाज और सनातन धर्म का। श्री जुगलकिशोरजी हर अच्छी बात, अच्छे आदमी, का आदर करते थे।

उदारता और नम्रता की तो वह साक्षात् मूर्ति ही थे। मैंने उनके दादाजी की उदारता की बात सुनी है और उनकी तो सुनी भी और देखी भी। हो सकता है, उन्होंने अपने दादाजी, पिताजी से संस्कार लिये हों, पर उनमें एक ऐसी विचित्रता थी देने की कि न देने पर अकुलाहट होती। जिस समय उनके सट्टे में रुपया आता तो अकुलाकर रुपये देते। ऐसे दो-चार उदाहरण तो मेरे सामने हैं कि माँगनेवाले ने कल्पना ही नहीं की कि इतना अधिक मिलेगा। वह चन्दा माँगनेवाले से या व्यक्तिगत सहायता चाहनेवाले से पूछते कि कितने से काम चलेगा तो जितना वह बताता वह कहते, इतने से कैसे चलेगा, ज्यादा चाहिए? यह सब उनके व्यक्तिगत गुण या स्वभाव की बातें हैं। एक लम्बे अर्से तक

वह हमारे बीच रहे और अपनी उदारता और सद्भावना से समाज का हित-साधन करते रहे।

बिरला मन्दिर या और अनेक मन्दिर या मन्दिरों का जीर्णोद्धार आदि बातें तो प्रायः सबके सामने हैं और ये सब चीजें उनकी दानशीलता आदि बातों को प्रकट करती हैं, पर व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन की छोटी बातों में अन्तर-जीवन में ही सच्चा जीवन जीता है। उसका अन्तरजीवन, जिसको बाहर के लोग प्रायः नहीं जानते या जान नहीं

सकते, वही उसका वास्तविक जीवन है। श्री जुगलकिशोरजी के उस जीवन की थोड़ी-बहुत झाँकी जिनको मिली है वे जानते हैं कि वे अपने जीवन में कितने महान् थे। उनके दान का एक बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा भी होता था, जिसको दाहिना हाथ दे तो बाँया हाथ न जाने। हजारों आदमियों की आपद्-विपद् में उन्होंने सहायता की है, जिसको वे ही जानते हैं। ऐसे अनेक लोग हैं, जो उनके चले जाने से एक सहारा खो बैठे हैं।

काशी के सन्दर्भ में दो श्रुति मन्त्रों का समाधान

‘ऋते ज्ञानान् मुक्तिः’ अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। ‘काश्यामरणान्मुक्तिः’ अर्थात् काशी में मरने से मुक्ति होती है। श्रुति के इन दोनों मन्त्रों में विरोधाभास दिखाई पड़ता है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती, इस वचन में किसी भी आस्तिक को कोई सन्देह नहीं और इस वचन से काशी का कोई महत्त्व भी नहीं प्रमाणित होता। क्योंकि ज्ञानी पुरुष को मुक्ति मिलती ही है। किन्तु दूसरे वचन से यह पता चलता है कि काशी में मरने से मुक्ति होती है। ज्ञानी-अज्ञानी, पुण्यात्मा-पापात्मा का कोई भेद-भाव नहीं। हिन्दू, मुसलिम, ईसाई, जैन, बौद्ध, यहूदी, देशी-विदेशी कोई भी प्राणी हो काशी में मरते ही मुक्ति—मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। मानव ही नहीं कीट-पतंग, शूकर-कूकर को भी काशी में मरने से मुक्ति मिल जाती है। किन्तु यह बात आधुनिक लोगों की दृष्टि में चमत्कार है। पर वास्तविकता यह है कि यह न तो चमत्कार है और न अर्थवाद। यह भगवान् शंकर और काशीपुरी का अलौकिक महत्त्व है।

काशी और भगवान् शंकर की अहैतुकी महती कृपा से जीव काशी में ज्ञानी बन जाता है। मृत्यु के पूर्व भगवान् शंकर जीव मात्र को ज्ञान का उपदेश देते हैं। वे जीव से कहते हैं—‘त्वं ब्रह्मासि’ तुम ब्रह्म हो। इसे सुनते ही जीव ज्ञानी बन जाता और तत्काल बोल पड़ता है।—‘अहं ब्रह्मास्मि’ मैं ब्रह्म हूँ। इस प्रक्रिया द्वारा जीव मात्र ज्ञानी बन जाता है।

इस विवेचन से सिद्ध होता है कि उपर्युक्त दोनों श्रुतियों में कोई विरोध नहीं है और जो विरोधाभास दिखाई पड़ता है वह भी दूर हो जाता है।

— अ. ना. धर द्विवेदी

भक्त और भगवान् [पृष्ठ १५ का शेषांश]

निश्चिन्त रहो ! मैं न तो तुम्हारा घर छोड़कर जानेवाला हूँ और न तुम्हारा हृदय। मैं तो तुम्हारे प्रेम से ऐसा बँध गया हूँ कि चाहूँ तो भी न जा सकूँ। ‘दुर्योधन के मेवा त्यागे, साग बिदुर घर खायोजी।’ बिदुर की पत्नी द्वारा दिये गये केले के छिलकों के सामने बिदुरजी के दिये हुए केले मुझे

फोके लगे थे और मैंने बिदुर से कहा था, ‘वह स्वाद नहीं आवणों।’।”

रहीम ने भी कहा है :

रहिमन रहिला की मकी, जो परसे^२ चित लाय।

परसत मन मैला करै, सो मैदा जरि जाय ॥

१. चना। २. परोसे।

परमहंस हरिहर बाबा

— अवधनारायणधर द्विवेदी

बात इसी शताब्दी के मध्य की है। काशी के तुलसी और अस्सी घाट के बीच गंगा में नाव पर निवास करनेवाले परमहंस हरिहर बाबा की स्मृति बहुतेरे काशीवासियों को आज भी बनी हुई है। कृष्णवर्ण, स्थूलकाय, दिगम्बर अर्थात् वस्त्रहीन पूर्णतः नग्न। पद्मासन या सुखासन के साथ वे इस प्रकार झुके रहते थे कि नग्न नहीं प्रतीत होते थे। भक्त उनकी प्रदक्षिणा करते और स्पर्श का आनन्द लेते। पर इन बातों से बाबा को कोई सरोकार नहीं था। उनकी आँखें बन्द रहती थीं। उनकी झाँकी से ऐसा लगता था कि मानो कृष्ण द्वैपायन भगवान् व्यास आसन लगाये ध्यानमग्न हों। उनकी आयु के सम्बन्ध में अनेक मत थे। कोई उन्हें पाँच सौ वर्ष का तो कोई तीन सौ वर्ष का मानता था। जैसे आजकल लोग पूज्य देवरहवा बाबा के विषय में कहते हैं। उस क्षेत्र के सम्भ्रान्त नागरिक तथा वयोवृद्ध विद्वान् मानसराजहंस स्व. पं. विजयानन्दजी त्रिपाठी कहते थे कि “मैं बाबा को इसी अवस्था में अपनी बाल्यावस्था से देख रहा हूँ। और उस समय के बड़े-बूढ़ों का भी ऐसा ही कथन था।”

हमारे मित्र पं. वंशदेव मिश्र (भू. पू. सम्पादक दैनिक संसार और समाचार-सम्पादक, नवभारत टाइम्स, बम्बई) छात्रावस्था में तुलसी मन्दिर के निवासी थे। वे बाबा के भक्तों में से थे। मैं उनसे मिलने प्रायः तुलसी मन्दिर जाया करता था। एक बार वे बाबा के प्रसाद स्वरूप कुछ पूए लाये थे। उन्होंने मुझसे भी पूए खाने के लिए कहा। यद्यपि मेरी भी बाबा में श्रद्धा थी और जब भी वहाँ जाता बाबा की प्रदक्षिणा, दर्शन और स्पर्श अवश्य करता पर जातिगत मर्यादा के कारण मैं किसी का भी अन्नमिश्रित प्रसाद नहीं ग्रहण करता। इसलिए पूए खाने में मैंने विवशता प्रकट की।

इसपर वंशदेवजी ने सुनाया कि ‘आपकी ही तरह मेरी भी विचारधारा थी और एक दिन जब प्रसाद ग्रहण में सोच-विचार करने लगा तो देखता हूँ सर्वत्र हरिहर बाबा विराजमान हैं। यहाँ तक कि जब अपना लोटा उठाने चला तो उसपर भी बाबा विराजमान थे।’ इसका मुझपर ऐसा आतंक छाया कि मैंने पूए खाये जो अत्यन्त स्वादिष्ट लगे।

× × ×

एक बार आचार्य पं. सीतारामजी चतुर्वेदी ने बताया था कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुछ उद्दण्ड छात्रों ने हरिहर बाबा को परेशान किया। बाबा ने छात्रों से कुछ नहीं कहा। एक शिष्य द्वारा पूज्य महामना मालवीयजी को बुलवाया। मालवीयजी तत्काल हाथ जोड़कर बाबा के सामने खड़े हुए और छात्रों की घृष्टता के लिए क्षमा माँगने लगे। वे विश्वविद्यालय के कुलपति जो थे। किन्तु बाबा पर मालवीयजी की विनम्रता का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे मालवीयजी को इस प्रकार फटकारने और प्रताड़ित करने लगे :—“मालवीय ! तुमने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना कर भारी पाप किया है। तुमने तो अपनी समझ से हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति की रक्षा के लिए—अस्युद्धय के लिए हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की कि हजारों छात्र प्रातःकाल गायत्री मन्त्र पढ़कर भगवान् भास्कर को अर्घ्य देंगे। परन्तु होगा यह कि अर्घ्य देना तो दूर रहा ये सूर्य की ओर खड़े होकर पेशाब करेंगे। आज हमें परेशान किया उसका मुझे दुःख नहीं है, ये अन्य सन्त-महात्माओं का मजाक करेंगे, अनादर करेंगे। शिक्षा को कलंकित करेंगे। हुआ न तुमसे पाप ! बोलो चुप क्यों हो ?”

[शेष पृष्ठ २८ पर]

Gram : KANHOPE

Telex : BTEA - CA - 2808

Phone : 26-0880/84.

Bengal Tea & Industries Ltd.

Regd. Office :

9, Brabourne Road, Calcutta 700001.

A House of Quality Tea & Textile

Manufacturers & Exporters

Proprietors



TEA GARDENS

Ananda Tea Estate

Pathalipam Tea Estate

Bordeobam Tea Estate

Mackeypore Tea Estate

Lakmijan Tea Estate

Pallorbund Tea Estate

Dooloogram Tea Estate

Poloi Tea Estate

(ASSAM)

TEXTILE MILL

Asarwa Mill

Asarwa Road, AHMEDABAD

इस मास के पर्व

विजयादशमी

विजयादशमी को 'दशहरा' भी कहते हैं। यह आश्विन शुक्ल दशमी को मनाया जाता है। भगवान् राम ने इसी दिन लंका पर चढ़ाई की थी और उस पर विजय प्राप्त की थी। इसी लिए यह तिथि 'विजया-दशमी' कहलाती है। 'ज्योतिर्निबन्ध' में लिखा है कि आश्विन की शुक्ल पक्ष की दशमी को तारा उदय होने के समय 'विजय' नामक काल होता है। वह सब कार्य की सिद्धि को देनेवाला होता है। आश्विन शुक्ल दशमी पूर्व विद्धा निषिद्ध मानी गयी है। परविद्धा शुद्ध है। श्रवण-युक्त सूर्योदय व्यापिनी तिथि सर्वश्रेष्ठ है।

विजयादशमी हमारा राष्ट्रीय पर्व है। यह प्रधानतया क्षत्रियों का त्योहार है। साधारण जनता इस पर्व को रामलीला के रूप में मनाती है। शुक्ल पक्ष की नवमी तक रामलीला होती है और दशमी को राम की सवारी बड़े सजधज के साथ निकलती है। इस दिन नीलकण्ठ पक्षी के दर्शन करना शुभ माना जाता है।

कथा—एक समय पार्वतीजी ने महादेवजी से पूछा कि लोगों में जो दशहरे (विजयादशमी) का त्योहार प्रचलित है, इसका क्या फल है? शिवजी ने कहा कि आश्विन शुक्ल दशमी को नक्षत्रों के उदय होने पर विजय नामक काल होता है, जो सब कामनाओं को देनेवाला होता है। शत्रु पर विजय करने वाले राजा को इसी समय प्रस्थान करना चाहिए। इस दिन यदि श्रवण नक्षत्र का योग हो तो और भी अच्छा है, क्योंकि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र ने इसी विजय-काल में लंका पर चढ़ाई की थी। इसीलिए यह दिन पवित्र माना गया है और क्षत्रिय लोग इसको अपना मुख्य त्योहार मानते हैं। यदि शत्रु से युद्ध करने का प्रसंग न भी हो, तो भी इस काल में राजाओं को अपनी सीमा का उत्खनन अवश्य करना चाहिए। सम्पूर्ण दल-बल सजाकर पूर्व दिशा

में जाकर शमी वृक्ष का पूजन करना चाहिए। पूजन करने वाला शमी के सम्मुख खड़ा होकर इस प्रकार ध्यान करे—हे शमी! तू पापों का नाश करनेवाला है और शत्रुओं को भी नष्ट करनेवाला है। तूने अर्जुन के धनुष को धारण किया और रामचन्द्रजी से कैसी प्रिय वाणी कही।

यह सुनकर पार्वतीजी बोलीं—“शमी ने अर्जुन का धनुष-बाण कब और किस कारण धारण किया तथा उसने रामचन्द्रजी से कैसी प्रिय वाणी कही, सो कृपाकर समझाइए।”

तब शिवजी बोले—“दुर्योधन ने पाण्डवों को इस शर्त पर वनवास दिया था कि वे बारह वर्ष प्रकट रूप में वन में फिरे, परन्तु एक वर्ष सर्वथा अज्ञात अवस्था में रहें। यदि इस वर्ष में उनको कोई जान लेगा तो उनको बारह वर्ष और भी वनवास भोगना पड़ेगा। उस अज्ञात-वास के समय अर्जुन अपना धनुष-बाण एक शमी वृक्ष पर रखकर राजा विराट के यहाँ विहङ्गल-वेश में रहे थे। विराट के पुत्र उत्तरकुमार ने गोवों की रक्षा के लिए अर्जुन को अपने साथ लिया और अर्जुन ने शमी के वृक्ष पर से अपने हथियार उठाकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी। शमी ने एक वर्ष पर्यन्त देवता को तरह अर्जुन के हथियारों की रक्षा की थी और जब विजयादशमी के दिन श्री रामचन्द्रजी ने लंका पर चढ़ाई करने के लिए प्रस्थान किया तब भी शमी ने कहा था कि आपकी विजय होगी, इसी कारण विजय-काल में शमी का पूजन होता है।”

राजा युधिष्ठिर के पूछने पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने उनको समझाया था कि हे राजन्! विजयादशमी के दिन राजा स्वयं अलंकृत होकर अपने दास लोगों का शृंगार करे और हाथी घोड़ों का शृंगार करे तथा गान-वाद्य द्वारा मंगलाचार करे। अपने पुरोहित को साथ लेकर पूर्व दिशा में प्रस्थान करके अपनी सीमा के बाहर जाय और वहाँ वास्तु-पूजा करके अष्ट दिग्पालों एवं पार्थ देवता की वैदिक मन्त्रों

से पूजा करे। तदनन्तर प्रधानतया शमी की पूजा करनी चाहिए। शत्रु की प्रतिकृति अर्थात् पुतला बनाकर उसके हृदय में बाण लगाये और पुरोहित लोग वेद-मन्त्रों का उच्चारण करें। पूज्य ब्राह्मणों का पूजन करे तथा हाथी, घोड़ा, अस्त्र-शस्त्रादि सबका निरीक्षण भी करे। यह सब क्रिया सीमान्त में करके बाजे-गाजे के साथ अपने महल को लौट आना चाहिए। जो राजा प्रति वर्ष इस विधि से विजया-पूजन करता है, वह सदैव अपने शत्रु पर विजय प्राप्त करता है।

लक्ष्मी-पूजन—दीपावली

कार्तिक की अमावास्या को यह त्योहार होता है। इस दिन लक्ष्मी-पूजन का विधान है। लक्ष्मी-पूजन की विधि सनत्कुमार-संहिता के आधार पर लिखी जाती है।

कथा—एक समय ऋषियों ने सब मुनीश्वरों से कहा कि हे मुनीश्वरो ! अमावास्या के प्रातःकाल ही स्नान कर शक्तिपूर्वक पितृदेव एवं देवताओं का पूजन करे और दधि, क्षीर तथा घी से पार्वण श्राद्ध करके यथा-विधि ब्राह्मणों को भोजन कराये। रोगी और बालक के सिवा अन्य किसी व्यक्ति को दिन में भोजन नहीं करना चाहिए। सन्ध्या समय प्रदोष-काल में लक्ष्मीजी का पूजन करना चाहिए। नाना प्रकार के स्वच्छ और नवीन वस्त्रों से लक्ष्मीजी का मण्डप बनाकर पत्र, पुष्प, वन्दनवार, ध्वजा और पताका आदि से उसको सुसज्जित करे तथा उसमें अनेक देवी-देवताओं के सहित भगवती लक्ष्मी का षोडशोपचारपूर्वक पूजन करे। पूजन के अन्त में परिक्रमा करनी चाहिए।

मुनीश्वरों ने पूछा कि हे सनत्कुमार ! लक्ष्मी के साथ-साथ सब देवताओं के पूजन का क्या कारण है ? तब सनत्कुमार ने उत्तर दिया कि राजा बलि के कारागार में लक्ष्मी समस्त देवी-देवताओं के सहित बन्धन में थीं। आज के दिन विष्णु भगवान् ने उन सबको कैद से छुड़ाया था और देवता बन्धन-मुक्त होते ही श्री लक्ष्मीजी के साथ क्षीरसागर में जाकर सो गये थे। इस कारण अब हमको उनके शयन का अपने-अपने घरों में ऐसा प्रबन्ध कर देना चाहिए कि वे क्षीर-सागर की ओर न जाकर स्वच्छ स्थान और सुकोमल शय्या को पाकर यहीं सो रहें। अतः रेशम से बने हुए सुन्दर पलंग पर कोमल गद्दा बिछाकर उस पर सफेद चादर बिछाये। नवीन तकिया और रजाई लगाकर कमल-पुष्पों का मण्डप बनाये, क्योंकि लक्ष्मी का निवास-

स्थान कमल-पुष्प ही है। हे मुनीश्वरो ! जो लोग लक्ष्मी का इस प्रकार से स्वागत करते हैं, उनको छोड़कर वह अन्यत्र कहीं नहीं जाती। इसके विरुद्ध जो लोग आलस्य और निद्रा में पड़कर सो जाते हैं, श्रद्धापूर्वक लक्ष्मीजी का पूजन नहीं करते, वे सदैव दरिद्रता के शिकार बने रहते हैं।

रात्रि के समय लक्ष्मी के पूजन में उनका आवाहन करे और गाय के दूध का खोया बनाकर उसमें मिश्री, लवंग, इलायची, कपूर आदि डालकर उसके लड्डू बनाकर लक्ष्मी को भोग लगाये। इसके अतिरिक्त देशकालानुसार भोज्य, भक्ष्य, पेय, चोष्य चारों प्रकार के पदार्थ तथा फूलादि लक्ष्मी को अर्पण करके तब दीपदान करे। कुछ दीपकों को सर्वानिष्ट-निवृत्ति-हेतु अपने मस्तक पर घुमाकर चौराहे वा श्मशान में रखवा दे। नदी, पर्वत, महल, वृक्षमूल, गीवों के खिड़क (खरका) या चबूतरा आदि स्थानों में भी दीपक रखना चाहिए। यदि सम्भव हो तो घर के ऊपर भी दीपकों का एक वृत्त बनाना चाहिए। ऊपर जो ब्राह्मण-भोजन कराना लिखा है, वह भी इसी समय होना चाहिए।

राजा को चाहिए कि दूसरे दिन प्रातःकाल गाँव के सब बालकों को डोंडो पिटवाकर कहला दे कि आज गाँव के सब बालक नाना प्रकार का खेल खेलें। जब बालक क्रीड़ा करें तब इस बात की खबर रखनी चाहिए कि वे लोग क्या-क्या खेलते हैं। यदि सब बालक या कुछ बालकों का समूह आग जलाकर खेले और उस आग में ज्वाला प्रकट न हो तो जानना चाहिए कि इस वर्ष महामारी या घोर दुर्भिक्ष पड़ने की आशंका है। यदि बालक दुःख प्रकाश करें तो राजा को दुःख होगा। यदि सुख करें तो सुख होगा। यदि बालक आपस में लड़ें तो राजयुद्ध होने की सम्भावना होती है। और यदि बालक रोयें तो अनावृष्टि की आशंका की जानी चाहिए। यदि बालक लकड़ी का घोड़ा बनाकर खेलें तो जानना चाहिए कि अपनी किसी अन्य राज्य पर विजय होगी। यदि बालक लिंग पकड़कर क्रीड़ा करें तो जानना चाहिए कि व्यभिचार अधिकता से फैलेगा और यदि बालक अन्न या पानी चुरायें तो अकाल पड़ने की आशंका समझनी चाहिए। इस प्रकार शकुन देखना चाहिए। इस अवसर पर इन तीन दिनों में जुआ खेलने का भी विधान है। परन्तु स्मरण रहे कि इन तीन दिनों में नरक-स्वरूप दैत्यराज बलि का राज माना जाता है, जिसमें लक्ष्मी और सब देवी-

[शेष पृष्ठ २४ पर]

काशी मुमुक्षु भवन सभा

आशुतोष अवधरदानी भगवान् शंकर के त्रिशूल एवं पतितपावनी भगवती भागीरथी के परम पुनीत तट पर स्थित काशीपुरी युग-युग से प्राणियों को मोक्ष प्रदान करती आ रही है। उत्तर-वाहिनी गंगा इसका सदैव स्पर्श करती हुई इसे श्री, सुषमा और शुचिता का वरदान देती रहती है। गंगा-स्नान, विश्वनाथ के दर्शन और माँ अन्नपूर्णा की उपासना से जीव के जन्म-जन्मान्तर के सारे कलुष-पाप तत्काल दूर हो जाते हैं। भारत के सभी महान् साधु-सन्तों ने इसे स्वीकार किया है कि काशी में शरीर त्याग करनेवाले प्रत्येक प्राणी को भोलेनाथ महादेव तारक मन्त्र का उपदेश देते हैं जिससे उसे सहज ही परमात्मा का दर्शन हो जाता है और वह उसी क्षण आवागमन के बन्धन से छूट जाता है।

ऐसी पुण्य नगरी काशी के कर्मयोगी सन्तों की प्राचीन परम्परा में स्वामी घनश्यामानन्दजी तीर्थ का नाम-स्मरण बड़े आदर और सम्मान के साथ किया जाता है। उन्होंने ऐसी संस्था की स्थापना का संकल्प किया जहाँ शास्त्रोक्त रीति से रहकर जीवन के परम पुष्टार्थ मोक्ष की प्राप्ति का प्रयास किया जा सके।

स्वनामधन्य राजा बलदेवदासजी बिरला ने स्वामीजी के सत्संकल्प का समादर करते हुए १९ नवम्बर सन् १९१९ को काशी के अस्सी नामक महत्त्वपूर्ण गंगा के निकटवर्ती स्थान पर एक बीघा बारह बिस्वा भूमिखण्ड खरीदा, उसमें निर्माण-कार्य हेतु दस हजार रुपयों की व्यवस्था की और सन् १९२० में सात सदस्यों का एक ट्रस्ट बनाकर उसको उक्त भूमि तथा रुपये सौंपते हुए यह निर्देश दिया कि काशी आने वाले तीर्थयात्रियों तथा काशी-वास करने की दृष्टि से आवे वाले श्रद्धालुओं के आवास आदि की व्यवस्था करायी जाये तथा उनके लिए नियम आदि बनाये जायें। किन्तु सन् १९२९ तक न तो संस्था बनी और न नियम ही बने तथा अनेक ट्रस्टियों की मृत्यु हो गयी। उधर पण्डित घनश्यामदासजी संन्यास लेकर स्वामी घनश्यामानन्द तीर्थ

हो गये और उन्होंने भी ट्रस्टीपद से त्यागपत्र दे दिया। उसी समय काशी के कुछ प्रमुख समाज-सेवियों तथा श्रद्धालुओं ने यह अनुभव किया कि राजा साहब द्वारा निर्मित ट्रस्ट के अनेक ट्रस्टियों का निघन हो गया है और शेष ट्रस्टियों द्वारा भी ट्रस्ट के उद्देश्य तथा लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई प्रयास नहीं हो रहा है तब उन्होंने सन् १९२९ में 'काशी मुमुक्षु भवन सभा' नाम से सोसाइटीज ऐक्ट में रजिस्टर्ड संस्था का निर्माण किया जिसने विधिवत् संस्था का स्वरूप ग्रहण किया, नियम बनाये गये और इस रजिस्टर्ड संस्था ने बहुत-सी भूमि दान-स्वरूप और कुछ क्रय कर प्राप्त की और उनमें मुमुक्षुओं के लिए आवास, संन्यासियों के लिए ईश्वर मठ और संस्कृत के विद्यार्थियों के लिए वेद-वेदाङ्ग विद्यालय स्थापित किया। श्री गौरीशंकरजी गोयनका का इसमें महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

ऐसी परिस्थिति में राजा बलदेवदासजी बिरला द्वारा स्थापित ट्रस्ट की सम्पत्ति का संचालन भी काशी मुमुक्षु भवन सभा रजिस्टर्ड संस्था द्वारा किया जाने लगा। राजा साहब ने सन् १९५२ में एक स्थापना अमिलेख (सेटलमेंट डीड) लिखकर इसकी पुष्टि कर दी कि उनके द्वारा स्थापित ट्रस्ट सम्पत्ति जो विगत अनेक वर्षों से काशी मुमुक्षु भवन सभा के अधिकार में रही है और सभा उनके द्वारा निर्धारित उद्देश्यों तथा लक्ष्यों के हेतु प्रयुक्त करती रही है, इसमें उन्हें न कभी कोई आपत्ति रही है, न है, वरन् उनकी सहमति है।

राजा साहब के बाद उनके पुत्र भारतीय संस्कृति के उन्नायक धर्मप्राण सेठ जुगलकिशोरजी बिरला की काशी मुमुक्षु भवन सभा के प्रति गहरी अभिरुचि रही और समय-समय पर वे इसकी सहायता करते रहे। इस समय उनके सुपुत्र श्री लक्ष्मीनिवासजी बिरला अध्यक्ष के रूप में इस संस्था के संरक्षण-संवर्द्धन और संचालन के प्रति जागरूक हैं और इसको आधुनिक रूप प्रदान कर अधिकाधिक लोकोपयोगी बनाने के लिए कृतसंकल्प हैं।

काशी मुमुक्षु भवन सभा का भारत की धार्मिक संस्थाओं में अपना विशिष्ट स्थान है। इसके द्वारा निम्नलिखित धार्मिक, पारमार्थिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं का संचालन होता है—

१. मुमुक्षु भवन वेद-वेदाङ्ग महाविद्यालय
२. ईश्वरमठ दण्डी स्वामी क्षेत्र, काशी
३. दण्डी स्वामी क्षेत्र, उत्तर काशी
४. दण्डी स्वामी क्षेत्र गंगाश्रम, झूंसी, प्रयाग
५. दण्डी स्वामी क्षेत्र गंगोत्री
६. धर्मशाला, उत्तर काशी
७. शिवशंकर क्षेत्र, काशी
८. मन्दिर
९. यज्ञशाला
१०. चिकित्सालय
११. पुस्तकालय

१२. आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मासिक 'मुमुक्षु' का प्रकाशन

काशी मुमुक्षु भवन सभा का निर्माण काशी में मोक्ष प्राप्त करवे की दृष्टि से निवास करनेवालों के लिए किया गया है। इसमें नैष्ठिक ब्रह्मचारी एवं वानप्रस्थी भगवद्-आराधना करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं। इसका शान्त वातावरण मोक्ष प्राप्ति के लिए सर्वथा उपयुक्त है। इसके विभिन्न प्रांगणों में उदार दाताओं के द्वारा बनवाये गये शताधिक निवास कक्ष हैं। धार्मिक प्रयोजन से काशी में आने वाले तीर्थयात्रियों के अल्पकालीन आवास तथा भोजन आदि की व्यवस्था भी संस्था द्वारा की जाती है।

काशी मुमुक्षु भवन सभा की सभी प्रवृत्तियाँ सफलता और कुशलतापूर्वक चलती रहें और सेवा के नये क्षेत्रों का भी विकास होता रहे, इसके लिए संस्था निरन्तर प्रयत्नशील है।

इस मास के पर्व

[पृष्ठ २२ का शेषांश]

देवताओं को कष्ट सहन करना पड़ा था। अतः अघर्मी राक्षस राज में अघर्म करना ठीक माना गया है। अघर्मात्रि के समय राजा को भी नगर की शोभा देखने के लिए निकलना चाहिए।

९. हनुमान-जयन्ती
१०. नरक चतुर्दशी
११. दीपावली
१२. अन्नकूट

- | | |
|---------|------------|
| सोमवार | २६ अक्टूबर |
| सोमवार | २६ „ |
| मंगलवार | २७ „ |
| बुधवार | २८ „ |

अक्तूबर मास के व्रत और त्यौहार

- | | | |
|-------------------------------|----------|-----------|
| १. नवरात्र की महाष्टमी | मंगलवार | ६ अक्तूबर |
| २. विजयादशमी | गुरुवार | ८ „ |
| ३. पापांकुशा एकादशी | शुक्रवार | ९ „ |
| ४. शारदीय या कोजागरी पूर्णिमा | मंगलवार | १३ „ |
| ५. अहोई अष्टमी | मंगलवार | २० „ |
| ६. राधाष्टमी | मंगलवार | २० „ |
| ७. रम्भा एकादशी | शुक्रवार | २३ „ |
| ८. घनतेरस | रविवार | २५ „ |

नवम्बर मास के व्रत और त्यौहार

- | | | |
|---------------------|---------|----------|
| १. सूर्यषष्ठी | मंगलवार | ३ नवम्बर |
| २. गोपाष्टमी | गुरुवार | ५ „ |
| ३. प्रबोधिनी एकादशी | रविवार | ८ „ |
| ४. वैकुण्ठ चतुर्दशी | मंगलवार | १० „ |
| ५. भैरवाष्टमी | बुधवार | १८ „ |
| ६. उत्पन्ना एकादशी | रविवार | २२ „ |
| ७. सोम प्रदोष | सोमवार | २३ „ |

श्रीकाशी विश्वनाथ-मन्दिर

— श्री रामशंकर त्रिपाठी, महन्त, श्रीविश्वनाथ-मन्दिर

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र एवं सदाशिव से ऊपर परम शिव की स्थिति है। यही परमशिव विश्वेश्वर-विश्वनाथ है। इसीलिए—

श्रीविश्वनाथेन समं न लिङ्गम् ।

पुरी न काशी सदृशी त्रिकोट्याम् ॥

— काशीखण्ड ५।३१

ऐसा होने पर भी इतिहासकारों की उदासीनता के कारण जिज्ञासुओं के लिए काशी के महिमासर्वस्व भगवान् विश्वनाथ के मन्दिर का यथार्थ इतिवृत्त रहस्यात्मक हो गया है।

जिस विश्वनाथप्रिया काशी में यह मन्दिर अवस्थित है। उसका इतिवृत्त यद्यपि विश्वनाथ-सा अनादि नहीं है तथापि इतिहास से परे तो अवश्य ही है। विश्वनाथ एवं काशी दोनों ज्ञानस्वरूप हैं। प्राचीनतम वैदिक वाङ्मय में काशी का वर्णन समृद्धिशालिनी एवं महिमान्विता नगरी के रूप में मिलता है। वाल्मीकीय रामायण, महाभारत एवं पुराणों से भी विदित होता है कि काशी सृष्टि के आरम्भ से ही शैव धर्म का प्रसिद्ध क्षेत्र रही है।

हिन्दू धर्म का प्रमुख केन्द्र होने के कारण बुद्ध ने अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन यहीं से प्रारम्भ किया। काशी का ही नाम वैदिक युग के अनन्तर वाराणसी भी मिलता है। संस्कृत साहित्य में काशी—वाराणसी का गुणगान पर्याप्त परिमाण में उपलब्ध है।

श्रीविश्वनाथ की प्रतिमा ज्योतिर्लिङ्ग के नाम से प्रथित है। लिङ्ग-पूजा की परम्परा भी अति प्राचीन है। अनादि-काल से आध्यात्मिक एवं ज्ञानस्वरूप काशी ज्योतिर्मय शिव-लिङ्ग से सतत ज्योतिर्गति चली आयी है। विष्णु ने सर्वप्रथम

देवाधिदेव महादेव के दर्शन इसी ज्योतिर्लिङ्ग स्वरूप में किये थे एवं मणिकर्णिका कुण्ड का निर्माण कर सर्वशक्तिमान होने का वर प्राप्त किया था। ब्रह्मा ने दस अश्वमेध यज्ञ का इसी काशी को यज्ञभूमि बनाया। भगवान् शिव को काशी इतनी प्रिय है कि वे इसी के हेतु अविमुक्तेश्वर कहलाये। परिणामतः काशी अविमुक्त क्षेत्र नाम से अभिहित है।

काशी के महादेव जी की पूजा की परम्परा प्राग्वैदिक काल की तो है ही वैदिक काल की भी है। काशी के विश्वनाथ जी की पूजा में महादेव की उक्त दोनों पूजा-पद्धतियों का सुन्दर समन्वय है। काशी की सृष्टि ही शिवमयी है। किन्तु भगवान् विश्वनाथ की स्थिति सांसारिक दृष्टि से शिवालय में स्थिर करना समुचित अन्वेषण के अभाव में अत्यन्त कठिन है।

विश्वेश्वर का मन्दिर कहीं था ? इस प्रश्न के उत्तर का सर्वप्रथम आधार काशी खण्ड है। वाराणसी में आजकल ज्ञानवापी के उत्तर जो कारमाइकेल पुस्तकालय है, उसके सामने की सड़क के पार को मस्जिद तथा पार्श्ववर्ती विस्तृत भूभाग पर तत्कालीन विश्वेश्वर का विशाल मन्दिर था। काशी खण्ड के अनुसार इसी मन्दिर को केन्द्र मानकर ज्ञानवापी तथा अन्य मन्दिरों की प्रतिष्ठा का पता चलता है। बौद्ध युग में बौद्धों के प्राबल्य के समय उन्होंने अपने सद्धर्म के प्रचार हेतु इसी मन्दिर के पास ज्ञानवापी में अपना केन्द्र विहार के रूप में बनवाया जहाँ आजकल औरंगजेबी मस्जिद है। सातवीं शताब्दी के मध्य ६४० ई० के लगभग प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनत्सांग वाराणसी आया था। उस समय विश्वेश्वर को महेश्वर भी कहते थे। ह्वेनसांग ने लिखा है कि हिन्दुओं के महेश्वर का बड़ा मन्दिर स्मरान के

पास ही था। तत्कालीन महात्मशान आधुनिक चौक स्थित भद्रमल की कोठी से प्रारम्भ होता था। अतः निर्विवाद रूप से उपर्युक्त भूभाग पर मन्दिर का सातवीं शताब्दी तक होना सिद्ध होता है।

विश्वेश्वर के लिए विश्वनाथ नाम का सर्वप्रथम उल्लेख गहरवारों के राज्यकाल दसवीं शताब्दी में हुआ। सन् ११९४ ई० में गहरवारों के प्रसिद्ध राजा जयचन्द को परास्त कर शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने पुराणोक्त इस विश्वेश्वर मन्दिर को सर्वप्रथम भग्न किया। शमसुद्दीन इल्तुमिश के समय (१२११-१२२६ ई०) में उपर्युक्त पुराने मन्दिर के पास ही पुनः विश्वेश्वर का मन्दिर बना।

सन् १४४७ ई० में जौनपुर की लाल दरवाजा मस्जिद का निर्माण काशी पद्मेश्वर मन्दिर के स्तम्भ आदि सामग्री के द्वारा हुआ था। इसी काल के आस-पास ही पद्मेश्वर मन्दिर भग्न किया गया था। अतः विश्वेश्वर मन्दिर भी इसी समय पुनः भग्न हुआ होगा। डॉ० मोतीचन्द के अनुसार विश्वनाथ मन्दिर का हुसेन शाह शर्की एवं सिकन्दर लोदी के समय (१४८९-१५१७ ई०) में पुनः भग्न होना लिखा है। अकबर के राजत्व काल में सन् १५०५ ई० में काशी के अग्रपण्डित नारायण भट्ट ने टोडरमल की सहायता से ज्ञानवापी में, आजकल जहाँ मस्जिद है, उसी स्थान पर विश्वेश्वर का मन्दिर बनवाया तथा पहले से छिपाकर रखे गये प्राचीन विश्वेश्वर लिंग की इसमें विधिवत् स्थापना की। भट्ट जी को इस मन्दिर का निर्माण व्यय पैंतालीस हजार दीनार मुगल खजाने से दिया गया था तथा मन्दिर पाँच वर्षों में पूरा हुआ था।

सन् १६६९ ई० में नारायण भट्ट के बनवाये उपर्युक्त विश्वेश्वर मन्दिर को ८४ वर्ष पश्चात् औरंगजेब आलमगीर ने राजनैतिक ईर्ष्याविश नष्ट किया। उसने काशी पहुँचकर आतंक फैला दिया। लिंग मन्दिर से हटाकर ज्ञानवापी कूप में अन्तर्निहित कर दिया गया। औरंगजेब ने सूने मन्दिर को नष्ट-भ्रष्ट ही नहीं किया प्रत्युत वहीं पर मस्जिद का निर्माण करवा दिया।

औरंगजेब के काशी से चले जाने पर हिन्दुओं ने ज्ञानवापी कूप से विश्वनाथ लिंग को निकाल वर्तमान मन्दिर के गर्भगृह के आकार के चबूतरे पर (जिस स्थान पर इस समय वे विराजमान हैं) पुनः स्थापित कर दिया। शेरिंग ने अपनी पुस्तक में पुराने मन्दिर से बहुत सी पुरानी मूर्तियों

तक को लाकर वर्तमान विश्वनाथ मन्दिर की कचहरी में स्थापित करने का उल्लेख किया है। इसलिए यदि छोटी मूर्तियाँ तक को हटाया जा सकता है तो विश्वेश्वर लिंग का हटाया जाना स्वयं सिद्ध है। नारायण भट्ट ने भी ८४ वर्ष पूर्व अपने द्वारा बनवाये मन्दिर में पुराने लिंग को ही स्थापित किया था।

इस घटना के १०८ वर्ष बाद सन् १७७७ ई. में इन्दौर की महारानी अहल्याबाई ने जयराम शर्मा द्वारा उपर्युक्त चबूतरे पर स्थित विश्वनाथ लिंग के ऊपर वर्तमान मन्दिर का निर्माण कराया जो मन्दिर में लगे उनके शिलालेख से सिद्ध होता है। शिलालेख का श्लोक यों है—

“विश्वेश्वरस्य रमणीयतरं सुमन्दिरम्।

श्रीपंचमंडपयुतं सदृशं च वैश्वम् ॥

उनके पूरे शिलालेख का तात्पर्य यह है—महेश्वर नगरी के राजा मल्हारराव होल्कर के पुत्र मारुतण्ड की पुत्री अहल्या ने विश्वनाथजी के आदेश से जयराम शर्मा से सं. १८३४ वि० शके १६९९ कीलक संवत्सर दक्षिणायन भाद्रपद कृष्ण ८ सोमवार रोहिणी नक्षत्र और स्वर्ण योग के दिन काशी में कैलास से प्रिय अन्तर्गृह में पंच मण्डपयुक्त अति सुन्दर मन्दिर का निर्माण कराया :” महारानी अहल्याबाई के शिलालेख में विश्वेश्वर लिंग की स्थापना का उल्लेख तक नहीं है, मन्दिर बनवाना ही उत्कीर्ण है। सन् १८३९ ई. में लाहौर के महाराज रंजीत सिंह ने मन्दिर को स्वर्ण मण्डित कराया।

सन् १६६९ ई. में औरंगजेब द्वारा विश्वेश्वर मन्दिर नष्ट किये जाने के पश्चात् से सन् १७७७ ई. में वर्तमान मन्दिर बनने तक १०८ वर्ष का इतिहास काशी के वंशानुगत तीर्थ पुरोहितों पं० त्रिलोकीनाथ एवं पं० महावीरप्रसाद मिश्र की पुरानी बहियों में सुरक्षित है। उनसे निम्नलिखित तथ्य प्रकट होते हैं :—

१. सन् १६७१ में माघ वदी १३ सं. १७२८ वै० अर्थात् सन् १६६९ ई. में औरंगजेब द्वारा मन्दिर नष्ट करने के दो वर्ष पश्चात् रोवा नरेश मानसिंह जूदेव काशी पधारे।

२. सन् १६७६ ई. में वैशाख सुदी १० सं. १७३३ वै० में महाराजा जगत सिंह जी काशी पधारे।

३. पौष वदी ३ रविवार सं. १७९० वै० सन् १७३३ में अर्थात् अहल्याबाई के मन्दिर बनवाने के ४४ वर्ष पूर्व

[शेष पृष्ठ २९ पर]

मुमुक्षु भवन-सभा-समाचार

स्वागत-समारोह—१२ मई १९८१ को मुमुक्षु भवन में वाराणसी मण्डल के संस्कृताध्यापकों की सभा हुई जिसमें शिक्षा-उपनिदेशक श्री जे. पी. सिंह का स्वागत-अभिनन्दन किया गया। स्वागत-गान प्रज्ञाचक्षु श्री मनपूरण ने किया। केन्द्रीय अध्यापक सम्मेलन के अध्यक्ष श्री चन्द्रदेवमणि त्रिपाठी ने अध्यापकों की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए अनेक माँगें प्रस्तुत कीं जिन्हें सुनकर श्री शिक्षा उपनिदेशक ने उनपर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने का आश्वासन दिया।

जन्माष्टमी-समारोह—भाद्रपद कृष्ण ८ रविवार रात ७।। बजे तदनुसार २३ अगस्त १९८१ को श्रीकाशी मुमुक्षु भवन-सभा के श्रीराधाकृष्ण मन्दिर के प्रांगण में गोवर्धन पीठाधीश्वर पुरी के शंकराचार्य जगद्गुरु अनन्तश्री-विभूषित स्वामी निरञ्जनदेव जी तीर्थ महाराज की अध्यक्षता में श्रीकृष्ण-जन्मोपलक्ष्य महोत्सव समारोहपूर्वक मनाया गया, जिसमें मुख्य अतिथि श्री स्वामी विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती (जज स्वामी), श्री १०८ स्वामी श्री कृष्णानन्द जी सरस्वती तथा श्री १०८ स्वामी निश्चलानन्द जी सरस्वती के भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार पर सारगर्भित भाषण हुए। श्री जज स्वामी ने अपने भाषण में यह विचारणीय प्रश्न उठाया कि भगवान् कृष्ण के तिरोभाव के पश्चात् देश में भारी अव्यवस्था फैल गयी फिर कैसे कहा जाय कि उनके अवतार का उद्देश्य पूरा हो गया। इस प्रश्न का उत्तर दिया अध्यक्ष अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्यजी ने कि भगवान् कृष्ण के तिरोभाव के पश्चात् अव्यवस्था नहीं फैली बल्कि अशोक तक केन्द्रीय शासन व्यवस्थित था। देश सुखी था। देश की व्यवस्था तो तब बिगड़ी जब अशोक धर्म परिवर्तन कर बौद्ध बन गया। उसके बाद राजदण्ड शिथिल होने से देश में अव्यवस्था फैली। श्रीशंकराचार्य ने भगवान् के अवतार लेने का एक विशिष्ट कारण यह भी बताया कि तत्त्वज्ञानियों की इच्छाएँ पूरी हों, उन्हें संरक्षण मिले।

श्रीस्वामी कपिलदेवानन्दजी ने भी अवतारवाद पर अपने विचार प्रकट किये।

समारोह के प्रारम्भ में श्रीकाशी मुमुक्षु भवन सभा के मन्त्री श्री पुरुषोत्तमदास मोदी ने पूज्य शंकराचार्य जी, महात्माओं तथा अतिथियों का स्वागत किया। श्री मुमुक्षु भवन वेदवेदांग महा विद्यालय के प्रधानाचार्य श्री राधेश्याम मिश्र ने तिलक किया तथा छात्रों ने स्वागत-गान गाया।

अभिनन्दन-समारोह—भाद्रपद शुक्ल द्वितीया सोमवार दिनांक ३१ अगस्त १९८१ को सायं ५ बजे मुमुक्षु भवन में प्रादेशिक संस्कृत विद्यालयाध्यापक समिति, उत्तर-प्रदेश की केन्द्रीय, क्षेत्रीय तथा जनपदीय समितियों की ओर से उत्तर प्रदेश के शिक्षा सचिव श्री गोपीकृष्ण अरोरा का अभिनन्दन किया गया। केन्द्रीय समिति के अध्यक्ष श्री चन्द्रदेवमणि त्रिपाठी ने शिक्षा सचिव जी के समक्ष संस्कृताध्यापकों की समस्याएँ प्रस्तुत कीं जिनपर विचार करने का आश्वासन श्री अरोरा जी ने दिया। इस अवसर पर शिक्षा उपनिदेशक तथा जिला विद्यालय निरीक्षक का भी अभिनन्दन किया गया।

अभिनन्दनपत्र समर्पण—दिनांक १३ सितम्बर १९८१ को अनन्तश्रीविभूषित गोवर्धन पीठाधीश्वर पुरी के जगद्गुरु शंकराचार्य निरञ्जनदेव तीर्थ महाराज को काशी मुमुक्षु भवन के वेदवेदांग महाविद्यालय के अध्यापकों, अधिकांशियों तथा छात्रों की ओर से संस्कृत में मुद्रित अभिनन्दन-पत्र समर्पित किया गया।

होमियोपैथिक चिकित्सालय—कलकत्ता के सुप्रसिद्ध समाजसेवी तथा दानी स्व. श्री रामकुमार जी भुवालका के भुवालका जनकल्याण ट्रस्ट के सहयोग से मुमुक्षु भवन में होमियोपैथिक चिकित्सालय विगत कई वर्षों से कार्यरत है

जिससे मुमुक्षु भवन ही नहीं आसपास की जनता लाभ उठाती है। १ अप्रैल १९८१ से लेकर ३० सितम्बर १९८१ तक, इस चिकित्सालय से लाभ उठानेवाले रोगियों की संख्या इस प्रकार है—

माह	नये रोगी	पुराने रोगी	जोड़
अप्रैल	५०६	२६०६	३११२
मई	५२७	२६२१	३१४८
जून	५२३	२७२७	३२४०
जुलाई	५५३	२७३०	३२८३
अगस्त	५४६	२८६४	३४१०
सितम्बर	५६४	३०२६	३५९०

भण्डारा—ईश्वरमठ के संन्यासियों की भिक्षा (भोजन) के लिए भण्डारा स्थायी कोष का प्रबन्ध है। पर वह अपेक्षित व्यय से बहुत कम है। इसलिए भण्डारे का व्यय समयानुसार भण्डारे के लिए दिये गये दान पर बहुत कुछ निर्भर है। १ अप्रैल १९८१ से ३० सितम्बर तक के भण्डारा-दाताओं की नामावली इस प्रकार है—

सर्वश्री चिनकू मिस्त्री सिंदरो कोइलरी, रामकुमार सराफ, भदैनो, वाराणसी, इन्द्रानी देवी, मुमुक्षु भवन, स्वामी सुखानन्द तीर्थ, नगवा, वाराणसी, हरिवंशदास, आजमगढ़, आत्माराम जी ढांडनियाँ, अन्नपूर्णा मिल्स, वाराणसी, हजारो लाल अग्रवाल, कलकत्ता, गिन्नी देवी खेतान, कलकत्ता,

शारदादेवी खण्डेलवाल, जबलपुर, पतंजलि ब्रह्मचारी, आजमगढ़, सत्येन्द्रकुमार गुप्त, वाराणसी, नारायणदास अग्रवाल, वाराणसी, राजेशकुमार गुप्त, वाराणसी, मोहोरीदेवी लोहिया मुमुक्षु भवन, स्वामी अभयानन्द तीर्थ मुमुक्षु भवन, रामसजीवन पांडे, बाँदा, स्वामी रामानन्द, मुमुक्षु भवन, रामकुमार रंगटा, गोविन्द प्रसाद लोहिया, कलकत्ता, मातादीन शर्मा, मुमुक्षुभवन, मदनगोपाल केडिया, वाराणसी, गोपीराम अग्रवाल वाराणसी, एक गुप्तदानदाता, खुन्नीलाल अग्रवाल, बरेली, स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती, मुमुक्षु भवन, रामसहाय तिवारी, फैजाबाद, शान्तिलाल शर्मा, राजनन्द गाँव, ब्रह्मस्वरूप ब्रह्मचारी, मुमुक्षुभवन, सत्यभामा देवी सरावगी, मुमुक्षु भवन, स्वामी शान्तानन्द तीर्थ, मुमुक्षु भवन, जाह्नवी-देवी गाजीपुर, कमली बाई मुमुक्षु भवन, रामप्यारी देवी, फैजाबाद, जजस्वामी, मुमुक्षु भवन, श्यामादेवी, पटना, नोपानी जन सेवानिधि, रामनाथ तिवारी, देवरिया, विम्बन अवस्थी, सीताराम लड्डा, सुजानगढ़, रामाबाई, मुमुक्षुभवन, छोटी बाई पोद्दार, श्यामलाल प्रभाकर, दिल्ली, नर्मदाबाई गोयल, वाराणसी, सोहनलाल झँवर, अमृतसर, विमलादेवी लक्कड़, सीतामढ़ी, सत्यनारायण त्रिवेदी, वाराणसी, गोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता, दुर्गा बाई चमड़िया, मुमुक्षु भवन, पूरनमल गौयनका, झरिया, इन्द्रावती देवी, हावड़ा, सीताराम राय, बलिया, जगदीशप्रसादजी सरावगी और मदनलाल केडिया, मुमुक्षु भवन।

परमहंस हरिहर बाबा

[पृष्ठ १९ का शेषांश]

इस प्रकार हरिहर बाबा आध घण्टे तक मालवीय जो को फटकारते रहे। मालवीय जो मौन होकर केवल आँसू बहाते रहे। उन आँसुओं ने बाबा का हृदय पिघला दिया। वे बोले—“मालवीय” तू सच्चा सन्त है। इतना बड़ा देश का नेता होकर भी मेरी तीव्र फटकार सुनकर तू विचलित नहीं हुआ। क्रोध के तनिक चिह्न भी प्रकट नहीं हुए। तूने क्रोध जीत लिया है। तू महात्मा है, महामना है। जाओ, तुम्हारे छात्रों को मैंने क्षमा किया। मैं इतना ही चाहता हूँ कि छात्र शिक्षित बनें और आचारवान् हों।”

मालवीय जो ने बाबा को पुनः प्रणाम किया और वे स्वस्थ चित्त से विश्वविद्यालय लौट आये।

×

×

×

काशी में लक्सा पुलिस चौकी के सामने पं. कुबेरपति त्रिपाठी का मकान है। उस मकान में संस्कृत के छात्र

निःशुल्क रहा करते थे, जिनमें से एक मैं भी था। कुबेरपति के प्रपोत्र श्री दल्लनपति त्रिपाठी जी ने हम लोगों को बताया कि आज शाम को हमारे घर हरिहर बाबा आयेंगे। उन्हें लाने के लिए आप लोगों को चलना होगा। यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि हरिहर बाबा किसी के यहाँ कभी जाते नहीं थे। दल्लनपति ने यह कहकर हमारा कुतूहल और आश्चर्य शान्त किया कि हमारे परदादा कुबेरपति के हरिहर बाबा मित्र हैं। इसलिए यहाँ आयेंगे। तदनुसार हम लोग हरिहर बाबा को पालकी में बैठाकर ले आये। पालकी में ही उन्होंने दूध-रोटी खायी। बचा हुआ दूध प्रसाद के रूप में सब ने ग्रहण किया।

जो हो, हरिहर बाबा परमहंस थे। परिग्रहों से मुक्त। स्थितप्रज्ञ। गुणातीत। ऐसे सन्त अब दुर्लभ हैं।

सहिष्णुता

एक थानेदार को एक सुयोग्य गुरु की तलाश थी। थानेदार साहब जहाँ तैनात थे, उसी स्थान के नजदीक जंगल में प्रसिद्ध सन्त दादू का आश्रम था। उनकी भक्ति और सिद्धि की भक्त थानेदार को हुई तो उन्होंने सोचा चलो अब कहीं और भटकने की जरूरत नहीं। इसी सन्त को गुरु के रूप में अपना लूँगा।

किसी दिन भक्त दादू से मिलने और दीक्षित होने की ललक लिये थानेदार साहब घोड़े पर सवार होकर चल पड़े। जब जंगल से गुजरने लगे तो देखते हैं कि एक गरीब व्यक्ति खाली घोटो पहने जंगल में कुछ स्थान साफ कर रहा है। घोड़े पर सवार दरोगाजी ने सवाल किया “ऐ कंगले, तुझे मालूम है दादू भक्त इस वन में कहाँ रहता है?” वह व्यक्ति चुपचाप अपना काम यथावत् करता रहा। कोई जवाब नहीं दिया।

उसे यह हरकत पसन्द नहीं आयी और वह घोड़े से उतरकर उसके मुँह पर वेतहाशा थप्पड़ रसीद करने लगा। फिर भद्दी गालियों की बौछार करते हुए फटकारा, “जरा-सी बात का जवाब नहीं दे सकता? मक्कार कहीं का।” मार, गाली और फटकार के बावजूद उस मामूली-

से दिखनेवाले का मौन भंग न हुआ और वह अपने काम में निर्विकार यथावत् मशगूल रहा। थानेदार ने उसे ठोकर मारी और आगे बढ़ गया।

आगे थोड़ी दूर जाकर थानेदार ने एक राहगीर से पूछा, “तुम्हें पता है कि सन्त दादू कहाँ रहते हैं?” उसने कहा, “वह तो उधर ही रहते हैं जिवर से आप आ रहे हैं।” मैं भी वहीं जा रहा हूँ, आइए मेरे साथ।”

जब वह व्यक्ति उसी कंगले के पास रुका जिसे कुछ क्षणों पूर्व थानेदार ने पीटा था तो थानेदार साहब सन्न रह गये। बेचारा थानेदार घबराया हुआ दादू के चरणों पर गिर पड़ा और पश्चात्ताप का रोना रोते हुए कहा, “मैं तो आपको गुरु के रूप में अपनाने आया था और अज्ञानवश आपकी ही पिटाई कर दी, मुझे माफ कर दीजिए।”

सन्त दादू ठहाका लगाते हुए बोले—“घबराने और दुखी होने की कोई बात नहीं, मेरे भाई; यदि कोई घड़ा खरीदता है तो उसे भी खूब ठोंक-पीटकर लेता है। तुम तो गुरु का चुनाव करने आये हो। तुम्हारे लिए यही वाजिब था कि उसे ठोंक-पीटकर देख लो कि यह किसी कदर कच्चा तो नहीं।”

श्रीकाशी विश्वनाथ-मन्दिर

[पृष्ठ २६ का शेषांश]

उदयपुर नरेश महाराणा जवान सिंह जू देव काशी पवारे एवं उन्होंने मन्दिर में जवानेश्वर लिंग की स्थापना की। यह लिंग वर्तमान मन्दिर में लटके नेपाल-नरेश द्वारा अर्पित महाघट के निकट अवस्थित है। यही ज्वलन्त प्रमाण है कि अहल्याबाई के मन्दिर बनवाने के पूर्व भी विश्वनाथ लिंग की पूजा होती थी।

भले ही मन्दिर का आकार बहुत ही छोटा रहा हो। यह उल्लेखनीय है कि ये लोग गंगा स्नान एवं विश्वनाथ दर्शन के निमित्त ही काशी आते थे। इनके अतिरिक्त भारत के कोने-कोने से सर्वदा असंख्य हिन्दू यात्री काशी आते रहे हैं। तीर्थ पुरोहित गुलाबराय चौबे की बही का यह अंश भी मननीय है।

“बन्दये मधुपत राय महीपत राय इन्न सुखचैन कोहली साकिन सोदरा सूबये पंजाब पूह सुदी १० सं. १७८७ सन्

१७३० ई. को दिल्ली से गया करने के लिए चले। एक माह प्रयाग में बिताकर मकर आदि का त्रिवेणी स्नानकर काशी में शिवरात्रि के लिये रुके और यहाँ पर गुलाबराय चौबे राकि इज्जत पुरोहित काशी मुकरर करदा।” २४ सन्नाल ११४२ हिजरी मुताबिक वैशाख बदी ९ सं. १७८८ व० (सन् १७३१ ई.)

इन प्रमाणों से प्रमाणित होता है कि काशी कभी भी विश्वनाथ से विहीन नहीं हुई। लुटेरों पर लुटेरे आते रहे, मन्दिर नष्ट करते रहे किन्तु विश्वनाथ का ज्योतिर्लिंग काशी में सदा विद्यमान रहा है एवं रहेगा।

स्मरणादस्य लिङ्गस्य पापजन्मत्रयापितम्।

अवश्यं नश्यति क्षिप्रं मम वाक्यान्त संशयः॥

(काशी खण्ड ९१।२३)

While purchasing Hessian, Sacking, Carpet Backing and other Jute products and cotton yarn, please insist on quality production.

We are always ready to meet the exact type of your requirement.

Kanoria Jute Cotton Mills Limited

4/1, Red Cross Place

Calcutta-700001

Phone : 23-2397/98
23-7197

Telex : 021-2196
Cable : KAYJUTE,
Calcutta.



JUTE MILL

Kanoria Jute Mill,
Sijberia, P. O. Uluberia,
Dist. Howrah (West Bengal)

SPINNING MILL

Shree Hanuman Cotton Mills
Fuleshwar, P. O. Uluberia,
Dist. Howrah (West Bengal)

मुमुक्षु भवन की प्रवृत्तियों में सहायता कीजिए

सदस्यता

जो महानुभाव सदस्यता हेतु पाँच हजार रुपये की राशि एक साथ प्रदान करेंगे, वे काशी मुमुक्षु भवन सभा (रजिस्टर्ड सोसाइटी) के सदस्य बन सकेंगे। सदस्यता की यह राशि स्थायी कोष के अन्तर्गत किसी राष्ट्रीकृत बैंक या संस्थान में फिक्स्ड डिपॉजिट के रूप में जमा कर दी जायेगी। इसका व्याज ही संस्था व्यय करेगी।

सभा द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'मुमुक्षु' सदस्यों को निःशुल्क भेजी जायेगी।

सभा द्वारा आयोजित समारोहों के आमन्त्रणपत्र सदस्यों को यथासमय भेजे जायेंगे।

सदस्यों के लिये वर्ष में एक सप्ताह तक आवास की निःशुल्क सुविधा प्रदान की जायेगी।

स्वामी अन्नक्षेत्र

मुमुक्षु-भवन के ईश्वर मठ में दण्डी स्वामियों के लिये भिक्षा (भोजन-भण्डारा) और दूध का प्रबन्ध है। इस हेतु श्रद्धालु दाता आकस्मिक अथवा स्थायी कोष में दान देते हैं। एक दिन के कच्चे भोजन में सवा सौ और पक्के भोजन में ढाई सौ रुपया व्यय होता है। कच्चे भोजन में रोटी, दाल, चावल, शाक और दही तथा पक्के भोजन में खीर-पूड़ी अथवा हलुआ-पूड़ी या मिठाई-पूड़ी का प्रबन्ध किया जाता है। इसके लिए भी स्थायी कोष में दान स्वीकार

किया जाता है। कच्चे भोजन के लिए साढ़े बारह सौ रुपया और पक्के भोजन के लिए ढाई हजार रुपया दान स्वरूप लिया जाता है। यह राशि किसी राष्ट्रीकृत बैंक या संस्थान में फिक्स्ड डिपॉजिट के रूप में जमा कर दी जाती है और उसके व्याज से भण्डारा किया जाता है। दाता अपनी रुचि के अनुसार भण्डारे का दिन किसी पर्व, त्यौहार या किसी पुण्यकर्म के उपलक्ष्य में निश्चित कर सकता है।

देवस्थान-सेवा

सभा में श्रीगणेशजी, राधाकृष्णजी, शिव-पार्वतीजी तथा हनुमानजी के कुल चार मन्दिर हैं। एक दिन की सामान्य पूजा का व्यय पचास और विशिष्ट पूजा का सौ रुपया है। पूजा में षोडशोपचार—राग, भोग, आरती आदि सम्मिलित हैं। श्रद्धालु दाता इसके लिए—भी स्थायी कोष में दान दे सकते हैं। सामान्य पूजा के लिए पाँच सौ रुपया और विशिष्ट पूजा के लिए एक हजार रुपया है। इस कोष के व्याज से पूजा का प्रबन्ध किया जाता है।

वेद-वेदाङ्ग महाविद्यालय

एक सत्र में एक छात्र पर पाँच सौ रुपया व्यय होता है जिसमें छात्रवृत्ति, परीक्षाशुल्क और पाठ्य-पुस्तकें सम्मिलित हैं। कोई शिक्षा प्रेमी दाता इसके लिए भी स्थायी कोष में पाँच हजार का दान दे सकता है, अथवा वार्षिक सहायता प्रदान कर सकता है। उसके व्याज से एक छात्र की आवश्यकता-पूर्ति हो सकती है।

मन्त्री, श्रीकाशी मुमुक्षुभवन-सभा, अस्सी, वाराणसी

The Shankar Agro Industries Limited

Manufacturers of

Best Quality

WHITE CRYSTAL SUGAR



Mills at :

P. O. CAPTAINGANJ

Dist. Deoria (U.P.)

Phone : 26

Gram : SUGAR

Captainganj (Deoria)

Registered Office :

9, Brabourne Rd. (6th flr.)

CALCUTTA-700001

Phone : 26-7385 (4 Lines)

Gram : CHINIMIL

Telex : CALCUTTA 7611

WE ALSO MANUFACTURE WHITE CRYSTAL SUGAR FOR EXPORT

The Reliance Jute & Industries Limited

9, Brabourne Road

CALCUTTA - 700001

Phone : 26-7385 (4 Lines)

Gram : Reltrade

Telex : 7611 Rely, Calcutta



Proprietors of :

Reliance Jute Mills

Bhatpara, 24 - Parganas (W. B.)

Manufacturers of

Jute Goods (Hessian, Sacking,
Carpet Backing & Jute Specialities)

Keshari Steels

New Industrial Area,

Bombay - Agra Road, Dewas - 455001 (.M. P.)

Manufacturers of Steel Rods & Bars

Licencees :

Pratappur Sugar Mills

P. O. Pratappur, Dist. Deoria (U. P.)

Manufacturers of Sugar



We specialize in

Decorative Jute Fabrics

For export as well as for local market

Ideally useful for

Furnishings, Wall Coverings

Hand, Shoulder, Shopping & School Bags

Ladies Hand Bags

Lamp Shades

Table Mats

Bed Covers

Shoe Uppers

and Innumerable other consumer items.



Distributors all over India



**So good
you can't keep it to yourself**

Coconut cookies. Lactobonbons.
Toffees. Coconut crunch and
Soft-centred sweets. Peppermint
rolls. Minipops.

MORTON
sweets of
distinction.

**MORTON CONFECTIONERY &
MILK PRODUCTS FACTORY**
(Prop : Upper Ganges Sugar Mills Ltd.)
P.O. Marhowrah (Dist. Saran) Bihar



आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक मासिक

नवम्बर १९८१

काशी मुमुक्षु भवन संभा, वाराणसी

सन्देश और प्रतिक्रिया

वाराणसी मुमुक्षु भवन सभा निर्वाहकाः मुमुक्षुनाम्ना एकमाध्यात्मिक-सांस्कृतिक-मासिक-पत्रिका प्रकाशिष्यन्तीति विदित्वा श्रीचरणाः सन्तुष्यन्ति ।

एषा पत्रिका मुमुक्षुणामावश्यकान् कर्मानुष्ठानोपासनाद्युपायान् विवृण्वती श्रीविश्वेशानुग्रहात् अभिव्यक्तामिति श्रीचरणानामाशासनं निवेद्यते ।

(वाराणसी मुमुक्षु भवन सभा की ओर से मुमुक्षु नामक एक अध्यात्मिक सांस्कृतिक पत्रिका प्रकाशित हो रही है, यह जानकर श्रीचरण प्रसन्न हुए हैं ।

यह पत्रिका मोक्षाधिकारियों के लिए आवश्यक कर्मानुष्ठान-उपासनादि उपायों का विवरण देते हुए श्रीविश्वेश की कृपा से उन्नति प्राप्त करेंगे श्रीचरण ऐसा आशीर्वाद दे रहे हैं ।)

आज्ञानुसारम्

कैम्प—माणिक्य मङ्गलम
कालङि (केरल)
६।१०।८१

—सुब्रमण्यन्, श्रीमठेय निर्वाहकः
(श्रीमत्परमहंस परित्राज्जाचार्यवर्य जगद्गुरु श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्य परम्परागतं श्रीकामकोटिपीठ-महासंस्थानम्)

काशी मुमुक्षु भवन सभा द्वारा मुमुक्षु पत्रिका का प्रकाशन की बात सुनकर प्रसन्नता हुई ।
पू. जगद्गुरु के आशीर्वाद हैं कि यह धार्मिक-आध्यात्मिक लेखादि से परिपुष्ट होकर जनता की सेवा करे । जनता कृतार्थ हो; मासिक चिरंजीवी बने ।

कैम्प—डाकोर
७।१०।८१

निवेदक
—महाबल भट्ट
मंत्री, श्रीजगद्गुरुशंकराचार्य श्रीअभिनवसच्चिदानन्द तीर्थ
स्वामी महाराज, श्रीशारदापीठ, द्वारका (इण्डिया)

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि काशी में मुमुक्षु भवन सभा, वाराणसी द्वारा धर्म एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार हेतु 'मुमुक्षु' पत्रिका प्रकाशित होने जा रही है । इस समय जब चतुर्दिक् चरित एवं अनुशासन का स्तर निरन्तर गिर रहा है और चारों ओर निराशा का वातावरण व्याप्त है, ऐसी पत्रिकाओं की समाज को नितान्त आवश्यकता है । मुझे आशा है कि 'मुमुक्षु' पत्रिका इस राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करेगी ।

शुभकामना के साथ—
श्रीगोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर

—महन्त अवेद्यनाथ
(भू० पू० विधायक और सांसद्)

'मुमुक्षु' पत्रिका में स्थायी कोष की अपील पढ़कर प्रभावित हुआ । मैं रु. १२५०) का एक चेक भेज रहा हूँ । इसको जमा कर लें और धर्मसम्राट् श्रीस्वामी करपात्री जी महाराज की जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में प्रति वर्ष श्रावण शुक्ला तीज को उचित भण्डारा करा दें । ऐसी एक स्कीम तिरुपति बालाजी में चालू है, जो अत्यन्त सफल हुई है । आपका प्रयास भी सफल हो ।

काशी
दीपावली सं० २०३८

शुभाकांक्षी
—जजस्वामी विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती

काशी मुमुक्षु भवन सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित 'मुमुक्षु' का प्रथम अंक प्राप्त हुआ । अंक सार्थक और सुवचिपूर्ण है । सम्पादकीय संक्षिप्त किन्तु सूचनापूर्ण और प्रभावी है । पत्र के कुछ स्थायी स्तम्भ आध्यात्मिक तत्त्वों की व्याख्या के लिए निश्चित कर लिये जायें तो अच्छा होगा । 'मुमुक्षु' पत्रिका (मासिक) का हम हार्दिक स्वागत करते हैं । पत्रिका का प्रकाशन नियमित और स्तरीय होना आवश्यक है ।

आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय

—(डॉ०) रामचन्द्र तिवारी



आध्यात्मिक
तथा
सांस्कृतिक
मासिक

वर्ष १ : अंक २
नवम्बर १९८१



प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी



वार्षिक : दस रुपए
एक अंक : एक रुपया

वन्दना

ॐ जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्माहवा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥

— श्रीमद्भागवत १।१।१

जिससे इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं—क्योंकि वह सभी सद्रूप पदार्थों में अनुगत है, और असत् पदार्थों से पृथक् है, जड़ नहीं चेतन है, परतन्त्र नहीं स्वयंप्रकाश है, जो ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ नहीं प्रत्युत उन्हें अपने संकल्प से ही जिसने उस वेद-ज्ञान का दान किया है, जिसके सम्बन्ध में बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं, जैसे तेजोमय सूर्य रश्मियों में जलका, जलमें थल का और थल में जल का भ्रम होता है वैसे ही जिसमें यह त्रिगुणमयी—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति रूपा सृष्टि मिथ्या होने पर भी अधिष्ठान सत्ता से सत्यवत् प्रतीत हो रही है, उस अपनी स्वयंप्रकाश ज्योति से सर्वथा माया कार्य से पूर्णतः मुक्त रहनेवाले परम सत्यरूप परमात्मा का हम ध्यान करते हैं ।

ब्रह्मानन्दरसानुभूतिकलितैः पूतैः सुशीतैः सितै-
र्युष्मद्वाक्कलशोज्जितैः श्रुतिसुखैर्वाक्यामृतैः सेचय ।
सन्तप्तं भवतापदावदहनज्वालाभिरेनं प्रभो
घन्यास्ते भवदोक्षणक्षणगतेः पात्रीकृताः स्वीकृताः ॥

— श्रीमदाद्य शंकराचार्य

हे प्रभो, प्रचण्ड संसार दावानल की ज्वालासे तपे हुए इस दीन शरणापन्न को आप अपने ब्रह्मानन्द रसानुभव से युक्त परमपुनीत, सुशीतल, निर्मल और वाक् रूपी, स्वर्णकलश से निकले हुए श्रवणसुखद वचनामृतों से सींचिए अर्थात् इसके ताप को शान्त कीजिए । वे घन्य हैं, जो आप के एक क्षण के करुणामय दृष्टिपथ के पात्र होकर अपना लिए गये हैं ।



विषय	पृष्ठ
वन्दना	१
अस्पृश्यता और घर्मान्तरण	
सम्पादकीय	३
श्री काष्ठजिह्व स्वामी	
आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय	५
श्रीवाल्मीकीय रामायण का सन्देश	
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती महाराज	९
श्रीमाता का मन्दिर	
म० म० पं० गोपीनाथ कविराज	१३
रामचरितमानस की कसौटी—	
न्याय और मीमांसा	
पं० श्री विश्वनाथ शास्त्री दातार	१७
तपोवन में बाल आञ्जनेय (कविता)	
श्री लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'	२२
मुझसे सब अच्छे	
श्री घनश्यामदास बिरला	२३
भागवतामृत (प्रवचन-संकलन)	
पुस्तक-समीक्षा	२५
दत्तात्रेय-जयन्ती	२७
व्रत और त्योहार	२९
काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार	३१

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से सम्पादक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है ।

लेखकों से—'मुमुक्षु' में प्रायः धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रचनाएँ ही प्रकाशित की जाती हैं । ये रचनाएँ साहित्य की किसी भी विधा में हो सकती हैं । अतः लेखकों से निवेदन है कि वे अपने पास प्रतिलिपि रखकर ऐसी ही रचनाएँ भेजें । अस्वीकृत रचनाओं को लौटाने में हम असमर्थ हैं । स्वीकृत रचनाओं की सूचना पन्द्रह दिनों के भीतर भेज दी जाती है ।—सम्पादक

बरमा के राजा थीबा आत्म-ज्ञान की गहराई में जनक की भाँति प्रसिद्ध थे । असीम राजसी वैभव के बीच रहते हुए भी उन्होंने सम्यक् दृष्टि प्राप्त कर ली थी । एक रात्रि एक अहंकारी भिक्षु उनके पास आये । राजा ने उनकी बड़ी आब-भगत की । लेकिन, भिक्षु के मन में बड़ी आतुरता थी । बैठते ही वे बोले—“राजन् ! आपके ज्ञानयोग की कीर्ति मैंने सुनी है । लेकिन, मुझे विश्वास नहीं होता कि भोगों की प्रज्वलित आग में रहकर भी आप विरक्त बने रह सकते हैं । मैं वर्षों से अखण्ड तपस्या करता आ रहा हूँ, मगर मुझे आत्मदृष्टि अब तक नहीं मिली है । आपने उसे कैसे प्राप्त कर लिया ? मुझे बताइए ।”

थीबा के चेहरे पर मुसकान बिखर गयी । उन्होंने कहा—“आप वेवक्त आये हैं । इस समय तो मैं मन्त्रणा कर रहा हूँ । आपके प्रश्नों का उत्तर कुछ देर बाद दूँगा । इस बीच आप यह दीपक ले जाइए और मेरे अन्तःपुर का वैभव देख आइए । लेकिन, याद रखिए, यह दीपक कहीं बुझ न जाये, अन्यथा आप मार्ग-भ्रष्ट हो जायेंगे और आपको खोज निकालना भी असम्भव हो जायगा ।” अन्तःपुर की अविराम रंगरेलियों से भिक्षु जब वापस लौटे, तो राजपि थीबा ने मुक्त मुसकान के साथ पूछा—“कहिए भिक्षु, अन्तःपुर की सुन्दरियाँ आपको पसंद आयीं ? कादम्ब को प्यालियों से आपको सुख मिला ? अप्सराओं के नृत्य ने आपका मनोरंजन किया ?”

“महाराज ! इस मदनोत्सव के मध्य मैं लम्बे समय तक मौजूद रहा । कादम्ब भी पिये, नाच भी देखे, संगीत भी सुने । मगर, देखकर भी कुछ नहीं देखा, सुनकर भी कुछ नहीं सुना । दृष्टि सदा इस दीपक की लौ पर रहती थी—कहीं यह बुझ न जाय ।”

“क्यों ?” महाराज ने बनावटी आश्चर्य के साथ पूछा । “क्यों ? आपने ही तो कहा था कि अगर दीप बुझ गया, तो मैं मार्ग भूल जाऊँगा । इसलिए बड़े यत्न से दीप को हवा के झोंकों से सुरक्षित रखा ।”

“तो भिक्षु, आत्मदृष्टि की कुंजी भी आपको मिल गयी ।”

भिक्षु का चेहरा लज्जा से नीचे झुक गया ।

— एक बर्मी कविता का हिन्दी-रूपान्तर

अस्पृश्यता और धर्मान्तरण

आजकल देश के विभिन्न भागों से समाचार प्राप्त हो रहे हैं कि हरिजन सामूहिक रूप से हिन्दू धर्म का परित्याग कर, ईसाई, मुसलमान और बौद्ध धर्म स्वीकार कर रहे हैं। इसके अनेक कारणों में अस्पृश्यता भी एक प्रमुख कारण बताया जा रहा है। अस्पृश्यता दो प्रकार की होती है—धर्मजन्य और घृणाजन्य। धर्मजन्य अस्पृश्यता शास्त्र-सम्मत है। विभिन्न परिस्थितियों में शास्त्र किसी को भी स्पर्श करने की अनुमति नहीं देता। जब स्त्रियाँ रजस्वला होतीं तो उनके पति, पुत्र, पिता, माता, भाई कोई उन्हें छू नहीं सकता, छूने को कौन कहे उनसे बात करना, उनका धानुपात्र में भोजन करना, वस्त्र-जल आदि का स्पर्श भी शास्त्र द्वारा निषिद्ध है। जन्म-मरण के सूतक में भी प्रणामाशीर्वाद, खान-पान, स्पर्श आदि शास्त्र वर्जित है। पूजा और अर्चना के समय कटि के नीचे के अंगों का स्पर्श निषिद्ध है। यदि कोई वैश्य भी किसी अनुष्ठान में हो तो वह बाहर से आये ब्राह्मण का भी स्पर्श नहीं कर सकता। ये अस्पृश्यताएँ धर्म-जन्य हैं, घृणा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु उच्चवर्ण से जन्म लेकर स्वयं आचारहीन होते हुए भी निम्नवर्ण का स्पर्श न करना घृणाजन्य अस्पृश्यता है। एक शिक्षित नये ईसाई से मैंने पूछा कि आप ईसाई क्यों हुए? उसका उत्तर था—“मैं मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्र का एक आदिवासी हूँ। मेरे क्षेत्र में ठाकुरों का वर्चस्व है। ठाकुर लोग पानी के हौजों में पशुओं को पानी पीने देते हैं पर हम लोगों को छूने तक नहीं देते। मेरा शिक्षित मस्तिष्क यह अपमान न सह सका और मैं ईसाई बन गया।”

निःसन्देह इस प्रकार की अस्पृश्यता घृणाजन्य है। ऐसी अस्पृश्यता का समर्थन कोई कट्टरपन्थी सनातनी भी नहीं कर सकता। हरिजनों के सुप्रसिद्ध विद्वान् नेता स्वर्गीय भीमराव आंबेडकर जब बड़ौदा राज्य के प्रधान व्यवस्थापक पद पर नियुक्त हुए तो उनके कार्यालय का एक ब्राह्मण चपरासी फाइलों को लकड़ी में बाँधकर उनकी ओर खिसका

देता था। पहले तो आंबेडकरजी ने समझा कि भारतीय राजाओं में कुछ सनक होती है शायद यह भी एक सनक हो। पर जब उन्होंने देखा कि वही चपरासी अन्य अधिकारियों के हाथों में फाइल देता है, तब उन्होंने उससे पूछा कि मेरे साथ ऐसा क्यों करते हो?

“मैं ब्राह्मण हूँ सरकार, आपको कैसे छू सकता?” बड़ी दयनीय मुद्रा बनाकर अत्यन्त विनीत भाव से उस चपरासी ने उत्तर दिया। यह उत्तर सुनकर आंबेडकरजी मोन हो गये। उसपर बिगड़े नहीं। एक अपढ़ चपरासी ब्राह्मण होने के नाते हरिजन प्रधान व्यवस्थापक को न छुए, यह किसी व्यक्ति का दोष नहीं था। पर आम्बेडकरजी पर इसकी बड़ी भीषण प्रतिक्रिया हुई। इतनी भीषण कि महात्मा गांधी भी उन्हें समझाने में असमर्थ रहे और फलस्वरूप महाराष्ट्र के अधिकांश हरिजन बौद्ध बन गये, जो आज नव बौद्ध के रूप में पहचाने जाते हैं। किन्तु अब समय बदल गया है। ऐसी बातें कहीं देखी-सुनी नहीं जातीं। उत्तर प्रदेश के खेतिहर ब्राह्मण हरिजनों से कच्चा मिलाकर खेतों में काम करते हैं। चमड़े के कारखानों में कितने ब्राह्मण चर्मकारों का कार्य कर रहे हैं। दक्षिण भारत में सम्भवतः सामाजिक और सार्वजनिक स्तर पर घृणाजन्य अस्पृश्यता हो पर नगरों की होटली संस्कृति ने अपने यहाँ ऐसी अस्पृश्यता पूर्णतः समाप्त कर दी है।

स्वामी श्री करपात्रीजी ने एक वक्तव्य में कहा है कि “हम लोग इस बात को मानते हैं कि सभी व्यक्तियों को गले लगाने का प्रयास करना चाहिए, फिर हरिजन बन्धु तो अपने भाई ही हैं। अतः किसी भी मूल्य पर इनको पृथक् नहीं किया जा सकता।” स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी ने हरिजन द्वारा माल्यार्पण स्वीकार किया है और कहा है बलात् प्रलोभन आदि द्वारा धर्मान्तरण अवैध घोषित करना चाहिए।

वस्तुतः वर्तमान धर्मान्तरण का मुख्य कारण राजनीतिक है। कुछ हरिजन नेता अपनी खोई प्रतिष्ठा प्राप्त करने के

लिए सबणों और असबणों में खाई पैदा कर रहे हैं। ब्राह्मणवाद का पुतला जला रहे हैं। अन्याय के लिए ब्राह्मण या कोई जाति जिम्मेदार नहीं होती। 'उत्तम कुल पुलस्त कर नाती' ब्राह्मण रावण आततायी बन गया था। हम गाँव-गाँव नगर-नगर प्रतिवर्ष दशहरे पर उसका पुतला जलाते हैं। पर रावणवाद मिटा ? इसके विपरीत रक्तबीज की तरह बड़ी संख्या में जगह-जगह रावण प्रबल हो रहे हैं। निर्मम हत्या, लूट, बलात्कार आदि क्रूरताओं में आधुनिक रावण राक्षसराज रावण की बुरी तरह मात दे रहे हैं। राक्षसराज ने सीता माता के साथ कोई जबरदस्ती नहीं की। उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें कोई कष्ट नहीं दिया पर आज के रावण माताओं का अपहरण कर उनके साथ बलात्कार कर उनकी हत्या कर देते हैं। अतः पुतला जलाने का राजनीतिक ढंग बेकार है। वह समस्या न सुलझाकर और भी उलझा देगा।

अस्पृश्यता और धर्मान्तरण के सन्दर्भ में कुछ दिनों पहले विराट् हिन्दू सम्मेलन दिल्ली में हुआ है जिसमें

अस्पृश्यता मिटाने की अपील कर धर्मान्तरण की आलोचना की गयी है।

अतः अस्पृश्यता और धर्मान्तरण को वर्तमान राजनीतिक दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। यह धार्मिक से अधिक सामाजिक समस्या है और इसी दृष्टि से इसका समाधान खोजना चाहिए। इसे न तो राजनीति का माध्यम बनाना चाहिए और न इसके निराकरण के लिए राजनीतिक तरीके अपनाने चाहिए।

धर्मान्तरण के सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण बात विचारणीय है। बलात् धर्म परिवर्तन एक अमानुषिक कार्य है। ऐसे धर्मान्तरित व्यक्तियों को अपने पूर्वधर्म में आने की सुविधा मिलनी चाहिए। किन्तु जो किसी लौकिक प्रलोभनवश अन्य धर्म स्वीकार करते हैं उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रलोभनों की कोई सीमा नहीं है। ऐसे लोग जिस धर्म को छोड़ते हैं और जिस धर्म को अपनाते हैं, उन दोनों के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं।

चपरासी या प्रेसीडेंट ?

बात उस वक्त की है, जब स्वर्गीय विट्ठल भाई पटेल भारतीय लेजिसलेटिव असेम्बली के प्रेसीडेंट थे। एक दिन वे असेम्बली के कार्यों से छुट्टी पाकर घर जाने को निकले ही थे कि अंग्रेज दम्पती वहाँ आ पहुँचे। ये दम्पती विलायत से भारत घूमने आये थे।

लम्बी दाढ़ी और सादे वस्त्र देख उन्होंने श्री पटेल को असेम्बली का चपरासी समझ लिया। अतएव कुछ अधिकार जताते हुए उन्होंने असेम्बली घूमने की इच्छा प्रकट की।

श्री पटेल बड़े ही सज्जन व्यक्ति थे। बिना कुछ कहे ही वे इस काम के लिए तैयार हो गये। काफी इतमीनान से घूमने और असेम्बली-सम्बन्धी सारी बातें जान लेने के बाद उस अंग्रेज दम्पती ने श्री पटेल को बतौर बखशीश एक रुपया देना चाहा, पर श्री पटेल ने नम्र शब्दों में इनकार कर दिया। अंग्रेज दम्पती आश्चर्यचकित हो वहाँ से चले गये।

दूसरे ही दिन असेम्बली की बैठक थी—दर्शकों की गैलरी में वे अंग्रेज दम्पती भी बैठे थे। उनकी नजरें असेम्बली के भारतीय प्रेसीडेंट को देखने के लिए लालायित थीं। थोड़ी देर बाद श्री पटेल आये और उस अंग्रेज दम्पती ने आँखें फाड़-फाड़कर देखा—कल जिसे उन्होंने चपरासी समझा था, वे ही तो असेम्बली के प्रेसीडेंट थे।



“जैसे अज्ञानी लोग आसक्ति होकर कर्म करते हैं, वैसे ही ज्ञानी को आसक्ति रहित होकर लोक-कल्याण की इच्छा से कर्म करना चाहिए।” —गीता

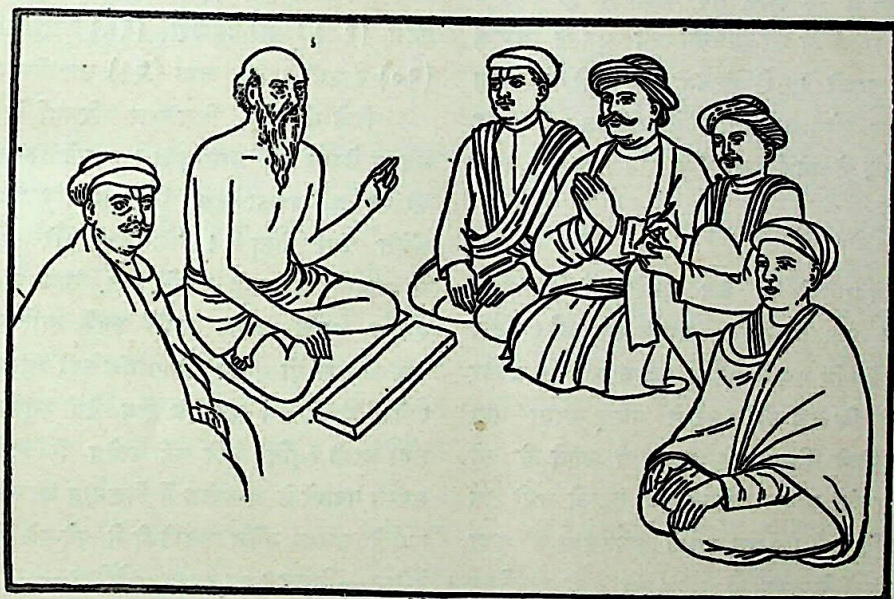
श्री काष्ठजिह्व स्वामी

— आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय

गत शताब्दी के उत्तरार्ध में काशी के संन्यासियों में काष्ठजिह्व स्वामी का शीर्षस्थ स्थान था। ये जितने बड़े विद्वान् थे उतने ही बड़े साधक थे। शास्त्रीय विषयों के साथ तान्त्रिक विषयों का भी इन्होंने सम्यक् अनुशीलन किया था। तत्कालीन काशीनरेश महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के आराध्य गुरु होने के कारण भी इनकी ख्याति कुछ कम नहीं थी। काशीनरेश जैसे विद्वान् तथा

नारायण की व्याख्या इस अनुपम संयोग का परिणाम है।

स्वामीजी बड़े ही विनम्र व्यक्ति थे। इनकी विनम्रता का सूचक तो इनका नाम ही है। इनके विषय में कहा जाता है कि एक बार इन्होंने अपने किसी गुरुतुल्य व्यक्ति के लिए अपशब्द का प्रयोग कर दिया था। इसके कारण इनको घोर दुःख और आत्मग्लानि हुई। फलस्वरूप इन्होंने अपनी जीम में काठ की बनी खोल चढ़ा ली जिससे ये फिर कभी



श्री काष्ठजिह्वस्वामी उपदेश देते हुए और श्रोता के रूप में तत्कालीन काशी-नरेश महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह अपने प्रधान सभासदों के साथ।

विद्याव्यसनी पुरुष थे, स्वामीजी भी उनके अनुरूप ही गुरु मिल गये थे। दोनों का मिलन मणि-कांचन योग ही समझना चाहिए। विद्या की वृद्धि और आध्यात्मिकता की समृद्धि में इन दोनों विद्वानों का सान्निध्य सोने में सुगन्ध के समान था। रामचरितमानस के टीका-ग्रन्थों के इतिहास में काष्ठजिह्व स्वामी की टिप्पणी और महाराजा ईश्वरीप्रसाद

अपशब्द न कह सकें। इनका गुरुप्रदत्त नाम देवस्वामी था परन्तु काठ की जीम लगा लेने के कारण इनका काष्ठजिह्व स्वामी नाम पड़ गया।

जीवन-चरित

स्वामीजी ने अपने जीवन के सम्बन्ध में अपने ग्रन्थों में कहीं कुछ भी निर्देश नहीं किया है जिससे उनके जीवन-

चरित के समग्र रूप से जिज्ञासुओं के सामने प्रकट नहीं किया जा सकता। उनके एक ग्रन्थ के अध्ययन से प्रतीत होता है कि स्वामीजी का जन्म-स्थान हिन्दी कवियों के लिए प्रसिद्ध 'असनी' ग्राम है। प्रमाणरूप इस विषय-में उनका एकमात्र 'अश्विनी कुमार बिन्दु' नामक ग्रन्थ ही है जिसमें ३१ पद तथा कवित है। स्वामीजी 'असनी' को अश्विनीकुमार से सम्बद्ध बताते हैं। इस नगर की प्रशंसा में इन्होंने बहुत कुछ लिखा है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वे असनी के ही निवासी थे, और स्वयं कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।

स्वामीजी की शिक्षा-दीक्षा का कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं होता है। हस्तलेखों में इनके गृहस्थाश्रम का नाम मिलता है और वह है 'विश्वेश्वरदत्त मिश्र'। इनके गुरु का नाम विद्यारण्य तीर्थ था जिनसे इन्होंने संन्यास दीक्षा ग्रहण की थी। अनुमान है कि इनके गुरु काशी में ही रहते थे और काष्ठजिह्व स्वामीजी को साधनास्थली गुरु के सम्पर्क में आने पर यह काशी नगरी ही बनी। स्वामी विद्यारण्य तीर्थजी के द्वारा संन्यास आश्रम में दीक्षित होने पर विश्वेश्वरदत्त मिश्र 'देवतीर्थ स्वामी' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

ग्रन्थ-रचना

काष्ठजिह्व स्वामी के दो रूप आलोचकों के सामने दृष्टिगत होते हैं। एक तो उनका साधक रूप और दूसरा उनका कवि रूप। कवि रूप में उनका साधक रूप इस प्रकार घुल-मिल गया है कि एक को दूसरे से पृथक् करना बड़ा कठिन है। स्वामीजी जितने बड़े साधक थे उतने ही बड़े कवि भी थे। उनके साधक जीवन की कहानी अभी तक अन्तराल में ही छिपी है। परन्तु उनकी काव्यकला की कथा मुद्रित होकर रसिकों के हृदय को उल्लसित तथा आनन्दित करती है। स्वामीजी का संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। वे अलौकिक महात्मा थे इसके साथ महान् विद्वान् भी थे। शास्त्र, संगीत एवं साहित्य के क्षेत्र में उनकी अद्भुत प्रतिभा थी। उनकी सभी रचनाएँ 'काशिराज-सागर' नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत हैं। इसीलिए किसी ग्रन्थ का नाम तरंग है तो किसी का नाम बिन्दु है, तो कोई सुधा के नाम से प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह है कि स्वामीजी के काशिराज-सागर के छोटे-बड़े अंग होने के कारण ये ग्रन्थ तत्-तत् अन्वर्थक नामों से प्रसिद्ध हैं।

संस्कृत ग्रन्थ

इन्होंने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का प्रणयन किया था जो अभी तक प्रकाशित नहीं हो सके हैं परन्तु इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ काशीनरेश के रामनगर दुर्ग के पुस्तकालय में आज भी सुरक्षित हैं। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या तथा उनके नाम निम्नांकित हैं। (१) शिवचरण परिचर्या, (२) रामचरण परिचर्या तथा विवृति, (३) कृष्ण-चरण परिचर्या तथा विवृति (रामायण व्याख्यान परिशिष्ट तथा श्रीमद् भागवत व्याख्यान सहित), (४) महाभाष्य परिचर्या, (५) रामानुज परिचर्या, (६) सहस्रनाम परिचर्या, (७) रामरक्षा परिचर्या, (८) पद्धति परिचर्या। इन पुस्तकों के अतिरिक्त इन्होंने निम्न ग्रन्थों का भी प्रणयन किया था— (९) नीति तरंग, (१०) धर्मतरंग, (११) योगतरंग, (१२) सांख्य तरंग, (१३) कला तरंग, (१४) छन्दतरंग, (१५) शब्दशक्ति तरंग, (१६) उपपत्ति तरंग, (१७) उपनिषत् तरंग, (१८) शिक्षा व्याख्या, (१९) शाण्डिल्य सूत्र व्याख्या, (२०) गायत्री व्याख्या तथा (२१) उदासीन साधुस्तोत्र।

लौथो में मुद्रित शिवचरण परिचर्या के अनुशीलन का अवसर लेखक को प्राप्त हुआ। उसके आधार पर स्वामीजी की तान्त्रिकता तथा निगमागम प्रवीणता का सद्यः संकेत प्राप्त होता है। 'शिवचरण परिचर्या' में स्वामीजी ने भगवान् शंकर के निर्गुणरूप, सगुण रूप, परिवार का स्वरूप, भूषण, वाहन आदि सबके तात्त्विक आध्यात्मिक रूप की बड़ी ही सुन्दर, प्रामाणिक तथा शास्त्रसम्मत व्याख्या श्लोकों में की है। इसी के साथ देवी स्तुति, गणेश स्तुति तथा काशी स्तुति आदि कई स्तोत्र भी दिये गये हैं। इन समस्त पदार्थों के अन्तराल में विद्यमान जो इनका आध्यात्मिक रूप है उसका संकेत स्वामीजी ने पदे-पदे किया। उदाहरण देखिए—शिवरूप का रहस्य—देखिए—

यो खण्डमण्डलनिभः प्रणवस्य मूर्ध्ना
यस्माद् भवन्ति विरमन्ति च यत्र सर्वे ।
बिन्दुः स एव परमार्थवपुः शिवो यं
यं तं चतुर्थमिति वेदविदो वदन्ति ॥

शिवजी के पंचतत्त्वों के प्रतीकरूप में विद्यमान भूषणों का रूप भी द्रष्टव्य है :—

भूरेवभूतिः सलिलं च गंगाजलं तृतीयं नयनं च तेजः ।
व्यालः समीरो डमरुर्नभोमहत् चिन्त्यानि चैवं
शिवभूषणानि ॥

एक पद्य में स्वामीजी ने देवताओं की उपासना के प्रसंग में वेद, स्मृति आदि का तुलनात्मक विचार इस प्रकार प्रकट किया है :

उत्तमो वैदिको मन्त्रः स्मार्त आचार उत्तमः ।

आगमस्योत्तमो भावः पौराणी स्तुतिरुत्तमा ॥

इस संक्षिप्त विवरण से स्वामीजी की व्याख्या पद्धति का किंचित् रूप उद्भासित होता है। हिन्दी के पदों में भी इस पद्धति का प्रयोग उपलब्ध होता है। तात्पर्य यह है कि श्री काष्ठजिह्व स्वामीजी की साधना बड़ी ही उच्चकोटि की थी। वे एक सिद्ध पुरुष थे—इसमें सन्देह नहीं। इसी साधना का परिणत फल है—हिन्दी में पदावली की रचना। इसमें भी आध्यात्मिकता का साम्राज्य विराजमान है। तन्त्र विद्या में विपुल वैदुष्य सम्पन्न होने के कारण स्वामीजी की रचना काशिराज-सागर तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र आदि के प्रभूत संकेत युक्त होने के कारण संस्कृत विद्वानों के लिए भी अगम्य है, साधारण व्यक्ति की तो कथा निराली है।

हिन्दी ग्रन्थ

काष्ठजिह्व स्वामी ने अनेक ग्रन्थों की हिन्दी में रचना की है। भोजपुरी क्षेत्र के निवासी होने के कारण इन्होंने भोजपुरी लोकसाहित्य में उपलब्ध होनेवाले जो छन्द हैं—जैसे कजली, होरी, घाटो, चैता आदि उनमें अपनी काव्य रचना की है। प्रधानतया इन्हीं छन्दों में इनकी कविता निबद्ध है। ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने लगभग (२०००) दो हजार गीति पदों की रचना की है। इनके बिखरे हुए गेय पदों को संग्रह कर प्रकाशित किया गया है। स्वामीजी के हिन्दी ग्रन्थों को सूची निम्नांकित है—

देव सर्वस्व (पदावली)—इस संग्रह में नीचे लिखे ग्रन्थ हैं : (१) उपासना सर्वस्व, (२) विनयामृत, (३) रामलगन, (४) श्यामलगन, (५) रामरंग, (६) श्यामरंग, (७) भूषण रहस्य, (८) आनापुर के पद (बनौघा), (९) बुन्देलखण्ड के पद और (१०) बन्दिन के जगावै के पद।

(१) देवसुधा, (२) देवबिन्दु (पदावली) (३) देव सर्वस्व, इन तीनों संग्रहों में कुल मिलाकर २५ पुस्तकें हैं।

इनके अतिरिक्त स्वामीजी ने निम्नांकित ग्रन्थों की भी हिन्दी में रचना की है जिनमें से कुछ प्रकाशित तथा कुछ अप्रकाशित हैं—

(१) देव रामायण, (२) कृष्ण सुधा, (३) पंचक्रोधी सुधा, (४) मथुरा बिन्दु, (५) गया बिन्दु आदि।

रामायण परिचर्या

यह काष्ठजिह्व स्वामी का सबसे बड़ा तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। रामायण के गम्भीर तात्पर्य को प्रकट करने में यह ग्रन्थ नितान्त समर्थ है। स्वामीजी ने इस रामायण की जो टीका लिखी है वह वास्तव में टीका नहीं बल्कि टिप्पणी है। वह सारगर्भित होने के कारण अत्यन्त कठिन तथा दुरूह है। इस टिप्पणी का नाम परिचर्या था। इसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए महाराजा ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह ने इसका उपवृंहण (विस्तार) करते हुए जो टीका लिखी उसका नाम 'परिशिष्ट' है। इतने पर भी यह टीका साधारण जनता के लिए बोधगम्य नहीं हो सकी। तब तीसरे व्यक्ति श्री हरिहरप्रसादजी ने, जो महाराजा के फुफेरे भाई लगते थे और कमच्छा में बटुक भैरव मन्दिर के पास एक मकान में रहते थे, इसके अर्थ को अधिक सरल तथा जन सामान्य को समझने के लिए सहज बनाते हुए अपनी टीका लिखी जिसका नाम 'प्रकाश' है। इसलिए इन तीनों ग्रन्थकर्ताओं की टीका कैं साथ यह ग्रन्थ 'रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाश' नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन महाराजा प्रभुनारायण सिंह के आदेश से खड्गविलास प्रेस, पटना से बालकाण्ड तथा अयोध्याकाण्ड का प्रकाशन सन् १८९८ ई. में तथा अरण्यकाण्ड से उत्तरकाण्ड तक का प्रकाशन सन् १८९९ ई. में हुआ।

रामायण परिचर्या की रचना की कथा

काष्ठजिह्व स्वामी ने 'रामायण परिचर्या' की रचना कैसे की इसकी भी एक अपनी रामकहानी है। ऐसा कहा जाता है कि महाराजा ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह के राजवैद्य पं० बिहारीलाल वैद्यराज ने विजया दशमी के दिन स्वामीजी से यह प्रार्थना की कि महाराजा की बहुत इच्छा है कि आप रामायण की एक टीका लिखें, जिससे सर्वसाधारण उसका अर्थ सरलता से समझ सके। स्वामीजी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। वे इसके बीस-पच्चीस दिन बाद काशी आये और कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी संवत् १८९४ वि. (सन् १८३७ ई.) हनुमत-जयन्ती के दिन अस्सी घाट पर स्थित हनुमान्जी के मन्दिर में जाकर उनकी पूजा की

और उस मन्दिर में स्थापित श्री रामयन्त्रराज की विधिवत् अर्चना की। इसके पश्चात् उन्होंने उस मन्दिर के पुजारी श्री लक्ष्मणदेव (लछ्मनदास) से अनुमति लेकर रामायण की उस हस्तलिखित प्रति को प्राप्त किया जो सं. १७०० वि. (१६४३ ई.) में लिपिबद्ध की गयी थी।

रामायण परिचर्या की रचना का उद्देश्य

काष्ठजिह्व स्वामीने अपनी टीका की रचना का उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है कि यह ग्रन्थ महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के 'तितनव आनन्द' हेतु निर्माण किया। इस टीका की रचना में स्वामीजी को एक वर्ष से भी कम समय लगा था क्योंकि सन् १८३७ ई. की हनुमत-जयन्ती से प्रारम्भ करके इन्होंने इसे सन् १८३८ ई. की रामनवमी को ही समाप्त कर दिया था।

मानस परिचर्या के अनुशीलन करने से काष्ठजिह्व स्वामी के गम्भीर शास्त्रीय चिन्तन, तान्त्रिक वैदुष्य तथा लोकातीत व्यक्तित्व का पूरा परिचय मिलता है। ये संस्कृत व्याकरण के भी ज्ञाता थे। फलतः रामचरित मानस में आये हुए अपाणिनीय प्रयोगों को भी शुद्ध रूप सिद्ध करने के लिए इन्होंने अनेक स्थलों पर सूत्रों का उल्लेख किया है। परिचर्या का सम्पूर्ण विवेचन तो उस ग्रन्थ का सम्पूर्ण रूप से अध्ययन करने पर ही हो सकता है।

श्री काष्ठजिह्व स्वामीजी की साधना और कविता के गूढ़ार्थ को समझने के लिए उनका विशेष अनुशीलन विद्वानों के द्वारा अपेक्षित है।

[लेखक की शीघ्र ही प्रकाश्य पुस्तक 'काशी की पाण्डित्य परम्परा' से साभार]

गरीब-नेवाज

बलख के बादशाह ख्वारजम ने एक रोज सवेरे ही अपने वजीर को हुक्म दिया :

“मेरे खजाने को मेरे सामने लाकर उड़ेल दो।

मेरे फौजी दस्तों को मेरे सामने एक कतार में खड़ा कर दो।

मेरे हरम की एक हजार सुन्दरियों को सजाकर लाने का हुक्म दो।”

हुक्म की तामील की गयी। ख्वारजम ने आँखें उठाकर शानो-शोकत के इस लहराते समन्दर को देखा—मगर पलक झपटे ही उसकी आँखों से आँसू बह निकले :

“हटा दो, ये सब मेरे सामने से ! ये मेरी प्यास नहीं बुझा सकते। ओह, कितना प्यासा हूँ मैं ! इस प्यास को शान्त करने के लिए मैंने क्या नहीं किया—नंगे पाँवों तीर्थों की यात्राएँ कीं, हजार कुरबानियाँ चढ़ायीं—और शेष के कहने से अपनी सबसे प्यारी चीज—युवराज को भी कुरबानी पर चढ़ा दिया। लेकिन, मेरे भीतर की आग बुझ नहीं रही है—मैं खाक हुआ जा रहा हूँ—कोई बचाओ मुझे.....।” ख्वारजम आँधे मुँह जमीन पर गिर पड़ा।

.....और एक काली रात को ख्वारजम घोर बियाबान में जाकर मर जाने के लिए निकल पड़ा.....रास्ते में मलका का कमरा था। नन्हें शाहजादे को दूध पिलाते-पिलाते वह सो गयी थी। ‘हूँ—छल है’—बादशाह आगे बढ़ा। लेकिन पीछे से किसी ने पुकारा—‘कहाँ जाता है ?’ वह चौंक गया। पीछे देखा—चाँदनी के चोगे में लिपटा एक आलीशान आदमी सामने खड़ा है, जिसकी मुसकान से सारा कमरा जगमगा रहा है—‘ख्वारजम, इंसान जब बहुत गुमराह हो जाता है, तो मेरी दया का दरिया मचल उठता है और मैं, अपनी सबसे प्यारी ओलाद, इंसान को नयी आँखें देने के लिए मजबूर हो जाता हूँ। तेरी कुरबानियाँ गलत थीं। कुरबानी इंसान को अपने-आप की देनी चाहिए। एक बार भी अपने दिल की आवाज समेटकर अगर इंसान मेरा दामन थाम लेता है तो उसे भटकना नहीं पड़ता.....’

ख्वारजम ने घुटने टेक दिये—“गरीब-नेवाज, तेरे सिवा इतना रहम और किसमें है ?”]

—‘शम्स-ए-तबरेज’ से

श्रीवाल्मीकीय रामायण का सन्देश

— स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

[नई दिल्ली स्थित श्री लक्ष्मीनारायण-मन्दिर-वाटिका में पूज्य स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती का श्रीवाल्मीकीय रामायण पर २९ सितम्बर से १३ अक्टूबर तक प्रवचन हुआ था । हम यहाँ प्रवचन का संक्षिप्त रूप दे रहे हैं । इससे पाठकों को ज्ञात होगा कि श्रीवाल्मीकीय रामायण का सन्देश आधुनिक सन्दर्भ में भी हमारे लिए कितना उपयोगी तथा मार्ग-दर्शन करनेवाला है ।—सम्पादक]

आदर्श मानव

श्रीवाल्मीकि के राम साकेतवासी विष्णु के अवतार नहीं बल्कि घरतीपुत्र, सर्वजन सुलभ आदर्श मानव के रूप में हैं और साधारण मनुष्य भगवान् के अलौकिक गुणों की अपेक्षा एक मानव—आदर्श मानव के गुणों को अपनाने की अधिक कामना कर सकता है तथा प्रयास करने पर उन्हें पाना भी अधिक सम्भव है । श्रीवाल्मीकि की कामना थी कि धर्म को ऐसे चरित्र के रूप में प्रस्तुत करें कि लोग उसका अनुसरण कर सकें । अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने “रामो विग्रहवान् धर्मः” का ऐसा स्वरूप प्रस्तुत किया जो हम सब की तरह मानव रूप में है । लेकिन वे माता-पिता की आज्ञा कष्ट उठाकर पालन करते हैं । जब कि अन्य जन तब आज्ञा पालन के लिए तैयार होंगे जब वह सुविधापूर्वक कही जाय अथवा उससे कोई लाभ या स्वार्थ-सिद्धि होती हो । राम के जीवन में घरेलू या पारिवारिक धर्म का पूरी तरह पालन होते हुए भी उनके परिजनों में सहज मानव-स्वभाव विद्यमान है । जब सीता जी को वन ले जाने से श्रीराम ने मना किया तब सीताजी ने कहा कि यदि हमारे पिता यह जानते कि तुम पत्नी की रक्षा नहीं कर सकते तो मेरा विवाह तुमसे नहीं करते । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सीताजी की श्रीराम में निष्ठा नहीं है । यह तो पति-पत्नी की पारस्परिक सहज डाँट भर है । लंका दहन के बाद जब हनुमान सीताजी को साथ ले चलने के लिए कहते हैं तो वे तैयार नहीं होतीं क्योंकि यह तो जान-बूझकर पर-पुरुष स्पर्श होगा । वह मरणान्त स्थिति में भी पतिव्रता की निष्ठा से विच-

लित नहीं होतीं । उनके चरित्र में नारी सुलभ कोमलता के साथ दृढ़ता भी विद्यमान है । वाल्मीकीय रामायण के अन्य पात्र भी हमारी इसी भूमि के हैं तो उन जैसा आचरण हम लोग क्यों नहीं अपना सकते ।

धर्म और मजहब का अन्तर

आज कल धर्म शब्द का अर्थ विकृत होकर मजहब हो गया है । किसी आचार्य या प्रवर्तक द्वारा प्रतिपादित धर्म शाश्वत सम्पूर्ण धर्म का रूप नहीं है । धर्म प्रवर्तकों ने संकीर्णता से युक्त अपनी मनोवृत्ति के अनुसार शाश्वत धर्म में परिवर्तन कर नये-नये सम्प्रदाय या मजहब चलाए, जब कि शाश्वत धर्म अपौरुषेय ज्ञान से सिद्ध धृति, क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः वाला धर्म है और जो ऐसे धर्म का पालन करता है धर्म भी उसकी रक्षा करता है । “धर्मो रक्षति रक्षितः ।”

श्रीवाल्मीकीय रामायण के पात्र विलक्षण हैं । महाराज दशरथ का दसों इन्द्रिय रूपों रथ पर सम्यक् नियन्त्रण था । कौशल्या कुशल बुद्धितत्त्व-सम्पन्न तथा सुमित्रा सबके साथ मित्रता का व्यवहार करने वाली थीं । रावण सब को रलाने वाला तो था ही वह मोह का प्रतीक है और अन्य राक्षस काम क्रोधादि के प्रतीक हैं ।

कार्यसिद्धि और उत्साह

किसी भी कार्य की सफलता में उपकरण आदि से बढ़कर उसके कर्ता के उत्साह का अधिक महत्त्व होता है । राजा सगर के वंशधर तीन पीढ़ियों में निरन्तर और भारी सोत्साह प्रयत्न करके गंगा को लाने में सफल हुए ।

गमनशीलता में पवित्रता का गुण होने से गंगा परम पवित्र है और अपनी ग्राहिणी शक्ति से अपने सम्पर्क में आने वाले को उसके पाप व मल आदि को स्वयं ग्रहण कर उसे पवित्र कर देती है।

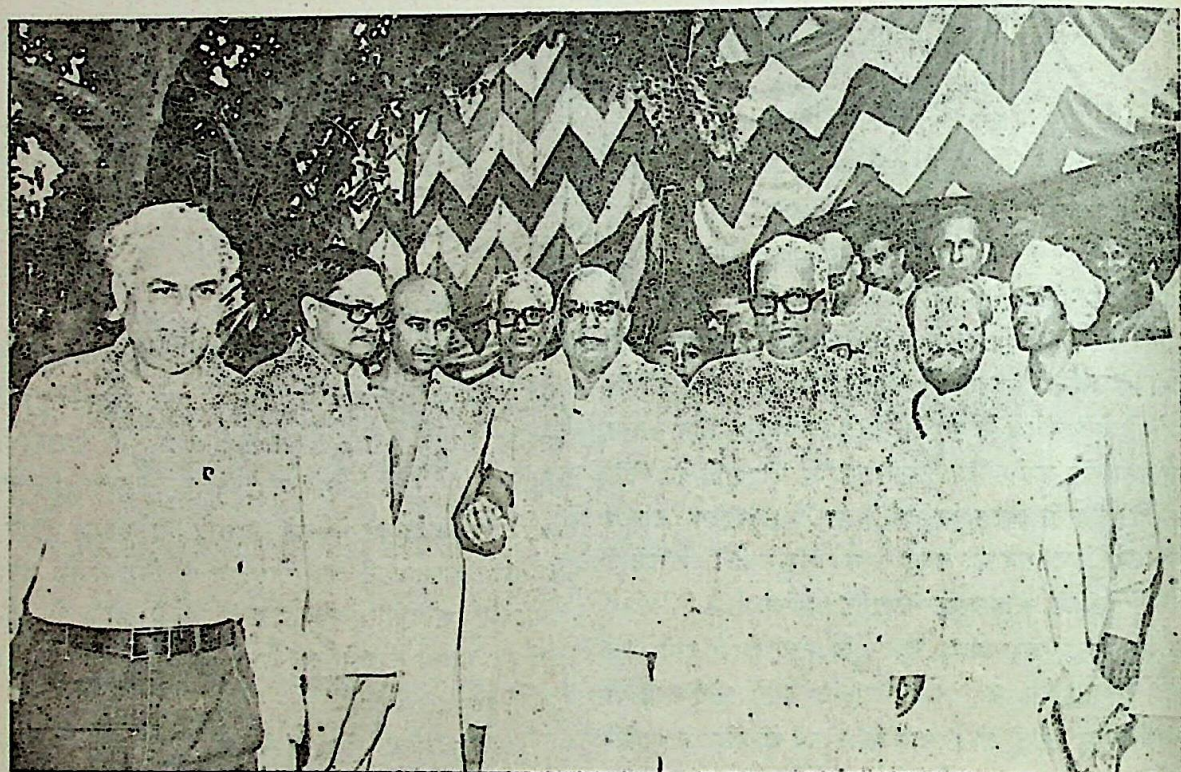
विवाह संयम का प्रथम सोपान

विवाह केवल भोग के लिए नहीं है बल्कि उचित संयमी जीवन के लिए होता है। धर्म का विवाह वासनाओं की उत्पत्ति से पूर्व होता है और उसमें माता-पिता

व कलह दूर हो सकता है।

जीवन की पवित्रता

यदि विवेक और दिनचर्या का मेल हो जाय तो जीवन पवित्र हो जाता है। राम के लिए धर्म केवल यज्ञशाला की ही वस्तु नहीं थी, उनका प्रत्येक कार्यकलाप धर्ममय है, उनकी सम्पूर्ण दिनचर्या धर्मयुक्त है। चाहे वे प्रजा से व्यवहार करें अथवा माता-पिता, गुरुजन से, वह मन-वचन और कर्म से धर्मनिष्ठ होता है। इस प्रकार वे शरीरधारी धर्म ही



स्वामी अखण्डानन्दजी श्री देवघर शर्मा के साथ प्रवचन के लिए सभामंच पर जाते हुए

की आज्ञा का अनुशासन होता है। धर्म वस्तु या क्रिया में नहीं होता बल्कि अनुशासन के मानने में होता है। गान्धर्व या प्रेम विवाह में वासना की प्रधानता होती है धर्म की नहीं। वैवाहिक मन्त्रों का अर्थ व भाव न जानने-समझने से वर और कन्या विवाह के वास्तविक उद्देश्य व सद्-सात्पर्य के ज्ञान से वंचित रह जाते हैं और इस एकत्व के संस्कार को मात्र भोगार्थ मान लेते हैं। यदि विवाह के पवित्र भाव को वे समझ लें तो जीवन में बहुत कुछ अशान्ति

लगते हैं। श्री दशरथजी के राज्य कार्य में श्रीराम काफ़ी हाथ बँटाते थे। प्रजा भी उनके व्यवहार से प्रसन्न थी। वय, शील और ज्ञान वृद्धों से वे सदा घिरे रहते थे। राजा दशरथ भी उनके चरित्र, व्यवहार, क्षमता, दक्षता और प्रजानुरंजन को अच्छी तरह परख चुके थे। अर्थशास्त्र की शुक्तीति व दण्डनीति पर उनका असाधारण अधिकार था। किसी भी व्यक्ति को दुखी देखकर राम इसलिए दुखी हो जाते थे कि हमारे रहते इसे क्यों दुखी होना पड़ा और

उसका वह निवारण करते थे। वास्तव में राम का उपास्य ही प्रजा है। वे प्रजा के भाव-अभाव, दारिद्र्य, वैभव, सुख और दुःख के साथ तन्मय हो जाते थे। उन्होंने अपने मन को इतना संयमित व उपलक्षित कर लिया है कि वह उनके शिष्य के समान है। इसी से वे लोगों के हृदयों के सागर बनते हैं। राजा शब्द की सार्थकता इसी में है कि वह लोक का रंजन करे, सन्तुष्ट करे, अपने व्यवहार, चरित्र एवं कार्यों से।

श्रीराम सबके हैं

राम किसी एक वर्ण, जाति या क्षेत्र के नहीं। वह तो सर्वात्मा और सर्वसुलभ हैं। केवट व निषादराज गुह्र को गले लगाना उनके सौजन्य का स्पष्ट उदाहरण है। जीवन में कुछ ऐसे प्रसंग आने ही चाहिए जिनसे हृदय द्रवित हो जाय। हृदय की द्रवितावस्था में जो वस्तु (भाव) उसमें डाली जाती है वह उसमें जम जाती है, समा जाती है और बार-बार दृष्टिगत होती है। जब अयोध्या का जन-मानस राम के अभिषेक के हर्ष से पूर्ण था तब कैकेयी ने राजा से अपने बेटों को मांग कर राम को वन भेजवाने का हठ किया। राजा के समझाने-बुझाने पर भी वह नहीं मानो। फलस्वरूप राम, लक्ष्मण, सीता वलकल वस्त्र धारण कर वन के लिए चले तो अयोध्या का जन-मानस कर्णार्द्र हो उठा। उसके आँसू रोके नहीं रुकते।

दण्ड और अनुशासन

यदि श्रीराम का राज्याभिषेक हो जाता तो वे वन में न जाकर अयोध्या में ही रह जाते। फिर वन के कोल, किरात, भील, ऋषि-मुनियों व अन्य सज्जनों से कैसे उनका निकट सम्पर्क होता और कैसे वे दुष्टों का संहार करके उनके कष्टों और दुखों को मिटा पाते। जिस शासन में प्रजा जन की ओर विशेष कर सज्जनों की रक्षा नहीं होती तथा दुष्ट प्रकृति वाले असामाजिक तत्त्वों को दण्ड नहीं मिलता वह शासन शासन नहीं है। श्रीराम द्वारा वनवास की अवधि में अनेक ऋषियों के आश्रम में स्वयं जाकर उनका सत्संग लाभ करने और राक्षसों से उन्हें दी जाने वाली पीड़ाओं की जानकारी प्राप्त कर अनेक राक्षसों का उन्होंने वध किया। राजशासन आध्यात्मिक शासन नहीं है जिसमें क्षमा, अहिंसा आदि का प्राधान्य हो।

जब दण्ड उग्र नहीं होता है तब प्रजा अनुशासन नहीं मानती और उच्छृंखल हो जाती है। श्री राम ने दण्डक वन में व्यास इसी उच्छृंखलता को नष्ट करने और सज्जनों व ऋषि-मुनियों की रक्षा के लिए राक्षसों के वध की प्रतिज्ञा की। प्राचीन समय में शपथ और प्रतिज्ञा का बड़ा महत्त्व था। आज के युग में इनके प्रति चारित्रिक दृढ़ता व आस्था न होने के कारण इनका वह महत्त्व नहीं है। राम सीता से कहते हैं कि मैं तुमको, लक्ष्मण को और यहाँ तक कि स्वयं को भी त्याग सकता हूँ किन्तु प्रतिज्ञा नहीं छोड़ सकता।

चापलसों से सावधान रहें

जो लोग किसी भी स्थिति में अपनी प्रशंसा सुनकर खुश हो जाते हैं, उनको प्रशंसा कर उन्हें कभी ठगा भी जा सकता है। और ऐसे लोग कभी-कभी ऐसा धाखा खाते हैं जिसका परिणाम दुःखप्रद और दूरगामी होता है। लक्ष्मण के चले जाने पर जब सीता पंचवटी की कुटिया में अकेली रह गई तब रावण अपनी योजनानुसार साधु वेश में सीता के पास पहुँचा। सीता ने उसका आतिथ्य-सत्कार किया। उस समय रावण ने सीता के एक-एक अंग का नाम लेकर उनके रूप-सौन्दर्य को प्रशंसा की। सीता जी सुनती रहीं। इससे रावण का साहस बढ़ा और वह कहने लगा—तुम तो राजरानी होने लायक हो, क्यों वन-वन भटक रही हो। इस पर सीता को क्रोध आया, किन्तु प्रशंसा करते काफी देर तक सीता के पास रहने के कारण बड़े हुए साहस वाले रावण ने उन्हें उठा कर रथ में डाल लिया। अकारण प्रशंसा करने वाले रावण को यदि सीता जी पहले ही डाँट देती तो सम्भवतः उसका इतना साहस नहीं होता। किसी का सुवेश देख कर ही उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि साधु के वेश में दुष्ट भी आते हैं।

मित्रता की कसीटी

जीवन में अच्छे सम्बन्धियों की भाँति सन्मित्र का अपना महत्त्व है। किन्तु मित्रता समान शील व स्थिति वालों में ही होती है। तदनुसार राम और सुग्रीव ने अपनी-अपनी कहानी रख कर तत्कालीन प्रयानुसार अग्नि की साक्षी में मित्रता स्थापित की। फिर राम ने सुग्रीव

की और सुग्रीव ने राम की सहायता का वचन दिया। औपचारिक रूप से मित्रता तो हो गई किन्तु सुग्रीव के मन में राम के प्रति विश्वास नहीं हुआ और विश्वास के बिना प्रेम टिक नहीं सकता। इसलिए सुग्रीव ने बालि के बल का आभास कराने के लिए उस असुर की हड्डियों का ढेर दिखलाया जिसे बालि ने मारा था। राम ने भी विश्वास दृढ़ कराने के लिए उस ढेर को पाँव के अँगूठे से दूर फेंक दिया। फिर सुग्रीव ने सात ताड़ वृक्षों को राम से विधवा कर विश्वास और भी बढ़ा लिया। तब बालि-सुग्रीव युद्ध होता है। पहली बार सुग्रीव के हार जाने पर दूसरी बार राम ने बालि को मारा। किन्तु सुग्रीव प्रमादवश राम-कार्य की उपेक्षा करता है। कर्तव्य समझाने के लिए सुग्रीव पर डाँट-फटकार पड़ती है। राम फिर क्षमा कर देते। यदि भगवान् शरणागत को रक्षा न करें तो कौन उनकी भक्ति करेगा।

क्रोध से दृष्टि बदल जाती

समर्थ रामदास ने अपनी रामायण में सरोवर के श्वेत कमलों का वर्णन किया है। किन्तु हनुमान जी ने उसमें रक्त कमल बताये। इस विवाद का निर्णय जब सीता जी से कराया गया तो उन्होंने कहा कमल श्वेत ही थे। किन्तु हनुमान जी को वे लाल इसलिए दिखाई पड़े कि क्रोध से उनकी आँखें लाल हो गई थीं। जब हमारे हृदय में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का आवेश होता है तब हमें समझ की किसी वस्तु के यथार्थ का बोध नहीं होता बल्कि उसका स्वरूप हमारे विकार के अनुसार प्रतिबिम्बित होता है।

पतिव्रता का आदर्श

विरहिणी कृशकाया सीता जी को हनुमान जी जब श्रीराम के पास ले जाने का प्रस्ताव करते हैं तब सीताजी उन्हें समझाती हैं कि बिना सोचे-विचारे जल्दबाजी में कोई काम नहीं करना चाहिए और रावण तो मुझे बलात् हर लाया था किन्तु मैंने जान-बूझकर अन्त तक परपुरुष का स्पर्श नहीं किया है। फिर जिस प्रकार चोरी से रावण मुझे लाया था उसी प्रकार तुम भी मुझे ले जाओ तो अनुचित होगा। राम द्वारा रावण कुल का विनाश करके मुझे ले जाने से श्रीराम का यश बढ़ेगा। मैं उनकी यश-प्रतिष्ठा के लिए सब

कष्ट सह सकती हूँ। उनकी मर्यादा व यश के विपरीत कुछ नहीं कर सकती।

शान्ति और संघर्ष

मनुष्य जीवन में संकट तो आते ही हैं। श्रीराम और श्रीकृष्ण के जीवन में भी संकट आये। श्रीकृष्ण को तो मथुरा छोड़ कर द्वारका जाना पड़ा और श्री रामजी को चौदह वर्ष वनवास भोगना पड़ा। लेकिन उन्होंने अपने पौरुष का आश्रय लेकर संकटों से संघर्ष किया और वे विजय प्राप्त कर आगे बढ़े। इसी प्रकार मनुष्य को भीषण से भीषण संकट के समय निराश नहीं होना चाहिए और अपने पौरुष का आश्रय लेकर संकट निवारण कर आगे बढ़ना चाहिए। जैसे लंका विजय करके और सीता जी को लाने के लिए श्रीराम जी को समुद्र पार करना पड़ा उसी प्रकार साधक को आत्म शान्ति पाने के लिए मोह-माया को पार करना पड़ता है। गिरना अपराध नहीं, गिर कर न उठना और उठ कर आगे न बढ़ना अपराध है। उदास या निराश होकर मनुष्य को कभी आत्महत्या नहीं करनी चाहिए। गीता तथा अन्य ग्रन्थों में इसकी बड़ी निन्दा की गयी है। सुख, दुःख, सुसमय, कुसमय तो जीवन में पहिए के आरों के समान हैं। संकट के समय को अपने पौरुष व बुद्धि बल से पार करके आगे जीवित रहोगे तो सुख ही नहीं यश भी मिलेगा।

राम का नहीं, नाम का प्रभाव

सेतुबन्ध के समय जब राम ने देखा कि नल और नील पत्थरों पर 'रा' और 'म' लिख कर समुद्र में छोड़ देते हैं और वे पानी के ही ऊपर रह कर जुड़ते चले जाते हैं, तो श्री राम ने भी परीक्षणार्थ पत्थर पानी में छोड़ कर देखे, किन्तु वे डूब गये। इस पर जब राम को आश्चर्य हुआ तो हनुमान जी ने कहा—प्रभो, जिसे आप अपने से अलग फेंक देंगे वह तो डूबेगा ही। फिर आपसे अधिक आपके नाम में शक्ति है।

शक्ति के बिना शिव भी शव

जैसे इस शरीर में विषय वासनाओं के अधीन होकर शान्ति पराधीन हो जाती है, उसी प्रकार सीता भी लंका में

[शेष पृष्ठ १६ पर]

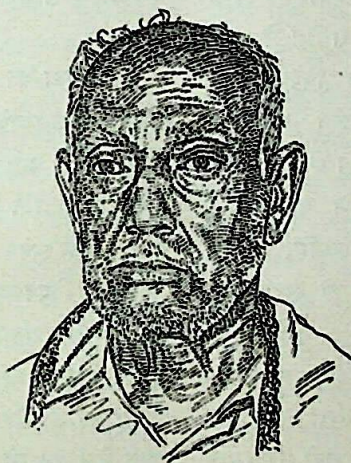
श्रीमाता का मन्दिर

— महामहोपाध्याय स्व० पं० गोपीनाथ कविराज

यह विश्व पराशक्ति श्री श्रीजगन्माता के विश्राम और लीला का नित्य निकेतन है। उनका लीला क्षेत्र यही है एवं लीलातीत विश्राम भूमि भी यही है। सिद्ध योगीजन, अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार जो जिस मार्ग के पथिक हैं, माँ के मन्दिर का दर्शन करते हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार विश्व के बहिरंग प्रदेशों में नित्य चल रहे हैं, किन्तु विश्व के अन्तर्गृह में किसी प्रकार की कलध्वनि नहीं है। वहाँ शान्ति परिवेश के मध्य माँ परमेश्वर के साथ सामरस्य प्राप्त करती हुई विराजमान है। वहाँ सृष्टिसंहार की कलध्वनि नहीं पहुँचती। विश्व-जननी और विश्व-पिता सभी द्वन्द्वों का परिहार करते हुए अखण्ड अद्वय स्वरूप में वहाँ विराजमान हैं। वहाँ शक्ति का स्पन्दन एवं शिव का नित्य अस्पन्दभाव अद्वय समरस स्वरूप में नित्य विद्यमान हैं। विश्व महाशक्ति का कार्य है। कार्य रूप में स्फुरित होने के पहले ही यह महाशक्ति के साथ सम्पूर्ण तादात्म्य प्राप्त करते हुए महाशक्ति के साथ ही विराजमान हैं एवं परम शिव पूर्ण ब्रह्म रूप में अपने स्वरूपभूत शक्त्यात्मक विश्व का नित्य दर्शन कर रहे हैं। कारण उनका स्वरूप प्रकट है। शिव भाव निष्क्रिय तथा निराकार है एवं शक्तिभाव सक्रिय और साकार। परमस्वरूप में वे एक महाबिन्दु के रूप में नित्य विराजमान हैं। महाबिन्दु में एक ही पूर्ण अखण्ड सत्ता विराजमान है। वह है परम अद्वय। वह शिव होते हुए शक्ति एवं शक्ति होते हुए भी शिव है।

विश्वरचना समझने के लिए धीर और स्थिर रूप में महाबिन्दु के स्वरूप और कृत्य पर गौर करना आवश्यक है। यह महाबिन्दु ही शास्त्रों के पारिभाषिक भाषानुसार काम-

रूपी बिन्दु है। पारमार्थिक दृष्टि-सम्पन्न ऋषियों ने इसे रवि अथवा आत्मारूपी सूर्य के नाम से जाना है। यही परमा स्थिति का सांकेतिक निदर्शन है। यही सृष्टि, स्थिति, संहार का समन्वित नित्य रूप है। दो विरोधी शक्तियाँ परस्पर आकर्षण और विकर्षण कर रही हैं। इस आकर्षण-विकर्षण की लीला में विश्व की सृष्टि और संहार की क्रियाएँ नित्य चल रही हैं। किन्तु इस खेल के अन्तर्गत स्थितिरूप, स्थिर-बिन्दु नित्य अवलम्ब से प्रतिष्ठित है। विरुद्ध दोनों



लेखक

बिन्दुओं में एक का नाम अग्नि और दूसरे का सोम है। अग्नि तापस्वरूप है, इसका कार्य है संहार करना अर्थात् फैली हुई शक्ति को बटोर लाना। यही अग्नि और सोम अनन्त प्रकार की विरुद्धशक्ति के प्रतीकस्वरूप एवं स्थिति-बिन्दु, सविता, समस्त विरोधों का समन्वय स्वरूप है। एक और स्थिति-बिन्दु नित्य स्थितिशील है, दूसरी ओर नित्य क्रियाबिन्दु अग्नि और सोमभाव को आश्रय बनाकर नित्य क्रिया करते चल रहे हैं, सृष्टि और संहार दोनों इनके अन्तर्गत है।

विभिन्न ऋषि और विभिन्न सिद्ध

पुरुष अपने इष्टभाव के माध्यम से इस सृष्टि, स्थिति और संहार की क्रियाओं को समझने का प्रयत्न करते हैं एवं इस प्रसंग में बाहर से भीतर प्रवेश करने एवं भीतर से बाहर आने का क्रम समझने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार विभिन्न चित्र यन्त्र या चक्ररूप में तन्त्र शास्त्र में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। प्रत्येक यन्त्र बाहर से भूपुर एवं सभी के ऊर्ध्व में बिन्दु एक साधारण तथ्य है। विशेष क्षेत्र में तारतम्य हो सकता है और है भी, किन्तु यहाँ उनके बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं

है। हम प्रस्तुत लेख में इस विश्व चक्र का जो विशिष्ट स्वरूप प्रसिद्ध है, उस सम्बन्ध में किंचित् चर्चा करेंगे। इसे श्री-चक्र कहा जाता है। यही श्रीमाता का यन्त्र एवं विश्व रचना का एक प्रसिद्ध सांकेतिक प्रतीक है।

इस यन्त्ररूपी श्रीमाता के मन्दिर में सभी लोगों में एवं सभी के ऊर्ध्व में बिन्दु या महाबिन्दु का स्थान है। यहीं से सृष्टि का प्रवाह निर्गत होता है एवं यह प्रवाह यहीं आकर शान्ति प्राप्त करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हम महाबिन्दु के साम्यभाव को लक्ष्य करते हुए यह सब कह रहे हैं। यह महाबिन्दु निरन्तर स्थिर रहने पर भी निरन्तर गतिशील है। फलस्वरूप यह निस्पन्द होकर भी निरन्तर स्पन्दनमय है। इस महाबिन्दु में एक ओर जिस प्रकार दो विषम बिन्दुओं की क्रियाएँ हो रही हैं, दूसरी ओर उसी प्रकार एक समबिन्दु की क्रियाएँ नित्य चल रही हैं। इस दृष्टि से देखने पर एक बिन्दु ही तीन बिन्दु के रूप में कल्पित होता रहता है। इन तीन बिन्दुओं से तीन रेखाएँ उत्पन्न होती हैं। इन तीनों रेखाओं के परस्पर संयोग से एक त्रिकोण उत्पन्न होता है। यही त्रिकोणवाम विश्वसृष्टि के योनिस्वरूप मातृमण्डल रूप में गृहीत होता है। इस तथ्य को जरा विस्तार के साथ कह रहा हूँ। वेदान्त दर्शन में सूत्र है—‘योनेः शरीरम्।’ शरीररचना योनि के अधीन है। बिन्दु और योनि के संघर्ष से व्यष्टि और समष्टि, समग्र, विश्व क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं। इस बात को जरा और साफ ढंग से कह दे रहा हूँ। सृष्टि-मूल की पर्यालोचना करने पर समझ में आता है कि इसकी मूल सत्ता एक ओर निरंश और दूसरी ओर सांश है। निरंश सत्ता स्पन्दहीन अथवा स्पन्दातीत नित्य शान्त है। वस्तुतः वही शिवभाव या आत्मा का परमस्वरूप है। इसी निरंश सत्ता में शिव-शक्ति दोनों हैं, किन्तु दोनों में कोई विलक्षणता नहीं है। कारण वहाँ एक ही सत्ता है। शैव उसे शिव कह सकते हैं, शक्ति उसे शक्ति कह सकते हैं। यह निरंश का क्षेत्र सर्वदा निरंश ही रहता है। यह मन, बुद्धि के निकट अगम्य है, फिर भी मन-बुद्धि की सभी क्रियाएँ इसके अधीन हैं। सांश भाग शिव-भाव प्रधान या शक्ति-भाव प्रधान है—यही दो भाव हैं। वास्तव में सत्य यह है कि दोनों शक्तिस्वरूप हैं, कारण दोनों ही सांश हैं। सांश सत्ता के शिव के रूप को अम्बिका कहा जाता है एवं शक्ति रूप को शान्ता। दोनों ओर से धारा प्रवाहित होती है—अम्बिका की ओर से जिस

प्रकार की धारा निकलती है उसी प्रकार शान्ता की ओर से भी प्रवाहित होती है। त्रिकोण अथवा योनि की रचना में यही धारागत वैशिष्ट्य विशेष कार्य करता है। स्मरण रखना होगा कि विश्व-रचना के मूल में त्रिकोण का निर्माण होता है, त्रिकोण का निर्माण अत्यन्त रहस्यमय है। प्रत्येक धारा प्रवाह में जिस स्थिति का आविर्भाव होता है, उसका स्वरूपगत वैशिष्ट्य भी इन दोनों धाराओं का सम्मिलित वैशिष्ट्यमूलक है। उदाहरणस्वरूप कहा जा सकता है कि धाराओं का मूल स्थान अम्बिका और शान्ता हैं, इनका मिलन दोनों की सत्ता का समांश भी हो सकता है और विषमांश भी। तदनुसार सृष्टि में पार्थक्य होता रहता है। यही पीठ के निर्माण का गुप्त रहस्य निहित है। चार प्रकार के वाक्त्व भी इस रहस्य के साथ संश्लिष्ट हैं। त्रिकोण का जो मध्य बिन्दु है, वही चरम पीठ है जिसका परावाक् के नाम से वर्णन किया जाता है। इसके साथ उनका घनिष्ठ सम्पर्क है।

(१)

श्रीमाता का मन्दिरात्मक यह श्रीचक्र एक ओर समष्टि अथवा महासमष्टिरूप विश्व है एवं दूसरी ओर व्यष्टिरूप मानव देह है, यह दोनों के साथ अभिन्न है इसे स्मरण रखना होगा। पराशक्ति विश्वरूपिणी यही उनकी इच्छात्मक अवस्था है। इसके ऊपर पृष्ठ पर उनका विश्वात्मक स्वरूप है। पराशक्ति विश्वरूप होने पर भी चक्ररूप में प्रकाशमान नहीं है, इसीलिए यह अस्फुरित विश्व है। स्फुरण होने पर यही इच्छा चक्ररूप धारण कर लेती है। पराशक्ति विमर्शरूपा है। जगत् का उद्गीरण और निगीरण उनकी स्वेच्छा का स्फुरण मात्र है। यह जो विश्व-चक्र की बातें बतायी गयीं, यह बिन्दु से विस्तृत है। सृष्टि का क्रम क्या है, अब उसे बताया जा रहा है।

सृष्टि से पूर्व कोई प्रपंच न रहने के कारण उसे शून्य कहा गया है, यह प्रकाशात्मक परमविश्व की स्थिति है। तान्त्रिकों की सांकेतिक भाषा में इसका नाम है—बिन्दु, जिसका पहले अग्नि और सोम के सामरस्य के नाम से वर्णन किया गया है। इसकी अन्तिम अवस्था विसर्ग नाम से आख्यात होती है। सामरस्यरूप यह बिन्दु ही काम अथवा सूर्य है। यही शिव शक्ति का सम्मिलित रूप चिद्गगन है, चन्द्रिका और ‘भानुजम्भण’ नाम से इसका निर्देश है। यही सामरस्यात्मक कामबिन्दु के दो रूप हैं। एक अग्निस्वरूप

एवं दूसरा सोमस्वरूप । आगमों की सांकेतिक भाषा में एक का नाम 'अं' एवं दूसरे का 'हं' है । अग्निबिन्दु रक्त-स्वरूप एवं सोमबिन्दु शुक्लस्वरूप है । दोनों बिन्दुओं के संयोग से चित्कला या संवित का आविर्भाव हुआ । यह संवित और कुछ नहीं, प्रकाशरूपी अग्नि सम्बन्धवशतः विमर्शरूपी चन्द्रबिन्दु का साव है । अग्नि के स्पर्श से जिस प्रकार घृत गल जाता है, यह भी उसी प्रकार का है । इन दोनों बिन्दुओं के अन्तराल या मध्यावस्था से जो धारा निःसृत होती है वही विमर्श शक्ति की लहरी है । सांकेतिक भाषा में इसे हार्धकला कहा गया है । जब कामकला रूप अक्षर इस हार्धकला के साथ युक्त होता है तब उस अक्षर से वैन्दव चक्र का आविर्भाव होता है ।

वैन्दव चक्र तीन है—मातृका में समष्टिरूप अर्थात् पद्म्यन्ती, मध्यमा और वैखरी की समष्टि । इसी चक्र से ३६ तत्त्वरूप विश्व उत्पन्न होता है । श्रो चक्र के अंकित स्वरूप में यह मध्य त्रिकोण के नाम से जाना जाता है । यह मातृका त्रय की समष्टि या सदाशिव या परमात्मा या तुरीया बिन्दु से उद्भूत है ।

पराशक्ति परिस्फुट शिवशक्ति समापन्न बीज का अंकुर स्वरूप है । जब परमशिवरूपी सूर्य की किरणें विमर्शरूपी स्वच्छ दर्पण में प्रतिफलित होती हैं तब चित्तरूपी प्राचौर में महाबिन्दु का आविर्भाव होता है । यह जो चित्त है, वह अहंकारात्मक एवं परिस्फुट अकार और हकार का सामरस्य स्वरूप है । रक्तवर्ण और श्वेतवर्ण दोनों बिन्दु वाक् और अर्थ के आभास को प्रकट करते हैं । अहंकारात्मक सूर्य या रवि दोनों के सामरस्य रूप हैं इसीलिए कमनीय और काम-पदवाच्य है । रवि की ये कलाएँ अग्नि और सोम के नाम से दो बिन्दुओं के रूप में परिचित हैं । यही कामकला विद्यादेवी का स्वरूप है । यदि चक्रक्रम को जान लिया जाय तो जगन्माता महात्रिपुर सुन्दरी की प्राप्ति होती है ।

कालचक्रादि तन्त्रों में कामकला लिखने की विधि प्रदत्त हुई है । तदनुसार पहले एक बिन्दु का सन्निवेश आवश्यक है । उसके नीचे तिर्यक् भाव में अगल-बगल दो बिन्दुओं को बैठना होगा । इन तीनों बिन्दुओं के नीचे हंसपद अंकित करना चाहिए । आचार्यों का कहना है—यहाँ तक सम्भव है । इसके आगे जो कुछ है यह लिपि के द्वारा लिखना असम्भव है । बाकी आनन्दस्वरूप है । कामकला की अभिव्यक्ति कामालय में होती है अर्थात् योनि स्थान में । यह

आनन्द का द्योतक है । जब लिपिबद्ध किया जाता है तब उसे हंसपद के नाम से लिखा जाता है । भगवान् शंकराचार्य कामकला के जिस ध्यान को बता चुके हैं उससे ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम चिन्तनीय देवी का आनन, उसके नीचे दो कुच या स्तन, उसके नीचे कामकला-तत्त्व ध्यान का विषय है । मुखबिन्दु ही काम बिन्दु है । कुचबिन्दु दो विमर्श बिन्दु हैं । उसके नीचे जो कुछ है, वह हकारार्द्ध या अर्द्ध-नारीश्वर शिव का योनि स्थान है ।

(२)

यह जो त्रिकोणात्मक वैन्दव चक्र है तीन प्रकार का है । सृष्टि रूप में इसका स्वरूप शक्ति, किन्तु संहार रूप में इसका स्वरूप अग्नि है । यह चक्र ही क्रमशः नवयोनि चक्र रूप में परिणति प्राप्त करता है । नौ योनियों में चार आत्म-स्वरूप (आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा) एक प्रमाता या जीव, एक प्रमेय या ग्राह्य वर्ग, एक ज्ञान, एवं बाकी दोनों धर्म और अधर्म रूप कर्म संस्कार हैं । इसी मूल सत्ता का अवलम्बन करते हुए महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि की अवतारणा होती है । नवयोनि चक्र का यही स्वरूप है । यही चिदानन्दधन के नाम से सर्वशास्त्र में वर्णित है । इसमें एक ओर जहाँ चित् या चैतन्य कला है और दूसरी ओर उसी प्रकार विश्वहन्ता का परिणाम आनन्द भी है । यह देश, काल और आकार के द्वारा अपरिच्छिन्न है क्योंकि यही सब स्वरूपतः चिन्मय है । यह नवयोनिचक्र नौ प्रकार से विभक्त है । प्रत्येक चक्र में पुण्य-पुण्य मन्त्रों का सम्बन्ध है । ये सब मन्त्र चक्रेश्वरी करशुद्धि के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

प्रथम चक्र अम्बिका के नाम से वर्णित होता है । यहाँ महाबिन्दु रूप सदाशिव आसनरूप में है । इस आसन पर अधिष्ठाता रूप में उपविष्ट है—शिवशक्ति का युगल स्वरूप । शिव का प्रलयाग्नि के नाम से वर्णन किया गया है । इस अग्नि में आदि तत्त्व शिव से अन्तिम तत्त्व पृथ्वी तक छत्तीसों तत्त्व अन्तर्लौन भाव में विद्यमान हैं । यह हुआ—अर्थ का स्वरूप । इस अग्नि को सभी वर्गों का आदिभूत, अनाश्रित प्रकाश रूप समझना चाहिए । अर्थात् यह अकार है । जिसका चित्कला के नाम से वर्णन किया जाता है, वह विमर्शरूपा और सर्ववर्णों के अन्तर्भुक्त हार्द्धकला है । तन्त्र की सांकेतिक भाषा में कहा जाता है—'अहं' का 'अं' कार आदिवर्ण प्रकाशरूप एवं हंकार अन्त्यवर्ण विमर्श रूप है ।

यह त्रिकोण महाबिन्दु रूप मध्यचक्र से उद्भूत है

जिसका शिवशक्ति के सामरस्य के नाम से वर्णन किया जाता है। यह त्रिकोण ही अम्बिका है। इस त्रिकोण के तीनों कोण से तीन स्पन्दों का आविर्भाव होता है जिसके प्रभाव से अष्टकोणात्मक अष्टारचक्र आविर्भूत होता है। यह त्रिकोण अष्टार के केन्द्रस्थल में अवस्थित है एवं यह स्वरवर्णों द्वारा आच्छन्न है। त्रिकोण की तीनों रेखाएँ परस्पर समान एवं प्रत्येक रेखा पाँच स्वरवर्ण द्वारा आवृत है। आकार से पाँच स्वरवर्ण लेकर एक रेखा रचित होती है। इस प्रकार तीन रेखाएँ पन्द्रह स्वरवर्णों द्वारा रचित होती है जिसका स्वर

बिन्दु नाम से परिचित है। त्रिकोण के केन्द्रस्थल में है— विसर्ग। यही त्रिकोण शस्त्रों में महात्रिकोण के नाम से प्रसिद्ध है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि यही त्रिकोण नौ चक्रों में परिणत होता है त्रिपुरादि नव चक्रेश्वरी और करशुद्धि आदि मन्त्रों के बारे में भी बताया जा चुका है। अम्बिका और शान्ता का सामरस्य रूप, सदाशिवरूप आसन यही है। कामेश्वर और कामेश्वरी द्वारा यह आसन अधिष्ठित है। (अगले अंक में समाप्त)



परीक्षा

प्रख्यात रसायनशास्त्री आचार्य नागार्जुन को अपनी प्रयोगशाला के लिए एक सहायक की आवश्यकता हुई। इस कार्य हेतु आचार्य की सेवा में दो प्रतिभावान् युवक उपस्थित हुए। आचार्य ने उनके व्यावहारिक ज्ञान की परीक्षा करने के लिए उन्हें कुछ विशेष पदार्थ दिये और कहा—‘दो दिन में इनका रसायन तैयार करके मेरे पास लाओ।’

दो दिन पश्चात् दोनों युवक आचार्य की सेवा में उपस्थित हुए। एक युवक ने रसायन-पात्र आचार्य के समक्ष रख दिया; किन्तु दूसरे ने क्षमा-याचना करते हुए निवेदन किया—‘आचार्य, जब मैं आपके दिये हुए पदार्थ लेकर जा रहा था, तो मार्ग में मुझे ज्वर-तप्त एक वृद्ध पुरुष मिला। मैं उसकी उपेक्षा नहीं कर सका। मेरे दोनों दिन उसकी सेवा में ही व्यतीत हो गये। मैं लज्जा से अभिभूत हूँ, आचार्य!’

आचार्य ने संघाधीश को आदेश दिया—‘इसी युवक को सहायक नियुक्त किया जाये।’ संघाधीश आश्चर्य से आँखें फाड़े आचार्य की ओर देखता रह गया। आचार्य मुस्कराये और बोले—‘मैं समझता हूँ वत्स, तुम्हें क्यों आश्चर्य हो रहा है, किन्तु रसायन का प्राणी के जीवन से अधिक कोई महत्त्व नहीं है। रसायन भी जन-सेवा के लिए ही है।’

संघाधीश ने शीश नवाया और उस युवक को लेकर चला गया।



श्रीवाल्मीकीय रामायण का सन्देश

[पृष्ठ १२ का शेषांश]

पराधीन हो गयीं किन्तु उस स्थिति में भी पृथ्वी के समान उनमें क्षमा बनी रही। उन्हें त्रास देने वाली राक्षसियों को क्षमा कर दिया। श्रीराम भी अपनी शक्ति जानकी के बिना अधूरे रह गये हैं। ईश्वर का कर्तृत्व व भर्तृत्व गुण अपनी शक्ति से अलग रह कर नहीं रह सकता। उसके बिना वह सृजन व भरण-पोषण नहीं कर सकता।

लक्ष्मण और भरत

शेषावतार लक्ष्मण तो राम की शैया हैं, छत्र हैं, सखा हैं, आश्रित हैं। अतः सदैव उनके साथ रहते हैं। किन्तु परम भागवत भरत जी के चरित्र में रामाज्ञा प्रधान है जिसके अधीन वह राम से संयोग और वियोग दोनों स्थितियों में रहते हैं।

[प्रस्तुति—अ० ना० धर द्विवेदी]



श्रीरामचरितमानस की कसौटी—न्याय और मीमांसा

— पंडित श्री विश्वनाथ शास्त्री दातार

[श्री दातार जी न्याय और मीमांसा के पण्डित तो हैं ही अन्य अनेक शास्त्रों के भी निष्णात विद्वान् हैं । आपने न्याय और मीमांसा को कसौटी बनाकर रामचरितमानस का भाष्य लिखा है जिसमें भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में भक्तिपंथ का प्रतिपादन किया गया है । हमारी प्रार्थना पर आपने 'मुमुक्षु' पत्रिका में क्रमशः उसे प्रकाशनार्थ देने की स्वीकृति दी है । निःसन्देह हिन्दी जगत् को इस भाष्य से रामचरितमानस के अध्ययन के लिए एक नयी दृष्टि मिलेगी । आपको यह दृष्टि अपने गुरु स्व. पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ से मिली है, जिनकी चर्चा आप अपने प्रवचनों में प्रायः किया करते हैं । पाठक देखेंगे कि रामचरितमानस के मंगलाचरण में गोस्वामी जी ने नाना-पुराणनिगमागमसम्मतम् यत् और क्वचिदन्यदोऽपि के सार-ग्रहण की जो प्रतिज्ञा की है वह कितनी यथार्थ है । विद्वान् लेखक ने मानस के बालकाण्ड से संगति मिलाकर 'मानस' के मानस अयोध्या काण्ड का भाष्य यहाँ प्रस्तुत किया है । —सम्पादक]

प्रमाण और प्रमेय-विचार

बालकाण्ड में गोस्वामी तुलसीदास जी के माध्यम से परमवैष्णव शिव जी कहते हैं :—

मातृ-पिता गुरु प्रभु कै बानी,
बिनहिं विचार करिअ सुम जानी ।
तुम्ह सब माँति परम हितकारी,
अग्या सिर पर नाथ तुम्हारी ॥

परम हितकारी के आदेश का बिना विचार किये पालन करना शुभदायक भक्तिपंथ है । शिवजी के इस वचन में भक्ति-विवेक और धर्म का सम्बन्ध है इसलिए उसे सुनकर प्रभु परितुष्ट हुए :—

प्रभु तोषेड मुनि संकर बचना,
भक्ति बिबेक धर्म झुत रचना ।

इसी धर्म-विवेक और भक्ति का समन्वय करते हुए ग्रन्थ-कार गोस्वामी जी अयोध्या काण्ड प्रस्तुत कर रहे हैं । श्रीराम के चित्रकूट में विराजने तक अयोध्याकाण्ड का पूर्वार्ध है और उसके पश्चात् भरत-चरित्रका वर्णन उत्तरार्ध है ।

सर्वज्ञतापूर्ण शास्त्र प्रामाण्य का अन्वय-व्यतिरेक बालकाण्ड में निरूपित कर प्रमाणभूत वचनों के बलाबल का विचार अयोध्या काण्ड के दशरथ-कैकेयी, कौशल्या-सीता-राम, राम-सीता, राम-लक्ष्मण संवादों में और अन्त में भरत के चरित्र में गोस्वामी जी प्रस्तुत करेंगे । कहीं तो दशरथ का वचन सर्वथा और कहीं सापेक्ष रूप में प्रमाणस्वरूप रखा गया है । जैसे श्रीराम के वन जाने में सर्वथा किन्तु सुमन्त्र द्वारा राम की लौटा लाने में सापेक्ष रूप में मान्य है । ऐसा ही चरित्र सीता जो का भी है । इसी प्रकार राम-वन-गमन में कैकेयी के वचन 'प्रमाण' हैं परन्तु भरत उसे अप्रमाण मानकर राज्य स्वीकार नहीं करते । किन्तु चित्रकूट में वे ही वचन प्रमाण बन जाते हैं । कौन-सा वचन सापेक्ष रूप में किस ढंग से मान्य है यह चित्रकूट तक के राम-वन-गमन-चरित्र में स्पष्ट किया गया है । 'आन्वीक्षिकी' आदि विद्याओं के बलाबल से वचन प्रामाण्य का सूक्ष्म विचार भरत-चरित्र में युक्तिपूर्वक किया गया है और उसे ही कर्तव्य माना गया है । किन्तु त्रयी के प्रमाण को उपेक्षित कर आन्वीक्षिकी का उपयोग नानाविध तर्क-कुतर्क करने में विफल होता है, जैसा कि मन्थरा-कैकेयी संवाद में स्पष्ट है । यद्यपि कैकेयी राजा दशरथ के साथ तर्क करने में अपनी सफलता को कामना करती है किन्तु वहाँ त्रयी की उपेक्षा के कारण आन्वीक्षिकी सफल नहीं होती जो मन्थरा और कैकेयी-संवाद के उपसंहार से स्पष्ट है । इसके विपरीत महाराज दशरथ त्रयी के प्रामाण्य के अवीन रहकर आन्वीक्षिकी के माध्यम से तर्कसम्मत विचार कर अपना निर्णय देते हैं :—

1. चाणक्यनीति के अनुसार चार विद्याएँ हैं—१. आन्वीक्षिकी (सत्तर्कयुक्त विमर्श), २. त्रयी (वेद-वेदांग-मीमांसा), ३. वार्ता (वैश्यकर्म) और ४. दण्डनीति ।—सं० ।

सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई
 सब गुनधाम राम प्रभुवाई ।
 करिहिहि माइ सकल सेवकाई,
 होइहि तिहुँ पुर राम बड़ाई ।
 ---वेहु भरत कहँ राजु बजाई ।

और यही हुआ भी ।

‘दण्डमूला तिस्रो विद्या विनयमूलो दण्डः आन्वीक्षिकी-
 त्रयी-वार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः । तस्य नीतिर्हि
 दण्डनीतिः’ अर्थशास्त्र के इन वचनों का समन्वय मानसकार
 ने अयोध्या काण्ड में चित्रित चरित्रों में आन्वीक्षिकी, त्रयी,
 वार्ता विद्याओं की प्रतिष्ठा के विचार से किया है ।

वेदवेदांग, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र, पुराण के अधीन
 होकर श्रीराम के गृहस्थाश्रम में आने पर वार्ता विद्या
 प्रसन्न हो घर-घर में अर्थ प्रदान कर रही है जैसा कि
 अयोध्या काण्ड के प्रारम्भ में ही कहा गया है । जब ते राम
 व्याहि घर आये ।...इसी प्रकार यह भी स्पष्ट किया गया है
 कि साधु-सन्तों के वचनों का धर्म-भक्ति-विवेकपूर्वक तात्पर्य
 समझकर कार्य करने में ही कल्याण है, इसमें शंका करना
 अज्ञान का परिचायक है ।

बालकाण्ड में वचन प्रमाण को कायम रखने में अप्रमाण
 माननेवालों को बड़ा कड़ा मूल्य चुकाना पड़ा है । जैसे सती
 द्वारा शिव के वचन न मानने और नारद द्वारा शिव-वचन
 की अवहेलना करने पर । अयोध्याकाण्ड में वचन प्रमाण
 कायम रखनेवालों को कठिन मूल्य चुकाना ही नहीं आत्म-
 बलि भी देनी पड़ी है । जैसे :—‘जीवन मोर राम बिनु
 नाही’ ‘जीवन राम दरस आधीना ।’

यह वचन रखने के लिए दशरथ को प्राण-त्याग करना
 पड़ा अन्यथा राक्षसों के विनाश के बाद लंका-विजय,
 सकुशल अयोध्या लौटना और त्रिभुवनव्यापिनी कीर्ति की
 उद्देश्य-पूर्ति सन्दिग्ध होती । हाँ, यह हो सकता था कि प्रभु
 राम वैसी सफलता प्राप्त करने के लिए प्रभुत्व का प्रयोग
 करते । किन्तु ऐसी स्थिति में शास्त्र-भ्रामाण्य प्रकट करने में
 भगवादा पुरुषोत्तम की शास्त्रानुगामिता और शास्त्र-प्रतिष्ठा
 की छवि नहीं उभर पाती ।

सर्वशक्ति-सम्पन्न नीति-निपुण व्यक्ति ही नैतिक कार्य
 पूर्ण करने में सक्षम होता है । शास्त्रों में नीतिज्ञों ने तीन
 प्रकार की शक्तियाँ मानी हैं—मन्त्र, प्रभु और उत्साह ।

इन शक्तियों को ही नीति के सर्वांगीण विकास का
 कारण माना गया है । राम-चरित-मानस के चरितनायक
 प्रभु श्रीराम में तीनों शक्तियाँ प्रत्यक्ष हैं । उन्हीं का चित्रण
 करना सन्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी का लक्ष्य है ।

मन्त्रशक्ति हेतु शिव-वन्दना

उपरिलिखित तीनों शक्तियों में अर्थशास्त्र ने मन्त्र
 (शास्त्रसम्मत सत्तर्क शुद्ध विचार) शक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना
 है । यह कुण्ठित न हो एतदर्थ नीतिज्ञों के लिए निर्वि-
 कारिता अपेक्षित है । राजशास्त्र में ‘सत्त्व’ की अभिवृद्धि
 तपस्या, पूजा, वन्दना आदि से होती है । मन्त्रशक्ति का
 स्रोत विद्यापति शिवजी की वन्दना है । यह सोचकर गोसाईं
 जी शिव की वन्दना अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भ में करते हैं ।
 इसके अतिरिक्त मंगलाचरण में शिववन्दना का यह भी
 कारण है कि गोस्वामी जी भक्ति से सम्पृक्त, शास्त्र-सम्मत
 भारतीय नीति तत्त्व का प्रकाशन करने के लिए कृत-संकल्प
 हैं । वर्णाश्रम धर्म का उपयोग भी राजनीति के संवर्धन में
 किया जाता है और राजनीति का कार्य सभी धर्मों का रक्षण
 है । इसलिए वर्णाश्रम धर्म सहित राजनीति का पर्यवसान
 ईश्वर भक्ति में करना ही मानस का प्रतिपाद्य उद्देश्य है,
 जिससे अविधिमें विधि, वैराग्य के नाम पर राग, विरक्ति के
 नाम पर नीति-व्युति, नीतिज्ञों का प्रभु-चरित्र से विपरीत-
 बोध एवं डम्भ में साधुत्व की परिणति आदि दोषों की
 सम्भावना न रह जाय ।

श्लोक—यस्याङ्गे च विमाति भूधरसुता देवापगा मस्तके
 माले बालविशुण्ळे च गरलं यस्योरसि व्यालराट् ।
 सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा ।
 सर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्करः पातु माम् ॥

ज्ञान और कामतत्त्व का समन्वय

बन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं...के अनुसार शिवतत्त्व
 बोधात्मक है । किन्तु यहाँ नामकीर्तन में भूधरसुता का गोद
 में रहना शिवकी निर्विकारिता में कमी नहीं है । इस सम्बन्ध
 में शास्त्र-सिद्धान्त यह है कि ज्ञान की पूर्णता होने के
 अनन्तर ऊर्ध्वरेता ज्ञानी यदि अपना समय कामतत्त्व के
 समालिङ्गन में बिताता है तो भी उसका निर्मल ज्ञानतत्त्व
 नष्ट नहीं होता और न वह कामतत्त्व की अधोनता में
 अनुचित कार्य ही करता । अतः शिव जैसे ज्ञानी सर्वज्ञ के
 लिए भूधरसुता का अङ्क में रहना दूषण नहीं, भूषण है ।

गंगाजी को सिर चढ़ा रखने से शिव को कामतत्त्व का दास नहीं कहा जा सकता बल्कि कामतत्त्व उस ज्ञानी का अधीनस्थ हो स्वयं उनका दास बन गया है। इसे गोस्वामी जी ने ललाटस्थ चन्द्रमा के वर्णन से स्पष्ट किया है। काम-जन्य उष्णता के सम्पर्क में चन्द्रमा मलिन नहीं हो रहा है बल्कि सार्विकता और निर्विकारिता का इतना उत्कट प्रभाव है कि जिसके सम्पर्क से कण्ठस्थित विष भी अपनी तीक्ष्णता गवां बैठा है। इसीलिए शीतलता की खोज में भटकता हुआ सर्पराज जब प्रभु के कण्ठ में पहुँचकर सुखानुभूति में आया तब उसने प्रभु के वक्षस्थल को अपना शाश्वत निवास बना लिया और वह अब यज्ञोपवीत के रूप में शोभा बढ़ा रहा है।

मन्त्र शक्ति का अन्तिम मूर्त रूप विरक्ति है। उसी के लिए 'भूति' शब्द व्यवहृत है, जो प्रभु का अलंकार है। स्थावर, जंगम आदि जितने प्राणी हैं उन सभी की मंगल-कामना करना और न्यायोचित ढंग से उनका योग-क्षेम चलाना प्रभुका स्वभाव है। अतः वे 'सर्वाधिप' हैं। उन्हीं के नेतृत्व में पशु का प्रतिनिधि जीव जब स्व-सम्पत्ति को भोगता है तब उसका मंगल निश्चित है। अतः वे 'पशुपति' हैं। बोधात्मक चेतनस्वरूप में रहकर प्राणिमात्र के हृदय में साक्षी स्वरूप से प्रभु रहते हैं इससे वे 'सर्वगत' हैं। वे मंगलस्वरूप हैं इसलिए शिव हैं। जिस प्रभु के शरीर में बोध के सहित योग-तेज प्रदीप्त होकर बाह्य शशि रूप में प्रकट है, वे प्रभु हमारी रक्षा करें।

उत्साहयुक्त विरक्ति

सत्संगी व्यक्ति अकार्य से अलग हो वैराग्ययुक्त होकर न्यायोचित कार्य में लगे रहते हैं। ऐसा अर्थशास्त्र का विधान है। उसी का अनुसरण मर्यादापुरुषोत्तम राम और भक्त भरत दोनों कर रहे हैं। राजा दशरथ के बाद राज्य-रक्षण में ये ही दो तट माने गये हैं। इनपर विद्यापति शिव की पूरी अनुकम्पा है। उसी स्रोत के बल पर श्रीराम और भरत की मन्त्रशक्ति भावी सम्पूर्ण उत्थान का मूल है। उसका मूर्त रूप नीतियुक्त उत्साह शक्ति समन्वित विरक्ति ही है। वह दोनों भाई की मुखश्री पर प्रकट है। अतः शिव-वन्दना के बाद गोसाईं जी राम और भरत की विरक्तिपूर्ण मुखश्री से मंगल-प्राप्ति की कामना कर रहे हैं :-

प्रसन्नतां या न गतामिषेकस्तथा
न मम्ले वनवासदुःखतः,
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे
सदास्तु सा मञ्जुलमंगलप्रदा ।

राजनीति में अभ्युदय के मूल तत्त्व

माता कैकेयी के प्रयत्न से राज्यश्री भरत का वरण करना चाहती है और वनश्री जयमाला लिये रघुनन्दन श्री राम का। परन्तु गुरु वसिष्ठ के द्वारा प्रशिक्षित आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति का प्रभाव है कि दोनों भाइयों के चेहरों पर हर्ष या विषाद का प्रभाव तनिक भी दिखाई नहीं देता, बल्कि वहाँ वैराग्य की झलक है जिसे देखकर जनता समुल्लसित हो रही है। यही राजनीतिक दृष्टि से उन्नति का मूल है। विकारिता हर्ष एवं विषाद का कारण बन अपने अधीनस्थ को अवनति की ओर ले जाती है। इसलिए प्रभु ने इसे हानिकर समझ अभ्युदय का आदर्श उपस्थित किया है। इसलिए गोसाईंजी ने दोनों रघुनन्दनों (राम और भरत) के मुखाम्बुजश्री का ध्यान किया है, जो अयोध्या काण्ड का प्राण है। उत्साह एवं प्रभुता की प्रेरिका है। सफलता की कुंजी है और है शत्रु को मोहित करने का महान् अस्त्र। इतना ही नहीं, वह सखाओं को प्रेमपाश में बाँधने की ग्रन्थि, प्रतिभा-आवरण-विदारिका, शाश्वत कीर्ति का आधार, भारतीय राजनीति का प्रथम सोपान, अनुयायियों के लिए त्रिविध समोर, पूज्यों के लिए स्नेहात्मन् और कामिनियों का सर्वस्व तथा ऋषियों के लिए आगन्ध है।

तत्पश्चात् गोस्वामीजी प्रभु-शक्ति-सम्पन्न उत्साह का परिचय देते हुए नीति-निपुण इष्टदेव भगवान् राम की वन्दना करते हैं :-

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्ग
सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं
जमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥

नीति-प्रतिष्ठा का कारण तर्क-सम्मत वैराग्य

रघुवंश के स्वामी राम अपने अनुशासन में प्रत्येक व्यक्ति को वर्णाश्रम धर्म में प्रवृत्त कराते हुए निग्रहानुग्रह में समर्थ हैं। उनकी प्रभुशक्ति ही पारस्परिक प्रीति में जन-

मानस को आबद्ध रखती हुई कर्तव्य की ओर प्रेरित तथा अकर्तव्य से विरत कराती है। कर्तव्याकर्तव्य की मर्यादा शास्त्र है जिसे प्रभु ने अपनाया है। इसीलिए वे रघुवंश के नाथ हैं। कवि उन्हीं का नमन करते हैं। उत्साह-शक्ति प्रभुशक्ति-सम्पन्न को नीति के प्रति प्रीति और निष्ठा बनाये रखती है। इन्हीं दोनों शक्तियों को 'पाणौ महासायकचारु-चाप' कहा गया है। 'सीतासमारोपितवामभागम्' विशेषण से यह स्पष्ट किया गया है कि प्रभु राम के लिए सीता-स्पर्श न तो उद्वेगजनक है और न योगियों जैसा वैराग्य-कारक। इसके विपरीत तर्कसम्मत भोग के साथ कामयुक्त वैराग्य को प्रकट किया गया है, जो नीति-प्रतिष्ठा का कारण है। 'नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गम्' से आयुर्वेद का सिद्धान्त प्रकट होता है जिसमें शरीर की श्यामलता से सेवकों के प्रति भगवदनुराग और उनकी दानशोलता प्रकट होती है। अम्बुज रूपक से यह भी स्पष्ट होता है कि पूर्वोक्त वैराग्य-युक्त नीति शक्ति प्रभु राम में पूर्णतः जाग्रत है।

इस प्रकार राज्य की प्रतिष्ठा में मूलभूत नीति और उत्साह प्रभावशक्ति रूप में शिव एवं राम दोनों को नमस्कार करने के अनन्तर गोस्वामीजी पूर्व और उत्तर दोनों अयोध्या काण्डों की अपेक्षित समन्वयात्मक संगति का निरूपण करेंगे। इसके पूर्व वे गुरु वन्दना करना उचित समझते हैं :—

श्रीगुरुचरणसरोजराज, निज मनु-मुकुरु सुधारि ।
बरनऊ रघुवर-विमल-जसु जो दायक फल चारि ॥

गुरु की वन्दना

अयोध्या काण्ड में दशरथ, कैकेयी, कौशल्या, सीता, प्रभु राम, भरत-तापस आदि पात्रों की गूढ़तम विचारधाराओं का निरूपण करना आवश्यक है। इसके लिए विवेक एवं शास्त्रमर्यादा अपेक्षित है। गुरुतत्त्व विवेकयुक्त चैतन्यात्मक है। गुरु-चरणों की वन्दना के बिना गूढ़ मन्त्रणाएँ कवि के हृदय में प्रकट नहीं हो सकतीं, यह बालकाण्ड में स्पष्ट किया गया है—

“श्रीगुरुपदनख मनिगन ज्योति,
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ।”
सुझहि रामचरित मनि मानिक ।
गुप्त प्रगट जहँ जेहि खानिक ॥ आदि ।

श्रीगुरु के चरण-सरोज-रज से मनरूपी दर्पण स्वच्छ करने से ही इष्ट-सिद्धि होती है। इसका नीतिपरक अर्थ यह है कि यदि विवेक वृत्ति रूप गुरु के चरण-रज में मन की प्रीति है तथा तीनों प्रमाणों से युक्त गुरु के उपदेशों को सुनकर मन सन्देहरहित हो गया है तो वही मन की स्वच्छता या सुधारणा है। ऐसे सुसंस्कृत मन से ही भगवान् राम के विभिन्न चरित्रात्मक शास्त्रीय नीतिमत्ता को प्रकाशित किया जा सकता है। इस प्रकाशन की जनहित में उपेक्षा नहीं की जा सकती।

रामचरित्र की उपादेयता

साधुओं का यह स्वभाव है कि वे यथार्थ तत्त्व को समझकर उसका आचरण करते हैं। सर्वप्रथम शास्त्र-वेद द्वारा उद्दिष्ट तत्त्व-प्राप्ति के साधनों को समझाते हैं, परन्तु अवस्थावना और विपरीत भावना की कल्पना आने पर उसके निरसन हेतु प्रभु राम का चरित्र है। गोस्वामीजी कहते हैं 'मानस' में प्रस्तुत प्रभु राम का चरित्र चारों पुरुषार्थों का साधक है।

पुरुषार्थ-सिद्धि

१. 'मानस' में निर्दिष्ट कर्तव्य रामचरित्र से अनुप्राणित होने से सत्त्वगुणात्मक है।

२. प्रभु राम ने उन्हीं चरित्रों के माध्यम से मित्रप्राप्ति, शत्रुविजय आदि प्रत्यक्ष फल प्राप्त किये हैं। इसलिए ये चरित्र अनुमान और प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमाणित हैं। अर्थ-पुरुषार्थ के साधक एवं सुखसाध्य है।

३. निष्काम भावना में ही कामना-सिद्धि पूरी होती है। सकाम भावना में रोगों का शिकार होना पड़ता है। इस सम्बन्ध में राजनीति शास्त्र कहता है कि यदि शरीर को उसकी इच्छा पर छोड़ दिया जाय तो यह शरीर का पोषण नहीं बिनाश होगा। निष्कामता में मनोरथ-सिद्धि का कारण त्याग है। इसे 'मानस' में ठीक ढंग से समझाया गया है। राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, सीता इन पाँचों ने त्यागमय जीवन को अपनाते हुए कामसिद्धि प्राप्त की है। अतः मानसोक्त रामचरित्र में काम की साधकता निर्विवाद है।

४. भगवान् का सेवक होकर स्वच्छन्दता (कर्तव्य की)

दूर करके मानसवर्णित चरित्र का आचरण करने से मोक्ष की प्राप्ति सहज साध्य है ।

इस प्रकार अयोध्या काण्ड के नायक का चरित्र चतुर्विध पुरुषार्थसाधक होने से स्पृहणीय है । भगवान् राम के सकाम चरित्र भी निष्कामता की ओर ही ले जाते हैं ।

श्रीरामचरित्र की विशेषता

श्रीरामचरित्र की विमलता (शास्त्रानुगामिता) इतनी अद्भुत है कि महान् से महान् दैवशक्ति-सम्पन्न योद्धा भी उनके समक्ष प्रतियोद्धा के रूप में खड़ा होने का साहस नहीं कर सकता ।

प्रभु का इष्ट

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि प्रभु अवतीर्ण होकर अपने शास्त्र-सम्मत चरित्र में अपना कौन-सा इष्ट देख रहे हैं ।

इस प्रश्न के उत्तर के रूप में यदि यह कहा जाय कि माता-पिता आदि गुरुजनों की सेवा में मनुष्यों को प्रवृत्त कराना प्रभु का इष्ट है तो शंका यह खड़ी हो सकती है कि जब प्रभु ही जगत को मर्कट के समान नचाते हैं और

जीव की अपनी कोई पृथक् सत्ता नहीं है तब माता-पिता आदि की शुश्रूषा में मनुष्य को प्रवृत्त कराना प्रभु का इष्ट कैसे माना जाय ? और यदि यह कहा जाय कि जिन मनुष्यों को उपर्युक्त शुश्रूषा में प्रवृत्त कराना इष्ट है, उनके लिए ही प्रभु के चरित्र हैं तो उनका परिश्रम व्यर्थ ही प्रतीत होता है, क्योंकि वैसे जीव तो प्रभु की इच्छा से प्रवृत्त होंगे ही ।

वस्तुतः शास्त्रकारों की सम्मति से मानवों में सर्वथा स्वतन्त्रता का अभाव नहीं है । यद्यपि यह सत्य है कि शरीर जड़ होने से उसका प्रेरक सर्वसाक्षी चेतन ही है तथापि वह चेतन अपनी मलिनता में शरीर को कुमार्गगामी बना सकता है । ऐसी दशा में जीव कर्तृत्व में स्वतन्त्र माना गया है । अतः जीव कर्म में स्वतन्त्र होकर जन्मान्तरीय वासनाओं की लपेट में धसनी होकर गुरुजनों की सेवा से विमुख हो जाता है । परिणाम यह होता है कि स्वतन्त्र होना तो दूर रहा सत्कर्तृक परामर्श के अभाव में जड़ता का इतना बोझ लद जाता है कि वह चिरकाल के लिए परतन्त्रता में फँस जाता है । इसलिए जड़ता को दूर करने एवं स्वतन्त्रता का उपयोग सत्कर्म कराने में जीवों के मार्गदर्शन के लिए श्रीरामचरित्र है । और यही प्रभु का इष्ट है ।

(क्रमशः)



सच्ची ज्योति

राजा सूर्यप्रेम को आदित्य देवता की तपस्या करते हुए १२ वर्ष गुजर गये थे । फिर भी उनका मनोरथ पूरा न हुआ । एक दिन आदित्य देवता की मूर्ति के आगे नतशिर प्रार्थना करते हुए उन्होंने कहा—“हे सूर्यदेव ! आपकी ज्योति से सारा जगत् प्रकाशमान है । किन्तु आपके अनन्य भक्त के हृदय में अभी तक प्रकाश की किरण प्रकट नहीं हुई । आपका आराध्य स्थान होते हुए भी वह अभी तक अन्धकारमय है ।” सूर्यनारायण ने राजा से कहा—“राजन्, मेरी किरणें जगत् के बाह्य को प्रकाशित करती हैं; अन्तर को प्रकाशित करना हो, तो मेरी पत्नी से मँट करो ।” सूर्य के अस्वीकार-वचन को भी बरदान मानकर राजा सन्ध्या की सेवा में आये । सन्ध्या के चेहरे पर उस समय भी कृष्णा की घुंघली छाया थी । उनकी गोद में द्वितीया के चाँद-सा शिशु खेल रहा था । माँ की गोद में खेलते शिशु की मासूम मुस्कान को देखते ही राजा सूर्यप्रेम के हृदय में दिव्य प्रकाश और उल्लास भर गया । माता सन्ध्या के चरणों में सिर नवाकर वह बोला—“माँ, आपके तेजःपुंज भगवान् आदित्य नारायण की बारह-वर्षीय साधना के बाद मेरे हृदय को जो प्रकाश और उल्लास नहीं मिला, वह इस बच्चे को एक मुस्कान में मिल गया ।”



तपोवन में बाल आञ्जनेय

— श्री लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

[श्री लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' द्वारा लिखित 'आञ्जनेय-चरित' नामक महाकाव्य इक्कीस सर्गों में निबद्ध है। इसमें हनुमान् के जन्म से लेकर उनका, रामावतार और कृष्णावतार तक परिग्याप्त, चरित चित्रित हुआ है। इस महाकाव्य की कथा-वस्तु वेदों, पुराणों और काव्यों से गृहीत है। प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में मङ्गलाचरण संस्कृत भाषा में निबद्ध है। प्रस्तुत अंश में कवि ने हनुमान् जी की बालशोभा तथा आश्रम के पवित्र परिवेश का सहज चित्रण किया है—सम्पादक]

था यज्ञ-धूम से सुरभित नित्य वनाञ्चल,
वृत्तियाँ चित्त के साथ विशुद्ध अचञ्चल;
चञ्चलता का आश्रय केवल चलदल था,
पल के पलने में वहाँ झूलता युगदल।

मर्मर में तरुओं के मृदुभाव मुखर थे,
नद की गद्गद ध्वनि में मृदंग के स्वर थे;
मधुमयी लताओं के अंगों में नर्तन,
कितने ही वंश-वनों में वंशीधर थे।

कल कर्णिकार अपनी सुघ-बुघ थे मूले,
पुरतः अपने लख नृत्य हर्ष में फूले;
स्वर्णाभा औ' सुगन्धि को ले अङ्कम में
शाखाओं पर डाले फूलों ने झूले।

अतिसौरभ के परितः सौरभ था प्रहरी,
दिन के माथे उष्णीष बनी दोपहरी;
कचनार चला जब कबुर वसन सजाकर
हँसती-हँसती मल्लिका हो गयी दुहरी।

तावे सिर ऊपर आतपत्र मनमाया
अच्छिद्र तरुच्छद का, आश्रम गतमाया
था पथ पर अग्रेसर अक्लान्त अनामय;
पथिकों का दल सो गया ओढ़कर छाया।

तरुओं पर वल्कल वसन कहीं लहराते,
पूजा के पात्र कहीं निष्क्रिय दिखलाते;
थी शान्ति खेलती घूम रही तरु-वन में,
कलकण्ठ कभी स्वर अपना थे दुहराते।

इतने में बालक एक पवन-सा चञ्चल,
अतिकान्त कौतुक-प्रिय निर्भीक अमितबल,
करता आश्रम को ज्योतिष प्रभा-वलय से
चुपचाप आ गया धारे कुञ्चित कुन्तल।

तन पर लाली थी बालसूर्य की छाई,
थी उदयचन्द्र ने मुख से ली अरुणाई;
विद्युत् ने सीखा था नयनों से नर्तन,
वंकिमा क्षितिज ने थी भौंहों से पाई।

चास्ता-सदन से भरे कपोल विमल थे,
कानों में कुण्डल चलदल-से चञ्चल थे;
था अशनि-गर्व-कृत-खर्व चिबुक मनहारी,
नासिका क्रमोन्नत, अघरों पर मङ्गल थे।

वह दरशीव शिशु वृषभ-स्कन्ध अनामय,
आजानुबाहु, उन्नत उरस्क शत्रुञ्जय,
हरि-कटि-जित् घराघरण-चरणाम्बुज-शोभी
थी विश्व-सरोवर का अतुल्य सलिलेशय।

वह शालप्रांशु शरीर देख बालक का
भय-सम्भूत होता हृदय युवाओं तक का;
थे भरे हुए भुजदण्ड असुर-कुल-दण्डक,
पर परिचय सबसे दूर देव-पालक का।

प्रतिपल चञ्चलता-लीन असंयत मन-सा,
निष्क्रिय रहना लगता उसको बन्धन-सा;
वह करता रहता नित्य चक्रित क्रीड़ाएँ
था भरा रहस्यों से वह सान्ध्य गगन-सा।

दुहराते कोकिल के स्वर को वन-पथ में
उसको मिलता था हर्ष प्रयत्न वितथ में;
करता गजपति को विमद, सिंह को श्रोत
वह घूम रहा था अपने मन के रथ में।

मुझसे सब अच्छे

— श्री घनश्यामदास विरला

मुझे सवेरे टहलने की आदत है। प्रातःकाल को शुद्ध हवा मनुष्यों को नया जीवन देती है। जब-जब मैं घरपर रहता हूँ, सवेरे का भ्रमण एक प्रकार का नियम-सा हो गया है। एक रोज सवेरे टहलने निकला तो वायु को परमार्थ-वृत्ति पर विचार करने लगा।

पश्चिमी हवा चल रही थी। मैंने सोचा, यह वायु कितने परिश्रम के बाद यहाँ पहुँची होगी। कहाँ से चली, कितना उपकार किया, इसका अन्दाजा कौन लगाये! भारत का पश्चिमी सागर यहाँ से करीब ६०० मील होगा, किन्तु इसके आगे अफ्रीका तक केवल निर्जन समुद्र ही समुद्र है। सम्भवतः उससे भी पश्चिम और पश्चिमतः के प्रदेशों, पहाड़ियों, नदियों, समुद्रों, मनुष्यों, जीव-जन्तुओं को जीवन देती हुई यह वायु यहाँ पहुँची होगी, और अब यहाँ के लोगों को सुख देती हुई, अपने कर्तव्य-पालन के लिए, शान्त भाव से पूर्व प्रदेशों की ओर अग्रसर होगी।

मैंने सोचा, यह हवा इतनी सेवा करती है, फिर भी अखबारों में इसकी चर्चा क्यों नहीं होती! हवा से मैंने कहा—“हवा, तुम संसार का इतना उपकार करती हो, किन्तु तुम्हारी सेवा को खबर में अखबारों में तो कभी नहीं पढ़ता! तुमको चाहिए कि जो थोड़ी-सी बात करो, उसको बढ़ा-चढ़ाकर अखबारों में छपा दिया करो।” हवा ने कहा—“कोन-सा अखबार अच्छा है?” मैंने कहा—“हिन्दी-अंग्रेजी के बहुत से अखबार हैं। सभी में अपनी प्रशंसा छपाया करो।” हवा ने पूछा, “क्या सूर्यलोक एवं चन्द्रलोक में भी तुम्हारे यहाँ के अखबार जाते हैं?” मैंने कहा—“वहाँ तो

नहीं जाते।”

हवा ने मेरी मूर्खता पर हँस दिया और कहा—“तुम पक्के कूप-मण्डूक हो, तुम्हारे लिए थोड़े-से लोग ही ब्रह्माण्ड हैं। मैंने तो प्राणि-मात्र की सेवा का व्रत ले रक्खा है, और मेरा अखबार है मेरे ईश्वर का हृदय। वहाँ सब खबरें अपने-आप पहुँचती हैं—भलो-बुरो सभी बातें वहाँ छपती रहती हैं। किसी बात का वहाँ पक्षपात नहीं। किसी के कहने से वहाँ कोई खबर नहीं छपी जाती। सच्ची खबरें वहाँ स्वयं छप जाती हैं। मैं तुम्हारी तरह मूर्ख नहीं, जो विज्ञापनबाजी की दलदल में फँस जाऊँ। निःस्वार्थ भाव से प्राणि-मात्र की सेवा करना, यही मेरा धर्म है और मेरे स्वामी को भी यही प्रिय है। अच्छा हो, तुम भी मेरा अनुकरण करो।”



लेखक

हवा की यह स्पष्टोक्ति मुझे बड़ी बुरी लगी। मैं, और हवा जैसी जड़-वस्तु का अनुकरण कलें! मन में आया कि एक व्याख्यान ही शाड़ू हूँ। अखबारों में तो उसका अतिरंजित विवरण छप ही जायगा। किन्तु हवा को तो “लगन लागी प्रभु पावन की,” उसे मेरा व्याख्यान सुनने की फुरसत कहीं! वह तो ‘कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्’ गाती हुई शीघ्रता से चल निकली।

तब मैंने अपना सारा गुस्सा एक ऊँट पर उतार दिया। बात यह हुई कि रास्ते में एक ऊँट महाशय अपनी थकान उतारने के लिए हाथ-पांव पीट-पीटकर धूल उछाल रहे थे। मैंने गर्द से तंग आकर, क्रोध में, ऊँट से कहा—“तुम बड़े गँवार हो, जरा भी तमीज नहीं। पशु जो ठहरे! हम लोग जिन रास्तों से होकर निकलते हैं, उनमें गरीब मनुष्य

भी किनारे खड़े होकर झुककर हमें प्रणाम किया करते हैं। हम जब-जब टहलने जाते हैं तब-तब हमारे लठैत नौकर रास्ते में चलनेवालों का नाकौदम कर देते हैं। तुमने हमें झुककर प्रणाम करना तो दूर रहा, उल्टे घूल उछालना शुरू कर दिया ! इसीसे मालूम होता है कि तुम गैवार हो और घृष्ट भी ।”

इस पर ऊँट ने अपना व्यायाम करना तो बन्द कर दिया, पर वह मेरी बात सुनकर खिल-खिलाकर हँस पड़ा। बोला—“तुम मूर्ख तो हो ही, अभिमानी भी हो। अभी तो तुम पवन को उपदेश देने की घृष्टता कर रहे थे। पवन तो आदर्श सेवक है, ईश्वर-भक्त है, उसने तुम्हें कुछ नहीं कहा, किन्तु मुझे उपदेश देने की घृष्टता मत करना ! बस, यह समझ लो कि मुझसे तुम बहुत गये-बीते हो ।” मैंने कहा—“ऊँट, तू पशु होकर मनुष्य को उपदेश देने चला है ! मुझे तेरी बुद्धि पर तरस आता है ।” ऊँट की मुझाकृति गम्भीर हो उठी, आँखों में तेज चमकने लगा। अपने नथनों को फटकार कर उसने कहा, “क्या केवल मनुष्य-देह मिलने से ही मनुष्य अपने को मनुष्य कहने का अधिकारी हो जाता है ? क्या औरंगजेब, नादिरशाह, महमूद गजनी, हत्यारा अब्दुरशीद या कंस, दुर्योधन और ऐसे-ऐसे अनेक अपने को मनुष्य कहने के अधिकारी हो सकते हैं ? और उन्हें मनुष्य-देह मिल गई, इसी बित्ते पर क्या वे अपने को हम पशुओं से ऊँचा समझते हैं ? यदि तुम भी ऐसा मानते हो तो तुम्हारी बुद्धि को हजार बार चिक्कार है :”

मैं कुछ ठण्डा पड़ गया। मैंने कहा—“भाई ऊँट, उन पापी मनुष्यों की बात न करो। वे नर-राक्षस थे, किन्तु मैं तो ऐसा नहीं हूँ। मैं तो अपने लिए कह सकता हूँ कि अपनी समझ में, मैं तुमसे कहीं अच्छा हूँ।” ऊँट फिर हँस पड़ा। कहने लगा, “अच्छा, जरा बता तो दो, तुममें मुझसे कौन-सी अच्छी बात है ?”

मैं सोचने लगा, क्या बताऊँ ? आखिर मुझमें कौन-कौन-सी अच्छी बातें हैं, जिनका मैं गर्व कर सकूँ ? अत्यन्त साहस करके मैंने दबी जबान से कहा, “अच्छा तो देखो, तुम जानते हो मैं त्यागी लोगों से कितना प्रेम करता हूँ, खादी पहनता हूँ, यह क्या कुछ कम है ?” ऊँट ने गर्व के साथ कहा, “इसमें गर्व करने की क्या बात है ? मुझे देखो, मैं तो कुछ भी नहीं पहनता ।” मैंने कहा, “और सुनो, मैं भोजन भी सादा करता हूँ, मिर्च-मसाले नहीं खाता ।” ऊँट

ने कहा, “अच्छा त्याग किया ! मुझे तो देखो, केवल सूखी पत्तियाँ चबाकर रह जाता हूँ ।” मैंने कहा, “मैंने तो गृहस्थाश्रम का भी त्याग कर दिया है ।” ऊँट ने कहा, “क्यों झूठा अभिमान करते हो ? मैंने तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश ही नहीं किया, सो मैं तो बाल-ब्रह्मचारी हूँ ।” मैंने कहा, “मुझमें ईर्ष्या-द्वेष अधिक नहीं, झूठ बहुत कम बोलता हूँ, सो भी अनजान में, रोष भी कम आता है ।” ऊँट ने कहा, “इसमें कौन-सी बड़ाई की बात है ? मुझमें न ईर्ष्या है, न द्वेष, और न क्रोध, झूठ तो जीवन में कभी बोला ही नहीं ।”

मैंने कहा, “मुझमें सेवावृत्ति है ।” ऊँट ने कहा, “इसका नमूना तो हम रोज देखते हैं। कल एक पीला बछड़ा रो रहा था, क्योंकि उसकी माँ का दूध नित्य-प्रति तुम पी लेते हो। बछड़ा तृण खाकर जीवन-निर्वाह करता है। उस दिन, सुनते हैं, तुमने एक घोड़े को भी दौड़ करा-कर मार डाला। शहर के तमाम घोड़ों में इस बात की चर्चा थी। उनको एक विराट् सभा हुई थी, उसमें मृतक के प्रति सहानुभूति और तुम्हारे प्रति घृणा-सूचक प्रस्ताव भी पास किये गये थे। न मालूम इस प्रकार तुमने कितने ऊँट, घोड़े और बैलों को कष्ट दिया है। कितने पशुओं को लँगड़ा किया है। कितनों को अपनी मोटर के धक्कों से गिराया है। अच्छा सेवा का दम भरने चले हो ! मुझे देखो, न कपड़े पहनता हूँ और न जिल्हा-स्वाद का नाम-मात्र भी सम्बन्ध है। केवल सूखे तृण खाता हूँ, फिर भी बेंत, कोड़े और ठोकरें खाता हुआ नम्रतापूर्वक तुम लोगों की सेवा करता हूँ। इसी को सेवा-व्रत कहते हैं। तुम लोगों से सेवा कैसे सम्भव है ? पहनने के लिए तुमको कीमती वस्त्र चाहिए, खाने के लिए सुस्वादु भोजन, सेवा के लिए नौकर, रहने के लिए महल, टहलने के लिए अच्छे वाहन या मोटर, सफर करते हो तो मनों सामान एवं सुख-सुविधा की सामग्रियाँ साथ चलती हैं और तुम्हारे लिए बोझ ढोना पड़ता है हमको। अकाल पड़ता है तो हम लोग भूखों मरते हैं, पीने को पानी नहीं मिलता, किन्तु तुम्हारे बगीचों की फुलवारी को सरसब्ज रखने में ही गाँव के अनेक बैलों की शान्ति नष्ट हो जाती है। हम लोग प्रायः ब्रह्मचारी रहते हैं, किन्तु सुनते हैं, तुम्हारा मनुष्य-समाज इसमें बड़ा पतित है ! शर्म की बात है कि इस पर भी तुम अपने को हमसे श्रेष्ठ समझो !”

[शेष पृष्ठ २६ पर]

भागवतामृत (प्रवचन-संकलन)

लोकोपकारी कार्यों में निरत श्री लक्ष्मीनिवास बिरला ने सं. २०३७ वैक्रम में आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से पूर्णिमा तक श्री स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज के श्रीमद्भागवत पर प्रवचन कराने का दिल्ली के श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर-वाटिका में आयोजन किया था। उन प्रवचनों का संग्रह ही प्रस्तुत पुस्तक 'भागवतामृत' के नाम से श्री बिरलाजी के लागत मूल्य पर प्रकाशित कराया है।

स्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज धार्मिक और सांस्कृतिक गहनतम विषयों को सरलतम शैली में समझाने के लिए भारतीय विद्वानों और महात्माओं में अन्यतम हैं। इस बात के साक्ष्य उनके बम्बई के नियमित श्रोता तो हैं ही कलकत्ता, दिल्ली, काशी आदि नगरों के भी श्रोता हैं। स्वामृत तथा बहुश्रुत दृष्टान्तों के द्वारा उनकी शैली रोचक तो होती ही है, इससे अधिक वह कठिन विषयों को हृदयंगम बनाने में सहायक भी होती है।

'भागवतामृत' प्रवचनों के उपलक्ष्य में आभार-ज्ञापन करते हुए श्री लक्ष्मीनिवास बिरला ने बहुत ही ठीक कहा है कि "राजा परीक्षित को निमित्त बनाकर परमहंस शुक्देव ने जैसे मानवमात्र को भागवत तत्त्व का उपदेश दिया था, उसी प्रकार पूज्य स्वामीजी ने हम सब श्रोताओं की भगवद्-भक्ति का और साथ-साथ अद्वैतानन्द का रसपान कराया है। अद्वैत और द्वैत का, निराकार और साकार का अद्भुत विवेचन और समन्वय इतना सुन्दर और कहीं सुनने को मिलेगा। ज्ञान और भक्ति तथा स्वामृत के दिव्य रस में डुबो-डुबोकर स्वामीजी ने ये अनूठे प्रवचन किये हैं। इन प्रवचनों द्वारा जो भागवत-रस की आनन्द-वर्षा स्वामीजी

ने की है, उसे जो श्रोता जितना चाहे अपने हृदय-पात्र में भर सकता है।"

स्वामीजी ने अपने प्रवचनों की प्रस्तावना में ही श्रोताओं का चंचल मन भागवत-रस में ऐसा निमज्जित करा दिया कि वह और कहीं जा ही नहीं सकता, वही चंचल मन जिसका नियन्त्रण वायु के नियन्त्रण से भी अधिक दुष्कर है। आपने श्रोताओं को सप्रमाण बता दिया कि "भक्त लोग श्री कृष्णावतार के समय अपने नेत्रों और अन्य समग्र इन्द्रियों के द्वारा जिस रस का आस्वादन करते हैं, वही रस आज भी हम श्रीमद्भागवत के श्रवण द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। वह सुख परीक्षा का विषय नहीं प्रत्यक्ष का विषय है, क्योंकि भगवान् कहीं परलोक में नहीं गये, अन्तर्धान नहीं हुए, श्रीमद्भागवत के रूप में स्वयं प्रकट हैं।

विरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम् ।

तेनेयं बाह्मयो मूर्तिः प्रत्यक्षं वर्तते हरेः ॥

निःसन्देह 'भागवतामृत' को पढ़कर पाठकों को ऐसी अनुभूति होगी कि लीलापुष्पोत्तम भगवान् कृष्ण अपनी सम्पूर्ण लीलाओं के साथ हमारे समक्ष उपस्थित हैं। सच-मुच भागवतामृत संकलन पूज्य स्वामीजी की प्रवचनमाला से सुमेरु है जैसे अष्टादश पुराणों के साथ श्रीमद्भागवत।

संग्रहीत प्रवचनों को टेप द्वारा लिपिबद्ध कर सर्वजन-सुलभ बनाया है विदुषी श्रीमती सतीशबाला महेन्द्र लाल जेठी ने। एतदर्थ वे साधुवाद की अधिकारिणी हैं।

— अ. ना. घर द्विवेदी



प्रवचनकर्ता—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज

संकलनकर्त्री—श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी

प्रकाशक—श्री सीताराम भण्डार, नई दिल्ली-१

प्राप्तिस्थान—सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट, विपुल २८।१६, बी. जी. खेर मार्ग, बम्बई-६

साइज—डिमाई अठपेजी, पृष्ठ संख्या ४२६, मूल्य पन्द्रह रुपये।

While purchasing Hessian, Sacking, Carpet Backing and other Jute products and cotton yarn, please insist on quality production.

We are always ready to meet the exact type of your requirement.

Kanoria Jute Cotton Mills Limited

4/1, Red Cross Place

Calcutta-700001

Phone : 23-2397/98
23-7197

Telex : 021-2196
Cable : KAYJUTE,
Calcutta.



JUTE MILL

Kanoria Jute Mill,
Sijberia, P. O. Uluberia,
Dist. Howrah (West Bengal)

SPINNING MILL

Shree Hanuman Cotton Mills
Fuleshwar, P. O. Uluberia, Dist. Howrah (West Bengal)

श्री दत्तात्रेय-जयन्ती

भारत के पौराणिक इतिहास में दत्तात्रेय अपनी बहुज्ञता के लिए प्रख्यात हैं। दत्तात्रेय के तीन सिर और छह भुजाएँ मानी गयी हैं। उन्हें ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों देवताओं की संयुक्त मूर्ति भी मानते हैं। उनका जन्मोत्सव मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी को नीचे लिखी कथा कहकर मनाया जाता है—

एक समय ब्रह्मा की स्त्री सावित्री, विष्णु की लक्ष्मी और शिव की पार्वती को अपने-अपने पातिव्रत और सद्गुणों पर गर्व हो गया। नारद से यह अभिमान भला कब देखा जाता? उन्होंने शत पार्वती के पास जाकर कहा कि मैं संसार भर में भ्रमण करता हूँ, किन्तु अत्रि मुनि की स्त्री अनसूया के समान पतिव्रता और सद्गुण-सम्पन्न स्त्री मैंने कहीं नहीं देखी। यह सुनकर पार्वती को ईर्ष्या हुई। नारदजी के विदा होते ही उन्होंने शिवजी से अनसूया का व्रत भंग कर देने की प्रार्थना की।

पार्वती से विदा लेकर नारदजी ब्रह्मलोक गये और वहाँ भी सावित्री से अनसूया की प्रशंसा की। उन्हें भी यह बात नहीं भाई और उन्होंने ब्रह्माजी से अनसूया का चरित्र डिगा देने का आग्रह किया।

ब्रह्मलोक से चलकर नारदजी विष्णुलोक पहुँचे। वहाँ भी उन्होंने लक्ष्मी के सामने अनसूया की प्रशंसा के पुल बाँध दिये। फल यह हुआ कि लक्ष्मी ने भी विष्णु से कहा कि जिस प्रकार हो, आप अनसूया का पातिव्रत भंग कर दें।

संयोग-वश तीनों देवता एक ही समय अनसूया की कीर्ति नष्ट करने के लिए अत्रि मुनि की कुटी के पास पहुँचे। भिक्षुकों के वेश में जाकर उन्होंने अनसूया से भिक्षा माँगी। अनसूया जब भिक्षा देने आयी तब उन्होंने कहा कि हम तो भिक्षा न लेकर इच्छानुसार भोजन करेंगे। अनसूया ने स्वीकार कर लिया और कहा कि आप लोग नदी में स्नान करके आइये, तब तक मैं भोजन बना रखती हूँ। स्नान करके आने के बाद जब अनसूया ने उन्हें भोजन परोसा तब उन्होंने खाने से इन्कार कर दिया और कहा कि जब तक तुम हमारे सामने नग्न होकर भोजन न परोसोगी, तब तक

हम भोजन न करेंगे। यह सुनकर अनसूया पहले तो क्रुद्ध हुई, पर विचार करने पर अपने पातिव्रत के बल से उन्हें देवताओं के कपट की बात मालूम हो गयी। वह अपने पति अत्रि मुनि के पास गयी और उनका पैर धोकर वही जल देवताओं के ऊपर डाल दिया। उस जल के पड़ते ही तीनों देव बाल-रूप हो गये। तब अनसूया ने नग्न होकर उन्हें भरपेट दूध पिलाया और तीनों को पालने में झुलाने लगीं।

इधर जब बहुत दिन हो जाने पर तीनों देवता वापस न आये, तब उनकी स्त्रियाँ चिन्तित हुईं। अकस्मात् तीनों की भेंट नारदजी से हो गयी। उन्होंने अपने पतियों का पता नारद से पूछा। नारद ने कहा कि एक दिन मैंने उन तीनों को अत्रि मुनि के आश्रम की ओर जाते देखा था।

तीनों स्त्रियाँ अत्रि मुनि के आश्रम पर पहुँचीं और उन्होंने अनसूया से पूछा कि यहाँ हमारे पति आये थे? अनसूया ने पालने की ओर इशारा करके कहा कि वे ही तुम्हारे पति हैं। अपने-अपने भर्ता को पहचान लो। तीनों बच्चे एक समान थे। लक्ष्मी ने ध्यान-पूर्वक देखा और एक बच्चे को विष्णु समझकर उठा लिया, किन्तु वह शिव निकले। इस पर लक्ष्मी का बड़ा उपहास हुआ।

यह दशा देख लक्ष्मी, पार्वती और सावित्री ने अनसूया से हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि हमें अपने-अपने पति को अलग-अलग प्रदान करो। अनसूया ने कहा कि उन्होंने हमारा दूध पीया है, इसलिए वे हमारे बच्चे हैं और उन्हें हमारे बच्चे बनकर रहना पड़ेगा।

इस प्रकार तीनों देवताओं के संयुक्त अंश से एक मूर्ति बन गयी, जिसके तीन सिर और छह भुजाएँ थीं। इस प्रकार दत्तात्रेय का जन्म हुआ। इसके बाद अनसूया ने अपने पति के चरण धोये और वही जल उन बच्चों पर छोड़ दिया, जिससे तीनों देवताओं को पुनः अपना पूर्वरूप प्राप्त हो गया। प्रसिद्ध है कि दत्तात्रेय ने चौबीस गुरुओं से विविध प्रकार का ज्ञान प्राप्त किया था।

Kesoram Industries & Cotton Mills Limited

91, R. N. Mukherjee Road, Calcutta-700001

Manufacturers of Cotton Textiles & Piece Goods, Rayon Yarn, Transparent
Cellulose Film, Sulphric Acid, Carbon-di-Sulphide, Cast Iron Spun
Pipes & Fittings, Cement and Refractories etc.

Section :

Textile Section
Rayon & T. P. Sections
Spun Pipe Section
Cement Section
Refractory Section

Mills :

42, Garden Reach Road, Calcutta.
Tribeni, Dist : Hooghly.
Bansberia, Dist : Hooghly.
Basantnagar, Dist : Karimnagar (A.P.)
Kulti, Dist : Burdwan

व्रत और त्यौहार

नवम्बर मास

१. सूर्य षष्ठी कार्तिक शुक्ल	६	मंगलवार	३	नवम्बर
२. गोपाष्टमी	८	गुरुवार	५	"
३. प्रद्योधिनी एकादशी	११	रविवार	८	"
४. वैकुण्ठ चतुर्दशी	१४	मंगलवार	१०	"
५. भैरवाष्टमी मार्गशीर्ष कृ.	८	बुधवार	१८	"
६. उत्पन्ना एकादशी	११	रविवार	२२	"
७. सोम प्रदोष	१२	सोमवार	२३	"

दिसम्बर मास

१. श्री स्कन्द षष्ठी मार्गशीर्ष शु.	६	बुधवार	२	दिसम्बर
२. मोक्षदा एकादशी	११	सोमवार	७	"
३. श्री गीता जयन्ती	११	सोमवार	८	"
४. श्री दत्तात्रेय जयन्ती	१४	गुरुवार	१०	"
५. संकष्टी गणेशचतुर्थी पौष कृ.	३	सोमवार	१४	"
६. सरला एकादशी	११	मंगलवार	२२	"



साधु और कुत्ता

अर्धरात्रि की निस्तब्ध वेला में मार्ग से जा रहे साधु को देखकर कुत्ता जोर-जोर से भौंकने लगा। साधु रुका और तिरस्कार से बोला—‘अवगुणी, क्यों भौंकता है?’ कुत्ता पूछ बैठा—महाराज, आपने मुझे अवगुणी क्यों कहा?’ साधु ने उत्तर दिया—‘तू अर्धरात्रि में भौंककर स्वामी को जगाता है, मार्ग में सोता है और साधु को देखकर उसके पीछे भौंकने लगता है। क्या इतने अवगुण कम हैं?’

कुत्ता विनम्रता से बोला—‘रात में भौंककर स्वामी को इसलिए जगाता हूँ कि उसके जीवन और उसकी सम्पत्ति की रक्षा हो। राह में इसलिए सोता हूँ कि अनगिनत साधु-सन्त आते-जाते हैं, किसी की चरण-रंज मिल जाये तो मुझे भुक्ति मिले। साधु को देखकर इसलिए भौंकता हूँ कि वैराग्य स्वीकार करके भी वे घर-घर हाथ क्यों पसारते हैं? मैं उनसे पूछता हूँ—अगर तुम्हें ईश्वर पर विश्वास नहीं तो तुम साधु क्यों हुए? ईश्वर पर विश्वास है तो उसके नाम पर मनुष्य से क्यों मांगते हो?’

मुझ से सब अच्छे

[पृष्ठ २४ का शेषांश]

ऊँट की बात मेरे हृदय में चुभ गई। मुझे ग्लानि होने लगी। अन्तरात्मा कहने लगी, “मूर्ख, तू ऊँट से भी गया-बीता है।” पास में खड़े हुए करील के वृक्ष ने सिर हिलाकर कहा, “ऊँट सच कहता है।” तब मैंने कहा—“प्रभो, मुझे ऊँट जितना आत्म-बल दो!”

सहसा आकाश में बिजली चमकी। मेघ गरजा। सुनने वालों ने सुना। कहनेवालों ने कहा :

मो सम कौन कुटिल खल कामी !
जेहि तब दियो ताहि बिसरायो,
ऐसो निमकहरामी ।
मो सम कौन कुटिल खल कामी !

किसी ने कहा, कहनेवाला और सुननेवाला दोनों एक हैं। किसी ने कहा, यह अन्तर्निर्दिष्ट है। मैंने चिल्लाकर कहा, “मुझसे सब अच्छे हैं!”



Gram : KANHOPE

Telex : BTEA - CA - 2808

Phone : 26-0880/84.

Bengal Tea & Industries Ltd.

Regd. Office :

9, Brabourne Road, Calcutta 700001.

**A House of Quality Tea & Textile
Manufacturers & Exporters
Proprietors**



TEA GARDENS

Ananda Tea Estate

Pathalipam Tea Estate

Bordeobam Tea Estate

Mackeypore Tea Estate

Lakmijan Tea Estate

Pallorbund Tea Estate

Dooloogram Tea Estate

Poloi Tea Estate

(A S S A M)

TEXTILE MILL

Asarwa Mill

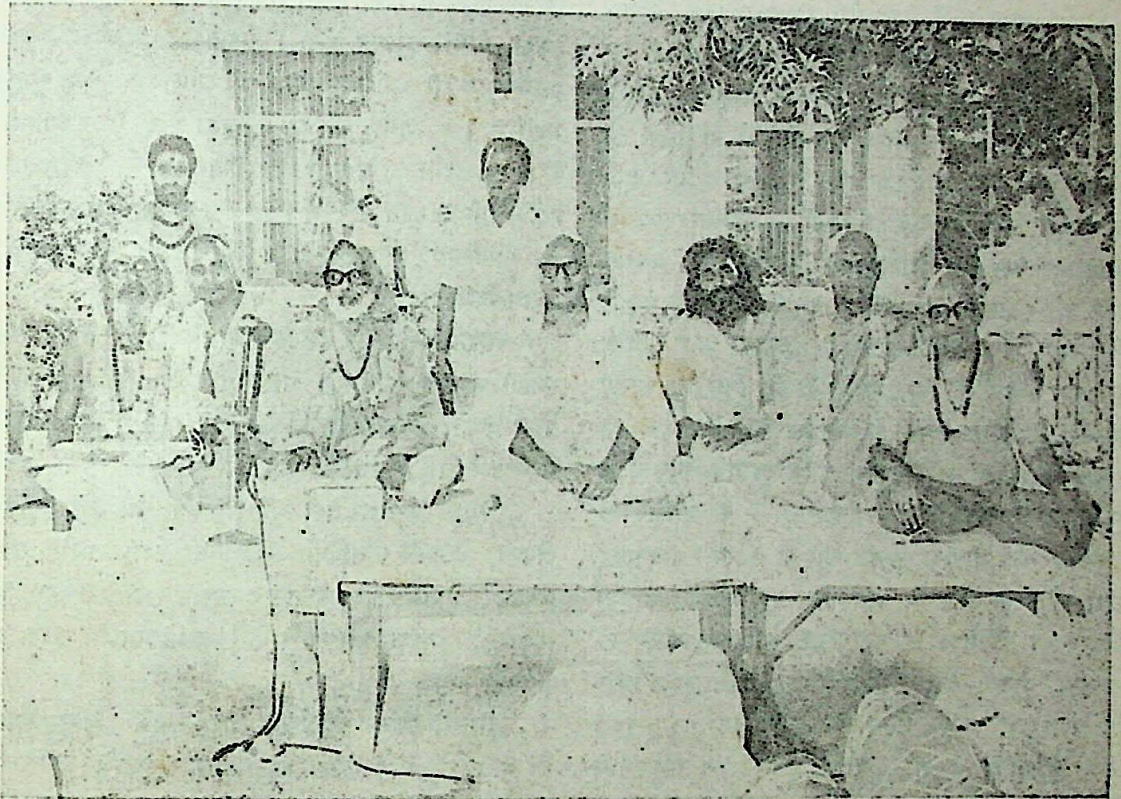
Asarwa Road, AHMEDABAD

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

स्वागत-समारोह

महामण्डलेस्वर श्री स्वामी शुक्रदेवानन्द तथा स्वामी श्री भजनानन्द सरस्वती ने लौकिक और पारलौकिक कल्याण के लिए दैवी सम्पद् महामण्डल की स्थापना की। उन्होंने देश के विभिन्न स्थानों पर इसकी शाखाएँ खोलीं। इसका प्रधान कार्यालय सुप्रसिद्ध परमार्थ निकेतन, स्वर्गाश्रम

लेखर स्वामी श्री भजनानन्द सरस्वती का आशीर्वाद प्राप्त कर श्री स्वामी सदानन्द सरस्वती, अध्यक्ष, परमार्थ निकेतन, ऋषिकेश और श्री स्वामी घर्मानन्द सरस्वती, अध्यक्ष, परमार्थ आश्रम, हरिद्वार के नेतृत्व में सदाचार प्रचार तीर्थ-यात्रा स्पेशल ट्रेन ने १४ अक्टूबर १९८१ को दिल्ली रेलवे स्टेशन से प्रस्थान किया जिसके लिए वृन्दावन के सुप्रसिद्ध



(बायें से) स्वामी श्री गणेश्वरानन्द तीर्थ, स्वामी श्री परिपूर्णानन्द, श्री जज स्वामी विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती, स्वामी श्री सदानन्द सरस्वती, स्वामी श्री भजनानन्द सरस्वती, स्वामी श्री सहजानन्द और स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती ।
(पीछे खड़े) स्वामी श्री अखण्डानन्द तीर्थ और श्री डी० एन० मेहता (व्यवस्थापक, मुमुक्षु भवन) ।

में स्थापित किया गया। इन महात्माओं ने दो-तीन तीर्थ-यात्रा स्पेशल ट्रेनों द्वारा भारत में तीर्थयात्रा और दैवी सम्पद् का प्रचार किया। आगे चलकर ऐसी ट्रेनों की उपयोगिता के कारण बड़ी माँग हुई। अतः इस वर्ष दैवी सम्पद् मण्डल, दिल्ली शाखा के तत्वावधान में महामण्ड-

स्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज ने शुभकामना प्रकट की तथा रेलमन्त्री श्री कैदार पांडेय ने औपचारिक रूप से रेलयात्रा का उद्घाटन किया। यह रेलगाड़ी १७ अक्टूबर को वाराणसी पहुँची। इस विशेष रेलगाड़ी द्वारा लगभग ५०० सन्त पुरुषों व भक्तों का समुदाय देश

के विभिन्न भागों में घूमकर जुलूसों तथा उत्सवों के माध्यम से जनमानस में पारस्परिक सद्भावनाओं व देव सम्पद् के सद्गुणों के विकास, चरित्र-निर्माण एवं राष्ट्रीय एकता की भावनाओं को जाग्रत् कर रहा है।

काशी मुमुक्षु भवन सभा ने सभी महात्माओं को भोजन और सत्संग के लिए आमन्त्रित किया किन्तु पूर्वनिश्चित कार्यक्रम तथा व्यस्तता के कारण सभा का आमन्त्रण स्वीकार कर कुछ प्रमुख महात्मा पधारे जिनके स्वागत और प्रवचन का प्रबन्ध सभा ने किया।

स्वागत समारोह की अध्यक्षता जजस्वामी श्री विपिन-चन्द्रानन्द सरस्वती ने की। ईश्वरमठाधीश स्वामी श्री गणेश्वरानन्द ने मंगलाचरण के पश्चात् कार्यक्रम का प्रारम्भ किया। श्री स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती ने अतिथियों का परिचय देते हुए स्वागत-भाषण किया। स्वामी गोविन्द हरि तथा स्वामी सहजानन्द के प्रवचनों के पश्चात् परमार्थ निकेतन ऋषिकेश तथा परमार्थधाम बदरीनाथ के अध्यक्ष स्वामी श्री सदानन्द सरस्वती ने प्रमुख अतिथि के रूप में उपदेश दिया कि यद्यपि सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म सत्य है और संसार मिथ्या है किन्तु ब्रह्मज्ञानी के लिए यह संसार ज्ञानस्वरूप ही है। स्वामीजी ने सदाचार का महत्त्व समझाते हुए आगे कहा कि सत्पुरुषों का सहज स्वभाव साधकों के लिए साध्य है एवं बिना सदाचार-पालन के लौकिक या पारलौकिक कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता। तदनन्तर अध्यक्ष श्री जजस्वामी ने कहा कि ब्रह्मज्ञान के पश्चात् व्यक्तित्व का अभिमान नहीं रह जाता, व्यक्तित्व मानव को परिच्छिन्न बनाता है किन्तु ज्ञान का साधन सभी परिच्छिन्नताओं को हटाकर जीव को अपरिच्छिन्न, सत् चित् आनन्द अद्वितीय का ज्ञान कराता है। किन्तु अनुभव के बिना ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं है। सच्चाई ज्ञात हो जाने पर अनुभव-हीनों की कलई बहुत जल्दी खुल जाती है।

अन्त में महात्माओं को धन्यवाद देते हुए श्री जज-

स्वामी ने कहा कि इतनी व्यस्तता के बावजूद आप लोग पधारे और अपने सद्विचारों से हमें लाभान्वित किया इसके लिए हम आपके आभारी हैं। उक्त अतिथि महात्माओं के अतिरिक्त परमार्थ आश्रम, हरद्वार के अध्यक्ष स्वामी श्री धर्मानन्द और वहीं के स्वामी श्री चिन्मयानन्द सरस्वती, और परमार्थ निकेतन, हरिद्वार के स्वामी श्री परिपूर्णानन्द की उपस्थिति उल्लेखनीय है। जलपान के पश्चात् स्वागत-समारोह सम्पन्न हुआ।

श्रीमहालक्ष्मी पूजन—प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी दीपावली के दिन काशी मुमुक्षु भवन सभा में श्रीमहा-लक्ष्मी पूजन सम्पन्न हुआ। वेदावेदांग महाविद्यालय के प्रधानाचार्य श्री राधेक्याम मिश्र के आचार्यत्व तथा मुमुक्षु-भवन सभा के मन्त्री श्रीपुरुषोत्तमदास मोदी के यजमानत्व में श्रीमहालक्ष्मी का षोडशोपचार पूजन, हवन, स्वस्तिवाचन आदि धार्मिक कृत्य परिपूर्ण हुए। तत्पश्चात् प्रसाद-वितरण के अतिरिक्त मुमुक्षु-भवन के कर्मचारियों को पुरस्कार प्रदान किया गया।

भण्डारा—ईश्वर मठ के संन्यासियों की भिक्षा के लिये स्थायी कोष के अतिरिक्त प्रतिमास उदार दानदाताओं के द्वारा भण्डारा दिया जाता है। अक्तूबर महीने में जिन दाताओं ने भण्डारे दिए हैं उनकी नामावली इस प्रकार है :—

श्रीमती इन्द्राणी देवी मुमुक्षु भवन, श्रीमती दुर्गादेवी खेमका, श्रीमती गीतादेवी खण्डेलवाल, श्री किशोरी लाल लक्कड़, ब्रह्मचारी, श्रीब्रह्म स्वरूप, श्री प्रतापनारायण तिवारी, श्रीमती रामप्यारी देवी खण्डेलवाल और श्री भगवती बाबू।

होमयोपैथिक चिकित्सालय—स्व० श्रीरामकुमार जी भुवालका के भुवालका जन-कल्याण ट्रस्ट के सहयोग से मुमुक्षु भवन के होमियोपैथिक चिकित्सालय में ५३४ नये तथा २७४१ पुराने कुल मिलाकर ३२७५ रोगियों की चिकित्सा अक्तूबर महीने में की गई।

□

“सारे धर्म मूल में एक ही हैं, यद्यपि वे पेड़ के पत्तों की तरह विस्तार और बाह्य रूप से एक दूसरे से अलग हैं। कोई भी दो पत्ते एक से नहीं होते। फिर भी वे आपस में नहीं लड़ते, बल्कि हवा में साथ-साथ खुशी से नाचते हैं और एक साथ मिलकर मधुर संगीत रचाते हैं।”

— महात्मा गांधी

The Shankar Agro Industries Limited

Manufacturers of

Best Quality

WHITE CRYSTAL SUGAR



Mills at :

P. O. CAPTAINGANJ

Dist. Deoria (U.P.)

Phone : 26

Gram : SUGAR

Captainganj (Deoria)

Registered Office :

9, Brabourne Rd. (6th flr.)

CALCUTTA-700001

Phone : 26-7385 (4 Lines)

Gram : CHINIMIL

Telex : CALCUTTA 7611

WE ALSO MANUFACTURE WHITE CRYSTAL SUGAR FOR EXPORT

The Reliance Jute & Industries Limited

9, Brabourne Road

CALCUTTA - 700001

Phone : 26-7385 (4 Lines)

Gram : Reltrade

Telen : 7611 Rely, Calcutta



Proprietors of :

Reliance Jute Mills

Bhatpara, 24 - Parganas (W. B.)

Manufacturers of

Jute Goods (Hessian, Sacking,
Carpet Backing & Jute Specialities)

Keshari Steels

New Industrial Area,

Bombay - Agra Road, Dewas - 455001 (M. P.)

Manufacturers of Steel Rods & Bars

Licencees :

Pratappur Sugar Mills

P. O. Pratappur, Dist. Deoria (U. P.)

Manufacturers of Sugar



We specialize in

Decorative Jute Fabrics

For export as well as for local market

Ideally useful for

Furnishings, Wall Coverings

Hand, Shoulder, Shopping & School Bags

Ladies Hand Bags

Lamp Shades

Table Mats

Bed Covers

Shoe Uppers

and Innumerable other consumer items.



Distributors all over India

श्री पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित और काशी मुमुक्षु भवन समा के लिए प्रकाशित,

एवं सन्मति मद्रासालय, वाराणसी में मुद्रित ।



आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक मासिक

दिसम्बर १९८१

काशी मुमुक्षु भवन सभा, वाराणसी

पाठकों की प्रतिक्रिया

‘मुमुक्षु’ मासिक पत्र का प्रथमांक प्राप्त हुआ । आनन्द हुआ । धन्यवाद ।

—महाबल भट्ट

मंत्री,

द्वारका
(सोराष्ट्र)

श्रीजगद्गुरु शंकराचार्य श्री शारदापीठ,

‘मुमुक्षु’ पत्रिका के दो अंक मिले । प्रथम अंक से दूसरे अंक में कुछ विशिष्ट ढंग के लेख प्रकाशित हुए हैं । इसमें संस्कृत के विद्वानों के लेख आने से पत्रिका का महत्त्व इसलिए बढ़ गया है कि ‘मुमुक्षु’ को अपनी साधना का स्वरूप संस्कृत भाषा ही से प्राप्त हो सकता है । इसमें पंडित-प्रवर आदरणीय दातार जी के लेख से ‘मानस’ पर एक नवीन दृष्टि हिन्दी जगत् को प्राप्त होगी । आशा है, यह पत्रिका उत्तरोत्तर विशिष्टता ग्रहण करती जायगी । मुख पृष्ठ का प्रतीक अत्यन्त जटिल है । इसे और भी आकर्षक बनाने की आवश्यकता है । लेखों को स्तम्भों के रूप में क्रमशः प्रकाशित करना अच्छा होगा । जैसे मोक्षसाधन-स्तम्भ, भक्ति स्तम्भ आदि ।

—प्रद्युम्न पाण्डेय

भोसला मन्दिर
वाराणसी

भू० पू० प्रकाशन और पुस्तकालय-अधिकारी,
काशी नागरी-प्रचारिणी सभा

काशी मुमुक्षु भवन सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित ‘मुमुक्षु’ का अक्टूबर १९८१ का प्रथम अंक प्राप्त हुआ । इसके लिए बहुत-बहुत धन्यवाद । हमने इस अंक को देखा एवं पढ़ा । यह बहुत ही सुन्दर अंक प्रकाशित हुआ है । इसके माध्यम से लोगों को सन्तों की वाणी सुनने एवं देखने का अवसर प्राप्त होगा । हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि इसी प्रकार भविष्य में भी सन्तों की वाणी सुनने एवं देखने का अवसर प्राप्त होता रहेगा ।

साहेबगंज
गोरखपुर

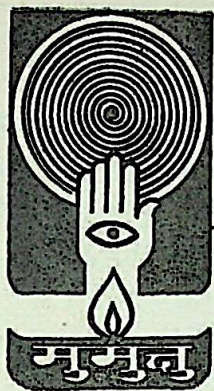
—रामदास जालान

न्यासी, गीता प्रेस

‘मुमुक्षु’ का प्रथम अंक मिला । प्रसन्नता हुई । आज के युग में इस प्रकार की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पत्र-पत्रिकाओं की विशेष आवश्यकता है । प्रथम प्रयास के रूप में पत्रिका सराहनीय रूप में हमारे सामने आयी है । इस सराहनीय प्रयास की सफलता की शुभ कामनाओं के साथ—

महाराज बिल्डिंग
१२५, गिरगांव रोड, बम्बई ४

—हरिशंकर
सम्पादक, हिन्दी शिक्षक



आध्यात्मिक
तथा
सांस्कृतिक
मासिक

वर्ष १ : अंक ३
दिसम्बर १९८१



प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी



वार्षिक : पन्द्रह रुपए
एक अंक : डेढ़ रुपया

वन्दना

तनीयांसं पांसुं तव चरणपङ्केरुहभवं
विरञ्चिः संचिन्वन्विरचयति लोकानविकलम् ।
वहत्येनं शौरिः कथमपि सहस्रेण गिरसां
हरः संक्षुद्येनं भजति भसितोद्भूलनविधिम् ॥

— आद्य शंकराचार्य

हे मां, तेरे चरण-कमल से उत्पन्न होनेवाले छोटे से एक रजकण को चुनकर ब्रह्मा बिना विकलता के लोक-लोकान्तरों की रचना करते रहते हैं, शेषनाग उसको किसी प्रकार बड़े परिश्रम से सहस्र शिरों पर उठाकर धारण कर रहे हैं और शिवजी उसकी भस्म बनाकर अंग पर लगाते हैं।

लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम् ।

यः स्वात्मयुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्य सा गुहात् ॥

— विवेकचूडामणि

किसी प्रकार इस दुर्लभ-मनुष्य जन्म को पाकर और उसमें भी जिसमें श्रुति के सिद्धान्त का ज्ञान होता है ऐसा पुरुषत्व पाकर जो मूढबुद्धि अपनी आत्मा की मुक्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता, वह निश्चय ही अपने को नष्ट करता है।

विषय	पृष्ठ
वन्दना	१
काश्यां मरणान्मुक्तिः — सम्पादकीय	५
‘ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः’ : का नमाधान — स्वात्माराम	४
शरणागति— स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती	५
श्रीमाता का मन्दिर—स्व० पं० गोपीनाथ कविराज	९
रामचरित मानस की कसौटी—न्याय और मीमांसा — पं० विश्वनाथ शास्त्री दातार	११
जगद्गुरु शंकराचार्य — अ० ना० घर द्विवेदी	१५
काशी मुमुक्षु भवन के उद्धारक स्व० रामेश्वरलालजी नोपानी — श्री पुरुषोत्तमदास मोदी	१७
विभिन्न धर्मों में मोक्ष की धारणा — डॉ० श्रीमती अरुणा बनर्जी	१९
काशी का वैभव और भगवन्नाम जप — पूज्य श्री डोंगरेजी महाराज	२५
हमारे उपविषद् — श्रीमती राज खोसला	२७
पुस्तक-समीक्षा	२९
काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार	३१

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से सम्पादक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

लेखकों से—‘मुमुक्षु’ में प्रायः धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रचनाएँ ही प्रकाशित की जाती हैं। ये रचनाएँ साहित्य की किसी भी विधा में हो सकती हैं। अतः लेखकों से निवेदन है कि वे अपने पास प्रतिलिपि रखकर ऐसी ही रचनाएँ भेजें। अस्वीकृत रचनाओं को लौटाने में हम असमर्थ हैं। स्वीकृत रचनाओं की सूचना पन्द्रह दिनों के भीतर भेज दी जाती है।—सम्पादक

एक बार राजा भोज और पण्डित-प्रवर माघ उज्जयिनी से बहुत दूर जा निकले। भटकते-भटकते एक झोंपड़ी के पास पहुँच गये। झोंपड़ी की स्वामिनी—एक वृद्धा—से उन्होंने पूछा—“माँ ! यह रास्ता कहाँ जाता है ?”

वृद्धा दोनों व्यक्तियों को ध्यानपूर्वक देखती हुई बोली—“यह रास्ता तो कहीं नहीं जाता। हाँ, इस पर लोग आया-जाया करते हैं। आप लोग कौन हैं ?”

माघ बोले—“हम यात्री हैं।”

“यात्री ?” वृद्धा बोली—“यात्री तो सिर्फ दो हैं—सूर्य और चन्द्र। आप कैसे यात्री हुए ? सच-सच बताइये, आप लोग कौन हैं ?”

“हम क्षणभंगुर मनुष्य हैं।” माघ ने सतर्कता से कहा।

“क्षणभंगुर मनुष्य ? संसार में क्षणभंगुर तो बस, दो ही वस्तुएँ हैं—यौवन और धन !”

माघ कुछ पराजित दीख पड़े। फिर भी बोले—“हम राजा हैं।”

“राजा भी सिर्फ दो हैं”—वृद्धा ने कहा—“इन्द्र और यम ! आप राजा कैसे ?”

माघ अब संभलकर बोले—“हम क्षमावान् हैं।”

“भाई ! क्षमावान् तो एक पृथ्वी है, दूसरी नारी ! और, आप लोग इन दोनों में से कोई नहीं हैं।”

माघ कुछ घबड़ाये। फिर संयत स्वर में बोले—“हम परदेशी हैं।”

“असम्भव ! परदेशी सिर्फ दो हैं—एक जीवन, दूसरा वृक्ष के पत्ते।”

राजा भोज और माघ ने पूर्ण पराजय स्वीकार करते हुए कहा—“माँ ! हम हार गये।”

वृद्धा ने इसे भी स्वीकार नहीं किया। बोली—“हारे हुए व्यक्ति सिर्फ दो हैं—एक कर्जदार, दूसरा कन्या का पिता। सच-सच बताइये, आप लोग कौन हैं ?”

राजा भोज और माघ पण्डित लज्जित भाव से चुप खड़े रहे।

वृद्धा अब मुस्करायी—“आप राजा भोज हैं और आप पण्डित माघ !...यह राह सीधी उज्जयिनी जाती है।”

काश्यां मरणान्मुक्तिः

‘मुमुक्षु’ के प्रस्तुत अंक में आचार्य पं. सीताराम चतुर्वेदी का ‘स्वात्माराम’ नाम से ऋते ज्ञानान्तमुक्तिः शीर्षक लेख प्रकाशित किया जा रहा है जिसमें विद्वान् लेखक ने ‘काशी’ और ‘मरण’ शब्दों की नई व्याख्या की है जिसके अनुसार सिद्ध किया गया है कि काश्यां मरणान्मुक्तिः का अर्थ ब्रह्मलीन होना है। जहाँ तक व्याख्या का सम्बन्ध है उसे कोई गलत नहीं साबित कर सकता। किन्तु शाब्द-प्रामाण्य (वेद, पुराण, इतिहास), आस वचन और परम्परा द्वारा प्राप्त ज्ञान (जानकारी) के द्वारा यही पता चलता है कि मनुष्य ही नहीं पशुओं को भी काशी में प्राण-त्याग करने से शिवसायुज्य (मुक्ति) प्राप्त हो जाता है।

आधुनिक सन्दर्भ में विचारणीय यह है कि काशी में प्राण-त्याग करने से मुक्ति मिलती है, इस श्रुतिवचन का क्या वैसे ही दुरुपयोग नहीं हो रहा है जैसे ईसामसीह को बरगलाने के लिए शैतान ने शास्त्र का उद्धरण दिया था। इस श्रुति-वचन को प्रमाण मानकर बहुत से पापी मुक्तिकामी बन गये हैं कि काशी में मरने से मुक्ति तो मिल ही जायगी फिर धर्माचरण क्यों?

शास्त्र के अनुसार केदारेश्वर के अन्तर्गृह में (पूर्व में गंगा के अर्ध भाग, दक्षिण में लोलार्क, नैऋत्य कोण में शंखोद्धार तीर्थ, पश्चिम में वैद्यनाथ, वायव्य कोण में लक्ष्मी कुण्ड, उत्तर में शूलटकेश्वर तथा ईशान कोण एवं आग्नेय कोण में आधे कोस तक) मरने पर भैरवी यातना भी नहीं भोगनी पड़ती और तत्काल मुक्ति मिल जाती है। अतः बहुत से लोग ऐसे हैं जो भैरवी यातना से बचने के लिए श्रीकेदारेश्वर के अन्तर्गृह में इसलिए बस गये हैं कि बिना भैरवी यातना भोगे उन्हें मुक्ति मिल जाय। अपने धर्माचरण और कर्त्तव्य के आधार पर स्वर्ग या मुक्ति मिलेगी, इसका उन्हें कतई विश्वास नहीं है।

श्रुति-वचन के दुरुपयोग के अतिरिक्त यह भी प्रश्न उठ सकता है कि यदि काशी में मरण मात्र से मुक्ति मिल जाती है तो मुमुक्षुओं या काशीवास करने वालोंकी दिनचर्या शास्त्रों में इतनी कठोर तपसाध्य क्यों बतायी गयी है। (यह एक स्वतन्त्र लेख का विषय है) वस्तुतः परिवार से विरक्त होकर जहाँ काशी में साधु-संग द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए वहाँ काशीवास करने वाले यहाँ आकर परिवार बसा लेते हैं और मुमुक्षु साधु-महात्मा भी नानाविध प्रपंचों को काशी में भी नहीं छोड़ पाते हैं। पचास वर्ष पहले काशी-वासियों में गंगाजी के प्रति जो पूज्य देवभावना थी क्या आज भी वैसे ही है? कुछ वर्षों पहले काशी में दो सौ अग्निहोत्री थे अब उनकी संख्या मात्र दो रह गयी है। हाँ, कुछ ऐसे लोग भी हैं जो काशीवास की कठोर दिनचर्या का नियमित रूप से पालन करते हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि कुछ दिनों के बाद ऐसे नैष्ठिक काशीवासियों का भी अस्तित्व समाप्त हो जायगा।

इसलिए निवेदन इतना ही है कि उक्त श्रुतिवचन का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए अन्यथा अन्य विचारकों के मन में यह बात बैठ जायगी कि “जिस वाराणसी में टोले-टोले में सिनेमा घर खुल गये हों, संस्कृत के पण्डितों के पुत्र अँगरेजी पढ़ते हों, जहाँ शिखा-सूत्र का बहिष्कार हो रहा हो, संन्यासी और मुमुक्षु लोग रेडियो सुनते और समाचारपत्र पढ़ते हों और अध्यात्म चिन्तन के बढे राजनीति की चर्चा करते हों वहाँ मोक्ष की बात नितान्त असंगत है।”

अतः वाराणसी को काशी का गौरव पुनः प्राप्त करना होगा और तभी काश्यां मरणान्मुक्तिः और ऋते ज्ञानान्तमुक्तिः का शास्त्रप्रामाण्य और तर्क के आधार पर समन्वय किया जा सकेगा।



‘ऋते ज्ञानान् मुक्तिः’ का समाधान

— स्वात्माराम

[हिन्दी साहित्य के प्रथितयशा विद्वान् आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी ने प्रस्तुत लेख में विद्वत्तापूर्ण विवेचन करते हुए यह निर्णय दिया है कि काशी में प्राणत्याग करने से मुक्ति नहीं मिलती। इस दृष्टि से यह विषय वर्तमान सन्दर्भों में अत्यन्त विचारणीय है। इस सम्बन्ध में अन्य विद्वानों, धर्माचार्यों, सन्त महात्माओं तथा मनीषियों के विचार सादर आमन्त्रित हैं—सम्पादक]

वाराणसी से प्रकाशित मुमुक्षु के प्रथम वर्ष के प्रथम अंक में यह समस्या खड़ी की गई है कि ‘ऋते ज्ञानान् न मुक्तिः’ और ‘काश्यां मरणान्मुक्तिः’ में से कौन-सा वचन ठीक है। सम्भवतः यह समस्या इसलिए उठाई गई है कि कुछ लोगों ने वाराणसी को ही काशी समझ लिया है। किन्तु वाराणसी तो भौगोलिक सीमा है। वरणा (वरुणा नहीं) और असि अर्थात् तलवार के रूप में बहने वाली गंगाजी के बीच में बसी हुई नगरी। यह वाराणसी-नगरी गंगा-गोमती संगम से प्रारम्भ हुई और दक्षिण की ओर बढ़ते-बढ़ते अब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तक फैल गई है। किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में यह वचन नहीं मिलता कि ‘वाराणस्यां मरणान्मुक्तिः।’ वास्तव में काशी तो चिन्मयी या ज्ञानमयी शक्ति है। स्वर्गीय महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराजजी ने इस विषय में विस्तार से विचार भी किया है। उन्होंने ही मुखसे एक बार कहा था कि ज्ञानमयी काशी में अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने पर उसमें लीन हो जाना ही ‘काशी में मरण’ है। न तो काशी का अर्थ वाराणसी है और न मरण का अर्थ प्राण देना है। काशी का अर्थ है ब्रह्म की ज्ञानमयी ज्योति और मरण का अर्थ है उसमें लीन हो जाना। यही ‘ऋते ज्ञानान् मुक्तिः’ का भी अभिप्राय है।

दो वर्ष पूर्व जब मैं वाराणसी छोड़कर आया तब मैंने जनवार्ता में यही लिखा था कि काशी (ब्रह्मज्योति) तो सर्वत्र विद्यमान है। जहाँ तक वाराणसी का प्रश्न है अर्थात् वरणा और असि (मैं अस्सी नाले को असि नहीं मानता) के बीच का भाग ऐसा नहीं है जहाँ प्राण देने से मनुष्य मुक्त हो जाता हो। भगवान् शिव भी तारक मन्त्र का

उपदेश ज्ञानी को ही देते हैं। यदि ऐसी बात न होती तो काशी के अनेक घरों में जो भूत-प्रेत बाधा होती है, वह न हुआ करती। मैं स्वयं ऐसे अनेक परिवारों को जानता हूँ जो भूत-प्रेत बाधा से ग्रस्त हैं। अतः यह कहना नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है कि वाराणसीकी भौगोलिक सीमा में प्राण देना मोक्ष का साधन है। इसी भ्रम के कारण बहुत से लोग निःशुल्क धर्मार्थ काशी में प्राण देकर मोक्ष पाने के फेर में वाराणसी चले जाते हैं। अतः यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि काशी का अर्थ है ब्रह्म के ज्ञान की चिन्मयी ज्योति और मरण का अर्थ है उस ज्ञान-शक्ति में लीन हो जाना अर्थात् पूर्णतः ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेना। जो ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर लेता है वही मोक्ष का अधिकारी भी है, वही मोक्ष प्राप्त करता भी है और उसी को भगवान् शिव तारक मन्त्र का उपदेश भी करते हैं।

वाराणसी की व्याख्या करते हुए कहा गया है— वाराणसी च नद्यौ द्वे पुण्ये पापहरे चमे। तयोरन्तर्गता या तु सैव वाराणसी स्मृता ॥ (वरणा और असि इन दो पुण्यशीला और पापहरा नदियों के बीच अवस्थित स्थान को वाराणसी कहा गया है। शिवपुराण की सनत्कुमार संहिता में स्पष्ट कहा गया है—क्षेत्रागतमलंकृत्य जाह्नव्या सह संगता। वाराणाम् तत्रैव गंगासिन्धु सरिद्वरा (७५।१११)

वरणा और गंगासि अर्थात् तलवार के रूप में घनुषाकार बहनेवाली गंगा नामकी दो नदियों के बीच के क्षेत्र को अलंकृत करती हुई जाह्नवी से मिली हुई भूमि वाराणसी कहलाती है। जाबालोपनिषद् में तो स्पष्ट ही कह दिया गया है ‘वरणायाः नाश्याश्च मध्ये प्रतिष्ठता इति वाराणसी।’

[शेष पृष्ठ ८ पर]

शरणागति

— स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती

जब हमारी सुषुप्ति टूटती है और हमारा जागना होता है, तब पहले-पहल 'मैं कौन हूँ'—यह नहीं भासता। सुषुप्ति का टूटना-जागना एक साथ होता है, उसके बाद मैं का स्फुरण होता है और फिर मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ—यह मालूम पड़ता है। सुषुप्ति अज्ञान-दशा है, मोह है, वहाँ से निकले हुए अहं की तीन स्थितियाँ होती हैं, उनके तीन रूप होते हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। सात्त्विक अहं को विभीषण, तामस अहं को कुम्भकर्ण और राजस अहं को रावण कहते हैं। ये तीनों रूप अहंकार के ही हैं।

विभीषण का जन्म

हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु जो दैत्य के रूप में पहले प्रकट हुए थे, वे दोनों लोभ रूप हैं। लोभ अहंकार के साथ रहता है। हिरण्य अर्थात् स्वर्ण या सोना दोनों के नाम में है। परन्तु उनके पुत्र-रूप में आये हुए जो तीसरे प्रह्लाद हैं, वे कौन हैं?

जिन परमर्षि सनत्कुमार ने शाप दिया था, उनको शाप देने का कोई अभ्यास तो था नहीं। उन्होंने तो भगवद्विच्छा से शाप दे दिया था। भगवद्विच्छा इसलिए हो गयी कि उनके कारण भगवान् के पास महात्माओं के जाने में रुकावट पड़ गयी लेकिन पौराणिक कथा के अनुसार जब सनकादि ने जय-विजय को शाप दे दिया तब उनके मन में यह आया कि हमने इनको शाप देकर असुर बना दिया है, इसलिए इनके उद्धार के लिए हमें चलना चाहिए और यह विचार करके सनत्कुमार ही प्रह्लाद के रूप में अवतरित हुए। इसलिए भगवान् का अवतार हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु को मारने के लिए नहीं, बल्कि प्रह्लाद की रक्षा के लिए हुआ। हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु भी वस्तुतः भगवान् के ही अंश अथवा भक्त होने पर भी लोभ की प्रधानता के कारण हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु हुए थे।

किन्तु दूसरे जन्म में वे काम की प्रधानता के कारण रावण और कुम्भकर्ण हुए। उन्होंने कामवश परस्त्री का हरण किया। इसलिए उनके उद्धार के लिए भी विभीषण के रूप में सनकादि आये। विभीषण ने ही भगवान् को लंका में ले जाकर रावण और कुम्भकर्ण का उद्धार करवाया।

इसी प्रकार तीसरे जन्म में वे क्रोध तथा द्वेष की प्रधानता लेकर शिशुपाल और दन्तवक्त्र हुए। परन्तु तीसरे जन्म में उनका उद्धार सुनिश्चित था। इसलिए वे श्रीकृष्ण के सम्बन्धी हो गये और सनत्कुमार किसी रूप में उनके साथ नहीं आये।

विभीषण क्या हैं? सात्त्विक अहं हैं। वे सात्त्विक अहं क्यों हो गये? इसलिए हो गये कि रावण और कुम्भकर्ण के उद्धार के लिए सात्त्विकता की आवश्यकता थी।

विभीषण की निःस्वार्थता

लेकिन विभीषण पर कुछ दोषारोपण भी किये जाते हैं। उन दोषारोपों के सम्बन्ध में लोग हमारे आचार्यों की बातों को तो थोड़ा कम सुनते-पढ़ते हैं, अपने मन की उड़ान ज्यादा भरते हैं।

इसपर हमारे आचार्यों ने बहुत विचार किया है। विभीषण के जीवन में छह प्रकार की शरणागतियों में से दो तो लंका में ही प्रकट हो गयी थीं। वे रावण को उसकी सभा में समझाते और उनकी पत्नी सरमा तथा पुत्री त्रिजटा सीताजी को अशोक-वाटिका में आशवासन देतीं। वाल्मीकि रामायण में यह बात स्पष्ट रूप से आयी है कि जब सीताजी अशोक वन में बहुत दुखी हो जातीं तब विभीषण को पत्नी और पुत्री झटपट दौड़ कर उनके पास पहुँच जातीं और राम-रावण-युद्ध में क्या प्रक्रिया चल रही है, इसको बता देतीं।

इसलिए विभीषण के जीवन में रामजी की अनुकूलता लंका में भी बनी रही। उन्होंने कभी प्रतिकूल पक्ष ग्रहण नहीं किया। कभी भी रामचन्द्र के उलटे नहीं चले—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।

हुआ यह कि रावण के तिरस्कार करने पर या यह कह देवे पर कि तुम वध करने के योग्य हो, वे वहाँ से उठे और पुत्र-पत्नी-धन सब कुछ छोड़कर राम की शरण में चले गये—व्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च धनं च ।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि विभीषण ने अपने बड़े भाई को, जो पिता के समान होता है, छोड़ कर राम की शरणागति क्यों ली? अवश्य ही उनके मन में राज्य का लोभ होगा? इसलिए उन्होंने धर्म का उल्लंघन किया। लेकिन आचार्यों ने कहा कि नहीं, विभीषण के मन में राज्य का लोभ बिल्कुल नहीं था।

वाल्मीकि रामायण में एक-दो जगह ऐसी चर्चा जरूर आयी है। हनुमान्जी ने कहा है कि इनका तो रामचन्द्र के पक्ष में मिलने से लाभ-ही-लाभ है। क्योंकि रावण मर जायगा तो इनको राज्य की प्राप्ति हो जायेगी। परन्तु हनुमान्जी का यह कथन सुग्रीव की बात का उत्तर देने के लिए था कि ये हम लोगों को हानि पहुँचाने के लिए हमारे साथ नहीं मिल रहे हैं। बल्कि हमारे साथ मिलने में इनका ही तो लाभ है। इसी तरह की बात और भी एकाध जगह आयी है, परन्तु उसका आशय विभीषण के उद्देश्य को निर्दोष बताना ही है।

लक्ष्मण ने माता-पिता की सेवा छोड़ कर रामचन्द्र की सेवा क्यों अंगीकार की? सीताजी ने सास-ससुर की सेवा छोड़ कर रामचन्द्र की सेवा क्यों स्वीकार की? वस्तुतः जहाँ सामान्य धर्म होता है वहाँ तो सबके लिए बराबर होता है। लेकिन जहाँ विशेष धर्म होता है वहाँ व्यवस्था दूसरे प्रकार की होती है। जहाँ राम साक्षात् परमात्मा हैं—वहाँ की बात दूसरी है। महात्मा लोग अपने हृदय में उनको परमात्मा के रूप में अनुभव करते हैं। उनकी दृष्टि में उनका जीवन सर्वथा निर्दोष है। और अचिन्त्य-अनन्त कल्याणमय गुणगणों से परिपूर्ण है। एक मानव को, एक सूर्यवंशी को ऐसा ही होना चाहिए। मनुष्य के आदर्श रूप राम ही हैं। माता-पिता तथा भाई बन्धुओं की सेवा सबके लिए है, सबका सामान्य धर्म है। किन्तु सर्वात्मा भगवान् की सेवा उसकी अपेक्षा विशेष धर्म

है। उसके पीछे मानव मात्र की सेवा की दृष्टि है।

विभीषण चाहे सनत्कुमार के अवतार हों; चाहे सात्त्विक अहंकार रूप हों; ये राजस-जीवन नहीं व्यतीत कर सकते और सामान्य धर्म में स्थित नहीं हो सकते। इसलिए राम की सेवा में आना उनके लिए सर्वथा स्वाभाविक है। जैसे अपने परिवार, सगे-सम्बन्धियों और गाँव आदि को छोड़ कर भी राष्ट्र की, मानवता की सेवा कर्त्तव्य होती है, वैसे ही भगवान् की सेवा, राम की सेवा, सबकी सेवा है।

इसलिए विभीषण की शरणागति किसी लोभ के लिए नहीं है, किसी लौकिक लाभ की प्राप्ति के लिए नहीं है और धर्म का उल्लंघन नहीं है। भगवान् की शरणागति तो सबके लिए धर्म है। भगवान् का अर्थ है सर्वात्मा। इसलिए उनकी शरण में आने का अर्थ है सबकी सेवा करना, सबको सुख पहुँचाना और धर्म की रक्षा करना। इसी के लिए विभीषण राम की शरण में आते हैं।

सेवक—छोटा न बड़ा

अब एक दूसरी बात आप देखें। इसमें किसी से किसी की तुलना करने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् के साथ जो सम्बन्ध हो जाता है अथवा जिसका सम्बन्ध भगवान् के साथ हो जाता है, उसमें कौन छोटा है और कौन बड़ा है—यह तो हम अपनी ओर से विवेक करते हैं। असल में किसी को छोटा या बड़ा कहना अपराध है—को बड़ छोटा कहत अपराधू। कोई चाहे सफाई की सेवा करता हो, चाहे सामग्री लाने की सेवा करता हो, चाहे रक्षा की सेवा करता हो और चाहे ज्ञान-सम्बन्धी चर्चा करता हो—जो भगवान् के साथ जुड़ गया वह भगवान् की ही सेवा कर रहा है। भगवान् की सेवा में कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। भगवान् की सेवा माने सबकी सेवा।

विभीषण का भगवान् की शरण में जो आगमन है, यह सर्वथा धर्मानुकूल है। न तो इसमें भाई का विरोध है और न कोई लोभ-लालच है। स्वयं भगवान् रामचन्द्र ने ही दो-तीन बार कहा है कि यद्यपि विभीषण, तुम्हारे मन में राज्य की वासना नहीं है, फिर भी मैं तुमको राज्य-तिलक करता हूँ। यह बात रामचन्द्र ने एक बार तो युद्ध-काण्ड में कही है, और दूसरी बार जब अयोध्या से विभीषण को विदा करने लगे तब कही। वहाँ उन्होंने यह कहा कि

यद्यपि तुम्हारा मन हमारे साथ रहने का ही है, और राज्य की तुम्हारे मन में कोई वासना नहीं है फिर भी मेरी आज्ञा मानकर तुम लंका में जाओ और वहाँ राज्य करो। इसलिए विभीषण की सात्त्विकता सब प्रकार से सुसंगत है। यह कहना कि वे किसी से नीचे हैं या किसी से ऊपर हैं, ऐसी बात नहीं बनती है।

शरणागत के प्रकार

भगवान् की शरण में आने वाले लोग तीन प्रकार के होते हैं। एक तो वे होते हैं, जो भगवान् का भजन करते हैं, नाम लेते हैं, ध्यान करते हैं, पूजा करते हैं, लेकिन उनसे चीज दूसरी माँगते हैं। कहते हैं कि हे भगवान्, हमने तुम्हें पाँच रुपये का लड्डू चढ़ाया है, तुम हमारे पास पाँच हजार या पाँच लाख रुपये की कोई वस्तु भेज देना या हम तुम्हारी पूजा करते हैं, तो बदले में तुम हमारा ब्याह करवा देना—किसी अच्छी लड़की या किसी अच्छे लड़के से। इस प्रकार जो दूसरी चीज की पाने के लिए भगवान् का भजन करते हैं, वे भगवान् के प्रेमी नहीं हैं। वे तो उस चीज के प्रेमी हैं, जिसके लिए वे भगवान् का भजन करते हैं। वे पुत्र के प्रेमी हैं और भगवान् से कहते हैं कि प्रभो, तुम हमारे पुत्र को रक्षा करो। वे धन के प्रेमी हैं और भगवान् से कहते हैं हमको धन दे जाओ।

जो भगवान् से, भगवान् के सिवाय दूसरी कोई वस्तु चाहते हैं, वे एक प्रकार के भजन करने वाले होते हैं और जो भजन करके अपने भजन से भगवान् को चाहते हैं, वे दूसरे प्रकार के लोग होते हैं। ऐसे लोग कहते हैं कि हम भजन तो करते हैं, सेवा तो करते हैं, परन्तु सेवा भगवान् की प्राप्ति के लिए करते हैं। इसको ऐसे समझ लो कि पाना है मिनिस्ट्री और करते हैं राष्ट्र की सेवा। ठीक है, राष्ट्र की सेवा का महत्त्व है, लेकिन वह मिनिस्ट्री प्राप्त करने के लिए है। ऐसे लोग एक प्रकार के हुए। दूसरे प्रकार के लोग ऐसे हुए कि हमको तो राष्ट्र की सेवा करनी है, अपना जीवन राष्ट्र के लिए लगाना है, और हम कुछ नहीं जानते, राष्ट्र से कुछ नहीं चाहते।

एक प्रकार के लोग ऐसे भी होते हैं, जो भगवान् से ही भगवान् को प्राप्त करना चाहते हैं। अपने बल-पौरुष की कीमत नहीं लगाते। हम इतना जप करेंगे, इतना

ध्यान करेंगे, इतनी पूजा करेंगे, इतना पाठ करेंगे, तब भगवान् की प्राप्ति होगी—ऐसा मानने वाले लोग अपने बल की कीमत लगाते हैं। पन्द्रह-बीस बरस पहले की बात है एक सेठ ने हमसे पूछा कि स्वामीजी, हम कितना धन खर्च करें तो हमको भगवान् मिल जायेंगे? मैंने कहा कि सेठजी, भगवान् को खरीदा नहीं जाता है। भगवान् को खरीदने के लिए कोई भी कीमती चीज तुम्हारे पास नहीं है। भगवान् को लिया नहीं जाता, अपने आपको दिया जाता है। भगवान् देने की वस्तु है।

सन्त लोग कहते हैं कि हम भगवान् को चाहते तो जरूर हैं, लेकिन हमारे पास भगवान् की प्राप्ति की कीमत चुकाने के लिए साधन नहीं है। इसलिए भगवान् स्वयं हमको हमारी निर्बलता देख कर मिल जायें। वहाँ यह वर्णन होता है, कि उपाय भी भगवान् हैं और उपेय भी भगवान् हैं। भगवान् के द्वारा ही भगवान् को प्राप्त करना है।

शरणागति का अर्थ

शरणागति का अर्थ यह होता है कि भगवान् हमारी निःसाधना देखकर हमको मिलें। असल में जिसका कोई मालिक नहीं है, जिसको दूसरे का कोई सहारा नहीं है, वह क्या है? जिसके पास कोई पूँजी नहीं और जिसको कोई दूसरा सहारा नहीं, वह किसकी गोद में है? वह राष्ट्र की गोद में है। राष्ट्र का ही धर्म है कि वह स्वयं उसका पालन-पोषण करे। इसी तरह जिसके पास अपना कोई साधन-सम्बल नहीं, उसके स्वामी तो साक्षात् भगवान् ही हैं।

शरणागति का रूप यही है कि उसमें न तो भगवान् से दूसरी कोई वस्तु लेनी है और न अपने बल पर भगवान् को खरीदना है। उसमें तो सोलहो आने अपना बल छोड़ कर अपना सुख-स्वार्थ छोड़ कर भगवान् के साथ मिल जाना है। तुलसीदासजी महाराज ने एक पद लिखा है—

भगवान् राम पै जाऊँगो।

सुख-स्वार्थ परिहरि करिहों

सोई जेहि साहबहि सुहाऊँगो ॥

शरणागत कहता है कि मैं तो भगवान् राम के पास जाऊँगा और अपना सुख-स्वार्थ छोड़ कर वही कहूँगा, जससे भगवान् को अच्छा लूँ। मैं वही कहूँगा, जो

भगवान् को अच्छा लगे। मेरा अपना कोई सुख-स्वार्थ नहीं।

विभीषण की शरणागति

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्—ये शरणागति के दो अंग लेकर विभीषण वहाँ स्वयं उपस्थित हुए ही थे। अब तीसरा अंग है शरणागति का विश्वास। रक्ष्यतीति विश्वासः—भगवान् हमारी रक्षा करेंगे—यह विश्वास विभीषण के मन में है। वह समझता है कि जब भगवान् मुझको देखेंगे, तब बुला लेंगे और कहेंगे कि विभीषण, आओ ! आओ ! हमारे पास आ जाओ ! फिर मैं जाकर उनके चरणों में लोट जाऊँगा।

शरणागति की रक्षा

शरणागति की रक्षा केवल भगवान् का ही धर्म नहीं है, मनुष्य का भी धर्म है। क्योंकि भगवान् का दृश्यमान रूप मानव ही है। न मातुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्—मनुष्य से बढ़ कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। अदृश्य रूप भगवान् का भले ही कुछ और रूप हो, परन्तु जो यह दृश्यरूप जगत् है, यही भगवान् का रूप है।

शरणागत को जो भगवान् बुलाते हैं, उसमें केवल साधन-सम्पन्न को ही बुलाते हैं, सो बात नहीं है। तीन

प्रकार के लोग होते हैं दुनिया में—एक तो होते हैं सुसाधन। दूसरे होते हैं निःसाधन और तीसरे होते हैं कुसाधन। सुसाधन होते हैं बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि जो तपस्या करते हैं, साधना करते हैं। निःसाधन के रूप में अहल्या को देख सकते हो। बेचारी पत्थर रूप में पड़ी हुई थी। भगवान् ने स्वयं उसके पास जाकर उसे अपने चरणों का स्पर्श दिया और उसका उद्धार किया। ऐसा ही शाप था उसको कि जब रामचन्द्र के चरणों का स्पर्श प्राप्त होगा तब उसका उद्धार होगा। वहाँ न तो भगवान् का नाम है और न अहल्या ने भगवान् की कोई स्तुति की है।

इसी तरह जो कुसाधन होते हैं, उनका भी भगवान् उद्धार करते हैं। हम यहाँ उनका अधिक दृष्टान्त देना नहीं चाहते, क्योंकि कई लोगों के मन में अपने संस्कारों की इतनी दृढ़ता होती है कि वे उसके विरुद्ध कुछ सुनना पसन्द नहीं करते। लेकिन ऐसे लोगों का भी उद्धार होता है, जो भगवान् से बिल्कुल विमुख हैं, मानवता से सर्वथा रहित हैं, कंसादि जैसे क्रूर की सेवा में तत्पर हैं और भगवान् की ओर देखते तक नहीं हैं। उनको भी भगवान् उनके पास जाकर छोड़ते हैं और अपने सम्मुख कर लेते हैं। ऐसी कष्टना भगवान् के भीतर भरी हुई है। (क्रमशः)

प्रस्तुति : श्रीमती सतीशबाला जेठी

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः का समाधान

[पृष्ठ ४ का शेषांश]

का वै वरणा च नाशीति। सर्वानिन्द्रियकृतान् दोषान् वारयतीति तेन वरणा भवतीति। सर्वान् इन्द्रिय कृतान् पापान् नाशयतीति तेन नाशी भवतीति। (१।२)।

वरणा और नाशी दो नदियों के बीच अवस्थित प्रदेश को वाराणसी कहते हैं। समस्त इन्द्रियकृत दोषों को नष्ट करने वाली को वरणा और समस्त इन्द्रियकृत पाप नाश करनेवाली को नाशी कहते हैं। पाप नाश करने का सामर्थ्य गंगाजी में ही माना गया है, अस्सी के दरिद्र नाले में नहीं।

तात्पर्य यह है कि समस्त इन्द्रियकृत पाप और दोषों का नाश हो जाने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है। किसी समय इस वाराणसी-क्षेत्र में बहुत से ब्रह्मज्ञानी, महात्मा और योगी निवास किया करते थे जो मुमुक्षुओं को ज्ञान प्रदान करके उन्हें मोक्ष का मार्ग दिखा दिया करते थे जिससे वे ब्रह्मज्ञान

प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त कर लेते थे। इसलिए यह भ्रम सबको अपने मन से निकाल देना चाहिए कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त किये बिना केवल वाराणसी की भौगोलिक सीमा में प्राण दे देने भर से मोक्ष मिल जाता है। ऐसा समझना समस्त भारतीय दार्शनिक परिपाटी का अपमान है और प्रचण्ड अज्ञानों के प्रसार और प्रचार का दुष्काण्ड है। अतः 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' और 'काश्यां' मरणान्मुक्तिः' में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का यही अर्थ है कि ज्ञान प्राप्त करने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है। जिस वाराणसी में टोले टोले में सिनेमा-घर खुल गए हों, संस्कृत के पण्डितों के पुत्र अँगरेजी पढ़ते हों, जहाँ शिखा-सूत्र का बहिष्कार हो रहा हो, संन्यासी और मुमुक्षु लोग रेडियो सुनते और समाचारपत्र पढ़ते हों और अध्यात्म-चिन्तन के बदले राजनीति की चर्चा करते हों वहाँ मोक्ष की बात नितान्त असंगत है।

श्रीमाता का मन्दिर

— म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

(गतांक से आगे)

श्री चक्र की अनेक प्रकार की वासनाएँ हैं जिनमें एक के बारे में यहाँ समझाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। इस दृष्टि के अनुसार कल्पनाओं के स्तरों को इस रूप में ग्रहण करना पड़ेगा कि एक अधः ऊर्ध्व सरल रेखामय विशाल नाड़ी फैली है। इसे सुषुम्ना नाड़ी कहा जाता है। इसका अन्तर शून्यात्मक है। इस नाड़ी के दोनों किनारे पर दो सहस्र दल शोभायमान हैं। जो ऊर्ध्व प्रान्त में है, वह श्वेतवर्ण है, जो सुषुम्ना के नीचे है, वह रक्तवर्ण है। नीचे वाला सहस्रार तन्त्र शास्त्रों में अकुल शब्द के नाम से प्रसिद्ध है। ऊर्ध्व का सहस्र दल जो सुषुम्ना के ऊर्ध्व भाग में है वह अधोमुख है एवं नीचे सहस्र दल जो सुषुम्ना के मूल भाग में है वह ऊर्ध्वमुखी है। अधः सहस्रार के ऊपर है—अष्टदल कमल। उसके ऊपर है—षड्दल कुलपद्म। इसका विशेष विवरणः स्वच्छन्द तन्त्र में प्राप्य है। प्रत्येक सहस्र दल में सभी शक्तियों का योग है। प्रत्येक कमल में कर्णिका या केशरादि विद्यमान हैं। ये दोनों सहस्र दल शाश्वत या नित्य सिद्ध हैं। दोनों सहस्र दलों के बीच स्थित सुषुम्ना को आश्रय करते हुए तीस आधार पद्म हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी शक्तिस्वरूप हैं। नीचे से ऊर्ध्व संचार के मार्ग में प्रथम स्थान का नाम है कन्द। यह गुदा और लिंग भेद के अन्तराल में स्थित है। कन्द स्थान पाँच अंगुल उच्च, दो अंगुल विस्तार और एक अंगुल परिमाण का है। इसी कन्द में त्रिकोणाकार महायोनि है। इस योनि के मध्य में जो नाड़ी स्थित है उसका नाम है—सुषुम्ना। जिसके निम्न प्रदेश में अधः सहस्रार की बातें बतायी जा चुकी हैं।

उसके कर्णिका प्रदेश में कुलदेवी स्थापित है। चारों ओर शक्ति का आवरण है। इसी पद्म के एक अंगुल ऊर्ध्व सुषुम्ना में एक अष्टदल कमल है। इसमें आठ ग्रन्थियाँ हैं। इस कमल की कर्णिकादि सब कुछ रक्तवर्ण की है। इसके तीन शृंग हैं जो ग्रन्थि के आगे स्थित हैं। उसमें बहुशक्ति स्थित है। अष्ट भैरव और वामादि शक्ति यहाँ विद्यमान हैं। इसमें षष्टदल कुलपद्म विद्यमान है। यह कुलपद्म कौलशक्ति द्वारा निरन्तर समाश्रित रहता है। यह कुलपद्म पूर्व पद्म के एक अंगुल ऊर्ध्व में अवस्थित है।



लेखक

किसी-किसी के मन में प्रश्न उठता है कि अकुल पद्म कौन है? कुछ लोग अष्टदल को ही पद्म समझते हुए ग्रहण करते हैं किन्तु आचार्यगण इसे स्वीकार नहीं करते। उनका मत यह है कि सुषुम्ना स्थित तीस पद्म फूलों में जो व्यापक है वही सहस्र दल वास्तव में अकुल है। इसी का नामान्तर विपुव है। वही सभी का आधार है। अकुल के बाद सर्वप्रधान स्थान वल्लिका है। यह वल्लि बिम्ब मूलाधार का सूचक है। वल्लि के पश्चात् हृल्लेखा या शक्ति का स्थान निर्दिष्ट किया गया है। शक्ति

ऊर्ध्व में स्वाधिष्ठान या षड्दल कमल की अवस्थिति है। इसके ऊर्ध्व नाभि-देश में मणिपुर नामक दस दल कमल है। नाभि के ऊर्ध्व हृदय देश में द्वादश दल अनाहत चक्र है। यह मणिपुर के ऊर्ध्व में स्थित है। इस चक्र में कालरात्रि आदि शक्ति की क्रियाओं का स्थान है। इसके बाद और भी ऊर्ध्व कण्ठदेश में षोडशदल विशुद्ध चक्र स्थित है। विशुद्ध के ऊर्ध्व लम्बिकाग्र में एक अष्टदल कमल है इसका आयत चार अंगुल है। इसके बाद भ्रूमध्य में द्विदल आज्ञा-

चक्र स्थित है। आज्ञा चक्र के किंचिदूर्ध्व में बिन्दु का स्थान है। बिन्दु के किंचिदूर्ध्व में अर्द्ध-बिन्दु या अर्द्ध-चन्द्र प्रकाशमान है। इसके बाद क्रमशः बोधिनी, नादनादान्त शक्तिव्यापिका, समान और उन्मना के बाद महा-बिन्दु है। यही है परमस्थान एवं यही निष्कल रूप में गण्य होता है।

इन सभी चक्रों में अकुल से आज्ञाचक्र तक चक्रों का विवरण विभिन्न योगशास्त्रों के ग्रन्थों में प्राप्य है किन्तु आज्ञाचक्र के बाद से अर्थात् बिन्दु से महाबिन्दु तक सूक्ष्म और सूक्ष्मतर केन्द्रों का रहस्य साधारणतः सभी लोग नहीं जानते। यह जो सूक्ष्मता है इसकी सूचना बिन्दु से प्राप्त होती है। अर्द्धमात्रा का क्रमिक संकोच रूप तन्त्रशास्त्रों में प्रसिद्ध है। उन्मनी तक यह क्रमिक सूक्ष्मता की प्रगति है ऐसा मानना चाहिए। वास्तव में उन्मनी में हो सूक्ष्मता का अवसान होता है। महाबिन्दु सकल, सकल-निष्कल दोनों भावों के अतीत है। यह महाबिन्दु ही विशुद्ध शून्य संविदा की प्रतिष्ठा का स्थान है।

इस सूक्ष्म मार्ग का जो प्रथम स्थान है उसका नाम है बिन्दु; यह पहले ही बताया जा चुका है। यह ललाट पर दीप के आकार में प्रतिभासित होता है। इसे अर्द्धमात्रा इसलिए कहा जाता है कि यहाँ उच्चारण के ह्रस्व स्वर के उच्चारण काल का अर्द्ध है। यह जो बिन्दु का प्रकाश है, दीपवत् होने पर भी वृत्ताकार है। वास्तव में इसका प्रकाश कोटि सूर्यों के प्रकाश के अनुरूप है, इसमें सन्देह नहीं। इस बिन्दु के केन्द्र या कर्णिका में शान्त्यतीत ईश्वर अधिष्ठित है, उनका चारों ओर वेष्टन करती हुई निवृत्ति आदि चार कलाएँ विराजमान हैं। इसके बायीं ओर है—शान्त्यतीत की निज शक्ति। बिन्दु के बाद अर्द्ध-चन्द्र का स्थान है। इसका उच्चारण काल $1/4$ मात्रा है। अर्द्ध-चन्द्र के ऊपर ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती आदि शक्ति समन्वित रोधिनी का स्थान है। रोधिनी, रुन्धिनी आदि नाम से भी इन सभी शक्तियों का परिचय प्राप्य है। ब्रह्मादि ईश्वर या सिद्धवर्ग जिससे परतत्त्व प्राप्त न कर सकें, इसीलिए उनके गतिरोध के लिए इन सभी कलाओं की प्रतिष्ठा है। रोधिनी त्रिकोण के आधार की विशिष्टता है।

अर्द्धमात्रा प्रसंग में जिस काल-विभाग का आभास दिया गया, उसका तात्पर्य समझने के लिए कालका परमाणु सम्बन्धी ज्ञान होना आवश्यक है। तान्त्रिकों और दार्शनिकों का कहना है कि काल का परमाणु है। ह्रस्व स्वर के उच्चारण का काल १ मात्रा है। इसे २५६ भाग में विभक्त

करने पर जो कालांश प्राप्त होता है उसे काल का परमाणु कहा जाता है। उसका पारिभाषिक नाम है—लव।

रोधिनी के बारे में पहले बताया जा चुका है। इसके बाद नाद का उल्लेख आवश्यक है। इसका आकार बिन्दु-द्वय के मध्यगत सरल रेखारूप है। नाद के बाद नादान्त का स्थान है एवं इसके बाद शक्ति। यह शक्ति ही सभी भुवनों का आधार है। यह चारों ओर स्थित सूक्ष्मा, सुसूक्ष्मा, अमृता और मृता इन चारों धाराओं का मध्यस्थ है। यही व्यापिनी या व्यापिका है। व्यापिका बिन्दुयुक्त त्रिकोण के आकार में प्रकाशमान होती है। दो बिन्दुओं की अन्तरालस्थ सरल रेखा उन्मना है। शक्ति आदि का स्वरूप द्वादश सूर्यों की नाईं उज्ज्वल है। इसके बाद मनोन्मनी। मनोन्मनी के पश्चात् है उन्मनी।

उन्मनी के ऊर्ध्व में अर्थात् हकार से आरम्भ कर सकल, निष्कल और केवल निष्कल इन तीनों अवस्थाओं के ऊर्ध्व में देश और काल द्वारा अनवच्छिन्न परम रमणीय जो स्थिति है वह स्वभावतः सुन्दर एवं परमानन्दस्वरूप के आविर्भाव का स्थान है।

यह परमानन्द पर प्रकाशात्मक परा और शिवका सामरस्यमय रूप है। यह विमर्श शक्ति की स्वरूपभूता महात्रिपुर की सुन्दरी है।

इस स्थान पर उपनीत होने के लिए क्रमशः ऊर्ध्व में उत्थान करना पड़ता है एवं उत्थान के साथ-साथ कालभेद हो जाता है। जो सब वर्ण मन्त्रों में अन्तर्भुक्त है उनको मात्राएँ क्रमशः क्षीण होते-होते यहीं से ऊर्ध्व गति आरम्भ होती हैं। हकार से बिन्दु तक जितने वर्ण हैं वे सब स्थूल हैं। उनके उच्चारण के बारे में मात्रा शब्द व्यवहृत होता है। बिन्दु से समना तक वर्णों की मात्रा अर्द्धमात्रा अर्थात् उसकी अर्द्ध-मात्रा आदि। समना के ऊर्ध्व में अर्द्धादि क्रम का अवलम्बन करते हुए लव तक उच्चारण काल है। यही सूक्ष्मतत्त्वकाल है। इसकी अपेक्षा सूक्ष्मतर कालांश कल्पनीय नहीं है। इसके ऊर्ध्व में अर्थात् लव के ऊर्ध्व भाग में शून्य ही शून्य है—यह कालातीत है। इस शून्य को भेद कर लेने पर आत्मा का विश्व भाव व्यक्त होता है। स्मरण रखना होगा कि अर्द्धचन्द्र के ऊपर रोधिनी और नाद है। नादान्त के ऊपर चित्शक्ति व्यापिका और समना विद्यमान हैं। पहले कहा जा चुका है कि महात्रिपुरो सुन्दरी रूपा विमर्श शक्ति जगदम्बा हकार से प्रारम्भ कर महाबिन्दु तक विभक्त तीन भाग के ऊर्ध्व में स्थित है। यही जगन्माता महाशक्ति प्रत्येक जीव की निज-निज आत्म-स्वरूप हैं।

●

[क्रमशः]

श्रीरामचरितमानस की कसौटी—व्याय और मीमांसा

— पंडित श्री विश्वनाथ शास्त्री दातार

[गतांक से आगे]

‘मानस’ के बालकाण्ड में वर्णित विवाह चरित्र के साथ उसके बाद के चरित्र का सम्बन्ध जोड़कर तदनुसार गृहस्थोचित धर्म का निरूपण कवि के लिए आवश्यक है। मंगलाचरण के पश्चात् गृहस्थाश्रम के लिए विहित कर्त्तव्यों का संकेत करते हुए कवि अयोध्याकाण्ड की कथावस्तु का शुभारम्भ कर रहे हैं—

जवते रामु ब्याहि घर आप,
नित नव मंगल मोद बधाए ॥१॥

गृहस्थधर्म में रहकर शास्त्र-विहित पंचमहाभूतबलि, जीवरक्षण आदि नीतियुक्त कर्मों की यही सफलता है कि उसके आश्रय में जड़-चेतन आदि सभी वर्गों को सन्तुष्ट करना है जिससे उन सबकी प्रीति प्रभुराम में दिन-प्रतिदिन बढ़े।

भुवन चारिदस भूधर भारी,
सुकृत मेघ बरषहि सुख बारी ॥२॥
रिधिसिधि संपति नदी सुहाई,
उमगि भवध अंडुधि कहुँ धाई ॥३॥

गृहस्थधर्मका फल मंगल

यह स्मरणीय है कि प्रभु राम ने गुरु वसिष्ठ के संकेत पर विद्या प्राप्त की थी उसी के प्रभाव से आत्मगुण सम्पन्नता के कारण राजोचित गुणों से वे विभूषित थे। उसी का प्रत्यक्ष परिणाम हुआ कि सभी वर्ग प्रतिदिन अपनी अभीष्ट वस्तु का दर्शन करने लगा। जैसे कोष-क्षय का परिहार तथा कोष-वृद्धि आदि। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर पर नये-नये आभूषण दिखाई देने लगे। ये सभी वस्तुएँ आरोग्यसम्पदा देने वाली हैं, इसलिए मंगलमय हैं। इस मंगलमय वातावरण में सुकृत रूपी बादल देशभर में शुभवायक वर्षा कर रहे हैं।

सुकृत बढ़ जाने से मंगलमोद का भार इतना अधिक बढ़ गया कि परिणामस्वरूप चौदहों लोक तथा पहाड़ों पर भी

मेघों ने मंगलमय वर्षा कर दी। यहाँ तक कि घृत, मधु, अन्न, रिद्धि, सिद्धि आदि दुर्लभ पदार्थ जनसाधारण के लिए भी सुलभ हो गये।

सारांश यह कि मंगलमय कर्त्तव्य, पूज्यों का आदर आदि सत्कर्म यदि देश में होता रहता है तो वृष्टि (विभिन्न सम्पदाएँ) अत्युत्तम रीति से प्राप्त होती रहती हैं। सर्वत्र आयवृद्धि के साथ धन का सत्कर्म में उपयोग होने लगता है। प्रभु राम ने गृहस्थ धर्म में प्रवेश कर यह सब कर दिखलाया।

मनिगन पुर नर नारी सुजाती,
सुचि अंमोल सुन्दर सब माँती ॥४॥
कहि न जाइ कछु नगर विभूती,
जनु एतनिअ बिरंचि करतूती ॥५॥

मंगलाशा

रावण के क्रूर कर्मों के कारण चौदहों लोकों में आतंक छाया था। उससे मुक्ति पावे की कामना सब लोगों की थी जो पूरी नहीं हो पा रही थी। किन्तु राम के गृहस्थाश्रम प्रवेश से उपर्युक्त व्यथा से छुटकारा पावे की आशा-किरणें जैसे विकीर्ण होने लगीं वैसे-वैसे ही चौदहों लोकों में आनन्दातिरेक बढ़ने लगा। क्योंकि अयोध्यापुरी में नीति-निपुण राम अवतार लेकर अयोध्यावासियोंको मंगलमय तथा सुखी बना रहे थे। उन्हें देखकर लोग इस निश्चय पर पहुँच रहे थे कि भविष्य में सर्वत्र मंगलमय दृश्य उपस्थित होगा। सुखदायी समय आवेगा। इस निश्चय से सभी लोग प्रसन्न थे। अयोध्या की सारी जनता उत्तमोत्तम मणियों के समान देदीप्यमान हो रही थी। सभी आतंकरहित प्रमुदित एवं हर्षोल्लसित थे। किसी के चेहरे पर दुःख की झलक तक दिखाई नहीं पड़ती थी। आत्मसम्पन्न नीतिकुशल राम के द्वारा न्याय,

स्वराज्यपालन एवं समस्त बाधाओं का निरसन अत्यन्त सुलभ हो गया था ।

अब यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि रघुवंश के पूर्ववर्ती राजा भी तो नीतिज्ञ, धर्मज्ञ और बाग्यी थे फिर वे रावण-वध में क्यों नहीं समर्थ हुए ?

रावण-वध के लिए मानव-स्वरूप

उत्तर में निवेदन है कि ब्रह्माजी के वरदान से दृष्ट रावण का आतंक इतना अधिक व्याप्त था कि उसके विरोध में किसी के लिए तप करना तक सम्भव नहीं था । ऐसा करने पर रावण उसमें विघ्न डालता था । और, बिना देवाराधन के रावण का संहार सम्भव नहीं था । उसके प्रताप से देवता निस्तेज हो गये थे । ऐसी दशा में देवबल से निरपेक्ष होकर ऐसा ही व्यक्ति रावण के संहार में समर्थ हो सकता था जो नीतिमात्र के आचरण, जैसे सत्यप्रतिज्ञ, माता-पिता, गुरुजन आदि की शुश्रूषा करनेवाला, उदासीन भाव से वनवास करनेवाला आदि गुणों से युक्त हो । ऐसी भावना उन राजाओं में न होना, जैसा कि राजा दशरथ ने विश्वामित्र से कहा था—

कहूँ निसिचर अति घोर कठोरा,

कहूँ सुन्दर सुत परम किसोरा ।

अथवा इतिहास और पुराणों द्वारा यह प्रसिद्ध ही था कि आगे चलकर रघुवंश में मानव रूप में अवतीर्ण प्रभु के द्वारा ही रावण का वध सम्भव है । अतः राम के पूर्ववर्ती रघुवंशी राजा रावण-युद्ध के लिए प्रवृत्त नहीं हुए ।

इस सन्दर्भ में एक प्रश्न और यह खड़ा हो सकता है कि जब राक्षसों के आतंक से सर्वत्र हाहाकार मचा था तब अयोध्यापुरी में राजाओं का प्रभुत्व कैसे कायम रहा । इसका उत्तर यह है कि जिन-जिन स्थानों पर अशुचिता रही उसका काम रावण ने पूर्ण रूप से उठाया । फलतः उन-उन स्थानों पर उसने अपने अधिकारियों की नियुक्ति कर रखी थी । हठात् अयोध्या के राजा भी अशुचि भूभाग से अनधिकृत होकर राजधानी अयोध्या के दुर्ग में ही टिके रहे । राक्षसों के आतंक से भयभीत न होकर बिना प्रमाद के वे शुचिता में स्थिर हो नीति-पालन में सजग-सावधान रहे । इसीलिए वहाँ देवता भी निवास करते थे । जहाँ शुचिता एवं अप्रमाद

रहता है वहाँ दुष्टों (राक्षसों) की दृष्टि पड़ती ही नहीं अथवा उनमें वहाँ आक्रमण की मति ही नहीं होती ।

कलियुग में भी धर्मनीति का प्रभाव

अयोध्या में शुचिता और अप्रमाद के कारण रत्नाकर मणि आदि रत्नों को स्वयं पहुँचा रहे हैं और वहाँ की सम्पदा का यथोचित वर्णन करने के लिए कवि को शब्द नहीं मिल रहे हैं । अयोध्या में विधाता की सम्पूर्ण कृति दृष्टिगोचर हो रही है । यह धर्म एवं नीति की प्रतिष्ठा का प्रभाव है । अतः त्रयी धर्म का अनुष्ठान कलियुग में भी राक्षसों के आतंक में व्यर्थ नहीं ठहरता । धर्मनीति में निपुण राजा के शासन में प्रजा शास्त्रपूत धर्माचरण को और उन्मुख रहती है और विवेक नहीं खोती ।

राजतन्त्र में लोकतन्त्र

महाराज दशरथ श्रीराम को सर्वगुणसम्पन्न जानकर उन्हें राजपद पर अभिषिक्त करना चाहते हैं । क्योंकि राजा योग के इच्छुक हैं । वे लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था के अनुसार अपने पार्षदों से बिना विचार-विमर्श किये राम का राज्याभिषेक करना नीति-विरुद्ध मानते हैं । क्योंकि अर्थ शास्त्र में राजतन्त्र में भी लोकतन्त्र को पूरी मान्यता प्रदान की गयी है । अतः उसी अभिमत की जानकारी के लिए उत्तराधिकारी प्रभु राम को सेवा में राजा ने दास-दासियों, पौरों, सखा-सखियों की नियुक्ति कर रखी है—

सब बिधि सब पुरलोग सुखारी,

रामचन्द मुख चन्द निहारी ।

मुदित मातु सब सखी सहेली,

फलित बिकोकि मनोरथ बेली ।

राम रूपु गुनु सीलु सुभाऊ,

प्रमुदित होइ देखसुनिराऊ ।

सभी सहवासी दास-दासियाँ सभी गुणों से सम्पन्न प्रभु राम के मुखावलोकन के इच्छुक हैं । राम भी आत्मीयता से उनके हृदयों में निवास करने लगे । प्रजा में श्रीराम के प्रति उत्तरोत्तर स्नेह बढ़ने लगा जो उनके ईश्वरत्व का परिचायक है ।

सहवासियों के मत की उपादेयता

परिचारिका के रूप में रहती हुई माता एवं सखियाँ राम के सद्ब्यवहार से प्रसन्न दिखाई पड़ती हैं । नीतिनिपुण व्यक्ति के लिए शील आत्मगुण ही सहवासियों की आनन्द-

वृद्धि में नीतिशास्त्र के अनुसार मुख्य कारण माना गया है न कि व्यक्ति का व्यक्तित्व। सीतेली माताएँ भी श्रीराम के शील; शक्ति और सौन्दर्य गुण के प्रभाव से अत्यन्त प्रमुदित हैं। उनमें सीतिया डाह नहीं है।

लोकमत प्राप्ति

शील के अन्तर्गत दानशीलता महान् गुण है। उससे युक्त राजा याचकों के लिए कल्पवृक्ष बन जाता है। अर्थ-शास्त्र के अनुजीवी वृत्त प्रकरण के अनुसार आवश्यकता इस बात की है कि सेवकों की दृष्टि में स्वामी कल्पवृक्ष के समान दानशील हो। ऐसी स्थिति में ही लोकमत अनुकूल हो सकता है। शील के अन्तर्गत दानशीलता के अतिरिक्त अन्य गुण जैसे—रूप (इन्द्रियों के लिए मोहक गुण जिसमें सामुद्रिक शास्त्रोक्त रेखा, लक्षण आदि अन्तर्निहित हैं), गुण (परोपकारिता), शील (सुस्वभावता), सत्त्व (निर्विकारिता), स्वभाव (पूर्वजन्मप्राप्त उद्वुद्ध संस्कार युक्त जितेन्द्रियता) —भी लोकप्रियता के कारण माने गये हैं। ये सभी गुण राजकुमार श्रीराम में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द-प्रमाणों से भलीभाँति परिलक्षित होते हैं।

सबके उर अभिलाषु अस, कहहि मनाइ महेसु।

आपु अछत युवराजपद रामहि देउ नरेसु ॥१॥

अर्थ शास्त्र के अनुसार प्रजा ऐसे ही धर्मविजयी, राजा को राजसिंहासन पर अधिष्ठित देखना चाहती है जो प्रजापालक, न्यायी, सर्वगुण सम्पन्न और शत्रुन्जय हो।

महाराज दशरथ अब वृद्ध हो चले थे। उन्होंने प्रजा का भार राम पर डाल दिया था। नीति-निपुण राम को पाकर प्रजा अपने सीमाग्य पर प्रसन्न थी। सब लोगों के मन में यही इच्छा जग रही थी कि महाराज दशरथ श्रीराम को युवराज पद पर अधिष्ठित कर दें। लोकतन्त्रात्मक शासन के प्रति आदर प्रकट कर शास्त्र का अनुसरण करते हुए राजा भी लोकमत जानने के लिए सभी वर्गों के शुभ-चिन्तकों को आमन्त्रित करना चाहते हैं।

एक समय सब सहित समाजा,
राजसभा रघुराज बिराजा।
सकल सुकृत मूरति नर नाहू,
राम सुजसु सुनि अतिहि उछाहू ॥

राजसभा की विशेषता

राजसभा में सभी वर्गों के शुभचिन्तक उपस्थित हैं। सबको यथोचित सम्मान प्राप्त है। भारतीय राजनीति में प्रत्यक्ष मतदान को व्यवस्था उच्च आदर्श को परिचायिका है। नैतिक कार्यों में विषमता का प्रश्न उठता ही नहीं। इसलिए महाराज दशरथ का अभिमत सुनकर सभी प्रतिनिधि नीति-निपुण श्रीराम को अभिषिक्त नेता के रूप में राजा बनाने के लिए अपनी सम्मति दे देते हैं।

राजा दशरथ का ऐसा लोकोत्तर प्रभाव था कि अन्यान्य राजाओं की भाँति लोकपाल भी उनके पीछे चलने में अपना कल्याण समझते थे।

नृप सब रहहि कृपा अभिकाषे,
लोकप करहि प्रीति रख राखे।

राजधर्म पर आक्षेप-समाधान

ज्ञातव्य है कि रावण के भय से त्रस्त होकर राजा अथवा लोकपाल धर्म-पालन में कर्तव्य-च्युत नहीं होते थे। किन्तु सूर्यवंश के शासन में जो कुछ दृष्टिगत हो रहा था वह शास्त्रसम्मत प्रेम का अनुभाव था। यद्यपि कुछ विचारकों के मत से धर्म-मर्यादा में अधिष्ठित शासक पूर्ण परतन्त्र तथा काममुख से वंचित रखे जाते हैं। किन्तु यह मत भारतीय राजनीति से मेल नहीं खाता। क्योंकि नीति-नियन्त्रित सन्तनरेश इतने स्वतन्त्र हैं कि उनके मनोरथ अपूर्ण होते ही नहीं और न प्रजा का उत्पीड़न ही होता। लोकपाल भी स्वयं उनके अनुगामो होते। शासकों के स्नेह-शील में आबद्ध प्रजा राजा को स्वयं अलंकृत करती। वह उनके प्रति प्रीति तथा आदरभाव के कारण उचित कर आदि चुकाने में कभी पीछे नहीं रहती। ऐसे व्यवहार में शोष्य एवं शोषक का भाव टिक ही नहीं सकता। यही भारतीय राजनीति की पूर्ण सफलता है।

त्रिभुवन तीनिकाळ जग माहीं,
भूरिमाग दसरथ सम माहीं।

पुत्र रूप में प्रभु

पुत्र 'पु' नाम के नरक से पिता का उद्धारक माना गया है। सूर्यवंश में मनु से लेकर अब तक ऐसी परम्परा जल-धारावत् अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित चली आ रही है। उसी के परिपाक से स्वयं प्रभु राम रघुवंश के उद्धार के साथ जगत को नीतिमंगलकी शिक्षा देने के लिए पुत्र रूप में अवतीर्ण हैं।

मंगलमूक रासु सुत जासु,
जो कुछ कहिय और सबु तासु ।

सर्वगुणसम्पन्न भावी युवराज श्रीराम की प्रशंसा में जो कुछ कहा जाय वह थोड़ा ही है । महाराज दशरथ आगत प्रतिनिधियों का मत जानकर परम प्रसन्न हुए ।

विवेकपूर्ण मतदान

ज्ञातव्य है कि चार भाइयों के रहते राज्याभिषेक के लिए प्रजा की सम्मति श्रीराम के लिए प्राप्त हुई है । इसका कारण उनकी अत्यधिक विनय है जो बालकाण्ड के परशुराम-संवाद से स्पष्ट है । श्रीराम ज्येष्ठ हैं । निर्दोष गुणसम्पन्न ज्येष्ठ पुत्र के रहते अन्य भाइयों को राजपद पर अधिष्ठित करना शास्त्रसम्मत नहीं है । इसलिए प्रजा का उक्त मतदान शास्त्रविहित होने से बुद्धिमत्तापूर्ण है ।

पूर्व मंत्री-परिषद्

अर्थशास्त्र के अनुसार सभा में उपस्थित प्रतिनिधियों का मतदान राजा के लिए अन्तिम निर्णय के रूप में बाध्य नहीं है । अपितु प्रजा का निर्णय जानने के ब्रावजूद राजा अपना निर्णय करने में स्वतंत्र है ।

उत्तर मंत्री-परिषद्

अंतिम निर्णय के लिए राजा को उत्तर मंत्री, राज-पुरोहित जैसे महामनीषियों के अमिमत की अपेक्षा रहती है । इसी विचार-शृंखला की संगति गोसाईं जी समझा रहे हैं ।

राब सुमायँ सुकुर कर कीन्हा,
बदनु बिलोकि मुकुट सम कीन्हा ।
अवन समीप मये सित केसा,
मनहु जरठमन अस उपदेसा ।
नृप युवराज राम कहँ देहू,
जीवन जनम लाम किन लेहू ।

अन्त समय की सूचना

शीशे में पहले मुकुट को तिरछा देखना दशरथ को अपने अन्तिम समय का ज्ञान कराता है । कानों के बाल सफेद होना जरठता की पूर्णता है । ये चिह्न तथा कैकेयी का दुःस्वप्न शास्त्रों में आसन्न मृत्यु के सूचक हैं, इसलिए वे व्यर्थ

नहीं हो सकते । इन्हीं अशुभ निमित्तों को देखकर राजा को अपने शेष अन्तिम कार्य सम्पादन की प्रेरणा हुई और उसके लिए शीघ्रता करने की बात ध्यान में आयी । इसलिए अन्तिम निर्णय के लिए उत्तरमंत्रीपरिषद् के मूर्धन्य विद्वान् पुरोहित वसिष्ठ जी के चरणों में वे उपस्थित होते हैं :—

यह विचार उर आनि नृप सुदिन सखसर पाइ ।

प्रेम पुलकि तन मुदित मन गुरहि सुनायउ जाइ ॥

बहुत दिनों से चली आती मनःकामना की पूर्ति का अवसर अब आया है । इसे कवि ने 'सखसर' शब्द से व्यक्त किया है । पंचांग के अनुसार ज्योतिष भी ग्रहों की अनुकूलता गुरु-समीप पहुँचने के लिए 'सुदिन' शब्द के माध्यम से सूचित कर रहा है ।

गुप्त मन्त्रणा

विचारों की श्रेष्ठता एवं कार्य के महत्त्व को ध्यान में रखकर राजा ने किसी और को न भेजकर स्वयं गुरुगृह जाना उचित समझा । इसके अतिरिक्त मन्त्रणा के लिए गुरु का निवास-स्थान उपयुक्त है । अर्थशास्त्र के अनुसार जबतक सम्पूर्ण सामग्री एकत्र नहीं हो जाती तबतक मन्त्र को प्रकट करना मन्त्रभेद का कारण माना गया है । इस दोष से गुरु का निवास मन्त्रणा के योग्य समझा जाता है ।

प्रस्ताव में आवेग

राजा दशरथ राम-राज्याभिषेक की कल्पना से स्वयं पुलकित हैं । प्रसन्नता के अतिरेक से अन्तःकरण में आवेग होना स्वाभाविक है । वृद्धावस्था में शरीर में द्रुतगति दिखाई देना आवेग का ही परिणाम है । गुरु के बिना पूछे स्वयं मनोगत प्रस्ताव को श्रुति से निवेदन कर देने का कारण भी आवेग ही है—

कहइ मुआलु सुनिय मुनि नायक,

मये राम सब विधि सब लायक ।

राज्यारोहण की योग्यता

राज्यारोहण की योग्यता राजपुत्र के लिए श्रेष्ठ गुण— बुद्धि, उत्साह और शौर्य पर अवलंबित हैं । श्रीराम की लोकप्रियता इन्हीं गुणों के कारण प्रसिद्ध थी । इसलिए उनके हाथों में राज्याधिकार प्रेम के कारण ही समर्पित किया जा रहा है न कि मात्र उत्तराधिकारी होने के कारण ।

(क्रमशः)



जगद्गुरु भगवान् आद्य शंकराचार्य

— अवधनारायणधर द्विवेदी

आठ वर्ष का एक बालक स्नान करने के लिए अभी नदी में उतरा ही था कि मगर ने उसका पाँव पकड़ लिया। बालानां रोदनं बलम् के अनुसार बालक रोवे लगा—“माँ, माँ, मैं अब क्या करूँ ? घड़ियाल ने मुझे पकड़ रखा है, दौड़ो-दौड़ो बचाओ मुझे !” बालक की पुकार सुनकर माता दौड़ी चली आई, पर वह कर ही क्या सकती थी ? वह भी चिल्लाने लगी—“दौड़ो-दौड़ो मेरे लाल को बचाओ। हाय विवाता ! तू इतना क्रूर क्यों हो उठा। मैंने कौन-सा पाप किया कि तूने मेरे पति को असमय में ही उठा लिया और अब मेरा एकलौता बेटा, इस बुढ़िया का सहारा—काल के गाल में दबा पड़ा है।” माँ-बेटे की पुकार सुनकर लोग लाठी और भाला लिए दौड़े आये, पर नदी के किनारे रुक गये। वे घड़ियाल को मारने और उस बालक को बचाने का उपाय सोचने लगे।

उधर बालक की कातर दृष्टि माता के हृदय को चीर रही थी। किसी को कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। कठिनाई यह थी कि प्रहार कैसे किया जाय। कहीं बालक को न आघात पहुँचे। इसी बीच बालक चिल्लाया,—“माँ, हे माँ, यदि तू मेरे प्राण बचाना चाहती है तो मुझे संन्यास लेने की अनुमति दे। मेरे बचने का अब और कोई उपाय नहीं है !”

यह सुनकर माँ के हृदय में अन्तर्द्वन्द्व छिड़ गया। एकलौते बेटे को संन्यास लेने की अनुमति कैसे दूँ। पितरों का ऋण चुकेगा कैसे ? और मुझ अभागिनी का सहारा ? किन्तु घड़ियाल तो उसका जीवन ही समाप्त कर देगा। संन्यासी होने पर तो वह जीवित रहेगा। यदा-कदा उसके दर्शन भी होते रहेंगे।

बालक की कण्ठ पुकार फिर सुनाई पड़ी—“माँ, सोच-विचार का समय नहीं। संन्यास लेने की शीघ्र अनुमति दो।”

आओ बेटा, संन्यास की दीक्षा लो ! प्राणरक्षा का और कोई मार्ग नहीं दिखाई पड़ता।

फिर तो यह आश्चर्यजनक घटना घटी—घड़ियाल बालक को लिए स्वयं किनारे पर आ गया। इतना ही नहीं जैसे बिल्ली अपने बच्चों को दातों से पकड़ती है और बच्चे को न तो कोई पीड़ा होती और न कहीं उसे खरोंच लगती, वैसे ही बालक को न तो कोई पीड़ा हुई और न शरीर से एक बूँद रक्त ही गिरा। बच्चे को स्वस्थ पाकर माँ निहाल हो गयी।

यही बालक आगे चलकर शंकराचार्य के नाम से प्रख्यात हुआ जिसने कुछ ही वर्षों में बौद्धधर्म का उन्मूलन कर वैदिक धर्म का सारे देश में झण्डा फहराया और इससे भी बढ़कर प्रस्थापित—ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद्—पर भाष्य लिखा।

कुल, माता-पिता और जन्म

सरयू और नेपाल के बीच के क्षेत्र को ‘सरवार’ कहते हैं। इस सरवार क्षेत्र (बस्ती, गोरखपुर, देवरिया और चम्पारन) को वाल्मीकीय रामायण में ब्रह्म-भट्टी कहा गया है। क्योंकि यहाँ बहुसंख्य ब्राह्मणों की बस्ती है। इन ब्राह्मणों को सरवरिया कहते हैं। गोत्र-प्रवर्तक प्रायः सभी ऋषियों की जन्मभूमि यहीं है। इन्हीं सरवारिया ब्राह्मणों की दशविध शाखाएँ पंचगौड़ और पंच द्रविड़ विख्यात हैं। पंचद्रविड़ों में केरल के नम्बूद्रीपाद ब्राह्मण वैसे ही सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं जैसे सरवार के मामखोर, महसो, सरारि, सहगौरा आदि, पंक्तिपावन स्थानों के ब्राह्मण।

केरल देश में जब परम शैव राजा राजेश्वर राज्य करते थे तब उस राज्य के कालडी गाँव में एक तपोनिष्ठ ब्राह्मण नम्बूद्रीपाद श्री विद्याधिराज रहते थे। परम तेजस्वी

१. देखिये पं. रामलाल त्रिपाठी लिखित “सरवरिया ब्राह्मणों का इतिहास”

विद्याधिराज के एक अद्भुत पुत्र उत्पन्न हुआ जो ज्ञान में शिव और बुद्धि में बृहस्पति के समान था। जिससे उसका नाम 'शिवगुरु' रखा गया। यथासमय शिवगुरु गुरु के आश्रम में जाकर विद्याध्ययन करने लगे। ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर ब्रह्मचारी शिवगुरु जब अनेक शास्त्रों के निष्णात पण्डित बन गये तब आचार्य ने उन्हें गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए आदेश दिया।

ब्रह्मचारी शिवगुरु को अपनी कन्या देने के लिए अनेक कुलीन ब्राह्मण पण्डित विद्याधिराज के पास आये। बहुतों ने तो यथेष्ट धन देने का प्रस्ताव भी किया किन्तु उन्होंने अच्छे कुलों की जाँच पड़ताल कर 'पद्म' नामक ब्राह्मण की कन्या 'सती आर्याम्बा' को पसन्द किया और उनसे शिवगुरु का विवाह सम्पन्न हुआ। विवाहोपरान्त उन्होंने अग्निहोत्र की स्थापना की। उनके ऊपर सरस्वती और लक्ष्मी की समान कृपा थी। ऐसे सम्पन्न ब्राह्मण बहुत कम होते हैं। पं. शिवगुरु के ज्ञान और धन की ख्याति पूरे केरल में फैल गयी। राजा ने उन्हें राजगुरु के पद पर विभूषित किया।

लोक (यश) और वित्त (धन) की एषणाएँ (इच्छाएँ) भली भाँति पूरी हो जाने के बावजूद आधी उमर बीत जाने पर भी उनकी पुत्रेष्णा पूरी नहीं हुई। उन्हें सन्तान-सुख प्राप्त नहीं हुआ। एक दिन उन्होंने अपनी पत्नी से कहा—आर्ये, हमारे घर में सभी प्रकार की समृद्धि होते-हुए भी पुत्र-अभाव के कारण मैं विवर्तित हूँ। शिर के बाल सफेद होकर वृद्धावस्था का संदेश दे रहे हैं। पुत्र ही तो पिण्डदान देकर पितरों को सद्गति प्रदान करता है। मनुष्य की परम्परा, नाम-यश-गरिमा पुत्र से ही तो चलती है।

सती आर्याम्बा ने निवेदन किया—प्रभो, विधि के लेख पर ऐसा कोन है जो हरताल लगा सके। यदि हमारे भाग्य में सन्तान-सुख नहीं है तो ईश्वरेच्छा समझकर हमें संतोष करना चाहिए। हाँ, एक बात अवश्य है कि एक भगवान् शंकर ही ऐसे हैं जो विधि-विधान को बदल सकते हैं। वे आशुतोष—शीघ्र प्रसन्न होनेवाले अवढरदानी हैं। तपस्या करने पर उन्होंने असुरों को भी बड़े-बड़े वरदान दिये हैं तो क्या आप-जैसे अग्निहोत्री आस्तिक विद्वान् पर वे दयाद्र नहीं होंगे? अतः हमें काम्य तप शुरू कर देना चाहिए।

पत्नी के कान्तासम्मत मधुर उपदेश से आचार्य शिवगुरु इतने प्रसन्न हो गये मानो आज उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई

हो। शिवभक्ति से शिवगुरु का रोम-रोम पुलकित हो उठा। उन्होंने गद्गद होकर पत्नी से कहा—धन्ये, शुमस्य शीघ्रम्। हमें शीघ्र ही भगवान् की आराधना शुरू कर देनी चाहिए।

शिवगुरु की तपस्या

केरल राज्य में वृष पर्वत पर आशुतोष भगवान् शंकर मूर्ति के रूप में प्रकट हुए और वहाँ के राजा राजेश्वर को अपने रूप का दर्शन कराया। राजेश्वर परम शैव थे। भगवान् शंकर के आदेश से वृष पर्वत पर एक सुन्दर मन्दिर बनवाया गया। राजा स्वयं प्रतिदिन भगवान् शंकर की षोडशोपचार पूजा करने लगे। यह मन्दिर सिद्ध पीठ बन गया। पण्डित शिवगुरु ने अपनी तपस्या के लिए यही स्थान चुना। कन्द फल खाकर उन्होंने प्रभु की आराधना की। कुछ दिनों के बाद तो उन्होंने कन्दमूल का भी परित्याग कर दिया, सर्वथा निराहार रहकर मन को एकाग्र कर उन्होंने उग्र तपस्या की। उनकी पतिव्रता पत्नी सती आर्याम्बा ने भी उनका अनुसरण कर अपने कोमल शरीर को काँटा बना डाला।

एक दिन आचार्य शिवगुरु ने देखा कि ब्राह्मण वेशधारी शंकर उनसे पूछ रहे हैं कि इतनी तपस्या किस लिए कर रहे हैं?

“पुत्र के लिए” आचार्य ने विनीत-भाव से कहा।

“कैसा पुत्र चाहते हो—सर्वगुणसम्पन्न सर्वज्ञ एक पुत्र या प्रतिकूल गुणवाले अनेक पुत्र।”

“बहुगुणसम्पन्न, सर्वज्ञ एक पुत्र की कामना है मेरी।”

“तथास्तु, अब तुम्हारी तपस्या पूर्ण हो गयी। घर जा सकते हो।”

आचार्यदम्पती घर पहुँचा, उत्साह और उत्साह के साथ, उनकी साधना सफल हो गयी थी। इस आनन्द में तपस्याजन्य कृशता, थकावट न जाने कहाँ चली गयी। उन्होंने अनुभव किया कि मैं पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न हूँ। आचार्य शिवगुरु अनेक शास्त्रों के विद्वान् तो थे ही उन्हें भलोभाँति मालूम था कि हम लोगों के भाग्य में सन्तान-सुख नहीं है। शिव विधिलेख मिटा सकते हैं, इस पर उन्हें पूर्ण विश्वास था। इसलिए उनकी प्रसन्नता और भी बढ़ गयी।

[शेष पृष्ठ १४ पर]

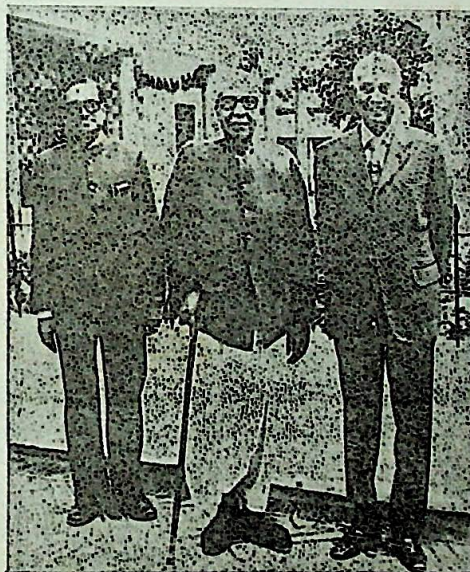
काशी मुमुक्षु भवन के उद्धारक स्व० रामेश्वरलालजी नोपानी

— श्री पुरुषोत्तमदास मोदी

काशी मुमुक्षु भवन सभा के इतिहास में नोपानी परिवार का अभूतपूर्व योगदान है। २७ दिसम्बर १९५१ को श्री रावतमलजी नोपानी मुमुक्षु भवन सभा के कोषाध्यक्ष निर्वाचित हुए थे। श्री रावतमलजी काशीवास की दृष्टि से काशी पधारे, सिन्धिया घाट पर उन्होंने नोपानी-निवास का निर्माण कराया और काशी में रहकर धार्मिक और सेवा-परायण जीवन व्यतीत किया। उसी परम्परा में श्री दौलतरामजी नोपानी के द्वितीय पुत्र श्री रामेश्वरलालजी नोपानी ने अपने को समस्त कार्य-व्यापार से मुक्त कर काशी-वास करने का संकल्प किया। सन् १९७५ में ये काशी पधारे।

श्री रामेश्वरलालजी अपने समय के प्रमुख उद्योग-पति तथा व्यवसायी थे। श्री दौलतराम रावतमल के नाम से कलकत्ता तथा देश के अन्य भागों में जूट, तिलहन और गल्ले आदि का व्यवसाय बहुत बड़े स्तर पर किया और इसी संस्थान के अन्तर्गत आपने मोतिहारी में बहुत बड़ी चीनी मिल की स्थापना की। अपने सक्रिय व्यावसायिक जीवन में वे लगभग ६० कम्पनियों के डाइरेक्टर अथवा मैनेजिंग डाइरेक्टर थे। प्रातः वायुयान से दिल्ली, और कभी बम्बई

के लिए निकलते फिर रात को कलकत्ता वापस और दूसरे दिन यही क्रम शुरू हो जाता। आप युनाइटेड कमर्शियल बैंक के भी डाइरेक्टर थे। अपनी कार्यक्षमता के आधार पर आप इण्डियन चेम्बर आफ कामर्स के सभापति निर्वाचित हुए।



(दायें से) श्री लक्ष्मीनिवास बिरला, श्री रामेश्वर-लाल नोपानी और श्री पुरुषोत्तमदास मोदी

सामाजिक क्षेत्र में आपने कलकत्ता में नोपानी विद्यालय, राँची में विकास विद्यालय की स्थापना की जो भारतीय संस्कृति तथा सम्यता के आदर्शों की पृष्ठभूमि में आधुनिक शिक्षा प्रदान करते हैं। आज ये देश के प्रमुख विद्यालय हैं।

बंगाल में सुहरावर्दी के शासनकाल में हिन्दू-मुस्लिम दंगों में आपने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। आतंक-ग्रस्त क्षेत्रों में जाकर कलकत्ता के अपने अन्य कर्मठ सहयोगियों के साथ आपने कितने परिवारों की रक्षा की। सत्य और निर्भीकता आपका विशेष गुण था। आप जितने ही सहृदय,

सरल और उदार थे उतने ही कठोर भी। दृढ़ता और अनुशासन आपका स्वभाव था। सिद्धान्त के प्रश्न पर आप कभी झुकते नहीं थे।

पारिवारिक जीवन में भी आपने आदर्श उपस्थित किया। ३४ वर्ष की युवावस्था में आपकी पत्नी की मृत्यु हो

गयी किन्तु आपने पुनः विवाह नहीं किया। यद्यपि इसके लिए आप पर अनेक दबाव पड़े। आपके दो पुत्र—श्री शिवप्रसादजी और श्री श्रीनारायणजी तथा दो पुत्रियाँ हैं। आपके अग्रज श्री रावतमलजी नोपानी के पुत्र श्री मोहनलालजी नोपानी श्री रामेश्वरलालजी को अपने पिता के समान मानते रहे हैं और नोपानीजी का भी उनपर अपार स्नेह रहा। इस दूसरी पीढ़ी में भी श्री रावतमलजी तथा श्री रामेश्वरलालजी के धार्मिक तथा सामाजिक संस्कार हैं जो नोपानी एजुकेशन ट्रस्ट, नोपानी जनसेवा निधि आदि अनेक दातव्य संस्थाओं के माध्यम से सेवा परम्परा को अग्रसर किये हुए हैं।

नोपानीजी के काशी आने से कलकत्ते के सामाजिक जीवन में रिक्तता अनुभव की जाने लगी थी। मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी, अखिल भारतीय मारवाड़ी सम्मेलन, जिसके आप प्रधान मन्त्री थे, आदि अनेक सामाजिक तथा सेवापरायण संस्थाओं से आप सक्रिय रूप से सम्बद्ध रहे।

सन् १९७५ में आप जब काशीवास करने की दृष्टि से काशी पधारे, तब उसी समय काशी मुमुक्षु भवन सभा के अध्यक्ष श्री लक्ष्मीनिवासजी बिरला यज्ञ हेतु काशी पधारे थे। बिरलाजी ने नोपानीजी से अनुरोध किया कि काशी की प्राचीन संस्था काशी मुमुक्षु भवन सभा का, जिससे उनके अग्रज श्री दीलतरामजी नोपानी का सक्रिय सम्बन्ध था, कार्य सँभालें। नोपानीजी ने बड़े संकोच के साथ काशी मुमुक्षु भवन सभा का उपाध्यक्ष पद स्वीकार किया। उनके प्रति बिरलाजी ही नहीं कलकत्ता तथा देश के सभी दाताओं का अटूट विश्वास रहा है। उन सबने श्री नोपानीजी के निर्देशन में सभा को अपेक्षित धनराशि प्रदान की। नोपानीजी अत्यन्त दूरदर्शी निर्माता थे। उन्होंने सर्वप्रथम पाँच एकड़ में विस्तृत सभा परिसर की सुरक्षा के लिए चारों तरफ ऊँची चहारदीवारी बनवा दी, पूरे परिसर में स्थित भवनों तथा भूमि का नक्शा बनवाया और सभा भवनों के जीर्णोद्धार और नव-निर्माण के लिए मास्टर प्लान बनवाया, जिसके अनुसार सभा में जीर्णोद्धार तथा निर्माण कार्य हो रहा है। सभा परिसर में पानी की विशेष कठिनाई थी, इसके लिए विभिन्न स्थानों पर अनेक टंकियों का निर्माण कराकर तथा मोटर-पम्प आदि की दुहरी व्यवस्था कर जल आपूर्ति सुनिश्चित की। पुराने सीवर आदि बन्द हो चुके थे, उनको नये सिरे से साफ करवाकर चालू

कराया। सारा परिसर स्वच्छ रहे, इसके लिए सफाई के साथ-साथ नये-नये शौचालयों तथा स्नानागारों का निर्माण कराया। पहले मठ के दण्डी स्वामियों को अपने स्थान से काफी दूर शौच आदि के लिए जाना पड़ता था, नोपानीजी ने सर्वप्रथम उनके लिए मठ के निकट ही शौचालय तथा स्नानागार का निर्माण कराया। वेद वेदांग महाविद्यालय के छात्रों के लिए भी इन सब सुविधाओं की व्यवस्था करवायी। इस समय भी उनके द्वारा निर्धारित योजनाओं के अनुसार ही सुविधाओं का विस्तार किया जा रहा है।

वेद वेदांग महाविद्यालय आज उनकी ही प्रेरणा से 'क' वर्ग में आ सका है और यहाँ आचार्य तक की शिक्षा दी जाती है। मठ के दण्डी स्वामियों के प्रति नोपानीजी के मन में अपार श्रद्धा और आस्था थी। उन्होंने उनके लिए भोजन तथा दूध की व्यवस्था की। सभा का व्यय इन सब कारणों से बहुत अधिक बढ़ गया किन्तु उन्होंने इसके लिए दाताओं से सग्राह अनुरोध किया और उनसे अधिकाधिक सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया।

सभा के बढ़ते हुए व्यय के लिए उन्होंने एक योजना बनायी थी। उनकी इच्छा थी कि पाँच-पाँच हजार रुपये के सभा के दो सौ सदस्य बनाये जाएँ और इस प्रकार सदस्यों से प्राप्त राशि किसी राष्ट्रीकृत बैंक अथवा संस्थान में जमा करा दो जाए और उसके व्याज से संस्था का निरन्तर विकास करते हुए उसे अधिकाधिक जनोपयोगी बनाया जाए।

पिछले दिनों श्री लक्ष्मीनिवासजी बिरला काशी पधारे थे, श्री नोपानीजी अस्वस्थ होते हुए भी बिरलाजी को पूरे परिश्रम में ले गये थे। उन्होंने संस्था के कार्यों को दिखाया और आवश्यकताओं से उन्हें अवगत कराया।

मुमुक्षु भवन सभा के इतिहास में श्री रामेश्वरलालजी नोपानी एक उज्ज्वल व्यक्तित्व लेकर आये। मुमुक्षु भवन सभा उनकी सेवाओं को चिरकाल तक याद रखेगी। वे संस्था के उद्धारक ही नहीं संरक्षक के रूप में स्मरणीय रहेंगे। काशी का जन-जीवन भी उन्हें सदैव स्मरण रखेगा।

'मुमुक्षु' पत्रिका भी उनको ही कल्पना है।

गत १८ जुलाई को सायंकाल चार बजे गंगा तट (सिन्धिया घाट) पर उनका काशीवास हो गया। काशी की महिमा के अनुसार उन्हें शिव-सायुज्य तो प्राप्त होगा ही, लोक में भी उनके द्वारा पुरस्कृत संस्थाएँ शताब्दियों तक उनकी स्मृति जगाती रहेंगी।

विभिन्न धर्मों में मोक्ष की धारणा

— डा० श्रीमती अरुणा बनर्जी

[डा. श्रीमती अरुणा बनर्जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत महिला महाविद्यालय के दर्शन विभाग में प्राध्यापिका हैं। आपने “पारसी और सेमेटिक धर्मों में मोक्ष की धारणा” विषय पर अपना शोध प्रबन्ध लिखा है। विदुषी लेखिका ने प्रस्तुत लेख में सभी धर्मों के परम लक्ष्य मोक्ष की धारणा का विवेचन किया है। — सम्पादक]

मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। भिन्न-भिन्न दर्शनों में मोक्ष की धारणा भिन्न-भिन्न है। पर यह सभी स्वीकार करते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति से जीवन के दुखों का नाश हो जाता है। केवल दुःख नाश ही नहीं बल्कि आनन्द की भी प्राप्ति होती है।

मोक्ष या मुक्ति शब्द मूलतः ‘मोक्ष’ या ‘मुच्’ धातु से बना है, जिसका तात्पर्य है “मुक्त होना”। अर्थात् जन्म और मरण के चक्र से मुक्त होना। भारतीय दर्शन में यह धारणा मानी जाती है कि मनुष्य की आत्मा शाश्वत रूप से मुक्त है। पर वह सांसारिक बन्धन व अज्ञानता के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाती और दुःख भोगती है। अतः अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेना ही बन्धन से तथा दुःख से मोक्ष पाना है। पाश्चात्य विचारधारा में आत्मा आदि काल में आदम के आदि पाप से लिप्त होने के कारण संसार में पतित हुई, और उस पाप से छुटकारा पाना ही मोक्ष है।

भारतीय दर्शन में जीवन के अन्तिम लक्ष्य की पूर्ति में व्यावहारिक उद्देश्य को प्राधान्य मिला है। दुःख का कारण जानना, दुःख नाश कैसे हो तथा दुःख-निवारण के प्रयत्न में सभी सिद्धान्त प्रयत्नशील हैं। इसके लिए वे मनुष्य तथा संसार के अन्तर्निहित तत्त्वों का अनुसन्धान करते हैं। भारतीय सिद्धान्तों में पुरुषार्थ साधन को महत्त्व दिया गया है। आर्थिक मूल्य ‘अर्थ’, मानसिक मूल्य ‘काम’, नैतिक मूल्य ‘धर्म’ तथा आध्यात्मिक मूल्य ‘मोक्ष’ पुरुषार्थ के नाम से उल्लिखित हैं। पाश्चात्य धारणा में नैतिक मूल्य ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। पर भारतीय सन्त इतने से ही

सन्तुष्ट नहीं होते, उनका चरम लक्ष्य परमार्थ की प्राप्ति है। जहाँ केवल नैतिक तथा आध्यात्मिक कर्म का विवेक न रहकर वह एकात्म स्वरूप होता है, वही मोक्ष की अवस्था है।

नास्तिक दर्शन चार्वाक केवल ‘काम’ को ही मूल्य देते हैं और वही उनके लिए चरम लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति का साधन ‘अर्थ’ है। पुनर्जन्म को वे नहीं मानते। वर्तमान जीवन को सुख, समृद्धि और वैभव में व्यतीत कर मृत्यु प्राप्त करना ही सबसे बड़ा मोक्ष है। परन्तु यह धारणा सर्वथा निरर्थक है, यह अनुभव कर उन्होंने पुनः ‘धर्म’ या नैतिक नियम पालन को ही महत्ता प्रदान की।

“परस्परस्थानुपघातकं त्रिवर्गं सेवेत।”

आस्तिक दर्शन मीमांसा में वेद के कर्मकाण्ड पर अत्यधिक बल दिया गया है, और उसमें ‘धर्म’ को प्राधान्य प्राप्त है जिसके पालन द्वारा मनुष्य को स्वर्गीय सुख की प्राप्ति हो सकेगी। पर वैदिक ऋषियों ने इसे और भी आगे बढ़ाया। क्योंकि धर्म का फल—स्वर्गीय सुख—यद्यपि सांसारिक सुख से बढ़कर है तथापि वह शाश्वत नहीं। क्योंकि बाह्य रूप से किसी भी सुख को प्राप्त किया जाय उसका अन्त भी अवश्य ही हो जाता है। उस सुख के खो जाने का भय एवं दुःख सदा मन में बना रहता है। अतः उपनिषद् के ज्ञानो आचार्यों ने यह अनुभव किया कि एक मात्र अद्वैत आत्मा को उपलब्धि हो शाश्वत आनन्द रूप है। जब जीव तथा जगत् के माया का द्वैत हट जाता है तो ब्रह्मण्य आत्मा का ज्ञान ही मोक्ष का स्वरूप है, जिसमें पुनः उसके खो जाने का भय नहीं रहता।

उपनिषद् के ऋषि याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी के प्रश्न से सांसारिक समृद्धि के प्रति जो असन्तोष प्रगट हुआ है वही असन्तोष तो समस्त उपनिषद् के ऋषियों का है। —“येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्यां ।” —बृह. उप. । अर्थात् ऐसे सुखों को लेकर मैं क्या करूँ जो अमरता नहीं दे सकते। कठ उपनिषद् में भी है कि नचिकेता सांसारिक व स्वर्गीय सुखों का परित्याग कर सत्य की खोज में दृढ़ रहे। इस प्रकार उपनिषद् में ऋषियों द्वारा प्राप्त वास्तविक आध्यात्मिक अनुभव को ही परम प्राप्ति समझा गया।

नकारात्मक रूप से मोक्ष जन्म और मृत्यु के चक्र का तथा सभी प्रकार के दुःखों का अन्त है। सकारात्मक रूप से यह ब्रह्म में लीन होकर अद्वैत का अनुभव है, यह वर्णनातीत आनन्द है—

“यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।”

—तैत्त. उप.

ऋषियों का विश्वास है कि मोक्ष इसी जगत् में और शरीर धारण करते हुए भी पाया जा सकता है। यदि ब्रह्म को नहीं जाना तो महान् क्षति है।—

“न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।” —केन. उप. ।

मोक्ष प्राप्ति तभी सम्भव है जब परम सत्य आत्मा का ज्ञान हो क्योंकि आत्मा को जानना ही ब्रह्म को जानना है। समस्त विश्व का अन्तर्भूत सत्य ही ब्रह्म है। अतः आत्मा का ज्ञान ही ब्रह्माण्ड का ज्ञान है। भारतीय चिन्तन धारा का विकास आस्तिक दर्शनों के दृष्टिकोण से तीन स्तरों पर हुआ है। सर्वप्रथम नैयायिक तथा वैशेषिक विचार के अनुसार मोक्ष का अर्थ है दुःख से निवृत्ति। मोक्षावस्था में आत्मा अनुभव रहित हो जाती है। न सुख की प्रतीति होती है और न दुःख की। क्योंकि आत्मा में चेतना के इन अनुभूतियों का एक के बाद एक प्रवाह शृंखला में आते रहते हैं, जिनका मोक्षावस्था में सर्वथा विनाश हो जाता है। आत्मा-चेतना रहित एक शुद्ध द्रव्य बन जाती है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक मोक्ष को आनन्द की अवस्था स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार आनन्दानुभूति में आत्मा को उस आनन्द के अन्त होने का भय या दुःख बना रहेगा, दूसरे इस आनन्द के अनुभव में इन्द्रिय की आवश्यकता है। अतः मोक्ष को आनन्द नहीं माना जा सकता। मोक्ष में आत्मा चेतना व आनन्द आदि से भी रहित पूर्ण मुक्त होती है।

द्वितीय स्तर पर सांख्य-योग का विचार है जो न्याय-वैशेषिक के समान मुक्ति की अवस्था को चेतना रहित नहीं मानता है। सांख्य के अनुसार सांसारिक बन्धन का मुख्य कारण पुरुष व प्रकृति के द्वैत स्वरूप के प्रति अज्ञानता है। सांख्य सिद्धान्त में पुरुष ही चैतन्य, प्रबुद्ध तत्त्व, पूर्ण, नित्य, मुक्त, शुद्ध, बुद्ध है। प्रकृति सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों गुणों से युक्त पर जड़ तत्त्व है जो जगत् के समस्त पदार्थों का महाकारण है, और उसका कोई कारण नहीं है। पुरुष निष्क्रिय है और प्रकृति में चेतना नहीं है पर इन दोनों के संयोग से विश्व के विकास-क्रिया की व्याख्या सांख्य दर्शन में की गयी है। पुरुष के सान्निध्य की प्रतीति प्रकृति को होने पर जो विवर्तन होता है वही जगत् सृष्टि का क्रम है। इसमें प्रकाशमय चेतन व निष्क्रिय पुरुष जड़ प्रकृति में बुद्धि पर प्रतिबिम्बित होने से प्रकृति चेतन प्रतीत होने लगती है और बुद्धि के स्वरूप का आभास पुरुष पर पड़ता है तो वह कर्ता, भोक्ता, आसक्त मालूम पड़ता है। इस प्रकार चेतन पुरुष व अचेतन प्रकृति के इस कल्पित तथा आरोपित सम्बन्ध को बन्धन कहते हैं। पुरुष का अपने आपको पहचानना प्रकृति को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाना ही विवेक-बुद्धि है। यही मुक्ति है। सांख्य मुक्तावस्था को पूर्ण चैतन्य मानता है, इसमें आनन्दानुभूति नहीं होती। क्योंकि आनन्द तो सत्त्व गुण का फल है जो प्रकृति का वैशिष्ट्य है। अतः न्याय विचार के समान सांख्य में मोक्ष का स्वरूप सभी दुःखों का अन्त, साथ ही पूर्ण चेतनावस्था है। विवेक, बुद्धि प्राप्त हो जाने पर पुरुष निर्लिप्त व निःसंग होकर प्रकृति को देखता है। और कैवल्य प्राप्ति होती है। प्रकृति भी सृष्टि के उद्देश्य की पूर्ति हो जाने से विरत हो जाती है।

श्री माध्वाचार्य के सिद्धान्त में स्वतन्त्र और परतन्त्र दो सत्ताओं को माना गया है। ब्रह्म ही एक मात्र स्वतन्त्र सत्ता है। आत्मा और जगत् परतन्त्र सत्ता हैं जो ब्रह्म पर ही निर्भर हैं। अन्य वैष्णव विद्वान्तिथों के अनुसार यद्यपि ब्रह्म ही परम सत्य है, पर आत्मा भी असत्य नहीं। क्योंकि वह ब्रह्म से ही आविर्भूत है, जैसे अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं। जगत् भी सत्य है क्योंकि यह ब्रह्म की सृष्टि है तथा ब्रह्म से उसी प्रकार सम्बद्ध है जैसे शरीर से उसके विभिन्न अंग युक्त रहते हैं। इस प्रकार रामानुज विशिष्टाद्वैत को मानते हैं। आत्मा में

‘अचित्’ के संसर्ग से अविद्या, कर्म, वासना, रुचि उत्पन्न होती है। अचित् के निवृत्त होने से ही मुक्तावस्था आती है जिसमें अविद्या का नाश व ज्ञान का विकास होता है।

भेदाभेदवादियों के मत में मानवात्मा तथा जगत् ब्रह्म से उसी प्रकार सम्बन्धित हैं जैसे समुद्र और उसकी लहरें होती हैं। इसमें तो भेद भी है साथ में अभेद भी है। आत्मा और जगत् भी ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं, इस सत्य का बोध ही परम ज्ञान मोक्ष प्राप्ति है।

श्रीपाद शंकर के अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है, जगत् मिथ्या है। —“ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।” कहकर शंकराचार्य केवल ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं। आत्मा शुद्ध चैतन्य और ब्रह्मरूप ही है। आत्मा सदा मुक्त है। उसे मोक्ष की अपेक्षा नहीं है, किन्तु अविद्या या माया के कारण जब साक्षी का तादात्म्य अन्तःकरण से हो जाता है तब सुख दुःख की प्रतीतियों के बन्धन में वह आबद्ध हो जाती है। इस बन्धन से छुटकारा पाना व अपने स्वरूप को जानना आवश्यक हो जाता है। जब जिज्ञासु साधक को नित्यानित्य वस्तु विवेक, भोग विराग, शमदमादि साधन एवं मुक्ति की तीव्र इच्छा मुमुक्षुत्व होती है तो वह अवस्था ‘भूमिका’ कहलाती है। वेदान्त में सात भूमिकाओं में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का वर्णन है। भूमिकाओं के अन्त में जीव को मोक्ष पद प्राप्त हो जाता है। मोक्ष में पूर्ण चैतन्य तथा पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होती है। यह ‘सच्चिदानन्द’ अवस्था है। इस आनन्द का पता ‘सांख्य भूमि’ तक किसी को नहीं होता। यह अपूर्व आनन्द है जिसके सम्बन्ध में तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।

आनन्दाद्विद्यैव खल्विदमनि भूतानि जायन्ते।

आनन्देन जातानि जीवन्ति।

आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥

अतः मोक्षावस्था में न तो नेतिवाचक रूप में न्याय-वैशेषिकों के समान सभी प्रकार के दुःख व अनुभूतियों का अन्त होता है, न ही सांख्य के समान यह आनन्द-रहित केवल चैतन्य की अवस्था है। यह तो ब्रह्म में लीन होकर परमानन्द प्राप्ति है।

वैष्णव वेदान्तियों का मत इससे भिन्न है। वे आत्मा

के पृथक् अस्तित्व को ब्रह्म में समा देना ‘नहीं’ चाहते। क्योंकि भक्ति में उपास्य व उपासक का भेद रहता है। अतः मोक्षावस्था में आत्मा पृथक् रहकर ही ईश्वर के सामीप्य का आनन्द लेती है। उपासक आत्मा ईश्वर से एक होकर उनकी सृष्टि शक्ति व अन्य शक्तियों का उपयोग नहीं कर सकती। क्योंकि वह तो ईश्वरीय शक्ति है। इस प्रकार आत्मा ईश्वर के समान हो सकती है स्वयं ईश्वर नहीं बन सकती। आचार्य शंकर ने, इसी शरीर में जब मनुष्य की अविद्या का नाश होकर ब्रह्मज्ञान हो जाता है तो जीवनमुक्ति होती है, ऐसा माना है। परन्तु वैष्णव वेदान्त बन्धन का कारण शरीर धारण मानते हैं। अतः जीवनमुक्ति की धारणा बदतोव्याघात है। उनके अनुसार मुक्ति ब्रह्मलोक की ओर आध्यात्मिक यात्रा है जो देह से पृथक् होकर ही हो सकती है। वे आत्मा की क्रम-मुक्ति को मानते हैं।

प्रथम सालोक्य मुक्ति है जिसमें आत्मा ईश्वर लोक प्राप्त करती है।

द्वितीय सांख्य मुक्ति, जिसमें आत्मा ईश्वरीय ऐश्वर्य का उपभोग करती है।

तृतीय सामीप्य मुक्ति, जिसमें आत्मा ईश्वर के समीप रहती है।

चतुर्थ सारूप्य मुक्ति, जिसमें आत्मा ईश्वर के गुणों को प्राप्त कर लेती है।

पंचम सायुज्य मुक्ति, इसमें आत्मा ईश्वर के शरीर में प्रवेश करती है। पर इस अवस्था में भी आत्मा का अलग अस्तित्व रहता है और वह ईश्वर की प्रार्थना आदि करती है। डा. राधाकृष्णन् इस विचार की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यह मोक्ष की धारणा का विरोधात्मक रूप है, क्योंकि इसमें अहंभाव प्रस्फुटित होता है।

श्री चैतन्य महाप्रभु जैसे वैष्णव वेदान्तियों के विचार में भक्ति मोक्ष से भी बढ़ कर है। उनका विश्वास है कि जैसे जल बिना पृथ्वी के आधार के नहीं रह सकता उसी प्रकार मुक्ति भी भक्ति के बिना सम्भव नहीं।

बौद्ध विचारधारा में मोक्ष या निर्वाण सम्बन्धी धारणा विभिन्न सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न है। यह उपरोक्त आस्तिक दर्शनों के मतों से थोड़ा भिन्न होते हुए भी उनके विचारों से मिलती है। हीनयान बौद्ध सम्प्रदाय के वैमा-षिकों का मत न्याय-वैशेषिक मत से बहुत समता रखता

है। महायान सम्प्रदाय में नागार्जुन के शून्यवाद का मत मोक्ष की धारणा के समान है। परमार्थ तत्त्व के स्वरूप विचार में मतों में विशेष भेद नहीं है। आत्मा को 'अस्ति' 'नास्ति', 'अस्ति-नास्ति' तथा 'नास्ति-नास्ति', इन चार कोटियों से अस्पृष्ट कहा है। नागार्जुन ने माध्यमिक कारिका में कहा है—न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुमयात्मकम्।

चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥

महायान में निर्वाण का लक्ष्य बोधिसत्त्व के विचार में विशिष्ट रूप से व्यक्त होता है। आचार्य शान्तिदेव का कहना है कि सम्पूर्ण जगत् तथा मानव समुदाय के दुखों का अन्त होने से जो शान्ति होती है वह निर्वाण के आनन्द से भी बढ़कर है।

महायान सम्प्रदाय तथा सांख्य और शंकर के अद्वैत वेदान्त में दूसरा विचार यह प्राप्त होता है कि बन्धन तो मनुष्य के स्वतः की कल्पना है, और इस कल्पना का अन्त होते ही निर्वाण प्राप्ति होता है। बन्धन और मुक्ति दोनों ही उनके विचार में जागतिक धारणा है। आत्मा तो शाश्वत रूप से मुक्त है पर स्वयं इस सत्य का ज्ञान 'उसे' नहीं रहता। मोक्षावस्था इस सत्य की ही उपलब्धि होती है। अतः वस्तुगत रूप से परिवर्तन नहीं होता, बल्कि विचार परिवर्तित होते हैं।

जैनों की मोक्ष सम्बन्धी धारणा बहुत ही वैशिष्ट्यपूर्ण है। इनके अनुसार आत्मा का स्वभाव दीपक की लौ के समान ऊर्ध्वगामी है। पर आत्मा इस प्रकार नहीं रह पाती। क्योंकि आत्मा जड़ जगत् के पुद्गल कणों से आकृष्ट होकर कर्म और वासना के बन्धन में पड़ जाती है। जीव की ओर कर्म पुद्गल का प्रवाह आस्रव कहलाता है। जीव जब कर्म पुद्गल रूपी इन बाधाओं को हटा देता है तभी वह अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य तथा अनन्त दर्शन को प्राप्त करता है और यही मुक्तावस्था है। यह मुक्ति तभी सम्भव है जबकि पुद्गल के नये प्रवाह को रोका जाय जिसे 'संवर' कहते हैं तथा वर्तमान पुद्गल को जीर्ण किया जाय जिसे 'निर्जर' कहते हैं। इसके लिए अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह को अपनाना आवश्यक है जिससे वासनाओं का विनाश होगा फलतः जीव फिर बन्धनयुक्त न होगा। आत्मा ऊर्ध्वगामी पथ पर सिद्धशिला को पहुँचने तक चलेगी, और सदा वहीं रहेगी।

आधुनिक विचारधारा में ऋषि अरविन्द का विचार सम्पूर्ण जगत् की मुक्ति का विचार है। यह स्थूल जगत् जो जड़वत् प्रतीत होता है उसमें भी चेतना सुप्तावस्था में है। वे परम चैतन्य के द्वारा जगत् तथा मानव की मुक्ति की धारणा प्रस्तुत करते हैं जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का स्वरूपों आध्यात्मिक होगा। इसमें मानवात्मा के माध्यम से परमात्मा की चेतना का प्रकाश समस्त जगत् में व्याप्त होगा। अरविन्द का यह विचार पाश्चात्य दार्शनिक ब्रैडले तथा हेगेल के विचार के समान है।

उपरोक्त भारतीय विचारधारा में मोक्ष के विभिन्न स्वरूप को देखने से यह स्पष्ट होता है कि सभी सिद्धान्तों में यह स्वीकार किया गया है कि मोक्ष की प्राप्ति इस जागतिक स्वरूप के अन्तरालवर्ती परमार्थ सत्ता के परम ज्ञान से ही होता है। यह आत्मा के जीवन युद्ध में विजय तथा सर्वोच्च मूल्य की प्राप्ति है, जिसमें आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करती है। इसके अतिरिक्त सभी सिद्धान्तों में बन्धन को अनादि माना गया है। बन्धन तथा पाप के प्रारम्भ में किसी विशेष समय का उल्लेख नहीं है। पाश्चात्य विचारधारा में इसके विपरीत धारणा प्राप्त होती है। यहूदी, ईसाई आदि धर्मों में यह माना गया है कि स्वर्ग से मुक्त विचरण करने वाला प्रथम मानव का जोड़ा आदम और हेवा ने ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन कर स्वतन्त्र इच्छा से ज्ञान-वृक्ष के फल का जब भक्षण किया तो उन्होंने अनुचित कार्य या पाप किया। जिससे स्वर्ग से मनुष्य को पतित होना पड़ा और उस समय से पाप का प्रारम्भ हुआ। यही आदि पाप मानव समुदाय के पाप का प्रथम कारण है, जिस कारण मानव जन्म से ही पापी समझा जाता है।

भारतीय विचार में बन्धन का कारण अविद्या या अज्ञान है, यह कोई क्रिया नहीं, जैसा कि पाश्चात्य विचार में आदि पाप की क्रिया ही मानव समुदाय के पाप और बन्धन का कारण है। भारतीय विचार में अविद्या ही अनुचित कार्य का कारण है, जिससे जीवात्मा परमात्मा से अपने को पृथक् समझती है। नैतिवाचक रूप से भारतीय ऋषि मोक्ष को सभी प्रकार के दुखों का तथा जन्म-मरण के चक्र का अन्त मानते हैं। यद्यपि मोक्ष के सकारात्मक रूप का सिद्धान्त सभी दर्शनों का भिन्न-भिन्न है। इसके अलावा उनका विचार इस बात पर भी स्पष्ट है कि

मोक्ष किसी बाह्य साधन द्वारा उपलब्ध नहीं होता, यह तो अन्तरात्मा के अज्ञानता के अपसरण होने पर ही उपलब्ध होता है। पाश्चात्य विचार में इसके विपरीत विचार दृष्टिगोचर होते हैं।

यहूदी धर्म पैगम्बर मूसा (मोजेज) द्वारा प्रवर्तित है और उनके उपदेशों का अनुसरण करते हुए वे यह मानते हैं कि एक दिन मुक्तिदाता का आविर्भाव होगा और जगत् में ईश्वर का साम्राज्य स्थापित होगा। क्रियामत का दिन आयेगा जब मनुष्य के पाप का दण्ड तथा पुण्य के लिए पुरस्कार-प्राप्ति होगी। मुक्तिदाता पैगम्बर सभी का और जगत् का भी उद्धार करेंगे जिससे वह स्वर्ण युग में परिवर्तित होगा। ईसा द्वारा प्रवर्तित ईसाई धर्म तो स्पष्ट रूप से ईसा मसीह को ही मुक्तिदाता मानता है। उन्होंने समस्त पापियों का दण्ड अपने ऊपर लिया और शूली पर चढ़ गये। क्रियामत के दिन वे ही सभी का उद्धार करेंगे और पाप से सम्पूर्ण जगत् को छुटकारा दिला कर मुक्ति तथा ईश्वरीय साम्राज्य की स्थापना होगी। इसी प्रकार इसलाम धर्म भी पैगम्बर मोहम्मद को ही मुक्तिदाता मानता है। जिनके द्वारा इसलाम धर्म का प्रवर्तन हुआ है। पारसी धर्म के संस्थापक पैगम्बर जरथुस्त्र हुए और उनके उपदेशों का पालन करते हुए मनुष्य यदि मन, वचन, कर्म के द्वारा पूर्ण नैतिक जीवन पालन करता है तो उसे मुक्ति मिलती है। पर उपरोक्त सभी विचारों में यह स्पष्ट है कि मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता। सभी मनुष्य की आत्मा क्रियामत के दिन या विचार दिवस में अपने-अपने शरीर को प्राप्त करेगी और ईश्वर उसके पाप-पुण्य का विचार करेंगे।

उसके पश्चात् स्वर्णिम युग आयेगा जब कि पाप का सर्वथा अन्त होगा और ईश्वरीय साम्राज्य स्थापित होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण मानव तथा प्राणी समुदाय और जगत् ही मुक्त हो जायगा। स्पष्ट है जहाँ भारतीय विचारधारा में आत्मा की अज्ञानता के विनाश के अनुसार व्यक्तिगत मुक्ति मानी गयी है, पाश्चात्य विचार में सामूहिक मुक्ति की धारणा है। साथ ही पाप भी जैसे निश्चित समय से प्रारम्भ हुआ है, मुक्ति भी उसी प्रकार भविष्य में ईश्वर द्वारा निश्चित समय पर होगी।

उपरोक्त विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तों को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्ति ही सबका अन्तिम लक्ष्य है। भारतीय सिद्धान्तों में न्याय-वैशेषिक, सांख्य, वैष्णव वेदान्त आदि के विचार जो मोक्ष की धारणा को व्यक्त करते हैं, उन सभी में सत्य निहित है पर उन्हें आंशिक सत्य कहा जा सकता है, जिसका अवलोकन करते हुए पूर्ण सत्य के सिद्धान्त अद्वैतवादी विचार तक पहुँचते हैं। मनुष्य की आत्मा द्वैतवाद, अनेकवाद से सन्तुष्ट नहीं होती, वह तो अद्वैत की प्राप्ति से ही सन्तुष्ट होती है, जिसमें आत्मा और परमात्मा का भेद मिट कर सब अद्वैत स्वरूप होता है।

परमात्मा से एकत्व भारतीय दर्शन का लक्ष्य तथा विभिन्न पाश्चात्य विचारों में पाप से छुटकारा प्राप्त कर ईश्वरीय साम्राज्य की स्थापना को प्राधान्य मिला है। जो भी लक्ष्य ही सभी धर्म सत्य, प्रेम, सेवा, ईश्वर-भक्ति, सहनशीलता, दया, सदाचरण आदि पर चलने को कहते हैं क्योंकि परमलक्ष्य की प्राप्ति इसी से सम्भव है।



देनेवाला

हातिम जब परदेस जाने लगे तो अपनी पत्नी से पूछ बैठे—“तुम्हारे लिए खाने-पीने के लिये कितनी सामग्री रख जाऊँ ?”

“जितनी मेरी आयु हो”—कहकर उनकी पत्नी हँस पड़ी।

हातिम बोले—“तुम्हारी आयु बताना मेरे बूते की बात नहीं है।”

पत्नी ने कहा—तब तो मेरी रोटी का इन्तजाम भी

आपके बूते से बाहर की बात है। यह काम जिसका है उसी को करने दीजिए।”

पत्नी की आस्था पर मुग्ध होकर हातिम परदेस चले गये। एक दिन एक पड़ोसिन पूछ बैठी—“बेटी, हातिम तेरे लिए क्या इन्तजाम कर गये हैं ?”

हातिम की पत्नी ने कहा—“माँ, मेरे पति क्या इन्तजाम करेंगे। वे तो खानेवाले थे। खाना देनेवाला तो अब भी यहीं है।”

The Shankar Agro Industries Limited

Manufacturers of

Best Quality

WHITE CRYSTAL SUGAR



Mills at :

P. O. CAPTAINGANJ

Dist. Deoria (U.P.)

Phone : 26

Gram : SUGAR

Captainganj (Deoria)

Registered Office :

9, Brabourne Rd. (6th flr.)

CALCUTTA-700001

Phone : 26-7385 (4 Lines)

Gram : CHINIMIL

Telex : CALCUTTA 7611

WE ALSO MANUFACTURE WHITE CRYSTAL SUGAR FOR EXPORT

काशी का वैभव और भगवन्नाम जप

— पूज्य श्री डोंगरेजी महाराज

काशी का निवास बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। काशी-वासियों का बड़ा पुण्य है। यहाँ रहनेवालों का जीवन मंगलमय है, साथ ही यहाँ मरण भी मंगलमय है। और स्थानों में तो केवल जीवन ही मंगलमय होता है, पर काशी में मरण भी मंगलमय है। यह अन्यत्र नहीं। यहाँ कोई भी किया गया सत्कर्म तथा पुण्य का कार्य हजार-गुना होता है। इसी तरह पाप या दुष्कर्म भी हजार गुना हो जाता है। इसलिए पाप करने से बचना चाहिए। दान-पुण्य करना तो आसान है पर मनुष्य का पाप से बचना अत्यन्त कठिन है। मन के शुद्ध होने से पाप से बचा जा सकता है। पाप से बचने की कोशिश करो। जीवन में शरीर से पाप न बने तो सबसे अच्छा है। जीवन में आचार की अत्यन्त आवश्यकता है। शुद्ध आचार के बिना विचार भी शुद्ध नहीं हो सकते। आचार-विचार का बड़ा महत्त्व है। सदाचार जीवन में उतरना चाहिए। दान-पुण्य तो कोई भी कर सकता है पर पाप से बचने के लिए मन पवित्र होना चाहिए। आजकल संसार में स्वच्छता तो दिखाई पड़ती है पर पवित्रता नहीं है। पवित्रता भी जीवन का आवश्यक अंग है।

काशी में तो गंगा का सान्निध्य है। गंगा स्नान का बड़ा माहात्म्य है। गंगा स्नान से सब पाप दूर होते हैं। गंगा में सभी तीर्थ हैं। कावेरी, नर्बदा, गोदावरी आदि सभी तीर्थ गंगा में हैं। गंगा तो साक्षात् ब्रह्म रूप ही है। गंगा का जो दर्शन करता है, गंगा स्नान करता है वह साक्षात् ब्रह्म का संस्पर्श करता है पर गंगा स्नान में कई प्रकार की बाधाएँ आती हैं। गंगा के किनारे रहकर भी कितने लोग गंगा-स्नान से वंचित रह जाते हैं। मनुष्य का स्वभाव है कि जो वस्तु कम होती है उसमें आकर्षण होता है। जो बहुत है उसमें चाह नहीं होती। २५ हजार वीर गंगा स्नान में बाधा डालते हैं। एक बार भीम जी ने कहा कि मैं पहरा देता हूँ तब देखता हूँ कैसे गंगा-स्नान में बाधा होती है। वे गदा लेकर खड़े हो गये। ८ घण्टे खड़े रहे और बाद में आकर बोले कि कितने ही लोगों ने स्नान किया तथा कोई बाधा नहीं आयी। जब लोगों ने पूछा कि

आपने स्नान किया ? तो बोले, मैं तो पहरा देता था, स्नान कैसे करता। गंगा किनारे आठ घण्टे खड़े रहकर भी भीमसेन स्नान नहीं कर सके, यही तो बाधा है। गंगा-स्नान की विधि यह है कि प्रातः तारा रहते जो स्नान होता है वह सर्वोत्तम है, इसे ऋषि स्नान कहते हैं। इसके बाद जब आकाश में अरुणिमा रहती है तब जो स्नान होता है वह मनुष्य स्नान है। सूर्योदय के बाद जो स्नान है वह राक्षसी स्नान कहा जाता है। गंगा स्नान तथा भगवान् शिव के पूजन की बड़ी महिमा है। भगवान् शिव कल्याणरूप हैं। जीव के शरीर में तो मल-मूत्र, हाड़-मांस आदि भरा है। पर भगवान् शिव में तो केवल आनन्द भरा है। ऐसे विग्रह का दर्शन करो जिसमें मल-मूत्र नहीं बल्कि आनन्द ही आनन्द भरा हो। चिता की भस्म अपवित्र होती है, इसके स्पर्श से स्नान करना होता है पर शिव चिता की भस्म को लगाते हैं और श्मशान में ही निवास करते हैं। मनुष्य का श्मशान उसके घर से दूर होता है पर मच्छर का श्मशान आपका घर ही है। इस प्रकार यह सारा संसार श्मशान ही है। इसीलिए भगवान् शिव का नाम विश्वनाथ है—सारे संसार के नाथ हैं। श्मशान में रहते हुए भीये कल्याणकारी हैं और मंगलदायक हैं। भोग और मोक्ष दोनों के प्रदाता हैं—

श्मशानेस्वाक्रीडा स्मरहर ! पिशाचाः सहचरा-

श्चिता भस्मालेपः लग्नपि नूकरोटिपरिकरः ।

अमंगल्यं शीलं त्वभभवतु नामैवमखिलं,

तथापि स्मरतुणां वरद परमंगलमसि ॥

भगवान् शिव काम से रहित हैं। काम उन्हें स्पर्श भी नहीं कर सकता। जीव में काम होता है। भगवान् से मिलने में काम ही परदा है। इस परदे को हटाने का प्रयत्न करो। काम को हटाने के लिए काम का ही आश्रय लेना होगा। जीव में जो वासना है वही प्रभु से मिलने में बाधा है। पर इस वासना को वासना से ही समाप्त करना पड़ेगा। लोहे को लोहा ही काटता है। अपने काम और वासना को भगवान् में लगा दो। यदि तुम्हारा काम और वासना भगवान् में लग गयी तो संसार की अन्य वस्तुओं में काम

या वासना स्वतः समाप्त हो जायेगी। संसार की वस्तुओं में सुख लेने का प्रयत्न मत करो। इस सुख की परिणति दुःख में है। जीव का मिलन जीव से होता है तभी कितना सुख होता है तो फिर जीव का मिलन यदि परमात्मा से हो जावे तो उसमें कितना आनन्द मिलेगा। जीव का जीव से मिलन होता है तो फिर वियोग भी होता है। मिलने में जितना सुख है वियोग में उतना ही दुःख भी है। पर जीव का ईश्वर से मिलने पर वियोग नहीं होता, इसलिए वहाँ दुःख नहीं होता है। कोई मनुष्य यदि मन्दिर में चार बार भगवान् का दर्शन करता है तो उसके मन में यह अहंकार होता है कि मैंने चार बार दर्शन किया पर वह यह भूल जाता है कि जिसका तुमने चार बार दर्शन किया वह तुम्हें निरन्तर २४ घण्टे देखता रहता है। मनुष्य का शुभ संकल्प पूरा होता है। उससे सब संकल्प पूरे नहीं होते पर शुभ संकल्प पूरा होता है। कोई यह संकल्प करे कि हमें करोड़ रुपये की आमदनी हो जाये तो यह संकल्प पूरा नहीं होगा पर कोई यह संकल्प करे कि भगवान् का दर्शन हमें हो जाय तो वह अवश्य पूरा होगा, क्योंकि यह शुभ संकल्प है।

भगवान् राम के दरबार में श्री हनुमान्जी महाराज का द्वार पर पहरा रहता है। गदा लेकर वे पहरा देते हैं। 'राम हुआरे तुम रखवारे होत न आज्ञा बिनु पैसारे।' भगवान् राम के दरबार में प्रवेश पाने के लिए हनुमान्जी पूछते हैं कि तुम्हारी दृष्टि कैसी है 'मातृवत् परदारेषु'। दूसरों की स्त्रियों में माता की भावना है या नहीं। अपने माता-पिता में भगवान् का दर्शन करते हो क्या? अपने माता-पिता में परमेश्वर की भावना करनी चाहिए। आजकल लोग मन्दिर में जाकर तो ईश्वर का दर्शन करते हैं पर अपने घर में जो भगवान् हैं—माता-पिता उनमें ईश्वर की भावना नहीं करते। प्राचीन काल में स्नातक जब गुरुकुल से पढ़कर विदा होता था तो गुरु से अन्तिम उपदेश प्राप्त करता था—'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव'—सबसे पहले माता को परमेश्वर मानो, फिर पिता को, तीसरे नम्बर में आचार्य को अर्थात् गुरु को परमेश्वर रूप समझो, यह उपदेश देते हैं।

भगवान् राम के दरबार में सबका प्रवेश नहीं हो पाता पर भगवान् शिव के दरबार में तो भूत-प्रेत भी पूजा कर सकते हैं। इसलिए वहाँ पूजा में बड़ी सरलता है। भगवान् शिव गुलाब के पुष्प की जगह घटूरे के पुष्प से ही प्रसन्न

हो जाते हैं। भगवान् शिव की पूजा गंगाजल, पुष्प एवं बिल्वपत्र से हो जाती है तथा थोड़ी मिश्री का भोग लगा दो। बस इतने से भगवान् विश्वनाथ प्रसन्न हो जाते हैं।

अपने समय का विभाजन करो। जीवन-यापन के लिए अर्थोपार्जन भी आवश्यक है। अर्थ साधन है, साध्य नहीं। आठ घण्टे का समय अर्थोपार्जन में लगाओ। पाँच या छह घण्टे का समय शरीर को विश्राम देने में भी लगाना चाहिए अर्थात् सोना चाहिए। पाँच घण्टे का समय तुम्हारे और शरीर सम्बन्धी अन्य कार्य के लिए। पर कम से कम पाँच घण्टा समय भगवान् की आराधना में लगाना चाहिए। इस प्रकार अपने २४ घण्टे समय का विभाजन करना चाहिए।

कुछ लोग एक-दो घण्टे गीता का पाठ आदि तो करते हैं पर भगवान् की पूजा नहीं करते। कम से कम एक घण्टा भगवान् की पूजा अवश्य करनी चाहिए। पाँच घण्टे में एक घण्टे का समय भगवान् की पूजा में लगायें।

एक घण्टे के समय में आर्ष ग्रन्थों का पठन-स्वाध्याय करो। तुलसीदास, वाल्मीकि, व्यास नारायण आदि के ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए। सामान्य लोगों की पुस्तकों से उतना लाभ नहीं है क्योंकि उनमें दोष बुद्धि भी आ जाती है। पर तुलसीदास, वाल्मीकि, संत तुकाराम आदि महानुभावों को भगवान् के साक्षात् दर्शन प्राप्त थे, उनके ग्रन्थों में कोई दोष नहीं मिल सकते।

इस प्रकार एक घण्टे भगवान् की पूजा, एक घण्टा स्वाध्याय तथा कम से कम तीन घण्टे भगवान् के नाम का जप करना चाहिए। एकान्त में एक आसन पर बैठकर तीन घण्टे तक जप करने का अभ्यास करो। कितने ही लोग बातचीत तो छह घण्टे भी कर सकते हैं पर एकान्त में बैठकर जप नहीं कर सकते। भगवान् के नाम का जप करना अत्यन्त आवश्यक है—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

यह महा-मन्त्र है। यह ऐसा मन्त्र है जिसका जप किसी भी अवस्था में हो सकता है। पवित्र होकर तो करना ही चाहिए। कदाचित् अपवित्र भी हो तो कर सकते हैं। जितने भी मन्त्र हैं वे गुरु-परम्परा से प्राप्त होने पर ही जप योग्य होते हैं। पर यह महा-मन्त्र बिना गुरु से प्राप्त हुए भी जप सकते हैं। महा-मन्त्र की बड़ी महिमा है।

प्रस्तुति : राधेश्याम खेमका

हमारे उपनिषद्

— श्रीमती राज खोसला

उपनिषदों की ओर आर्य जाति से बाहर पहले किसी की दृष्टि गयी तो औरंगजेब के बड़े भाई प्रभु भक्त शाहजादा दाराशिकोह की। वह बड़ा विद्वान् था, धार्मिक ग्रन्थों से उसे बड़ा प्रेम था। कुरान, बाइबिल तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों के पढ़ने से भी जब उसे शान्ति नहीं मिली तो उसे पता चला कि उपनिषद्, जो हिन्दुओं के ग्रन्थ हैं, उससे शान्ति मिलती है। उसने बनारस जाकर विद्वानों से उपनिषद् सुनना आरम्भ किया। सुनते-सुनते उसके मन में विचित्र शान्ति उत्पन्न हुई और उन्हें स्वयं पढ़ने के लिए उसने संस्कृत सीखी। उसने स्वयं पढ़ा, शान्ति से उनपर विचार किया तो उसकी आत्मा में नवीन ज्योति उत्पन्न हुई। उसने निर्णय किया कि ऐसे सुन्दर ग्रन्थों का अनुवाद फारसी भाषा में होना चाहिए। यह निश्चय करके उसने स्वयं ही १६५७ से लेकर १६७४ तक (सत्रह वर्ष तक) ५२ उपनिषदों का अनुवाद फारसी भाषा में किया। इसके १०० साल तक किसी अन्य भाषा में उपनिषदों का अनुवाद नहीं हुआ।

सन् १७५७ में बंगाल के नवाब शुजाउद्दौला के दरबार में मिस्टर जटियल नाम का फ्रांसीसी राजदूत आया। उसने फारसी में अनूदित उपनिषद् सुने और खरीदकर उन्हें फ्रांस ले गया और वहाँ एक सज्जन बनियर को दिये। उस पर भी जादू हुआ। उसने उपनिषद् का कुछ भाग पेरिस के बड़े पादरी डूपारन को सुनाया। उसने सुना तो निश्चय किया कि मैं भी इन्हें संस्कृत भाषा में पढ़ूँगा। वह पेरिस से भारत आया। यहाँ चौदह वर्ष तक संस्कृत पढ़ता रहा और संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करने के बाद उपनिषदों को पढ़ा और १८०१ ई. में उनका अनुवाद फ्रेंच भाषा में किया।

इस फ्रेंच भाषा में लिखे उपनिषद् अनुवाद को जब १८१२ में जर्मनी के महान् दार्शनिक शोपेनहावर ने पढ़ा तो वह चकित हो गया। उपनिषदों के सम्बन्ध में उसने

कहा कि 'संसार में किसी भी पुस्तक का स्वाध्याय इतना लाभ देनेवाला और आत्मा को ऊपर उठाने वाला नहीं, जितना उपनिषदों का है। बेरी आत्मा को उपनिषदों से ही शान्ति मिली है और मरने के पश्चात् भी इन्हीं से शान्ति मिलेगी।'

मैक्समूलर ने जब उपनिषदों को देखा तो लट्टू हो गया। उपनिषद् पढ़ने के लिए वह जर्मनी से पेरिस पहुँचा। वहाँ फ्रेंच भाषा में उपनिषदों को पढ़ा। फारसी में भी पढ़ा। और बिना किसी शिक्षक के उससे लिखा— 'यह उपनिषद् उन लोगों की बुद्धि का फल है, जो महान् बुद्धिवाले थे। हमारा ईसाई-मत उनके समक्ष कभी जड़ नहीं पकड़ सकता। भारत की यह विद्या योरप भर में बहु निकलेगी और हमारे ज्ञान तथा विचारकों में परिवर्तन लायेगी', और तब अपनी पुस्तक—*India what can it teach us.* उन्होंने लिखी। मैक्समूलर ने आगे यह भी लिखा—

'मनुष्य मृत्यु के भय से बचने के लिए मृत्यु के लिए पूरी शक्ति से तैयार हो जाये तो मेरी सम्मति में उपनिषदों का अध्ययन करने के अतिरिक्त दूसरा कोई भी श्रेष्ठ मार्ग नहीं। मैं उपनिषदों का बहुत श्रद्धालु हूँ। ये उपनिषद् ग्रन्थ सारे संसार के धार्मिक साहित्य में आत्मिक उन्नति के लिए सदा बहुत उच्च और समादरणीय स्थान पर आसीन रहे हैं और सदा रहेंगे।'

स्वीडन के एक विद्वान् पाल ह्यूसन ने उपनिषदों के विषय में लिखा—'उपनिषद् मनुष्य की मेधा का अनमोल फल है। जीवन और मृत्यु के समय नहीं, केवल दुःख और कष्ट के समय नहीं, अपितु हर समय उनसे ऐसी शान्ति मिलती है, जैसी और कहीं भी नहीं। भारत के लोगों के पास आत्मज्ञान और आत्मशान्ति का ऐसा कोष है, जो संसार में और किसी के पास नहीं। मैं जब भी भारत को

यात्रा के लिए गया तो बहुत-सी लाभप्रद बातें मुझे मिलीं । परन्तु सबसे लाभदायक और सबसे महत्वपूर्ण हैं पवित्र भाषा में ऋषियों का ज्ञान देनेवाले उपनिषद् ।’

ज्यूकोलेट, जो पाण्डीचेरी के गवर्नर थे, उन्होंने भी कुछ ऐसी बात कही । ऐनीबेसेंट भी उपनिषदों की पढ़कर लट्ट हो गयी थीं ।

मिस्टर ह्यूम ने अपनी पुस्तक *Dogmas of Buddhism* में लिखा—

‘मैंने अरस्तू, सुकरात, अफलातून और कितने ही अन्य विद्वानों के ग्रन्थ बहुत ध्यान से पढ़े हैं । परन्तु जैसी विद्या इन उपनिषदों में मैंने देखी और जितनी शान्ति उनसे पायी वैसी तो और किसी भी स्थान पर मुझे नहीं मिली ।’

एक अन्य विद्वान् श्री जी. आर्क ने अपनी पुस्तक में लिखा है : ‘उपनिषदों की शिक्षा अत्यन्त ऊँची, सुन्दर और ऐसे सत्य से भरपूर है, जो मनुष्य के हृदय पर चित्रित हो जाती है, क्योंकि जब मनुष्य संसार के दुखों और

चिंताओं से घिर जाता है, तब इनके अतिरिक्त उसके मन और आत्मा को शान्ति देने के लिए दूसरा कोई भी साधन उसे नहीं मिलता, जो सहारा दे सके । उपनिषदों का पहला प्राप्त सार, जो उनके स्वाध्याय से प्राप्त होता है, वह यह कि बृह संकल्पवाला बन !’

उपनिषदों का रहस्य बार-बार श्रवण, बार-बार मनन और निदिध्यासन करने से खुलता है । बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी इसका ज्ञान पाने के लिए बड़े-बड़े तपस्वी जानी गुरुओं की उपासना करते थे । वे वैराग्य, निष्ठा और व्रत को धारण करके ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करते थे । इससे यह उपनिषद् कहती है (उप = पास, निषद् = बैठना) गुरु के पास बैठकर इनके रहस्य का ज्ञान प्राप्त किया जाता था । इनके अतिरिक्त ब्रह्मज्ञान के बल से अल्पज्ञानी जीव अपने परम-गुरु ज्ञानमय परब्रह्म के समीप पहुँचता है ।

इस कारण भी गृह्य-ज्ञान देनेवाले मन्त्रों को उपनिषद् कहा जाता है । सब उपनिषदों में मुख्य ‘ग्यारह’ उपनिषद् हैं ।

□

जगद्गुरु भगवान् आद्य शंकराचार्य

[पृष्ठ १६ का शेषांश]

उधर भगवान् शंकर भी चक्कर में पड़ गये, ध्यान में उन्हें पता चला कि शिवगुरु को तो स्वप्न में भी सन्तान-सुख नहीं बदा है और वरदान दे दिया सर्वज्ञ पुत्र का ! शंकर के सिवा और कौन सर्वज्ञ हो सकता । आशुतोष ने सोचा—‘मेरे इष्ट-देव ने भी तो मनु-शतरूपा से कहा था—‘अपने समान किसी और को कहीं खोजने जाऊँ, मैं स्वयं तुम्हारा पुत्र बनूँगा ।’ अब मेरे सामने स्वयं अवतरित होवे के अलावा और कोई चारा नहीं है । आचार्य शिवगुरु और सती आर्याम्बा का मैं ही पुत्र बनूँगा । सर्वज्ञ पुत्र ।’

आचार्य शंकर का अवतरण

सती आर्याम्बा ने भगवान् का तेज धारण कर लिया । उनकी कान्ति दिन पर दिन बढ़ने लगी । दोहद के अनुसार उन्हें अनेक सद्वस्तुओं की इच्छा होने लगी जिसे आचार्य शिवगुरु ने बड़े उत्साह और प्रसन्नता से पूरा किया । इस

बीच आर्याम्बा को विलक्षण शुभ स्वप्न दिखाई पड़ते । कभी देखतीं लक्ष्मी के रूप में श्वेत गज सूँड़ में गंगाजल लेकर मेरा अभिषेक कर रहा है । कभी वे पद्मासना सरस्वती के रूप में अपने को देखतीं । कभी वे अपने सामने विशालकाय सफेद बैल देखतीं ।

जब भगवान् शंकर के आविर्भाव का समय आया तो प्रकृति ने वही रूप प्रकट किया जो भगवदावतारों के समय धारण करती है । मेघवर्षण से सारी हरियाली निखर उठी । दिशाएँ स्वच्छता में नहा उठीं । सरिताओं में कल-कल प्रवाह उमड़ चला । शीतल-मन्द-सुगन्ध समोर चलने लगा । वृक्ष और लताएँ फूल-फल-भार से झुक गयीं । जिस तरह तपोवन में ‘अहि-भयूर, मृग-बाघ’ सहज वैर भूल जाते हैं, वही दशा इस समय भी हुई । ऐसी वेला में आर्याम्बा की कोख से बालक शंकर प्रकाशपिण्ड के रूप में प्रकट हुए जिससे सारा भवन जगमगा उठा । (क्रमशः)

पुस्तक-समीक्षा

१. ओम् नमो भगवते वासुदेवाय—प्रस्तुत पुस्तक लीला पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के भक्तों द्वारा की गयी स्तुतियों का संकलन है। इसमें स्तुति-कर्त्ता हैं—भगवान् वेद व्यास, कुन्ती, शुकदेव, ध्रुव, दक्ष, प्रह्लाद, गजेन्द्र, देवतागण, ब्रह्मा, अक्रूर और वेद। ये स्तुतियाँ प्रायः श्रीमद्भागवत से संग्रह की गयी हैं। स्तुतियों का हिन्दी में अर्थ देकर संकलनकर्त्ता ने इसे और भी महत्त्वपूर्ण तथा सर्वग्राह्य बना दिया है। प्रातः स्मरण तथा अन्य अवसरों पर भगवत्प्रार्थना के लिए यह संग्रह कल्पवृक्ष हैं। अन्त में भक्त कीर्तन शीर्षक के अन्तर्गत हिन्दी भक्त कवियों की प्रार्थना देकर पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ा दी गयी है। अतः इसके संकलनकर्त्ता और प्रकाशक साधुवाद के पात्र हैं। सस्ता मूल्य और उत्कृष्ट मुद्रण इस पुस्तक की एक अतिरिक्त विशेषता है।

२. ओम् नमः शिवाय—प्रस्तुत पुस्तक आशुतोष भगवान् शंकर के भक्तों द्वारा की गयी स्तुतियों का संग्रह है। इसमें स्तुति करने वाले हैं—भगवान् श्रीकृष्ण, सन्ध्या, उपमन्यु, तंडि, असित, हिमालय, दक्ष, आद्य शंकराचार्य और पुष्पदन्त। इन स्तुतियों का संकलन महाभारत के अनुशासन पर्व, शिवपुराण तथा बृहत् स्तोत्र-रत्नाकर से किया गया है। स्तुतियों के अन्त में शिव

सहस्रनाम तथा विष्णु सहस्रनाम, स्तोत्र जो महाभारत के अनुशासन पर्व में हैं, दे दिये गये हैं। और अन्त में विनय-पत्रिका के अर्थ सहित चार पद भी संकलित कर दिये गये हैं। इस प्रकार इस संकलन की उपयोगिता शिवभक्तों के लिए महत्त्वपूर्ण बन गई है। छपाई, सफाई तथा सम्पादन स्पृहणीय है। एतदर्थ सम्पादक और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

३. निबन्ध-माला—प्रस्तुत पुस्तक काव्य, अलंकार और व्याकरण विषयों पर लिखे गये संस्कृत-निबन्धों का यह महत्त्वपूर्ण संग्रह है। इन निबन्धों का हिन्दी में भाषान्तर देकर लेखक ने इसे सर्वजन सुलभ बना दिया है। संस्कृत साहित्य में रुचि रखनेवालों के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

४. हनुमद्-रहस्यम्—प्रस्तुत पुस्तक हनुमान् जी की पूजा के लिए आवश्यक सभी विधानों का विस्तृत संकलन है। संस्कृत-हिन्दी प्राप्त सभी स्तोत्र तथा तन्त्र-मन्त्र इसमें विद्यमान हैं। अर्थ-धर्म, मोक्ष की प्राप्ति के लिए इसमें सभी विधियाँ बताई गयी हैं। हनुमद्-भक्तों के लिए पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। संस्कृत-स्तोत्रों और मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद भी दे दिया गया है।

□

निवेदन—समालोचना के लिए पुस्तक की दो प्रतियाँ भेजनी चाहिए। 'मुमुक्षु' में आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और सत्साहित्य की ही समालोचना छप सकती है।—संपादक

१. संकलन कर्त्ता—श्री वियोगी हरि, प्रकाशक, मंडेलिया परमार्थ कोष, जियाजीराव काटन मिल्स, खालियर म० प्र० पृष्ठ संख्या डिमाई १२० पृष्ठ, पक्की जिल्द, नयनाभिराम आवरण, मूल्य पाँच रुपये।
२. वही।
३. लेखक-प्रकाशक—पंडितप्रवर पं० केदारनाथ ओझा, मुमुक्षुभवन, अस्सी, वाराणसी-५, डिमाई पृष्ठ संख्या ५२०, मूल्य छप्पन रुपये।
४. लेखक-सम्पादक—आचार्य पं० शिवदत्त मिश्र, प्रकाशक—ठाकुरप्रसाद ऐंड सन्स बुक्सेलर, राजावरवाजा, वाराणसी-१। मूल्य-सोलह रुपये।

Gram : KANHOPE

Telex : BTEA - CA - 2808

Phone : 26-0880/84.

Bengal Tea & Industries Ltd.

Regd. Office :

9, Brabourne Road, Calcutta 700001.

A House of Quality Tea & Textile

Manufacturers & Exporters

Proprietors



TEA GARDENS

Ananda Tea Estate

Pathalipam Tea Estate

Bordeobam Tea Estate

Mackeypore Tea Estate

Lakmijan Tea Estate

Pallorbund Tea Estate

Dooloogram Tea Estate

Poloi Tea Estate

(ASSAM)

TEXTILE MILL

Asarwa Mill

Asarwa Road, AHMEDABAD

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

विदाई समारोह—काशी मुमुक्षु भवन सभा की ओर से २२ नवम्बर १९८१ को जज स्वामी श्री विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती की विदाई के उपलक्ष्य में स्वागत-समारोह का आयोजन किया गया। समारोह की अध्यक्षता ईश्वर मठ के मठाधीश स्वामी श्री गणेश्वरानन्द तीर्थ ने की। मुमुक्षु भवन सभा के मन्त्री श्री पुरुषोत्तमदास मोदी ने जज स्वामी का परिचय देते हुए कहा कि जजस्वामी फरवरी १९७० से सितम्बर १९७७ तक दिल्ली उच्चतर न्यायालय के न्यायाधीश थे। आपने १० मई १९८१ को अनन्तश्रीविभूषित स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती “करपात्रस्वामी” से संन्यास की दीक्षा ली। उसके पश्चात् देश के विभिन्न स्थानों में भ्रमण करते हुए प्रवचन और उपदेश करते रहे। गत जुलाई महीने में जब हमें पता चला कि जज स्वामी काशी चातुर्मास के लिए पधारें हैं तब हमने उनसे मुमुक्षु भवन में ठहरने के लिए प्रार्थना की। स्वामीजी ने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर मुमुक्षु भवन में अपना चातुर्मास बिताया। इस बीच आपने हमारे विभिन्न धार्मिक और सांस्कृतिक समारोहों की अध्यक्षता की और अपने प्रवचनों से संस्था में रहने वाले संन्यासियों तथा मुमुक्षुओं को लाभान्वित किया। हम भविष्य में भी आशा करते हैं कि स्वामीजी जब भी काशी पधारेंगे तब आपके स्वागत के लिए मुमुक्षु भवन का द्वार खुला मिलेगा। क्योंकि स्वामीजी हमारे पथ-प्रदर्शकों में हैं और आपने संस्था की अत्युन्नति के लिए कई ठोस सुझाव दिये हैं, जिन्हें हम कार्यान्वित करने जा रहे हैं।

विदाई-समारोह के अध्यक्ष स्वामी गणेश्वरानन्द तीर्थ ने जजस्वामी की प्रशंसा करते हुए कहा कि जब तक स्वामीजी यहाँ रहे, हमारा मार्ग-दर्शन करते रहे और हम इस बात से प्रसन्न थे कि एक आध्यात्मिक वेता हमारे बीच उपस्थित हैं।

संस्था के मन्त्री मोदीजी तथा स्वामी श्री गणेश्वरानन्द तीर्थ ने श्रद्धाप्रतीक श्री जजस्वामी को पुष्पहार समर्पित किये। श्री जजस्वामी ने स्वागत का उत्तर देते हुए संस्था के प्रति कृतज्ञता प्रकट की कि संस्था के मन्त्री श्री मोदीजी तथा व्यवस्थापक श्री दीनानाथ मेहता ने हमारी सुख-सुविधा का पर्याप्त ध्यान रखा तथा पूरे कार्यालय के साथ हमारी सेवा में वे जुटे रहे। यह सद्गुणवहार हमारे लिए चिर-स्मरणीय रहेगा। भगवान् से हम संस्था की उन्नति के लिए प्रार्थना करते हैं।

भण्डारा—ईश्वर मठ के संन्यासियों की भिक्षा के लिए स्थायी कोष के अतिरिक्त प्रतिमास उदार दान-दाताओं के द्वारा भण्डारा दिया जाता है। नवम्बर महीने में जिन दाताओं ने भण्डारे दिए हैं, उनकी नामावली इस प्रकार है—सर्वश्री जयदेव लोतिया, स्वामी भाषवानन्द, माता गंगादेवी विश्वनाथ, हरिकृष्ण बांकेबिहारी, सम्पत्ती बाई व लक्ष्मी बाई, बिरंजीलाल बोहरा, पिरीतन बाई, जगन्नाथ गुप्त, स्वामी चेतनानन्द, गोपीराम अग्रवाल, स्वामी जगदेवानन्द, इन्द्रसेन सज्जन कुमार जैन।



दुर्भाग्य

यदि सारे दुर्भाग्य एक ही स्थान पर एक ढेर में रख दिए जायें और सबको उनमें से समान भाग लेना पड़े, तो हममें से अधिकांश अपना ही भाग्य ले सन्तुष्ट होकर विदा हो जायेंगे।

— सुकरात

Kesoram Industries & Cotton Mills Limited

91, R. N. Mukherjee Road, Calcutta-700001

Manufacturers of Cotton Textiles & Piece Goods, Rayon Yarn, Transparent
Cellulose Film, Sulphric Acid, Carbon-di-Sulphide, Cast Iron Spun
Pipes & Fittings, Cement and Refractories etc.



Section :

Textile Section
Rayon & T. P. Sections
Spun Pipe Section
Cement Section
Refractory Section

Mills :

42, Garden Reach Road, Calcutta.
Tribeni, Dist : Hooghly.
Bansberia, Dist : Hooghly.
Basantnagar, Dist : Karimnagar (A.P.)
Kulti, Dist : Burdwan

While purchasing Hessian, Sacking, Carpet Backing and other Jute products and cotton yarn, please insist on quality production.

We are always ready to meet the exact type of your requirement.

Kanoria Jute Cotton Mills Limited

4/1, Red Cross Place

Calcutta-700001

Phone : 23-2397/98
23-7197

Telex : 021-2196
Cable : KAYJUTE,
Calcutta.



JUTE MILL

Kanoria Jute Mill,
Sijberia, P. O. Uluberia,
Dist. Howrah (West Bengal)

SPINNING MILL

Shree Hanuman Cotton Mills
Fuleshwar, P. O. Uluberia, Dist. Howrah (West Bengal)

The Reliance Jute & Industries Limited

9, Brabourne Road

CALCUTTA - 700001

Phone : 26-7385 (4 Lines)

Gram : Reltrade

Telex : 7611 Rely, Calcutta



Proprietors of :

Reliance Jute Mills

Bhatpara, 24 - Parganas (W. B.)

Manufacturers of

Jute Goods (Hessian, Sacking,
Carpet Backing & Jute Specialities)

Keshari Steels

New Industrial Area,

Bombay - Agra Road, Dewas - 455001 (M. P.)

Manufacturers of Steel Rods & Bars

Licencees :

Pratappur Sugar Mills

P. O. Pratappur, Dist. Deoria (U. P.)

Manufacturers of Sugar



We specialize in

Decorative Jute Fabrics

For export as well as for local market

Ideally useful for

Furnishings, Wall Coverings

Hand, Shoulder, Shopping & School Bags

Ladies Hand Bags

Lamp Shades

Table Mats

Bed Covers

Shoe Uppers

and Innumerable other consumer items.



Distributors all over India

काली जमुदु-अवन-समा के लिए श्री पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित



मुमुक्षु

जनवरी १९८२

पाठकों की प्रतिक्रिया

[पाठकों से निवेदन है कि वे अपनी प्रतिक्रिया संक्षिप्त रूप में भेजें जिसमें प्रशंसा ही न हो बल्कि रचनात्मक सुझाव भी हों। अपनी त्रुटियों को भी हम सहर्ष प्रकाशित करेंगे। —सम्पादक]

पत्रिका के दो अंकों में लघुकथाओं और मार्मिक प्रसंगों का चयन उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाता है। शेष सामग्री की उपयोगिता धर्मात्मा (?) ही जानें।

‘ऋतेज्ञानान् मुक्तिः’ वाद चलाकर पुनः पुराना धाव हरा कर दिया है। वृद्धावस्था में चतुर्वेदीजी कौन-सा चमत्कार कर रहे हैं? यह वाद आखिर उठाया ही क्यों जा रहा है। आज से ५८३ वर्ष पहले उत्पन्न सन्त कबीर के सामने भी यह सवाल उठा था और उन्होंने जवाब दिया था—

‘क्या कासी क्या ऊसर मगहर जो पै रामबस मोर।

जो कबीर कासी मरै, रामहि कौन निहोर ॥

जो धार्मिक है, पुण्यात्मा है, राम भगत है, उसके लिए ‘काशी’ व्यर्थ है और पापात्मा, व्यभिचारी, नीच और स्वार्थी जनों को अगर ‘काशी’ में मुक्ति मिलती है तो इसे नरक ही समझिए।

मामूरगंज, वाराणसी

१५-१२-८१

—शुकदेव सिंह

‘मुमुक्षु’ पत्रिका पढ़ने से ज्ञात हुआ कि यद्यपि मुमुक्षु भवन का निर्माण मुमुक्षु जनों के लिए ही लगभग ५० वर्ष पूर्व हुआ था और अगणित व्यक्ति इससे लाभान्वित हुए हैं और आगे भी होते रहेंगे। किन्तु पत्रिका द्वारा मुमुक्षु शब्द का अर्थ अब चरितार्थ हुआ है। लोभ-मोह दूर कर पत्रिका धर्म, ज्ञान और वैराग्य में निष्ठा बढ़ानेवाली है। बाबा विश्वनाथ से प्रार्थना है कि इसकी अभिवृद्धि हो।

पत्रिका भारतीय आदर्शों को लेकर चल रही है। इस-लिए इसमें भारतीय मास और संवत् का भी उल्लेख होना चाहिए। मुखपृष्ठ के प्रतीक का पूर्ण विवरण देना चाहिए। मुखपृष्ठ पर ऐसा चित्र होना चाहिए जिसमें भगवान् शंकर मुमुक्षु को तारकोपदेश दे रहे हों।

बी. १।८४ एल

अस्सी, वाराणसी

— काशीप्रसाद मिश्र

मू. पू. वेदाध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

“नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुम्प्रवर्ततेऽपि

तु विधेयं स्तोतुम्”

इस न्याय से यदि श्री स्वात्माराम काशी से किसी योगी गुरु से योग सीखने मुजफ्फरनगर गये हों तो उनकी धारणा प्रशंसनीय है।

मंगलागोरी, वाराणसी

—(प्रो.) मुरलीधर तांबे

मुमुक्षु पत्रिका में मुमुक्षुओं के लिए ही नहीं अन्य वर्गों के लिए भी मानसिक खाद्य मिल रहा है। श्री दातार जी का मानस-चिन्तन, स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती का शरणागति प्रवचन, श्री अ० ना० धर द्विवेदी का कथात्मक शंकर चरित, श्री घनश्यामदास बिड़ला का ‘मुझसे सब अच्छे’ लेख, डा० अरुणा बनर्जी का विभिन्न धर्मों में मोक्ष की धारणा, पूज्य डॉ० गेरे महाराज का काशी-वैभव आदि सामग्री तथा परीक्षा आदि लघु कहानियाँ उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। श्री-माता का मन्दिर सर्वसाधारण के लिए भले न उपयोगी हो पर साधकों और योगियों के लिए मार्गदर्शक है। सर्व-सामान्य के लिए यदि योगासनों का सचित्र परिचय दिया जाय तो पत्रिका की लोकप्रियता और अधिक बढ़ेगी।

स्वावलम्बी इण्टर कालेज

विशुनपुरा, गोरखपुर

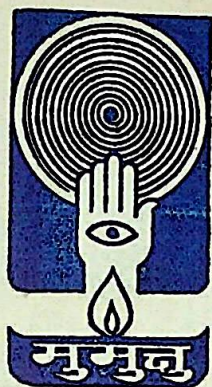
— जे० यन० दुबे

(अध्यापक)

मुमुक्षु नामकी पत्रिका-सरिता मुमुक्षु भवनरूपी महान् पर्वत से निःसरित हो रही है। यह अपने नामानुरूप निरन्तर अविकल रूप से प्रवाहित होते हुए अपने सुलेख रूप जल से आध्यात्मिक लोगों की क्षुत्पिपासा को शान्त करती हुई तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते इत्यादि भगवदुक्ति को चरितार्थ करे, यही भूतभावन भवानीपति आशुतोष भगवान् शंकर से प्रार्थना है।

अस्सी, वाराणसी

— यदुनन्दन दीक्षित



श्रीहरिः

फोन : ६४३८०

मुमुक्षु

आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक मासिक पत्र

काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी-२२१००५

दिनांक १४-१-८२

मान्यवर,

आपकी सेवा में 'मुमुक्षु' का चौथा अंक भेजा जा रहा है। इसके पूर्व के तीन अंक भी मिले होंगे। यदि कोई अंक न मिला हो तो कृपया सूचित कीजिएगा, उसे भेज दिया जाएगा।

अब तक पत्रिका के प्रति आपकी कोई प्रतिक्रिया प्राप्त नहीं हुई है। मुमुक्षु का वार्षिक शुल्क केवल पन्द्रह रुपया है।

आशा है, आप ग्राहक बनकर उसकी अभिवृद्धि में सहायक बनेंगे।

हमारी एक अभिनव योजना यह है कि जो उदारदाता काशी मुमुक्षु भवन सभा को १०१) वार्षिक सहायता देंगे, उन्हें 'मुमुक्षु' तो निःशुल्क भेजा ही जायेगा, हमारे द्वारा प्रकाशित तथा प्रचारित साहित्य भी निःशुल्क भेंट किया जायेगा।

इसके अतिरिक्त उन्हें वर्ष में एक सप्ताह के लिए मुमुक्षु भवन में आवास की निःशुल्क सुविधा भी प्रदान की जायेगी।

आशा है, आप इस योजना को कार्यान्वित करने में अपना सहयोग प्रदान करेंगे।

भवदीय
पुरुषोत्तमदास मोदी
मंत्री

बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध



१००

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध

१०० बौद्ध धर्म के अर्थ में बुद्ध



आध्यात्मिक

तथा

सांस्कृतिक

सासिक

वर्ष १ : अंक ४
माघ, संवत् २०३८ वैक्रम
जनवरी १९८२



प्रकाशक

काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी



वार्षिक : पन्द्रह रुपए
एक अंक : डेढ़ रुपया

वन्दना

अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो—
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि ।
स कस्य स्तोत्रव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्वाचोने पतति न मनः कस्य न वचः ।

— श्रीशिवमहिम्नस्तोत्र

हे हर ! आपकी महिमा तक पहुँचने में न तो वाणी की गति है, और न मन की। वेद भी उस महिमा की पूर्ण व्याख्या नहीं कर सकते और वे चकित होकर 'नेति नेति' कहते हैं, तब कौन उसकी स्तुति कर सकेगा। उसके कैसे-कैसे गुण हैं, कैसे समझा जा सकता है, फिर भी मैं इसलिए स्तुति कर रहा हूँ कि भक्तों पर कृपा करने के लिए आपने जो सगुण रूप धारण किया है, उसके चरणों में ऐसा कौन है, जिसका मन नहीं लगता और जिसकी वाणी अर्पित नहीं हो जाती।

आप्तोक्तिं खननं तथोपरि शिलाद्युत्कर्षणं स्वीकृतिं
निक्षेपः समपेक्षते न हि बहिः शब्देस्तु निर्गच्छति ।
तद्वद् ब्रह्मविदोपदेगमननध्यानादिभिरभ्यस्यते,
माया कार्यतिरोहितं स्वममल तत्त्वं न दुर्भक्तिभिः ॥

— आद्य शंकराचार्य

(पृथ्वी में गड़े हुए धन को प्राप्त करने के लिए जैसे) प्रथम किसी विश्वस्त व्यक्ति के कथन की, और फिर पृथ्वी को खोदने, कंकड़-पत्थर आदि को हटाने तथा (प्राप्त हुए धन को) स्वीकार करने की आवश्यकता होती है—कोरी बातों से वह बाहर नहीं निकलता, उसी प्रकार समस्त मायावी प्रपंच से शून्य निर्मल आत्मतत्त्व भी ब्रह्मवित् गुरु के उपदेश तथा उसके मनन और निदिध्यायन से ही प्राप्त होता है, थोथी बातों से नहीं।



इस अंक में—

विषय	पृष्ठ
वन्दना	१
मानवता और शान्ति की खोज — सम्पादकीय	३
हरिजन-समस्या	४
— करपात्र स्वामी श्री हरिहरानन्द सरस्वती	५
शरणागति— स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती	९
श्रीमाता का मन्दिर—स्व० पं० गोपीनाथ कविराज	१२
श्रीराम के राज्याभिषेक की मीमांसा	१५
— पं० श्री विश्वनाथ शास्त्री दातार	१७
जगद्गुरु शंकराचार्य का शैशव और शिक्षण	१९
— अ० ना० घर द्विवेदी	२२
वर्तमान युग की आवश्यकता	२३
—स्वामी श्री विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती	२७
मानव का सच्चा धर्म—प्रेम और ईमानदारी	२९
—श्री जे० कृष्णमूर्ति	३१
प्रेरक प्रसंग —संकलित	३३
वैष्णव जन—तो तेणे कहिए	३७
— स्व० काका साहब कालेलकर	३९
कुम्भ महापर्व —आ० ना० घर द्विवेदी	४१
पुस्तक-समीक्षा	४३
काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार	४५



निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से सम्पादक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।



लेखकों से—‘मुमुक्षु’ में प्रायः धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रचनाएँ ही प्रकाशित की जाती हैं। ये रचनाएँ साहित्य की किसी भी विधा में हो सकती हैं। अतः लेखकों से निवेदन है कि वे अपने पास प्रतिलिपि रखकर ऐसी ही रचनाएँ भेजें। अस्वीकृत रचनाओं को लौटाने में हम असमर्थ हैं। स्वीकृत रचनाओं की सूचना पन्द्रह दिनों के भीतर भेज दी जाती है।—सम्पादक

अगले अंक के कुछ आकर्षण

- * धर्म और नैतिकता—सम्पादकीय
- * शरणागति (अन्तिम अंश)—स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती
- * ‘मानस’ में भारतीय राजनीति—पं० विश्वनाथ शास्त्री दातार
- * विद्यागुरु द्वारा दीक्षागुरु की खोज—अ० ना० घर द्विवेदी
- * साधना के इक्कीस सूत्र—श्री रामेश्वरलाल नोपानी
- * विन्ध्य में शक्ति पूजा—श्री नरेन्द्र नोरव
- * श्रीभगवत्कथा और लोकरंजन—श्री अवधेश तथा अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ

नैतिकता

सूर्यास्त के पश्चात् विदेशी यात्री मेगास्थनीज ने आर्य चाणक्य के दर्शनार्थ कुटिया का द्वार खटखटाया।

“कौन हैं महाभाग, स्वागत है आपका।”

आर्य चाणक्य ने बड़ी आत्मीयता से कहा।

विदेशी यात्री ने प्रवेश किया। उसने देखा आर्य चाणक्य किसी राजकीय योजना का प्रारूप तैयार कर रहे हैं।

अतिथि के आसनस्थ होने पर आर्य चाणक्य ने पूछा—
“कृपया यह बताइए कि आपके आगमन का प्रयोजन राजकीय है या व्यक्तिगत।”

‘व्यक्तिगत’ विदेशी का संक्षिप्त उत्तर मिला।

आर्य चाणक्य ने दीपक बुझा दिया और पास ही रखे दूसरे दीप को प्रज्वलित कर उसे सामने खींच लिया।

मेगास्थनीज को यह सब विलक्षण लगा। बड़े कुतूहल से उसने पूछा—आर्य, एक दीपक बुझाकर दूसरा जलाने में आपका प्रयोजन ?

“सौम्य, पहले दीपक का व्यय शासन बहन करता है। इसलिए राजकीय कार्य करते समय मैं उसका उपयोग कर रहा था। किन्तु अब आपसे व्यक्तिगत बातचीत हो रही है, इसलिए मैंने राजकीय दीप बुझाकर यह दूसरा दीपक जलाया है जिसका व्यय, योग-क्षेम के लिए मिलनेवाली मेरी वृत्ति, बहन करती है।

“नैतिकता का यह महान् आदर्श, मुझ यायावर को भारत में ही मिला। धन्य है भारत और उसका महामंत्री !” यह उद्गार प्रकट करते हुए मेगास्थनीज ने आर्य चाणक्य के चरण स्पर्श किये।

—प्रेमप्रकाश पांडेय, नई दिल्ली

मानवता और शान्ति की खोज

आज पश्चिम आधुनिक विज्ञान की बदौलत भौतिक उन्नति के शिखर पर खड़ा है। किन्तु जिस मानवता और शान्ति के लिए यह भौतिक उन्नति की गयी है, विश्व के किसी भी कोने में उसकी झलक तक दिखाई नहीं पड़ती। फलतः पश्चिम भौतिकता से ऊब गया है और वह आशा भरी दृष्टि से पूर्व—भारत की ओर देख रहा है। क्योंकि भारत की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक एक महती परम्परा है। किन्तु स्वयं भारत पश्चिम के अन्धानुकरण के कारण अपनी परम्परा से कटता चला जा रहा है। भौतिकता की दौड़ में वह आध्यात्मिकता को तिलांजलि दे रहा है। हमारे यहाँ भी देश की औद्योगिक प्रगति के बावजूद सबसे बड़ी हानि यह हो रही है कि लोग सांस्कृतिक और आध्यात्मिक परिवेश से दूर हटते जा रहे हैं। आज के विचारक इस बात से चिन्तित हैं कि जिसे प्रगति और विकास की संज्ञा दी जा रही है, वह नई समस्याओं का कारण बन रहा है। पारिवारिक और सामाजिक जीवन से संस्कृति तथा सम्पत्ता की छाप मिटती जा रही है। यही कारण है कि राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में गन्दगी और भ्रष्टाचार व्याप्त है। क्योंकि हमारा व्यक्तिगत जीवन जैसा रहेगा वैसा ही दूसरे क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ेगा।

आज का मानव इतना आत्मकेन्द्रित हो गया है कि सारी सुविधाएँ अपने लिए जुटा लेना चाहता है, उसे औरों के सुख-दुख से कुछ लेना-देना नहीं है। सारा मानव समाज वासनात्मक सम्बन्धों, संघर्षों और दुःखों से ग्रस्त है। हम सभी एक-दूसरे से भयभीत हैं। घर-बाहर सर्वत्र भय का वातावरण व्याप्त है। अन्धकार, मृत्यु, दुःख असुरक्षा आदि का भय हमें खाये जा रहा है।

आखिर इस भय और दुःख से छुटकारा पाने का उपाय क्या है? जाहिर है दुःख का अन्त तभी होगा जब विशुद्ध प्रेम का आविर्भाव होगा। निःस्वार्थ प्रेम से ही मानव को शान्ति प्राप्त हो सकती है। इसी से मानव-जीवन के सभी

दुःखों और भयों का अन्त तथा समस्याओं का समाधान हो सकता है। जहाँ प्रेम नहीं होगा वहाँ विनाश अवश्यम्भावी है।

चारों ओर फैली अव्यवस्था के लिए हम एक-दूसरे को दोष देते हैं। लेकिन यह भूल जाते हैं कि हम स्वयं कितने अव्यवस्थित हैं। जब तक मानव स्वयं को व्यवस्थित नहीं करेगा तब तक अव्यवस्था बनी रहेगी। ऐसी स्थिति में दूसरों पर दोषारोपण करना सर्वथा निराधार है।

आज हमने अपने आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों को ताक पर रख दिया है। जहाँ हमें सांस्कृतिक विरासत यह मिली है कि सब जीवों में आत्मीयता का भाव रखो, पराये धन को ठिकरा समझो, परस्त्रियों में मातृभाव रखो वहाँ हम इन सभी धारणाओं के विपरीत आचरण कर रहे हैं। एक शब्द 'त्याग' द्वारा भारतीय संस्कृति की व्याख्या जहाँ की जाती है, वहाँ पश्चिम की भोगवादी प्रवृत्ति ने हमें दास बना लिया है। महर्षि व्यास के अठारहों पुराणों का सार यही बताया गया है कि परोपकार पुण्य है, और परपीडन पाप। इसे हम सर्वथा भूल गये हैं। जहाँ हमारी संस्कृति में आत्मबलि देकर भी समाज का कल्याण करना आदर्श माना जाता था वहाँ हम अपने स्वार्थ के लिए दूसरों की बलि चढ़ाने में भी नहीं हिचकते।

आश्चर्य तो यह है कि आज शान्ति स्थापना के नाम पर विश्व की महाशक्तियाँ एक से एक बढ़कर संहारक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करती चली जा रही हैं। जिससे सुरक्षा खतरे में पड़ गयी है और लोग भयाक्रान्त हो उठे हैं।

अतः जब तक हम मानवता के सांस्कृतिक मूल्यों—प्रेम, त्याग, सेवा, कृपा, उदारता, नैतिकता के प्रति प्रतिबद्ध नहीं होंगे तब तक न तो मानवता के दर्शन होंगे और न शान्ति दिखाई पड़ेगी और न हमारा यह चिर अभिलाष कभी पूरा होगा—

सब सुखो हों, सब निरोग हों, सब उन्नति करें और न कोई दुःख पावे।

१. आत्मवत्सर्वभूतेषु परब्रह्मेषु लोष्ठवत् । मातृवत्परदारेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥

२. अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् । परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

धर्म-सम्राट् पूज्य स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज ने धर्मान्तरण की प्रक्रिया को अनुचित, अवैधानिक एवं तनाव-बर्द्धक बतलाते हुए सभी वर्ग के लोगों से इस गम्भीर राष्ट्रीय समस्या पर विचार कर इसका सही समाधान प्रस्तुत करने की अपील की है। पूज्य चरणों ने कहा है कि धर्मान्तरण नहीं होना चाहिए। शास्त्रीय सिद्धान्त यही है कि—‘स्वधर्मो निबन्धनं श्रेयः।’

उन्होंने कहा कि हम लोग इस बात को मानते हैं कि सभी व्यक्तियों को गले लगाने का प्रयास करना चाहिए, फिर हरिजन बन्धु तो अपने भाई ही हैं। अतः किसी भी मूल्य पर इनको पृथक् नहीं किया जा सकता। वे सदा-सर्वदा अपने साथ रहे हैं, आगे भी रहेंगे। हमने सदा यही कहा है कि सार्वजनिक मन्दिर में ऐसे नियम बनने चाहिए जिसके अन्तर्गत जहाँ से शंकराचार्य, धर्माचार्य, काशीनरेश और हम लोग दर्शन करते हैं, वहाँ से हरिजन बन्धु भी जाकर दर्शन कर सकते हैं।

पूज्य स्वामीजी महाराज ने कहा कि हम सभी को अपनी स्थिति की पहचान का प्रयास करना चाहिए। हम क्या हैं, हिन्दू क्या हैं, हरिजन क्या हैं, इसकी युक्तियुक्त व्याख्या होनी चाहिए। पूर्ण निदान किये बिना रोग को दूर करने का प्रयास करना आकाशकुसुम खिलाना है। धर्म की मनमानी व्याख्या नहीं की जा सकती। मुसलमान शब्द की व्याख्या एक निश्चित परिभाषा के अनुसार ही होती है। उसी प्रकार हिन्दू वही है, जो शास्त्र-परम्पराओं के अनुसार निर्धारित धर्म का सम्मान करता है, उसमें परिनिष्ठित है। सारा धर्म अनादिकाल से निर्णीत है। हमारे धर्माचार्य लोग इस धर्म के अम्युत्थान में लगे हैं। वर्तमान बीमारी का इलाज धर्मान्तरण कथमपि नहीं है, बल्कि उससे तो बीमारी बढ़ती ही जायेगी। हरिजन-बस्ती में संकीर्तन-भवन बनाये जायें

पूज्य चरण ने कहा कि हिन्दू धर्म की युक्तियुक्त व्याख्या करने तथा धर्म-प्रचार की दृष्टि से शंकराचार्यों का हरिजन बस्ती में जाना अमर्यादित या अनुचित नहीं है।

हम लोग पहले भी उन बस्तियों में जाकर धर्मप्रचार कर चुके हैं। आज हरिजन बस्तियों में बड़े पैमाने पर संकीर्तन-भवनों की स्थापना होनी चाहिए। वहाँ संकीर्तन के साथ-साथ उपदेश का कार्यक्रम भी रखना चाहिये और इसमें शंकराचार्यों, धर्माचार्यों, विद्वानों को जाकर हिन्दू धर्म की समुचित व्याख्या करनी चाहिए, तब हरिजन बन्धुओं को ज्ञान होगा कि हमारा धर्म इतना सस्ता नहीं है। धर्मान्तरण करना हमारे पक्ष में नहीं है। दूसरे धर्म के लोग प्रलोभन देकर जो धर्म-परिवर्तन करा रहे हैं उसका दोष बताना चाहिए एवं हरिजनों की आर्थिक, सामाजिक स्थिति-सुधार का भी हर सम्भव प्रयास किया जाना चाहिए।

उन्होंने कहा कि राजनीतिक कारणों से हरिजनों की सामाजिक स्थिति को उस घृणा के साथ जोड़ दिया गया है जिसका हमारे शास्त्रों में कोई स्थान नहीं है। घृणा करना हमारे यहाँ पाप बतलाया गया है। धर्मान्तरण की प्रक्रिया ही अधार्मिक है। इसको राजनीतिक रूप न देकर धार्मिक घरातल पर सुलझाना चाहिए, इसी से धर्म का हित सम्भव है।

हर समस्या को राजनीतिक रंग देने की प्रवृत्ति उचित नहीं है। अतः सभी धर्माचार्यों तथा प्रबुद्ध लोगों को धर्मान्तरण की समस्या के समाधान पर गम्भीर विचार कर रचनात्मक कार्यवाही करनी चाहिए। परन्तु ऐसा करते समय हिन्दू धर्म की वर्णश्रम व्यवस्था एवं शास्त्रीय मर्यादा का कदापि उल्लंघन नहीं होना चाहिए।

उन्होंने आगे कहा कि रामचरितमानस की एक चौपाई मात्र के मनन, चिन्तन तथा अर्थ-अन्वेषण से सभी समस्याओं का समाधान, समन्वय तथा उत्तम बुद्धि का प्रयास सम्भव है।

इसका तात्पर्य है कि महेश एवं भवानी ही सबके गुरु, माता-पिता और अच्छे-बुरे दिनों के दाता हैं। अतः उन्हीं से हम सबको प्रार्थना करनी चाहिए कि वे अच्छे दिन दें जिसमें समन्वय एवं सामंजस्य की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिले तथा अलगाव, बिखराव तथा तनाव की प्रवृत्ति का ह्रास हो।

शरणागति

— स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती

(गतां से आगे)

भगवान् की कृपा

जो करुणा भगवान् के रूप में है, वही करुणा भगवान् के नाम में भी है। अजामिल आदि के प्रसंग भगवान् की नामगत करुणा का निरूपण करने के लिए ही हैं। कुब्जा आदि के जो प्रसंग हैं, वे भगवान् की रूपगत करुणा का निरूपण करने के लिए हैं। भगवान् यह नहीं देखते कि सामनेवाला कैसा है। वे देखते हैं कि मैं कैसा हूँ।

आपको एक बहुत साधारण-सी बात सुनाता हूँ। एक बार जोशी मठ में मैं ऐसे समय पर पहुँचा, जब अँधेरा हो गया था। कहीं ठहरने के लिए जगह नहीं मिली। सैकड़ों लोग ठहरे हुए थे, उनमें एक सेठ भी अपने पूरे परिवार के साथ थे। मैं उनके पास चला गया और कहा कि रात का समय है, आपके पास सो जाऊँगा। उन्होंने झट जगह कर दी। फिर भोजन भी बनवाया। रसोइये ने जरा मोटी-मोटी पूरी बना दी। जब उनकी लड़की मुझे भोजन परोसने के लिए चौंके में गयी और देखा कि पूरी बहुत मोटी-मोटी है तब उसने थाली पटक दी और बोली कि मैं ऐसी पूरी परोसूँ? रसोइये ने मुझे साधु या भिखारी समझकर मेरा कोई आदर नहीं किया और सोचा कि यह चाहे जैसा भोजन कर लेगा। लेकिन लड़की ने कहा कि ऐसा भोजन परोसना तो मेरे स्वरूप के अनुरूप नहीं है। मैं ऐसी पूरी अपने हाथ में लेकर कैसे परोसूँगी।

इसी तरह भगवान् यह नहीं देखते कि जिसको हम दे रहे हैं, वह कैसा है? यह देखते हैं कि मैं कैसा हूँ? यह उनकी करुणा है, उनका सहज स्वभाव है कि जब वे किसी को कुछ देते हैं तो अपनी ओर देखकर देते हैं कि हम उसको क्या दे सकते हैं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि वे अपने को असहाय समझकर यह अनुभव करने

लगते हैं कि इसको देने लायक हमारे पास कोई वस्तु नहीं है। उन्होंने हनुमान् जी से कह दिया कि मैं तो तुम्हारा ऋणी हूँ—“तेरो रिनी हौं कछो कपि सों।” ऐसा करुणा-वरुणालय कौन होगा? शरण्य के समस्त गुण भगवान् में ही होते हैं।

इसी से मैं आपको कल सुना रहा था कि जब विभीषण को सुग्रीव ने बाँधकर बन्दी बना लेने की, अंगद ने उनकी परीक्षा ले लेने की और हनुमान् ने उनके शिष्ट होने की सम्मति दी तब भगवान् ने कहा कि इस प्रकार विचार करने की कोई जरूरत नहीं है, यह तो मित्रता के भाव से मेरे पास आया है।^१ इसलिए इसी भाव से मैं इसको ग्रहण करूँगा—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजैनम् कथंचन।

विभीषणजी रावण से बारम्बार कहा करते थे कि रावण, तुम रामचन्द्र के साथ मैत्री कर लोगे तो तुम्हारा राज्य अविचल हो जायेगा। सीता राम को दे दो और थाली में पुष्प, चन्दन आदि लेकर चलो। वे तो तपस्वी हैं और यहाँ वनवास करने आये हैं। तुम जैसे औरों का स्वागत-सत्कार करते हो, वैसे ही राम का भी स्वागत-सत्कार करो। जिस प्रकार तुमने बालि के साथ मैत्री कर रखी थी, उसी प्रकार तुम राम के साथ मैत्री कर लो तो तुम्हारा मंगल हो जायेगा।

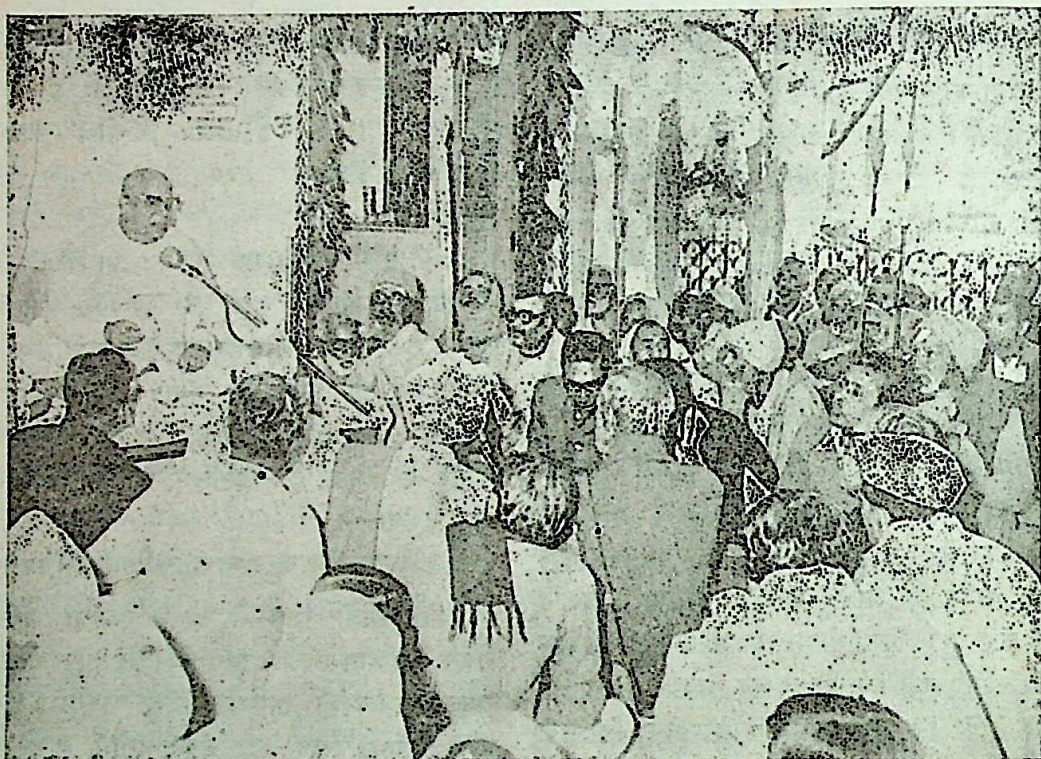
लेकिन भगवान् कहते हैं कि जो दूसरों को भी मेरे साथ मैत्री करने की प्रेरणा देता है, वह स्वयं मेरे पास आया है। यदि अमित्र भी मित्र का भाव लेकर आये तो उसको स्वीकार करना पड़ता है और यह तो सचमुच मित्र भाव से ही हमारे पास आया है। इसलिए इसको मैं किसी भी दशा में छोड़ नहीं सकता। भले ही मुझे अयोध्या का राज्य छोड़ना पड़े, लंका पर विजय प्राप्त करना छोड़ना

पड़े, यहाँ तक मर जाना भी पड़े, परन्तु विभीषण को छोड़ने की शक्ति मेरे अन्दर है ही नहीं।

एक बार उड़ियाबाबाजी महाराज के साथ ब्रह्मचर्चा हो रही थी। मैंने पूछा कि महाराज, कृपा क्या होती है? ब्रह्म तो निर्गुण है, निराकार है, निर्विकार है। फिर उसकी कृपा कैसी? बाबा बोले कि किसी को न छोड़ना ही कृपा है—अपरित्याग-लक्षणा कृपा। सबके भीतर आत्मरूप से विद्यमान है, चाहे कोई चर हो या अचर—चराचरमेव

दुनिया के सब अच्छे-अच्छे लोग ही भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करते। एक कवि ने तो कह दिया कि प्रभो, “यदि हम अपने कर्म से ही उतरेंगे पार तो हींही करतार, करतार तुम काहे को?” यदि मनुष्य में पार होने के लिए अपना बल हो तो वह दूसरे का सहारा ले ही क्यों?

इसलिए शरणागति है ग्रहण करना किसी धर्मनिष्ठ, उपासना-निष्ठ, योग-निष्ठ, ज्ञान-निष्ठ का ही यह काम नहीं है। जो भी निस्साधन है, वही भगवान् की शरण में आता



दो वर्ष पूर्व स्वामी अखंडानन्दजी महाराज काशी मुमुक्षु भवन सभा में
कृपा पूर्वक पधारे थे, उस समय का चित्र।

च। चर और अचर दोनों ही रूपों में ब्रह्म की स्थिति है। यह परमात्मा की कृपा ही है कि दुनिया में कोई कुछ भी कहे, परन्तु आज तक परमात्मा ने किसी को छोड़ा नहीं है। किसी का परित्याग नहीं किया है। नरकस्थ जीव की आत्मा के रूप में भी परमात्मा ही रहता है।

लेकिन मित्र में दोष निकल आये तो? बोले कि मले ही दोष निकल आये, उसके अन्दर कोई दोष है, निर्वलता है, तभी तो मेरी शरण लेने के लिए आया है।

है और यह सर्वोपरि उपाय है। क्योंकि इसमें उपेय का बल है। अपने बल से भगवान् को प्राप्त नहीं किया जाता, भगवान् के बल से भगवान् को प्राप्त किया जाता है। गीता में जो ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य’ है उसका अर्थ यही है कि तुम अपने धर्म के बल से हमको प्राप्त नहीं कर सकते, मेरे बल से मुझे प्राप्त कर सकते हो। इसलिए ‘मामेकं शरणं ब्रज’। जने-जबे की शरण में जाने की जरूरत नहीं है, ‘एकं माम्’—सिर्फ मेरी शरण में आ जाओ। उसमें धर्म, उपा-

संन, योग और ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम अपने धर्म के बल पर मुझे प्राप्त नहीं कर सकते। आओ, मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें अपनी गोद में ले लूँगा। तुम्हारा जो-कुछ प्राप्तव्य है, वह मेरे पास ही है।

दोषी की शरणागत

‘न त्यजेनम् कथंचन दोषो यद्यपि तस्य स्यात्’—भले ही शरण में आनेवाला दोषी हो। दोषी है तो क्या हुआ? मेरी शरण में तो आया है न! यदि मैं इसका इतिहास खोलकर देखूँगा कि यह कैसा है, तो इसका उद्धार कैसे होगा?

मैंने तो ऐसा सुना था कि एक बार कबीर साहब अपनी कुटिया में परिवार के साथ सो रहे थे। रात को एक आदमी ने उनका किवाड़ खटखटाया। कबीर साहब ने किवाड़ खोल दिया। आनेवाला आप ही बोला कि मैं चोर हूँ। पुलिस मेरा पीछा कर रही है। वह मुझको मार डालेगी। आप मेरी रक्षा कीजिए। अब कबीर साहब क्या करें? उनके घर में ज्यादा जगह नहीं थी। उन्होंने कहा कि यह मेरी लड़की सो रही है। तुम इसके साथ चुपचाप सो जाओ! बोलना मत! फिर जो कुछ करना होगा, मैं कर लूँगा! पुलिस आयी! उसने भी कबीर साहब का किवाड़ खटखटाया और कबीर साहब ने खोल दिया। पुलिसवालों ने पूछा कि तुम्हारे घर में कौन-कौन है? चोर इधर ही आया है। वह छिपा है क्या? कबीर साहब बोले कि देख लो, मेरा घर तुम्हारे सामने है। पुलिसवाले घर देखने लगे तो स्त्री-पुरुष एक साथ सोते दिखायी पड़े। उन्होंने पूछा कि ये कौन हैं? कबीर साहब ने उत्तर दिया कि मेरा जमाई है। मेरी बेटी के साथ सो रहा है। यह सुनकर पुलिसवाले चोर को छोड़कर चले गये।

अब यदि कोई कहे कि इस प्रकार दोषी की रक्षा करना तो बहुत बुरा है। ऐसा करने से संसार की व्यवस्था ही नहीं चलेगी। तो इसका उत्तर है कि ‘सतामेतत् अर्गहितम्’—सत्पुरुषों में शरणागत की रक्षा करना निन्दित नहीं माना जाता। शरणागत कैसा भी हो, उसकी रक्षा करने में कोई निन्दा की बात नहीं है। दूसरे लोग भले ही निन्दा करें, लेकिन उस निन्दा की परवाह करने की जरूरत नहीं है। क्योंकि सत्पुरुष लोग जानते हैं कि आजतक परमात्मा ने, सद्, चिद्, आनन्द, अद्वैत ने किसी को छोड़ा नहीं है।

मजहबी कानून

एक महात्मा ऋषीकेश की तरफ रहते थे। मैं एक दिन उनकी कुटिया में उनका दर्शन करने के लिए गया। वे बहुत विनोदी स्वभाव के थे। भगवान् से भी विनोद करते थे। उन्होंने अपनी कुटिया के ऊपर संस्कृत का एक श्लोक लिख रहा था—

सर्वा गीता मयाचोता तत्र प्राप्य विनिश्चिता।

सर्वधर्मपरित्यागी सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

इसका अर्थ है कि मैं सारी गीता पढ़कर इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि जो सर्व धर्म छोड़ देता है, वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। असल में पाप-पुण्य के बारे में भी तो लोगों की धारणाएँ अलग-अलग होती हैं। भारतीय कानून को जाननेवाला अमेरिका के कानून को नहीं जानता। उसके लिए वह उलटा पड़ता है। हमारे मजहब के कानून से मुसलमानी मजहब के कानून दूसरे हैं। मजहबी कानून से यदि सबको तोला जाये तो जो कुरान के अनुसार पाँच बार नमाज नहीं पढ़ेगा, वह काफिर हो जायेगा। ईसाई मजहब के अनुसार तो सात दिन में एक दिन ईश्वर के सामने जाना पड़ता है। हमारे यहाँ पाप-पुण्य का निर्णय इस दृष्टि से नहीं होता। उसका दृष्टि-कोण बिल्कुल दूसरा है।

शरण ही भगवान् है

इसी शरण के प्रश्न को ले लो। गीता में जैसे श्रीकृष्ण कहते हैं कि ‘मामेकं शरणं ब्रज’ वैसे ही श्रीरामचन्द्र कहते हैं। ऐसा लगता है कि एक ही वस्तु अपने को राम और कृष्ण के रूप में प्रकट कर रही हो। वाल्मीकि रामायण और गीता के दोनों वचनों को मिलाकर देखिए—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।

अमयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतत् ब्रतं मम ॥

×

×

×

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

उपनिषद् में वचन आता है कि मैं संसार-दुःख से मुक्त होने के लिए आपकी शरण ग्रहण करता हूँ—‘मुमुक्षुर्वै शरणमहम् प्रपद्ये।’ गीता में भगवान् का नाम ही शरण है। जहाँ एक ओर आता है कि ‘तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत’, वहाँ दूसरी ओर आता है कि ‘मामेकं शरणं ब्रज।’ शरण शब्द स्वयं भगवान् का वाचक है। शरण साक्षात् भगवान् ही हैं—

गतिर्मर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुदृढम् ।

प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

तो, चलो भाई भगवान् की शरण में । क्योंकि मन्थरा, कैंकेयी और समुद्र की शरण लेने से कल्याण नहीं होगा । शरणागति तो सर्वात्मदृष्टिपूर्ण दृष्टि से ही प्राप्त होती है ।

वैष्णवों की शरणागति

एक बात आपको सुनाता हूँ । मैं जब अट्टारह-उन्नीस बरस का था तब एक महात्मा के पास गया । वे बहुत अच्छे महात्मा माने जाते थे । मुझको तो अच्छाई-बुराई का उतना पता नहीं था । लगभग नब्बे वर्ष की उनकी उम्र थी । वे खूब दौड़ते थे और अपने शरीर में बालू लगाते थे । कभी लँगोटी पहनते थे और कभी नहीं भी पहनते थे—तंगे रहते थे । मैंने उनसे प्रार्थना की कि महाराज, मुझको आप भगवान् की शरण में कर दीजिए, शरणागत बना दीजिए भगवान् का ।

वैष्णवों में ऐसा मानते हैं कि आचार्य द्वारा शरणागति होती है । शरणागति के लिए कोई आचार्य चाहिए । जैसे विभीषण को भगवान् की शरण में ले जानेवाले हनुमान्जी आचार्य हैं, वैसे ही भगवान् की शरण में आने के लिए भी आचार्य चाहिए ।

इसलिए मैंने महात्मा से प्रार्थना की कि आप हमें भगवान् का शरणागत कर दीजिए । इसपर वे महात्मा बहुत हँसे और बोले कि गुरु ! वे मुझको गुरु ही बोलते थे । काशी में चले को भी गुरु बोलते हैं—यह तो आप जानते ही हैं । महात्मा बोले कि गुरु, तुम मुझको घण्टे-दो-घण्टे या एक-दो दिन सोचकर यह बताओ कि सृष्टि में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो भगवान् की शरण में नहीं है ?

वे महात्मा साधारण नहीं थे । मालवीयजी महाराज भी उनके पास जाते थे । एक बार पण्डित जवाहरलाल नेहरू भी उनके पास गये थे । पण्डित गोपीनाथ कविराज तो बारम्बार उनके पास जाते थे । बड़ी महिमा थी उनकी ।

सभी भगवान् के शरणागत

मैंने फिर कहा कि मुझको भगवान् की शरणागति चाहिए । महात्मा बोले कि गुरु, क्यों बार-बार एक ही बात

करते हो ? तुम यह बताओ कि ऐसी कौन-सी वस्तु दुनिया में है जो भगवान् की शरण में न हो ? क्या पृथिवी भगवान् की शरण में नहीं है ? मैंने कहा कि हे महाराज ! पृथिवी तो भगवान् की शरण में ही है । अच्छा, जल ? मैंने सोचकर बताया कि हाँ, जल भी तो भगवान् की शरण में है । फिर उन्होंने पूछा कि अग्नि ? सूर्य, चन्द्रमा ? वायु और आकाश ? मैंने कहा कि ये सब भी भगवान् की शरण में हैं । उन्होंने कहा कि तब इन्हीं तत्त्वों से बना हुआ यह शरीर भगवान् की शरण में क्यों नहीं है ? इन्हीं तत्त्वों से बना हुआ मन भगवान् की शरण में क्यों नहीं है ? शरणागति और क्या है ? यही तो है । मनुष्य के भीतर जो यह भ्रम बैठ गया है कि हम भी बलवान् हैं, हमारा भी अपना एक बल है, समष्टि के ब्रह्म से, भगवान् के बल से, हमारा पृथक् कोई बल है, उनकी सत्ता से पृथक् हमारी सत्ता है, उनके ज्ञान से पृथक् हमारा ज्ञान है, उनके आनन्द से पृथक् हमारा आनन्द है और उनके अद्वयरूप से पृथक् हमारा कोई द्वैतरूप है—यह मिथ्या है । तो अशरणागति का यह भ्रम कि मैं भगवान् की शरण में नहीं हूँ, इसको निवृत्त करना पड़ता है । शरणागति कोई क्रिया नहीं है, कोई भावना नहीं है । तुम्हारे जीवन में जो भ्रम बैठ गया है, उसको निवृत्त कर लो । बस, भ्रम की निवृत्ति ही शरणागति का बोध है । कहते हैं कि जैसे तत्त्वज्ञानी का जीवन प्रारब्ध के अनुसार, प्रकृति के अनुसार चलता है, वैसे ही भक्त का जीवन कर्म के कर्ता और प्रकृति के अविष्टान परमात्मा से चल रहा है ।

असल में अशरणागति के भ्रम की निवृत्ति का नाम ही शरणागति है । शरणागति एक बोध है, एक सत्य है, एक यथार्थ जीवन है । नहीं तो संकल्प-विकल्पों के जाल में फँसे रहोगे । शरणागति कोई तुलना या उपासना या अभ्यास अथवा और कुछ नहीं है, बल्कि यह बोध है कि हमारा शरीर जैसे माटी और अन्न के बिना नहीं रह सकता, पानी के बिना नहीं रह सकता, गर्मी के बिना नहीं रह सकता, हवा के बिना नहीं रह सकता, आकाश के बिना नहीं रह सकता, वैसे ही आत्म-चैतन्य सत्ता परमात्मा की सत्ता के बिना नहीं रह सकती । परिपूर्ण परमात्मा ही है । (क्रमशः)

□

नीलाम्बुजश्यामल कोमलांगं सीतासमारोपितवामभागम् । पाणौ महाशायक चारु चापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥
सीता शोभित वाम दिशि, नील कमल सम श्याम । कोमलांग कर तीर-धनु, रघुपति राम प्रणाम ॥

— श्री मुरारीलाल केडियां

श्रीमाता का मन्दिर

— म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

(गतांक से आगे)

स्मरण रखना होगा कि विमर्श शक्ति जब आत्मा या परमशिव का स्फुरण अर्थात् पश्यन्त्यादि क्रम से वैखरी तक देखने की इच्छा करती है तब वह शान्तरूप में स्थित होकर अम्बिकारूप धारण करती है अर्थात् प्रकाशारूप अम्बिका के साथ सामरस्य प्राप्त करता है। इस अवस्था में उनका नाम परावाक् होता है। इस समय विश्व बीजरूप में अवस्थित रहता है। इसी परावाक् के भीतर ३६ तत्त्वरूपी विश्व अव्यक्त भाव में अवस्थित रहता है। जब इस बीजरूप विश्व को अभिव्यक्त अथवा प्रस्फुटित करने के लिए वह उन्मुख अथवा उत्सुक होती है तब वह वामा नाम धारण करते हुए अन्तर्निहित विश्व को बाहर प्रकाशित करती है अर्थात् उसका उत्पादन करती है। आत्मा की ओर से बाहर प्रकाश होने के कारण इसका नाम है वमन। तब इस वामा त्रिकोण को वामरेखा अभिव्यंजन करती है। यही रेखा है। वामा शक्ति के साथ इच्छाशक्ति सामरस्य प्राप्त करते हुए पश्यन्ती रूप में अवस्थान करती है। इसर ज्ञानशक्ति ज्येष्ठा रूप में प्रकट होती है। वामा विश्व सृष्टि की सूचना देती है। किन्तु ज्येष्ठा विश्व स्थिति की सूचना देती है। यह सरल रेखा रूप में है। ज्येष्ठा शक्ति ज्ञान शक्ति के साथ सामरस्य प्राप्त करती है। यही विश्व की स्थिति का प्रतीक है। यही त्रिकोण की अन्न रेखा है। इसके बाद क्रिया शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। ऋजु रेखामयी मध्यमावाक् मध्यमामातृका के नामसे प्रसिद्ध है। इसके बाद अर्थात् विश्व की सृष्टि और स्थिति के पश्चात् विश्व का संहार प्रदर्शित होता है। संहार काल में वैन्द्वरूप धारण करते हुए अम्बिका और शान्ता सामरस्य रूप में स्थिर होते हुए मध्यबिन्दु से आविर्भूत होने के बाद संहारोन्मुख होकर पुनः बिन्दु में प्रवेश करती हैं। प्रत्यावर्तन क्रम में इसे रोद्री और क्रियाशक्ति का सामरस्य समझना चाहिए। यह त्रिकोण की दक्षिण रेखा है। वैखरीवाक् विश्वविग्रह यह शास्त्रों में उक्त हुआ है।

अब तक जो कुछ बताया गया वह सब अम्बिका आदि

की चार शक्तियों एवं शान्ता आदि चार शक्तियों के त्रिकोण रूप धारण का रहस्य है। ये सब शक्तियाँ प्रकाश और विमर्श की अंशरूप हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है।

त्रिकोण के अन्तर्गत योगी के लिए विशेष रूप से अनुसन्धान के चार विषय हैं—प्रथम पीठ, द्वितीय लिंग, तृतीय वर्ण और चतुर्थ अवस्था। यह जो चार शक्तियाँ प्रकाश और विमर्श के अंशरूप अम्बिकादि और शान्तादि नाम से ज्ञात हैं ये ही पहले त्रिकोण रूप धारण करती हैं। इसके बाद उस त्रिकोण में पीठादि का उदय होता है। स्मरण रखना होगा कि शिव से पृथ्वी तक ३६ तत्त्व ही नाम-रूपात्मक है। यह सब स्वरूप में बीज रूप में और बाहर सृष्टि-रूप में भासमान होता है। ये चारों शक्तियाँ क्रमशः सामरस्य प्राप्त करते हुए चार पीठों में प्रकट होती हैं। प्रथम पीठ कामरूप, द्वितीय पूर्णगिरि, तृतीय जालन्धर, और चतुर्थ ओडयान पीठ। इन चारों शक्तियों का सामरस्य अवस्था पीठ के नाम से प्रसिद्ध है। इन सभी पीठों के स्थान मानव देह के भिन्न-भिन्न प्रदेश में हैं, इसे जानना पड़ेगा। कामरूप पीठ का स्थान सुषुम्ना के मूल में स्थित कन्द-भूमि में है। कन्दस्थित पिण्ड कुण्डलिनी नाम्नी शक्ति में लक्षित होता है। यही कुण्डलिनी-शक्ति ज्ञान और क्रिया दोनों रूपों में है। इसे साक्षात् परमेश्वरी कहा जाता है। यह प्रसुप्त भुजंगम की तरह रूपविशिष्ट है। यह मातृकारूपिणी है। सावक वायु का कन्दमूल में संचालन करते हैं। कन्द के पश्चात् द्वितीय स्थान का नाम है—पद। इसका नामान्तर हंस है। यह द्वितीय पीठ है। तृतीय पीठ का नाम रूप अथवा बिन्दु है। चतुर्थ पीठ का नाम रूपातीत है। यही निरंजन तत्त्व का वाचक है। रूपातीत वास्तव में चिन्मय सत्ता का ही स्वरूप है। इन चारों पीठों का स्थान भी चार है। पिण्ड का स्थान मूलाधार, पद का स्थान हृदय, रूप का स्थान मध्य और रूपातीत का स्थान ब्रह्मरन्ध्र है। पीठों के आकार भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम पृथ्वी रूप में, द्वितीय जल रूप में, तृतीय वायु रूप में एवं चतुर्थ

तेजो रूप में है। प्रथम पीठ भूतत्त्व है। आगम मत से भूतत्त्व चतुरस्र है इसे स्मरण रखना होगा, द्वितीय पीठ छः बिन्दुओं से युक्त वायुमण्डल है। यही पूर्णगिरि है। वायुमण्डल में छः आवर्त हैं। तृतीय पीठ अर्द्धचन्द्राकार है। जालन्धर इस पीठ का नाम है। यह जलतत्त्व का मण्डल है। जलतत्त्व अर्द्धचन्द्राकार है यह बात प्रसिद्ध है। चतुर्थ पीठ औड्यान है इसका आकार त्रिकोण है। यह अग्नि मण्डल का स्वरूप है। ये चारों पीठ प्रकारान्तर से चार भूतों के वाचक हैं। आकाश तत्त्व का रूप नहीं है इसलिए उसका उल्लेख नहीं किया गया। पीठों का वर्ण क्रमशः पीत, धूम्र, श्वेत और रक्त है। पीठों का यह क्रम आम्नाय सम्मत है। प्रत्येक पीठ में एक-एक लिंग है। पीठ-भेदानुसार लिंगों के नाम भिन्न-भिन्न हैं। कामरूप के लिंग का नाम स्वयंभू, पूर्णगिरि के लिंग का बाण है, जालन्धर के लिंग का इतर और औड्यान पीठ के लिंग का नाम परलिंग है। स्वयंभू लिंग का वर्ण सुवर्ण की भाँति है। बाण लिंग का वर्ण रक्त की भाँति है। इतर लिंग का वर्ण पुष्प की तरह और परलिंग का वर्ण शुभ्र है।

लिंग शब्द का क्या अर्थ है? इस प्रश्न के उत्तर में आगम का कहना है कि जो लीन सत्ता को प्रकट करते हैं (लीनं गमयति) वही लिंग है। अर्थात् बाह्य इन्द्रियों के लिए अगोचर पदार्थों को अभिव्यक्त करने वाले को लिंग कहा जाता है। कामरूपादि पीठ चित् की स्फुरता का आधार है। इसलिए उपासना प्रकृष्ट स्थान है। ये पीठ देह-दृष्टि से मन वृद्धि-चित्त और अहंकार इन चारों अन्तःकरण के चार रूप हैं। इनमें लिंग रूप में चित् सत्ता की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्ति होती है। और यह स्वयंभू इत्यादि के नाम से वर्णित होते हैं। इस सम्बन्ध में अधिक चर्चा करना अनावश्यक है।

अब हम स्थूल दृष्टि से श्री चक्र के स्तरों का वर्णन करेंगे। पहली बात तो यह है कि यह चक्र बिन्दु चक्र के नाम से प्रसिद्ध है। यह शिवभाव का द्योतक है। भैरवा-यामल में लिखा है कि यही परमेश्वरी सर्वातीता होने पर भी शिवसंयुक्त होकर वैन्दव अवस्था में विराजमान है। बिन्दु को शिवशक्ति की घनीभूत अवस्था मान लेना पड़ेगा। इसके बाद त्रिकोण चक्र का स्थान है। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना होगा कि अर्थरूपा जागतिक सृष्टि शब्द-मूलक है। प्रलय काल में समग्र सृष्टि शब्द ब्रह्मरूप परावाक् में

आकर विलीन हो जाता है। इसी परावाक् या मूलबिन्दु से पश्यन्त्यादि तीन वाकों का उद्भव होता है। तृतीय चक्र अष्टार के नाम से प्रसिद्ध है। किसी-किसी का ख्याल है कि शिव चतुरस्र और जीव चतुरस्र के मिलन से अष्टकोण उद्भूत होता है। शुद्ध विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शिवत्व ये चारों एक साथ शिवचतुरस्र नाम से प्रसिद्ध है। तद्रूप माया, माया से उद्भूत तीन अन्तःकरण एक साथ मिलकर जीवचतुरस्र नाम से प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। इन दोनों के मिलने से अष्टकोण या अष्टार उद्भूत होता है। यही शिव जीव भाव के सम्पादक है। अर्थ-सृष्टि की ओर से यह कहा गया किन्तु अर्थ का वाचक शब्द सृष्टि का भी तो है। तदनुसार य वर्ण अर्थात् य र ल व यह जीवचतुरस्र एवं श वर्ण अर्थात् श ष स ह ये चारों शिवचतुरस्र हैं। इस स्थान पर 'आठ योनि' अभिव्यक्त होता है। इनमें चार शिव भाव के और चार जीव भाव के व्यंजक हैं। अष्टार की आठ योनि और मूल त्रिकोण की एक योनि एक साथ नवयोनि के नाम से प्रसिद्ध है। इसके साथ मध्य बिन्दु का योग होने पर कुल संख्या दस हो जाती है। यह अत्यन्त गुह्य तत्त्व है। कारण यहाँ शिव और जीव का चतुरस्र है। मध्य त्रिकोण रूप एक योनि है। साथ ही वह मध्य बिन्दु युक्त है। इसीलिए प्रधान देवता की पूजा अष्टार में करने की विधि है। इसकी मुख्य देवता महात्रिपुरसुन्दरी है—शिव और जीव दोनों ही उनके अंग हैं।

बिन्दु, त्रिकोण और अष्टार ये तीनों चक्र एक साथ प्रमातृपुर, स्वप्नवासना और अरि-खण्ड के नाम से परिचित हैं। किसी-किसी आचार्य के मत से ये तीनों चक्र सृष्टिचक्र हैं। इनमें बिन्दु चक्र सृष्टि—सृष्टि अर्थात् इच्छारूप, त्रिकोण, चक्र सृष्टि—स्थिति या ज्ञानरूप और अष्टार चक्र सृष्टि संहार अथवा क्रिया रूप है। इन तीनों चक्रों के नाम सदानन्दमय, सर्वसिद्धिप्रदायक और सर्वरक्षाकर हैं। यहाँ आश्रय हुए कामेश्वर और आश्रयी हुई कामेश्वरी दोनों के मिलने से चार आयुध उत्पन्न होकर अष्टार में अवस्थान करते हैं। चारों आयुध हैं—पाश, अंकुश, घनुष और बाण। वामादित्रय और इच्छादित्रय तीन प्रकारों में विभक्त होकर दो वल्लि और एक शक्ति के संयोग में अष्टार चक्र की रचना करते हैं। इस अष्टार चक्र में वल्लि और शक्ति रूप में नवचक्रात्मक रूप होता है। कामेश्वर और कामेश्वरी के तेज अपने सूक्ष्म पर्यष्टक में विभक्त होते हुए वशिनी प्रभृति

अष्टार के देवता रूप धारण करते हैं।

अब तक की गयी चर्चा से क्या समझा गया? यह समझा गया कि शिव शिवतत्त्वादि एक शुद्ध विद्यादि चारों तत्त्वों एवं जीव भाव का सम्पादक मायादि कंचुकमूल दस तत्त्व और मूल अक्षर दस य र ल व श ष सह क्ष और त्र का प्रादुर्भाव होता है। इन सभी चर्चाओं का सारांश यह है कि श्रीचक्र के इसी अंश के कारण शरीर की सृष्टि रहस्य है। अब लिंग-शरीर की सृष्टि को समझना चाहिए।

अब अन्तर्दशार और बहिर्दशार इन दोनों चक्रों की चर्चा की जा रही है। ऊपर शिव और शक्ति रूप जो दोनों तेज वशिनो प्रभृति रूप में या पर्यष्टक रूप में स्थित रहे वही तेज इस समय अन्तर्दशार के इन्द्रिय रूप में विभक्त हुए। इनकी पूजा होती है सर्वज्ञादि दस देवताओं के रूप में। यह सर्वरक्षाकर चक्र है, क्योंकि दस इन्द्रियों का रक्षाकारक है।

यह हुआ बहिर्दशार का उक्त दस इन्द्रियों का दस विषय-गन्ध रसादि और वचन आदानादि लेकर यह चक्र सर्वार्थ साधक चक्र के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ सर्वसिद्धिप्रद देवता की पूजा होती है। यह पूर्वोक्त दोनों तेजों का नाम मात्र है। इस बहिर्दशार के चारों विदिक् कोणों में चार मर्मस्थान हैं। इनमें चार त्रिकोणों के द्वारा घटित एक चतुरस्र कल्पित होता है। जिसके चारों कोणों में प्रकृति, अहंकार, बुद्धि और मन कल्पित होते हैं। इनकी वाचक चार मातृकाएँ प फ ब म हैं। भकार जीव रूप त्रिकोण के साथ संश्लिष्ट है। अन्तर्दशार के वाचक वर्णों के नाम टवर्ग और तवर्ग अर्थात् (ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न), बहिर्दशार के वाचक मन्त्र कवर्ग और चवर्ग क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ हैं। यही हैं दो दशारों के बीस कोणों में रहनेवाले। चतुरस्र के चार बीज कुल चौबीस बीज होते हैं। इन चौबीस वर्णों के संयोग से एक ओर होता है ग्राह्य एवं दूसरी ओर ग्राहक।

इस तरह सूर्य की द्वादश कलाएँ व्यक्त होती हैं। प + फ प्रकृति, ब + म मन। ये सब चतुरस्र की प्रधान कलाएँ हैं। यही चतुरस्र है विश्व चक्र शेष दस कलाएँ हैं—इन्द्रिय। तन्मात्र रूप अवयव कला है। इसलिए दो दशार और चतुरस्र मिलकर सो खण्ड बने। यह है प्रयागपुर और जारात्मक।

जब अन्तर्दशार के तत्त्व या विषय बहिर्दशार के या इन्द्रिय के तत्त्वों को अपनी व्याप्ति द्वारा आच्छन्न नहीं कर लेते अर्थात् जब विषय अपने-अपने अभ्यन्तर रूप में विलीन रहते हैं तब दसों इन्द्रिय और शब्दस्पर्शादि पाँच ओर पाँच

अदृष्ट इसके बाद मन और पुरुष इन सतरहों तत्त्वों से लिंग शरीर की रचना होती है।

मूल कारण रूप सूक्ष्म बिन्दु अव्यक्त क्रमशः बाह्यरूप में विकसित होकर इन्द्रियाति भाव ग्रहण करता है और लिंग शरीर की रचना होती है। इसी तरह अन्त्यावयवी तक की रचना होती है एवं बाह्य रूप में परिणत होकर स्थूल शरीर की रचना होती है। इन सभी अवस्थाओं की सूचना चतुरस्र गभित दो दशारों में दृष्ट होती है। स्थूल शरीर द्वारा जगत् व्यवहार के सम्पादक सूर्य हैं कारण इसमें जड़ और अजड़ दोनों का समावेश है।

जड़ मतलब है चन्द्रकला एवं अजड़ का मतलब है वह्निकला। ज्ञात पुरुष उक्त प्रकार त्रिचक्र इन्द्रिय और विषय (चेतन जड़) दोनों का सम्मिश्रण है। यह हुआ दोनों दशारों का परिवेश।

इसके बाद शिवशक्ति युगल तेज चौदह शक्ति रथों में परिणत होता है। इसका नाम होता है संक्षोभिनी आदि। ये शक्ति समूह चतुर्दशार के चतुर्दश कोणों में अवस्थित है। उसी स्थान पर इनकी पूजा होती है। ये चौदहों तेज पिण्डाण्ड की दस इन्द्रियाँ हैं एवं मन बुद्धि चित्त और अहंकार हैं। इन चतुर्दशार के चान्द्र खण्ड और जड़ हैं। इसका नाम है सुषुप्तिपुर। चन्द्र की सोलह कलाएँ प्रसिद्ध हैं। उनमें अ से ओ तक चौदह वर्ण चौदह कलाएँ हैं। अं एवं अः इन दोनों का संयोग होने से षोडश पूर्ण होता है। इसी को षोडश कलाएँ कहते हैं। बिन्दु से चतुर्दशार तक श्रीचक्र मुख्य है।

अब अष्टमदल, षोडशदल और भुपुर की बातें बता रहा हूँ। इस सम्बन्धमें स्मरण रखना होगा कि समस्त चक्र बिन्दु रूप में हैं। बिन्दु से ही शक्ति के प्रभाव में चतुर्दशार तक कल्पित होता है। त्रिकोण से चतुर्दशार तक शक्ति चक्र है—इन सभी के गर्भ में शिवचक्र भी है। चतुर्दशार के बाहर है कमल उसमें आठ देवियों की पूजा होती है। वस्तुतः ये आठ देवियाँ शिव शक्ति का अष्टधा विभक्त रूप है। यह सब संक्षेपक चक्र है। शोभ सृष्टि कारक है यह स्मरण रखना होगा। यह अष्टदल अग्निखण्ड और प्रमातृपुर है। बिन्दु रूप एक ही वह्नि की आठ कलाएँ हैं। विसर्ग या चतुर्दशार के बाहर स्थित बिन्दु, अष्टदल के अष्टार चक्र में अन्तर्भुक्त है, इसलिए चतुर्दशार का माध्यस्थ हो जाता है। भैरवयामल में कहा गया है कि चार शिवचक्र और शक्ति चक्र द्वारा [शेष पृष्ठ २१ पर]

श्रीराम के राज्याभिषेक की मीमांसा

— पंडित श्री विश्वनाथ शास्त्री दातार

[गतांक से आगे]

गुण सम्पादन का उद्देश्य

श्रीराम ने उपर्युक्त गुणों को राज्यप्राप्ति के लिए अर्जित किया था, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। क्योंकि शास्त्र-वादियों के सभी कार्य धर्म और कर्तव्य की दृष्टि से सम्पन्न किये जाते हैं न कि किसी फल की आकांक्षा से यथा—“कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।” ऐसे शास्त्र-विहित कर्मों का फल अर्थ के रूप में परिणत नहीं होता बल्कि प्रीति सम्पादन में फलीभूत होता है। इसीलिए श्रीराम को राजा और प्रजा दोनों प्रेमपूर्वक राज्य समर्पण में प्रवृत्त हैं। राजसभा में चर्चित श्रीराम को उपलब्ध होने वाला राज्यप्राप्ति आदि दृष्ट फल गौण हैं।

इसी की व्याख्या कवि राजा दशरथ के माध्यम से इस प्रकार कर रहे हैं—

सेवक, सचिव, सकल पुरवासी, जे हमार अरि मित्र उदासी सबहि राम प्रिय जेहि विधि मोही, प्रभु असीस जु तनु भरि सोही बिभ्र सहित परिवार गोसाईं, करहि छोड़ु सब रौरिहि नाई

आत्मसम्पत्ति का प्रभाव

महाराज दशरथ के सेवक श्रीराम की सेवा करने में अपने भविष्यत् को धन्य मान रहे हैं। मन्त्रिपरिषद् भी उन्हें युवराज पद पर आसीन देखने की कामना कर रही है। इसीलिए दशरथ जी श्रीराम को ‘सब विधि सब लायक’ विशेषण से विभूषित कर रहे हैं। उसी अनुभाव में राजा यह भी कह रहे हैं कि सभी पुरवासी श्रीराम के प्रति अपना अनुराग प्रकट कर रहे हैं। इसके साथ ही पुरवासियों में शत्रु, मित्र एवं उदासीन (तटस्थ) की चर्चा कर अपनी आन्तरिक आशंका भी व्यक्त करते प्रतीत हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में शत्रुओं द्वारा मित्रभेद का खतरा

उत्पन्न किया जा सकता है। उदासीन वर्ग उपकार-अपकार दोनों से विरत रह सकता है। किन्तु राम को राज-पद देने में सभी मित्र-भाव से समर्थन कर रहे हैं। अतः यह दोष यहाँ स्वतः निरस्त हो जाता है।

राजा ने सब विधि कह कर यह दिखलाया है कि श्रीराम जैसी योग्यता भरत में भी निर्विवाद रूप से है तथापि ज्येष्ठत्व के नाते राम की उपयुक्तता शास्त्र-सम्मत है। इसी को कवि ने ‘सब लायक’ द्वारा स्पष्ट किया है। यद्यपि रघुवंश में यही परम्परा बद्धमूल है तथापि राज्यानुबन्धिकर्तृत्व के कारण रघुवंश ‘कुलराज्य’ में परिणत होकर प्रजा की सम्मति से भरत को भी राज्याधिकारी बना सकता है। किन्तु महाराज दशरथ यह आशंका व्यक्त करते हुए भी इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि भरत राज्याभिलाषी और अर्थी न होने के कारण रघुकुल की परम्परा का अतिक्रमण करने के लिए उत्सुक नहीं होंगे।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि राजा अपने पुर में शत्रु, मित्र और उदासीन का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। दूर नहीं राजा के घर में ही तीनों रानियाँ शत्रु, मित्र और उदासीन भेद से परस्पर विभक्त हो सकती हैं। जैसे कौशल्या मित्र और सुमित्रा उदासीन। राज्य की उचित व्यवस्था किये बिना ही यदि राजा का शरीरान्त हो जाता है तो मातृकुल देखते हुए मन्थरा सहित कैकेयी के बारे में यह कहा जा सकता है कि मानिनी होने से सम्भव है, किसी के बहकावे में आकर शत्रुभाव ग्रहण कर ली। यद्यपि उसने अबतक ऐसा कोई व्यवहार नहीं किया है तथापि उसमें कृत्रिम शत्रुता का होना असम्भव नहीं है। राम ने कोई कार्य ऐसा नहीं किया है जिससे कैकेयी उनमें दोष निकाल सके। उक्त सम्भावना को ध्यान में रख कर राजा

दशरथ अपने जीवन में ही गुरु की अनुमति से राम के राज्याभिषेक का निर्णय कर लेना चाहते हैं जिससे राज्याधिकार सदा के लिए सुरक्षित हो जाय। 'सब विधि' का यही सदुपयोग है।

इसके अतिरिक्त 'सब विधि' कहने का एक और तात्पर्य यह हो सकता है कि राजा विधि का अनुसरण करते हुए अपनी सत्य-प्रतिज्ञता के बल पर राम का राज्याभिषेक करना चाहते हैं पर उनके सामने ऊहापोह की स्थिति खड़ी है। पूर्वापर विधि के समन्वय को यथावत् न जानने पर उनकी अवस्था किर्कतव्य-विमूढ़ जैसी है। एक ओर कैकेयी-विवाह के अवसर पर उसके पुत्र को राज्य देने की प्रतिज्ञा और दूसरी ओर सर्वगुण-सम्पन्न तथा शास्त्रतः राम को युवराज पद देने का अपना निर्णय है। ऐसी स्थिति में राजा विधि-समन्वय करते हैं। इस समन्वय में राजा भीमांसा के द्वारा ही राम-राज्याभिषेक का निर्णय करते हैं जिससे सत्यप्रतिज्ञत्व पर आँच भी न आने पाये और शास्त्र-विरुद्ध कार्य भी न हो।

श्रीराम को राज्य का लोभ नहीं है और न भरत ही राज्य लेना चाहते हैं जैसा दोहा ३१ और ३६ में राजा ने स्पष्ट किया है। परिजन-प्रजा की सम्मति और कैकेयी की इच्छा भी रामराज्याभिषेक के अनुकूल समझकर राजा ने शास्त्र-विधि मानकर ज्येष्ठ पुत्र राम को ही राज्यपद देने का निर्णय किया। इस निर्णय में अपनी प्रतिज्ञा छोड़ देने में वे शास्त्रतः दोषी नहीं माने जायेंगे। सब विधि का भाष्य यह हुआ कि ऐसी परिस्थिति में यदि राजा अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हैं तो राजनीति के लोप से वह राज्य और देश के विनाश का कारण होगा। फिर भी राजा का यह पुण्य प्रभाव कहा जायगा कि प्रभु की अनुकम्पा से ऐसा ही विधि-विधान बन गया कि राजनीति की छत्रछाया में त्रयी की प्रधानता से राजा की प्रतिज्ञा भी—भरत का राज्य-संचालन—रह गई और राम तथा भरत के चरित्र से राजा की प्रतिज्ञा पूरी भी हो गई। शास्त्रानुगामी सत्य प्रतिज्ञ-भक्त के द्वारा यदि ऐसा कोई संकल्प हो जाता जिसे पूरा करने के लिए शास्त्र-विधान का अनुसरण करने में प्रतिज्ञा असत्य होती हो तो प्रभु युक्ति-पूर्वक उसे पूरा करते ही हैं।

श्रीराम के विशेष गुणों के साथ उपर्युक्त तथ्यों का निरूपण राजा ने गुरु वसिष्ठ के समक्ष किया।

राजनीति में गुरु—ब्राह्मणों का योगदान

पुर और जनपद में निवास करनेवाले सभी वर्गों को जो प्रिय है वही राजा के लिए परम कर्तव्य है, अतः श्रीराम के राज्याभिषेक का यह उत्सव रचा गया। गुरु का तो आशीर्वाद ही घर में पुत्र के रूप में अवतीर्ण है। अब राजा गुरु से निवेदन कर रहे हैं कि ब्राह्मणों को साथ में लेकर आप यह राज्योत्सव सम्पन्न करें। राज्य में गुरु एवं ब्राह्मणों की अपेक्षा क्यों मानी जाती है, इसे राजा दशरथ स्पष्ट कर रहे हैं :—

जे गुरु चरनरेनु सिर धरहीं, तेजनु सकल विभव बस करहीं।

गुरुचरणरज

गुरुचरणरज को शिरोधार्य करनेवाले व्यक्ति सम्पत्ति से परिपूर्ण तथा यथोचित प्रतिभा-सम्पन्न रहते हैं—यह व्याप्ति है। सद्गुरु को पाकर यदि शिष्य उनके आदेशों को आत्मोपमा से ग्रहण करते हैं तो उपर्युक्त व्याप्य-व्यापक भाव सम्पन्न होता है। निर्मल अन्तःकरण में नीति-उचित यथार्थ तत्त्व का भान होने से सारा वैभव सुलभ हो जाता और अकार्य से निवृत्ति का स्वभाव भी बन जाता है।

मोहि सम यह अनुमबंढ न दूजे, सब पायउँ रज पावनि पूजे।

उपर्युक्त तत्त्व को राजा दशरथ अनुभव से प्रमाणित करते हैं। गुरुचरण-रज की सेवा से सौभाग्य—पत्नियाँ, सम्पत्ति, अखण्ड ऐश्वर्य, चिरंजीविता, अनुशासन का आदर्श, पितृभक्त चार पुत्रों की प्राप्ति आदि फल अनन्यास प्राप्त है। 'सब' शब्द से कवि ने यही भाव स्पष्ट किया है।

राजा का सौभाग्य

महाराज दशरथ ने गुरु वसिष्ठ से भारतीय राजनीति की शिक्षा प्राप्त की थी। राजा प्रजा का सेवक है, इस दृष्टि से दशरथ जो ने नीति-शास्त्र के अनुसार कर्तव्य-पालन किया। शासक होते हुए भी उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता को नीतिकुशल, राज्यहितैषी मन्त्री, पुरोहितगुण-सम्पन्न गुरु की अनुशासन-भर्यादा में विलीन कर दिया है जिसका प्रत्यक्ष फल उन्हें मिला है राम जैसा पुत्ररत्न। यही राजा का पूर्ण आनन्द और परम सौभाग्य है। उनकी सारी इच्छाएँ पूरी हो गयी हैं, इसे जानते हुए उन्हें विश्वास है कि शेष मनोरथ भी पूरा होगा—

अब अभिकाषु एक मन मोरे, पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे।

गुरु के आशीर्वाद का प्रयोजन

भरत की अनुपस्थिति के कारण समय के भीतर इच्छा पूरी होगी इसमें राजा को सन्देह है। इसलिए वे जो इच्छा प्रकट करना चाहते हैं, उसकी पूर्ति गुह्यता पर ही अवलम्बित है। राजा स्वयं को महत्त्व न देकर केवल गुरु की इच्छा का अनुसरण करना चाहते हैं। यहाँ विचारणीय यह है कि गुरु की प्रसन्नता से ही शिष्य के सभी मनोरथ पूरे होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रलोभन-वश गुरु शिष्य को पराधीन बनावे अपितु उसे योग्यतम स्वतन्त्र बनावे, इसी में भारतीय राजनीति का गौरव है।

मुनि प्रसन्न ळखि सहज सनेहू, कहेउ नरेस रजायसु डेहू।

राजा की बात सुनकर मुनि वसिष्ठ इस निर्णय पर पहुँचे कि राजा हमारे आशीर्वाद के विशेष आकांक्षी हैं। गुरु को परिवार का सर्वश्रेष्ठ सदस्य मानने में अपना हित देखता हुआ राजा उनपर अत्यन्त प्रेमभाव प्रकट कर रहा है। वस्तुतः राजा ने गुरु की सेवा कर असाध्य को साध्य बना लिया था। सर्वगुण-सम्पन्न पुत्र प्राप्त कर लिये थे। अब राजा के अन्तिम मनोरथ को पूर्ण करने में सहायक बनने का विचार कर गुरु ने उन्हें अपना मनोरथ स्पष्ट करने का आदेश दिया। यद्यपि मुनि का राजा से आज्ञा माँगना अनुचित प्रतीत होता है तथापि राजभाव में उपस्थित राजा स्वामी है और मन्त्री पुरोहित वसिष्ठ द्रव्य प्रकृति माने गये हैं—इस भारतीय राजनीति के अनुसार गुरु वसिष्ठ ने 'रजायसु'—आज्ञा शब्द का प्रयोग किया है, जो उचित है।

राजा की उक्त समय-सापेक्षता के उत्तर में गुरु का यह कथन कि जब राम का राज्याभिषेक होगा तब सुदिन होगा उस व्याप्ति का निर्देश करते हुए राम का प्रभुत्व प्रकट किया गया है। यद्यपि साध्य सुदिन और साधन रामराज्याभिषेक निश्चित नहीं है तथापि राजा का उत्साह बढ़ाने के लिए गुरु जी ऐसा कह रहे हैं कि राज्याभिषेक जब करें उसी को शुभ मूहूर्त बताकर उनकी मनोरथ-पूर्ति की प्रशंसा कर रहे हैं जैसा कि अगले दोहे में स्पष्ट है।



आपदामपहृत्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्।
दाता सब संपत्ति के, बिपत्ति-बिदारन राम।

राजन राउर नामजस, सब अभिमत दातार।

फल अनुगामी महिपमनि मन अभिलाष तुम्हार ॥३॥

इच्छा की पूर्ति

गुरु वसिष्ठ महाराज दशरथ की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—आप मेरे अधीन नहीं हैं बल्कि स्वतन्त्र हैं। आपका यश विस्तृत है कि सम्पूर्ण वर्ग उसका अनुसरण कर रहा है। और आपकी इच्छा भी इतनी सुनियन्त्रित है कि वह कभी व्यर्थ नहीं होती। इसलिए आपकी जो शेष अभिलाषा है वह स्वयं पूर्ण होकर रहेगी क्योंकि आपका अन्तःकरण अशक्य, अकल्प्य और अभव्य की ओर झुकता ही नहीं, यह आपकी निर्विकारिता का फल है। फिर भी आप अपना मनोरथ सुनाना चाहते हैं तो सुनाइए, मैं उसे सुनने के लिए तैयार हूँ।

सब बिधि गुरुप्रसन्न जिय जानी, बोलेउ राउ रहँसि ऋदुबानी

गुरु का आशय

गुरु का रख जाने बिना मनोरथ प्रकट करना उचित नहीं है। यह सोचकर दशरथ ने अब तक अपनी इच्छा प्रकट नहीं की थी, किन्तु अब गुरु को प्रसन्न देख कर राजा समझ गये कि मनोरथ-पूर्ति में गुरु का आशीर्वाद अवश्य प्राप्त होगा, ऐसा सोच कर वे कोमल वाणी में कहते हैं—

नाथ राम करिअहिं जुवराजू, कहिअ कृपाकरि करिअ समाजू

मनोरथ का प्रकाशन

महाराज दशरथ श्रीराम को युवराज पद देना चाहते हैं। उत्तर—मन्त्रि-परपद में इसका अन्तिम निर्णय अभी हुआ नहीं था। उसपर सम्मति पाने के लिए राजा ने उक्त प्रस्ताव गुरु के सामने रखा। यहाँ युवराज पद देने से यह समझना चाहिए कि राजा अभी राज्य से मुक्त नहीं होंगे! वास्तविकता यह है कि राम-राज्याभिषेक स्वयं सम्पन्न करा कर महाकवि कालिदास के अनुसार 'श्रीगेनान्ते तनुत्यजाम्' योगाराधना से शरीर त्यागना चाहते हैं—

मोहि अछत यह होइ उछाहू, लहहिं लोग सब छोचन लाहू
(क्रमशः)

लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥
बार-बार मैं कर रहा, जगभिराम प्रणाम ॥

जगद्गुरु शंकराचार्य का शैशव और शिक्षण

— अवधनारायणधर द्विवेदी

(गतांक से आगे) .

शैशव

महाभाग शिवगुरु के घर जिस दिन शिशु का अवतरण हुआ था उस दिन वैशाख शुक्ल पंचमी थी। शुक्ल पक्ष में जिस गति से चन्द्र-प्रकाश में वृद्धि होती गयी उसी क्रम से शिशु का भी विकास होने लगा। यों तो वह जन्मते ही पूर्ण चन्द्र के प्रकाश से देदीप्यमान था पर दस दिन में ही पूर्णिमा तक पहुँचते-पहुँचते अपने बुद्धि-वैभव से राकेशबिम्ब के समान माता-पिता तथा सभी दर्शकों के मन को आह्लादित करने लगा। उसी दिन शिशु का 'निकासन' और 'नामकरण' का शुभ मुहूर्त्त था। यों तो उसका नामकरण उसके गर्भागमन से पहले ही हो चुका था, उसके माता-पिता जानते थे कि आशुतोष भगवान् शंकर ही हमारे घर स्वयं अवतरित हुए हैं फिर भी इस शुभ मुहूर्त्त पर शिशु का नाम रखना पड़ा—'शंकर'।

शिशु शंकर में ऐसा विलक्षण विकास दिखाई पड़ा कि वह ग्यारहवें दिन ही ग्यारह मास के सामान्य बालक की शारीरिक क्षमता से सम्पन्न हो गया। वह माँ-बाप की गोद से मचल-मचलकर नीचे उतरने के लिए आतुर हो उठा। माता के लाछ सम्हालने के बावजूद डग भरते के लिए वह धरती पर उतर ही पड़ा। महाकवि कालिदास की कल्पना के अनुसार जिस तरह मिट्टी खाने के बहाने सारी धरती पर दिग्विजय द्वारा राज्य करने की सूचना शिशु रघु ने दे दी थी, वैसे ही शंकर ने ग्यारहवें दिन 'त्रिविक्रम' के समान तीन डग भरकर मानो भावी दिग्विजय-यात्रा का श्रीगणेश किया हो।

शिशु शंकर के असाधारण विकास को देखकर माता-पिता जहाँ आनन्दविभोर होकर पुलकित हो उठते थे, वहीं

की सूखी वात्सल्य धारा में जाह्नवी भागीरथी उमड़ने लगती थीं, वहाँ यह बात सोचकर उनका हृदय आशंका से भर उठता था कि यह शिशु थोड़े दिनों में बहुत अधिक कार्य कर डालना चाहता है, उन्हें भगवान् शंकर से लघुजीवी सर्वज्ञ पुत्र-प्राप्ति का वरदान जो मिला था।

एक वर्ष बीतते-बीतते शिशु शंकर ने पूरी वर्णमाला का ज्ञान प्राप्त कर लिया और तीन वर्ष में तो वह अपनी मातृभाषा मलयालम का पण्डित बन गया। यह असाधारण प्रतिभा देखकर पिता शिवगुरु उसका व्रतबन्ध (यज्ञोपवीत) संस्कार कर डालना चाहते थे जिससे वह द्विज बनकर देववाणी संस्कृत पढ़ने का अधिकारी बन जाय। किन्तु शास्त्रतः पाँच वर्ष के पूर्व उपनयन संस्कार हो नहीं सकता था। यों वे पाण्डित्य के बल पर यह कह सकते थे कि असाधारण प्रतिभा देखकर और शंकरावतार समझकर पाँच वर्ष के पूर्व भी संस्कृत-विद्याध्ययन प्रारम्भ हो सकता है। पर वे धीरे कलियुगी पण्डित-पुरोहित तो थे नहीं, जो सुविधाजनक यह उपदेश-सूत्र बना लेते कि "गुरु या पुरोहित का आचरण या काम मत देखो, जो वह कहे उसका पालन करो।" शिवगुरु शास्त्र के अनुशासन में रहनेवाले आचार्य थे। दिव्यात्मा भी मानव शरीर धारण करने पर मानव मर्यादा और शास्त्र-आदेशों का उल्लंघन नहीं कर सकती। इसीलिए पाँचवें वर्ष की राह वे उत्सुकतापूर्वक देखने लगे।

शिक्षण

ईश्वरेच्छा बलीयसी, ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही इस जगत् में सब कुछ होता है। मनुष्य उसके सामने कितना बौना है, यह कहा नहीं जा सकता। वह अपनी क्षमता और शक्ति के बल पर कल्पना का महल खड़ा करता है पर

ईश्वरेच्छा विपरीत होने पर वह बालू की भीत के समान क्षणभर में घराशायी हो जाता है। इसीलिए आचार्य शिवगुरु का स्वप्न आकार नहीं ग्रहण कर सका। दैववशात् अचानक उनका निघन हो गया। उनकी पत्नी सती आर्याम्बा शंकर के रक्षण के महान् उत्तरदायित्व के कारण सती नहीं हो सकीं। उन्होंने पति की इच्छा के अनुसार पाँचवें वर्ष में शिशु शंकर का उपनयन कर उसे गुरुकुल में पढ़ने के लिए भेज दिया। गुरु ऐसा अप्रतिम छात्र पाकर निहाल हो गये। वे जो कुछ पढ़ाते छात्र तत्काल कण्ठस्थ कर लेता और दूसरे दिन वह गुरु को ज्यों का त्यों सुना देता। जो छात्र पाठ भूल जाते वे बालक शंकर की सहायता से तैयारी कर लेते। वे कभी-कभी ऊँची कक्षाओं के छात्रों के साथ बैठकर पाठ सुनते। आश्चर्य यह कि वे छात्र जहाँ समझने में असमर्थ होते वहाँ शंकर उनकी भी सहायता करते।

पहला चमत्कार

ऐसा देखा जाता है कि प्रतिभासम्पन्न छात्र प्रायः अहंकार के शिकार बन जाते, जहाँ सरस्वती की कृपा से उन्हें विनय-सम्पन्न होना चाहिए वहाँ वे दुर्विनीत हो उठते। किन्तु छात्र शंकर अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न होने पर भी कभी अविनयी नहीं देखे गये। इसके विपरीत विद्या और बुद्धि के साथ उनमें दया, क्षमा, विनम्रता, उदारता, प्रेम आदि सद्गुणों का चरम विकास दिखाई पड़ा। यद्यपि वे आर्थिक दृष्टि से काफी सम्पन्न थे फिर भी गुरुकुल के नियमानुसार वे भिक्षा माँगकर लाते और उसे गुरु के चरणों में समर्पित कर देते। एक दिन जब वे भिक्षा के लिए निकले तो सामने एक बुढ़िया का द्वार खटखटाया। अपूर्व तेजस्वी बटु को देखकर बुढ़िया चकित हो गयी। परन्तु भिक्षा-पात्र में डालने के लिए उसके पास अन्न का कण भी मौजूद नहीं था। उसके लिए पेट पालना तक कठिन था। उसकी जीविका का साधन भिक्षाटन था। दैवयोग से दो दिनों से उसे भिक्षा नहीं मिली थी। खाली पेट पानी पीना भी कठिन है। उसके जीवन में जब कभी ऐसी परिस्थिति आती वह बगीचे में चली जाती और माली से दो आँवले माँग लाती। उन आँवलों को दो बार खाकर और पानी पीकर रात-दिन

काट लेती। भूख-प्यास के कारण आँवले खाने के बाद पानी बड़ा स्वादिष्ट लगता। भूख-प्यास न भी हो तो भी आँवले के साथ पानी मीठा लगता है। किन्तु यहाँ अपना प्रश्न तो था नहीं प्रश्न था बटु को भिक्षा देना। जब ब्रह्मचारी शंकर ने तीन बार कहा कि 'भवति भिक्षां देहि' तब भी उनके भिक्षापात्र में कुछ नहीं पड़ा। सर्वज्ञ शंकर को परिस्थिति का पता चल गया। उन्होंने निवेदन किया—माँ, अन्न न हो तो जो कुछ हो भिक्षापात्र में डाल दे। बुढ़िया ने आँखों में आँसू भरकर अवरुद्ध कण्ठ से कहा—कुछ....भी....नहीं...है। ब्रह्मचारी ने कहा—माँ, दो आँवले तो हैं न? उनमें से एक भिक्षा पात्र में डाल दे। वह मेरे लिए महाभारत के नकुलोपाख्यान की सत्तू-भिक्षा के समान सर्वश्रेष्ठ भिक्षा होगी। अब बुढ़िया को पता चला कि यह कोई साधारण ब्रह्मचारी नहीं है। उसे लगा हमारे सामने साक्षात् अवतारदानी शंकर बटु रूप में खड़े हैं। उसने तत्काल एक आँवला भिक्षापात्र में डाल दिया और ब्रह्मचारी के चरण स्पर्श कर वह अपनी दरिद्र—गाथा सुनाने लगी।

बुढ़िया की कथन कहानी सुनकर शंकर कथना से विगलित हो उठे, उनकी आँखों में आँसू भर आये। उन्होंने तत्काल महालक्ष्मी-स्तोत्र का निर्माण कर प्रार्थना की और बुढ़िया को आश्वस्त किया कि अब तुम्हें किसी प्रकार का अभाव नहीं होगा।

दूसरे दिन प्रातःकाल बुढ़िया गुरुकुल में पहुँची और उसने आचार्य से निवेदन किया कि महाराज आपके, एक ब्रह्मचारी हमारे यहाँ कल भिक्षा के लिए गये थे, उनकी कृपा से हमारा घर सोने के आँवलों से भर गया है। फूस की झोंपड़ी में यह स्वर्णराशि सुरक्षित नहीं रह सकती। आचार्य ने कहा, हमारा गुरुकुल गृहस्थों द्वारा दिये गये भिक्षा के बल पर चलता है। किसी अन्य प्रकार के धन की हमें अपेक्षा नहीं है। तुम उसका उपयोग करने में स्वतंत्र हो। ब्रह्मचारी शंकर के परामर्श से बुढ़िया ने अपनी आवश्यकतानुसार कुछ स्वर्ण आँवले अपने पास रख लिये और शेष गुरुकुल में इसलिए जमा करा दिये कि उनसे अनाथ दीन-दुखियों की यथोचित सेवा की जाय। (क्रमशः)



त्यज दुर्जन-संसर्गम् भज साधु-समागमम् ।
दुर्जन की संगति तजो, साधु-वन्दन दो कान ।

गुरु पुण्यमहोरात्रम् स्मर नित्यमनित्यताम् ॥
पुण्य करो दिन-रात तुम, जग क्षणभंगुर जान ॥

वर्तमान युग की आवश्यकता

— स्वामी विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती



[प्रस्तुत लेख के लेखक पूर्व आश्रम में दिल्ली उच्चतर न्यायालय के न्यायाधीश रहे हैं। आपने इस लेख में महत्त्वपूर्ण सामयिक विचार व्यक्त किये हैं। — सम्पादक]

वर्तमान युग की सर्वोपरि समस्या है विज्ञान की कल्पनातीत प्रगति एवं आश्चर्यजनक आविष्कारों की सहायता से सुख व सुविधा की अनेकानेक सामग्री उपलब्ध होने पर भी सुख भूगुण का जल हो गया है और अधिक से अधिक प्राप्ति का अधिक यत्न करने का परिणाम केवल सुख का दूरातिदूर प्रतीत होना भर रह गया है। न कभी दिन को चैन, न रात्रि को सुख की नींद, न कभी विषयों से तृप्ति और न स्थायी सुख की प्राप्ति। मनुष्य चाहता है सुख, और ऐसा सुख जो निरन्तर बना रहे, काल से बाधित न हो, प्रत्येक देश में हो, किसी वस्तु व परिस्थिति के अधीन न हो तथा सर्वदा अनुभवारुढ़ हो, अज्ञात न हो, किन्तु प्राप्त क्या होता है—परिश्रम तथा दुःख की अनन्त शृङ्खला।

क्या किया जाय ? यह प्रश्न विश्वभर के सुखामिलाषी प्राणियों का है। वास्तव में सुखाभाव एवं दुःख-प्राप्ति का कारण यह है कि हमने अपने आपको शाश्वत सुख के स्रोत से विलग मान लिया है एवं मन, बुद्धि और काया का साधन व परिश्रम करके सुख उस बाह्य वस्तु से माँगते हैं जहाँ वह मूलतः है नहीं। तथ्य यह है कि शाश्वत एवं अबाधित सुख तथा आनन्द का स्रोत है—सच्चिदानन्द परमात्मा, जो सृष्टि का प्रथम मौलिक कारण है। उससे विलग अथवा छिन्न-भिन्न होने पर हमारे सुख की वही दशा होती है जो जल से बाहर मछली की एवं वायु बिना दीपक की।

सृष्टि में प्रायः दो मार्ग हैं और अन्य मार्ग उनके अन्तर्गत हैं, एक श्रेयस् और दूसरा प्रेयस्। श्रुति का वचन है—

तथोः श्रेय आददानस्य साधु

भवति हीयतेऽर्थाच्च उ प्रेयो व्रणीते ।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ

सम्परीत्य विविबक्ति धीरः ॥

श्रेयोहि धीरोऽसि प्रेयसो वृणीते

प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।

(कठ उप०, १-२-१ एवं २)

उन दोनों में श्रेय का ग्रहण करने वाले का शुभ होता है और जो प्रेय का वरण करता है वह पुरुषार्थ से पतित हो जाता है। प्रेय और श्रेय मनुष्य के पास आते हैं। उन दोनों को बुद्धिमान् पुरुष भली प्रकार विचार कर अलग-अलग करता है, विवेकी पुरुष प्रेय के सामने श्रेय का ही वरण करता है किन्तु मूढ़ योग-क्षेम के निमित्त से प्रेय का वरण करता है।

श्रुति का डिंडिम घोष है—जो प्राणी अपने योग-क्षेम के निमित्त केवल प्रेय (अर्थात् ऊपर से प्रिय किन्तु वस्तुतः अहितकर) मार्ग का अनुसरण करता है वह मूढ़ है और पुरुषार्थ से पतित हो जाता है, अतः जो श्रेय मार्ग पर चलता है वह विवेकी और धीर है और वह शुभ फल को प्राप्त करता है। वर्तमान युग में प्रेयस् के मार्ग पर दौड़कर देख लिया कि सुख हाथ से खिसक जाता है, हमसे आगे दौड़ जाता है और हम अपनी परछाई की तरह उसका पीछा करते दौड़ते रहते हैं और उसको कभी पकड़ नहीं पाते। अतः युग की आवश्यकता है कि अब तनिक ठहर कर, विवेक एवं धैर्य धारण करके श्रेयस् पर चलकर देखें और आप्तकाम, पूर्ण-काम, नित्य तृप्त, सदा सुखी ऋषियों के अनुभव का कुछ लाभ उठायें।

श्रेयस् क्या है? श्रेयस् है हित। हित का साधारण अर्थ है—शुभ मंगल, स्नेह अनुराग, मैत्री। हित का मार्ग—जिस पर चलने की इस युग में आवश्यकता है—यह है कि हम अपने जीवन में संकीर्णता की दृष्टि न रखें, केवल अपने स्वार्थ के निमित्त कोई क्रिया न करें, हित का लक्ष्य सदा दृष्टि में रखें। हित किसका? केवल अपना ही नहीं प्रत्युत सर्व प्रजा का। संगी साथी, सम्बन्धी, पड़ोसी, देशवासी एवं सारे संसार का, प्राणिमात्र के हित का विचार व निष्ठा हमारी समस्त कामना, कर्म एवं भावना में प्रतिष्ठित एवं ओतप्रोत हो। परम आवश्यक है कि हम अपने स्वार्थ पालन में अन्य प्राणियों की सुख-सुविधा को न भूल जायें, प्रत्युत उनको प्रधानता प्रदान करें। वैज्ञानिक एवं ध्रुव सत्य है कि जो दूसरों को सुख देता है वह स्वयं सुख पाता है। किसी को सुख, सेवा, आनन्द प्रदान करो—स्वयं भी स्थायी आनन्द के भागीदार होगे।

एक समय की घटना है कि ब्रह्माजी ने असुरों एवं देवों

को भोजन के लिए निमन्त्रित किया। भोजन करने की शर्त यह थी कि दोनों हाथों की कोहनियों में लकड़ी बाँध दी जायेगी ताकि हाथ मुड़ न सके। भोजन पत्तल पर अनेक प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन परसे हुए थे। असुर, देव सब पधारे। शर्त के अनुसार अतिथियों के हाथों में लकड़ी बाँध दी गयी। हाथ बिना मोड़े पत्तल में से भोजन उठा कर मुँह में डालना असम्भव था, अतः असुर भोजन से वंचित और अतृप्त रहने के कारण एक दूसरे को मारने-पीटने लगे। अन्त में समस्त असुर भूखे ही उठ गये। तत्पश्चात् देवताओं को भी इसी प्रकार कोहनी पर लकड़ी बाँध कर भोजन के लिए बैठाया गया। कुछ समय विचार करने के अनन्तर उनको एक तरकीब सूझी। हाथ को बिना मोड़े हुए एक ने अपनी पत्तल से ग्रास उठाकर अपनी बजाय अपने पड़ोसी के मुख में डाल दिया। उसमें हाथ का न मुड़ना बाधा नहीं थी। इस प्रकार दूसरे ने पहले को खिलाया। अन्ततोगत्वा सबने परसा हुआ भोजन किया और सिद्ध किया कि दूसरों को सुख-सुविधा देने से अपना भी कल्याण होता है।

दार्शनिक सिद्धान्त है कि जाति रूप से परमात्मा तथा आत्मा एक हैं। इसका वास्तविक स्वरूप सत्, चित्, आनन्द है। जो प्राणी अपनी आत्मा का हनन करके, अन्धकार व दुःख के गड्ढे में गिरना नहीं चाहता उसके लिये उचित है कि अपने सच्चिदानन्द रूप व अन्य प्राणियों के अन्तःकरणावच्छिन्न चेतना का ह्रास एवं अनुपलब्धि कदापि न करे। सर्वदा व्यवहार, प्रेम व उपासना इसको ध्यान में रख कर ही होनी चाहिए, अतः आवश्यक है—

१. आत्मा के सदंश के हेतु—जीयो और जीने दो। न किसी की हिंसा करो न स्वयं मरो।

२. आत्मा के चिदंश के हेतु—ज्ञानी हो और ज्ञान दो। न किसी को बेवकूफ बनाओ न स्वयं बनो।

३. आत्मा के आनन्दंश के हेतु—आनन्दी हो और आनन्द दो। न किसीको दुःखी करो और न स्वयं दुःखी बनो।

इन बातों का आचरण करना इस युग की परमावश्यकता है। इस आचरण से ही लोक-कल्याण सम्भव है, और आत्म-कल्याण का भी मार्ग यही है। क्या वर्तमान युग के प्राणी इस मार्ग पर अग्रसर होंगे?

स्वयं महेशस्तनयो गणेशः सखा घनेशः स्वसुरो नगेशः। तथापि भिक्षाटनमेव शंभोः बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा ॥
स्वसुर नगेश, गणेश सुत, सखा महान घनेश। हरि-इच्छा कैसी प्रबल, माँगत भीख महेश ॥

मानव का सच्चा धर्म—प्रेम और ईमानदारी

— श्री जे० कृष्णमूर्ति

(अन्तरराष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त श्री जे० कृष्णमूर्ति विश्व के स्वतन्त्र विचारकों में से एक हैं। वे किसी एक धर्म या सम्प्रदाय के प्रति प्रतिबद्ध नहीं हैं। वे प्रेम, ईमानदारी, त्याग, शान्ति जैसे उच्च मानव मूल्यों के पक्षधर हैं। काशी के श्री कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन की ओर से वसन्त महाविद्यालय, राजघाट में गत नवम्बर के अन्तिम सप्ताह में उनका भाषण हुआ था। उसका संक्षिप्त रूप हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।—संपादक)

सत्ताधारी शान्ति के बाधक

आज विश्व में राष्ट्रीयता की सीमा में बँधे रहने के कारण हम मानव से मानव के रूप में कभी मिल नहीं पा रहे हैं। सत्तारूढ़ नेताओं द्वारा आज सारे विश्व में मानव-जीवन के साथ खेलवाड़ किया जा रहा है। ये सत्ताधारी नेता एक ओर तो शान्ति की बात करते हैं किन्तु दूसरी ओर युद्ध की तैयारी करते हैं। मानव-जीवन विभिन्निकाओं से घिरा हुआ है। विनाशकारी अस्त्र-शस्त्र सामने आ रहे हैं, जो मानव-जीवन के लिए प्रश्नचिह्न के रूप में खड़े हैं।

विश्व के राजनेताओं ने प्रभुसत्ता की होड़ में सारे संसार के मानवीय जीवन को नरक बना डाला है। इसी सत्ता-लोलुपता के कारण मानव की दशा दिन प्रति दिन दयनीय होती जा रही है। इसके विपरीत यदि वे निर्लिप्त भाव से साथ मिलकर चिन्तन करें तो प्रेम और भाईचारे की स्थापना हो सकती है। जहाँ भी प्रेम होगा वहाँ मैत्री होगी ही।

संघर्ष ही जीवन है

जीवन में संघर्ष का कारण यह है कि जब मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट न होकर और अच्छी स्थिति चाहता है तो उसे प्राप्त करने के लिए संघर्ष करता है। इसलिए जब तक इच्छा बनी रहेगी संघर्ष अवश्य होगा।

व्यक्ति का महत्त्व

आज हम व्यक्ति के महत्त्व को भूल गये हैं, उसे हमें समझना होगा। आज का व्यक्ति अपने 'स्व' को कितना बाँटे हुए है। मेरा देश, मेरी वस्तु, मेरा परिवार, यही 'मेरा' व्यक्ति की उपलब्धि है। मानव की यह भिन्नता व्यक्तित्व को विकसित करती या दबाती है? एक की चेतना क्या दूसरे से भिन्न है? क्या भय-विश्वास, सुख-दुःख, कम्युनिस्ट-सोशलिस्ट यही सारे मानवों का विषय नहीं है? क्या रूस-अमेरिका और चीन की भी यही चेतना नहीं है? क्या इसमें भिन्नता है? सभी उसी धरातल पर हैं। दुःख सभी का समान है सिर्फ उसका रूप भिन्न है। दुःख की एक ही धारा सारे विश्व में प्रवाहित है। आकांक्षा, संघर्ष, ईर्ष्या की भावना सभी में है। सिर्फ लेवल अवश्य भिन्न-भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में विश्व के मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध ही मानवता की रक्षा कर सकता है अन्यथा संकीर्ण राष्ट्रीयता मानवता को विनष्ट कर देगी। जब आप व्यक्ति और राष्ट्रवाद में आबद्ध रहेंगे तब सारी मानवता ही नष्ट हो जायगी।

स्वतन्त्रता की महत्ता

विचारों की स्वतन्त्रता से ही हमें वास्तविक सुख-शान्ति का अनुभव हो सकता है। जहाँ विचारों की स्वतन्त्रता नहीं है, वहाँ भौतिक सुरक्षा तथा साधनों की उपलब्धि भले हो कर ली जाय किन्तु आत्मिक शान्ति कदापि नहीं मिल सकती।

स्व-चिन्तन

हमें इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि हम क्या हैं? सहस्रों वर्षों के प्रतिफल में क्या 'हम' नहीं हैं? वस्तुतः जो कुछ है वह सब 'हम' ही हैं। अपने को जानना आवश्यक है। 'स्व' की प्रकृति का अन्वेषण आवश्यक है। हजारों वर्षों की स्मृति एवं संस्कृति की हम साकार प्रतिमा हैं।

हम मरेंगे तो भी हमारी चेतना अमर रहेगी। यदि उस चेतना में दिव्यता होगी तो उसका परिणाम पूरी मानवता के लिए वरदान होगा।

समाधि क्या है ?

क्या हमारी बुद्धि ने धर्म को जाना-पहचाना है। क्या धर्म हमें हिन्दू, मुसलिम, ईसाई आदि में बाँटता है। यह धर्म का सही रूप नहीं। ध्यान क्या है ? क्या ध्यान दैनिक जीवन से कोई भिन्न क्रिया है। आमूल परिवर्तन की भावना को समझ लेना समाधि का अंग है। यह सदा हमारे साथ चलनेवाली प्रक्रिया है। समाधि जीवन की प्रत्येक क्रिया में निहित है। जब बुद्धि अव्यवस्थित तथा अशान्त है तो वहाँ ध्यान कैसे होगा ? यदि बुद्धि को सही रूप में शुद्ध रखा जाय तो वहाँ समाधि स्वयं होने लगेगी। समाधि जिज्ञासा की मनःस्थिति है। ज्ञान सीमित है अतः विचार भी सीमित है। ज्ञान की प्रकृति को समझना समाधि है। जब किसी वस्तु या विषय का हम पूरी तरह अवलोकन करें तब हमारे बीच कोई दूसरा आ ही नहीं सकता। ऐसा ही मन पूर्ण शान्ति से युक्त होता है। ऐसी ही शान्ति में समाधि है। इसी शान्ति में जीवन है। वह जीवन से भिन्न नहीं अपितु परम पवित्र शुद्ध रूप है। वास्तव में यही समाधि है।

ध्यान का स्वरूप

ध्यान चित्त की शुद्धि की एक प्रक्रिया है। ध्यान बिना स्वयं की शुद्धि के, मात्र आकृतियों से नहीं हो सकता। मन चंचल रहे, भावनाएँ बनती रहें। अशान्ति बनी रहे तब ध्यान नहीं हो सकता। ध्यान चित्त की वृत्तियों का विलोपन है। प्रेममय होना, इच्छा रहित होना ही ध्यान है। जीवन की दौड़ से रहित होकर चित्त की एकाग्रता से ही शान्ति प्राप्त होगी।

जीवन और मृत्यु

मृत्यु की प्रकृति जानने के लिए मनुष्य को मुक्त चिन्तन करना होगा। 'स्व' को त्यागकर अपने अन्दर के मनुष्य को स्पन्दित कर मनुष्य मृत्यु की प्रकृति जान सकता है। मृत्यु का सम्बन्ध स्मृति से होता है। स्मृतियों के आधार पर ही धारणा एवं विचार बनता है। परन्तु स्मृतियों के आधार पर विचार का सही दर्शन नहीं हो सकेगा। स्मृति,

भविष्य तथा विचार के सम्यक् समन्वय से ही जीवन और मृत्यु की प्रकृति को जाना जा सकता है।

मृत्यु की समस्या सभी के लिए समान है। सभी लोगों में मृत्यु का भय बना हुआ है। मानव इससे सदा आक्रान्त है। मृत्यु की समस्या पर जीवन के अन्त में ही क्यों विचार किया जाता है। मानव इसकी चर्चा से भी भय खाता है। यदि कोई जीवन की समस्या तथा अपनी स्थिति के प्रति जागरूक है तो वह मृत्यु की गम्भीरता को गहराई से समझे। इसी में समाधि की प्रकृति भी सम्मिलित है। मानव ने अबतक यह विचार क्यों नहीं किया कि मृत्यु के पूर्व तथा पश्चात् क्या होता है ? मृत्यु के समय तो सभी चर्चा करते हैं किन्तु उसके पूर्व और उपरान्त क्या होता है ? इसकी चर्चा क्यों नहीं करते ? जबतक कोई जीवन की मनस्थिति नहीं देखता तबतक वह मृत्यु को नहीं देख सकता। लगाव का अन्त ही मुक्ति है, पर उसका अन्त बड़ा कठिन है। किन्तु बिना उसका अन्त किये आरम्भ हो ही नहीं सकता। किसी के प्रारम्भ हेतु किसी का अन्त आवश्यक है। जबतक अन्त नहीं होगा नये जीवन का प्रादुर्भाव कैसे होगा ? जब धारणा, परिधारणा और सिद्धान्त का अन्त होगा तभी नया प्रारम्भ होगा। पुरातन का अवसान और नये का निर्माण ही मृत्यु है।

चेतना की एकता

चेतना मानव से भिन्न नहीं है। हरगिज नहीं। मानव की मूर्खता, जड़ता, विषमता उसकी चेतनता का रूप नहीं है। मानव व्यक्ति के रूप में होकर भी समुदाय या पूरे संसार का अनुवर्ती है। मानव कभी एक है ही नहीं, वह सारे संसार का प्रतीक है। मनुष्य के मरने पर भी उसकी चेतना नहीं मरती। यदि उस चेतना में दिव्यता होगी तो उसका परिणाम पूरी मानवता के लिए वरदान होगा। क्योंकि इस धरा पर पूरी मानवता कराह रही है। चेतना का अन्त नहीं हो सकता।

अव्यवस्था का कारण

आज विश्व में बुद्धिमान् व्यक्तियों ने विनाशकारी बमों का भाण्डार बना रखा है। समूचे विश्व में इसके विरुद्ध आवाज उठ रही है। परन्तु युद्ध की तैयारी निर्बाध रूप से जारी है। विडम्बना यह है कि बुद्धिमानों की सभी

सरकारें व्यक्ति, सरकार, समाज, धर्म और राजनीति के विभाजन को समाप्त नहीं कर पा रही हैं।

आज उपनिषद्, गीता, बाइबिल और कुरान सहित सभी धर्मग्रन्थों की असफलता सिद्ध हो चुकी है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति का स्वयं पर से विश्वास छूटा जा रहा है। जबकि अपने अन्तःकरण की प्रवृत्तियों का पूर्ण निष्ठा से दर्शन करना चाहिए। परम्परावादी न होकर स्वतन्त्र पद्धति विकसित करनी चाहिए तभी जीवन का एक नया दर्शन उभर सकेगा।

सच्चा धर्म

सही रूप में क्या बुद्धि ने धर्म को जाना है।

‘रिलिजन’ शब्द का अर्थ तो शब्दकोश में भी स्पष्ट नहीं है। हिन्दू, मुसलिम, ईसाई आदि सभी सम्प्रदाय बनाकर बसे हुए हैं। ध्यान क्या है, इसकी खोज करें। श्लोकों का जप, आवृत्ति ध्यान कदापि नहीं है। दिन भर जीवन के व्यापार में प्रातः या सायं कुछ समय जप कर लेना पूजा या समाधि नहीं है। समाधि जीवन की हर प्रक्रिया में है। पूजा का अर्थ प्रतिमा की पूजा मानी जाती है। किन्तु इसका सच्चे कार्य से सम्बन्ध नहीं है। ईमानदार बनना और सबसे प्रेम करना यही सच्चा धर्म है।

प्रस्तुति : अ० ना० घर द्विवेदी

बीमारी ही बीमारी की दवा

एक दिन बर्नर्ड शा ने थोड़ी अस्वस्थता का अनुभव किया और डॉक्टर को बुला भेजा। डॉक्टर हाँफता हुआ आया—“ओफ ! ये सीढ़ियाँ कितनी कष्टदायक हैं ! चढ़ते-चढ़ते सिर दर्द करने लगता है।”

डॉक्टर को परेशान देख शा ने बड़े स्नेह से उसे आरामकुर्सी पर लिटाया और अपने बक्स से दवा निकाल लाये—“इसे पी लीजिये। तुरत लाभ होगा !”

डॉक्टर ने दवा पी ली।

शा कमरे में टहलते हुए गम्भीरतापूर्वक बोले—“डॉक्टर साहब ! सीढ़ियों पर चढ़ने से आपकी तबीयत खराब नहीं हुई। वस्तुतः आप बहुत गरिष्ठ वस्तुएँ खाते होंगे—फल व हरी सब्जियाँ खाइये। थोड़ा व्यायाम कीजिये। मैं आपसे दुगुनी उम्र का हूँ, फिर भी फुर्तीला और स्वस्थ हूँ।...”

फिर विजयी की तरह व्यंग्य-भाव से कहा—“इस सलाह के लिए आप मेरी फीस—कुल ५ शिलिंग—मुझे दे दीजिये।”

“क्षमा कीजिये, मि. शा !” डॉक्टर अब काफी स्वस्थ दीख रहा था—“फीस तो आप मुझे दीजिये—दो पौंड !”

“लेकिन इलाज तो मैंने किया है ?” शा आश्चर्यचकित-से बोले।

“नहीं”—डॉक्टर मुस्कराया—“मेरे इलाज करने का ढंग ही यही है। मैं अपने रोगी के घर पहुँचकर बीमार बन जाता हूँ और रोगी मुझसे अपनी तुलना करने में अपनी बीमारी के बहम से मुक्त हो जाता है !”

—‘जोक्स फार आल आकेजन्स’ से



[श्रीमाता का मन्दिर—पृष्ठ ११ का शेषांश]

श्रीचक्रकी रचना होती है। यथार्थ श्रीचक्र शिवशक्ति का सम्पुट है। चतुर्दशार तक नवचक्रों के अन्तर्भाव समझना चाहिए। नवचक्रों में शक्तिचक्र पाँच अर्थात् त्रिकोण अन्तर्दशार बहिर्दशार और चतुरस्र शिवचक्र चार है—बिन्दु अष्टदल षोडशदल और चतुरस्र। त्रिकोण में बिन्दु

अष्टार में अष्टदल दो दशारों में षोडशार एवं चतुर्दशार में चतुरस्र अन्तर्भुक्त है। सर्वत्र ही शिव शक्ति के अविनाभाव स्पष्ट है। जो इसे जानता है वह वास्तव में चक्रज्ञ है। इसीलिए कोई-कोई सोचता है कि शिवचक्र को चतुर्दशार के बाहर लिखना बिडम्बना मात्र है।



अनुवाद : श्री विश्वनाथ मुखर्जी

ब्रह्मवेत्ता कौन ?

एक दिन सन्त कम्प्यूशियस से उनके कुछ शिष्यों ने पूछा “गुरुदेव, सच्चा ज्ञानी कौन होता है ?”

“अभी बताते हैं”—यह कहकर कम्प्यूशियस अपने सब शिष्यों को लेकर एक ओर चल पड़े।

सभी लोग एक गुफा में प्रविष्ट हुए। वहाँ एक महात्मा निवास करते थे। कम्प्यूशियस ने उनको प्रणाम किया और फिर पूछा, “महात्मन्, हम लोग आपके पास ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आये हैं। हमें उसके बारे में कुछ बताइये।”

महात्मा बिगड़ पड़े—“भागो यहाँ से। मेरे भजन में विघ्न पड़ता है।” कम्प्यूशियस सबको लेकर बाहर निकल आये। फिर वे एक गाँव में पहुँचे, जहाँ एक तेली कोल्हू चला रहा था।

कम्प्यूशियस ने कहा—“भाई मीने सुना है तुम ब्रह्म-ज्ञानी हो। हमें भी थोड़ा ब्रह्म का उपदेश कीजिये।” तेली ने हँसते हुए उत्तर दिया—“भाई यह बेल ही मेरा ब्रह्म है, मेरा परमात्मा है। मैं इसको और यह मेरी सेवा करता है। इसी में हम दानों सुखी हैं। सुख ही ब्रह्म है।”

इसके पश्चात् वे एक बुढ़िया के दरवाजे पर रुके। कई छोटे-छोटे बच्चे उस बुढ़िया के घर शोरगुल मचा रहे थे। बुढ़िया चरखा कात रही थी। बीच-बीच में बुढ़िया किसी नटखट बच्चे को डाँट देती तो किसी को माँगने पर पानी पिला देती और फिर चरखा कातने लगती।

कम्प्यूशियस जैसे ही वहाँ पहुँचे सभी बच्चे भाग गये। उन्होंने पूछा—“माताजी, क्या आपने ईश्वर देखा है ?”

बुढ़िया मुसकराई और बोली, हाँ, हाँ, वह अभी यहीं खेल रहा था। आपको देखते ही भाग गया। वह निरर्थक शोर, बच्चों का लूटना, मेरा उनको मनाना, फिर हँसी—विनोद—यह तो ईश्वर था, जो तुम्हारे आते ही चला गया।

कम्प्यूशियस शिष्यों को लेकर घर लौट पड़ा। रास्ते में उन्होंने शिष्यों को समझाते हुए कहा, “एक ज्ञानी तो वह महात्मा है जिसने संसार से आँख मूँद ली है, अतः वह छोटे दर्जे का ज्ञानी हुआ। एक ज्ञानी वह तेली है जो कि प्रबुद्ध गृहस्थ के रूप में है अतः वह मध्यम श्रेणी का ज्ञानी है पर एक ज्ञानी वह बुढ़िया है जो निष्काम ज्ञानी के रूप में है।

वह ज्ञान का सम्बन्ध किसी उपयोग या सुख से नहीं जोड़ती। अतः इस बुढ़िया को ही सच्चा ज्ञान है और वही ब्रह्मवेत्ता है।

योग्यता की परीक्षा

युवक अंकमाल भगवान् बुद्ध के सामने उपस्थित हुआ और कहा—भगवन्, मेरी इच्छा है कि ‘संसार की कुछ सेवा कहे।’ आप मुझे जहाँ भोजना चाहें भेज दें ताकि मैं लोगों को धर्म का रास्ता दिखाऊँ।

भगवान् बुद्ध हँसे और बोले—तात्, संसार को कुछ देने के पहले अपने पास कुछ होना चाहिए। जाओ पहले अपनी योग्यता बढ़ाओ फिर संसार की सेवा करना।

अंकमाल ने दस वर्ष तक कठोर अभ्यास किया और ६४ कलाओं में पारंगत होकर पुनः तथागत के समक्ष उपस्थित हुआ। अपनी योग्यता का वर्णन करते हुए उसने गौतमबुद्ध से कहा कि अब मैं संसार के हर व्यक्ति को कुछ न कुछ सिखा सकता हूँ। भगवान् बुद्ध मुस्कराये और बोले—अभी तो तुम कलाएँ सीख कर आये हो। परीक्षा दे लो तब उनपर अभिमान करना।

अगले दिन भगवान् बुद्ध एक साधारण नागरिक का वेष बनाकर अंकमाल के घर गये और उसे अकारण खरी-खोटी सुनाने लगे। अंकमाल क्रुद्ध होकर मारने दौड़ा तो बुद्ध मुसकराते हुए वापस लौट पड़े।

उसी दिन दो बौद्ध भ्रमण वेश बदलकर अंकमाल के पास गये और कहा—आचार्य, सम्राट आपको मन्त्रिपद देना चाहते हैं। क्या आप स्वीकार करेंगे ? अंकमाल ने कहा—हाँ-हाँ, अभी चलते हैं।

थोड़ी देर बाद भगवान् बुद्ध पुनः अंकमाल के पास पहुँचे। इस बार उनके साथ आम्रपाली भी थी। तथागत जितनी देर वहाँ रहे, अंकमाल बार-बार आम्रपाली की ही ओर देखता रहा। बात समाप्तकर तथागत वापस आ गये।

सायंकाल भगवान् बुद्ध ने अंकमाल को पुनः बुलाया और पूछा—वत्स ! क्या तुमने क्रोध, लोभ, काम पर विजय प्राप्त करने की भी विद्या सीखी है। अंकमाल को दिन भर की घटनाएँ स्मरण हो आयीं। उसने लज्जा से सिर झुका लिया और उस दिन से आत्म-विजय की साधना में जुट गया। (संकलित)

वैष्णवजन-तौ तेने कहिरा

— स्व० काकासाहब कालेलकर

[स्व० काकासाहब कालेलकर का इसी वर्ष स्वर्गवास हुआ है। वे गुजराती के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार तथा हिन्दी और मराठी के सुलेखक थे। गांधी जी के सहयोगियों में उनका प्रमुख स्थान था। राष्ट्रभाषा प्रचार में उनका बहुत बड़ा हाथ था। इस लेख में गांधीजी के प्रिय भजन 'वैष्णवजन' की व्याख्या की गयी है।—सम्पादक]

इस भजन का नाम सुनते ही भक्त नरसी के बजाय गांधीजी ही पहले पहल ध्यान में आते हैं। इतना सुन्दर भजन बनाने का श्रेय तो नरसी को ही है। लेकिन इस भजन को अपना जीवन-मन्त्र बनाकर गांधीजी ने उसे लोक-प्रिय बनाया। और इसीलिए वह खास 'गांधी भजन' बन गया है। अतः इस भजनकी खूबी क्या है, युग-पुरुष महात्मा-जी को यह इतना पसन्द क्यों आया उसका चिन्तन करनेको हम प्रेरित हों तो उसमें आश्चर्य नहीं है।

हमारी संस्कृति में भक्ति के अनेक प्रकार हैं। मेरे जैसे 'अद्वैत वेदान्ती' जीवन और परमात्मा के बीच पूर्ण अभेद मानते हैं। कुछ लोग पूछते हैं कि हम भक्ति कैसे करें? उनके जवाब में हम अपने दो प्रिय वचन कहते हैं—

मोक्ष-कारण-सामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।

अद्वैत वेदान्ती भी मानते हैं कि मोक्ष पानेकी साधना में भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। सिर्फ हमारी भक्ति की व्याख्या जरा जान लेनी होती है—

स्व-स्वरूपानुसंधानं भक्तिरिति अभिधीयते

अपने आत्म-स्वरूप का अनुसन्धान यानी चिन्तन जाग्रत रखना यही सचमुच भक्ति है। ऐसी भक्ति मन्दिर में जाकर, अथवा मूर्ति के पास बैठकर नहीं होती; उसका चिन्तन अखण्ड चालू रखना होता है। आत्मा अपना सच्चा स्वरूप पहचान कर अपने को ईश्वर तत्त्व के साथ जोड़ दे और उस अनुसन्धान को अखण्ड कायम रखे, यही उत्तम भक्ति है। (संस्कृत में भज् और युज् दो धातु हैं। दोनों हैं तो अलग-अलग। लेकिन 'अनुसन्धान साधना' यह अर्थ दोनों में समान है। अतः भक्ति और योग एक ही बन जाते हैं। सचमुच भक्ति ही योग होने के कारण भक्ति-योग जैसा

अलग शब्द प्रचलित करने की जरूरत नहीं होनी चाहिए।)

लेकिन लोक-व्यवहार में और साधकों की सामान्य भाषा में भक्ति तो द्वैतमूलक ही होती है। 'भगवान् परमात्मा अपनी जगह विराजमान है। उसके साथ अपना ऐक्य है ऐसा कहना घृष्टता की परमावधि है। सचमुच वह स्वामी है। हम उसके दास हैं। उसके चरणों में बैठकर उसकी पूजा करें; अर्चना करें और भक्तिभाव उत्कट हो जाय तब अपना सर्वस्व उसके चरणों में अर्पण करें यही सचमुच भक्ति है।' यह हुई द्वैत सम्प्रदाय की भक्ति। समाज में रहनेवाले सन्त खुद अद्वैतवादी हों या द्वैतवादी अपने आसपास और अपने भजनों में द्वैतका वातावरण ही रखना चाहते हैं। वे कहते हैं, अद्वैतवाद भले सच्चा हो लेकिन उसकी ज्ञानी-भक्ति तो एक नशा ही बनती है। उस नशे की दीक्षा समाज को नहीं दी जा सकती। उस रीति से समाज का अधःपात होने की सम्भावना रहती है। अतः हम अपने भजनों में स्वामी और सेवक का भेद कायम रखकर पूजा-अर्चाका विस्तार करते हैं।

जो लोग विशिष्ट अद्वैत को मानते हैं उनका रास्ता आसान है। उनको मायावाद का आश्रय नहीं लेना पड़ता। वे कहते हैं कि हम 'द्वैतको वस्तुस्थिति के तौर पर स्वीकार करते हैं।' और 'अद्वैत यह हमारा अन्तिम आदर्श है। द्वैत भक्ति साधना है। अद्वैत भक्ति सिद्धि है। दोनों में हम खुश हैं और खुश होते रहते हैं।

अब भक्ति यानी पूजा, अर्चना, स्तुति, नामस्मरण और गुणगान, यही मुख्य भाव जिनके मनमें होता है वे आसपास की दुनिया की उपेक्षा कर सकते हैं।

जगत् से हम घिरे हैं। जगत् का रास्ता अलग।

जगत् को भगवान् की पड़ी नहीं होती, तब हमें जगत् की क्यों गरज होनी चाहिए ? जगत् अपने रास्ते । हम अपनी भक्ति में तल्लीन होकर रहें । हमारे लिए हमारा मन्दिर, उसके अन्दर की मूर्ति, उस मूर्ति की पूजा और हमारे जैसे भगवद् भक्तों का सहवास यही हमारी सम्पूर्ण दुनिया । बहुत हुआ तो भक्ति भावना के विशेष सन्तोष के लिए प्रसिद्ध तीर्थ-स्थानों की यात्रा करें । पंढरपुर, द्वारका, मथुरा, बदरीनारायण, जगन्नाथपुरी कितने विख्यात स्थानों को भक्तों ने मशहूर किया है । उनकी यात्रा करें । रास्ते में जितने मन्दिर मिलें उन सबमें पूजा करें, रात वहीं बितावें और अन्य भक्तों के सहवास का आनन्द पायें । यही हमारी भक्ति का परम आनन्द है ।

ऐसे तीन प्रकारों की भक्ति से बिल्कुल अलग भक्ति कुछ सन्तों ने अपने लिये पसन्द की है और दुनिया के सामने रखी है ।

वे कहते हैं द्वैतवाद, विशिष्ट अद्वैतवाद और अद्वैतवाद तीनों प्रकार हमें एक से मान्य हैं । हम जगदीश की भक्ति करने के लिये जगत् की उपेक्षा नहीं करते । हमारे आसपास यह जो दुनिया फैली है वह भी भगवान् का ही अवतार है । बाकी के अवतार उसके बाद प्रकट हुए होंगे । 'जगत् ही भगवान् का आद्य अवतार है ।' इस जगत् की यथाशक्ति, यथामति निःस्वार्थ भाव से सेवा करें यही हमारी भक्ति है ।

हमारे आसपास केवल मनुष्य नहीं पशु-पक्षी आदि प्राणी भी हैं । वे सब ईश्वरी सृष्टि के अंश होने के कारण हमारे ईश्वर हैं । उनकी उन्नति के लिए सेवा करके उनको सन्तोष दें यही हमारी भगवद्-भक्ति है ।

समाज-सेवा, राष्ट्र-सेवा, अकाल आदि संकट दूर करना, स्व-राज्य पाने के लिए और चलाने के लिए प्रयत्नशील रहना, प्राणिमात्र के लिए लोगों के मन में प्रेम जाग्रत करना, संकट ग्रस्तों को बचाना यही मुख्य भक्ति है ।

जो सर्व-व्यापी है, सब जगह पहुँचा हुआ है, सब के हृदयों में घुस कर रहता है उसको हम विष्णु कहते हैं । विश् यानी प्रवेश करना, अन्दर घुस जाना । ऐसे सर्वव्यापी विष्णु की सच्ची भक्ति तो 'पक्षपात रहित सर्वसेवा के द्वारा ही हो सकती है ।'

अब गांधीजी जैसे राष्ट्र-सेवक विदेश में जाये और स्व-जनों की सेवा करने का कर्तव्य अनुभव करें, तब उस

सेवा को छोड़ कर भगवान् की भक्ति करने बैठें तो वह कैसे हो सकता है ? ऐसे लोगों के लिए स्वजनों की निःस्वार्थ शुद्ध सेवा यही वैष्णवी भक्ति है । ऐसी सेवा करते-करते स्वजन और परजन ऐसा भेद पिघल जाता है । स्वार्थ अभिमान, तरह-तरह के विकार, ये सब दोष दूर किये बिना सेवामय जीवन कृतार्थ नहीं होता । सेवा के आदर्श को स्वीकारने के बाद उस सेवा के लायक अपना जीवन बनाते समय जीवन-शुद्धि का संयम-प्रधान आदर्श अपने आप खिलता है ।

सेवा का आदर्श स्वीकार करने के बाद मनुष्य कह नहीं सकता कि मैं सज्जनों की ही सेवा करूँगा, दुर्जनों की सेवा नहीं करूँगा । वे तो कहेंगे कि दुर्जन भी भगवान् की ही कृति हैं । उसकी दुर्जनता उसकी कमजोरी है, उसका अज्ञान है । वह दूर करने की प्रेरणा ही उसकी सच्ची भक्ति है ।

इस तरह निष्काम सेवा, निरपवाद सर्व-सेवा करते-करते आत्म-शुद्धि अपने आप खिलती है । सदाचारी हुए बिना सेवक नहीं बना जाता । चारित्र्य ऊँचा न हो तो सेवा करते असेवा ही हो जाती है ।

इस तरह का जीवन चिन्तन चलता हो और उसके मुताबिक जीवन सेवा-परायण हुआ हो तब जो भक्ति मन में उगती है वही भक्ति इस भजन में पूरी तरह व्यक्त हुई है । और वही भक्ति गांधीजी ने अपनी जीवन-साधना के तौर पर स्वीकारी है ।

अन्य लोग भक्ति के ऊपर प्रबन्ध लिखते हैं, भक्ति सूत्रों पर भाष्य लिखते हैं, गांधीजी ने तो नरसी के इस भजन को स्वीकार करके अपने सेवामय जीवन को ही इस भजन का भाष्य बना दिया ।

और इसीलिए समाज में से मिले उतने साथियों को लेकर समाज-सेवा का बड़ा कार्यक्रम जब-जब वे शुरू करते थे तब-तब सबको साथ लेकर, अत्यन्त नम्र होकर लोकोत्तर उत्साह से वे इसी भजन को गाते थे और सबको गाने के लिए प्रोत्साहन देते थे ।

इस भजन को यदि सम्पूर्ण अर्थ में समझना हो तो ऐसा विवेचन पढ़ने के बदले गांधीजी का जीवनचरित्र ही पढ़ना चाहिए । उसमें से जो प्रेरणा मिलती है वही इस भजन का सच्चा और पूरा अर्थ है ।

विष्णु भक्त उसी को कह सकते हैं, जिसका हृदय

इतना कोमल और दयालु हो कि अन्य का खास कर अनाथ, दीन, पिछड़े हुए लोगों का दुःख वह जाने, अनुभव करे। अतः भक्त नरसी कहते हैं, पराये का दुःख देख कर दूर करें तो भी हमने बड़ा उपकार किया है ऐसा अभिमान मन में न लावें।

समाज में अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के लोग होते हैं। उनको पहचानना कठिन काम नहीं है। फिर भी सज्जनों को मैं स्तुति करूँ, दुर्जनों की निन्दा करूँ ऐसा भेद मन में न लाकर 'सच्चा भागवत हरेक के हृदय में बसवेवाले परमात्मा को पहचान करके उन सबको ही नमस्कार करता है।' भक्त अपने चारित्र्य में हीनता या दुर्बलता आने नहीं देता। वाणी शुद्ध रखता है। स्त्री-पुरुष के बारे में मन को विकारी नहीं होने देता। इतनी दृढ़ता जिसमें दिखाई दे उसकी जननी, माता सचमुच धन्य है।

जो सबके प्रति समान दृष्टि रखता है। धन की तृष्णा, प्रतिष्ठा की तृष्णा तथा अधिकार की तृष्णा का जो त्याग करता है और पर-स्त्री के प्रति मन विकारी न हो

इसलिए उसे माता समान गिनता है। व्यवहार में असत्य नहीं बोलता। पराया धन अपनाने के लिये हाथ में नहीं लेता। संक्षेप में जिस मनुष्य का चारित्र्य मोह अथवा लोभ से धिर नहीं पाता, जिसके मन में वैराग्य दृढ़ है, जिस मनुष्य की तमाम भावनाओं में ईश्वर भक्ति हमेशा जाग्रत है, और रामनाम की जिसके हृदय में ताली लग गयी है ऐसे मनुष्य को तीर्थयात्रा के लिए जाना नहीं पड़ता। सब पुण्य तीर्थ उसके शरीर में ही बसे हुए होते हैं। भक्त नरसी संक्षेप में कहते हैं कि जो मनुष्य निरलोभी है, जिसमें कपट की मात्रा बिल्कुल नहीं है और जिसने अपने हृदय में से काम और क्रोध दूर किये हैं ऐसे भक्त के दर्शन मात्र से हमारे इकहत्तर कुल का उद्धार हो जायगा।

जिस मनुष्य का मन विकारी है, कामवासना पर जिसे संयम नहीं है ऐसे मनुष्य के लिए लोग कहते हैं कि यह लँगोट का कच्चा है।

कोई भी आदमी चारित्र्य का दृढ़ निकला तो लोग कहेंगे, 'उसके माता-पिता धन्य है। उसके इकहत्तर कुल का उद्धार हो गया।' □

मानव-जन्म

हमारे धर्म ग्रंथ तथा विद्वान् कहते हैं कि मानव-जन्म दुर्लभ है। परन्तु आज का मानव स्वार्थ, मोह आदि से ग्रस्त है, फिर मानव जन्म की दुर्लभता कहाँ रहो? वस्तुतः मानव जन्म इसलिए दुर्लभ माना गया है कि उसमें दया, प्रेम, परोपकार, त्याग आदि सद्गुण प्राप्त करने का अवसर मिलता है। इसीलिए भारत के सन्त-महात्माओं और ऋषियों ने इन गुणों को अपनाकर मानवता की महती सेवा की है। उन गुणों को अपनाकर मानव का कर्त्तव्य है, तभी समस्याओं का समाधान प्राप्त होगा। —रामविलास

Gram : JAGATPATI

Phone : { Factory : 66-6012
Office : 26-0614, 27-6183
Resi. : 54-1261, 66-2575

Krishna Laminating Industries

Manufacturers & Exporters of :-
Water Proof Paper Bags. Polythene Laminated Jute
Bags for Fertilizers & Chemicals.

Factory :

13A, J. N. Mukherji Road,
HOWRAH-6

Office :

15, Brabourne Road,
CALCUTTA-700001

Kesoram Industries & Cotton Mills Limited

91, R. N. Mukherjee Road, Calcutta 700001

Manufacturers of Cotton Textiles & Piece Goods, Rayon Yarn, Transparent
Cellulose Film, Sulphuric Acid, Carbon-di-Sulphide, Cast Iron Spun
Pipes & Fittings, Cement and Refractories etc.



Section :

Textile Section
Rayon & T. P. Sections
Spun Pipe Section
Cement Section
Refractory Section

Mills :

42, Garden Reach Road, Calcutta.
Tribeni, Dist : Hooghly.
Bansberia, Dist : Hooghly.
Basantnagar, Dist : Karimnagar (A.P.)
Kulti, Dist : Burdwan

कुम्भ महापर्व

२५ जनवरी १९८२ को तीर्थराज प्रयाग में अर्धकुम्भ महापर्व लग रहा है। उस दिन सोमवार की अमावास्या होने के कारण इस पर्व का महत्त्व और भी बढ़ गया है। मकर में त्रिवेणी स्नान का शाश्वत महत्त्व तो है ही।

अनुश्रुति

कुम्भ महापर्व के विषय में अनुश्रुति है कि सतयुग में देव-दानवों ने मिलकर क्षीर-सागर का मन्थन किया। इस विशाल मन्थन-कार्य में महापर्वत—मन्दराचल को मथानी और सर्पराज वासुकी को नेती (रस्सी) बनाया गया था। कच्छप रूपधारी भगवान् विष्णु मन्दराचल के पीछे रह कर मथानी को सम्हाले हुए थे। मन्थन के फलस्वरूप चौदह रत्न—लक्ष्मी, कौस्तुभमणि, पारिजात, वारुणी, घन्वन्तरि, चन्द्रमा, महाविष कालकूट, ऐरावत, पांचजन्य, धनुष, उच्चैःश्रवा घोड़ा, रम्भा अप्सरा, कामधेनु, अमृतकुम्भ—प्राप्त हुए। देवताओं का संकेत पाकर इन्द्रपुत्र जयन्त अमृत-कुम्भ उठाकर आकाश में चला गया। कुछ लोग यह श्रेय जयन्त को न देकर गरुड़ को देते हैं। यह देखकर दैत्यगुरु शुक्राचार्य के आदेश से दैत्यों ने जयन्त का पीछा किया और उसे पकड़ लिया। फिर तो अमृत कुम्भ के लिए देव-दानवों में भयंकर संग्राम छिड़ गया जो लगातार बारह दिनों तक चलता रहा। फिर भगवान् विष्णु ने मोहिनी रूप धारण कर देव-दानवों का कलह शान्त किया।

इस युद्ध में अमृतकुम्भ चार स्थानों—प्रयाग, हरिद्वार, लज्जैन और नासिक में रखा गया था। देवताओं का दिन मानव वर्ष के बराबर होता है। इसलिए प्रत्येक स्थान पर हर बारहवें वर्ष कुम्भ महापर्व का आयोजन होता है और हर छठे वर्ष अर्धकुम्भ का।

देव-दानव संग्राम के समय जब अमृतकुम्भ गिरा था उस समय चन्द्रमा ने उसको फूटने से, गुरु वे दैत्यों के अपहरण से और सूर्य ने दानवों के भय से रक्षा की थी। इसलिए चन्द्रादिकों ने जिस समय कुम्भ की रक्षा की थी, उस समय की वर्तमान राशियों पर रक्षक चन्द्र, सूर्य आदि ग्रह जब आते हैं, उस समय कुम्भ योग आता है।

प्रयाग का कुम्भ पर्व

मेष राशि पर बृहस्पति जब हों, उस समय प्रयाग में कुम्भ होता है। इसके लिए निम्नलिखित वचन मिलते हैं—

मकरे च दिवानाथे मेषगे च बृहस्पतौ।

कुम्भयोगो भवेत्तत्र प्रयागे तीर्थनाथके॥

जब मकरराशि पर सूर्य हों और मेष पर बृहस्पति तब तीर्थराज प्रयाग में कुम्भ का योग होता है।

माघे मेषगते जीवे मकरे चन्द्रमास्करी।

अमावास्या तदा योगः कुम्भाख्यस्तीर्थ नाथके॥

माघ महीने में जब बृहस्पति मेष पर तथा चन्द्र-सूर्य मकर राशि पर हों तो अमावास्या के दिन तीर्थराज प्रयाग में कुम्भ योग होता है।

कुम्भ पर्व पर त्रिवेणी स्नान और त्रिवेणी जलपान करने से सब पापों से मुक्ति होती है और कुल की सात पीढ़ियाँ पवित्र होती हैं। यथा—

कुम्भे स्नात्वा च पीत्वा च त्रिवेण्यां च युधिष्ठिर !

सर्वं पापं विनिर्मुक्तः पुनात्यासप्तमं कुलम्॥

हे युधिष्ठिर, कुम्भ पर त्रिवेणी में स्नान करके और जल पीने से मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता और उसकी सात पीढ़ियाँ पवित्र होती हैं।

मकरस्नान

कुम्भ पर्व के साथ मकरस्नान का धर्मशास्त्रों में अधिक महत्त्व बताया गया है। कुछ धार्मिक लोग प्रयाग संगम पर तम्बू, कुटिया या झोंपड़ी बनाकर एक महीने तक निवास कर कल्पवास करते हैं। स्नान पर्व की दृष्टि से पौष पूर्णिमा, मकर संक्रान्ति, सौती अमावास्या, वसन्त पंचमी तथा माघ पूर्णिमा का विशेष महत्त्व है।

कल्पवास का जीवन तपस्या का जीवन माना जाता है। उसमें सांसारिक प्रपंचों से अलग रहकर प्रातः-सायं गंगा स्नान, गंगाजी का पूजन, एकाहार, ब्रह्मचर्य के साथ जप, तप, कथा-श्रवण-मनन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रथम दिन तीर्थोपवास, मुण्डन, तपण, आद्य आदि तीर्थ विधियों का अनुष्ठान करना आवश्यक है। इन नियमों का पालन करने से ही पुण्य फल की प्राप्ति होती है।

केवल परम्परा निर्वाह, प्रदर्शन, नामयश आदि के लिए किये गये कृत्यों से पुण्य तो होता नहीं, इसके विपरीत मनुष्य पाप का भागी बनता है। — अ० ना० घर द्विवेदी

Gram : KANHOPE

Telex : BTEA - CA - 2808

Phone : 26-0880/84.

Bengal Tea & Industries Ltd.

Regd. Office :

9, Brabourne Road, Calcutta 700001.

A House of Quality Tea & Textile

Manufacturers & Exporters

Proprietors



TEA GARDENS

Ananda Tea Estate

Pathalipam Tea Estate

Bordeobam Tea Estate

Mackeypore Tea Estate

Lakmijan Tea Estate

Pallorbund Tea Estate

Dooloogram Tea Estate

Poloi Tea Estate

(A S S A M)

TEXTILE MILL

Asarwa Mill

Asarwa Road, AHMEDABAD

पुस्तक-समीक्षा

१. भक्ति-सुधा—लगभग सत्रह वर्ष पहले भक्ति-सुधा-साहित्य-परिषद्, कलकत्ता द्वारा तीन खण्डों में भक्ति-सुधा का प्रकाशन हुआ था जिसमें स्वामी श्री हरिहरानन्द सरस्वती (श्री करपात्र स्वामी) के ज्ञान, भक्ति, दर्शन, उपासना आदि विभिन्न धार्मिक लेखों का संकलन किया गया था। वर्षों से यह ग्रन्थ अप्राप्य था। अब नये संभार के साथ एक ही जिल्द में तीनों खण्ड 'भक्ति-सुधा' के ही नाम से प्रकाशित हुए हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि जहाँ तक उक्त विषयों की विद्वत्ता का प्रश्न है स्वामी जी अद्वितीय अधिकारी विद्वान् (अथारिटी) हैं। उनके चरणों में बैठकर 'ज्ञानखानि' काशी के एक से एक बढ़कर विद्वानों ने ज्ञानार्जन किया है। फिर ऐसे सुधी की कृति अप्रतिम क्यों नहीं होगी? जिस तरह खांड की रोटी जिधर से तोड़िए उधर से ही मोठी लगती है, उसी तरह 'भक्ति सुधा' के सभी लेख ज्ञानवर्धक और आह्लादकारी हैं, फिर भी रुचिभिन्नता के कारण वेणुगीत, चौरहरण, वेदान्त रस सार, रासलीला रहस्य, विभीषण-शरणागति, भगवत्कथामृत एवं श्रीरासपंचाध्यायी आदि लेख भक्तों और ज्ञानियों के चित्त को विशेष रूप से आकृष्ट करते हैं। जहाँ तक स्वामी जी की लेखन-शैली का प्रश्न है उसके बारे में इतना ही संकेत करना पर्याप्त है कि "अनन्त श्रीविभूषित स्वामी करपात्री जी महाराज हृदयार्थिका विमला वाणी के प्रेरक जैसे मनीषी हैं, वैसे ही वे ललित ललाम लेखनी के धनी हैं। वाणी तथा लेखनी का यह मंजुल सामरस्य किस विद्वान् को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ नहीं होता? वे शास्त्र के मर्म को उन्मीलन करने वाले ऐसे समर्थ वाग्मी हैं जिसके विषय में कहा गया है—'वाग्मी भवति वा न वा'। वे, खूबसूरत वेदान्ती नहीं हैं, जो वेदान्त के शुष्क तत्त्वों के चिन्तन में अपनी प्रतिभा का उपयोग करता है, प्रत्युत वे रसामृतमूर्ति, सौन्दर्यसार-सर्वस्व भगवान् निकुंज-बिहारी की निकुंज लीला के परमाराधक भक्ति रसाप्लुत उपासक हैं। उनकी लेखनी की यह अभि-

नव प्रसूति भक्तिमुधा मस्तिष्क की वस्तु नहीं है, प्रत्युत उनके हृदय का आनन्दमय उल्लास है।" ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए प्रकाशक साधुवाद के पात्र हैं।

२. लोकप्रिय गीता—लेखक के शब्दों में 'यह पुस्तक जनसाधारण को और विशेष रूप से युवक-युवतियों को गीता माता का परिचय कराने के लिए लिखी गई है।' वस्तुतः गीता ही एक ऐसी दार्शनिक कृति है जिसे विश्व के सभी धर्मावलम्बी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। इसीलिए प्राचीन काल से लेकर अबतक गीता पर जितना भाष्य लिखा गया है, उतना और किसी ग्रन्थ पर नहीं लिखा गया और भविष्य में भी यह परम्परा जारी रहेगी। प्रस्तुत कृति में प्राचीन और आधुनिक दोनों दृष्टियों को उपस्थित किया गया है। गीता का भाव स्पष्ट करने के लिए अत्याधुनिक दृष्टान्तों का सहारा लिया गया है। इस दृष्टि से लोकप्रिय गीता सर्वसाधारण में अत्यन्त लोकप्रिय होगी, इसमें सन्देह नहीं। ऐसी सुन्दर और उपयोगी कृति के लिए लेखक और नयनाभिराम उत्कृष्ट प्रकाशन के लिए प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

३. बीते दिन : वे लोग—(संस्मरण) इस संस्मरण-संग्रह में श्रीलक्ष्मीनिवास बिड़ला ने राजनीतिक, शैक्षणिक और व्यावसायिक व्यक्तियों के संस्मरण लिखे हैं, जिनमें महामना मालवीय, लाला लाजपतराय, बापू, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, राजाजी, राजेन्द्र प्रसाद, गोविन्दवल्लभ पन्त, मूलचन्द अग्रवाल, पारसनाथ सिंह, शुक्रदेव पाण्डे, रामकुमार भुवालका, रामेश्वर टाटिया, भागीरथ कानोडिया आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त पिलानी और कलकत्ता के शब्द चित्र भी प्रस्तुत हैं। संस्मरण अधिकतर छोटे-छोटे हैं जिनसे पाठकों को तद्विषयक जानकारी मिलती है। श्री वियोगी हरि ने ठीक ही लिखा है कि "सभी रेखाचित्रों में अधिकतर रंग 'घरेलू' भरे गये हैं। 'बीते दिन : वे लोग' नामक यह पुस्तक निःसन्देह रोचक तथा बोधप्रद है। शैली इसकी आकर्षक और भाषा में सहजता और अच्छा प्रवाह है।"—अ० ना० घर द्विवेदी

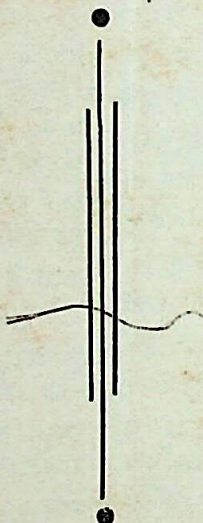
१. लेखक-स्वामी श्री हरिहरानन्द सरस्वती (श्री करपात्र स्वामी), प्रकाशक—श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, १४, नेताजी सुभाष रोड, कलकत्ता-१, पृष्ठ-संख्या १०५२, डिमाई साइज। छपाई सफाई उत्कृष्ट, मूल्य पैतालीस रुपये।
२. लेखक—श्री गोपाललाल बर्मन, प्रकाशक-पंचवटी कंपनी, भेलूपुर, वाराणसी-१, पृष्ठसंख्या १६९, डिमाई साइज। छपाई आदि श्रेष्ठ, मूल्य पचीस रुपये।
३. लेखक—श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला, प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, एन ७७, कनांट सर्कस, नई दिल्ली। पृष्ठ संख्या क्राउन ७७, मूल्य पाँच रुपये। छपाई सफाई उत्कृष्ट।

The Shankar Agro Industries Limited

Manufacturers of

Best Quality

WHITE CRYSTAL SUGAR



Mills at :

P. O. CAPTAINGANJ

Dist. Deoria (U.P.)

Phone : 26

Gram : SUGAR

Captainganj (Deoria)

Registered Office :

., Brabourne Rd. (6th flr.)

CALCUTTA-700001

Phone : 26-7385 (4 Lines)

Gram : CHINIMIL

Telex : CALCUTTA 7611

WE ALSO MANUFACTURE WHITE CRYSTAL SUGAR FOR EXPORT

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

दाताओं द्वारा सामयिक वस्त्रदान—काशी मुमुक्षु भवन में निवास करनेवाले असहायक काशीवासियों तथा दण्डी स्वामियों को प्रतिवर्ष उदारदाताओं द्वारा मौसम के अनुसार वस्त्रदान दिया जाता है। विशेषकर शीत ऋतु में स्वेटर और कम्बलोंका दान उत्तरेल्लनीय है। इस महीने में गोपीगंज-निवासी श्री दिगम्बर प्रसाद अग्रवाल ने ३० कम्बल, मधुपुर-निवासी श्री कृष्णकुमार गुटगुटिया ने २५ कम्बल और कलकत्ता-निवासी श्री राधाकृष्ण झुनझुनवाला ने २४४ स्वेटरों का दान दिया है। इनके अतिरिक्त श्री रामेश्वर लाल थरड ने मन्दिर के लिए दो दुशाले समर्पित किये हैं।

श्री भदनगोपाल केडिया जी का स्वर्गवास—श्री भदनगोपाल केडिया विगत दो वर्षों से काशी मुमुक्षु भवन सभा में रहकर काशीवास कर रहे थे। अस्वस्थता के कारण शल्यक्रिया (आपरेशन) के लिए दो महीने पहले वे कलकत्ते गये थे। आपरेशन के बाद उनका स्वास्थ्य सुधर रहा था। किन्तु २१ दिसम्बर को सात बज कर चालीस मिनट पर कलकत्ते के वेल ध्यू क्लिनिक में ७८ वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हो गया। उनके परिवार के सभी लोग केडिया जी के पार्थिव शरीर को लेकर २२ दिसम्बर १९८१ को काशी मुमुक्षु भवन सभा में आये। मुमुक्षु भवन सभा परिवार ने अश्रुपूरित नेत्रों से उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित कर अन्तिम विदाई दी। फिर मणिकर्णिका घाट पर उनके दो पुत्र—श्री सन्तोषकुमार और श्री अशोक कुमार ने उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न की। केडिया जी अपने पीछे पत्नी, तीन पुत्र और भरा-पूरा परिवार छोड़ गये हैं। उनके निधन से काशी मुमुक्षु भवन सभा तथा उसके निवासियों की अपूरणीय क्षति हुई है। क्योंकि वे सभा के विकास-कार्यों में विशेष रुचि लेते थे और समय-समय पर उसकी विशिष्ट आर्थिक सहायता करते थे। वे सभा तथा बाहर के असहाय दीन-दुखी व्यक्तियों की यथावसर सहायता करते रहते थे। काशी मुमुक्षु भवन सभा में दिनांक ३।१।८२ को केडिया जी के ब्रह्मभोज के अवसर पर ब्राह्मण-भोजन का आयोजन किया गया। श्री केडिया जी की

पत्नी अत्यन्त धार्मिक प्रकृति की महिला है। आपने राधा-कृष्ण मन्दिर में चांदी की बनी बाँसुरी समर्पित की है। मुमुक्षु भवन परिवार श्री केडिया जी की सद्गति के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है।

श्री वेद-वेदांग महाविद्यालय—काशी मुमुक्षु भवन सभा द्वारा संचालित श्री वेद-वेदांग महाविद्यालय में छात्रों का प्रवेश पूरा हो गया है और पढ़ाई शुरू हो गयी है। इस वर्ष (१९८१) महाविद्यालय का वार्षिक परीक्षाफल इस प्रकार है:—

कक्षा	प्रविष्ट	उत्तीर्ण	अनुत्तीर्ण	अवरुद्ध
आचार्य तृ. वर्ष	१	१		
” द्वि. ”	२	२		
शास्त्री द्वि. वर्ष	७	७		
” प्र. ”	४	४		
उ. मध्यमा द्वि. वर्ष	१७	१४		३
” प्र. ”	१३	११	२	
पू. म. द्वि. ”	५	५		
” ” प्र. ”	९	७	२	
प्रथमा	४	(अप्रकाशित)		

भण्डारा—ईश्वरमठ के संन्यासियों की शिक्षा के लिए स्थायी कोष के अतिरिक्त प्रतिमास उदार दान-दाताओं द्वारा भण्डारा दिया जाता है। दिसम्बर महीने में जिन दाताओं ने भण्डारा दिया है, उनकी नामावली इस प्रकार है—

सर्वश्री लक्ष्मीप्रसाद, मडुवाडीह, ओम्प्रकाश डिडवाना, गोपीराम अग्रवाल।

होमियोपैथिक चिकित्सालय—स्व. श्री रामकुमार भुवालका जन कल्याण ट्रस्ट के सहयोग से मुमुक्षु भवन के होमियोपैथिक चिकित्सालय में पिछले नवम्बर में रोगियों की संख्या इस प्रकार थी—

मास	नये रोगी	पुराने रोगी	कुल
नवम्बर	५२४	२७८७	३३११

रोगियों के अनुभव—इस चिकित्सालय में अनेक असाध्य रोगियों को रोग-निवारण में आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। वात-व्याधि से पीड़ित श्रीमती फूलकुमारी देवी, जो यहाँ डुमराँव कालोनी में रहती हैं, इस पत्रिका के प्रतिनिधि को बताया कि मैं २० वर्षों से रोगी रही हूँ। लकड़ी के सहारे बड़ी कठिनाई से चल-फिर पाती थी परन्तु मुमुक्षु भवन चिकित्सालय में एक वर्ष चिकित्सा कराने के बाद मैं अब अपने को पूर्ण स्वस्थ अनुभव कर रही हूँ।

एक दूसरी रुग्णा श्रीमती रामकिशोर शुक्ला ने बताया कि मैं ऊर्ध्व श्वास से इतनी प्रपीड़ित थी कि नींद हराम

हो गयी थी। करवट लेने में भी कठिनाई होती थी, जीवन दूभर हो गया था। ऐसे रुग्ण जीवन से ऊब कर मैं मृत्यु का वरण करने के लिए तैयार थी। मैं मुमुक्षु भवन के चिकित्सक के पास गयी। उन्होंने एक पुड़िया दवा दी और कहा कि इससे कुछ लाभ होगा तो आगे चिकित्सा चलाऊँगा। उस पुड़िया के सेवन से मेरी दस प्रतिशत पीड़ा कम हो गयी और अब तो मैं पूर्ण स्वस्थ हो चली हूँ। जहाँ पहले जीवन भार लगता था वहाँ अब वह सुखमय प्रतीत होवे लगा है।



‘मुमुक्षु’

का

यज्ञ विशेषांक

काशी मुमुक्षु भवन सभा ने अपने मुख्य परिसर में शास्त्रीय विधि से एक यज्ञ-मण्डप का निर्माण कराया है जिसके चारो ओर चारो वेदों की मूर्तियाँ स्थापित की गयी हैं। इसके उद्घाटन के उपलक्ष्य में ‘मुमुक्षु’ का लगभग १६० पृष्ठों का एक सवित्र विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है।

जिसमें

‘यज्ञ’ की व्युत्पत्ति, परिभाषा, प्रकार, उनके दृष्ट और अदृष्ट फल तथा विधियों का विस्तारपूर्वक विवेचन होगा। ऋत्विजों, वैदिक आचार्यों तथा इस विषय में रचि रखनेवालों के लिए यह विशेषांक विशेष रूप से संग्रहणीय होगा।

इन विषयों के अधिकारी विद्वानों के लेख तथा सुझाव सादर आमन्त्रित हैं।

— सम्पादक, ‘मुमुक्षु’

काशी मुमुक्षु भवन सभा

अस्सी, वाराणसी-५

While purchasing Hessian, Sacking, Carpet Backing and other Jute products and cotton yarn, please insist on quality production.

We are always ready to meet the exact type of your requirement.

Kanoria Jute Cotton Mills Limited

4/1, Red Cross Place

Calcutta-700001

Phone : 23-2397/98
23-7197

Telex : 021-2196
Cable : KAYJUTE,
Calcutta.



JUTE MILL

Kanoria Jute Mill,
Sijberia, P. O. Uluberia,
Dist. Howrah (West Bengal)

SPINNING MILL

Shree Hanuman Cotton Mills
Fuleshwar, P. O. Uluberia, Dist. Howrah (West Bengal)

The Reliance Jute & Industries Limited

9, Brabourne Road

CALCUTTA - 700001

Phone : 26-7385 (4 Lines)

Gram : Reltrade

Telex : 7611 Rely, Calcutta



Proprietors of :

Reliance Jute Mills

Bhatpara, 24 - Parganas (W. B.)

Manufacturers of

Jute Goods (Hessian, Sacking,
Carpet Backing & Jute Specialities)

Keshari Steels

New Industrial Area,

Bombay - Agra Road, Dewas - 455001 (M. P.)

Manufacturers of Steel Rods & Bars

Licencees :

Pratappur Sugar Mills

P. O. Pratappur, Dist. Deoria (U. P.)

Manufacturers of Sugar



We specialize in

Decorative Jute Fabrics

For export as well as for local market

Ideally useful for

Furnishings, Wall Coverings

Hand, Shoulder, Shopping & School Bags

Ladies Hand Bags

Lamp Shades

Table Mats

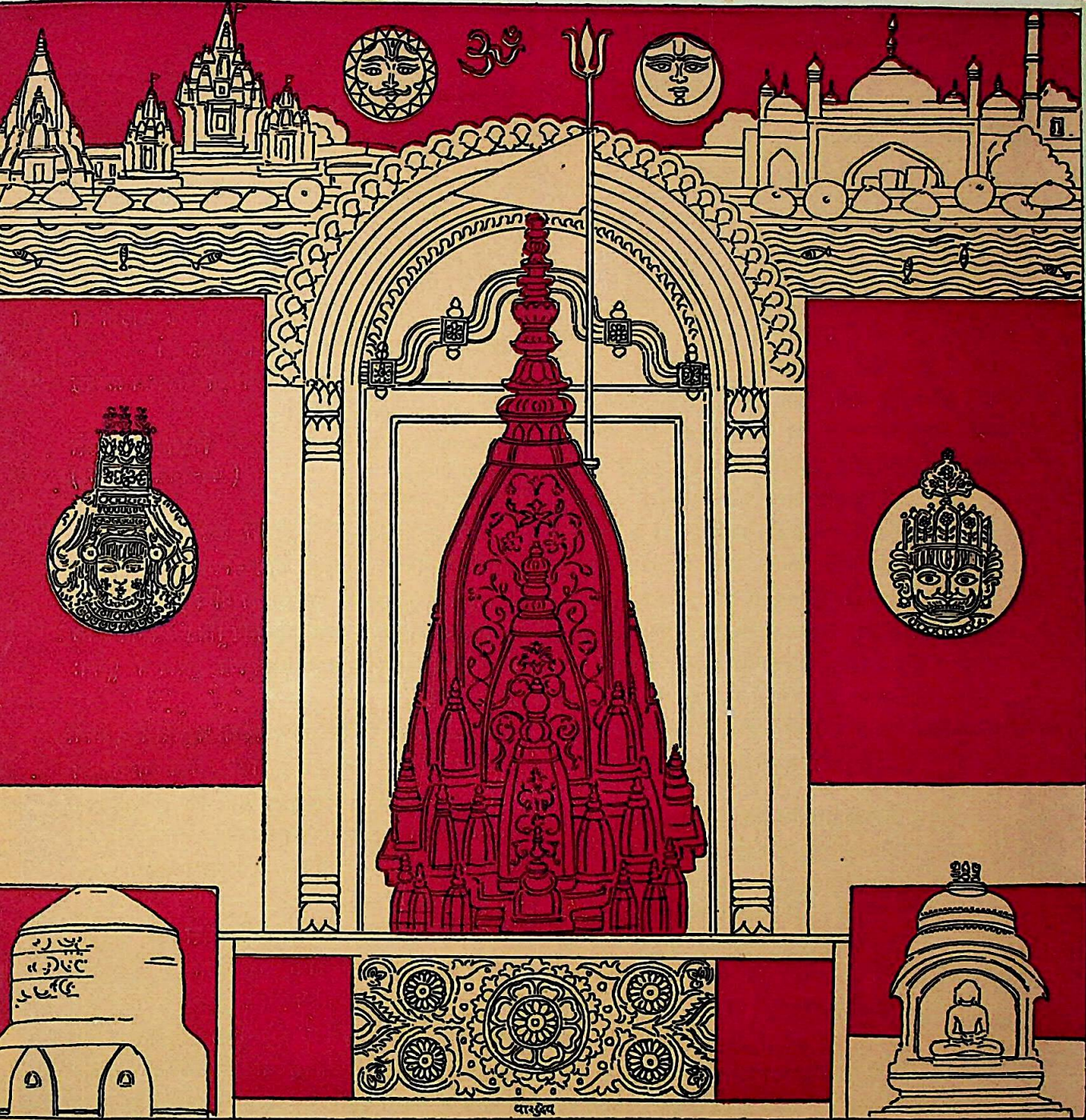
Bed Covers

Shoe Uppers

and Innumerable other consumer items.



Distributors all over India



मुमुक्षु

फरवरी १९८२

पाठकों की प्रतिक्रिया

[पाठकों से निवेदन है कि वे अपनी प्रतिक्रिया संक्षिप्त रूप में भेजें, जिसमें प्रशंसा ही न हो बल्कि रचनात्मक सुझाव भी हों। हमारी त्रुटियों से भी हमें अवगत कराने की कृपा करें।

प्रतीक की व्याख्या

‘मुमुक्षु’ के कई प्रबुद्ध पाठकों ने उसके प्रतीक के प्रति जिज्ञासा प्रकट की है। प्रतीक के ऊपरी भाग में वृत्ताकार रेखाओं द्वारा विश्व का माया-जाल दिखाया गया है। सबसे नीचे की ज्योति ज्ञान, हाथ कर्म (उपासना आदि) और आँख शास्त्र का प्रतीक है। शास्त्र का एक नाम लोचन है भी। ज्ञान, कर्म और उपासना की दृष्टि मुमुक्षुओं के लिए आवश्यक है। यह दृष्टि शास्त्रों से मिलती है।

प्रस्तुत अंक के मुखपृष्ठ का रेखाचित्र स्पष्ट है। यह पूरी काशी का प्रतीक है, जिसके बीच में श्री विश्वनाथ-मन्दिर है। साथ ही मुसलमानों की मस्जिद, बौद्धों का स्तूप, जैनियों का देरासर यथास्थान रेखांकित है। इनके अतिरिक्त अन्य देवताओं के साथ सूर्य, चन्द्र, प्रणव (ॐ) त्रिशूल भी दिखाई दे रहे हैं। काशी के पूर्वभाग में उत्तरवाहिनी भागीरथी गंगा द्रष्टव्य हैं। इसका रेखाङ्कन गुजरात के सुप्रसिद्ध चित्रकार श्री वासुदेव स्मार्त ने किया है।

—सम्पादक

‘मुमुक्षु’ के अंक बराबर मिल रहे हैं। भारतीय धर्म-साधना के गम्भीर पक्षों को सहज शैली में उपस्थित करनेवाले निबन्ध संकलित कर आप बहुत अच्छा काम कर रहे हैं।

मेरा एक सुझाव है कि प्रत्येक अंक को किसी एक विषय पर ही यदि केन्द्रित किया जा सके तो पत्र की उपयोगिता बहुत बढ़ सकती है। उदाहरण के लिए मोक्ष के सम्बन्ध में भारतीय साधनाओं की जो विविध धारणाएँ हैं, उन्हें एक-एक कर लिया जा सकता है। मोक्ष के प्रमुख साधनों में से एक-एक का अलग-अलग अंकों में विस्तृत विवेचन किया जा सकता है। तदनुकूल रचनाओं का संकलन करना काशी में कठिन नहीं होगा। पत्रिका के आकार में विषय की केन्द्रोन्मुखता के कारण संकलित लेख, श्लोक, सूक्तियाँ, पदावली आदि सामग्री प्रत्येक अंक को उसके लघु आकार में ही विशेषांक की गरिमा प्रदान करने में समर्थ होगी।

इस अच्छे कार्य के लिए मेरी बधाइयाँ।

२८० चित्तरंजन एवेन्स्यू,
कलकत्ता ६

— विष्णुकान्त शास्त्री

काशी मुमुक्षु भवन सभा द्वारा प्रकाशित मुमुक्षु पत्रिका के चार अंक अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। इस पत्रिका का प्रकाशन वर्तमान युग की महत्त्वपूर्ण घटना है। आज के इस वस्तुवादी संसार में अध्यात्म एवं संस्कृति की चर्चा ही दुर्लभ है। ऐसे समय में आध्यात्मिक विचारों एवं लेखों से संवलित प्रस्तुत पत्रिका सभी प्रकार के पाठकों का नियमित रूप से कल्याण करेगी, ऐसी आशा है।

अध्यात्म एवं भक्तिपरक लेखों का प्रकाशन क्रमबद्ध रूप में हो तो अत्युत्तम रहेगा।

पूर्व-अध्यक्ष वेद, धर्मशास्त्र-

मीमांसा विभाग,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

— विश्वनाथ शास्त्री
(वेद-धर्मशास्त्राचार्य)

‘मुमुक्षु’ पत्रिका में जितने भी लेख प्रकाशित हैं, वे सभी लोकजीवन को सुसंस्कृत और सौरभान्वित करने वाले हैं, विशेषकर शरणागति, श्रीमाता का मन्दिर, मानसचिन्तन, जगद्गुरु शंकराचार्य शीर्षक विद्वत्ताविभूषित लेख मननशील मस्तिष्कों को सुन्दर सामग्री समुपलब्ध कराने में पूर्णतः प्रवृत्त हुए हैं।

‘ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः’ विषय पर श्री चतुर्वेदीजी ने अपना विचार व्यक्त कर पाठक-वर्ग के लिए शंका-समाधान का मार्ग प्रस्तुत किया है। इससे मुमुक्षु वर्ग एवं बुद्धिजीवियों का ज्ञान-संवर्धन होगा। छपाई-सफाई, साजसज्जा एवं सम्पादन की दृष्टि से भी पत्रिका का प्रकाशन सर्वथा स्तुत्य एवं प्रशंसनीय है।

भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी — शिवदत्त मिश्र शास्त्री

‘मुमुक्षु’ पत्रिका के तीनों अंक प्राप्त हुए और उन्हें देखकर लगता है कि आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक मासिक का इसका ध्येय सम्पूर्ण और सफल है। जीवन और मोक्ष अथवा धर्म और संसार विरोधी नहीं हैं अपितु पूरक और सार्थक हैं। धर्म की महत्ता गृहस्थ के लिए भी उतनी ही है जितनी कि संन्यासी के लिए।

जीवन में धर्मवृत्ति जाग्रत करने के लिए ‘मुमुक्षु’ का प्रयत्न सार्थक होगा इसी शुभ कामना के साथ—
कथालोक, दिल्ली

— हर्षचन्द्र (सम्पादक)

पत्र की प्रति प्राप्त हुई। वास्तव में यह प्रयास स्तुत्य है। पत्रिका के लेख आदि प्रशंसनीय हैं। काशी भगवान् भोलेनाथ की मुमुक्षु नगरी के सर्वथा अनुकूल है।

गनेड़ीवाला वाटिका, गोरखपुर — ब्रजभूषण गनेड़ीवाला



आध्यात्मिक
तथा
सांस्कृतिक
मासिक

वर्ष १ : अंक ५
फाल्गुन, सं. २०३८ वै.
फरवरी १९८२



प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी



वार्षिक : पन्द्रह रुपए
एक अंक : डेढ़ रुपया

वन्दना

गोप्यादवे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्पन्नमाक्षम् ।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यदिबभेति ।

— श्रीमद्भागवत, १।८।३१

जब बचपन में आपने दूध की मटकी फोड़कर यशोदा मैया को खिन्ना दिया था, और उन्होंने आपको बाँधने के लिए हाथ में रस्सी ली थी, तब आपकी आँखों में आँसू छलक आये थे, काजल कपोलों पर बह चला था, नेत्र चंचल हो रहे थे और आपने भयभीत होकर अपना मुख नीचे की ओर झुका लिया था । उस दशा का—लीला छवि का ध्यान कर मैं (कुन्ती) मोहित हो जाती हूँ । भला, जिससे भय भी भय मानता है, उसकी यह दशा !

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मध्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मदभक्तः स मे प्रियः ॥

— गीता

(अ. १२, श्लोक १३-१४)

जो किसी से द्वेषभाव नहीं रखता, जो सब प्राणियों के साथ मित्रता का बर्ताव करता है, जो कृपालु है, जिसमें न अपनापन है और न अहंकार, जो दुःख और सुख में समान और क्षमाशील है,

जो सदा सन्तोषी है, संयमी और दृढ़निश्चयवाला है, जिसने अपने मन को और बुद्धि को मुझमें अर्पण कर दिया है, वह मेरा योगी भक्त मुझको प्रिय है ।

इस अंक में—

विषय	पृष्ठ
वन्दना	१
धर्म और नीति — सम्पादकीय	३
काशी में मृत्यु और मुक्ति—म०म०पं० गोपीनाथ कविराज	४
निर्माणनिष्ठा के प्रतीक—श्री ब्रजमोहन बिरला	
—श्री रतनलाल जोशी	७
सूक्तियाँ—श्री मुरारीलाल केडिया	९
बात का घाव —श्री भागीरथ कानोडिया	१०
शरणागति—स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती	११
मानस में भारतीय राजनीति	
—पं० श्री विश्वनाथ शास्त्री दातार	१४
साधन के २१ सूत्र—श्री रामेश्वरलाल नोपानी	१८
विद्यागुरु द्वारा दीक्षा-गुरु की खोज	
—अ० ना० घर द्विवेदी	१९
सन्तवाणी—श्री रामचन्द्र डोगरे	२२
हंसावर (कविता)—नरेन्द्र शर्मा	२३
प्राप्त जाहूँ बरु बचन न जाई	
—श्री रामकुमार भुवालका	२४
हम १०० वर्ष जी सकते हैं	२७
पुस्तक-समीक्षा	३०
काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार	३१

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से सम्पादक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

लेखकों से—‘मुमुक्षु’ में प्रायः धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रचनाएँ ही प्रकाशित की जाती हैं। ये रचनाएँ साहित्य की किसी भी विधा में हो सकती हैं। अतः लेखकों से निवेदन है कि वे अपने पास प्रतिलिपि रखकर ऐसी ही रचनाएँ भेजें। अस्वीकृत रचनाओं को लौटाने में हम असमर्थ हैं। स्वीकृत रचनाओं की सूचना पन्द्रह दिनों के भीतर भेज दी जाती है।—सम्पादक

अगले अंक के कुछ आकर्षण

- ◆ आसन से उत्थान और आकाशगमन—श्री गोपीनाथ कविराज
- ◆ स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती—गण्डित बलदेव उपाध्याय
- ◆ लोकमंगलकारी रामचरित—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र
- ◆ निष्काम कर्मयोगी श्रीधनश्यामदास बिरला—श्री रामानुजम्
- ◆ मेरा प्रथम चातुर्मास—स्वामी श्री विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती
- ◆ पतितों के भगवान्—डॉ. अरुणा बनर्जी
- ◆ गांधी जीःमानव के रूप में—श्री धनश्यामदास बिरला
- ◆ विन्ध्य में शक्तिपूजा—श्री नरेन्द्र नीरव

एक वाक्य का महावाक्य

और

दो वाक्यों में उसका महामाष्य

गोविन्द राघव ने एक छोटा-सा पत्र भेजा था। उसमें एक बिशप की बात थी। वह एक पहाड़ी पर चढ़ रहा था। उसी समय एक छह-सात वर्ष की लड़की अपने दो साल के भाई को कन्धे पर लेकर चढ़ रही थी और हाँफ रही थी। बिशप ने कहा—

“अरे, यह लड़का तो तेरे लिए बहुत भारी है !”

लड़की ने जवाब दिया—“जरा भी भारी नहीं। यह तो मेरा भाई है।”

इस पर बापू ने लिखा—“आपका प्रेमपूर्ण पत्र मिला। कितना महान् विचार है—‘यह भारी नहीं, यह तो मेरा भाई है।’ भारी-से-भारी चीज पंख-जैसी हलकी बन जाती है, जब प्रेम उसे उठानेवाला होता है !”

लड़की ने अपने एक वचन से एक बड़ा काव्य बना डाला। बापू ने उस पर दो पंक्तियों का महामाष्य कर दिया।

—‘महादेवभाई की डायरी’ से

धर्म और नीति

धर्म और नीति में परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। बिना धर्म के नीति नहीं रह सकती और न बिना नीति के धर्म का वास्तविक स्वरूप समझा जा सकता है। धर्मशास्त्र के विभिन्न वचनों का समन्वय नीतिशास्त्र ही करता है। यहाँ तक कि नीति के बिना धर्म पंगु है।

संसार के विभिन्न धर्मों में मतभेद ही नहीं विरोध तक दिखाई पड़ता है। परन्तु नीति के विषय में किसी धर्म का कोई मतभेद नहीं है। बल्कि सब एकमत हैं।

धर्म के निम्नांकित दस लक्षण बताये गये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधोः दशकं धर्मलक्षणम् ॥

चित्त में धैर्य, अपराधी को क्षमा, चोरी न करना, बाहरी और भीतरी पवित्रता, इन्द्रियों पर नियन्त्रण, धी (बुद्धि या प्रतिभा) को ठीक रखना, विद्या—ज्ञान प्राप्त करना, सत्य बोलना और क्रोध न करना ये सामान्य धर्म के दस लक्षण हैं।

धर्म के इन लक्षणों को कसौटी मानकर यदि विभिन्न धर्मों के आचार्यों की परीक्षा की जाय तो कितने खरे उत्तरेंगे ?

वस्तुतः ये लक्षण नीतिमूलक हैं; इसलिए इन लक्षणों का विरोध कोई धर्म नहीं करता। मतभेद और झगड़ा तब होता है जब लोग नीति का त्याग कर धर्मोन्माद में आकर अपने धर्म को श्रेष्ठ और अन्य धर्मों को हेय मानने लगते हैं। इस सम्बन्ध में नीति यह कहती है कि जिसका जो धर्म है, यदि वह उसके अनुशासन में रहकर धर्माचरण करता है तो उसी से उसका कल्याण होगा, अम्युदय होगा, वह निःश्रेयस् प्राप्त करेगा। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन, यहूदी आदि यदि इस नीति पर चलें कि हमारा किसी धर्म से कोई विरोध नहीं है, वे सब धर्मों का आदर करें तो सभी धार्मिक झगड़े अपने आप समाप्त हो जायें। कुछ लोग इन झगड़ों को मिटाने के लिए यह कहते हैं कि सभी धर्म भगवान् के पास पहुँचने के अलग-अलग

रास्ते हैं। किन्तु नीति यह है कि यदि आप एक रास्ते अर्थात् जिस धर्म में आस्था है उसपर चलेंगे तभी गन्तव्य स्थान तक पहुँच सकते हैं, इसके विपरीत अनेक रास्तों से पहुँचना चाहेंगे तो कभी नहीं पहुँच पाएँगे।

आज के धार्मिक मतभेदों को देखकर बुद्धिवादी विचारक मानवधर्म की कल्पना करने लगे हैं और नैतिक मूल्यों—दया, प्रेम, अहिंसा, सहिष्णुता आदि पर बल दे रहे हैं। हमारे उपनिषद् भी कहते हैं—‘नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्’ इस विश्व में मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। सबका, सभी धर्मों का उद्देश्य मानव-कल्याण है। गीता और उपनिषद् को सभी धर्मावलम्बी यदि आदर की दृष्टि से देखते हैं तो उसका कारण यही है कि उनमें उच्च मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा की गयी है। उनके विचार संकुचित न होकर व्यापक हैं। विश्वकल्याण, मानव-उन्नति ही उनका उद्देश्य है। ईश्वरप्राप्ति का तात्पर्य ही सबमें अद्वैत बुद्धि रखना है।

कुछ लोग धर्म का सर्वथा परित्याग कर केवल नैतिकता-वादी बनते हैं किन्तु यह अतिवादी दृष्टिकोण है। नीति और धर्म दोनों को साथ लेकर चलना है। हाँ, यदि नैतिक मार्ग में धर्म किसी अंश में बाधक बनता है तो उसे संकुचित अवश्य किया जा सकता है, पर छोड़ा नहीं जा सकता।

अतः अपने-आपमें कोई धर्म बुरा नहीं है, उनके आचार्यों का यही लक्ष्य था कि धर्म के द्वारा मानव निःश्रेयस् प्राप्त करे। किन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति इसलिए नहीं हो रही है कि न्यायनीति का धार्मिकों ने परित्याग कर दिया है। यदि हम नैतिकता को साथ लेकर धर्माचरण करेंगे तो निश्चित रूप से लक्ष्य प्राप्त करेंगे और कोई धर्म कभी विकृत आकार नहीं ग्रहण कर पाएगा।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है, इसकी संस्कृति में ही अनेकता में एकता विद्यमान है। यह सिद्धान्त विभिन्न धर्मों के अन्तर्गत भी लक्षित होता है। सहअस्तित्व के आधार पर हम इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दे सकते हैं। इसी में देश और धर्म दोनों का कल्याण है।

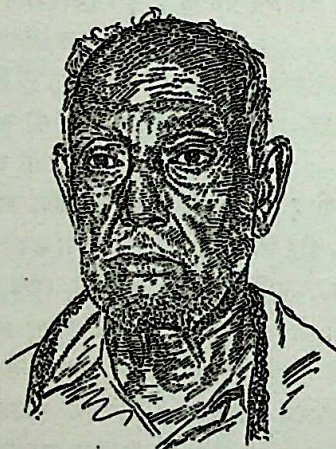
काशी में मृत्यु और मुक्ति

— महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

[इस लेख के विद्वान् लेखक स्व० कविराजजी भारतीय संस्कृति और साधना तथा योग-तन्त्रविज्ञान के सिद्धान्तवेत्ता ही नहीं बल्कि उच्चकोटि के साधक भी थे। आपने शब्द-प्रामाण्य का संकेत कर योगानुभूति के द्वारा प्रमाणित किया है कि काशी में मरने से मुक्ति मिलती है। 'मुमुक्षु' के दिसम्बर अंक में श्री स्वात्माराम ने 'ऋते ज्ञानाप्तमुक्तिः' लेख में अपने पक्ष-समर्थन के लिए श्री कविराजजी का नामोल्लेख किया था। अतः इस लेख द्वारा पाठक अवगत होंगे कि इस सम्बन्ध में कविराजजी की क्या धारणा है।—संपादक]

हिन्दू शास्त्रों में तीर्थों के माहात्म्य-प्रसंग में अनेक स्थानों पर कर्मतीर्थ और ज्ञानतीर्थ के नाम से दो प्रकार के तीर्थों का वर्णन मिलता है। कर्मतीर्थ क्षेत्र की विशेषता के कारण धर्म या पुण्य-संस्कारों को उत्पन्न कर स्वर्गादि सुखमय अवस्था की प्राप्ति कराते हैं। परन्तु यदि ज्ञानतीर्थों का विधिपूर्वक सेवन किया जाय तो उससे क्रमशः ज्ञान-संस्कार संचित होते हैं और अन्त में पूर्ण ज्ञान का विकास होकर मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए ज्ञानतीर्थों को मोक्षदायक तीर्थ कहा गया है और इसीलिए शास्त्रों में अयोध्या, मथुरा, माया आदि नगरियों को प्राचीन काल में मोक्षदायिनी बतलाया गया है। परन्तु दूसरे-दूसरे मुक्ति-स्थानों की अपेक्षा काशी की कुछ विशेषताएँ हैं, क्योंकि अन्यान्य ज्ञान-भूमियों में जीवन-धारण करने से अर्थात् उन स्थानों पर निवास करने से ही स्थान-माहात्म्य के कारण ज्ञान का उदय होता है, परन्तु काशी में निवास से नहीं, अपितु देहत्याग से ही मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

कुछ लोग ऐसा सोच करते हैं कि "किसी स्थान-विशेष में मृत्यु होने से ही मुक्ति हो जायगी, ऐसा मानना सर्वथा युक्ति-विरुद्ध है। काशी-मरण के सम्बन्ध में शास्त्रों में जो प्रशंसा-सूचक वाक्य हैं, वे अर्थवादमात्र हैं, यानी लोगों को



लेखक

आकर्षित करने के लिए बढ़ाकर कहे गये हैं। यदि काशी में मरने से ही मुक्ति हो जाय तो फिर कृत कर्मों का फल-भोग नहीं हो सकता और यदि कर्मों का फल न मिलेगा तो सृष्टि में नाना प्रकार की विषमता उत्पन्न हो जायगी तथा पापी और पुण्यात्मा अपने-अपने कर्मों के अनुसार फल न भोगें और दोनों को समान गति मिल जाय, यह भी अनुचित मालूम होता है। इसके सिवा आत्मज्ञान हुए बिना मुक्ति भी कैसे हो सकती है? ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती, यह ऋषियों का चरम और अभ्रान्त-सिद्धान्त है। यह भी समझ में नहीं आता कि पापी और पुण्यात्मा दोनों ही काशी में मरते ही अपने पाप और पुण्य के संस्कारों से छूटकर तत्त्वज्ञान की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं और कर्मों का क्षय हुए बिना ज्ञान का उदय भी कैसे हो सकता है? आदि-आदि।"

जिनके मन में इस प्रकार के सन्देह पैदा होते हैं, उनको यह समझना चाहिए कि स्थान-माहात्म्य का निरूपण युक्तियों से नहीं हो सकता। बाह्य अथवा पौंच-भौतिक दृष्टि से काशी तथा अन्य पार्थिव स्थानों में कोई लौकिक भेद नहीं दिखाई पड़ता। काशी में कोई अलौकिक विशेषता है या नहीं, इसका निर्णय किसी शक्ति-सम्पन्न पुरुष के अनुभव के द्वारा ही हो सकता है। कार्य के द्वारा ही शक्ति का

अनुमान होता है, क्योंकि अतीन्द्रिय शक्ति साधारण मनुष्यों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अग्नि की दाहिका शक्ति साधारण दृष्टि से नहीं देखी जा सकती। साधारण मनुष्य तो दहनादि कार्यों को देखकर ही उसके अस्तित्व का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार काशी में ऐसी कोई विशेषता है या नहीं, जिसके प्रभाव से जीव ज्ञानवान् होकर मुक्ति-लाभ कर सकता है—इस तत्त्व की यथार्थ उपलब्धि करने के लिए उसका कुछ स्थूल परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। ऐसा किये बिना इस प्रकार के माहात्म्य का अनुमान करना भी सम्भव नहीं है।

मृत्यु के समय प्रत्येक मनुष्य का सूक्ष्म (लिंग) शरीर स्थूल शरीर से अलग होकर अपने कर्म-संस्कारों के अनुसार गति प्राप्त करता है। जब तक स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर अलग नहीं होता तब तक यह गति आरम्भ नहीं होती। अर्थात् मृत्यु के बाद ही सूक्ष्म शरीर में गति दिखलाई पड़ती है। इस गति की विचित्रता कर्मवैविध्य के अनुसार ही होती है। ऊर्ध्वगति, अधोगति तथा तिर्यग्गति और प्रत्येक गति के अर्थव्यो अवान्तर भेद अनन्त प्रकार के जटिल कर्म-संस्कारों के कारण हो हुआ करते हैं। परन्तु काशी-क्षेत्र में जब मृत्यु के समय वह लिंग-ज्योति अर्थात् सूक्ष्म शरीर स्थूल या अन्नमय कोष से पृथक् होता है तब वह अपने को एक तीव्र ऊर्ध्वगामी आकर्षण के मध्य देखता है और इस आकर्षण के प्रभाव से वह लिंग-देह सूक्ष्म शरीर अर्थात् क्रमशः ऊर्ध्वगामी होता है। काशी के सिवा अन्यान्य स्थानों में मृत्युकाल में लिंग की ऐसी गति नहीं होती। अवश्य ही जिनको ज्ञान हो गया है, उनकी मृत्यु कहीं भी क्यों न हो, उनका लिंग-शरीर ज्ञान के प्रभाव से स्वभावतः ही ऊर्ध्वगामी होता है। यह क्रम-मुक्ति के अनुसार उत्क्रमण की व्यवस्था है।

अब प्रश्न होता है कि काशी-क्षेत्र में शरीर छोड़ने पर साधारण मनुष्यों की अर्थात् अज्ञानी जीवों की भी इसी प्रकार ऊर्ध्वगति होती है या नहीं? जब इसका साक्षात् अनुभव, जिनकी मृत्यु हो गयी है उन्हें छोड़कर, दूसरों के लिए असम्भव है तब जोवित मनुष्य इस सम्बन्ध में किसी स्थिर सिद्धान्त पर कैसे पहुँच सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि योगियों एवं योगाभ्यासियों के लिए इस संशय को दूर करना कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है। कारण, पके हुए फल के डाल से टूट कर भूमि पर गिर

पड़ने की भाँति जैसे प्रारब्ध कर्म का भोग पूरा होने पर सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से अलग हो जाता है, ठीक वैसे ही योगलब्ध बल से सम्पन्न पुरुष जीवन-काल में अपने इच्छानुसार योगशास्त्रोक्त कौशल के द्वारा अन्नमय कोष से लिंग (सूक्ष्म देह) को पृथक् करके बाहर निकाल सकते हैं। इस प्रकार योगी जब अभ्यास के समय लिंग-शरीर को स्थूल शरीर के सम्बन्ध से कुछ अंश में मुक्त करके बाहर ले आता है तब उसी क्षण वह बाह्य जगत् के विचित्र आकर्षण का अनुभव करता है। कहना नहीं होगा कि इस आकर्षण से ही लिंग (शरीर) की भिन्न-भिन्न प्रकार की गतियों का आरम्भ हुआ करता है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह आकर्षण और तज्जनित गति लिंग-निहित कर्म-संस्कारों का फल है। यदि यह देखा जाय कि किसी स्थान-विशेष में अभ्यासकाल में लिंग-शरीर अन्नमय कोष से पृथक् होने के साथ ही किसी अचिन्त्य शक्ति के आकर्षण से ऊर्ध्वगामी होता है, यहाँ तक कि उसके विचित्र कर्म-संस्कार भी उसे खींचकर नीचे की ओर नहीं ला सकते तो यह समझना होगा कि यह स्थान-माहात्म्य का ही फल है। अनुभूति-सम्पन्न योगियों को काशी में इस प्रकार की अचिन्त्य विशेष की उपलब्धि हुआ करती है। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर योगबल से देह-त्याग करने पर जिस प्रकार लिंग-शरीर की ऊर्ध्वगति होती है, उसी प्रकार काशी में भी मृत्युकाल में लिंग पृथक् होने के साथ ही ऊर्ध्वगति प्राप्त हुआ करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऊर्ध्वगति ज्ञान के बिना नहीं हो सकती, इसलिए अज्ञानावृत, पापी अथवा पुण्यवान् कोई किसी प्रकार के भी कर्मबाला हो, इस ज्ञान-क्षेत्र में देह त्यागने के साथ ही ज्ञान प्राप्त कर ऊर्ध्वगति पाता है। शास्त्रों में लिखा है कि काशी पृथिवी के अन्तर्गत नहीं है। इसका असली तात्पर्य यह है कि दूसरे-दूसरे स्थानों में जैसे पार्थिव आकर्षण या मध्याकर्षण स्थूल देह से पृथक् हुए लिंग को नीचे की ओर खींचते हैं, काशी में ठीक इसके विपरीत ऊर्ध्व आकर्षण लिंग को ऊर्ध्व की ओर आकर्षित करता है। स्थूल देह का सम्बन्ध टूटने के साथ-ही-साथ ऐसा दीखने लगता है। जिस प्रकार अघःआकर्षण अज्ञान का कार्य है, उसी प्रकार ऊर्ध्वआकर्षण ज्ञान कार्य है। काशी-मृत्यु से लिंग-देह एक प्रकार की ऊर्ध्वगतिशील अवस्था को प्राप्त होती है, इसीलिए काशी की श्रेष्ठ ज्ञान-

क्षेत्र के रूप में पूजा होती है तथा शास्त्रों में 'मरणं यत्र मंगलम्' कहकर काशी-मृत्यु की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है।

काशी का ऐसा माहात्म्य या वैशिष्ट्य है या नहीं—इसका निर्णय केवल अनुभव के द्वारा ही किया जा सकता है, युक्तियों द्वारा नहीं। ऋषियों के इस प्रकार के अनुभव के बल पर ही शास्त्रकार काशी की महिमा का प्रचार कर गये हैं। अब भी समर्थ योगी अपने जीवन-काल में ही इस प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं। यह ज्ञान-प्राप्ति साक्षात् कृपा का फल होने के कारण इसके साथ कर्मों का कोई विरोध नहीं रह सकता। कहना नहीं होगा कि ज्ञानस्वरूप श्री भगवान् की कृपा के बिना कभी ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। कर्मक्षय होने से ही ज्ञान का उदय होता है—यह प्रकृत सिद्धान्त नहीं है। वस्तुतः साक्षात् या अपरोक्ष ज्ञान का आविर्भाव होते ही हृदय-ग्रन्थि का भेदन होकर समस्त संशयों का भंजन एवं कर्मों का क्षय हो जाता है। अतएव काशी-मृत्युरूप सौभाग्य 'को प्राप्त करना अथवा आत्मज्ञान का उदय होना, दोनों ही भगवान् की कृपा से होते हैं। दार्शनिकगण जानते हैं कि Justice (न्याय) और Mercy (दया) में कोई वास्तविक विरोध नहीं है।

Merey (दया) से Justice (न्याय) की पूर्णता होती है—Love is the fulfilment of Law (प्रेम न्याय का पूरक है)—इस वाक्य के द्वारा ईसा के उपासकों ने भी इसी बात की घोषणा की है। जिस कृपा के द्वारा काशी-मृत्यु प्राप्त होती है, उसके साथ कर्मों का विरोध न रहने का कारण यह है कि काशी-मृत्यु द्वारा तारक ज्ञान का उदय न होने से अधःआकर्षण और गर्भवास यन्त्रणा निवृत्त हो जाती है, पर कृत कर्मों का फल चाहे वह सुख हो या दुःख ही हो—ऊर्ध्वलोक में भोगना पड़ता है। अवश्य ही जानोदय होने के कारण नये कर्म नहीं होते और पुराने कृत कर्म क्रमशः सुख और दुःख-रूप फल-भोग के द्वारा क्षीण हो जाते हैं। पर ज्ञान पूर्णता को प्राप्त करता है और जीव परमा मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। अतएव काशी में मृत्यु होने पर भी पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख भोग करना ही पड़ता है। तब किसी प्रकार के वैषम्य अथवा अन्याय का कारण नहीं रह जाता। परन्तु देवादिदेव महादेव की कृपा से स्थान-माहात्म्य के कारण ज्ञान का उदय हो जाता है, इसलिए मुक्ति प्राप्त करने में भी कोई बाधा नहीं आती। यह ज्ञानाग्नि संचित कर्मों को निःशेष रूप से जला डालती है।

विराट् क्षमा

मानव, यह विराट् विश्व अपने कोटि-कोटि हाथों से तुम्हें प्रतिदिन, प्रतिक्षण अयाचित क्षमा बाँट रहा है। तुम चलते हो, तो तुम्हारे पग सन्ताप बिखेरते हैं; तुम सोचते हो, तो तुम्हारे विचार विकार बरसाते हैं। फिर भी यह प्रकृति, प्रकृति का वह परमेश्वर तुम्हें प्रतिपल क्षमा करता जाता है।

केवल मनोरंजन के लिए तुम्हारी बन्दूक के शिकार ये मूक पक्षी, सुख और सौन्दर्य के लिए तुम्हारे द्वारा मर्दित ये अबोध कलियाँ, ये निर्विकार फल और तुम्हारी उन्मत्त केलिक्रीड़ा से आक्रान्त-उत्पीड़ित यह सरल-शान्त सरोवर—सब तुम्हें निर्वेद भाव से क्षमा करते जा रहे हैं।

मिट्टी को अग्नि में पकाकर तुमने अपने लिए ईंटें बनायीं। प्रकाश को दीपक में बन्दी बनाकर तुमने अपना मार्ग प्रकाशित किया। परम निःसंग माणिक्य को तिल-तिल तराश कर तुमने अँगूठी में जड़ा। किन्तु इनमें से किसी ने तुम्हें शाप नहीं दिया, सदैव क्षमा ही किया है! क्या तुम्हें इनसे कभी प्रेरणा नहीं मिलती?

—हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय

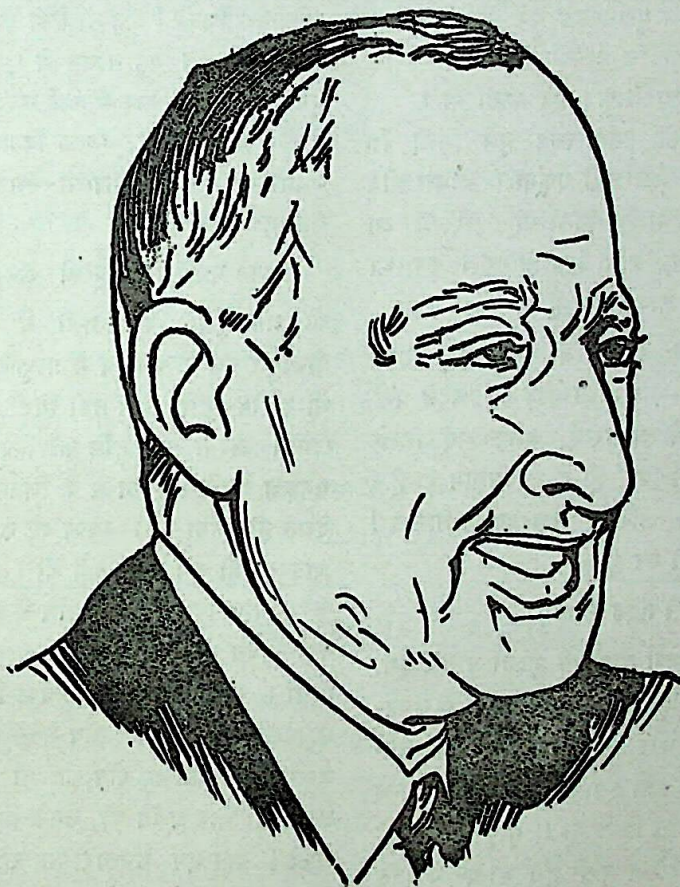


निर्माण-निष्ठा के प्रतीक—श्री ब्रजमोहन बिरला

— श्री रतनलाल जोशी

ब्रजमोहनजी बिरला—जिन्हें प्रेमादर भाव से हम लोग 'बी. एम. बाबू' कहते थे—अपने देहबद्ध जीवन की कीर्ति-कथा समाप्त कर मोक्षमन्त जीवन का पुण्य पर्व मनाने के लिए परम गन्तव्य को चले गये हैं। कुछ दिनों से वह बीमार थे, किन्तु हमें विश्वास था कि उनकी जीवनी-शक्ति इस बार भी उनके देहदुर्ग को अक्षत रखने में सफल होगी। वैसे, जीवन और मृत्यु का भेद कुछ दिन से उनके मानस से तिरोहित हो चुका था। पिछली सेंट में गांधी जी पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था—“गांधीजी स्वर्गारोहण का मन बना चुके थे। वे घरती से अन्यत्र अपना घर खोजने लगे थे। ‘रहणां नहि देस बिरानो है’ की अनुभूति उनके मुख से

कितना कड़वा है, क्यों नहीं कहीं चलकर मीठे सुख-स्रोत के किनारे बैठा जाय? हमारी पीढ़ी के लोगों को ऐसी अनुभूतियाँ आ घरती हैं। लगता है कि सराय में टिके हुए हैं, यह तो घर नहीं है।”



बी. एम. बाबू—जैसे पराक्रमप्राण, आशावाद के मूर्ति-मन्त मनोषी से विरक्ति और दार्शनिक अवसाद में होते ऐसे शब्द पहले कभी नहीं सुने थे। अघ्यात्म की गुत्थियाँ सुलझाने एवं जीवन-मृत्यु के पचड़े में पड़ने की उनकी आदत नहीं थी। उनके लिए अतीत मात्र व्यतीत और भविष्य मात्र भावना से ज्यादा कुछ नहीं था। वर्तमान को ही वे साक्षात् सत्य मानते थे। कहते भी थे—‘हम तो नकद के हामी हैं—धर्म हो या

प्रायः व्यक्त हो जाया करती थी। वास्तव में, हर प्रबुद्ध व्यक्ति जीवनयात्रा के पड़ाव-विशेष पर रुककर सोचने लगता है कि क्या इससे भी श्रेयस्कर कहीं और कुछ है? तृप्ति और भी मधुर कहीं मिल सकती है? घरती का सुख

सच्चाई। मैं तो नई पीढ़ी से यही कहता हूँ कि तुम्हें इतना बड़ा वर्तमान मिला है तो इसे ‘कैश’ करो, भूत के प्रेतों और भविष्य की परियों में इसे क्यों चौपट करते हो।’
बी. एम. बाबू से मेरी पहली सेंट जुलाई १९६३ में

हुई। सुबह ९ बजे उनका फोन आया—‘आज रात को जीमण पर आ जाइए। कुछ और भी मित्र आयेंगे। बात होगी।’ उससे पहले मैं उनको चार-पाँच वाणिज्य-संस्थानों में भाषण करते देख चुका था। उनके व्यक्तित्व से औरों की तरह मैं भी प्रभावित था। अन्तश्चेतना और स्फूर्ति का उनके भीतर बड़ा सजीव समन्वय था। बोलते थे तो लगता था कोई प्रेरित निमित्त बोल रहा है। वाणी की तरह चाल-ढाल में भी वेग और उत्साह स्पष्ट झलकता था। निराशा, पश्चात्ताप, निन्दा-शिकायत, मलाल उन्हें कभी छू भी नहीं सके थे। उनके उन्नत ललाट, सीधी नाक, मुसकराते ओठों से उद्दीप्तमुखमण्डल पर आशा-विश्वास की ऐसी आभा झलकती थी कि सम्पर्क में आनेवाले व्यक्ति को सारी मानसिक म्लानता काफूर हो जाती थी।

प्रथम मेट में ही उनका इतना स्नेह मुझे मिला कि उनके सौजन्य को मैं कभी भूल नहीं सकूँगा। बीमार होने से कुछ दिन पहले उनका सन्देश मिला था—‘दिल्ली आ रहा हूँ, जीमण पर आइएगा, बहुत दिन हो गये। स्वास्थ्य का ध्यान रखिए, अभी तो आप जवान हैं।’

मगर दिल्ली आने के बजाय वी. एम. बाबू किसी दूरस्थ दिल्ली को चले गये—सराय को छोड़ वह ‘अपने घर’ पहुँच गये। देह के भाग्य में तो सराएँ, धर्मशालाएँ लिखी हैं, मगर आत्मा की गति तो ‘घर’ ही है, परमघाम ही है। एक खिन्न-मुख है, दूसरा अखिन्न सुख-अखण्ड-आनन्द ! जहाँ पूर्ण सुख मिले वही तो घर है—

‘यत्र सुखेन वर्तते तदेव स्थानम्’

भावना, विचार और कर्म तीनों ही मूल्यों में बी. एम. बाबू जन्मजात नेता थे। पितृवंश से उन्हें विरासत में उच्च-कोटि के संस्कार मिले थे और अपने पुरुषार्थ एवं तप-त्यागपूर्ण जीवनयापन से उन्होंने इस बीजारोपण को सुगन्ध के उपवन में पल्लवित-पुष्पित किया था। मृत्यु विकृति को ले जाती है, सुकृति को अमर कर जाती है। मन्दिर में मूर्ति के सामने आरती का कपूर जलता है, देवता की छवि निखर उठती है, आरती सम्पन्न होती है, कपूर राख हो जाता है, किन्तु उसकी सुगन्ध जीवन्त रहती है। कीर्तिमान् ही धन्य है— घनि सोई जग कीरति जासू

फूल मरै पै मरै न बासू।—जायसी

वाणिज्य-उद्योग के क्षेत्र में ब्रजमोहनजी को अपूर्व

सफलता मिली। यह उनके जीवन की महती सार्थकता है, क्योंकि उनके पुरुषार्थ के वृत्त पर यह उनकी देशभक्ति का पुष्प है। बिरला-बन्धुओं ने देश की स्वातन्त्र्य-प्राप्ति एवं औद्योगिक नवनिर्माण में जो अप्रतिम योगदान किया उसमें ब्रजमोहनजी ज्वलन्त कर्मस्फूर्ति के प्रतीक हैं। चतुरानन ब्रह्मा के वे भी एक आनन हैं। व्यापार के लिए उनका व्यापार-वाणिज्य नहीं था, राष्ट्र की समृद्धि का ध्येय कभी उनके मन से ओझल नहीं हुआ। अर्थशक्ति के बिना वे राज्य-शक्ति को पंगु मानते थे। मुनाफे के मोह पर टिप्पणी करते हुए एक बार उन्होंने कहा था—‘मुनाफे के लिए व्यापार-वाणिज्य ! यह तो ऐसी ही बात हो गयी कि भोजन के लिए जीना। यह भोजन ही एक दिन जहूर हो जाएगा। मुनाफा भी अपने-आप में कोई लक्ष्य है ? नदी में पानी भरा है तो पेड़ों को सींचो, प्याऊ बिठाओ, महादेव को चढ़ाओ, प्यासों की प्यास बुझाओ—भरा ही रहा तो षड़ा सड़ जायेगा।’

अपने पराक्रम-प्रवाह की अनगिनती नहरें उन्होंने देश की अनेकमुखी विपन्नताओं में उँडेलकर सम्पन्नता के बीजांकुर देश के कर्मक्षेत्र में प्रस्फुटित किये—विदेशों में जो भी उद्योग-प्रवृत्ति उन्हें नयी मिली, उसे वे यथाशक्ति देश में लाये। अपनी मातृभूमि को विश्व के समुन्नत राष्ट्रों के समकक्ष देखने के स्वप्न से वे जितने आह्लादित होते थे, वह देखते ही बनता था। स्वप्न को कर्म में उतारने की उनकी आतुरता भी कम प्रबल नहीं थी। उन्होंने करोड़ों रुपये देश के सर्वांगीण विकास, पुनर्निर्माण में उँडेले, हजारों संस्थाओं में नया जीवन सींचा और सैकड़ों जनसेवा-प्रतिष्ठानों का निर्माण किया। गांधी जी उन्हें ‘मर्चेण्ट प्रिंस’ कहते थे। उनकी सहायता-परोपकार का कोष सबके लिए खुला रहता था। जरूरत राजनीतिक क्षेत्र की हो या सामाजिक क्षेत्र की अथवा वैयक्तिक प्रसंग की, उनके यहाँ से पूरी हुए बिना नहीं लौटी। दान एवं उपकार गुप्त रहे। यह उनके शील की विशेषता थी। वे यश के पीछे कभी नहीं भागे। यश-अर्जन उनके लिए सही कृतार्थता नहीं थी। जो वचन दे दिया, उसे पूरा करते और जो कर दिया उसे कहते नहीं थे।

हैं बिरले नर या जग में,

जो कहें सो करें,

जो करें सो कहें ना। —गवाल कवि

बी. एम. बाबू की जीवन-दृष्टि का राजनीतिक क्षितिज जितना विस्तृत था, उतना ही गहरा भी। लोकतन्त्र के वे एकनिष्ठ उपासक थे और उसे 'राम राज्य' के अवतरण में विकसित देखने के लिए उत्सुक रहते थे, किन्तु जौहरी भी वे अटल थे, अपने ढंग के अकेले थे। हर मूल्य को देशकाल की आवश्यकता पर तोलते थे। नये-पुराने के मोह को उन्होंने निकट नहीं आने दिया। वे स्वभाव से गतिधर्मा थे। 'चरैवेति' उनका मूल मन्त्र था और यही अपने समाज एवं नयी पीढ़ी को उनका गुरुमन्त्र भी।

वे एक अविभक्त-अखण्ड, सम्पूर्ण व्यक्ति थे, टुकड़ों में बँटे हुए नहीं। इसलिए उनकी कर्तृत्व-शक्ति भी एकप्राणता

की हमी रही—चाहे व्यक्ति का प्रसंग हो या समाज का। समाजवाद की कर्मशक्ति के वे कायल थे, किन्तु उसके वर्गभेद के आग्रह को वे विकास के मार्ग की बाधा मानते थे। विभक्तियाँ उन्हें पसन्द नहीं थीं। जगत् एवं जीवन में विभक्तियाँ स्वाभाविक हैं, किन्तु किसी महान्, सर्वकल्याणकारी लक्ष्य के लिए उन्हें एकसूत्र में बाँधा जाना चाहिए— गांधी जी की इस सिद्धि को वे देश का सबसे बड़ा सौभाग्य मानते थे। मातृभूमि का समृद्धिगौरव उनके जीवन की अविभक्त साधना रही, उनकी कामना रही कि पीछ-पराक्रम के कोटि-कोटि पुष्पों से 'स्वर्गादिपि गरीयसी जननी जन्मभूमि' का शृंगार हो।

सूक्तियाँ

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥
सब का शिव ही हो सदा, सभी रहें नीरोग ।
कोई दुख भोगे नहीं, सुखी रहें सब लोग ॥

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥
कुल पुराण में व्यास के, दो वचनों की छाप ।
परम पुण्य उपकार है, पर-पीड़न अति पाप ॥

काव्य-शास्त्र-विनोदेन कालो गच्छति बीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥
काव्य-शास्त्र चिन्तन करें, सदा जनीबी लोग ।
व्यसन, नींद अरु कलह नित, तीन मूर्ख के रोग ॥

— श्री मुरारीलाल केडिया

‘मुमुक्षु’ का यज्ञ-विशेषांक

काशी मुमुक्षु भवन सभा ने अपने मुख्य परिसर में शास्त्रीय विधि से एक यज्ञ-मण्डप का निर्माण कराया है जिसके चारो ओर चारो वेदों की मूर्तियाँ स्थापित की गयी हैं। इसके उद्घाटन के उपलक्ष्य में ‘मुमुक्षु’ का लगभग १६० पृष्ठों का एक सचित्र विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है।

जिसमें

‘यज्ञ’ की व्युत्पत्ति, परिभाषा, प्रकार, उनके दृष्ट और अदृष्ट फल तथा विधियों का विस्तारपूर्वक विवेचन होगा। ऋत्विजों, वैदिक आचार्यों तथा इस विषय में रुचि रखनेवालों के लिए यह विशेषांक विशेष रूप से संग्रहणीय होगा।

इन विषयों के अधिकारी विद्वानों के लेख तथा सुझाव सादर आमन्त्रित हैं।

— सम्पादक, ‘मुमुक्षु’

काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी-५

एक ब्राह्मण था। वह बहुत ही गरीब था। जंगल से लकड़ी काटकर लाता और उसे शहर में बेचकर अपना गुजर-बसर किया करता। ज्यों-ज्यों ब्राह्मण की उमर बढ़ी होती गयी, उसकी शारीरिक शक्ति भी क्षीण होती गयी। फलस्वरूप उसका लकड़ियों का गट्टा पहले से थोड़ा छोटा होता गया। अतः ब्राह्मण को पेट-भराई जितना भी पैसा नहीं मिलता था। एक दिन वह जंगल में गया और लकड़ी काटकर लाने लगा तो उससे लकड़ियों का गट्टा उठा नहीं, क्योंकि वह बहुत दुर्बल हो गया था। इसलिए वह वहीं बैठ गया और निराश होकर बोला कि इस जीवन से तो मौत ही अच्छी !

संयोग की बात कि इतने में ही उसे एक सिंह दिखाई दिया। सिंह को देखते ही ब्राह्मण के होश उड़ गये। वह थर-थर कांपने लगा। आदमी यों कहने को तो कह देता है कि ऐसे जीने से तो मरना ही अच्छा, लेकिन जब सचमुच ही मरण-घड़ी आती है तब वह बहुत छटपटाता है। मरना कोई नहीं चाहता। आदमी हर हालत में जिन्दा ही रहना चाहता है। ब्राह्मण का भी वही हाल हुआ, लेकिन उसने अपने मन में सोचा कि मौत मांगी थी और मौत आ ही गयी, तो अब डरने से भी क्या होगा, युक्ति से काम लेना चाहिए। ऐसा सोचकर उसने दोनों हाथ ऊँचे करके कहा, “जजमान की जय हो !”

सिंह ने पूछा, “क्यों, क्या बात है ? कौन हो तुम ?”

ब्राह्मण ने कहा, “मैं तुम्हारा गृह-पुरोहित हूँ और तुम हो मेरे जजमान। तुम्हें आशीर्वाद देने आया हूँ और साथ ही दान-दक्षिणा लेने।”

सिंह ने कहा, “दान-दक्षिणा देने को मेरे पास और तो कुछ है नहीं, लेकिन मैं इतना कर सकता हूँ कि तुम अपनी लकड़ियों का गट्टा मेरी पीठ पर लादकर शहर तक ले जा सकते हो।”

ब्राह्मण को इससे अधिक क्या चाहिए था ! उसने तो दूसरे ही दिन से दुगुनी-तिगुनी लकड़ियाँ इकट्ठी करनी शुरू कर दीं और उनको सिंह की पीठ पर लादकर शहर ले जाने

लगा। लकड़ियाँ ज्यादा लाने के कारण ब्राह्मण को पैसे भी ज्यादा मिलने लगे। दोनों वक्त खाने के लिए उसे पूरा और अच्छा भोजन मिलने लगा।

कई दिन बीत गये। ब्राह्मण को इस बात का भान भी नहीं रहा कि यह सिंह है। उसने तो सिंह को एक साधारण जीव ही मान लिया था और एक दिन ब्राह्मण ने सिंह को गाली देते हुए कहा, “इतने धीरे-धीरे क्या चल रहे हो, जल्दी क्यों नहीं चलते ?”

सिंह चुपचाप वहीं खड़ा रह गया और बोला, “हे ब्राह्मण देवता, तुम्हारे हाथ में यह कुल्हाड़ी है। मेरी गरदन पर कसकर इसकी एक चोट मारो।”

ब्राह्मण ने कहा, “क्यों, क्या बात है ?”

सिंह बोला, “बात कुछ नहीं, तुम वैसा करो, जैसा मैं कहता हूँ।”

ब्राह्मण ने सिंह की गरदन पर कुल्हाड़ी मारी और सिंह की गरदन पर एक बड़ा-सा घाव हो गया। कुछ दिन बीत गये तो सिंह ने पूछा, “ब्राह्मण, तुमने जहाँ मुझे कुल्हाड़ी मारी थी, वहाँ देखो, कोई घाव है क्या ?”

ब्राह्मण ने देखकर कहा, “घाव तो भर गया।”

तब सिंह ने कहा, “कुल्हाड़ी का घाव तो भर गया, लेकिन तुमने मुझे जो गाली दी थी, वह घाव नहीं भरा है।”

सच ही है, “तलवार का घाव भर जाता है पर बात का घाव नहीं भरता।”

“न प्ररोहति वाक्-सतः।”

सिंह ने फिर कहा, “देखो, आजतक मैंने तुम्हारी काफी सेवा कर दी है और ऐसा करके तुम्हारी चाही हुई दक्षिणा तुम्हें चुका दी है। अब आगे मुझसे किसी तरह की आशा मत रखना। लेकिन जाते-जाते तुम्हें एक नसीहत देता हूँ कि कभी किसी को दुर्वचन मत कहना। मेरी यह नसीहत पल्ले बाँधकर रखोगे, तो सुख पाओगे।”

ऐसा कहकर सिंह बोला, जा घर ब्राह्मण अपने, सिंह किसका जजमान !”

शरणागति

— स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती

(शेषांश)

शरणागति के रूप

ऐसी स्थिति में शरणागति का स्वरूप क्या होगा, यह विचार करके देखो। मधुसूदन सरस्वती ने 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' की टीका में शरणागति के तीन रूप बताये हैं। एक शरणागति तो यह होती है कि भगवान् कहीं परोक्ष बैठे हैं और मैं उनका हूँ। दूसरी शरणागति यह होती है कि भगवान् हमारे सामने हैं और मैं उनका हूँ। वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ। और, तीसरी शरणागति होती है— 'त्वमेवाऽहम्', जो तुम हो सो मैं हूँ और जो मैं हूँ, सो तुम हो।

शरणागति की महिमा

अब आप देखो भगवान् को शरणागति की महिमा। असल में भगवान् को यहाँ विभीषण की शरणागति की रक्षा करनी है। रामचन्द्र भगवान् कहते हैं कि मेरे जीवन का यह व्रत है, प्रतिज्ञा है कि जो केवल एक बार प्रपन्न होकर कह देता है कि मैं तुम्हारा हूँ, उसको मैं अभय कर देता हूँ—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।

अमयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥

यह 'एक बार' का जो शब्द है, रामचन्द्रजी को बहुत पसन्द है। बार-बार का शब्द पसन्द नहीं है। न वे दो बार निशाना लगाना पसन्द करते हैं, न दो बार किसी को बसाना पसन्द करते हैं और न दो बार किसी को देना पसन्द करते हैं। एक ही बार इतना दे देते हैं कि उसको बार-बार लेने के लिए आना न पड़े। उनको बार-बार बसाने की, बार-बार निशाना लगाने की जरूरत नहीं पड़ती! इसलिए केवल एक बार भगवान् की शरण में आ जाओ।



लेखक

भक्त लोग भी भगवान् को कह देते हैं कि प्रभो, मैं इस जन्म-जन्म से भवसागर में भटक रहा हूँ—न जाने कब से डूब-उतरा रहा हूँ। लेकिन आज आप मिल गये, तो इस भवसागर का किनारा मिल गया—

निमज्जतोऽनन्तमवार्णवान्तश्चिराय

मे कूलमिवाय लब्धम्।

त्वयापि लब्धं भगवन्निदानीम्

अनुत्तमम् पात्रमिदं दयायाः।

लेकिन आप ही मुझे मिले हैं—ऐसा नहीं है। आपको मैं भी मिला हूँ। अरे भाई, तुम मिले हो तो कौन-सी बड़ी बात हो गयी? तुममें ऐसी क्या विशेषता है कि तुम अपनी छाती ठोककर अपने मिलने की बात बोलते हो। भक्त कहता है कि तुमको भी मेरे रूप में बड़ी चीज मिली है, बेजोड़ चीज मिली है। वह यह कि मेरे जैसा दया का पात्र न तुमको कभी मिला है और न आगे मिलेगा। 'अनुत्तमम् पात्रमिदं दयायाः'—यह दया का अनुत्तम पात्र हूँ मैं।

शरणागति ऐसी चीज है, जो संकीर्ण दृष्टियों को खा जाती है। उसमें भगवान् शरणागत के सामने होते हैं, भगवान् के सिवाय दूसरी कोई वस्तु ही नहीं होती।

इसी प्रसंग में एक बात आपको बीरबल-अकबर की भी सुनाते हैं। बीरबल-अकबर आपस में एक-दूसरे के तर्कों का विरोध करते थे। इससे उनका तो मनोरंजन होता ही था, दूसरों का भी होता था। इसीलिए उनकी बातें अब भी प्रसिद्ध हैं। एक दिन अकबर ने कहा—बीरबल, मैं तुम्हारे ईश्वर से बड़ा हूँ। बीरबल ने हाथ जोड़कर कहा—

हाँ जहाँपनाह, आप हमारे ईश्वर से जरूर बड़े हैं। अकबर बोले कि बीरबल, तुम बहुत खुशामदी हो, चापलूस हो। मैं जो कह दूँ, उसी में तुम ही मैं ही मिला देते हो। बताओ, मैं तुम्हारे ईश्वर से कैसे बड़ा हूँ? बीरबल ने कहा कि जहाँपनाह, आप जिस पर नाराज होंगे, उसको अपने राज्य से निकाल देंगे, लेकिन ईश्वर किसी पर नाराज भी हो तो उसको अपने राज्य से नहीं निकाल सकता।

भगवान् का व्रत

अब भगवान् का जो अपने प्रतिज्ञा-वचन में व्रत का उल्लेख है, वह क्या है? भगवान् का व्रत वह होता है, जिसको जीवन में लाएँ। जो किया जाता है और जिसको छोड़ा नहीं जाता। भगवान् ने भी व्रत ले रखा है। उनमें यह नहीं है, कि यह अपना है और यह पराया है। उनमें न तो ग्रामवाद है, न जिलावाद है, न प्रान्तवाद है, और न राष्ट्रवाद है, उनका तो सम्पूर्ण विश्व ही अपना स्वरूप है। उनमें न पंछीवाद है, न पशुवाद है, और न मनुष्यवाद है। क्योंकि सब उनके स्वरूप हैं। उनमें मजहबवाद भी नहीं है। मजहबवाद तो व्यक्तियों की देन है। बौद्धों-जैनों के पश्चात् आचार्य-मूलक धर्मों की बहुत ज्यादा सृष्टि हुई। अन्यथा धर्म तो ज्ञानमूलक ही होता है, तत्त्वमूलक ही होता है। यह हमारा धर्म, यह तुम्हारा धर्म—इस प्रकार जब धर्म व्यक्तिवाद से आक्रान्त हो गया तब उसमें अनेक विकृतियाँ पैदा हो गयीं और उनके भिन्न-भिन्न प्रकार उत्पन्न हो गये। यह भौगोलिक भेद कि अमुक भारतीय है, और अमुक अमरातीय है, यह एक मजहब है, यह दूसरा मजहब है, परमात्मा में है ही नहीं।

इसलिए भगवान् की शरणागति किसी खास जाति के लिए नहीं है, सब जातियों के लोग भगवान् के शरणागत हो सकते हैं। इसी तरह यह किसी खास मजहब के लिए नहीं है, सब मजहब के लोग भगवान् की शरण में आ सकते हैं। भगवान् यह नहीं देखते कि यह किस मजहब को या किस आचार्य को माननेवाला है, यह किस जाति का है और क्या करके आया है। यह सब तो देखते ही नहीं हैं भगवान्। वे तो केवल यह देखते हैं कि देखो, यह मेरे पास आ गया है। इसलिए मनुष्य को 'सकृदेव प्रपन्नाय'—केवल एक बार भगवान् के सामने प्रपन्न हो जाना चाहिए।

देखो, गीता में भी प्रपन्न की चर्चा तो है ही—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' अर्जुन ने कहा कि

मैं प्रपन्न हूँ! अर्थात् तुम्हारा पाँव पकड़कर तुम्हारी शरण में आ गया हूँ। लेकिन यह कहने के बाद अर्जुन ने बाद में क्या कहा? यह कहा कि 'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तुष्णीं बभूव ह।' एक ओर तो बोलता है कि मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, प्रपन्न हूँ और दूसरी ओर बोलता है कि मुझे युद्ध में मत लगाओ। इसपर भगवान् हँसने लगे। उनकी हँसी का लक्ष्य यह था कि अर्जुन, तुम मेरे शिष्य भी हुए, प्रपन्न भी हुए, शरणागत भी हुए, लेकिन जिद तो तुम्हारी अपनी बनी हुई है कि मैं नहीं लड़ूँगा। अरे बाबा! जब तुम मेरे शरणागत हो गये, प्रपन्न हो गये तब मैं नहीं लड़ूँगा—यह अपना निश्चय कार्यान्वित क्यों करना चाहते हो।

देखो, एक बार किसी महात्मा को मैंने लिखा था कि मैं आपका सत्संग करने के लिए आना चाहता हूँ। उनका उत्तर आया कि, अबतक तुमने जो देखकर, सुनकर, सोचकर, समझकर, पढ़कर माना है और जो मान्यताएँ तुम्हारे दिल में घुस गयी हैं, वे यदि मेरे समझाने से गलत सिद्ध हो जाएँ तो उनको तुम छोड़ने के लिए तैयार हो कि नहीं? यदि तुम अपनी गलत मान्यताओं को छोड़ने के लिए तैयार हो तो मेरे पास आ जाओ, यहाँ रहो, सत्संग करो, अन्यथा यदि तुम्हें अपनी अविवेकपूर्ण मान्यताओं को मानते रहना है, तो मेरे पास आने से कोई लाभ नहीं है। पहले यह देखो कि अपनी गलत बात को छोड़ने की तुम्हारे अन्दर ताकत है कि नहीं? उनके त्याग का सामर्थ्य है कि नहीं?

तो, भगवान् के पास जाने के लिए, उनका शरणागत होने के लिए किसी जाति, किसी भूगोल, किसी मजहब या किसी खास प्रकार की रहनी का कोई फर्क नहीं उठता। श्रीधरस्वामी ने व्याख्या की कि 'भगवदर्थं कृतानि सर्वाण्यपि कर्माणि धर्म एवं भागवतो धर्मः'। इसका अर्थ है कि हम सम्पूर्ण विश्व के रूप में जो भगवान् हैं, उनके लिए यह कर रहे हैं। यह बात श्रीकृष्ण के जीवन में आती है। उन्होंने द्रौपदी की बटलोई या पतीली में लगा हुआ साग का एक टुकड़ा अपने मुँह में डाला और बोल उठे कि—'अनेन विश्वात्मा प्रीयताम्'—इसके द्वारा विश्वात्मा तुम हो।

तो, भगवान् की शरण में जाने का अर्थ है कि यह देह और जो देहमूलक सम्बन्ध है, मान्यताएँ हैं, उन सबको भगवान् के प्रति समर्पित कर देना, ऐसा है एक भाव।

अब दूसरा भाव है—‘तवास्मीति च याचते’। इसको व्याख्या हमारे वैष्णवाचार्यों ने की है। वाल्मीकि रामायण पर श्रीरामानुजाचार्य की टीका मिलती है। ‘तनिकश्लोकी’ उसका नाम है। गोविन्दराज का ‘भूषण’ है, ‘शिरोमणि’ है, ‘तिलक’ है। वेदान्तदेशिक ने तो, जो रामानुज-सम्प्रदाय के बड़े आचार्य हैं, रामायण पर बहुत लिखा है। उनको ‘श्रयजन्तगुरु’, वेदान्त-देशिक, वैकट, वैकटनाथ, कवितार्किक, कविशिरोमणि आदि नामों से भी बोलते हैं। उनकी व्याख्या के अनुसार यहाँ भगवान् केवल शरण शब्द का उच्चारण करने के लिए कहते हैं। अद्भुत है। केवल शरण शब्द मात्र का उच्चारण ही भगवान् को हमारे पास लाकर हमारी रक्षा के लिए विवश कर देता है।

तो, ‘तवास्मीति च याचते’ का अर्थ है—प्रभु से कहो कि मैं तुम्हारा हूँ। अभी तो आई मेरे, तुम कहते हो कि मैं धन का हूँ, पत्नी का हूँ, माता का हूँ, पुत्र का हूँ, नाना-नानी का हूँ, दादा-दादी का हूँ। जाति का हूँ, मजहब का हूँ। ये जितने भी मजहब हैं, उन्होंने धर्म के एक अंग का प्रतिपादन करने पर भी अपने को टुकड़ा-टुकड़ा कर दिया, परिच्छिन्न कर दिया। इसलिए उनमें विकृतियों का आना बिलकुल स्वाभाविक था। जब एक पूर्ण वस्तु अपने को किसी संकीर्ण क्षेत्र में आबद्ध कर देती है, तब उसमें विकृतियों का आना बिलकुल स्वाभाविक है। संकीर्णता के कारण आस-पास के लोग उस मजहब पर आक्रमण करते हैं और आक्रमण को रोकने के लिए, उसे विकार का रूप ग्रहण करना पड़ता है।

श्रीशंकराचार्य भगवान् ने एक स्तुति में कहा है—

सत्याभिभेदागमे नाथ तवाहम् न मामकीनस्त्वम् ।

सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रः ।

इस कथन को मधुसूदन सरस्वती ने द्वितीय शरणागति के उदाहरण रूप में लिया है। इसका अर्थ है कि मैं एक लहर हूँ और तुम समुद्र हो। मैं एक बूँद हूँ और तुम जल हो। मैं एक कण हूँ, तुम पृथिवी हो। मैं एक बिनगारी हूँ, तुम अग्नि हो। मैं एक छोटी-सी हवा की लहर हूँ और तुम सम्पूर्ण वायु हो। मैं घटाकाश के समान हूँ और तुम महाकाश हो। मैं तुम्हारा हूँ, तुम्हारे सिवाय और किसी दूसरे का नहीं हूँ।

श्रीरामानुजाचार्य ने कहा कि ‘अनन्यभोग्याम् भक्तिं प्रयच्छ’—तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई मेरा भोग न करे और मैं तुम्हारे सिवाय दूसरे किसी का भोग न करूँ। मैं

तुम्हारे काम आऊँ और तुमको हमेशा देखता रहूँ। तुम्हीं को सुनूँ, तुम्हीं को देखूँ, तुम्हीं को छूऊँ, तुम्हीं को सूँघूँ, तुम्हीं को चूँ। मेरा जीवन, सम्पूर्ण जीवन, तुम्हारे लिए हो जाए और तुम मुझे देखो। संसार में तुम्हारे सिवाय मुझे और कोई अपना भोग्य न बना सके। ‘तवास्मि; तवास्मि’। वल्लभ-सम्प्रदाय में तो ‘श्रीकृष्ण, तवास्मि’ ब्रह्म-सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया जाता है कि प्रभो, मैं तुम्हारा हूँ। हमारा अध्यात्मशास्त्र अथवा भक्तिशास्त्र मनुष्य के जीवन में सर्वदा निर्भयता की स्थापना करने के लिए है। सबको निर्भय होकर निर्द्वन्द्व होकर अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। हमको कर्तव्य से विमुख अथवा च्युत करनेवाला भय के अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है। अभय होने का उपाय यह है कि तुम दुनिया में निस्संग रहो। यदि किसी के होकर रहोगे तो, उसके छूटने पर तुम्हें भय होगा अथवा वह तुमसे छूटेगा तो तुमको भय होगा। यदि तुम ईश्वर के होकर रहोगे तो न तुमसे ईश्वर के छूटने का भय होगा और न उससे तुम्हारे छूटने का भय होगा। इतना मजबूत है ईश्वर का हाथ कि उससे तुम कभी गिर नहीं सकते। उसकी मुट्ठी से कभी बाहर नहीं जा सकते।

ईश्वर की शरणागति सर्वथा सबसे अभय करनेवाली है और सबको अभय करनेवाली है। चतुर्थी विभक्ति मानो तो सबसे अभय करनेवाली है और पंचमी विभक्ति मानो तो सबसे अभय करनेवाली है। यह भगवान् रामचन्द्रजी का व्रत है। एक बार कह दो कि तुम मेरे और मैं तुम्हारा। एक बार कह दो कि बस, तुम्हारा ही विश्वास है, तुम्हारा ही भरोसा है, तुम्हारी ही शरण है! इसी को कहते हैं शरणागति!

तो अभय भी परमात्मा से ही लेना चाहिए। क्योंकि वह रूप अभय है। राम अभय है, जनक अभय है, रघु अभय है, जिस सूर्यवंश में रामचन्द्र पैदा हुए हैं, वह सूर्य भी अभय है, कर्मयोगी है—‘स्वस्ति पंथामनुचरेम सूर्य-चन्द्रमसा इव’। कर्मयोगी के लिए निर्भयता आवश्यक होती है। उसका संसार में किसी के साथ सम्बन्ध हो जाए तो कर्मयोग में बाधा पड़ती है। वह सबसे असम्बद्ध होता है। किसी के साथ सम्बद्ध नहीं होता। तुम्हें परमात्मा की ओर, सत्य की ओर चलना है कि दुनिया की ओर चलना है। जब तुम ईश्वर की ओर देखते हुए चलोगे, तब संसार में कहीं किसी से भय नहीं होगा। ईश्वर के पास ही अभय है। इसलिए भगवान् राम अपने शरणागत को अभय प्रदान करते हैं।

मानस में भारतीय राजनीति

— पंडित श्री विश्वनाथ शास्त्री दातार

महाराज दशरथ चाहते थे कि मेरे जीते जी श्रीराम को युवराजत्व प्रदान कर दिया जाय—

मोहि अछत यह होइ उछाहू, लहहिं लोग सब कोचन लाहू

मोहि अछत का ध्वन्यार्थ

यहाँ जान पड़ता है कि गुरुजी ने कहा होगा कि राज्याभिषेक की इतनी जल्दी क्या पड़ी है, जब समय आएगा तब प्रस्ताव का अनुमोदन किया जायगा। क्योंकि इस समय भरत ननिहाल से आ नहीं पाये हैं। इसके उत्तर में राजा निवेदन करते हैं मोहि अछत—मेरे रहते अर्थात् मृत्यु सन्निकट है जैसा कि मुकुट के टेढ़ेपन और कैकेयी के दुःस्वप्न से राजा को ज्ञात हो चुका है। इसलिए वे चाहते हैं राज्याभिषेक मेरे सामने हो जाय जिसे देख कर प्रजा सुख का अनुभव करे।

प्रभु प्रसाद सिब सबइ निबाहीं, यह लालसा एक मनमाहीं

गुरु की कृपा के बिना कार्य निर्विघ्न नहीं होगा, इसका विवेचन आगे अरण्य काण्ड में किया गया है।

एक लालसा

यहाँ मुख्य अभिलाषा रामराज्याभिषेक है और उत्सव आदि विषय राजा की इच्छा के अधीन हैं। इसी को कवि ने ‘यह लालसा एक मनमाहीं’ शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। न्याय की भाषा में ‘एक लालसा’ का अर्थ है—फल की कामना से रहित इच्छा। (फलेच्छानधीन इच्छाविषयः)। मनु के दशरथ के रूप में पुनर्जन्म लेने के कारण उक्त लालसा की संगति बालकाण्ड में वर्णित मनु के प्रसंग से स्थिति स्पष्ट हो जाती है—

‘एक लालसा बड़ि उर माही,’ ‘चाहउँ तुम्हहि समान सुत,’ ‘मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना, मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना’ आदि।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि एक लालसा पूरी हो जाने पर राजा पुनः दूसरी अभिलाषा

प्रकट करें तो उसकी पूर्ति कहाँ तक की जाय ? इसके उत्तर में राजा कहते हैं—

पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ, जेहि न होइ पाछे पछिताऊ

राज्याधिकार का निर्णय

बस, एकमात्र यही मनोरथ आपके सामने रखता है। यदि यह अभिलाषा में घोषित न करूँ तो मृत्यु के समय मेरा अन्तःकरण उसी में भ्रमण करता रहेगा और मुक्ति में बाधक बनेगा। अभिलाषा की पूर्ति हो जाने पर चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष निर्बाध होगा। क्योंकि मृत्यु निकट है। इसलिए यदि इस समय जीते जी राम को युवराज बनाने की घोषणा नहीं करूँगा तो भविष्य में प्रजा सन्ताप का अनुभव करेगी। क्योंकि चार पुत्र हैं। राज्याधिकारी का निर्णय न करने पर प्रजा में यह विवाद उठ सकता है कि किसे राजा बनाया जाय। अपनी-अपनी रचि के अनुसार अलग-अलग पुत्रों को राजा बनाने की होड़ में झगड़ा उत्पन्न हो जायगा। फिर तो समस्या का समाधान जटिल होगा। कुल राज्य या एक राज्य का निर्णय न हो सकेगा। इससे वंश की मर्यादा भी उच्छृङ्खलित हो जायगी। अतः मैं ही क्यों न नियामक बनकर राज्याधिकारी की घोषणा कर दूँ।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि राजा द्वारा राम को राज्य देने का निर्णय ही स्थिर रहा जिसकी सार्थकता उत्तर काण्ड में सिद्ध होगी।

राजा का उपर्युक्त मनोरथ सुन कर गुरु वसिष्ठ परम प्रसन्न हुए।

सुनि सुनि दशरथ वचन सुहाए, मंगल मोद मूल मन भाए मोद

राजा का यह मनोरथ सूर्यवंश के लिए ही नहीं सबके लिए मंगलदायक है। अतः राजा का उपर्युक्त मोद इष्ट-लाभजन्य सुख बढ़ाने वाला है। राजा को अभिलाषा से विरत करने और राम के प्रति चिन्तन लगाने के लिए भविष्य-द्रष्टा गुरु वसिष्ठ राम का वास्तविक रूप समझा रहे हैं :—

सुनु नृपुजासुविमुखपछिताहीं, जासुभजन बिनु जरनिनजाहीं
भयड तुम्हार तनय सोइ स्वामी, राम पुनीत प्रेम अनुगामी
श्रीरामतत्व

प्रभु राम का स्वामित्व समझाते हुए मुनि ने कहा कि स्वामी वही है जिसकी विमुखता में पश्चात्ताप ही हाथ लगता है और जिसके भजन के बिना त्रिताप नष्ट नहीं होते अथवा जिसकी कृपा के बिना बुढ़ापा नहीं जाता। प्रभु-दर्शन से वृद्ध भी युवा बन जाते हैं।^१ ऐसा ईश्वर आपके घर में पुत्र रूप से उपस्थित है। वह पुनीत प्रेम का अनुगामी है। ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य आदि दोषों के अभाव में ही प्रेम की पवित्रता प्रकट होती है। वसिष्ठजी आगे राजा से कहते हैं। स्नेह की प्रधानता के कारण आप कर्तव्य-विभोर न हों। शुद्ध प्रेम ही रामतत्व है। राम युवराज होना नहीं चाहते बल्कि युवराजत्व ही राम का वरण करना चाहता है। इस परामर्श को आप अपनाएँगे तभी आपका मनोरथ सराहनीय माना जायगा। मंगल की कामना करना तो आपका काम है ही।

वेगि बिलंबु न करिअ नृप साजिअ सबुइ समाजु ।

सुदिन सुमंगल तबहिं जब राम होहिं युवराजु ॥४॥

मुनि वसिष्ठ ने राम को युवराज पद देने के लिए शुभ मुहूर्त नहीं बताया। क्योंकि वे जानते थे कि श्रीराम क्रोधन में जाना है। इसलिए कह दिया कि राम जिस दिन युवराज-पद पर आसीन होंगे वही शुभ मुहूर्त होगा। इसमें काल की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है।

प्रभु स्वातन्त्र्य में शास्त्रानुयायिता

जीव काल, देश, नियति और रागादि से बँधा हुआ है। इसलिए उसे कालादिकों का विचार करके ही कार्य का प्रारम्भ करना पड़ता है। ईश्वर उन सबके अधीन नहीं है। उसकी इच्छा ही शुभ मुहूर्त है। तात्पर्य यह कि ईश्वर को देश, काल एवं नियति की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। इसका मतलब यह नहीं कि ईश्वर शास्त्र-मर्यादा

का अतिक्रमण कर काल को अनुकूल बनाता है। वह जब कोई कार्य करना चाहता है, तब वह समय शास्त्रोक्त शुभ मुहूर्त बनकर उपस्थित हो जाता है।^२

इस प्रकार महाराज दशरथ को समय-समय पर राम के ईश्वरत्व का संकेत मिलता रहा है। और राम में ईश्वर-बोध की पूर्णता आगे ७७ वें दोहे में दिखाई पड़ती है।

व्यावहारिक दृष्टि से वसिष्ठ का यह भी अभिप्राय है कि जब राम के युवराज होने का योग ही नहीं है तब मुहूर्त बताने से क्या लाभ? हाँ, राम के लिए राजयोग है पर उसके लिए मुहूर्त गौण है। श्रीराम भी आगे 'अनुचित एकू' कह कर स्पष्ट करेंगे कि जब चारों भाइयों की उपस्थिति में सभी संस्कार अब तक एक साथ हुए हैं तो इस समय भरत की अनुपस्थिति में 'राज्याभिषेक' की योजना उचित नहीं है। किबहुना सर्वसम्मत स्वीकृति न होने से नीति-शास्त्र की मर्यादा के भी विरुद्ध है। फिर भी सत्य-प्रतिज्ञा राजा राज्याभिषेक की तैयारी कर रहे हैं जो उनके जीवन में पहली बार (नीति-शास्त्र के विपरीत) अनुचित कार्य हो रहा है। इसमें दैव ही कारण है।

युवराजत्व

स्वस्थ राजा के रहते युवराजत्व का अभिषेक मुहूर्त देखकर ही होता है।^३ इसलिए राजा दशरथ ने मुहूर्त की चर्चा की थी। किन्तु राम को तो युवराज नहीं राजा होना है, यह सोचकर वसिष्ठ जी ने मुहूर्त का विषय टाल दिया और कह दिया जब भी राम राजा होंगे वही मुहूर्त होगा।^४

गुरुजी का मत

इस सम्बन्ध में गुरुजी का मत यह है कि राजा मंगल-कार्य का आरम्भ कर दें। भविष्य में जो होना होगा वह होकर रहेगा। इस प्रकार गुरुजी ने राजा की मनोरथ-पूर्ति के बारे में अपना सुस्पष्ट मत प्रकट नहीं किया और न उन्हें हतोत्साह किया। क्योंकि गुरु को अभीष्ट है कि दशरथ जी का मनोनीत अन्तिम निर्णय सबको मालूम हो जाय।

१. तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानोऽतिबलोजसः । पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधा मुहुः ॥ —भागवत-स्कन्द १०।४५।१९

२. "रामोऽयं ईश्वरः कालप्रतीक्षण कर्तृत्वाभावे सति संकल्पकालीन कार्यानुबन्धि शास्त्रोक्त सकलमुहूर्तकृतित्वात् ।"

३. मृते राज्ञि न कालस्य नियमोऽत्र विधीयते । तस्यास्य स्नपनं कार्यं विधिवत्तिलसर्षपैः ॥

मृत इत्यस्वस्थाप्युपलक्षणम् । यदा पूर्वास्मिन् राज्ञि मृतेऽस्वस्थे वोत्तरस्थाभिषेकस्तदा स्नपनादो न काले नियमः ।

४. 'आजु सुषरी सुदिन समुदाई'—उत्तर काण्ड ।

खास तौर से मुनि ने राजा को यह भी समझाया कि जब राम को युवराज बनाने के लिए सब लोगों की सम्मति प्राप्त हो चुकी है तो उन्हें अपना निर्णय सुनाने में देरी नहीं करनी चाहिए। अर्थात् राजा की स्थिर घोषणा से राजनीति के अनुसार राम युवराज मान लिये गये हैं, केवल उत्सव मनाने का कार्यक्रम घोष रह गया है।

राजा के लिए समाधियोग

प्रेम की विह्वलता के कारण राजा दशरथ ने गुरु वसिष्ठ का छिपा हुआ आशय नहीं समझा। गुरु जी ने राजा के अन्तिम कल्याण के बारे में यह भी सोचा कि उत्सव के निमित्त से ही चिन्तन करते हुए राजा राम के सम्मुख हो जाएंगे और अन्त में उन्हें साकेत लोक प्राप्त हो जायगा।

मुनि के मंगलमय वचन को सुनकर राजा राम-राज्याभिषेक के उत्सव में तन्मय होकर गुरु वसिष्ठ के साथ राज-प्रासाद में आ पहुँचे।

‘सुदित महीपति मन्दिर आये, सेवक सचिव सुमंत्र बुलाये

यहाँ ज्ञातव्य है कि राजा ने गुरुजी का आशय न समझ कर महल में सेवकों और मन्त्री सुमन्त्र को बुलाया।

गुरुजी की अस्पष्ट सम्मति का औचित्य

यहाँ यह शंका उठती है कि गुरुजी ने अपनी स्पष्ट सम्मति क्यों नहीं दी? अर्थशास्त्र के अनुसार इसका समाधान यह है कि राजा और राज्य का रक्षण करना मन्त्री एवं पुरोहित का मुख्य कर्तव्य है जिसे वसिष्ठ जी पूर्णतया निभा रहे हैं। पहले उन्होंने राम जैसे नीतिज्ञ पुत्र को उपलब्ध कराकर राजा दशरथ का रक्षण किया। मनु-शतरूपा के रूप में उन्होंने भगवद्दर्शन तो किया था किन्तु अन्तःकरण का द्रवीभाव पूर्णरूपेण न होने से स्वर्गलोक में भी वे ग्राम्यधर्म का सुखानुभव करने लगे। अभी भी प्रभु को पाकर राजा दशरथ के चित्त का पूर्ण द्रवीभाव न होने से उनके हृदय में राम की मूर्ति जैसी बैठनी चाहिए, वैसी नहीं बैठ पायी है। इसका परिणाम यह होगा कि परलोकवासी होने पर उनका हृदय कठिनता की अवस्था में मूर्तिरहित हो जाएगा, ऐसी दशा में उन्हें सद्गति में ले जाने का कार्य अपूर्ण रह जाएगा। इस हेतु को ध्यान में रखकर गुरु वसिष्ठ ने सोचा कि राम के राज्यारोहण में मुहूर्ताभाव के सम्बन्ध में स्पष्ट मन्त्रणा

करने से राज्योत्सव का आनन्द छूटने में राजा पूर्ण प्रेम से उल्लसित न होंगे। वर्तमान रात्रि में अचानक विघ्न खड़ा होने से उनका मनोरथ अपूर्ण रह जायगा जिससे उनके चित्त में शोक भी उतनी मात्रा में उत्पन्न होगा। परिणामतः राजा के हृदय में अपेक्षाकृत द्रवीभाव का आधिक्य अवश्यम्भावी है। उस अवस्था में चिन्तन करते हुए प्रभु राम की मूर्ति चित्त में प्रविष्ट होकर संस्कार या वासना रूप में इतनी सुदृढ़ होगी कि जन्मान्तर में भी वह विचलित नहीं होगी। इस प्रकार भक्ति सम्पत्ति (साकेत लोक) की प्राप्ति भी हो जाएगी।

ज्ञातव्य है कि विश्वामित्र के साथ श्रीराम के जाने के समय राजा का चित्त-फणि-मणि सम कहा था, लेकिन उनके चित्त का द्रवीभाव जितना अपेक्षित था, उतना नहीं हुआ। उस समय राम के वियोग को राजा दशरथ भरत की उपस्थिति में सहन कर गये। इसके अतिरिक्त भरत जी की उपस्थिति के कारण भी वियोग-जन्य द्रवीभाव न हो सका। भरत-रूपी दर्पण में राम-मूर्ति का दर्शन करते हुए राजा स्वस्थ बैठे रहे। आगे चलकर कौसल्या भी पुत्र वियोग के अवसर पर भरत में राममूर्ति का दर्शन कर जीवित रह सकीं। अतः गुरु वसिष्ठ ने उपर्युक्त द्रवीभाव को समृद्ध बनाने का उपक्रम किया है।

इस प्रकार गुरु वसिष्ठ से मन्त्रणा कर अगला कार्यक्रम सम्पन्न करने के लिए राजा ने सेवकों को बुलाया—

कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए, भूप सुमंगल वचन सुनाए

राज्याभिषेक के लिए सामग्री एकत्र करने के लिए सेवकों, कर्म-सचिव एवं अपने ही समान अनुभवी सूत सुमन्त्र को राजा ने बुलाया। उन्होंने अर्थशास्त्र के निर्देशानुसार ‘जय जीव’ कहते हुए राजा का अभिमत सुनने की इच्छा व्यक्त कर ‘कहिए क्या आज्ञा है’ ऐसी प्रार्थना की। राजा ने महामंगलसूचक रामराज्योत्सव की बात उनको सुनायी।

जौ पाँचहि मत लागै, नौका, करहु हरषि हिय रामहि दीका
लोकतन्त्र का आदर

अपने राजशासन का बल छोड़कर महाराज निष्पक्षता की दृष्टि से याज्ञवल्क्य स्मृति में संविद-व्यतिक्रम प्रकरण को ध्यान में रखते हुए अपनी निर्दोषता प्रकट करते हैं। यदि वे लोकहितवादी पंथों का आदेश नहीं मानते तो धर्म-शास्त्र के अनुसार दण्ड के भागी माने जाते। अतः

राजा ने पंचायतों की मर्यादा और अपने शासकत्व को ध्यान में रखकर अपनी इच्छा व्यक्त की—“मैं श्रीराम को युवराज बनाना चाहता हूँ।” इस पर सब लोगों ने हर्षोल्लास के साथ अपनी सम्मति प्रकट की।

उस समय सभी गाँवों में लोकहितवादी पंचायतें कायम थीं। वे सभी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रामराज्य देखना चाहती थीं। राजा के सन्तोषार्थ उनके मनोनीत कार्य को सम्पन्न करने के लिए सेवकों का उत्साह देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। मन्त्रीगण भी जय-जयकार करने लगा मानो उनके मनोरथरूपी पीधे के पल्लवित होते समय जल से सींचा गया हो।

मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी, अमिमत बिरव परउ जनु पानी बिनती सचिव करहिं करजोरी, जिअउ जगतपति बरिस करोरी शतं जीवेत्

अनन्दातिरेक से मन्त्रीगण राजा के करोड़ों वर्ष तक जीने की कामना कर रहे हैं। यहाँ राजा के यशःशरीर की दीर्घजीविता अभीप्सित है। क्योंकि पार्थिक शरीर का करोड़ों वर्ष तक जीवित रहना असम्भव है। अब सरपंच लोग अपनी सम्मतियाँ व्यक्त कर रहे हैं—

जगमंगल मल काजु विचारा, बेगिभ नाथ न लाइय बारा

राजा प्रस्तुत रामराज्याभिषेक कार्य के सम्पादन में विलम्ब न करें इसके लिए सेवकों को तत्काल निर्देश दें।

चुपहि मोद सुनि सचिव सुभाषा बढत बौँड जनु लही सुसाखा

मन्त्रियों के सुभाषित वचन सुनकर राजा को आनन्द हुआ। राज्याभिषेक के लिए राजा की शीघ्रता को देखते हुए कवि भी इस प्रसंग को थोड़े ही छन्दों में पूर्ण कर देते हैं और अग्रिम कार्य का संकेत करते हैं—

कहेउ भूप मुनिराज कर, जोइ जोइ आयसु होइ।

रामराज अभिषेक हित, बेगि करहु सोइ सोइ ॥५॥

राज्योत्सव में सत्त्वगुणात्मक निर्विकारिता प्रकट करने के लिए वैदिक विधान कर्तव्य है। गुरु के आदेश से ही राज्याभिषेक सम्पन्न होगा, यह सोचकर राजा सामग्री जुटवाने का भार भी गुरु को दे रहे हैं।

गुरु वसिष्ठ का निर्देशत्व

‘मुनिराज’ के उल्लेख से यह सूचित होता है राज्याभिषेक सम्पन्न कराने में केवल गुरु वसिष्ठ ही परोक्ष-अप-

रोक्ष ज्ञान से परिपूर्ण हैं। इसलिए उन्हीं के अनुशासन की प्रधानता है जो ‘आयसु होइ’ पद से स्पष्ट है। इस प्रकार राजनीति के सिद्धान्तानुसार राजा ने उद्देश्य पूर्ति के लिए गुरु वसिष्ठ का वरण किया। इसके पश्चात् आवश्यक सामग्रियों का चिट्ठा तैयार किया—

हरवि मुनीस कहेउ मृदुबानी, आनहु सकल सुतीरथ पानी
औषध मूल फूल फल पाना, कहे नाम मनि मंगल नाना
चामर चरम बसन बहुमाँती, रोम पाट पट अगनित जाती
मनिगन मंगल वस्तु अनेका, जो जग जोगु भूप अभिषेका
वेदविदितकहि सकलविधाना, कहेउ रचउपुरविबिध विताना
सफल रसाल पूगफल केरा, रोपहु बीथिन्ह पुर चहुँ फेरा
रचहु मंजुमनि चौँके चारु, कहेहु बनावन बेगि बजारु
पूजहु गनपति गुरुकुल देवा, सब विधि करहु भूमिसुर सेवा
ध्वज पताक तोरन कलस सजहु तुरग रथ नाग।

सिर भरि मुनिवर वचन सजु निज निज काजहिं लाग ॥६॥

राज्याभिषेक की सामग्री

तौर्य जल, ओषधियाँ, फूल, फल, पान, सुपारी, केला आदि अनेक मंगल पदार्थ तथा चामर, रोमपाट, मृगचर्म, ऊनी वस्त्र, मणि आदि एकत्र करने का आदेश है।

मंगल की पुनरुक्ति

व्यक्तिपरक मंगल वस्तु की गणना करने पर भी पुनः गुरु ने मंगल का उल्लेख किया है जो जातिपरक होने से पुनरुक्त नहीं माना जायगा।

पहले मंगल का उल्लेख करने के अनन्तर कतिपय मंगल पदार्थों की गणना का तात्पर्य परिसंख्या विधि में भी हो सकता था जिसका अर्थ यह कि राज्याभिषेक के लिए उपयुक्त परिगणित वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ एकत्र न की जायें। जैसे वाद्य-वादनादि का निषेध। ऐसी परिसंख्या न समझी जाय, इस दृष्टि से गुरु जी ने परिगणित से इतर (वाद्य-वादनादि) मंगल पदार्थों को भी एकत्रित करने का भाव मंगल शब्द की पुनरुक्ति में ध्वनित किया है। मंगल शब्द से परिगणित पदार्थों का संग्रह करते हुए भी कदली आदि का नाम लेना अदृष्ट सम्बन्धी अतिशयता का द्योतक है।

इस विवेचन से राज्याभिषेक प्रयोग विधि-सम्बन्धी सभी वचनों का समन्वय हो जाता है।

साधन के २१ सूत्र

— श्री रामेश्वरलाल नोपानी

१. सुखस्य दुःखस्य न कोऽपिदाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
अहं करोमीति वृथामिमानः,
स्वकर्मसूत्रे ग्रथितो हि लोकः ॥

भावार्थ—सुख और दुःख को देने वाला कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। यदि कोई ऐसा सोचता है कि अमुक व्यक्ति ने मुझे सुख या दुःख दिया है तो यह उसकी कुबुद्धि समझनी चाहिए। यदि कोई ऐसा महसूस करता है कि अमुक कार्य मैंने किया है तो उसका यह अभिमान भी एकदम वृथा है। वस्तुतः जिस प्रकार माला फेरने में एक मणिका के बाद दूसरी मणिका अपने आप सामने आ जाती है वैसे ही अपने पूर्व जन्मों में किये हुए कर्म चाहे अच्छे हों अथवा बुरे सब एक सूत्र में पिरोये हुए रहते हैं।

२. जो होनी होती है वह होकर रहती है और अनहोनी कभी होती नहीं। जो होता है उसके मूल में एक विधान का होना अनिवार्य है। यह भगवान् का विधान सबके लिए मंगलमय है।

३. यह शरीर यातना शरीर है, इसका जो भोग है वह इसको भोगना होगा, कोई दूसरा कुछ नहीं कर सकता है।

४. आवश्यकता की पूर्ति भगवान् अवश्य करते हैं। कभी ऐसा नहीं होता कि उसकी पूर्ति न होती हो। पूर्ति तब ही नहीं होती जब उसकी आवश्यकता नहीं होती है।

५. तेरे मावे कछु करो मजो बुरो संसार ।
नारायण तू बैठकर अपना भवन बुहार ॥

६. हरिये न हिम्मत बिसारिये न हरिनाम ।
जाही बिधि राखे राम ताही बिधि रहिये ॥

७. बुराई का सर्वथा त्याग करना अनिवार्य है। यदि किसी को कुछ भलाई न हो सके तो कोई हानि नहीं है और न कोई चिन्ता की बात है, पर कभी भी किसी को किसी भी प्रकार की हानि नहीं होने देनी चाहिए।

८. अभी तक जो हो गया उसके लिए सभी से क्षमा-

याचना कर लो और अपनी तरफ से सभी को क्षमा कर दो।

९. जो कोई आये उसका स्वागत करो और जब जावे तो प्रेमपूर्वक बिदाई कर दो।

१०. संसार में जिससे भी जो व्यवहार होता है वह पूर्व जन्म के किये हुए के अनुसार हिसाब ठीक करने के लिए ही होता है।

११. किसी से किसी प्रकार की आशा मत करो। यदि आशा करोगे और वह पूरी नहीं होगी तो कष्ट होगा।

१२. कौ हुई बुराई को पुनः न दुहराने का व्रत लेकर सरल प्रार्थना करने से बुराई दुबारा नहीं होती है।

१३. जो करो ठीक करो, जहाँ रहो प्रसन्न रहो।

१४. वस्तु उसे कहते हैं —(१) जिसकी उत्पत्ति होती है। (२) जिसका समय पाकर विनाश होता है। (३) जो परिवर्तनशील है। (४) जो पर-प्रकाशित है।

१५. सांसारिक व्यक्तियों अथवा वस्तुओं में न तो किसी से राग करना चाहिए और न किसी से द्वेष करना चाहिए।

१६. कामना करते रहने से ही मानव संसार के बन्धनों से बंधा हुआ है।

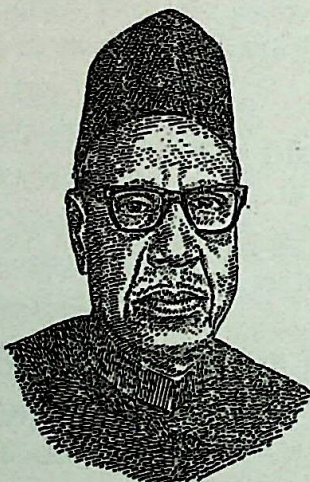
१७. काम, क्रोध और लोभ मानव के मनोभाव को अधोगति की ओर ले जाते हैं।

१८. मन अकेला कुछ नहीं कर सकता। मन के साथ जिस इन्द्रिय का योग हो जाता है मन उसी प्रकार काम करने लग जाता है। यदि जप करते समय मुख से बोलना और कानों से तथा नेत्रों से जप के दृष्ट को देखने का क्रम कर लिया जाए—तो फिर जप में बाधा नहीं पड़ती।

१९. भगवान् में ही ये गुण होते हैं—(१) सदैव हैं। (२) सर्वत्र हैं। (३) सबके हैं। (४) सर्व-गुण-सम्पन्न हैं। (५) सर्व समर्थ हैं।

२०. नाम-जप का निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिए।

२१. संसार से छुटकारा पाने का सबसे सरल उपाय है पूर्णरूप से समर्पण अर्थात् प्रभु की शरणागति।



लेखक

विद्या-गुरु द्वारा दीक्षा-गुरु की खोज

स्वर्ण-आँवलों के चमत्कार से ब्रह्मचारी शंकर को ख्याति चारों ओर फैल गई। बहुत से लोग उनसे चमत्कार दिखाने का आग्रह करने लगे। किन्तु उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि “चमत्कार दिखाना हमारा काम नहीं है, धूर्तों का है, जिसे पुत्र, यश या धन की कामना हो वे जादू का खेल दिखाए और अपने को सिद्ध घोषित करें। योगसिद्धि का परम उद्देश्य आत्मा और परमात्मा का मिलन है न कि आग और पानी पर चलना, पलक भाँजते किसी दुर्लभ वस्तु को प्रस्तुत कर देना। यह सब खेल हाथ की सफाई है और साधु-सन्तों के लिए वर्जित है। ऐसे मिथ्या प्रपंचों में वे कभी नहीं पड़ते। बुढ़िया की कुटिया स्वर्ण-आमलों से भर गई यह मेरा काम नहीं था, मेरा काम तो माँ की स्तुति करना था यदि उसने सोने के आँवलों से झोपड़ी भर दी तो यह कोई बड़ी बात नहीं हुई, यह तो उसके बायें हाथ का साधारण सा खेल है। फिर इसका श्रेय आप लोग मुझे क्यों दे रहे हैं, और चमत्कार दिखाने का असफल आग्रह क्यों कर रहे हैं।” शंकर का यह दो-टूक जवाब सुनकर चमत्कार दिखाने के लिए कहने का फिर किसी को साहस नहीं हुआ।

सभी विद्याओं के गुरु शंकर को पूर्व संस्कार के कारण पढ़ने के लिए न तो अधिक परिश्रम करना पड़ा और न उन्हें अधिक समय लगा। सात वर्ष के अल्पवय में उन्होंने चारों वेदों, छहों शास्त्रों और अठारहों पुराणों का अध्ययन समाप्त कर लिया। गुरुकुल के आचार्य ने ब्रह्मचारी शंकर को परामर्श दिया कि वत्स, मैं तुम्हें और पढ़ाने में असमर्थ हूँ और अब तुम्हें और कुछ पढ़ना भी नहीं है। अतः घर पर ही पाठशाला खोलकर छात्रों को पढ़ाओ और गुरु-ऋण से मुक्त होने का प्रयास करो। ईश्वर तुम्हें सफलता प्रदान करेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। क्योंकि ईश्वरदत्त प्रतिभा से तुमने सारी विद्याएँ अल्पकाल में प्राप्त कर ली हैं, तुम्हारी शिक्षा परिपूर्ण हुई। और जिस कार्य के लिए तुम्हारा अवतार हुआ है, उसे यथाशीघ्र पूर्ण करो!



श्री शंकराचार्य जी

शंकर ने आचार्य को साष्टांग प्रणाम किया। गुरु ने शिष्य को हृदय से लगा लिया। फिर शंकर ने हर्ष-विषाद के साथ आश्रम से स्वगृह के लिए प्रस्थान किया, विषाद इस बात का कि गुरु तथा सहाध्यायी अन्तेवासियों का साथ छूट रहा है और हर्ष इस भाव से कि माता का दर्शन होगा जो बड़ी अशरीरता से अपने एकलौते बेटे की राह देख रही हैं।

शंकर का आचार्यत्व

गुरु को आज्ञा शिरोधार्य कर शंकर ने ‘कालडी’ में ही संस्कृत विद्यालय का श्रीगणेश कर दिया। इस बाल आचार्य की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। छात्रसंसदिलब्धकीर्ति के अनुसार शिष्यों ने अपने बाल आचार्य का अध्यापनयश सर्वत्र फैला दिया।

महाराज राजशेखर

केरल के अधिपति महाराज राजशेखर बड़े विद्या-व्यसनी थे। वे संस्कृत के सुकवि भी थे। अग्न्य और दृश्य दोनों काव्यों के रचयिता थे। उस समय अग्न्य काव्यों की अपेक्षा दृश्य काव्यों को अधिक महत्त्व दिया जाता था। नाटककार भी कवि ही कहे जाते थे। केरल-नरेश राजशेखर ने तीन नाटक लिखे थे। ऐसे गुणग्राही राजा के कानों तक आचार्य शंकर की कीर्ति पहुँची। महाराज ने यह भी सुना था कि आचार्य शंकर अपनी विलक्षण प्रतिभा का

लाम छात्रों को पहुँचा रहे हैं। इसलिए उन्होंने अपने महामात्य को स्वर्णमुद्राओं से भरी थैली देकर आचार्य शंकर के पास भेजा और उनके दर्शनों का अभिलाष प्रकट किया।

यथासमय महामात्य, आचार्य शंकर के विद्यालय में पहुँचे। साष्टांग प्रणाम करने के अनन्तर उन्होंने स्वर्णमुद्राओं को भेंट करते हुए निवेदन किया—आचार्य, केरलनरेश राजशेखर आपके दर्शनों के लिए उत्सुक हैं। हमारे राजकीय गजराज को श्रीचरणों से सुशोभित करें।

आचार्य शंकर ने कहा—मेरे जैसे विरक्त आचार्य के लिए राज्य-मभामें उपस्थित होना सुशोभन नहीं होगा अमात्य, और इन स्वर्णमुद्राओं का मेरे लिए प्रयोजन क्या है। इनका गौरव तो राजकोष की शोभा बढ़ाने में ही है।

“ऐसा न कहें आचार्य, यह तो आपके लिए महाराज की तुच्छ भेंट है। आचार्य, राजा तथा संन्यासी के दर्शन रिक्तहस्त करने से शास्त्र की मर्यादा भंग होती है। फिर आपके ऊपर विद्यालय के छात्रों के योग-क्षेम का भी तो भार है।”

“आपका कथन सत्य है। किन्तु भेंट व्यक्ति के स्वभाव और आवश्यकता के अनुसार दी जाती है। स्वर्णराशि की चमक-दमक से अभिभूत होने का मेरा स्वभाव नहीं है। मैं श्रीविद्या की कृपा से छात्रों का योग-क्षेम बड़ी सरलता से चला जाता हूँ। मैं इसे ग्रहण करने में नितान्त असमर्थ हूँ। कृपया आप पुनः आग्रह करने का कष्ट न करें।”

“जैसी आज्ञा आचार्य!” कहकर महामात्य लौट गये। उन्होंने केरलनरेश से आचार्य शंकर की निःस्पृहता का बखान किया और स्वर्ण-मुद्राएँ सामने रख दीं।

केरल-नरेश राजशेखर यह सुनकर बड़े अचरज में पड़ गये। उन्होंने मन ही मन कहा, अहा, इस भूतल में ऐसे निःस्पृह आचार्य विराजमान हैं, और वे महापुरुष मेरे ही राज्य में हैं। मैं उनके दर्शन स्वयं श्रीचरणों तक पहुँचकर करूँगा। महामात्य, इस शुभ कार्य में विलम्ब की आवश्यकता नहीं है। कल प्रत्युष में ही हम प्रस्थान करेंगे। साथ में दस हजार स्वर्ण मुद्राएँ भी रख लें। इसके अतिरिक्त राजकीय वस्त्राभूषण भी आचार्य के लिए साथ में रहें।

राजा ने अपने मुख्य साधियों के साथ प्रातःकाल कालडी के लिए प्रस्थान किया। वे जिस समय विद्यालय में पहुँचे पता चला, आचार्य अध्यापन कर रहे हैं। महाराज ने आचार्य को अपने आगमन की सूचना दी।

आचार्य शंकर ने जब सुना कि केरल-नरेश इस अकिंचन ब्रह्मचारी आचार्य के यहाँ पधारे हैं तब अनध्याय घोषित कर आसन से उठ खड़े हुए और द्वार की ओर स्वागतार्थ बढ़े।

राजा आचार्य को देखकर सोचने लगे कि ये कृष्ण मृग-चर्मधारी ब्रह्मचारी नहीं भगवान् बाल शंकर ही तो नहीं हैं। वे तत्काल नंगे पाँव आचार्य के चरणों में झुके किन्तु आचार्य ने उन्हें रोकते हुए कहा—

‘राजन्! आपमें देवताओं का निवास है। आप मेरे असाधारण अतिथि हैं। राज्य के अन्न-जल से ही मैं पल रहा हूँ। पर आपके राजोचित स्वागत के लिए मुझ अकिंचन के पास कुछ नहीं है।’

“आचार्य, आपके दर्शनों से मैं कृतकृत्य हुआ। आपने अभ्युत्थान और स्वागत द्वारा मुझे देवराज इन्द्र का सिंहासन प्रदान किया है। अब आप अपने श्रीचरणों को अधिक कष्ट न दें। आसन पर विराजें। मैं उन चरणों में बैठकर अपने को धन्य तो कर लूँ।”

यह सुनकर आचार्य शंकर आसनस्थ हो गये और राजा से भी एक आसन पर विराजने का आग्रह किया।

दोनों जब आसनस्थ होकर कुछ स्वस्थ हुए तब कुशल-क्षेम का प्रकरण प्रारम्भ हुआ। तत्पश्चात् महाराज राजशेखर ने अपने तीनों नाटक निकाले और आचार्य से उनकी आलोचना करने का आग्रह किया। आचार्य ने कुछ पन्ने उलट-पुलट कर देखे। तत्पश्चात् उन्होंने ऐसी सारगर्भित समीक्षा की जिसकी कल्पना करना भी कठिन था।

राजशेखर आचार्य की आलोचना सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने बड़ी विनम्रता से कहा—भगवन्, मेरे आने से आपके अध्यापन में बाधा पड़ी, इसके लिए क्षमा चाहता हूँ। कृपया यह स्वर्णराशि रखवा लीजिए।

राजन्, औपचारिकता की आवश्यकता नहीं। आपके दर्शन से हम लोग पुण्यभागी हुए हैं। किन्तु यह स्वर्ण-राशि ग्रहण करना मेरे लिए कठिन है।

आचार्य, सुन चुका हूँ। पर यह तो राज्य की भेंट है। कैसे अस्वीकार करेंगे?

ठीक है, वापस करने से आपको कष्ट होगा। इसलिए यह स्वर्णराशि मैं स्वीकार करता हूँ। अब इसे यहाँ के कुटुम्बी जनों में वितरित करा दें।

राजा ने ऐसा ही किया और आचार्य की चरणधूलि से राजमुकुट को पवित्र कर राजधानी के लिए प्रस्थान किया।

विवाह का असफल प्रयास

आचार्य शंकर के परिवार में माँ-बेटे के अतिरिक्त और कोई नहीं था। माँ भी वृद्धा हो चली थीं। भोजन बनाने में उन्हें बड़ा कष्ट होता था। इसके अतिरिक्त पुत्र-वधू का मुँह देखकर वे अपने को घन्थ करना चाहती थीं। इसलिए शंकर के विवाह की चर्चा होने लगी। अनेक सद्गृहस्थों ने कन्या देने का प्रस्ताव किया किन्तु उन्होंने ने विवाह का प्रस्ताव अमान्य कर दिया। उन्होंने माताजी से कहा—माँ, जबतक मैं यहाँ हूँ तेरी सेवा करूँगा और जब यहाँ नहीं रहूँगा तब भगवान से बड़कर और कोई रक्षक नहीं है, वही तेरी रक्षा करेगा।

“कहाँ जाओगे बेटा, मुझे छोड़कर ?”

“बाल्यावस्था में ही मेरा वैराग्य संन्यास लेने के लिए मुझे बाध्य कर रहा है। क्या इसको आज्ञा दोगी ?”

“असम्भव, यह कैसे होगा बेटा ? क्या चाहते हो कि मैं बिलख-बिलख कर प्राण दूँ।” ऐसा मत कहो, मेरे संन्यास ग्रहण से तू अमर हो जायगी। भगवान् अपना विधान स्वयं भी नहीं टालना चाहते।

×

×

×

परिस्थितियों से विवश होकर आर्याम्बा ने अपने पुत्र को संन्यास लेने की आज्ञा प्रदान कर दी थी। अब शंकर आपत्संन्यास को विधिवत् संन्यास के रूप में परिवर्तित करना चाहते थे। ऐसे उद्भट विद्वान् के लिए योग्य गुरु की तलाश एक समस्या थी। किन्तु जहाँ चाह, वहाँ राह निकल ही आती है। आचार्य शंकर ने महाभाष्य पढ़ते समय अपने गुरुजी से सुन रखा था कि महाभाष्य के रचयिता शेषावतार भगवान् पतंजलि महाप्रभु गोविन्दाचार्य के रूप में इस घरा पर स्वयं अवतरित हुए हैं। किन्तु उनकी कुटिया कहाँ है, यह किसी को पता नहीं। आचार्य शंकर ने उन्हें गुरु बनाने का निश्चय कर लिया।

गौतम आदि ऋषियों का पदार्पण

भगवान् शंकर के नव्य अवतार के दर्शनार्थ उपमन्यु, दधीचि, गौतम, अगस्त्य आदि ऋषि ‘कालडी’ पधारे। आचार्य शंकर ने उनका स्वागत कर पूजन किया। स्वागत-सत्कार के बाद आर्याम्बा ने ऋषियों से निवेदन किया, आप लोगों ने हमें दर्शन देकर गौरव प्रदान किया है अन्यथा इस कलिकाल में आप जैसे ऋषियों के दर्शन दुर्लभ हैं।

माताओं को अपने बच्चों का भविष्य जानने की बड़ी

तीव्र इच्छा होती है। इसलिए आर्याम्बा ने ऋषियों से और कुछ न पूछकर यही पूछा कि प्रभो, कृपया इस बालक का भविष्य तो बताइए।

सभी ऋषि यह सुनकर मौन रहे। यह देखकर अगस्त्य जी बोले—देवी, इस बालक का भविष्य हर्ष और शोक से भरा है। इसकी आयु आठ वर्ष की थी। किन्तु आठवें वर्ष में संन्यास ले लेने के कारण इसकी आयु सोलह वर्ष हो गई है। और किसी महान् आत्मा की कृपा से वह सोलह वर्ष और बढ़ जायगी। किन्तु ३२ वर्ष के बाद इसे कोई बचा नहीं सकेगा। अपनी इच्छा से ही यह शिव-लोक की यात्रा करेगा। किन्तु इतने ही दिनों में यह जितना काम कर लेगा कोई सहस्रवर्षी होकर भी नहीं कर पाएगा। महामुनि अगस्त्य की वाणी सुनकर माँ शोक-विल्ल हो गयी। यह देखकर आचार्य शंकर ने माँ से कहा—माँ, दुःख का कोई कारण नहीं है। जन्म और मृत्यु दोनों जीवन से संलग्न हैं। यह संसार मिथ्या है। ईश्वर ही सत्य है। जीव भी ब्रह्म है, वह और कुछ नहीं है। अब प्रतिज्ञा के अनुसार विधिवत् संन्यास लेने की अनुमति दो।

“पुत्र ! इस वय में तुम्हें संन्यास शोभा नहीं देता, तुम गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सन्तानोत्पाति कर पितृऋण से मुक्त हो जाओ फिर वानप्रस्थ, तब संन्यास, यही वर्णाश्रम धर्म है।”

“माँ, मैं वर्णाश्रम धर्म के अतिक्रमण का दुःसाहस नहीं करता। नियम का अपवाद होता ही है। महामना शुकदेव को जन्मते ही वैराग्य हो गया। संन्यास के लिए वय का कोई प्रश्न नहीं है। जभी तीव्र वैराग्य हो वही वय है अन्यथा वृद्ध होने पर भी मोहग्रस्त व्यक्ति संन्यास का अधिकारी नहीं है। रह गई पितरों की मुक्ति तो निष्ठावान् संन्यासी की अनन्त पीढ़ियाँ स्वतः मुक्त हो जाती हैं।”

“तुम्हारा कहना ठीक हो सकता है। पर मेरी अन्त्येष्टि का क्या होगा ?”

“इसकी चिन्ता मत करो। तुम जब भी मुझे स्मरण करोगी मुझे अपने चरणों में पाओगी। मैं संन्यासी होने के बावजूद तुम्हारी अन्त्येष्टि करूँगा। यह भी संन्यास धर्म का एक अपवाद मात्र होगा। अब सहर्ष आज्ञा दो।”

“तथास्तु,” कहकर आर्याम्बा ने पुत्र का तिलक किया और नारियल देकर विदा किया।

विद्यागुरु आचार्य शंकर ने अब दोषा-गुरु की खोज में उत्तराभिमुख होकर प्रस्थान किया।—अ. ना. घर द्विवेदी

सन्तवाणी

[२७ दिसम्बर १९८१ से ५ जनवरी १९८२ तक श्री रामचन्द्र केशव डोंगरे जी महाराज ने कलकत्ता में श्रीनन्दलाल जी टाँटिया के अनुरोध पर श्रीमद्भागवत की कथा कही थी, उक्त कथा प्रसंगों से प्रस्तुत सन्तवाणी का संकलन किया गया है ।]

राजा उत्तानपाद के दो रानियाँ थीं—सुरचि और सुनीति । सुरचि उन्हें बहुत प्रिय थी, सुनीति उपेक्षिता थी । एक दिन सुरचि के पुत्र उत्तम को गोद में राजा बैठाये हुए थे कि रानी सुनीति का पुत्र ध्रुव भी उनकी गोद में बैठने के लिए आगे बढ़ा । सुरचि ने उसे दुत्कार कर भगा दिया । बाद में ध्रुव ने माता के कहने पर वन में जाकर प्रभु की गोद का सुख प्राप्त किया ।

यह उत्तानपाद और कोई नहीं, सर नीचा रख पैर ऊपर किये माता के गर्भ में रहनेवाला जीव है । सुरचि से तात्पर्य है इन्द्रियों द्वारा मनमाना सुख भोग की प्रवृत्ति और सुनीति है मनोनिग्रह—मन पर काबू रखने की शक्ति ।

उत्तम (उद् + तम) ईश्वर से विमुख विषयानन्द और ध्रुव है अविचल शान्तिदायक ब्रह्मानन्द । जीव को रुचि अच्छी लगती है, नीति पसन्द नहीं आती । इसलिए, इन्द्रिय-जन्य विषयानन्द में वह रम जाता है और संयम द्वारा प्राप्त होनेवाले ब्रह्मानन्द की उपेक्षा करता है । इसी से उसे निरन्तर आवागमन के चक्र में फँसना पड़ता है ।

भगवान् तो मृत्यु से पूर्व ही मुक्तिप्राप्ति की कला सिखाता है । मरने के बाद मुक्ति मिलेगी या नहीं—इसका किसे पता ? अतएव मृत्यु से पहले ही मुक्त होने का कोशल जान लेना चाहिए । भागवत कहता है कि भगवत् प्रेमभाव ही शरीर और इन्द्रियों की हाजिरी में जीवनमुक्ति प्राप्त करने की कुंजी है । भगवान् वेदव्यासजी की अभिलाषा थी कि सांसारिक जीवों को गृहस्थ रहने पर भी ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो और उनके कल्याण का उपाय ढूँढ़ा जाय । उपाय उन्हें श्रीमद्भागवत में मिल गया । इसीलिए उन्होंने भागवत की रचना के बाद कृतार्थता की भावना से परम संतोष का अनुभव किया और अपनी लेखनी रख दी ।

श्री मद्भागवत पुराण यह नहीं कहता कि घर त्याग करोगे तभी भगवान् प्राप्त होंगे । वह यह कहता है कि

भगवान् को प्राप्त करने के लिए घर छोड़ने की आवश्यकता नहीं बल्कि घर के प्रति आसक्ति छोड़ने की जरूरत है । घर छोड़ने पर भी आसक्ति बनी रही तो दूसरा घर खड़ा हो जाएगा ।

भगवान् का यह उपदेश है कि घर छोड़ने के बजाय उसे प्रभु का मन्दिर बनाकर प्रेमपूर्वक रहो । ऐसी भावना उत्पन्न करो कि तुम्हारे घर का मालिक परमात्मा है और तुम उसके एक अदने से अदना दास हो । स्वामित्व की भावना स्वयं में रखना अनेकानेक दुखों का कारण बनता है । उसे त्यागने पर सारे दुख स्वयं मिट जाएँगे ।

लक्ष्मी को छोड़ने की आवश्यकता नहीं । उसका निज के लिए उपयोग करने की प्रवृत्ति छोड़कर सत्कर्म में उसे लगा देना चाहिए । इसी से परमात्मा प्रसन्न होते हैं ।

श्रीकृष्ण—कथा में शुकदेव जी जैसे महायोगी और राजा परीक्षित जैसे महाभोगी—दोनों को एक समान आनन्द मिलता था । इसका कारण यह था कि श्रीकृष्ण महायोगी और महाभोगी थे । सामान्यतः योग और भोग एक साथ नहीं चल सकते । योगी यदि भोगने जाएगा तो उसका पतन हो जायगा और भोगी यदि योगाभ्यास करने जाएगा तो वह रोगी हो जायगा । परन्तु श्रीकृष्ण के चरित्र में योग और भोग का बड़ा भारी समन्वय मिलता है । सोलह हजार एक सौ साठ रानियों के बीच बैठने वाले श्रीकृष्ण बाह्य रूप से महाभोगी दिखते हैं किन्तु उनका चित्त सदैव वासनामुक्त रहा । इसलिए वे संन्यासी और संसारी दोनों को ही अच्छे लगते थे ।

कथा सुनकर जाने के बाद वक्ता बने और अपने मन को श्रोता बनाओ । फिर मन को प्रेम से समझाओ कि संसार में रस न ले क्योंकि यहाँ केवल विषरस ही है । मन को समझाओ कि विष तो खाने के बाद मृत्यु देता है किन्तु संसार का विषय-विष इतना घोर है कि इसके विचार मात्र

से अधोगति हो जाती है। और यह भी समझाओ कि विष से भी अधिक खतरनाक है यहाँ का विषय।

श्रीमद्भागवत में पुरंजन की कथा आती है। पुरंजन का अविज्ञात नाम का एक मित्र था। वह गुप्त रूप से उसकी सहायता किया करता था।

यह पुरंजन अथवा जीवात्मा और अविज्ञात अर्थात् परमात्मा है। जीव को अपना समझने के कारण परमात्मा की करुणा उस पर सदैव रहती है और वह उसकी सहायता किया करता है।

विष्णुसहस्रनाम में वर्णित श्रीकृष्ण के अनेक नामों में से एक है, 'अच्युत'। अच्युत का अर्थ है, ऐसा सर्वात्मा जो अपने स्थान से च्युत नहीं होता, अडिग रहता है, उसका पतन होता नहीं। जिसको काम स्पर्श करता है, उसका पतन होता है। जो कामवासना के अधीन नहीं होता, उसे वृद्धावस्था पीड़ित नहीं कर सकती, स्वयं काल उसका दासानुदास बनकर रहता है।

लक्ष्मी को माता मानकर उसका उपयोग सत्कर्म में करोगे तो वह प्रसन्न रहेगी। उपभोग का उद्देश्य रखकर उसका दुरुपयोग करने पर वह लात मारेगी।

श्रीकृष्ण-कथा में सभी रस एकत्रित हो जाते हैं। जिसे जो रस भाये, वह उस रस का आस्वादन कर सकता है।

यह कथारस ऐसा दिव्य है कि इसे पीने के बाद मन स्वतः प्रभुचरणों के प्रति आकर्षित हो जाता है।

शृंगार रस भी खूब मीठा लगता है। जवानों में तो यह स्वर्गिक सुख-जैसा प्रतीत होता है। किन्तु, शरीर के दुर्बल होने पर जब सयानापन आता है तब इस रस में छिपे कड़वेपन का बोध होने लगता है कि व्यर्थ ही इस रस में डूबा रहा।

इसलिए प्रभुविषयक प्रेमरस में ही अनोखी मिठास है। श्रीकृष्ण जिसे कृपापूर्वक प्रेमरस दान देते हैं, प्रेमरस का दान करते हैं, उसे संसार के सभी रस तुच्छ लगते हैं। शुकदेव जैसों ने तो इस रस के लिए लँगोटी तक छोड़ दी थी किन्तु कृष्ण की कथा नहीं छोड़ी कारण, श्रीकृष्ण-कथा में जगत् को भुलाने और समाधि अवस्था में पहुँचाने की अलौकिक शक्ति छिपी है।

जीव को सात वासनाओं की गाँठें बाँधे रहती हैं। पति या पत्नी, पुत्र, धन, परिवार, पैसा, पद और प्रतिष्ठा—ये सात गाँठें वासना की हैं। इन गाँठों को काटना नहीं है, मात्र विवेक से खोलना है। इसके लिए प्रेम से प्रभु का नाम जप करो और जीवन को भगवन्मय बनाओ। धीरे-धीरे गाँठें अपनेआप खुलती जाएँगी।

नयी बात यदि उचित लगे तो विवेकपूर्वक अपनाओ किन्तु पुरानी को एकदम छोड़ मत दो।

□

हंसावर

उड़ चल अब दूर कहीं, हंसावर प्राणों के !
 मिट्टी ने गोद खिला-खिला तुझे बड़ा किया ! धरती का सद्य हृदय अंतरिक्ष-वासी है,
 दिया दिशा-ज्ञान और पाँवों पर खड़ा किया ! जिसका तू अंश, घरा उसकी ही दासी है !
 शाश्वत मत नोड़ बना, यायावर प्राणों के ! मिट्टी की माया तज, मायावर प्राणों के !
 सम्मुख गंतव्य-धाम, पथ से तू मुँह न मोड़ !
 उड़ता चल अम्बर में, धरती पर छाँह छोड़ !
 छाया की बाँह न गह, छायाघर प्राणों के !

—नरेन्द्र शर्मा

प्राण जाहूँ बरु बचन न जाई

—श्री रामकुमार भुवालका

युधिष्ठिर सब भाइयों तथा द्रौपदी के साथ वनवास भोग रहे थे। एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ पधारे। युधिष्ठिर ने उनसे पूछा—‘यदुनन्दन, मैं सब तरह से धर्म-युक्त व्यवहार करता हूँ, कभी भी पापाचरण नहीं करता, फिर भी मुझे वनों में भटकना पड़ रहा है। राजा द्रुपद की पुत्रमारी पुत्री, जो राजासन के योग्य है, इस कुशासन पर सोती है और कौरव, जो अधर्म का व्यवहार करते हैं ईश्वर से भी नहीं डरते और जिन्होंने जुआ खेलते समय कपट करके मुझे वनों में भेज दिया है, राज-सुख भोगते हैं। इसका क्या कारण है?’

भगवान् श्रीकृष्ण मुस्करा कर बोले—धर्मराज, ज्ञानी के लिए प्रमाद से बढ़ कर दूसरा कोई अनर्थ नहीं है, क्योंकि प्रमाद से मोह, मोह से अहंकार, अहंकार से बन्धन और बन्धन से दुःख होता है, और दुःख का कारण वचन की शिथिलता है। यदि मनुष्य दृढ़ रहे तो दुःख पास नहीं फटकता परन्तु जहाँ तनिक भी दुर्बलता आयी, वहाँ दुखों की भीड़ जुटते देर नहीं लगती।

युधिष्ठिर चुप हो गये, किन्तु अर्जुन ने प्रश्न किया—मधुसूदन, मैं तो सदा से प्रतिज्ञा-पालक हूँ, फिर मुझे इस विपत्ति में क्यों सम्मिलित होना पड़ा? श्रीकृष्ण बोले—निश्चय ही तुम्हारे प्रतिज्ञा-पालन में कहीं कोई त्रुटि रही होगी। ऐसा न होता तो ईश्वर तुम पर कोई संकट नहीं आवे देता।

‘मैंने तो कभी अपना वचन नहीं छोड़ा, अपने धर्म का पालन करने में कभी कोई त्रुटि नहीं की मुझे अपने आप पर पूरा भरोसा है।’

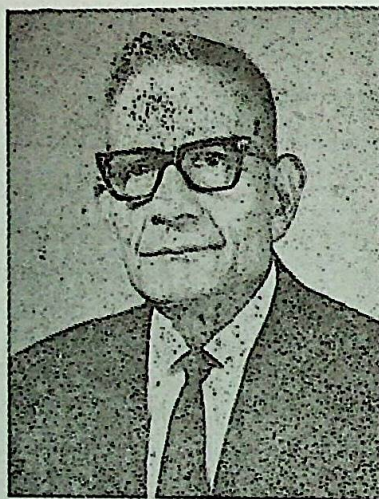
श्रीकृष्ण मुस्कराये। उनकी मुस्कराहट का रहस्य अर्जुन की समझ में नहीं आया। कुछ समय बीत जाने पर श्रीकृष्ण अर्जुन को लेकर नदी तट पर घूमने गये। रास्ते में उन्होंने अर्जुन के गले में पड़ी हुई माला की ओर संकेत करके कहा—पार्थ, तुम्हारी यह माला बड़ी सुन्दर है लाओ, इसे मुझे दे दो।

अर्जुन ने कहा—‘प्राण भले ही चले जाएँ, किन्तु यह माला मैं किसी को नहीं दे सकता। इन्द्र ने जब यह माला मुझे दी थी तो कहा था कि इसे किसी को भी मत देना। मैंने इस माला को अपने से कभी अलग न करने की प्रतिज्ञा की है।’

श्रीकृष्ण बोले—‘मित्र, तुम अपनी प्रतिज्ञा के प्रति सजग हो, यह देखकर मुझे बड़ा आनन्द होता है, लेकिन देखा यह गया है कि जब प्राण संकट में पड़ जाते हैं, तो प्रतिज्ञाएँ नहीं निभने पातीं।’

अर्जुन ने कहा—‘मेरी यह टेक ऐसी है कि लाख संकट आने पर भी मैं इसे छोड़ नहीं सकता।’ बातें करते-करते और टहलते-टहलते सूर्यास्त हो गया। अर्जुन स्नान करने के लिए नदी में उतरे।

ज्योंही डुबकी लगा कर उन्होंने सिर बाहर निकाला, देखा एक भयंकर सिंह गर्जना करते हुए, मुँह फैला कर उन्हें भूखी आँखों से देख रहा है। अर्जुन के पास उस समय न तो कोई अस्त्र-शस्त्र था, न आत्मरक्षा का कोई अन्य साधन। सिंह उन पर किसी भी क्षण झपटने को तैयार था। उन्होंने अपने गले में पड़ी हुई माला फौरन उतारी और मन्त्र पढ़कर सिंह पर फेंकी। सिंह माला को लेकर अदृश्य हो गया। यह देख कर उन्हें बड़ा विस्मय हुआ।



लेखक

श्रीकृष्ण के पास जाकर उन्होंने सारी घटना कह सुनायी, किन्तु माला उतार कर फेंकने वाली बात छिपा रखी। जब वे अपने कपड़े पहनने लगे तो देखा कि माला उनके कपड़ों पर पड़ी थी। श्रीकृष्ण ने मुस्कराते हुए पूछा : क्यों अर्जुन, कहाँ गयी तुम्हारी टेक ? अर्जुन लज्जा से गड़ गये। उन्हें अपनी दुर्बलता पर मन ही मन पश्चात्ताप हो रहा था। उन्होंने निश्चय किया कि भविष्य में वे अपनी टेक किसी भी मूल्य पर नहीं छोड़ेंगे।

कुछ दिनों बाद श्रीकृष्ण पुनः अर्जुन को लेकर बातें करते हुए वन में काफी दूर निकल गये। भयंकर गर्मी पड़ रही थी। चलते-चलते दोनों ही क्लान्त हो चुके थे। भूख-प्यास से बुरा हाल था। आसपास न तो कोई जलाशय था और न किसी घने वृक्ष की शीतल छाया। अर्जुन के पैर इधर उधर पड़ रहे थे। श्रीकृष्ण ने कहा— थोड़ा और आगे बढ़ कर देखो, शायद पानी मिल जाए।

अर्जुन के लिए अब एक पग बढ़ना भी कठिन था। एक ऊँचे पेड़ के नीचे वे बैठ गये। श्रीकृष्ण बोले—तुम यहीं रुको मैं उस गाँव में जाकर खाने-पीने का इन्तजाम करके आता हूँ, लेकिन यहाँ से हट कर कहीं इधर-उधर मत जाना, वरना मैं तुम्हें कहीं ढूँढ़ता फिल्लेगा ?

अर्जुन ने कहा—मैं यहीं बैठा रहूँगा। कहीं नहीं जाऊँगा। श्रीकृष्ण चले गये। सूर्य की किरणें अंगारे बरसा रही थीं। प्यास से व्याकुल अर्जुन को थोड़ी ही देर में मूर्छा आ गयी। जब होश आया तो देखा भिखारियों का झुण्ड एक गृहस्थ को घेरे खड़ा है। गृहस्थ चूड़े तथा भुने चने बाँट रहा था। अर्जुन किसी तरह अपने को सँभाल कर उठे और लड़खड़ाते हुए उस गृहस्थ के पास जाकर भुने चने लेकर खाने लगे। भर पेट पानी पीने और थोड़ा अन्न जाने से उनकी आँखें खुलीं। तभी उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण एक ग्रामीण को साथ लेकर खाने-पीने का सामान लिये हुए आ पहुँचे। अर्जुन अब भी बचे हुए चने चबा रहे थे।

श्रीकृष्ण ने पूछा, यह क्या ? तुम्हें खाना-पीना किसने लाकर दिया ? अर्जुन ने सकुचाते हुए कहा : 'भूख-प्यास के मारे मेरे प्राण ही निकल जाते, इसलिए बाँटने वाले से लेकर खा रहा हूँ।'।

श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन याद है, तुमने कहा था कि इस पेड़ को छोड़ कर कहीं नहीं जाऊँगा। क्या तुम्हारी

प्रतिज्ञा ऐसी ही है ? यदि थोड़ी देर तक तुमसे भूख सहन नहीं हुई और तुमने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी तो फिर महत्त्व के काम में तुम अपनी प्रतिज्ञा कैसे निभाओगे ? पार्थ ! अपने स्वार्थ के लिए हाय-हाय करने वाला पुरुष इस सुख-हीन संसार में भला कैसे अपनी प्रतिज्ञा निभा सकता है ? अर्जुन ने कुछ क्षणों तक विचार-मग्न रह कर श्रीकृष्ण से पूछा, 'मधुसूदन, मेरे मन में उत्पुक्ता है मुझे किसी सच्चे टेकी को दिखाइए। मैं देखना चाहता हूँ कि वह अपनी टेक किस प्रकार कठिन परिस्थितियों में निभाता है।'।

श्रीकृष्ण ने कहा, अच्छा तो चलो मेरे साथ। किन्तु हमें भेस बदल कर साधु बनना होगा। दोनों साधु का भेस धारण करके गाँव में पहुँचे। वहाँ साधु-सन्तों की सेवा करने वाला, सब धर्मों का पालक अपने नित्य-नियमों के प्रति सदा सावधान एक धर्मनिष्ठ महावैष्णव ब्राह्मण रहता था। दोनों साधु भिक्षा पात्र लेकर ब्राह्मण के द्वार पर उपस्थित हुए।

ब्राह्मण ने उनका यथोचित आदर-सत्कार करते हुए उनसे भोजन करने की प्रार्थना की। साधुओं ने प्रार्थना इस शर्त के साथ स्वीकार की कि ब्राह्मण स्वयं भोजन बनाकर उन्हें खिलाएगा। ब्राह्मण के दो स्त्रियाँ थीं। उसने उन्हें भोजन तैयार करने का आदेश दिया। स्त्रियाँ तत्काल अपने काम में जुट गयीं। शीघ्र ही भोजन तैयार करके उन्होंने आसन बिछाया और वे अतिथियों के सामने पहुँचीं। उनसे लज्जा तथा विनयपूर्वक प्रार्थना की—'भोजन ग्रहण करके हमें कृतार्थ करें।'।

दोनों साधुओं ने ब्राह्मण-पत्नियों से पूछा—तुम्हारे स्वामी ब्राह्मण देवता कहाँ हैं ?

एक स्त्री बोली—महाराज, वे भोजन करके चले गये। श्रीकृष्ण बोले—उनको यहाँ बुलवाओ हम उनके साथ ही भोजन करेंगे। साधुओं का हठ देख कर स्त्रियों ने अपने स्वामी के पास सूचना भिजवायी। ब्राह्मण बड़े धर्म-संकट में पड़ा। बहुत कुछ सोच-विचार कर वह आया और अतिथियों को प्रणाम करके बोला—महाराज, मेरा नियम अकेले ही भोजन करने का है। इसलिए मैंने भोजन कर लिया। यदि अपराध हुआ तो क्षमा करें। दोनों साधुओं ने कहा—आज तो तुम्हें हमारे साथ भोजन करना ही होगा। यदि तुमने अस्वीकार किया तो हम बिना भोजन किये ही चले जाएँगे।

ब्राह्मण सोचने लगा कि ये सन्त अगर थाली छोड़ कर उठ जाएंगे तो मुझे महापाप लगेगा। विवश होकर उसने अपने लिए एक पाटा रखवाया। एक स्त्री बहुत ही दुःखित चित्त से कांपती हुई उसके सामने थाली लाकर रख गयी। ब्राह्मण ने थाली में कुछ देखते हुए कहा, 'अचार तो रखा ही नहीं, मैं ही लेकर आता हूँ।' यह कहता हुआ वह छत पर चला गया। उसे लौटते में देर हुई तो दोनों स्त्रियाँ भी बारी-बारी से छत पर गयीं। श्रीकृष्ण और अर्जुन उनकी राह देखते रहे। फिर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—'उठो, चलो तुम्हें दिखाऊँ सच्ची टेक क्या होती है।'।

अर्जुन श्रीकृष्ण के पीछे चलते हुए छत पर बनो हुई कोठरी में जब पहुँचे तो वहाँ का दृश्य देख कर उनकी साँस रुक गयी। ब्राह्मण और उसकी दोनों पत्नियों के निर्जीव शरीर वहाँ पड़े थे। अर्जुन ने घबराहट में पूछा—'केशव यह क्या ? इन तीनों ने आत्म-हत्या क्यों कर ली ?' श्रीकृष्ण मुस्कराए। सारी लीला उन्हीं की थी। उन्होंने मृतकों को पुनः जीवित कर दिया और अर्जुन सहित अपने असली रूप में आ गये। ब्राह्मण ने श्रीकृष्ण को वहाँ देख कर हाथ जोड़ लिये।

श्रीकृष्ण के पूछने पर उसने आत्महत्या का कारण बतलाया—'भगवन्, आप तो घट-घटवासी हैं। फिर भी आप पूछते हैं तो बताता हूँ। मेरे पिता छुटपन में ही मुझे छोड़ कर चल बसे। उन्होंने मेरा विवाह इस बड़ी स्त्री से किया था। जवान होने पर अपनी माता को आज्ञा से मैं अपनी स्त्री को लेने इसके मायके गया। अपने ससुर के गाँव के निकट पहुँचते ही एक कौतुक हुआ। आषाढ़ के दिन थे। गाँव की बहुत सी कन्याएँ गाँव के बाहर गोबर लेने आयी थीं। उन्होंने अपनी टोकरीयों में बहुत सा गोबर भरा था। मैं घोड़े पर सवार था। एक कन्या ने मुझसे अपनी टोकरी उठावे में सहायता माँगी। मैं

टोकरी उठाने के लिए घोड़े से उतरा तो वह बोली, 'तुम दूर से ही मेरी टोकरी मेरे सिर पर रखना, मेरे शरीर में तुम्हारा हाथ न लगे।' मैंने भी कहा, तू चिन्ता न कर, मैं राम की शपथ लेकर कहता हूँ कि तुम्हारा स्पर्श नहीं कल्लेगा। फिर मैंने दूर से टोकरी उठा दी।

ससुराल पहुँचने पर पता चला कि वही मेरी स्त्री थी। अपनी शपथ का स्मरण करके मैं मन ही मन पछताने लगा, लेकिन बात मुँह से निकल चुकी थी। स्त्री को लेकर जब घर लौटा तो पड़लो रात में ही मैंने उसे अपनी शपथ की याद दिलाते हुए कहा 'यह संकल्प जीवन-भर पालन करना है।' तुम भी अपना धर्म पालन करो और मैं भी पालन कल्लेगा। तुम मेरी सहायता करना।

कुछ दिनों बाद मेरी स्त्री ने मेरे वंश की रक्षा के लिए सन्तान की आवश्यकता अनुभव करके मेरा विवाह अपनी छोटी बहिन से करा दिया। दूसरी बेटी को विदा करते समय मेरे ससुर ने कहा 'जैबाईजी, आपने जिस प्रकार मेरी बड़ी लड़की को सुख दिया उसी तरह इसे भी देना।' दोनों में कोई भेद-भाव न रखना।

दोनों पत्नियों के लिए एक ही शपथ निभाने के लिए मैं विवश था। इन्हें छूना या इनके हाथ का बना भोजन छूना मेरे लिए एक ही समान है। भोजन न करता तो आप मुझ पर क्रोधित होते और मैं पाप का भागी होता। अतः आपकी आज्ञा अमान्य करने के पाप से बचने के लिए तथा अपनी टेक निभाने के लिए मुझे प्राण त्याग करना पड़ा। मेरे वियोग में मेरी स्त्रियाँ ने भी आत्महत्या कर ली।"

ब्राह्मण की दृढ़ता देख कर अर्जुन चकित रह गये। श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण के मस्तक पर हाथ रख कर कहा—ब्राह्मण देवता, आज से आप संसार के सुख को भोगें। आप तीनों का नया जन्म हुआ है। अब पूर्वजन्म की शपथ जीवन में बाधक नहीं होगी।

विश्व-शान्ति

अगर तुम्हारा हृदय पवित्र है, तो तुम्हारा आचरण भी सुन्दर होगा; अगर तुम्हारा आचरण सुन्दर है, तो तुम्हारे घर में शान्ति रहेगी; अगर घर में शान्ति है, तो राष्ट्र में सुव्यवस्था होगी और अगर राष्ट्र में सुव्यवस्था है, तो समस्त विश्व में शान्ति और सुख रहेगा।

—चीनी कहावत

हम १०० वर्ष जी सकते हैं

[चीनियों में कहावत है कि सौ वर्ष के बाद मरने वाला व्यक्ति वापस धरती पर नहीं आता। बड़ी रहस्यपूर्ण कहावत है ! तात्पर्य यह है कि १०० वर्ष तक जीने में शरीर के साथ आत्मा की साधना भी पूरी हो जाती है— अर्थात् दीर्घायु के लिए तन और मन दोनों की साधना आवश्यक है—सं०]

आजकल किसी का सौ वर्ष की अवस्था तक पहुँच जाना बहुत आश्चर्य एवं सौभाग्य की बात मानी जाती है। परन्तु क्या सचमुच सौ वर्ष का जीवन प्राप्त करना बहुत कठिन है—दुःसाध्य है ? आम धारणा है कि बुढ़ापा मनुष्य के जीवन की एक आवश्यक अवस्था है और इसे टाला नहीं जा सकता, पर वास्तव में यह निरा भ्रम है।

बुढ़ापा है क्या बला ? बुढ़ापा मनुष्य की शारीरिक और मानसिक दुर्बलता का दूसरा नाम है। दोनों ही प्रकार की दुर्बलताएँ बुढ़ापे को निमन्त्रित करती हैं। प्रायः लोग सोचते हैं कि अधिक उम्र होने पर ही बुढ़ापा आता है—परन्तु बात ऐसी नहीं है। जब भी हमारा शरीर और मस्तिष्क दुर्बल हो जाता है, बुढ़ापा आ जाता है। एक २५ वर्ष के नवजवान में भी बुढ़ापा पाया जा सकता है। जधानी का सम्बन्ध उम्र से नहीं, शरीर और मस्तिष्क की शक्ति से होता है। कोई व्यक्ति ४० वर्ष की उम्र में ही पीला, दुर्बल और शक्तिहीन हो जाता है और कोई अस्सी वर्ष की अवस्था में भी फुर्तीला नवजवान-सा दिखाई पड़ता है। अभी हाल में अमेरिका के “फिजिकल कल्चर” पत्र के संचालक श्री बर्नार्ड मैकफैडन अपनी ८१ वर्ष की अवस्था में हवाई जहाज से पैराशूट लेकर कूदे थे। उनका यह कार्य जवानी का ही तो द्योतक है।

हम सोचते हैं कि मनुष्य अधिक-से-अधिक सौ वर्ष जी सकता है, परन्तु वैज्ञानिकों का कहना है कि प्रकृति ने मनुष्यों को १०० से २०० वर्ष तक जीने की क्षमता प्रदान की है। कुछ शरीर-विज्ञान-विशेषज्ञों का तो यहाँ तक कहना है कि यदि सावधानीपूर्वक नियमों का पालन किया जाय, तो बहुत अधिक समय तक जिया जा सकता है। घमनियों और हृदय की सबलता दीर्घ-जीवन प्रदान करती है। इनकी कमजोरी जवानी के लिए डायनामाइट-स्वरूप है। यह ख्याल भी गलत है कि उम्र की वृद्धि के साथ-साथ

शरीर वृद्ध होता है। नहीं, शरीर सदा नवीन रहता है, क्योंकि इसके कोषाणु रोज हो बदलते रहते हैं। कोषाणुओं का यह नित-नवीन परिवर्तन ग्रन्थियों की सक्रियता और घमनियों के लचीलेपन पर निर्भर करता है। जहाँ ग्रन्थियों ने काम करना बन्द किया और घमनियाँ कड़ी हुईं कि कोषाणुओं का नूतन-परिवर्तन बन्द हो गया और शरीर पुराना पड़ने लगा। हमारे शरीर में नित्य कितने ही सूक्ष्म कीटाणु साँस आदि के साथ प्रवेश कर जाते हैं। ग्रन्थियों और घमनियों की सही अवस्था में रक्त सबल बना रहता है और वह इन कीटाणुओं को नष्ट कर देता है। किन्तु, रक्त की दुर्बलावस्था में ये कीटाणु नष्ट नहीं हो पाते और भाँति-भाँति के रोग पैदा कर देते हैं।

ग्रन्थियाँ काम करना क्यों बन्द कर देती हैं और घमनियों में कठोरता क्यों आ जाती है ? आहार में प्रोटीन एवं अन्य पोषण-तत्त्वों का अभाव, शुद्ध हवा का न मिलना और बहुत अधिक अथवा बहुत कम परिश्रम, इसके कारण बताये जाते हैं। कोषाणुओं के निर्माण और क्षय की दृष्टि से युवावस्था से ही आहार पर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए। स्थिति की अनुकूलता और सारे साधनों के प्रस्तुत रहने पर कोषाणुओं की वृद्धि बराबर होती रहती है और यह वृद्धि तब तक रहती है, जब तक पोषण-तत्त्वों की प्राप्ति में कमी नहीं होती। कमी होने पर कोषाणुओं की वृद्धि शनैः-शनैः धीमी पड़कर रुक जाती है और तब समुचित पोषण न मिलने अथवा विकृत कोषाणुओं से ही उत्पन्न हुए विष के कारण अंगों की दुर्बलता और क्षय का कार्य आरम्भ हो जाता है। यदि आहार में इस बात का पूरा ख्याल रखा जाय कि कार्बोहायड्रेट के साथ प्रोटीन और वसा का बराबर सन्तुलन रहे, तो घमनियों और ग्रन्थियों का कार्य सुचारु रूप से चलता रहता है। इनकी सक्रियता नष्ट होने के ही कारण बुढ़ापे में पाचन-शक्ति कमजोर पड़

जाती है और अंत में शिथिल हो जाती है। सन्तुलित एवं पोषक आहार से इन सभी चीजों को स्वस्थ एवं सक्रिय अवस्था में रखा जा सकता है। संसार में सर्वाधिक स्वस्थ जाति पश्चिमोत्तर भारत की 'हुंजा' जाति है। ये लोग कभी बीमार नहीं पड़ते और बहुत दिनों तक जीते हैं। खोज-बीन करने पर पता चला कि इनका आहार ही इसका प्रधान कारण है।

किन्तु, केवल पौष्टिक एवं सन्तुलित भोजन से ही सभी अमावों की पूर्ति नहीं हो जाती। भोजन के साथ-साथ स्वच्छ वायु और प्रकाश भी जीवन के लिए बहुत आवश्यक है। वायु ही हृदय-क्रिया को संचालित करती एवं रक्त को मूल से भरे सूक्ष्म मार्गों से ले जाती है और उसे हानिकारक कीटाणुओं को नष्ट करने की क्षमता प्रदान करती है। किन्तु, वायु शुद्ध हो। वायु-शुद्धि के लिए प्रकाश का सर्वोपरि महत्त्व है। सूर्य की रश्मियों में विनाशकारी तत्वों को नष्ट करने की क्षमता रहती है। इसके स्पर्श से हवा में भी यह गुण आ जाता है।

भोजन और वायु के पश्चात् मेहनत का स्थान आता है। जीवन में श्रम का अपना अलग महत्त्व है। मनुष्य की सारी कर्मेन्द्रियाँ श्रम को अपनाकर ही अपनी सार्थकता प्रकट करती हैं। किन्तु, भोजन की भाँति यहाँ भी विवेक का सन्तुलित मार्ग ग्रहण करना चाहिए। अधिक परिश्रम जिस प्रकार शरीर पर अत्याचार है, उसी प्रकार कम श्रम भी शरीर के प्रति दण्डनीय अपराध है। अधिक परिश्रम करने से रक्तचाप बढ़ जाता है, जो जीवन को क्षीण कर देता है। साथ ही हृदय, धमनियों एवं गुदों की बीमारियाँ हो सकती हैं, जिनका प्रभाव रक्तचाप पर भी अहितकर पड़ता है। प्रति-मिनट १०० से अधिक नाड़ी की धड़कन रोग का कारण समझी जानी चाहिए। दूसरी ओर, परिश्रम न करने से मनुष्य में अनावश्यक मोटापा आ जाता है। मोटे मनुष्य साधारण मनुष्यों की अपेक्षा ७५ प्रतिशत अधिक रुग्ण रहते हैं और जल्दी मरते हैं। फलतः शरीर का बहुत अधिक अथवा बहुत कम वजन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। अधिक वजन वाले लोग जल्दी मरते हैं, क्योंकि उनके हृदय पर अधिक भार हो जाता है। कम वजन के मनुष्य साधारणतः यक्ष्मा के शिकार बन जाते हैं, क्योंकि शरीर के पोषणार्थ उनमें आवश्यक मांस नहीं रहता।

शारीरिक दुर्बलता तो बुढ़ापे और मृत्यु का कारण है ही, परन्तु मानसिक दुर्बलता भी कम क्षति नहीं पहुँचाती। ४० के उस पार होते ही लोग समझने लगते हैं कि अब वे बुढ़ापा और मृत्यु के निकट आ गये—अब कुछ करने अथवा सीखने का उनका समय जाता रहा—उन्हें आराम से पड़े रहना चाहिए। बुढ़ापे का सबसे प्रिय मित्र यही मानसिक दुर्बलता है। इस तरह की धारणा बन जाने पर अधिक उम्रवाले तो जल्दी बूढ़े होकर मरेंगे ही, यदि कम उम्र वालों में भी जीवन के प्रति यह निराशा घर कर जाय तो वे बूढ़े हो जाएँ। यह मनोवृत्ति बहुत हानिकार साबित होती है। व्यक्ति के स्वाभाविक जीवन, उत्साह और चैतन्य का धीरे-धीरे ह्रास होने लगता है और एक प्रकार की जड़ता तन और मन के समस्त अवयवों पर हावी होने लगती है। अतः व्यक्ति को इस पराश्रय के प्रलोभन से बचने का प्रयत्न युक्तिपूर्वक कर लेना चाहिए। मानसिक बुढ़ापे के लक्षण लघु-स्मृति, शून्य-चित्तता, शक्ति-हीनता, भय, शंका और अविश्वास हैं। ये चीजें जब कभी भी किसी व्यक्ति में आ जाती हैं, वह बूढ़ा हो जाता है। चिन्ता अथवा तीव्र भावनाएँ रक्त में रासायनिक पदार्थ ला देती हैं, हृदय-गति को तेज कर देती हैं, धमनियों की मांसल दीवारों को संकुचित कर देती हैं और कुछ क्षेत्रों में रक्त जमा कर देती हैं, जिससे समस्त शरीर से रक्त प्रवाहित नहीं होता और इस प्रकार जीवन-गति को तेज कर देती हैं। मनुष्य बहुत शीघ्र बुढ़ापे और मृत्यु की गोद में चला जाता है। अवैयं, उत्तेजना, क्रोध और चिन्ता रक्त-चाप बढ़ा देते हैं। रक्तचाप में वृद्धि हानिकारक है, सर्वविदित है। वास्तव में ऐसी भावना का उदय विष-संचार की सूचना है। इससे बचे रहना ही श्रेयस्कर है। ऐसी मनोवृत्ति के आते ही किसी काम में अपने आपको भुला देना चाहिए। सामाजिक क्षेत्र के किसी काम को सेवा-भाव या वैतनिक रूप से अपनाने की चेष्टा करनी चाहिए। जवानी में कार्य-प्रवाह की जो गति होती है, वह तो यहाँ बाँधनीय नहीं हो सकती; मगर कर्म-प्रवाह को रुकने नहीं देना चाहिए। असल में, अप्रतिहत कार्य-प्रवाह का नाम ही जवानी है और प्रयत्न करने पर काफी लम्बे समय तक इसे कायम रखा जा सकता है। यदि मनुष्य अपनी आयु के विषय में सोचना छोड़ दे और कार्य-रत रहे, तो वृद्धावस्था में भी जवान बना रह सकता है। अनुसन्धानों से यह बात साबित हो चुकी

है कि कैंसर, गठिया, हृदय-रोग आदि बीमारियों का बुढ़ापे से कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीर की सबलता अधिक-से-अधिक समय तक हानिकारक कीटाणुओं से संघर्ष कर सकती है। रक्त की खराबी, ग्रन्थियों का कार्य बन्द करना और घमनियों की सिकुड़न इन बीमारियों को लाती है। अधिक उम्र होवे पर कभी भी अपने को भार-स्वरूप नहीं समझना चाहिए।

बुढ़ापे को रोकने के लिए जवानी के दिनों से ही प्रयत्न करना वांछनीय है। जवानी की सतर्कता बुढ़ापे में काम देती है। साथ ही हमें यह ब्याल छोड़ देना चाहिए कि हमारी आयु मात्र ४०-५० वर्ष अथवा अधिक-से-अधिक १०० वर्ष है तथा बुढ़ापा जीवन का एक आवश्यक अंग है। दीर्घ-जीवन की क्षमता शारीरिक और मानसिक सबलता में है और इसके बने रहने पर सौ वर्ष क्या, इससे अधिक दिनों तक भी हम आसानी से जी सकते हैं।

याचना

पाला गिरने से सारे कमल मुरझाकर गल गये। मगर सुदास माली ने बड़े परिश्रम से बगीचे के तालाब में एक सुन्दर कमल लगाया। जब कली पूरी खिल गयी तो वह उसे राजा को भेंट देने के लिए राजद्वार की ओर चल पड़ा। राजमहल के द्वार पर ही उसे एक और वैभववान् व्यक्ति मिल गया जो इस असमय में खिले कमल को खरीदने के लिए आतुर हो उठा :

“माली, भगवान् बुद्ध ने आज इस नगर को अपनी चरण-रेणु से मंगलमय बना दिया है। यह कमल तू मुझे बेच दे। मैं उनके पावन चरणों पर इसे चढ़ाऊँगा। क्या लेगा तू ?”

“श्रीमान्, मुझे एक माशा सोना चाहिए। मैं कमल आपको बेच दूँगा।”

इसी समय राजसी ठाठ के साथ राजा प्रसेनजित् भी भगवान् तथागत की पूजा के लिए बाहर निकले। माली के हाथ में कमल का अलम्ब्य फूल देखकर वे गद्गद हो उठे : “सुदास, क्या मूल्य है तेरे इस फूल का ? ला, मुझे बेच दे। मैं इसे प्रभु के दिव्य चरणों में चढ़ाऊँगा।”

“राजन्, मैंने वह फूल एक माशा सोने में इन श्रीमान् को बेच दिया है।”

“माली, मैं दस माशा सोना दूँगा। फूल मुझे दे।” राजा ने लोलुप आँखों से फूल को देखा।

“माली, मैं तुझे बीस माशा सोना देता हूँ।”

दोनों खरीदारों में प्रतियोगिता शुरू हो गयी। बड़ी-से-बड़ी कीमतें लगायी जाने लगीं।

अन्त में माली ने हाथ जोड़कर कहा—“अपराध क्षमा कीजिए ! मैं यह फूल बेचना नहीं चाहता।” और माली दौड़ कर सीधा वहाँ पहुँचा, जहाँ आनन्दमूर्ति भगवान् बुद्ध बैठे थे। उनके निश्चल अधरों से कृष्णा का अमृत बरस रहा था। सुदास कृतार्थ हो गया। उसने साष्टांग दण्डवत् किया और वह कमल उन पावन चरणों पर चढ़ा दिया। प्रभु के मुख पर मुसकान बिखर गयी और अमृत के समान मीठी वाणी में उन्होंने पूछा : “वत्स क्या याचना है तुम्हारी ?”

सुदास ने आनन्दाश्रु बहाते हुए निवेदन किया : “कुछ नहीं, प्रभु ! केवल कणमात्र चरण-रज मुझे चाहिए !”

रवीन्द्र के ‘अवदान शतक’ से

पुस्तक-समीक्षा

१. साधना-पथ—साधना-पथ पर चलने के लिए रविवार से शनिवार तक की जाने वाली प्रार्थनाओं तथा सूक्तियों का यह संकलन है। 'गीता', 'रामचरितमानस' तथा अन्य सन्त-महात्माओं की वाणियों के इस संग्रह में सामान्य प्रार्थना, अभयदान, उन्नति का मार्ग, इन्द्रियों एवं मन का निग्रह, भगवान् को प्रिय, देव और असुर, सात्त्विक कर्म तथा कर्ता, सच्चा तप और सुख, स्थितप्रज्ञ के लक्षण, उपासना-सूत्र शीर्षकों के अन्तर्गत साधना-पथ का निर्देश किया गया है। निश्चय ही यह संकलन साधकों के लिए दीपस्तम्भ का कार्य करेगा।

२. बंदर्जे सीताराम पद—यह पुस्तक रामचरित-मानस के विभिन्न पात्रों—कोसल्या, अहल्या, परशुराम, वाल्मीकि, अत्रि, सुतीक्ष्ण, जटायु, बालि, देवगण, ब्रह्मा, इन्द्र, शंकर, चारों वेद, सनकादि, नारद आदि द्वारा मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की की गयी स्तुतियों का अर्थ सहित संकलन है। इसके अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विभिन्न देवताओं की स्तुतियाँ, सीता द्वारा पार्वती स्तुति, ब्राह्मण गुरु द्वारा शिवस्तुति, श्रीरामकीर्तन, ध्यान, विनय, हरिशंकरो स्तुति, आरती, स्तुतियों के माहात्म्य का समावेश कर सम्पादक ने पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ा दी है। भगवान् राम-सम्बन्धी स्तुतियों को एक स्थान पर उपलब्ध कराकर रामभक्तों का बड़ा उपकार किया गया है।

३. नारायणि नमोऽस्तुते—इस स्तुति-संकलन में आद्याशक्ति भगवती दुर्गा की स्तुतियों का समावेश है। एक ही शक्ति के तीन रूप—महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली हैं। इन तीनों रूपों की स्तुति इस पुस्तक में दी गयी है। जैसे—महर्षि आश्वलायन और बृहस्पति द्वारा सरस्वती-स्तवन, इन्द्र और देवताओं द्वारा लक्ष्मी-स्तुति, देव-

ताओं द्वारा महिषमर्दिनी-स्तुति, महेश्वर द्वारा दुर्गा आपद्-उद्धार स्तुति, देवों द्वारा भगवती, देवी और दुर्गा स्तुति, उपमन्यु द्वारा उमा स्तुति, श्री शंकराचार्य द्वारा जगन्माता स्तुति। नारायण द्वारा गायत्री स्तुति, गोस्वामी तुलसीदास द्वारा देवी स्तुति। इसके अतिरिक्त नवाह की समाप्ति पर स्तोत्र पाठ, दुर्गा द्वात्रिंशन्नाममाला का समावेश कर इस स्तुति संकलन को पूर्णता प्रदान की गयी है। इन स्तुतियों का संकलन मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत श्री दुर्गासप्तशती, देवी भागवत और शिवपुराण आदि सुप्रसिद्ध धर्म-ग्रन्थों से किया गया है।

वस्तुतः देवी के भक्तों के लिए यह स्तुति-संकलन बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

मण्डेलिया परमार्थ कोश यदि इसी प्रकार श्रीगणेश और भगवान् सूर्य के स्तोत्र-संकलन प्रकाशित कर दे तो स्मार्तों के पंचदेवों की स्तुतियाँ परिपूर्ण हो जाएँ। क्योंकि श्रीराम, श्रीकृष्ण और श्री शिव-स्तोत्र संकलन पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं।

४. शिव-रहस्यम्—लेखक के शब्दों में "यह पुस्तक भगवान् शंकर की प्रसन्नता हेतु उनके रहस्य-गोपनीय विषय-ध्यान, उपासना-विधान एवं शिव-तत्त्व का ज्ञान कराने वाला एक विशिष्ट ग्रन्थ-रत्न" है।

इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हिन्दी टीका के साथ शिवसम्बन्धी प्रायः सभी स्तुति-स्तोत्रों का संकलन एक स्थान पर मिल जायगा। जैसे शिवतांडव, रुद्राष्टक, शिवमहिम्नस्तोत्र आदि। स्तोत्रों के अतिरिक्त शिवतन्त्र, शिवरात्रिव्रत, मन्त्र-जप विधि आदि का भी इस ग्रन्थ में समावेश है। इस ग्रन्थ को लिखकर लेखक ने और सुन्दर ढंग से प्रकाशित कर प्रकाशक ने शिवभक्तों का बड़ा उपकार किया है।

□

१. संपादक—श्री शिवदयाल श्रीवास्तव, प्रकाशक—मण्डेलिया परमार्थ कोष, जियाजी राव काटन मिल्स, ग्वालियर, पृष्ठ संख्या डिमाई ५४, कपड़े की पक्की जिल्द, छपाई-सफाई श्रेष्ठ। मूल्य दो रुपये मात्र।
२. संपादक—श्री वियोगी हरि, प्रकाशक—वही। पृष्ठ-संख्या डिमाई १०२, कपड़े की पक्की जिल्द, नयनाभिराम आवरण, छपाई-सफाई श्रेष्ठ। मूल्य—पाँच रुपये मात्र।
३. संपादक-प्रकाशक वही। पृष्ठ-संख्या डिमाई ७२, कपड़े की पक्की जिल्द। छपाई-सफाई श्रेष्ठ, नयनाभिराम आवरण। मूल्य पाँच रुपये।
४. लेखक-सम्पादक—आचार्य पं. श्री शिवदत्त मिश्र, प्रकाशक—ठाकुरप्रसाद बुक्सेलर, चौक, वाराणसी-१। पृष्ठ-संख्या क्राउन ३२०, मूल्य सोलह रुपये।

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

श्री पं० केदारनाथ ओझा का सम्मान

पण्डित केदारनाथ ओझा को गत वर्ष संस्कृत अकादमी ने विशिष्ट पुरस्कार से सम्मानित किया है। किन्तु अस्वस्थता के कारण आप पुरस्कार वितरण समारोह में उपस्थित नहीं हो पाये थे इसलिए संस्कृत अकादमी के अध्यक्ष और सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति पण्डित कृष्णापति त्रिपाठी अन्य अधिकारियों के साथ स्वयं मुमुक्षु भवन में पधारे और ओझा जी को उन्होंने पुरस्कार-स्वरूप उत्तरीय, प्रमाणपत्र, ताम्रपत्र और पन्द्रह हजार का चेक दीर्घकालीन संस्कृत सेवाओं के उपलक्ष्य में प्रदान किया।



पण्डित केदारनाथ ओझा का जन्म १५ फरवरी सन् १९०९ ई० को बिहार राज्य के 'सिवान' जिले के 'गम्हरिया' गाँव में हुआ था। आपका अध्ययन काशी नगवा रुइया संस्कृत पाठशाला और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत महाविद्यालय में हुआ। व्याकरण और न्याय विषयों में शास्त्रार्थ के लिए आपको कई पुरस्कार प्राप्त हुए। आपने तीन वर्षों तक ग्रीष्मावकाश में दरभंगा जाकर संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० बालकृष्ण मिश्र के घर अध्ययन किया। आपने विभिन्न विश्वविद्यालयों से व्याकरण, न्याय, वेदान्त विषयों में सम्मान सहित आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की।

अध्ययन के पश्चात् आपने सोहनाग (देवरिया),

पाटण (गुजरात), शींगडा मठ (पोरबन्दर), लक्ष्मण-गढ़ (सीकर, राजस्थान), अहमदाबाद, महाराज संस्कृत कालेज, जयपुर, पटना राजकीय महाविद्यालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में (१९७६ में) सम्मानित अध्यापक के रूप में अध्यापन किया।

अध्यापन के साथ आपका लेखन कार्य भी चलता रहा। आपने विभिन्न साहित्य-गोष्ठियों में व्याकरण, न्याय, दर्शन विषयों पर निबन्ध पढ़े। हिन्दी और संस्कृत पत्रिकाओं में आपके निबन्ध प्रकाशित होते रहे। इसके अतिरिक्त सरस्वती-भवन पुस्तकालय में प्राचीन संस्कृत पाण्डुलिपियों का संशोधन और सम्पादन किया। रसगंगाधर चन्द्रिका प्रथम भाग का सम्पादन किया जिसे संस्कृत विद्यालय ने १९७७ में प्रकाशित किया। उत्तर प्रदेश शासन की संस्कृत अकादमी की आर्थिक सहायता से आपने 'विद्या वैजयन्ती' निबन्ध माला के दो भागों का स्वयं प्रकाशन १९७८ में किया।

सम्प्रति, आप विगत कई वर्षों से काशी मुमुक्षु भवन में निवास कर काशीवास कर रहे हैं और संस्कृत जिज्ञासुओं तथा शोध छात्रों का मार्गदर्शन करते हैं।

गत वर्ष भारत सरकार के शिक्षा विभाग के अनुदान से सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने जिन पन्द्रह वरिष्ठ विद्वानों को विभिन्न विद्यालयों में सम्मानित प्राध्यापकों को नियुक्त किया है उनमें एक पण्डित केदारनाथ जी ओझा भी हैं जो मुमुक्षु भवन स्थित वेद वेदांग महाविद्यालय में अध्यापन करेंगे। ओझा जी के अतिरिक्त जिन अन्य चौदह वरिष्ठ प्राध्यापकों को नियुक्ति हुई है उनको नामावाली और कार्यक्षेत्र इस प्रकार है:—

१. पं. बदरीनाथ शुक्ल गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,
२. पं. पट्टाभिराम शास्त्री „
३. पं. एस. सुब्रह्मण्यशास्त्री संस्कृत विश्वविद्यालय परिसर
४. पं. विभूतिभूषण भट्टाचार्य „
५. पं. दिनेश गुह „
६. पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते „
७. पं. रामप्रसाद त्रिपाठी „
८. पं. नरेन्द्रनाथ काव्यतीर्थ „

१. पं. ए. सुब्रह्मण्य शास्त्री साधुवेला संस्कृत महाविद्यालय
 १०. पं. मुरलीधर मिश्र उदासीन संस्कृत महाविद्यालय
 ११. पं. रघुनाथ शर्मा धर्मसंघ महाविद्यालय
 १२. पं. विश्वनाथ शास्त्री दातार सांगवेद महाविद्यालय
 १३. पं. रामनाथ दीक्षित दक्षिणामूर्ति संस्कृत महाविद्यालय
 १४. पं. खुटे शास्त्री सांगवेद संस्कृत महाविद्यालय

इन विद्वानों को एक हजार रुपया मासिक मानधन दो वर्ष के लिए दिया जायगा। जिन विद्वानों को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्राध्यापक नियुक्त किया गया है, वे इस योजना से लाभ नहीं उठा सकेंगे।

सरस्वती-पूजनोत्सव—वसन्त पंचमी दिनांक ३०-१२-८१ को पूर्वाह्न १० बजे श्री मुमुक्षु भवन वेद वेदांग महाविद्यालय के मुख्य भवन में सरस्वती-पूजनोत्सव संस्था के मन्त्री श्री पुरुषोत्तमदास भोदी की अध्यक्षता में मनाया गया। इस अवसर पर आचार्य थे महाविद्यालय के प्रधानाचार्य श्री पं. राधेश्याम मिश्र और यजमान थे छात्र प्रतिनिधि श्री नानेन्द्रनाथ पाण्डेय।

इस समारोह में छात्राध्यापकों तथा मुमुक्षु महात्माओं के अतिरिक्त सर्वश्री पं. शशिधर मिश्र, पं. केदारनाथ ओझा, पं. कृष्णशंकर शुक्ल और पं. यदुनन्दन दीक्षित आदि विद्वान् भी उपस्थित थे जिन्होंने छात्रों को प्रोत्साहन देते हुए सत्प्रेरणा तथा आशीर्वाचन प्रदान किये।

गणतन्त्र दिवस—२६ जनवरी १९८२ को १० बजे दिन में गणतन्त्र दिवस पर श्रीमुमुक्षु भवन वेद वेदांग महाविद्यालय के छात्रों, अध्यापकों तथा संस्था के अधिकारियों और कर्मचारियों की उपस्थिति में प्रधानाचार्य श्रीराधेश्याम मिश्र द्वारा सादर झण्डोत्तोलन सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर वरिष्ठ विद्वानों ने गणतन्त्र-दिवस तथा भारतीय संविधान का महत्त्व बतलाते हुए छात्रों को देशभक्ति का व्यावहारिक उपदेश दिया तथा “स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः” गीता-वचन की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की।

होमियोपैथिक चिकित्सालय—श्री रामकुमार भुवालका जन कल्याण ट्रस्ट के सहयोग से मुमुक्षु भवन के होमियोपैथिक चिकित्सालय में पिछले दिसम्बर-जनवरी में

रोगियों की संख्या इस प्रकार थी—

महीना	नये रोगी	पुराने रोगी	कुल
दिसम्बर	४९२	२५५८	३०५०
जनवरी	४८८	२४४५	२९३३

श्री ब्रजमोहन बिरला के निधन पर शोक सभा—

मुमुक्षु भवन के संस्थापक स्व० बलदेवदास बिरला के कनिष्ठ पुत्र श्री ब्रजमोहन बिरला के आकस्मिक निधन पर काशी मुमुक्षु भवन सभा में रविवार १७ जनवरी को मध्याह्न २ बजे सभा के न्यास मण्डल के न्यासी तथा प्रबन्ध-समिति के उपाध्यक्ष न्यायमूर्ति श्री चतुर्भुजदास पारेख की अध्यक्षता में मुमुक्षु भवन के दण्डी संन्यासियों वेद-वेदांग महाविद्यालय के अध्यापकों, छात्रों, मुमुक्षु भवन के वासियों तथा सद्भावियों की एक सभा हुई जिसमें निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया गया—

“श्री मुमुक्षु भवन सभा, राजा बलदेवदास बिरला की देन है, उस धर्मपरायण बिरला परिवार में राजा साहब के कनिष्ठ पुत्र कर्मनिष्ठ श्री ब्रजमोहन जी बिरला के आकस्मिक निधन पर काशी मुमुक्षु भवन सभा के समस्त सदस्य, निवासी, दण्डी-संन्यासी तथा सद्भावी हार्दिक संवेदना व्यक्त करते हैं। उद्योग, शिक्षा, चिकित्सा, समाज-सेवा और धार्मिक क्षेत्र में श्री ब्रजमोहन जी बिरला का अमूल्य योगदान है। उनके निधन से देश का एक उज्ज्वल नक्षत्र अस्त हो गया।

भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना है कि उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करें और उनके परिवार को शोक वहन करने की क्षमता दें।”

भण्डारा—ईश्वरमठ के संन्यासियों की भिक्षा के लिए स्थायी कोष के अतिरिक्त प्रतिमास उदार दान-दाताओं द्वारा भंडारा दिया जाता है। जनवरी में जिन दाताओं ने भंडारा दिया है, उनकी नामावली इस प्रकार है—

श्रीमती लतादेवी, श्रीमती कमली बाई, श्री जयदेव लोहिया, स्वामी हरिदास गिरि, श्रीमती कमलीबाई काशीपुरवाली, स्वामी शान्तानन्द, श्रीमती दुर्गीबाई, श्री मोहनलाल गहानी और श्री छोगालाल।



While purchasing Hessian, Sacking, Carpet Backing and other Jute products and cotton yarn, please insist on quality production.

We are always ready to meet the exact type of your requirement.

Kanoria Jute Cotton Mills Limited

4/1, Red Cross Place

Calcutta-700001

Phone : 23-2397/98
23-7197

Telex : 021-2196
Cable : KAYJUTE,
Calcutta.



JUTE MILL

Kanoria Jute Mill,
Sijberia, P. O. Uluberia,
Dist. Howrah (West Bengal)

SPINNING MILL

Shree Hanuman Cotton Mills
Fuleshwar, P. O. Uluberia, Dist. Howrah (West Bengal)

The Reliance Jute & Industries Limited

9, Brabourne Road

CALCUTTA - 700001

Phone : 26-7385 (4 Lines)

Gram : Reltrade

Telex : 7611 Rely, Calcutta



Proprietors of :

Reliance Jute Mills

Bhatpara, 24 - Parganas (W. B.)

Manufacturers of

Jute Goods (Hessian, Sacking,

Carpet Backing & Jute Specialities)

Keshari Steels

New Industrial Area,

Bombay - Agra Road, Dewas - 455001 (M. P.)

Manufacturers of Steel Rods & Bars

Licencees :

Pratappur Sugar Mills

P. O. Pratappur, Dist. Deoria (U. P.)

Manufacturers of Sugar



We specialize in

Decorative Jute Fabrics

For export as well as for local market

Ideally useful for

Furnishings, Wall Coverings

Hand, Shoulder, Shopping & School Bags

Ladies Hand Bags

Lamp Shades

Table Mats,

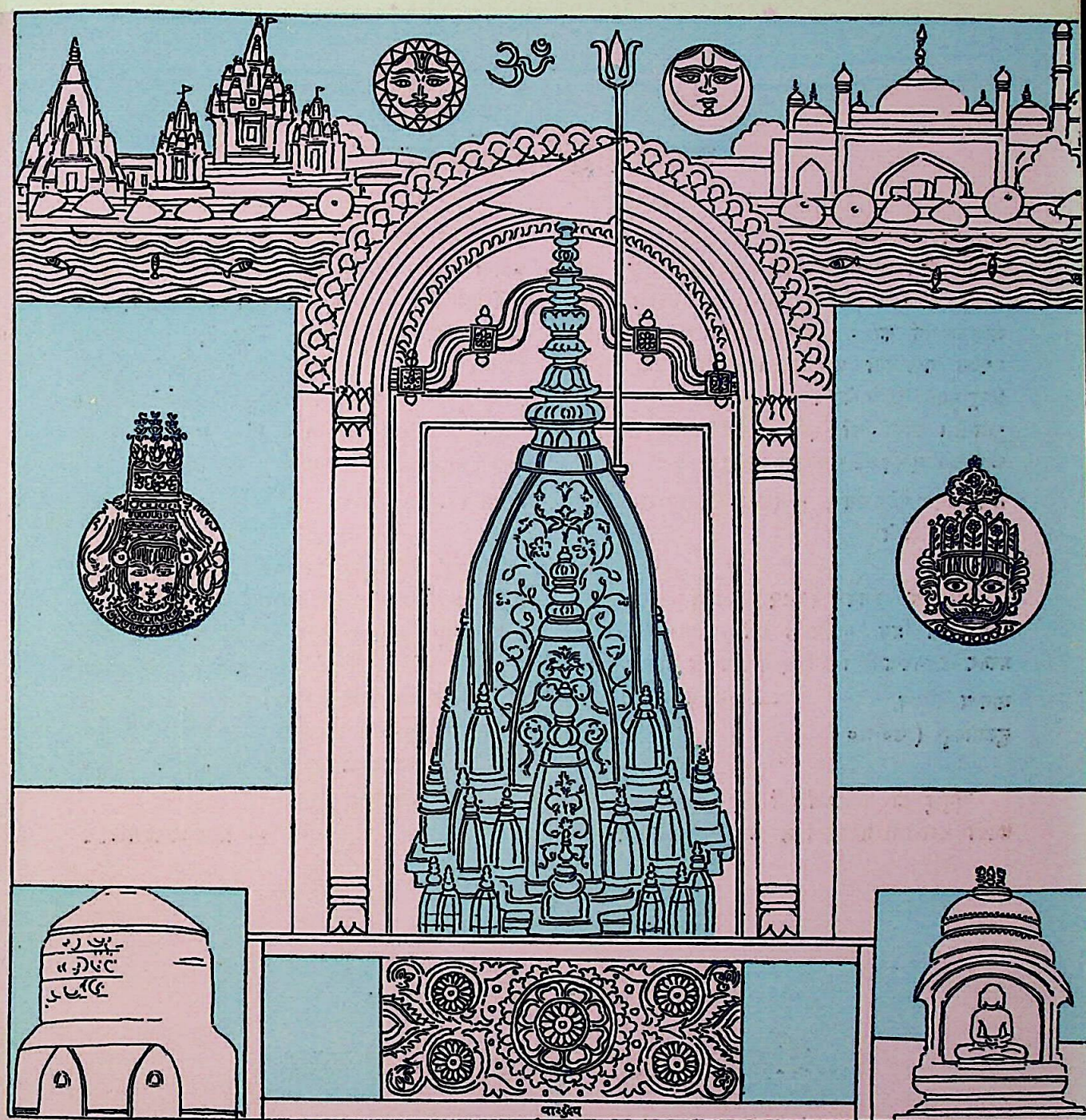
Bed Covers

Shoe Uppers

and Innumerable other consumer items.



Distributors all over India



मुमुक्षु

पाठकों की प्रतिक्रिया

आपका यह आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक मासिक अभि-
नन्दनीय है। किन्तु इसे उपयोगी और समयानुकूल बनाने
के लिए इसके बारे में आपको गहराई से सोचना पड़ेगा।
आजकल धर्म का मतलब मीठा प्रसाद खाना और मीठा
उपदेश सुनना मात्र रह गया है। इसकी वजह है कि पूरा
हिन्दू समाज अपनी चेतना के स्तर पर बिल्कुल मूर्छित पड़ा
हुआ है। इसकी मूर्छा तोड़ने और इसे जगाकर फिर से खड़ा
करने के लिए बड़े कठोर परिश्रम और दूर दृष्टि की अपेक्षा है।
८/१७, ईस्ट पटेल नगर, —(डॉ.) लक्ष्मीनारायण लाल
नई दिल्ली

मुमुक्षु का जनवरी १९८२ का अंक देखा। उसकी
सामग्री मुझे प्रिय, सुरुचिपूर्ण एवं सारयुक्त लगी। इस
प्रकार की सार-ग्राहिता के लिए आप बधाई के पात्र हैं।
आनन्द निकेतन,
सुलतानपुर (उ० प्र०)

‘मुमुक्षु’ का प्रत्येक अंक मैं बड़े चाव से पढ़ता हूँ।
इसकी उत्तरोत्तर प्रगति सिद्ध कर रही है कि अविष्य में

इसका एक विशिष्ट स्थान हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में बन
जायगा। अन्य धार्मिक पत्रिकाओं की तरह इसमें कोरे
धर्मोपदेश नहीं हैं बल्कि हृदयस्पर्शी कथात्मक शैली में
नैतिकता और आध्यात्मिकता के संकेत हैं, जो पाठकों को
सहजता से अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है
कि मुमुक्षु के तीन शब्द ज्ञान, योग और भक्ति के प्रतीक हैं।

ऐसे सत्साहित्य प्रकाशन के लिए श्री काशी मुमुक्षु
भवन सभा के अधिकारी धन्यवाद के पात्र हैं।
वाराणसी — कृष्णशंकर शुक्ल

‘मुमुक्षु’ का मुखपृष्ठ आकर्षक है। यद्यपि पहले प्रतीक
की व्याख्या देखने पर पता चलता है कि वह ‘मुमुक्षु’ के
अधिक अनुकूल है। इस प्रकार वर्तमान प्रतीक आकर्षक
तथा काशी एवं सर्वधर्मसमभाव का प्रतीक है तो पुराना
मुमुक्षु (मोक्ष चाहनेवालों के लिए) का प्रतीक है। पत्रिका
का स्तर उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर होने से प्रसन्नता हो रही है।
आशा है, यह पत्र शीघ्र ही काशी के गौरव के अनुकूल
स्थान ग्रहण कर लेगा।
नई दिल्ली — प्रेमप्रकाश पाण्डेय

सन्त श्री रामचन्द्र डोंगरे महाराज का

श्रीमद्भागवत-पारायण ज्ञान यज्ञ

सन्त श्री रामचन्द्र डोंगरे महाराज का श्रीमद्भागवत-पारायण ज्ञान यज्ञ का आयोजन आगामी ज्येष्ठ
कृष्ण ७ सोमवार, सं० २०३९ से सोमवार, अमावास्या तदनुसार दिनांक १४-६-८२ से २१-६-८२ तक
मुमुक्षु-भवन, श्री दण्डी क्षेत्र, गंगोत्री घाट, उत्तर काशी, हिमालय में पुण्यसलिला पतितपावनी गंगा माता
की गोद में विश्वशान्ति के लिए किया गया है।

श्रीमद्भागवतार्थों की उपस्थिति प्राथित है। साथ ही निवेदन है कि वे अपने साथ जलपात्र तथा
ओढ़ने-बिछाने का साधन अवश्य लायें। निवास और भोजन का प्रबन्ध आश्रम की ओर से होगा। पोथी के
पूजन के लिए पुरोहित का प्रबन्ध प्रधान आचार्यजी करेंगे।



आध्यात्मिक
तथा
सांस्कृतिक
मासिक

वर्ष १ : अंक ६
चैत्र, सं. २०३८-३९ वै.
मार्च १९८२



प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी



वार्षिक : पन्द्रह रुपए
एक अंक : डेढ़ रुपया

दैवी सम्पत्ति

अभयं सत्त्वसंशुद्धिज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

— गीता अ. १६, १।२।३

अभय, शुद्ध सात्त्विक वृत्ति, ज्ञानमार्ग और कर्मयोग की तारतम्य-पूर्वक व्यवस्था, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय अर्थात् स्वधर्म के अनुसार आचरण, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्मफल का त्याग, शान्ति, क्षुद्र दृष्टि छोड़कर उदारभाव रखना, सब प्राणियों के प्रति दया, तृष्णा न रखना, मधुर व्यवहार, बुरे काम की लज्जा, अचपलता, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, शुद्धता, द्रोह न करना, अतिमान न रखना, हे अर्जुन ! ये सब गुण दैवी सम्पत्ति में जन्मे हुए मनुष्यों को मिलते हैं ।

आसुरी सम्पत्ति

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पाशवमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातश्च पार्थ संपदमासुरीम् ॥

— गीता अ. १६।४

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

— गीता अ. १६।२१

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

— गीता अ. २।६३

हे पार्थ ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान, ये आसुरी सम्पत्ति में जन्मे हुए व्यक्ति को प्राप्त होते हैं ।

काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं । ये हमारा नाश कर डालते हैं, इसलिए इन तीनों का परित्याग करना चाहिए ।

क्रोध से अविवेक पैदा होता है । अविवेक से स्मरणशक्ति चली जाती है, और उससे बुद्धि नष्ट हो जाती है । बुद्धिनाश से सब कुछ नष्ट हो जाता है ।

इस अंक में—

विषय	पृष्ठ
देवी और आसुरी सम्पत्ति (गीता से)	१
भारतीय नारी	२
भयाक्रान्त विश्व—सम्पादकीय	३
काशी : एक विशिष्ट भावबोध — श्री कुवेरनाथ राय	४
निष्काम कर्मयोगी श्री घनश्यामदास बिरला	
— श्री के० एस० रामानुजम्	५
आसन से उत्थान और आकाशगमन	
— म० म० पं० गोपीनाथ कविराज	८
ब्रह्मलीन स्वामी करपात्रीजी से	
अन्तिम सत्संग-वार्ता—श्री राधेश्याम खेमका	११
गांधीजी : मानव के रूप में—श्री घनश्यामदास बिरला	१३
जगमंगल गुनग्राम राम के—लोकमंगलकारी	
रामचरित—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र	१६
ब्रह्मलीन स्वामी करपात्रीजी महाराज	
(स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती)	
— श्री पं० बलदेव उपाध्याय	१९
विन्ध्य क्षेत्र में शक्ति-पूजा की परम्परा	
— श्री नरेन्द्र नीरव	२३
सेवा का व्रत	२६
पतिर्तो के भगवान्—डॉ० श्रीमती अरुणा बनर्जी	२७
पुस्तक-समीक्षा	३०
काशी मुमुक्षु भवन-सभा-समाचार	३१

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से सम्पादक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

लेखकों से—‘मुमुक्षु’ में प्रायः धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रचनाएँ ही प्रकाशित की जाती हैं। ये रचनाएँ साहित्य की किसी भी विधा में हो सकती हैं। अतः लेखकों से निवेदन है कि वे अपने पास प्रतिलिपि रखकर ऐसी ही रचनाएँ भेजें। अस्वीकृत रचनाओं को लौटाने में हम असमर्थ हैं। स्वीकृत रचनाओं की सूचना पन्द्रह दिनों के भीतर भेज दी जाती है।—सम्पादक

अगले अंक के कुछ आकर्षण

- ◆ आसन से उत्थान और आकाशगमन (शेषांश) — श्री गोपीनाथ कविराज
- ◆ ब्रह्मलीन स्वामी करपात्री जी महाराज (शेषांश) — पं० बलदेव उपाध्याय
- ◆ श्रीराम की खोज — डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल
- ◆ मेरा प्रथम चातुर्मास — स्वामी श्री विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती
- ◆ हमारी मूल व्याधि — श्री अरविन्द
- ◆ घन के दास न बनिए — श्री आनन्दकुमार
- ◆ मनुष्य — डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

भारतीय नारी

[भारतीय परम्परा में नारी के आदर्शों की एक झाँकी]

हिमराज की कन्या पार्वतीजी ने शिवजी के लिए कठोर तपस्या की। शिवजी प्रसन्न होकर उनके सामने आये और बोले—“आज से मैं तुम्हारा तपःक्रीत दास हूँ।”

पार्वती ने कहा—“देव ! मेरा मनोरथ आज पूरा हो गया। मैं आपको अपना मन तो पहले ही दे चुकी हूँ, किन्तु यह शरीर तो जन्म देनेवाले का है—इसे उन्हीं से दान-स्वरूप लेकर उनका सम्मान बढ़ाने की कृपा करें।”

मनसस्त्वं प्रभुः शम्भो दत्तं तच्च मया तव ।

वपुषः पितरावेतौ सम्मानयितुमर्हसि ॥ —स्कन्दपुराण

प्रत्येक परिस्थिति में लोक और कुल की मर्मादा का सम्मान करना भारतीय नारी की एक विशेषता है। मन के हाथ से निकल जाने पर भी वह किसी अनुचित कार्य में कभी प्रवृत्त होने की भूल नहीं करती।

भयाक्रान्त विश्व

पिछले दिनों परमाणु ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष डाक्टर एच. एम. सेठना ने बम्बई में 'अन्तरराष्ट्रीय सद्भाव एवं विश्व-शान्ति' विषय पर बोलते हुए कहा, "आज विश्व में कुशाग्र बुद्धि के लगभग पाँच लाख वैज्ञानिक सैनिक अनुसन्धान और सैन्य साधन विकास के कार्यों में लगे हुए हैं। वैज्ञानिकों की यह संख्या कुल संख्या की आधी है।" इससे स्पष्ट है कि आज विश्व, युद्ध और संहार के पारस्परिक भय से आतंकित हो विनाश और रक्षा के एक से एक आयुध तैयार करने में अपने समस्त साधनों एवं अपनी समग्र प्रतिभा को दाँव पर लगाये हुए है। आज का मनुष्य मनुष्य से हो कितना भयभीत है। तरस आती है, विवेकशील मानव जगत् को इस अविवेकपूर्ण तथाकथित प्रगति पर। सम्प्रति के विकास काल में 'हिसक पशुओं' से रक्षा के लिए मनुष्य साधन और उपकरणों का निर्माण करता रहा है, किन्तु आज जब सम्प्रति विकास के चरम बिन्दु को छू रही है, मनुष्य को मनुष्य से ही भय लगने लगा है। विश्व में वह अपनी सत्ता बनाये रखने में समर्थ होकर भी अपने को कितना अशुभकृत अनुभव करने लगा है। यह कैसी विडम्बना है। ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि होते हुए भी मनुष्य कितना मयातुर, कायर, कापुरुष, निर्वीर्य तथा असहाय हो गया है, यह देख कर ग्लानि होती है।

आज विश्व में मानवीय कृष्णा की अन्तरधारा व्याप्त है। बाहर से उग्र एवं कठोर होने का दावा करने वाला मनुष्य भीतर से कितना कृष्ण, दयनीय तथा असहाय हो गया है, क्या इसकी कटु अनुभूति हमें कभी नहीं होती है? बुद्ध ने जिस कृष्णा की अनुभूति से विश्व को अहिंसा और शान्ति का सन्देश प्रदान किया और जिसे हृदयंगम कर अशोक ने शस्त्र समर्पण किया, क्या आज के विश्व में बुद्ध के अनुयायी भी उस महत् सन्देश को विस्मृत कर चुके हैं? बुद्ध-धर्म-प्रधान देशों में भी आज हिंसा एवं निष्ठुरता का ही बोलबाला है। आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व, ईसा ने जिस शान्ति और सहिष्णुता को चिर-स्थायी बनाने हेतु क्रूस पर चढ़ कर मृत्यु का हँसते-हँसते वरण किया था, क्या आज उनके अनुयायी इतने असहिष्णु

एवं भयाक्रान्त हो गये हैं कि ईसा की अमृतवाणी का अपने कार्यों से स्वयं मलौल उड़ावे में ही गौरव का अनुभव करते हैं।

अभी इसी शताब्दी की बात है, बापू सत्य और अहिंसा के अपने शान्तिप्रद नारे के माध्यम से भारतीयों को इतना भयमुक्त और सक्षम बना सके कि उनके अनुयायियों ने सर्वशक्ति एवं साधन सम्पन्न अंग्रेज शासकों को भारत छोड़ने के लिए विवश कर दिया। बापू का मार्ग था, सत्य एवं अहिंसा का, शान्ति एवं प्रेम का और उनकी विजय थी सत्य की विजय, प्रेम की विजय, असद् पर सद् की विजय। आज उन्हीं बापू के अनुयायी क्या अपने भीतर झाँक कर देखने का कष्ट करेंगे कि क्या वे अब भी सत्य, अहिंसा, प्रेम और शान्ति के मार्ग पर निर्भय होकर बढ़ रहे हैं?

हथियार और भूख

नई दिल्ली, (भा.)। एक जेट विमान पर खर्च की जानेवाली राशि से एक लाख टन चीनी और एक परमाणु विमान वाहक युद्ध पोत के बदले २८ लाख टन गेहूँ खरोदा जा सकता है, जिससे तीसरी दुनिया के लाखों लोगों को भूख से मरने से बचाया जा सकता है।

सोवियत संघ के समाचारपत्र 'न्यू टाइम्स' द्वारा किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार पिछले १० वर्षों में विकासशील देशों को दी जानेवाली सहायता से ९३ गुणा राशि विश्व में हथियारों के निर्माण पर खर्च की गयी। इस अवधि में कुल ७५०० अरब डालर हथियारों पर खर्च किये गये। जबकि इस राशि की सहायता से अनेक विकासशील देश बन सकते थे।

सर्वेक्षण के अनुसार एक अरब डालर के हथियार उत्पादन से ७५ हजार लोगों को रोजगार मिलता है। यदि इतनी ही राशि किसी अन्य उद्योग में लगायी जाती, तो लगभग एक लाख व्यक्तियों को रोजगार उपलब्ध कराया जा सकता है।

आज विश्व कैसी भीषण प्रवृत्ति से गुजर रहा है। क्या उसके भीतर का मानव मर चुका है। अयुद्ध समझौता का मुछोटा लगाये, वह अपना हिंसक मुखड़ा किस प्रकार ढँके हुए है। एक देश अपने देश से हजारों मील दूर दूसरे [शेष पृष्ठ ७ पर]

काशी : एक विशिष्ट भावबोध

— श्री कुवेरनाथ राय

‘मुमुक्षु’ में काशी-सम्बन्धी विवाद पड़ा। मेरी अपनी धारणा है कि काशी, गंगा या शालग्राम आदि स्थूल मौलिक रूप में महत्त्वपूर्ण नहीं, महत्त्वपूर्ण है ‘भावसत्ता’ के रूप में। यह उक्त भावसत्ता के ‘माध्यम’ या ‘आलम्बन’ मात्र है। परन्तु यह ‘माध्यम’ या ‘आलम्बन’ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। तो भी महत्त्वपूर्ण है उसी के लिए जो इसे ‘माध्यम’ और ‘आलम्बन’ में देखता और ग्रहण करता है। अन्यथा ‘मानो तो महादेव नहीं तो पत्थर’ वाली बात है। काशी एक विशिष्ट भावबोध है। ‘भवानीशंकरों’ से संपृक्त “दिव्य-जीवन का बोध” इसे हम कह सकते हैं। स्थूल काशी एक माध्यम है उस बोध को उपलब्ध कराने का। यही बात गंगा और शालग्राम के लिए भी समर्थ है।

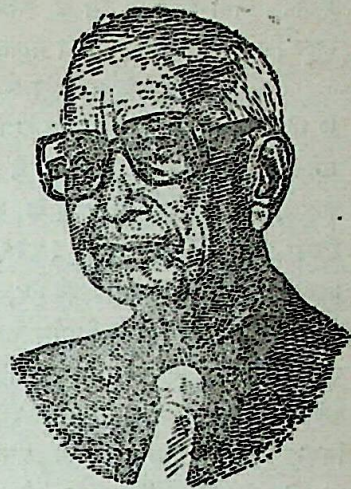
स्वयं ईश्वर स्थूल कुछ भी नहीं। वह भी एक भावसत्ता के रूप में ही अस्तित्व मात्र है। श्री बल्लभाचार्य ने इसे रसरूप कहा है। ‘रस’ एक भावसत्ता है। परन्तु इसे ‘रस’ रूप से अनुभूत करने के लिए आलम्बन चाहिए। इसी से ‘सगुण लोला’ को ज़रूरत पड़ी। ‘रसरूप’ में ‘भगत प्रेमबस सगुण सो होई।’ ईश्वर एक दिव्यता का बोध है, जिसके सन्दर्भ में जाकर हमारी व्यक्तिगत मानसिक आत्मिक क्षमताएँ अपना ‘चरम प्रस्फुटन’ पा सकती हैं, वेह में भी मन के सुप्त चक्र अपनी सम्पूर्ण गति और विकास पा सकते हैं। स्मरण रहे कि मैं मानसिक और आत्मिक दोनों को साथ-साथ रख रहा हूँ। साथ ही इस दिव्य बोध के माध्यम से समाज का स्वरूप शिवत्व को ग्रहण कर सकता है। अतः व्यक्ति और समाज दोनों के लिए ईश्वरत्व का दिव्यबोध ज़रूरी है, एक मानसिक आत्मिक ‘आवश्यकता’ (आधुनिक मनोविज्ञान के अर्थ में) की तुष्टि और पुष्टि के लिए।— तो साहित्य का प्रत्येक प्रेजुएट यह समझ सकता

है कि ईश्वर को रसरूप में लब्ध करने के लिए कुछ माध्यम चाहिए। माध्यम स्थूल (गंगा, काशी, वृन्दावन, शालग्राम आदि) या सूक्ष्म (षट्चक्र-कुण्डलिनी आदि) चाहे जो हो, पर चाहिए जरूर। ‘शून्य’ में दिव्यता का बोध (और तज्जनित मानसिक आत्मिक व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास) सम्भव नहीं। बौद्धों ने इसकी चेष्टा की। परन्तु अन्त में उन्हें डाकिनी, शबरी, चाण्डाली आदि स्थूलतम माध्यमों में जा गिरना पड़ा। (सूक्ष्म माध्यम से मेरा तात्पर्य “स्नाय-विक और मानसिक दोनों से है जैसे षट्चक्र-उपासना, अथवा कुण्डलिनी शक्ति अथवा ‘ध्यान’ एवं “मानसिक मूर्तिपूजा” के रूप में।)

कबीर ने काशी को जो तिरस्कृत किया है वह सही ढंग से देखा जाए तो काशी का तिरस्कार नहीं है। बल्कि काशी से जुड़ी उस ‘अन्वश्रद्धा’ का तिरस्कार है जो नास्तिकता का भयावह रूप है। नास्तिकता बड़ी मायावी होती है। वह उग्र या अन्वश्रद्धा का मुखौटा भी ग्रहण कर सकती है और श्रद्धा का जो ‘मूल’ है उसी पर कुठाराघात करवाने लगती है। गहरी श्रद्धा और अन्वश्रद्धा में फर्क होता है। गहरी श्रद्धा और अन्व श्रद्धा के बीच विभाजन रेखा की परिभाषा भी सम्भव नहीं, क्योंकि यह देश, काल पात्र के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकती है। मेरी समझ से कबीर ने उस भावसत्ता को नहीं तिरस्कृत किया है जो ‘काशी’ के दिव्य मर्म का प्रतीक है। वे स्वयं ‘चिन्मयकाशी’ में विहार करते रहे। यों चतुर्वेदीजी की बात सही है। परन्तु शताब्दियों की वाङ्मयी परम्परा ने ‘काशी’ नामक दिव्य बोध का जो स्थूल माध्यम ‘शहर बनारस’ के रूप में रचा है उसके माध्यमगत महत्त्व को शत प्रतिशत तिरस्कृत हमें तभी करना चाहिए जब इसका कोई ऐसा ही विकल्प हम तैयार करने में समर्थ हों। ‘काशी’ नामक दिव्यचिन्मय बोध को जीवन में उतारने के लिए हमें एक ‘मोटा रस्सा’ चाहिए जब कि १९८२ का ‘शहर बनारस’ पतला धागा मात्र है। परन्तु इस धागे को तब तोड़ फेंका जाये जब कहीं इसका विकल्प कोई रस्सा तैयार कर दे। बस यही प्रार्थना है। विशेषतः ऐसे युग में जब पैरों के नीचे की जमीन भी दगा दे सकती है। आज समस्या है कि कहाँ पर खड़े होकर पैर टिकार्ये इस अनिश्चय के युग में।

निष्काम कर्मयोगी श्री घनश्यामदास बिरला

— श्री के. एस. रामानुजम्



आज की दुनिया में किसी भी राष्ट्र की सम्पन्नता और उसके निवासियों की खुशहाली का आधार है उद्योग-व्यापार। इस क्षेत्र में भारत की प्रगति की गौरव-गाथा जिन कर्मनिष्ठ उद्यमियों के हाथ लिखी गयी, उनमें अग्रगण्य नाम है श्री घनश्यामदास बिरला का। राष्ट्र को समृद्धि के पथ पर अग्रसर करने में उनकी सुदीर्घ तपस्या भगीरथ की याद दिलाती है, जिन्होंने लोकहित के उद्देश्य से गंगा को घरा पर लाने के लिए अभूतपूर्व तप किया था।

सन् १८९४ की रामनवमी को जन्मे बिरला जी अपने जीवन के ८८ वर्ष पूर्ण करके ८९वें में प्रवेश कर रहे हैं। अवसर का महत्त्व इस बात से और बढ़ जाता है कि इस साल कर्मक्षेत्र में उनकी साधना के ७७ वर्ष भी पूरे हो रहे हैं। सन् १९५३ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'महात्मा की छाया में—निजी संस्मरण' में उन्होंने लिखा है, "मेरे प्रपितामह १० रुपये मासिक के मामूली वेतन पर एक व्यापारिक प्रतिष्ठान में प्रबन्धक थे। उनके न रहने पर पितामह ने अठारह वर्ष की वय में अपना निजी कारोबार करने का निर्णय किया और भाग्य की तलाश में बम्बई गये। बाद में मेरे पिता ने इस कारोबार को फैलाया और जब मेरा जन्म हुआ तो हमारा परिवार खुशहाल परिवार था जिसका ३५ साल से जमा हुआ अपना व्यापार था। मैंने अपनी तथाकथित पढ़ाई पूरी की हो थी कि मुझे भी पारिवारिक घन्धे में लग जाने को कहा गया और बारह साल की वय में मैं उसमें कूद पड़ा।"

इसके बाद उनका जीवन बहुमुखी आयामों में विकसित होता गया। देश के आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, और राजनीतिक इतिहास में पिछले छह दशकों से भी अधिक समय से उनका नाम प्रमुख व्यक्तित्वों की अगली कतार में चला आ रहा है। जनजीवन के हर क्षेत्र में वे एक

प्रांशु और प्रखर-स्तम्भ की तरह उभरे जिनसे इस सदी की पीढ़ियों को प्रेरणा और मार्गदर्शन मिला।

अपनी युवावस्था में ही उनका सम्पर्क गांधी जी से हुआ। देश की स्वतन्त्रता के लिए उत्कट कामना तो उनके हृदय में बचपन ही से थी, गांधी जी का साथ पाकर वे सक्रिय रूप से आजादी की लड़ाई से जुड़े। न केवल अपनी समस्त सम्पत्ति वरन् स्वयं को भी उन्होंने गांधी जी के चरणों में समर्पित कर दिया। गांधी जी के हर कार्यक्रम में उन्होंने तन-मन-धन से पूरा सहयोग दिया। गांधी जी के लिए वे पुत्रवत् हो गये थे। गांधी जी को जब कभी घन की जरूरत पड़ी, उन्होंने बेमिन्नक बिरला जी से कहा और बिरला जी ने तत्परता से उनकी माँग पूरी की, इस तरह से दायीं हाथ क्या कर रहा है, इसकी खबर बायें हाथ को भी नहीं हुई। मेवाड़ की आजादी के लिए अपना सर्वस्व महाराणा प्रताप को सौंप देनेवाले भामाशाह की परम्परा देश के स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में बिरला जी के रूप में मूर्तिमान रही। गांधी जी से उनकी घनिष्ठता गांधी जी के अन्तिम क्षण तक रही। गांधी जी और अन्य नेताओं से अपने पत्र-व्यवहार की चार मोटी जिल्दों में 'बापू—एक अद्वितीय सम्बन्ध' शीर्षक से प्रकाशित पुस्तक की प्रस्तावना में बिरला जी ने लिखा है, "सचमुच यह भगवान् की असीम कृपा थी कि मुझे बापू का भरपूर प्यार मिला। उनके साथ रहकर मैंने बहुत कुछ सीखा।"

बिरला जी के जितने गहरे सम्बन्ध गांधी जी से रहे, उतने ही जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, डॉ. राजेन्द्र

प्रसाद, राजाजी और देश के अन्य नेताओं से भी। इतने मधुर कि हर कोई उन्हें अनन्य मानता रहा।

देश के उद्योग और वाणिज्य क्षेत्र के तो वे आधी सदी से भी अधिक समय से सर्वमान्य नेता और अधिकारी प्रवक्ता बने हैं। उद्यमियों के वर्ग को वे लगातार आत्मविश्वास, साहस, दूरदर्शी और सूक्ष्मबुद्धि के साथ उत्पादन वृद्धि की प्रेरणा देते रहे हैं। सन् १९२९ में भारतीय उद्योग व्यापार संघ की अध्यक्षता करते हुए, उन्होंने आश्वासन दिया था, “हम नये उद्योगों के निर्माण के लिए जुटने का संकल्प करें और उत्पादन के सभी साधनों का तेजी से विस्तार करें तथा महान् और सम्पन्न, राष्ट्र के निर्माण के लिए निजी और सामूहिक पहल को प्रोत्साहित करें।” उन्होंने इस क्षेत्र को हमेशा “उत्पादन, और अधिक उत्पादन” का सन्देश दिया है। और इसमें सन्देह नहीं कि देश के भौतिक और आर्थिक उद्धार का इसके सिवा कोई रास्ता नहीं।

सात्त्विक वृत्ति के साधु-स्वभाव बिरला जी हमारे बीच आज एक महासंस्था हैं। ऐसा विराट् वटवृक्ष जिसकी शाखा-प्रशाखाओं की छाया में अनगिनत व्यक्तियों और संस्थाओं को आश्रय, भरण-पोषण और विकास के अवसर मिलते हैं। व्यक्ति, समाज और देश की आवश्यकता की हर नयी से नयी वस्तु का उत्पादन उनकी प्रेरणा और मार्गदर्शन से देश में ही होना सम्भव हुआ है। बहुत दिन नहीं हुए, जब उन्होंने कहा था, “प्रगति आत्म-विश्वास के साथ लगातार कदम बढ़ाने से होती है। विकास के वातावरण को हर समय आगे बढ़ाना चाहिए। ऐसा सामाजिक वातावरण बने कि पूरा औद्योगिक जगत्, अनाम कामगार से लेकर उच्च नौति-निर्माताओं तक, गौरव से भर उठे। हमारे भारत में कभी किस चीज की है? समृद्ध राष्ट्र के निर्माण के लिए सारा साजो-सामान हमारे पास है।”

कर्म को ही पूजा मानने वाले बिरला जी का दिन प्रातः ५ बजे शुरू होता है और रात ९ बजे तक वे लगातार काम में जुटे रहते हैं। सबेरे घण्टे भर तक टहलना उनका नियम है। भजन सुनना उन्हें बहुत प्रिय है और वे स्वयं भी भजन गाते हैं। सद्ग्रन्थों के अध्ययन का उन्हें चाव है और देश-विदेश की अनेक पत्र-पत्रिकाओं का वाचन उनकी आदत। इस वय में भी अपने बढ़िया स्वास्थ्य का श्रेय वे परिश्रम को देते हैं और कहते हैं, “कठिन परिश्रम करने से कभी कोई नहीं मरा। दर-

१९३३ की सदियों की बात है। ठक्कर बापा का तीस साल पुराना ओवरकोट बिलकुल जीर्ण हो गया था। उसमें तीन-चार थोड़े लगे हुए थे। बिरलाजी ने एक दिन उस ओवरकोट को बदल लेने के लिए बापा से कहा। पर वह राजी नहीं हुए। बोले—‘यह तो अब इस शरीर के साथ ही जायेगा।’ बिरलाजी ने मुझे और श्यामलालजी (संघ के तत्कालीन कार्यालय-सचिव) को एक युक्ति बताई। ठक्कर बापा मेज पर काम शुरू करने से पहले ओवरकोट उतारकर खूँटी पर टाँग देते और आफिस से जाते वक्त उसे पहन लेते थे। खादी-भण्डार से हम कश्मीरी पट्टू खरीद लाये और उसे सीने के लिए दे दिया। तीन दिन में नया कोट तैयार हो गया, तो उसे खूँटी पर टाँग दिया और पुराना उसपर से उतारकर अलग रख दिया। नया ओवरकोट देखते ही बापा ने पूछा—‘यह किसने अपना कोट यहाँ टाँग दिया है? मेरा कोट कहाँ गया?’ इतने में बिरलाजी आ गये और हँसते हुए बोले—‘बापा, यह आपका ही कोट है। इन बेचारों पर आप नाराज न हों।’ अध्यक्ष की मान-मर्यादा का ध्यान रखते हुए अधिक पूछताछ में पड़ना बापा ने मुनासिब नहीं समझा। नया ओवरकोट अध्यक्ष ने स्वयं उनको अपने हाथ से पहना दिया।

कहा जाता है कि श्रीमन्तों को उनके पैसे के कारण सार्वजनिक संस्थाओं में उच्च पद दिये जाते हैं। घनश्यामदासजी ऐसे किसी भी आरोप के अपवादरूप रहे हैं। उनको निस्सन्दिग्ध योग्यता और उद्देश्य के प्रति सच्ची लगन देखकर ही गांधीजी ने उनको हरिजन-सेवक-संघ का अध्यक्ष बनाया था।

एक-दो बार अध्यक्ष-पद छोड़ देने का विचार जब उन्होंने किया, तब न तो गांधीजी ने उनकी बात को माना और न ठक्कर बापा ने ही। बापा का कहना था कि, ‘जब तक मैं हरिजन-सेवक-संघ में हूँ, आपको उसका अध्यक्ष रहना ही है।’ बापा के स्वर्गस्थ होने के बाद भी हमारे अनुरोध पर वह संघ के अध्यक्ष और छह साल तक रहे, और हम सबको उनका मार्गदर्शन मिला।

— श्री वियोगीहरि

असल कठिन परिश्रम ही एकमात्र ऐसी चीज है जिसमें मुझे दीर्घ जीवन पाने और अपने विनम्र तरीके से लोगों की सेवा करने में सहायता मिली।” भगवद्गीता का सन्देश उनके जीवन का आदर्श है। वे आशावादी हैं और जटिल से जटिल परिस्थिति में भी विचलित नहीं होते। नयी बातों के लिए उनमें बच्चों जैसी उत्सुकता और उत्साह है, दृष्टिकोण में नवीनता और सीखने की लगन। इसीलिए मानसिक रूप से वे चिरयुवा हैं।

व्यवसायी, उद्योगपति, शिक्षाविद् और दानवीर के रूप में बिरला जी की सेवाओं और योगदान का लेखाजोखा करने की कोशिश की जाये तो कितने ही ग्रन्थ भर जाने पर भी वह पूरा न होगा। उत्तराखण्ड से लेकर दक्षिण तक कितने ही धार्मिक न्यास उनकी सहायता से चल रहे हैं। अनेक नगरों और तीर्थ-स्थानों में उन्होंने मन्दिर बनवाये हैं। उनसे सम्बन्धित संस्थाओं में सत्संग और प्रवचनों के आयोजन चलते रहते हैं। व्यक्ति की भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों ही क्षेत्रों में उन्नति उनका अभीष्ट है। उनके इन गुणों का प्रभाव बिरला परिवार के अन्य सदस्यों विशेषकर महिलाओं पर भी है जिनसे विभिन्न

क्षेत्रों के व्यक्तियों को दान, पुरस्कार और वृत्तियाँ मिलती हैं। काम कोई भी हो, उसे सर्वोत्तम ढंग से करने पर उनका विशेष जोर है।

आधुनिक शिक्षा के लिए उनके द्वारा स्थापित अनेकानेक संस्थाएँ जिनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय है पिलानी की बिरला इंस्टीट्यूट आफ टेक्नालाजी एण्ड साइन्स। बोस्टन की विश्वविख्यात मैसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट आफ टेक्नालाजी के सहयोग से कार्यरत यह संस्था न केवल देश को कुशल वैज्ञानिक और तकनीशियन प्रदान कर रही है वरन् वैज्ञानिक उच्च शिक्षा के नये प्रतिमान भी स्थापित कर रही है।

चिन्तन और मनन के घनी बिरलाजी के ८१वें जन्मदिन पर १९७४ ई० में जब उनके प्रशंसकों ने समारोह आयोजित करने की स्वीकृति चाही थी तो इस कर्मयोगी ने कहा था, “मैं सौवें साल तक जीवित रहूँ तो अपने सार्वजनिक अभिनन्दन की अनुमति आपको दे दूँगा।”

राष्ट्र व्यग्रता से उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा है जब उसे ‘बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय’ जीवन अर्पित करने वाले निष्काम कर्मयोगी का जन्मशती-अभिनन्दन करने का अवसर मिलेगा।

सम्पादकीय—भयाक्रान्त विश्व

[पृष्ठ ३ का शेषांश]

देश से कितना भयाक्रान्त है कि वह अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपकास्त्रों को बना कर भी अपने को सुरक्षित नहीं पा रहा है, फिर पड़ोसी देशों की बात ही क्या, ऐसी परिस्थिति में उनका एक दूसरे से भयभीत होना, सजग रहना स्वाभाविक ही है। क्या, आज के विचारक यह नहीं सोचते, कि प्रहार और पारमाणविक अस्त्रों का विकास एवं भण्डार उन्हें सुरक्षित कभी भी नहीं बना सकता। क्योंकि ज्यों-ज्यों बाह्य सुरक्षा की पंक्ति दृढ़ होती जायेगी, त्यों-त्यों आन्तरिक सुरक्षा की पंक्ति निर्बल होती जायेगी। सुरक्षा तथा शान्ति का उद्गम मानव का अन्तर ही है, बाह्य विश्व नहीं।

यह विश्व की ही बात नहीं है। अपने देश में भी हमारे कर्णधार, अपनों के बीच अपने ही को कितना असुरक्षित अनुभव करने लगे हैं। यही कारण है, आये

दिन प्रशासन उनकी सुरक्षा के कड़े से कड़े प्रबन्ध कर रहा है। आखिर ऐसी स्थिति क्यों और उसे किसने उत्पन्न किया। क्या हम बापू के सत्य और अहिंसा के नारे को तथा तज्जनित करुणा, प्रेम और अमय रहने के सन्देश को विस्मृत कर चुके हैं। यदि यह कथमपि सत्य है तो हम हतभाग्य कहे जायेंगे। गान्धी जी के लिए सत्य और अहिंसा, धर्म और नैतिकता के पर्याय थे, और इसी धर्म और नैतिकता की भित्ति पर मानवता की वह गगनचुम्बी अट्टालिका ठहर सकती है जिसमें प्रेम, शान्ति, सहिष्णुता और सहकारिता का साम्राज्य होगा और जिसमें मानव-मात्र निर्भयतापूर्वक “ओम् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहे।” मन्त्र का जप कर सकेगा।

आसन से उत्थान और आकाश-गमन

— महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

[१]

श्रेष्ठ योगी और भक्त-सम्प्रदाय के साथ जिनका परिचय है, वे जानते हैं कि योग-क्रिया के प्रभाव से अथवा अन्य किसी आध्यात्मिक शक्ति के सम्बन्ध से योगी का आसन भूतल से आकाश में उत्थित हो जाता है। अवश्य, जिनके आसन का उत्थान नहीं होता, ऐसे योगी भी देखने में आते हैं। फिर किन्हीं-किन्हीं योगियों के सम्बन्ध में ऐसा भी सुनने में आता है कि उनका आसन ही केवल आकाश में उत्थित नहीं होता, बल्कि वे इच्छा-नुसार आकाश-मार्ग में विचरण भी कर सकते हैं।

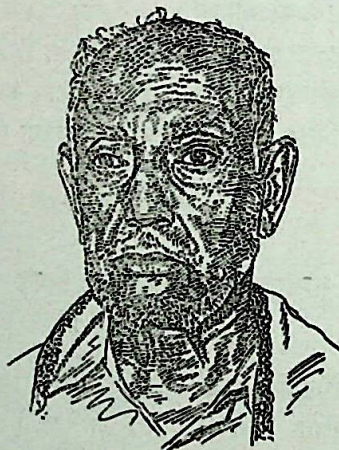
आसन के उत्थान का वास्तविक रहस्य क्या है, एवं आसन-उत्थान के साथ आध्यात्मिक उत्कर्ष का कोई सम्बन्ध है या नहीं, इस विषय में अनेक लोगों के मन में जानने की उत्सुकता उत्पन्न होती है। साधारण विचारशील लोगों के मन में सन्देह होता है कि स्थूल देह जब मध्याकर्षण नियम के अधीन है, तब उक्त नियम का उल्लंघन कर वह ऊपर को उत्थित कैसे होगी ?

यह सन्देह निर्मूल नहीं है। किन्तु इसके समाधान के पूर्व यह स्मरण रखना होगा कि आसन का उत्थान और आकाश-विहार—दोनों ही सत्य हैं। किन्तु मध्याकर्षण का नियम देह को स्थूलता की निवृत्ति के साथ ही देह के ऊपर अनिवार्य रूप से लागू नहीं हो सकता।

यह स्थूलत्व-निवृत्ति-व्यापार तमोगुण और सत्त्वगुण के आपेक्षिक विनिमय से होता है, इसमें सन्देह नहीं। यह योग के प्रभाव से भी हो सकता है एवं अन्य कारणों से भी, किन्तु आसन-उत्थान हुए बिना वास्तविक आध्यात्मिक सम्पत्ति का लाभ नहीं होता, यह भी कहना उचित नहीं

एवं आसन-उत्थान होने पर ही आध्यात्मिक उन्नति हुई, यह भी सब समय नहीं कहा जा सकता। आसन का उत्थान सचमुच ही होता है, ऐसा हृदयंगम होने पर उसके कारणों का निर्देश और प्रक्रिया के सम्बन्ध में आलोचना हो सकती है।

प्रत्यक्ष सत्य का अपलाप नहीं किया जा सकता। आसन-उत्थान-व्यापार सभी देशों में एक सुपरिचित सत्य है। आकाश-गमन आदि इसी की परिणति है। ख्रीष्टीय धर्म-ग्रन्थ में भी उपासक-वर्ग के साधना-जीवन के इतिहास में दिखाई देता है कि प्रार्थना के समय अथवा अन्य किसी प्रकार के भावचिन्तन के समय किसी-किसी साधक की देह प्रभा-मण्डल से वेष्टित हो जाती थी, यहाँ तक कि कभी-कभी समस्त घर भी उज्ज्वल आलोक से आलोकित हो उठता था एवं कुछ भाग्यवान् साधक भूमितल से उत्थित होकर अल्पकाल के लिए आकाश में अवस्थित हो जाते थे। इसके बहुत-से उदाहरण हैं। उनमें दो-चार आगे उल्लिखित हैं—



लेखक

प्रसिद्ध सन्त सेंट अगास्टिन ने अपने 'जीवनस्मृति-ग्रन्थ' में सेंट मणिका नाम की एक साध्वी की कथा लिखी है। वह प्रार्थना के समय लगभग तीन फुट तक आकाश में उत्थित होती थी। मालूम पड़ता था कि मानो उसके शरीर में गुस्त्व है ही नहीं, शरीर वायुमण्डल में तैरता रहता था। यह ख्रीष्टीय चतुर्थ शताब्दी की घटना है।

प्रसिद्ध नव प्लातनिक दार्शनिक जाम ग्लिचास प्रार्थना के समय भूमि से प्रायः १० हाथ ऊपर उठता था। उस समय उसकी देह और वस्त्र-परिधान आदि सोने की भाँति चमकीली ज्योति से ज्योतिर्मय होकर मासमान होते थे।

इजिप्ट की सेंट मेरी नामक एक महिला के जीवन में भी इसी प्रकार की अलौकिक घटना देखने में आयी थी। इस महिला का पूर्व-जीवन उत्तना अच्छा नहीं था। किन्तु कालान्तर में इसके जीवन में घोर परिवर्तन हुआ। इसने पश्चात्तारूप अग्नि में दग्ध होकर विशुद्ध भागवत जीवन-लाभ किया। सुना जाता है कि वह पैलेस्टाइन की मरुभूमि में अकेले नग्न रूप से वास करती, एवं शाक-सब्जी, जब जो पाती, उसी से देह-रक्षा की चेष्टा करती। एक बार फादर जोजिमास् नामक एक धर्म-प्रचारक की दृष्टि हठात् इस साधिका पर पड़ गयी। इसकी अवस्था देखकर उन्होंने अपने वस्त्र-खण्ड पहनने के लिए इसे प्रदान किये। कुछ क्षणों के बाद ही उन्होंने गौर करके देखा कि 'मेरी' पूर्व की ओर मुँह करके प्रार्थना कर रही है एवं उसकी देह भूमि से पाँच फुट ऊपर उत्थित है।

बिशप सेंट आर० के विषय में सुना जाता है कि गिरजाघर बन्द हो जाने पर भी वे किसी अलौकिक कौशल से उसका द्वार खोलते, तब सब पहरेदार सोये रहते। वे गिरजाघर के भीतर मेज पर बैठकर प्रार्थना करते एवं सारी रात जागरण करते। अनेक दिन देखा जाता कि उनकी देह आकाश में उत्थित हुई है। उस समय सम्पूर्ण गिरजाघर दिव्य आलोक से आलोकित हो उठता। यह छठी शताब्दी की बात है। हंगरी के सेंट मारग्यरेट गुड फ्राइडे के उत्सव में बहुत बार उत्थित हुए थे, ऐसा देखा गया था।

प्रसिद्ध सन्त सेंट फ्रांसिस (पाओला) बहुधा रात्रि के समय प्रार्थना-काल में आकाश में उत्थित होते। कहा जाता है कि एक बार वे एकादश लुई के अनुरोध से उनके समीप गये थे। नेप्स नामक नगर होकर उनके जाने की बात थी। उनके नेप्स पहुँचने के बाद समग्र नगर ने उनके लिए सम्मान-प्रदर्शन किया एवं प्रथम फारडिनेण्ड ने अपने प्रासाद में उनका स्वागत किया। रात्रि के समय घर के दरवाजे के छेद से महात्मा का अवस्थान देखा गया कि वे प्रार्थना कर रहे हैं एवं एक विशाल ज्योति उन्हें घेरे हुए है। मेज से उनका शरीर कई फुट ऊपर देखा गया। यह देखकर राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ था। यह पाँचवीं शताब्दी की घटना है। स्पेन की सुप्रसिद्ध महिला सन्त सेंट टेरेसा, जिसकी भारतीय मीरा के साथ बहुधा तुलना की जाती है, प्रार्थनाकाल में प्रायः आकाश में उठती थी। वह इस प्रकार उत्थित होकर बहुत समय तक शून्य में रहती

थी। उसके बाद भगवान् की सन्निधि में प्रार्थना करने पर उसकी देह नीचे उतरती थी।

प्रसिद्ध है कि स्थानीय बिशप डन आलमेरेस् डे मानडोसा एक बार सेंट टेरेसा से मेंट करते आये थे। उनकी उससे धर्म-सम्बन्धी चर्चा करने की इच्छा थी। किन्तु वे यह देख कर आश्चर्य में पड़ गये कि टेरेसा की देह उस समय जंगले के ऊपर उठकर निरालम्ब रूप से शून्य में स्थित है। विशिष्ट प्रार्थना के समय उसकी देह प्रायः ज्योति से भर जाती और हल्की होकर शून्य में उत्थित होती थी। यह सोलहवीं शताब्दी की बात है।

वर्तमान युग में भी इस प्रकार की घटनाओं का अभाव नहीं है। हमारे देश में भी इस तरह आसन-उत्थान के व्यापार-विशेष योगियों अथवा भक्तों के जीवन में प्रायः दिखाई देते हैं। प्रसिद्ध महात्मा राम ठाकुर की कथा सर्वत्र सुपरिचित है। वे अति अल्प अवस्था में ही साधना से इतने उन्नत हुए कि आसन-उत्थान की शक्ति उसी समय से उनके जीवन में लक्षित होती थी। अपेक्षाकृत अल्प वय में वे किसी भद्र पुरुष के यहाँ पाचक ब्राह्मण का कार्य करते थे। तब उनकी माँ जीवित थीं। अपनी माँ के जीविका-निर्वाह के लिए ही उन्हें ऐसा कार्य करना पड़ा था। वे दिन की और रात की रसोई बनाकर बाबू लोगों के भोजन के बाद विश्राम करने जाने के उपरान्त अपनी कोठरी में आकर आसन बाँधकर अत्यन्त गुप्त रूप में यह कार्य करते थे। घर में किसी को भी इसका पता न था। एक दिन विशेष कारण से अधिक रात्रि में उन्हें बुलाने की आवश्यकता पड़ी। जो व्यक्ति बुलाने गया था, उसने कमरे के अन्दर जो दृश्य देखा, उससे उसे अन्दर जाने की हिम्मत नहीं हुई। उसने देखा कि ठाकुर महाशय मशहरी के अन्दर आसन पर बैठे हैं, परन्तु उनकी देह शून्य में उत्थित है और उज्ज्वल आलोक से वेष्टित है। यह देखकर उसने गृहस्वामी से निवेदन किया। गृहस्वामी ने स्वयं आकर अपनी आँखों से देखा। उन्होंने समझा कि यह पाचक ब्राह्मण केवल पाचक ही नहीं है, प्रत्युत एक महापुरुष है। ऐसा समझकर उन्होंने दूसरे दिन से ठाकुर महाशय को पाक-कार्य से मुक्त कर दिया, परन्तु प्रतिमास आर्थिक सहायता पूर्ववत् करते रहे। राम ठाकुर महाशय के शून्य मार्ग में विचरण का वृत्तान्त उनके भक्तों में प्रसिद्ध है।

इस प्रकार, आसन का उत्थान, देह की ज्योतिर्मयता

और इच्छानुसार आकाशमार्ग में गमन का विवरण महायोगी श्री विशुद्धानन्द परमहंस, श्री लोकनाथ ब्रह्मचारी, श्री काठिया बाबा तथा अन्यान्य आधुनिक योगियों के जीवन में मिलता है। ये सब प्रत्यक्ष दृष्ट घटनाएँ हैं, इनकी तथ्यता के विषय में अनेक साक्ष्य दिये जा सकते हैं। गुरु-परम्परा-चरित नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि प्रसिद्ध तान्त्रिक सिद्ध महात्मा भास्कर राय का भी आसन शून्य में उठता था और उस समय समस्त गृह उज्ज्वल आलोक से उद्भासित हो उठता था।

ईशु ख्रीस्त के समकालीन योगी टियाना-निवासी एपोलो-नियस में भी आकाश-गमन की शक्ति थी। वे भारतवर्ष में आये थे। इसका वृत्तान्त उनके शिष्य और भक्तों ने प्रकाशित भी किया था। उनको खेचरी शक्ति के विषय में बहुत-सी अलौकिक बातें सुनने में आती हैं। सिमन मेगास् किसी समय प्राचीन पाश्चात्य जगत् में अलौकिक योग-शक्ति के विषय में आदर्श माने जाते थे। बहुत लोग उन्हें मायावी समझते थे। विभिन्न प्रकार की योग-विभूतियों के सदृश ही आकाश-गमन की शक्ति भी उनमें थी।

योगवासिष्ठ रामायण से पता चलता है कि वीतहव्य, चूडाला प्रभृति आकाश-गमन में पूर्ण अधिकार-सम्पन्न थे। चूडाला में पहले ब्रह्मज्ञान का उदय हुआ था, उसके बाद एकान्त में योगाभ्यास के द्वारा अन्यान्य योग-शक्तियों के द्वारा आकाश-गमन की शक्ति भी उन्होंने उपार्जित की थी। चूडाला तथा शिखिध्वज का विस्तृत विवरण योग-वासिष्ठ में है। आचार्य शंकर और गोरक्षनाथ आकाश-गमन में दक्ष थे, यह प्रसिद्धि है। बुद्धदेव के आकाश-गमन की बातें बौद्ध-ग्रन्थों में मिलती हैं। ऐसा कहा जाता है कि एक बार वे श्रावस्तीनगर से आकाश-मार्ग से जाकर घनिया की कुटिया के ऊपर खड़े हो गये थे। श्रावस्तीनगर से घनिया का निवासस्थान ७०० योजन दूर था। दत्तात्रेय की आकाश-गमन की बातें भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि एक अहोरात्र में वे भारत के विभिन्न तीर्थों में तत्तत् समय पर तत्तत्कालोपयोगी दैनिक कार्य-सम्पादन करते थे और आजकल भी करते हैं। इतिहास से मालूम होता है कि मियाँ भीर कभी-कभी लाहौर से आकाश मार्ग द्वारा हिजाद जाते थे और वहाँ रात्रि बिताकर सूर्योदय के पहले ही लाहौर लौट आते थे। इसका विवरण दाराशिकोह ने स्वरचित औलियों के जीवन वृत्तान्त में दिया है।

शेख अब्दुल कादिर जिलानी एक दिन धर्म-व्याख्या कर रहे थे, अकस्मात् भूमितल से वे शून्य में उठ गये। वहाँ से उनको सुनने में आया, 'हे इसराइल वासी, ठहर जाओ। इस्लाम-धर्म सुनो।' वे शून्य में थोड़ी दूर उठकर फिर अपने स्थान पर लौट आये और व्याख्यान देने लगे। किसी के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा — 'मुझे अकस्मात् दिखाई दिया कि खिदिर मस्जिद के पास थे जा रहे हैं। मैंने आकाश-मार्ग में जाकर उनका अभिवादन किया और अपना व्याख्यान सुनने के लिए आमन्त्रित किया।' ये महात्मा जिलानी आधे घण्टे में इराक से रोम गये थे। किसी एक महात्मा का देहावसान हो गया था, उनके कल्याण के लिए अन्तिम प्रार्थना करने उन्हें जाना पड़ा था।

प्रसिद्धि है कि गैब्रियल नामक देवदूत एक रात्रि में मुहम्मद साहब को शय्या से उठाकर सप्त स्वर्ग तथा नरकों के यावतीय दृश्य दिखाने के लिए ले गये थे। उनको बहुत बार भगवद्दर्शन कराये और अन्त में यथास्थान पहुँचा दिया। इसमें समय अत्यन्त कम लगा था। मुहम्मद साहब को उस समय भी उनकी शय्या गरम ही लगी थी।

एक बार मिस्र देश के सुलतान ने सूफी महात्माओं की योगशक्ति की महिमा सुनकर राज्य के सब पण्डितों तथा साधकों को अपने प्रासाद में आमन्त्रित किया था। उसने उनसे पूछा कि सूफी शक्ति-सम्पन्न हैं या नहीं? उन्होंने कहा कि सप्तस्वर्गों के भीतर किन्हीं दो स्वर्गों के व्यवधान का अतिक्रमण करने के लिए एक आदमी को ५०० वर्ष चाहिए। प्रत्येक स्वर्ग का विस्तार भी प्रायः ऐसा ही है। अतएव एक क्षण में सप्त स्वर्ग-भेद करना कैसे सम्भव है? सुलतान ने कहा कि इसीलिए मुहम्मद साहब के सम्बन्ध में जो वृत्तान्त प्रसिद्ध है, वह विश्वसनीय नहीं है। उस समय उसके उत्तर में किसी ने कुछ नहीं कहा, इसीलिए उक्त प्रश्न पर विचार ही नहीं हुआ और सभा भंग हो गयी। उस समय शेख शहाबुद्दीन अत्यन्त शक्तिशाली पुरुष थे। किसी विशेष कारणवश वे उस सभा में उपस्थित नहीं हो सके थे। वे सुलतान के संशय का विषय सुनते ही समाधान के लिए व्यग्र हुए। सुलतान ने भी उनका यथाविधि स्वागत किया। सुलतान ने समझा, 'ये कुछ माँगने के लिए आये होंगे'। उसने शेखजी से कहा, 'आप स्वयं कष्ट करके यहाँ क्यों आये, किसी परिचारक को ही भेजने से काम हो जाता।' शेखजी ने कहा कि दूसरा प्रयोजन है। (क्रमशः)

ब्रह्मलीन स्वामी करपात्रीजी से अन्तिम सत्संग-वार्ता

— श्री राधेयाम खेमका

अनन्तश्री, स्वामी करपात्रीजी महाराज माघ शुक्ल चतुर्दशी रविवार को पुष्य नक्षत्र में केदारघाट स्थित वेद-शास्त्रानुसन्धान केन्द्र में प्रातः लगभग ९ बजे ब्रह्मोभूत हो गये। उनके निकटवर्ती शिष्यों और भक्तों को भी यह आभास नहीं हो सका कि महाराजश्री इतनी जल्दी इस नश्वर, जगत् को त्याग कर महाप्रयाण करेंगे। पर बाद में ऐसा प्रतीत हुआ कि इस सम्बन्ध में महाराज श्री ने एक दिन पूर्व ही आभास दे दिया था और स्पष्ट रूप से अपनी इच्छा व्यक्त कर दी थी। माघ शुक्ल १२, शुक्रवार को रात्रि ९ बजे एक घण्टे तक महाराजश्री से विभिन्न विषयों पर वार्ता हुई जिसमें मेरे साथ स्वामी जगन्नाथानन्द सरस्वती, ब्रह्मचारी अलखनिरंजन तथा ब्रह्मचारी सर्वेश्वर आदि कुछ निकटवर्ती लोग बैठे थे। एक दिन पूर्व से ही महाराजश्री की दाहिनी आँख के निकट नसों में अचानक पीड़ा प्रारम्भ हो गयी थी। यह पीड़ा भयंकर थी पर महाराजश्री की सहिष्णुता के कारण उसकी भयंकरता का आभास दूसरों को नहीं होता था।

बातचीत के क्रम में महाराजश्री ने मुस्कुराते हुए कहा कि “यह ससुरी मृत्यु कहीं चली जाती है” ... मैं तो इसे बुलाता हूँ पर यह भागती है ...” मैंने कहा—“महाराज जी, आप ऐसा क्यों कहते हैं, अभी आपको रहना चाहिए।” महाराज ने कहा कि “इस संसार में कुछ तत्त्व नहीं हैं, केवल उपद्रव है.... अब इस संसार के उपद्रव से तो मुक्त हों... आगे जो होगा देखा जायगा। किन्तु यदि संसार में उपद्रव नहीं होते तो मोक्ष का प्रयास ही लोग क्यों करते।” मैंने कहा, “महाराज, बहुत से लोग मोक्ष भी नहीं चाहते। इसपर महाराज ने मुस्कुराते हुए कहा कि “यह सब कहने की बात है... वे जो चाहते हैं वह भी एक प्रकार का मोक्ष ही है।”...

महाराजश्री की आँख में बहुत पीड़ा थी... श्री जगन्नाथ स्वामी ने कहा कि महाराज, यह तो सब दृश्य है। आपको

तो यह पीड़ा होती नहीं है। इस पर महाराज हँसने लगे तथा कहा—“भाई, तुम ठीक कहते हो पर जब व्यवहार रूप में बात आती है तब इसकी परीक्षा होती है। यह सब दृश्य है और आत्मा इनसे भिन्न द्रष्टा है। जिस वस्तु की अनुभूति होती है वह हमसे भिन्न तो है ही मन और इन्द्रियों से जो अनुभूति है वह ‘मैं’ नहीं है। अतः पीड़ा ‘मैं’ नहीं, ‘मैं’ इससे भिन्न अखण्ड बोध आत्मा है।”

इस प्रकार वेदान्त का एक बड़ा सुन्दर व्याख्यान महाराजश्री ने उस समय किया जो पूर्णतः यहाँ अंकित करना सम्भव नहीं है। यह वार्ता महाराजश्री की अन्तिम अभिव्यक्ति थी। इसके बाद उन्होंने कोई वार्ता नहीं की।

पिछले कुछ दिनों से महाराजश्री की बहिर्मुखता प्रायः समाप्त हो रही थी और वे पूर्णरूपेण अन्तर्मुख होते जा रहे थे। थोड़े समय के लिए भी वे अपने पास लोगों की भीड़ नहीं चाहते थे। अब उन्हें केवल एकान्त ही प्रिय था। दर्शनार्थियों के बीच वे २-४ मिनट से अधिक नहीं रहते। वे अपना एक-एक मिनट एकान्त में बैठकर भगवत् चिन्तन और साधना में ही लगाते थे।

सन्त श्री डोंगरे जी महाराज की श्रीमद्-भागवत सप्ताह कथा २६ फरवरी से ज्ञानवापी पर होनेवाली थी। मैंने महाराजश्री से प्रार्थना कि महाराज, इस ज्ञान-यज्ञ का उद्घाटन आपके द्वारा होना चाहिए। तब महाराज ने उत्तर दिया कि “श्री डोंगरे जी महाराज दिव्य पुरुष हैं। उनकी कथा मैं भी सुनूँगा माइक लगा देना। पर उद्घाटन के लिये मेरे पास समय कहाँ है, हमें तो जल्दी जाना है।” मैंने कहा, “महाराज, आप ऐसा क्यों कहते हैं?” तब बोले, भाई यहाँ का तो सब हो गया, अब तो जाने की तैयारी है। मैंने थोड़े विनोद के स्वर में कहा—“महाराज, अब तो आपको आदमी भी नहीं सुहाता।” तब कहने लगे—“हाँ, हमारी तो प्रवृत्ति ही ऐसी हो गयी है। पहले ऋषि-मुनि समाधिस्थ हो जाते थे पर अब पूरी समाधि अवस्था तो बनती नहीं।”

दिनचर्या

प्रारम्भ से ही महाराजश्री का अभ्यास रात्रि में साढ़े-तीन घण्टे सोने का था। वे लगभग डेढ़-दो बजे रात्रि में प्रतिदिन उठ जाते थे और उठकर तत्काल स्नान करते थे और अपनी ध्यान-समाधि में बैठ जाते थे। अस्वस्थ

हीने पर, तीन चार डिग्री बुखार के बावजूद वे अपने समय पर अवश्य उठते थे। वे रात्रि बारह बजे सोने पर भी दो-ढाई बजे तक उठ ही जाते थे। प्रातः साढ़े तीन बजे से पाँच बजे तक चार-पाँच मील प्रतिदिन उनका अकेले पैदल घूमने का क्रम रहता था। घूमने के समय जप और स्तोत्रादि के पाठ होते रहते थे। इसके बाद प्रातः पाँच बजे से आठ बजे तक पूजा का कार्यक्रम एकान्त में चलता था। तदनन्तर बारह बजे तक पठन-पाठन, स्वाध्याय और लेखन के कार्य चलते थे। इसी बीच आनेवाले भक्तजनों की शंकाओं का समाधान करते, दिन में बारह बजे फिर स्नानादि कृत्य से निवृत्त होकर भगवदाराधन, पूजन-दर्शन का क्रम रहता। इसके अनन्तर एक बजे से पाँच बजे के बीच एकान्त में कुछ विशिष्ट साधना, योगासन—शीर्षासन आदि तथा लेखन-स्वाध्याय का कार्य चलता था। सायंकाल पाँच बजे एक बार महाराजश्री की मिक्षा होती थी जिसमें नमक और चोनी के बिना उनका भोजन होता था। जल पीने का अभ्यास भी महाराजश्री का कम था। कभी-कभी तो महीनों तक बिना जल पिये हो रह जाते थे। सायं ६ से ७ के भीतर कथा-व्याख्यान, शंका-समाधान तथा भक्तों को दर्शन देने का कार्यक्रम रहता था। आजकल तो प्रायः उपनिषद् तथा गीता आदि वेदान्त ग्रन्थों का व्याख्यान चलता था। तदनन्तर सायंकालीन स्नान करके

रात्रि के पूजन पर बैठते थे जो प्रायः दो घण्टे चलता था। यह थी महाराजश्री की दिनचर्या, जो सामान्य व्यक्ति के बस की बात नहीं है।

महाराजश्री सत्य-संकल्प थे। इनके मन में कोई बात आती नहीं थी पर यदि कभी आती थी तो निश्चित रूप से पूरी होती थी।

काशी-श्रद्धा

काशी के प्रति महाराजश्री की अनन्य आस्था थी। उनके हृदय में काशी के लिए एक विशिष्ट स्थान था। लगभग पिछले २५ वर्षों से उन्होंने अपना चातुर्मास काशी से बाहर नहीं किया।

सामंजस्य

धर्म और संस्कृति की सुरक्षा में अपने समय को समर्पित करनेवाले स्वामी जी महाराज का जीवन पूर्ण तपोमय और साधना से परिपूर्ण था। वे शैव होकर भी परम वैष्णव थे, ज्ञानी होकर भी परम भक्त थे, सांसारिक जीवों के कल्याण के लिए प्रपंच में रहकर भी परम वीतराग थे। उस परम वीतराग महात्मा को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए हमारे पास शब्द कहाँ, हम तो यही कह सकते हैं कि सनातन जगत् आज अपने को अनाथ अनुभव कर रहा है।

देवों की सभा में मनुष्य के पुत्रार्थ की चर्चा चली। मनुष्य अपने पुत्रार्थ से एक-के-बाद-एक क्षेत्र में प्रभुत्व प्राप्त करता जा रहा था। उसे रोकने की सामर्थ्य किसी में न थी। मनुष्य के सामने कदाचित् देवताओं को भी परास्त होना पड़े, इस भय से देवगण मनुष्य का अमरत्व छीन लेना चाहते थे। लेकिन उनकी समझ में यह नहीं आया कि मनुष्य से अमरत्व छीन कर उसे छिपायें कहाँ? ऊँचे-से-ऊँचे पर्वत पर मनुष्य चढ़ सकता है, अगाध समुद्र की गहराई माप लेता है और पृथ्वी के गर्भ तक भी उसकी पहुँच है। अन्त में, ब्रह्मा ने देवताओं को अभय दिया। उन्होंने मनुष्य का अमरत्व एक ऐसी जगह छिपा दिया, जहाँ मनुष्य उसके होने की कल्पना तक नहीं करता। वह स्थान उसका अन्तःकरण ही है। अमरत्व की खोज में मनुष्य आकाश-पाताल एक करता है; लेकिन अपना अन्तर नहीं टटोलता।

— शिवलाल मोदी



गांधीजी : मानव के रूप में

— श्री घनश्यामदास विरला

गांधीजी का और मेरा प्रथम सम्पर्क १९१५ के जाड़ों में हुआ। वे दक्षिण अफ्रीका से नये-नये ही आये थे और हम लोगों ने उनका एक बृहत् स्वागत करने का आयोजन किया था। मैं उस समय केवल बाईस साल का था। गांधीजी की उस समय की शक्ल यह थी : सिर पर काठियावाड़ी पगड़ी, एक लम्बा अँगुरा, गुजराती ढंग की धोती और पाँव बिल्कुल नंगे। वह तस्वीर आज भी मेरी आँखों के सामने ज्यों-की-त्यों नाचती है। हमने कई जगह उनका स्वागत किया। उनके बोलने का ढंग, भाषा और भाव बिल्कुल ही अनोखे मालूम दिये। बोलने में न जोश, न कोई अतिशयोक्ति, न कोई नमक-मिर्च; सीधी-सादी भाषा।

१९१५ में जो सम्पर्क बना, वह अन्त तक चलता ही रहा और इस तरह बत्तीस साल का गांधीजी के साथ का यह अमूल्य सम्पर्क मुझपर एक पवित्र छाप छोड़ गया है, जो मुझे सदा स्मरण रहेगा। उनका सत्य, उनका सीधापन, उनकी अहिंसा, उनका शिष्टाचार, उनकी आत्मोद्यता, उनकी व्यवहार-कुशलता, इन सब चीजों का मुझपर दिन-प्रतिदिन असर पड़ता गया और धीरे-धीरे मैं उनका भक्त बन गया। जब समालोचक था तब भी मेरी उनमें श्रद्धा थी; जब भक्त बना तो श्रद्धा और भी बढ़ गयी। ईश्वर की दया है कि बत्तीस साल का मेरा और एक महान् आत्मा का सम्पर्क अन्त तक निभ गया। मेरा यह सद्-भाग्य है।

गांधीजी को मैंने सन्त के रूप में देखा, राजनैतिक नेता के रूप में देखा और मनुष्य के रूप में भी देखा। मेरा यह भी खयाल है कि अधिक लोग उन्हें सन्त या नेता के रूप में ही पहचानते हैं। लेकिन जिस रूप ने मुझे मोहित किया वह तो उनका एक मनुष्य का रूप था—न नेता का, न सन्त का। उनकी मृत्यु पर अनेक लोगों ने उनकी दुःख-गाथाएँ गायी हैं और उनके अद्भुत गुणों का वर्णन किया

है। मैं उनके क्या गुण गाऊँ ? पर वे किस तरह के मनुष्य थे, यह मैं बता सकता हूँ।

मनुष्य क्या थे, वे कमाल के आदमी थे। राजनैतिक नेता की हैसियत से वे अत्यन्त व्यवहार-कुशल तो थे ही। किसी से मैत्री बना लेना, यह उनके लिए चन्द मिनटों का काम था। द्वितीय गोलमेज कान्फ्रेंस में जब वे इंग्लैण्ड गये थे तब उनके कट्टर दुश्मन सैम्युअल होर से मैत्री हुई तो इतनी कि अन्त तक दोनों मित्र बने रहे। लिनलिथगो से उनकी न निभी, पर इसमें दोष सारा लिनलिथगो का ही था; गांधीजी ने मैत्री रखने में कोई कसर न रखी। जिनसे गांधीजी मैत्री रखते, छोटी चीजों में वे उनके गुलाम बन जाते थे। पर जहाँ सिद्धान्त की बात आती थी, वहाँ डटकर लड़ाई होती थी। लेकिन उसमें भी वे कटुता नहीं लाते थे। लन्दन में जितने रोज रहे, बिना सैम्युअल होर की आज्ञा के कोई वक्तव्य या व्याख्यान देना उन्होंने स्वीकार नहीं किया। लिनलिथगो से भी कई बातों में ऐसा ही सम्बन्ध था।

निर्णय करने में वे न केवल दक्ष थे, बरन् साहसी भी थे। चौरीचौरा के काण्ड को लेकर सत्याग्रह का स्थगित करना और हिमालय-जितनी अपनी बढ़ी भूल मान लेना, इसमें काफी साहस की जरूरत थी। सत्याग्रह स्थगित करने पर वे लोगों के रोष के शिकार बने, गालियाँ खायीं, मित्रों को काफी निराश किया, पर अपना दृढ़ निश्चय उन्होंने नहीं छोड़ा। १९३७ में कांग्रेस ने जब गवर्नमेण्ट बनाना स्वीकार किया तब गांधीजी के निर्णय से ही प्रभावित होकर कांग्रेस ने ऐसा किया। गांधीजी ने जहाँ कदम बढ़ाया, सब पीछे चल पड़े। कांग्रेस-नायक में उस समय शिक्षक थी, वे शंकाशील थे। १९४२ में, जब क्रिप्स आये, तब हाल इसके विपरीत था। कांग्रेस के कुछ नेता चाहते थे कि क्रिप्स की सलाह मान ली जाय और क्रिप्स-प्रस्ताव स्वीकार किया जाय, पर गांधीजी टस-से-मस न हुए, बल्कि उन्होंने

‘हिन्दुस्तान छोड़ो’ की धुन छेड़ी और लड़ पड़े। उस समय भी उन्होंने निर्णय करने में काफी साहस का परिचय दिया।

मुझे याद आता है कि राजनीति में उस समय करीब-करीब सन्नाटा था। लोगों में एक तरह की थकान थी। नेताओं में प्रायः एकमत था कि जनता लड़ने के लिए उत्सुक नहीं।

बिहार से एक नेता आये। गांधीजी ने उनसे पूछा, “जनता का क्या हाल है? क्या जनता लड़ने को तैयार है?” बिहारी नेता ने कहा, “जनता की कोई तैयारी नहीं है, कोई उत्साह नहीं है।” पीछे रुककर उन्होंने कहा कि मुझे एक कथा स्मरण आती है। एक मर्तबा नारद विष्णु के पास गये। विष्णु ने नारद से पूछा, “नारद, ज्योतिष के अनुसार वर्षा का कोई ढंग दीखता है?” नारद ने पंचांग देखकर कहा कि वर्षा होने की कोई सम्भावना नहीं है। नारद ने इतना कहा तो सही, पर विष्णु के घर से बाहर निकले तो वर्षा से सुरक्षित होने के लिए अपनी कमली ओढ़ ली। विष्णु ने पूछा, “नारद, कमल क्यों ओढ़ते हो?” नारद ने कहा, “मैंने ज्योतिष की बात बतायी है, पर आपकी इच्छा क्या है, यह तो मैं नहीं जानता। अन्त में जो आप चाहेंगे, वही होनेवाला है।” इतना कहकर उन बिहारी नेता ने कहा, “बापू, जनता में तो कोई जान नहीं है, पर आप चाहेंगे तो जान आ ही जायगी।” यह बिहारी नेता थे सत्यनारायणबाबू। जो उन्होंने सोचा था, वही हुआ। जनता में लड़ने की कोई उत्सुकता न थी, पर बिगुल बजते ही लड़ाई ठनी तो ऐसी कि अत्यन्त भयंकर।

पर यह तो मैंने उनकी नेतागिरी और राजकौशल की बात बतायी। इतने महान् होते हुए भी किस तरह छोटों की भी उन्हें चिन्ता थी, यह आत्मीयता उनकी देखने लायक थी। यही चीज उनके पास एक ऐसे रूप में थी कि जिसके कारण लोग उनके बेदाम गुलाम बन जाते थे। उनके पास रहनेवाले को यह डर रहता था कि बापू किसी भी कारण अप्रसन्न न हों; और यह भय इसलिए नहीं था कि वे महान् व्यक्ति थे, वरन् इसलिए कि मनुष्य में जो सहृदयता और आत्मीयता होनी चाहिए, वह उनमें कूट-कूटकर भरी थी।

बहुत वर्षों की बात है। जाड़े का मौसम था। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। गांधीजी दिल्ली आये थे। उनकी गाड़ी सुबह चार बजे स्टेशन पर पहुँची। मैं उन्हें लेने

गया। पता चला कि एक घण्टे बाद ही जानेवाली गाड़ी से वे अहमदाबाद जा रहे हैं। उनके गाड़ी से उतरते ही मैंने पूछा, “एक दिन ठहरकर नहीं जा सकते?” उन्होंने कहा, “क्यों? मुझे जाना आवश्यक है।” मैं निराश हो गया। उन्होंने फिर पूछा, “क्यों?” मैंने कहा, “घर में कोई बीमार है। मृत्यु-शय्या पर है। आपके दर्शन करना चाहती है।” गांधीजी ने कहा, “मैं अभी चलूँगा।” मैंने कहा, “मैं इस जाड़े में ले जाकर आपको कष्ट नहीं दे सकता।” उन दिनों मोटरें भी खुली होती थीं। जाड़ा और ऊपर से जोर की हवा, पर उनके आग्रह के बाद मैं लाचार हो गया। मैं उन्हें ले गया, दिल्ली से कोई पन्द्रह मील की दूरी पर। वहाँ उन्होंने रोगी से बात कर उसे सान्त्वना दे दिल्ली-केन्टूनमेण्ट पर अपनी गाड़ी पकड़ ली। मुझे आश्चर्य हुआ कि इतना बड़ा व्यक्ति मेरी जरा-सी प्रार्थना पर सुबह के कड़ाके के जाड़े में इतना परिश्रम कर सकता है और कष्ट उठा सकता है! पर यह उनकी आत्मीयता थी, जो लोगों को पानी-पानी कर देती थी। मृत्यु-शय्या पर सोनेवाली यह मेरी धर्मपत्नी थी।

परचुरे शास्त्री एक साधारण ब्राह्मण थे। उन्हें कुछ था। उनको गांधीजी ने अपने आश्रम में रक्खा सो तो रक्खा, पर रोजमर्रा उनकी तेल की मालिश भी स्वयं अपने हाथों करते थे। लोगों को डर था कि कहीं कुछ गांधीजी को न लग जाय। पर गांधीजी को इसका कोई भय न था। उनको ऐसी चीजों से अत्यन्त सुख मिलता था।

’४२ के शुरू में मैं वर्षा गया। कुछ दिन बाद उन्होंने मुझसे कहा, “तुम्हारा स्वास्थ्य गिरा मालूम होता है। इसलिए मेरे पास सेवाग्राम आ जाओ और यहाँ कुछ दिन रहो। मैं तुम्हारा उपचार करना चाहता हूँ।” मैंने कहा, “वर्षा ठीक है। सेवाग्राम में क्यों आपको कष्ट हूँ!” मुझे संकोच तो यह था कि सेवाग्राम में पाखाना साफ करने के लिए कोई मेहतर नहीं होता। वहाँ पर टट्टी की सफाई आश्रम के लोग करते हैं। जहाँ मुझे ठहराना निश्चित किया गया था, वहाँ की टट्टी महादेवभाई साफ किया करते थे। मैंने उन्हें अपना संकोच बताया कि क्यों मैं सेवाग्राम नहीं आना चाहता था। मैं स्वयं अपनी टट्टी साफ नहीं कर सकता और यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि महादेवभाई-जैसा विद्वान् और तपस्वी ब्राह्मण उस काम को करे।

गांधीजी को मेरा संकोच निरा वहम लगा। पाखाना उठाना क्या कोई नीच काम है? महादेवभाई ने भी मजाक किया, परन्तु मेरे आग्रह पर मेहतर रखना स्वीकार कर लिया गया। आगाखाँ-महल में जब उनका उपवास चलता था तो मैं गया। बड़े बेचैन थे। बोलने की शक्ति करीब-करीब नहीं के बराबर थी। मैंने सोचा कि कुछ राजनैतिक बातें कहेगा, पर आश्चर्य हुआ। पहुँचते ही हम सबका कुशल-मंगल, छोटे-मोटे बच्चों के बारे में सवाल और घर-गृहस्थी की बातें। इसी में काफी समय लगा दिया। मैं उनको रोकता जाता था कि आपमें शक्ति नहीं है, मत बोलिए; पर उनको इसकी कोई परवा नहीं थी।

इस तरह की उनकी आत्मीयता थी, जिसने हजारों को उनका दास बनाया। नेता बहुत देखे, सन्त भी बहुत देखे, मनुष्य भी देखे, पर एक ही मनुष्य मैं सन्त, नेता और मनुष्य की ऊँचे दर्जे की आत्मीयता मैंने और कहीं नहीं देखी। मैं अगर गांधीजी का कायल हुआ तो उनकी आत्मीयता का। यह सबक है, जो हर मनुष्य के सीखने लायक है। यह एक मिठास है, जो कम लोगों में पायी जाती है।

गांधीजी करीब पीने पाँच महीने इस मर्तबा हमारे घर में रहे। जैसा कि उनका नियम था, उनके साथ एक बड़ी बरात आती थी। नये-नये लोग आते थे और पुराने जाते थे। भीड़ बनी रहती थी। घर तो उनके ही सुपुर्द था। कितने मेहमान उनके ऐसे भी आते थे, जो मुझे पसन्द नहीं थे, जो उनके पासवालों को भी पसन्द नहीं थे। बम गिरने के बाद बहुतों ने उन्हें बेरोक-टोक भीड़ में घुस जाने के मना किया। सरदार वल्लभभाई पटेल ने उनके लिए करीब तीस मिलिटरी पुलिस और पन्द्रह-बीस खुफिया बिड़ला-भवन में तैनात कर रखे थे, जो भीड़ में इधर-उधर फिरते रहते थे; पर मैं जानता था, इस तरह से उनकी रक्षा हो ही नहीं सकती। जो लोग आते थे उनकी तलाशी लेने का विचार पुलिस ने किया, मगर गांधीजी ने रोक दिया। हर सवाल का एक ही जवाब उनके पास था—“मेरा रक्षक तो राम है।”

उपवास के बाद उनका हाजमा बिगड़ा। मैंने कहा, “कुछ दवा लीजिए।” फिर वही उत्तर—“मेरा वैद्य राम है।” “मेरी दवा राम है।” कुछ अदरक, नींबू, घृतकुमारी का रस, नमक और हींग साथ मिलाकर उनको देना निश्चय किया। आग्रह के बाद साधारण खान-पान की चीज समझ-कर उन्होंने इसे लेना स्वीकार किया। पर वह भी कितने

दिन! अन्त में तो राम ही उन्हें अपने मन्दिर में ले गये।

उनके अन्तिम उपवास ने उनके निकटस्थ लोगों में काफी चिन्ता पैदा की। उपवास के समय मैंने काफी बहस की। मैंने कहा, “मेरा आपका बत्तीस साल का सम्पर्क है। आपके अनेक उपवासों में मैं आपके पास रहा हूँ। मुझे लगता है कि आपका यह उपवास सही नहीं है।” पर गांधीजी अटल थे। यह कहना भी गलत है कि गांधीजी आसपास के लोगों से प्रभावित नहीं होते थे। बुद्धि का द्वार उनका सदा खुला रहता था। बहस करनेवाले को प्रोत्साहन देते थे, और उसमें जो सार होता उसे ले लेते थे, चाहे वह कितने ही छोटे व्यक्ति से क्यों न मिलता हो। बार-बार बहस करते-करते मुझे लगा कि उनके उपवास के टूटने के लिए काफी सामग्री पैदा हो गयी है। मुझे बम्बई जाना था। ज़रूरी काम था। मैंने उनसे कहा, “मैं बम्बई जाना चाहता हूँ। मुझे लगता है कि अब आपका उपवास टूटेगा। न टूटनेवाला हो तो न जाऊँ।” मैंने यह प्रश्न जान-बूझकर टटोलने के लिए किया। उन्होंने मजाक भुलू किया। कहा, “जब तुम्हें लगता है कि उपवास का अन्त होगा तो फिर जाने में क्या रुकावट है? अवश्य जाओ, मुझसे क्या पूछना है?” मैंने कहा, “मुझे तो उपवास का अन्त लगता है, पर आपको लगता है या नहीं, यह कहिए।” उन्होंने मजाक जारी रक्खा और साफ उत्तर न देकर फन्दे में फँसने से इन्कार किया। मैंने कहा, “नचिकेता यम के घर पर भूखा रहा तो यम को क्लेश हुआ; क्योंकि ब्राह्मण घर में भूखा रहे तो पाप लगता है। आप यहाँ उपवास करते हैं तो मुझपर पाप चढ़ता है। इसलिए अब इसका अन्त होना चाहिए।” गांधीजी ने कहा, “मैं कहाँ ब्राह्मण हूँ! पर आप तो महाब्राह्मण हैं।” इसपर बड़ा मजाक रहा। मैंने कहा, “अच्छा, आप यह आशोर्वाद दीजिए कि मैं शीघ्र-से-शीघ्र आपके उपवास टूटने को खबर बम्बई में सुनूँ।” फिर भी उनका मजाक तो जारी ही रहा। मैंने कहा, “अच्छा, यह बताइए कि आप जिन्दा रहना चाहते हैं या नहीं?” उन्होंने कहा, “हाँ, यह कह सकता हूँ कि मैं जिन्दा रहना चाहता हूँ। बाकी तो मैं राम के हाथ में हूँ।” उपवास तो समाप्त हुआ, लेकिन राम ने उन्हें छोड़ा नहीं।

एक दीपक बुझ गया, पर हमारे लिए रोशनी छोड़ गया।

जगमंगल गुनग्राम रामके-लोक मंगलकारी रामचरित

— आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

राम के चरित में वह आकर्षण है जिससे दुःशील व्यक्ति भी सुशील हो सकता है। तुलसीदास उसको मनुष्य नहीं समझते जो राम के शील-स्वभाव से प्रभावित न हो। उन्होंने कहा है कि—

सुनि सीतापति सीढ़ सुभाउ ।

भोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ ।

—विनयपत्रिका, १०० ।

जो अपने शील-स्वभाव से आकृष्ट न कर सके और जो दूसरे के शील-स्वभाव से आकृष्ट न हो उसमें चारित्र्य की कमी है। राम के आकर्षक शील-स्वभाव और उससे आकृष्ट होने की वृत्ति के लिए उन्होंने घन-चातक का उदाहरण प्रस्तुत किया है—

तुलसी चातक माँगनो एक एक घन दानि ।

देत जो भू-भाजन भरत लेत जो घूटक पानि ॥

—दोहावली, २८७ ।

चातक की प्यास के लिए घन जो जल देता है वह चातक की ही प्यास बुझाने भर को नहीं होता, भू का सारा भाजन वह भर देता है, सभी उससे अपनी तृषा बुझा सकते हैं, फिर भी चातक केवल एक घूँट ही लेता है। मुझे ही सारा जल मिले उसपर मेरा ही अधिकार है, यह भावना चातक की नहीं होती। सच पूछिए तो वह अपनी प्यास बुझाना ही नहीं चाहता, क्योंकि प्यास बुझ जाने से दाता के प्रति आकर्षण पर से दृष्टि हटने की सम्भावना रहती है। इसीसे वे कहते हैं कि चातक तो स्वाती में बहुत कम जल लेता है, बस 'घूटक पानि'। इसीसे कि प्यास घटने से मर्यादा घट जायेगी—

चातक तुलसी के मते स्वातिहु पियै न पानि ।

प्रेमतृषा बाढ़ति मली घटे घटैगी कानि ॥

—वही, २७९ ।

चातक में सबसे प्रधान गुण इस प्रेमतृष्णा के बढ़ने से यह आता है कि वह सबसे माँगता नहीं फिरता, वह मनस्वी

होता है और 'यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः' के सिद्धान्त को मानता है—

तीनि लोक तिहुं काल जस चातक ही के माथ ।

तुलसी जागु न दीनता सुनो दूसरे नाथ ॥

—वही, २८८ ।

इसीसे तुलसीदास ने अपना भी यही निश्चय रखा कि—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास ।

एक राम-घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥

उन्होंने साधुमत और लोकमत में भेद किया है। लोकमत के लिए वे सामाजिक मान्यताओं का त्यागना ठीक

श्रीरामनामामृत

जो संसार में आता है, उसको जहर तो पीना ही पड़ता है। तुम्हारा पुत्र तुम्हारा कहा न करे और सामने उत्तर दे तो तुमको जहर जैसा लगेगा। प्रतिकूल परिस्थिति ही जहर है। तुम्हारी कोई निन्दा करे तो तुमको जहर जैसा लगेगा। संसार में निन्दा, व्याधि, अपमान इत्यादि जहर है। जब-जब जीवन में दुःख आये, जहर पीने का प्रसंग आवे तब-तब रामनामामृत का पान करना, रामनाम का जप करना, जिससे जहर भी अमृत बन जावेगा। इसी-लिए शिवजी विष पी गए वह विष भी अमृत बन गया—

नाम प्रभाव जान सिव नीको

कालकूट फलु दीन अमीको

—सन्तश्री डोंगरे जी महाराज

नहीं मानते, क्योंकि ऐसा करने से समाज की मर्यादा बिगड़ती है। पर साधुमत के लिए वे अत्यन्त 'क्रान्तिकारी' विचार के हैं। उनका रामचरितमानस लोकमत-प्रधान ग्रन्थ है।...पर विनयपत्रिका में 'साधुमत' का प्राधान्य है।

वेदमत संमत पुरानऊ पुरानन को,

संशु को बिकास इतिहास तरसत है ।

सोमामई सोलमई रीतिमई प्रीतिमई,
नीति के प्रमानन प्रसिद्ध दरसत है ।
ठाकुर कहत धन्य तुलसी तिहारी बानी,
अकह कहाँ रससानी सरसत है ।
चंद सी चमेली सी गिरा सी गंगधार कैसी,
मघा मेघमई रामजस बरसत है ॥

ठाकुर कवि का यह कथन सोलहो आने (या सो पैसे)
ठीक है । कहते हैं, मघा नक्षत्र की वृष्टि से भूमि तुल होती
है । तुलसीदास की वाणी मानसभूमि को सन्तुष्ट करनेवाली
है । उनकी वाणी गंगा की धारा की भाँति सर्वजनहिताय
भी है । उन्होंने मानस में वाणी या भणिति का यही आदर्श
स्वीकार किया है :

कीरति भनिति भूति मलि सोई ।

सुरसरि सम सब कर हित होई ॥

—काशिराज संस्करण, मा०, १।१४।९

तुलसीदास का लोकमंगल का आदर्श बहुजनहिताय न
था, सर्वजनहिताय था । इसके लिए रामयश को वे सर्वोत्तम
मानते थे । वे कहते ही हैं—

रामचरित राकेसकर सरिस सुखद सब काहु ।

सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ काहु ॥

—वही, १।३२।०।

तुलसीदास की यह एकनिष्ठा राम के अतिरिक्त किसी
दूसरे में निष्ठा रखनेकी विरोधिनी नहीं है । यही कारण है
कि उन्होंने प्रायः सभी प्रमुख देवी-देवताओं का निरुल्ल
गुणगान किया है । वे राम की सत्ता को ही सर्वत्र व्याप्त
मानकर चले हैं । इसलिए भक्ति के क्षेत्र में उनकी सरणी
समन्वयकारिणी है । साधना के तीन प्राचीन मार्गों में से
कोई केवल ज्ञान, कोई केवल कर्म और कोई केवल उपासना
को मानता रहा । पर तुलसीदास ने भक्ति का ऐसा स्वरूप
सामने किया जिसमें ज्ञान और कर्म का भी पूरा मेल है—

रामभगति जहँ सुरसरिधारा । सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा ।
विधिनिषेधमय कलिमलहरनी । करमकथा रबिनंदिनी बरनी ॥

—मा०, १।२।८-९ ।

इसीसे प्रवृत्तिधर्मी भागवत मार्ग और निवृत्तिधर्मी
निर्गुणमार्ग से तुलसीदास ने अपना भक्तिमार्ग पृथक् रखा
और उसे उभयविध धर्मों का समन्वयकारी मार्ग बतलाया ।
लोक में एकान्त प्रवृत्ति और लोक से एकान्त निवृत्ति दोनों

को उन्होंने ठीक नहीं समझा । पर प्रवृत्ति और निवृत्ति
दोनों की आवश्यकता मानी और कहा कि रामभक्ति का लक्ष्य
दोनों की युगपत् समुचित साधना है—

घर कीन्हे घर जात है घर राखे घर जाइ ।

तुलसी घर बन बीच ही राम-प्रेम-पुर छाइ ॥

—दोहावली, २५६ ।

सांसारिक घर अर्थात् लोकप्रवृत्ति में लीन होने से
पारलौकिक घर अर्थात् निवृत्ति की साधना नहीं हो सकती ।
इसी प्रकार निवृत्ति की साधना करने से प्रवृत्ति का सांसारिक
घर बिगड़ता है । न केवल घर में रहने की ही आवश्यकता
है और न केवल बन में ही । घर और बन अर्थात् प्रवृत्ति
और निवृत्ति दोनों की युगपत् साधना के हेतु रामप्रेम के
नगर में रहना चाहिए । रामप्रेम-मार्ग को उन्होंने सहज और
सरल मार्ग घोषित किया, उनका रामभक्ति मार्ग बंकिम
और कठिन नहीं है—

सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूति ।

तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर-प्रेम-प्रसूति ॥

—वही, १५२ ।

जो लोग तुलसीदास को साम्प्रदायिक या प्रतिगामी समझते
हैं उन्हें तुलसीदास का पक्ष समझ लेना चाहिए । उन्होंने
साधुमत और लोकमत में भेद किया है । लोकमत के लिए
वे सामाजिक मान्यताओं का त्यागना ठीक नहीं मानते,
क्योंकि ऐसा करने से समाज की मर्यादा बिगड़ती है । पर
साधुमत के लिए वे अत्यन्त 'क्रान्तिकारी' विचार के हैं ।
उनका रामचरितमानस लोकमत-प्रधान ग्रंथ है जिसमें प्रायः
सभी तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं का समर्थन दिखाई
देता है । पर विनयपत्रिका में 'साधुमत' का प्राधान्य है ।
इसी से वहाँ सामाजिक मर्यादाओं के अतिक्रमण की भी बातें
कही गयी हैं । सगुण भक्तिमार्ग का प्रसार गृहस्थों के बीच
हुआ । अतः गार्हस्थ्यधर्म की सनातन मर्यादाओं की रक्षा
पर उन्होंने भी 'मानस' में अधिक ध्यान दिया है । जो
तुलसीदास 'मानस' में अनुसूया द्वारा सीता को उपदेश
दिलाते समय कहलाते हैं कि—

बृद्ध रोगवश जड़ धनहीना, अंध बधिर क्रोधी अविदीना ।
ऐसेहु पति कर किये अपमाना, नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥

—मा० ३।५।८-९ ।

वे ही साधुमत को सामने रखकर विनयपत्रिका में यह
भी कह देते हैं—

जाके प्रिय न राम बैरेही ।

सो छाड़ि कोटि बैरो सम जयपि परम सनेही ॥

तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बन्धु, भरत महतारी ।

बलि गुरु तज्यो, कंठ ब्रज-वितनि, मये सुदमंगलकारी ॥

—विनयपत्रिका, १७४

दृष्टिभेद या लक्ष्यभेद से मार्गभेद भी होता है। 'मानस' का लक्ष्य दूसरा है, विनयपत्रिका का दूसरा। इसी से विनयपत्रिका में 'मानस' का आदर्श नहीं है। तुलसीदास ने कहीं सांकर्य नहीं किया। जैसे उन्होंने लोकमत और साधुमत को पृथक् रखा वैसे ही वेदमत और राजमत को भी। तात्पर्य यह कि अपने-अपने स्थान पर वे सभी मतों को ठीक समझते थे। यही कारण है कि उनकी रचना सभी प्रकार के मतवादियों के अनुकूल यथावसर पड़ जाती है। इतनी व्यापक और सुलझी बुद्धि से काव्य के प्रांगण में आनेवाला हिन्दी का दूसरा कवि नहीं है। अन्य भाषाओं में साहित्य-सौन्दर्य की विशेषता रखने वाले चाहे जितने और जैसे कवि हों पर उस युग में जैसी सामाजिक जीवन की व्यापक दृष्टि क्षेत्रभेद से तुलसीदास ने रखी वैसी कदाचित् ही किसी में मिले।

इसी से जीवन के जितने अधिक अंशों का स्पर्श तुलसीदास कर सके, उतने का कम ही कवि कर पाते हैं। यही कारण है कि उनके 'रामचरितमानस' का जितना अधिक प्रसार दिखाई देता है, उतना किसी भी साहित्यिक कृति का सुनने में नहीं आता। धार्मिक ग्रन्थों का ही इतना अधिक आलोड़न, मनन-मंथन होता है। इसी से कोई-कोई चकपकाकर उसे पुराण कह बैठते हैं। भागवत की भांति 'मानस' को बाँचने और कहने-सुनानेवाले व्यासों को देखकर ऐसा भ्रम पुष्ट होता है। पर बात इतनी सी ही है कि उन्होंने मानस को 'नानापुराणनिगमागमसंमत' बनाया, उसे

पुराण नहीं बनाया। पंचलक्षण पुराणों में सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरितका वर्णन होता है, जो मानस में नहीं है। अतः उसे पुराण समझना कोरा भ्रम है।

काव्य के क्षेत्र में वे 'महत्' को ही स्वीकार करते हैं। रामचरित से बढ़कर 'महत्' चरित उन्हें दूसरा नहीं दिखाई देता। इसी से जिस युग में राजदरबारों के बड़े-बड़े प्रलोभन थे, उसमें उन्होंने अपना काव्य किसी प्राकृत जनपर नहीं लिखा, क्योंकि—

भागति हेतु विधि भवन बिहाई ।

सुभिरत सारद आवति धाई ॥

रामचरितसर बिनु अन्हवाये ।

सो भ्रम जाइ न कोटि उपाये ॥

कीन्हें प्राकृत जन-गुन-गाना ।

सिर धुनि गिरा लगत पछिताना ॥

मा० १११४, ६-७।

स्थिति यह है कि इस ऊँचे आदर्श के कारण काव्य से तुलसीदास की शोभा नहीं हुई, तुलसीदास ने ही काव्य को सुशोभित किया, अर्थात् उसका आदर्श ऊपर उठा दिया। अतः 'हरिऔध' के शब्दों में गोस्वामी तुलसीदास के लिए यही कहना ठीक जान पड़ता है—

बन राम रसायन की रसिका,

रसना रसिकों की हुई सफला ।

अवगाहन मानस में करके,

जन-मानस का मल सारा टला ।

बनी पावन-भाव की भूमि भली,

हुआ भावुक भावुकता का मला ।

कविता करके तुलसी न लसे ।

कविता लसी पा तुलसी की कला ॥

शिव-संकल्प

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्रस्य तथैवेति

दूरङ्गमञ्ज्योतिषां ज्योतिरेकम् तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।

जाग्रतावस्था में जो हमारे सभी इन्द्रिय-व्यापारों की उपेक्षा करके एक ही उड़ान में सारे चराचर को माप लिया करता है; सुप्तावस्था में भी जो हमारी सर्वांगीण जड़ता के प्रतिकूल सारे ब्रह्माण्ड में अबाध विचरण किया करता है, जिसके वेग के सम्मुख सृष्टि के समस्त वेग पराजित हैं, जो सब ज्योतियों की ज्योति है—सारे चैतन्यों का स्रोत है—ऐसा हमारा मन सदैव मांगलिक संकल्पों को धारण करे।—'यजुर्वेद' ३४-१

ब्रह्मलीन स्वामी करपात्रीजी महाराज

[स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती]

— श्री पं० बलदेव उपाध्याय



अनन्त श्रीविभूषित स्वामी करपात्री जी महाराज आधुनिक युग में काशीस्थ संन्यासियों के शिरोमणि रूप से विराजमान रहे हैं। उनकी वाणी और लेखनी दोनों में धर्म के रहस्यों के उद्घाटन करने की अलौकिक क्षमता थी। वे हृदयावर्जिका विमला वाणी के जैसे प्रेरक मनीषी थे, वैसे ही ललितललाम लेखनी के धनी। वाणी और लेखनी का यह मंजुल सामरस्य किस विद्वान् को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ नहीं होता? वे वैदिक शास्त्र के मर्म के उन्मीलन में समर्थ वाग्मी थे जिनके विषय में कहा गया है—“वाग्मी भवति वा न वा”। वे वैसे नीरस वेदान्ती नहीं थे जो वेदान्त के शुष्क तर्कों के चिन्तन में ही अपनी प्रतिभा का उपयोग करता है, प्रत्युत वे सौन्दर्य सार-सर्वस्व रसामृत मूर्ति निकुंजविहारी की परम पावन निकुंजलीला के भक्ति-रसाप्लुत सहृदय उपासक थे जिनकी कमनीय वाणी से भक्तिरस के मधुमय कण बिखरे पड़ते थे। उनकी लेखनी ने जो कुछ भी निबद्ध किया वह केवल मस्तिष्क की वस्तु नहीं है, प्रत्युत उनके रस-सान्द्र हृदय का आनन्दमय उल्लास है। ऐसे गम्भीर चिन्तक, नैष्ठिक उपासक तथा सहृदय लेखक के सात्त्विक जीवन की धारा से परिचित होकर अपने को सुधारने तथा सँवारने की अभिलाषा किस व्यक्ति में न होगी? उसी जीवन की एक भव्य झाँकी यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

जन्म और शिक्षा

स्वामी करपात्री जी का जन्म उत्तर प्रदेश में प्रतापगढ़ जिले के भटनी नामक गाँव में श्रावण शुक्ला द्वितीया को सं० १९६४ वि० (सन् १९०७) में हुआ। इनके पूर्वज गोरखपुर जिले के ओझीली गाँव के निवासी थे। परन्तु कालान्तर में कालाकाँकर के राजा स्वामी जी के पितामह को भटनी (प्रतापगढ़) ले गये जहाँ जाकर वे बस गये।

स्वामी जी सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पं० रामनिधि ओझा था जो बड़े ही सात्त्विक तथा धार्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे।

पं० रामनिधि ओझा के तीन पुत्र हुए जिनमें कनिष्ठ पुत्र का नाम हरनारायण था। यही हरनारायण कालान्तर में स्वामी करपात्री के नाम से प्रसिद्ध हुए। ओझा जी का परिवार पुरातन सम्प्रदाय तथा संस्कृति का बड़ा प्रेमी था। अतः गाँव की प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् ओझा जी ने अपने इस पुत्र को संस्कृत पढ़ाने का निश्चय किया। अतः उन्होंने घर पर ही प्रथमा परीक्षा के पाठ्य-ग्रन्थों को पढ़ाना आरम्भ कर दिया। तीक्ष्ण बुद्धि होने के कारण हरनारायण ने शीघ्र ही संस्कृत का साधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया। परन्तु इन्होंने किसी विद्यालय में विधिवत् अध्ययन नहीं किया।

विवाह तथा वैराग्य

बालक हरनारायण का स्वभाव जन्म से ही विरागी था। इसे सांसारिक कार्यों में कोई आनन्द नहीं आता था। केवल नौ वर्ष के वय में ही इसे जीवन से उचाट तथा उदासीनता हो गयी और यह बार-बार घर छोड़कर किसी अज्ञात वस्तु की खोज में भागने लगा। एक-दो बार इनके पिता और भाई इन्हें खोजकर घर ले आये परन्तु फिर भी इनका मन घर में नहीं लगता था। पिता ने यह समझकर कि सम्भवतः विवाह कर देवे पर इसका मन संसार से

लगने लगेगा, उन्होंने विवाह पास के ही खण्डवा नामक गाँव में कर दिया, परन्तु हरनारायण के विरागी मन में विवाह करने के पश्चात् भी राग उत्पन्न नहीं हो सका। घर छोड़कर भागने का इनका क्रम जारी रहा। अन्त में पिता ने देखा कि इनका मन जब घर में लगता ही नहीं तब इन्हें रोकना व्यर्थ है। अतः इनसे निवेदन किया कि सन्तानोत्पत्ति के बाद तुम घर छोड़कर जा सकते हो। सत्रह वर्ष के वय में सन् १९२४ ई० में इन्हें एक कन्या उत्पन्न हुई। इस प्रकार पिता के आदेश का पालन कर इन्होंने अन्तिम रूप से घर छोड़ने का निश्चय कर लिया। फलतः हरनारायण ने अपने बड़े पिता और बूढ़ी माता, युवती स्त्री और अबोध पुत्री को रोते और कलपते हुए छोड़कर संसार से सदा के लिए अपना नाता तोड़ लिया। यही हरनारायण के 'महाभिनिष्क्रमण' की संक्षिप्त कथा है।

गुरु की खोज में

केवल सत्रह वर्ष के वय में युवक हरनारायण घर छोड़कर विरागी बन गये। ये घर से निकल तो पड़े परन्तु इन्हें कहाँ जाना है और क्या करना है, इसका इन्हें स्वयं पता नहीं था। अपने गाँव से पैदल ये अनेक नदी-नालों को पार करते हुए, बीहड़ मार्गों का अतिक्रमण करते हुए आगे बढ़े चले जा रहे थे। अनेक दिनों की पैदल यात्रा करने के पश्चात् ये प्रयाग के समीप कुटेश्वर गाँव में पहुँचे। वहाँ एकाएक देखा कि एक महात्मा वटवृक्ष की छाया में बैठे हुए तपस्या कर रहे हैं। वे महात्मा टाट का कोपीन धारण किये हुए ध्यानमग्न थे। ध्यान भंग होने पर उन्होंने अपने सामने एक नवयुवक को खड़ा पाया। उससे प्रश्न करके उसका आशय जान लेने के पश्चात् उन्होंने हरनारायण से कहा कि "तुम नरवर जाकर अभी अध्ययन करो। तुम पर माँ सरस्वती की विशेष कृपा रहेगी।" इस महात्मा की आज्ञा मानकर हरनारायण नरवर के लिए चल पड़े। कहने की आवश्यकता नहीं कि वे महात्मा स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज थे जो आगे चलकर ज्योतिषीठ के शंकराचार्य हुए। उनका प्रधान आश्रम प्रयाग के "अलोपी बाग" में था जो आज भी वहीं विद्यमान है।

नरवर में अध्ययन

प्राचीन काल से ही नरवर शिक्षा का केन्द्र रहा है। वहाँ सांगवेद विद्यालय स्थापित है। इसी विद्यालय में उन दिनों

नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्री जीवनदत्त जी महाराज अध्यापन कार्य करते थे। उन्हीं के चरणों में बैठकर हरनारायण ने देव-वाणी संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया। यहीं पर उन दिनों स्वामी विश्वेश्वराश्रम महाराज भी विद्यमान थे जो षड्दर्शनाचार्य होने के अतिरिक्त प्रकाण्ड विद्वान् थे। हरनारायण ने इन्हीं विद्वान् से व्याकरण तथा दर्शनशास्त्र का अध्ययन अनेक वर्षों तक किया। कुछ दिनों के पश्चात् स्वामी अच्युतमुनि के अनुरोध पर जब स्वामी विश्वेश्वराश्रम जी नरवर को त्याग कर वहाँ से लगभग ७-८ मील की दूरी पर स्थित 'भृगुक्षेत्र' चले गये, तब हरनारायण को भी उनका अनुगमन करना पड़ा। वहाँ भी इन्होंने अपने अध्ययन का क्रम चालू रखा। और कुछ ही वर्षों में अपने स्वाध्याय तथा गुरु को कृपा से प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त कर लिया।

घोर तपस्या

अध्ययन के पश्चात् हरनारायण ने तपस्या करने का निश्चय किया। अब इन्होंने हरिहर चेतन (चैतन्य) नाम धारण कर लिया था। तपस्या के आकर्षण के कारण ये उत्तराखण्ड में स्थित हिमालय की हिम से आच्छादित तल-हटियों में बैठकर तपस्या करने लगे। भूख और प्यास की यातना सहते हुए ये अपने शरीर की ममता को त्याग कर साधना में निरत हो गये। इस प्रकार ये तीन वर्षों तक घनघोर तपस्या करते रहे। इसी बीच इन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई और तपस्या सफलीभूत हो गयी। जब ये अपनी साधना समाप्त कर परमहंस के रूप में आश्रम में लौटे तब इनके मुखमण्डल पर अलौकिक आभा दिखाई पड़ने लगी थी। इनके साथियों ने इनका स्वागत किया और बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। हरिहर चेतन ने सर्वप्रथम अपने गुरु के चरणों की वन्दना की और उनका आशीर्वाद प्राप्त किया।

अब हरिहर चेतन केवल एक कोपीन धारण करते थे। केवल पवित्र तथा सदाचारी ब्राह्मणों के घर में ही भिक्षा करने के लिए जाते थे। ये अपने कर (हाथ) को ही पात्र बनाकर उसी में भोजन किया करते थे। अपने वास्तविक नाम की अपेक्षा इसीलिए ये 'करपात्री जी' के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हुए।

एक बार करपात्री जी नरवर आश्रम से प्रयाग आये। वहाँ इन्होंने अपने गुरु स्वामी ब्रह्मानन्द जी सरस्वती का

दर्शन किया। स्वामी विश्वेश्वराश्रम जी के अनुरोध से करपात्री जी ने गुरु ब्रह्मानन्द जी से सन् १९३१ ई० में संन्यास की दीक्षा ली और तभी से ये दण्ड धारण करने लगे। संन्यासाश्रम में दीक्षित होने के पश्चात् स्वामी जी ने धर्म और संस्कृति का प्रचार करना प्रारम्भ किया। इन्होंने भागवत की कथा सुनाकर जनता में धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न की। इनकी अनेक कथाओं में इन पंक्तियों के लेखक को भी उपस्थित होने का अवसर मिला है। इनकी प्रवचन की पद्धति समुचित तथा विद्वत्तापूर्ण होते हुए संस्कृत की कठिन तथा अप्रयुक्त शब्दावली से इतनी अधिक बोझिल थी कि साधारण श्रोता इसे समझने में नितान्त असमर्थ होता था।

धर्मसंघ की स्थापना

भारत में धर्म का प्रचार करने तथा भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए करपात्री जी ने सन् १९४० ई० में काशी में धर्मसंघ की स्थापना की। इस संघ का प्रधान कार्यालय दुर्गाकुण्ड रोड पर दुर्गाजी के मन्दिर के पास ही स्थित है। धर्मसंघ के दो विभाग हैं—(१) शैक्षणिक विभाग तथा (२) राजनैतिक विभाग। शैक्षणिक विभाग के अन्तर्गत धर्मसंघ के विस्तृत परिसर में ही एक संस्कृत पाठशाला की स्थापना की गयी जिसमें पाँच-छह अध्यापक बड़े मनोयोग से संस्कृत का अध्यापन करते हैं। इस पाठशाला में व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, वेद आदि अनेक शास्त्रों का अध्यापन आचार्य कक्षा तक होता है। करपात्री जी ने इस पाठशाला के लिए सरकारी अनुदान (ग्राण्ट) स्वीकार नहीं किया और इसे धार्मिक जनता के दान से ही संचालित करते थे। यह पाठशाला धर्मसंघ शिक्षा-मण्डल के अन्तर्गत संचालित होती है। आजकल इस मण्डल के द्वारा बीसियों संस्कृत पाठशालाएँ संचालित हो रही हैं। करपात्री जी के इस पवित्र कार्य में स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी, पं० विजयानन्द त्रिपाठी तथा म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदो ने प्रचुर योगदान किया था। इन विद्वानों की सहायता से करपात्री जी के द्वारा संस्थापित शिक्षा-मण्डल का कार्य सुचारु रूप से संचालित हो रहा है। इन पाठशालाओं की स्थापना से संस्कृत विद्या का प्रचार देश में हो रहा है।

राजनैतिक विभाग

धर्मसंघ का दूसरा अंग राजनैतिक विभाग का कार्य है। प्राचीन शास्त्रों के अनुसार इस देश में राज्य संचालन

हो, इस उद्देश्य से स्वामी करपात्री जी ने 'रामराज्य परिषद्' नामक संस्था की स्थापना सन् १९५२ ई० में की थी। इस संस्था का एकमात्र लक्ष्य इस देश में रामराज्य की स्थापना है। 'रामराज्य' से करपात्री जी का अभिप्राय है देश में पक्षपात रहित, न्यायपरायण, नार्मिक शासन की स्थापना जिसमें इस देश के सभी व्यक्तियों को वर्णाश्रम के आधार पर समान अधिकार प्राप्त हो और सभी लोग शास्त्रों में वर्णित अपने कर्मों को करने में सदा संलग्न रहें।

इसी अभिप्राय से करपात्री जी ने धर्मसंघ की स्थापना की। रामराज्य-परिषद् की ओर से सन् १९५२ ई० के प्रथम लोकसभा चुनाव के अवसर पर उम्मीदवार खड़े किये गये थे जिसमें अनेक राजे-महाराजे भी थे। इन उम्मीदवारों में अनेक लोकसभा के सदस्य चुन लिये गये थे। बाद के चुनावों में रामराज्य-परिषद् को विशेष सफलता नहीं मिल सकी। इस प्रकार जिस उद्देश्य से रामराज्य-परिषद् की स्थापना की गयी थी वह पुरा नहीं हो सका।

हिन्दू कोड बिल का विरोध

जब पण्डित जवाहरलाल नेहरू प्रधान मन्त्री थे तब उन्होंने लोकसभा में हिन्दू कोड बिल उपस्थित किया जिसके अनुसार हिन्दुओं के विवाह और दाय-भाग के अधिकारों में महान् परिवर्तन की व्यवस्था थी। करपात्री जी ने इस कोड बिल को अशास्त्रीय बताकर इसका प्रबल विरोध किया। स्थान-स्थान पर सभा का आयोजन कर इसके विरोध में जनमत तैयार किया। इस कार्य में झूँसी के सन्त श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी ने इनकी बड़ी सहायता की थी। धार्मिक जनता के प्रबल विरोध के कारण पं० नेहरू को हिन्दू कोड बिल को स्थगित करना पड़ा।

पत्रों का प्रकाशन

स्वामी करपात्री जी ने अपने धार्मिक तथा राजनैतिक विचारों के प्रचार के लिए 'सन्मार्ग' नामक दैनिक समाचार-पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस पत्र के द्वारा स्वामी जी के विचारों का प्रचार देश में किया जाता है। यह पत्र आजकल काशी और कलकत्ता दोनों स्थानों से प्रकाशित होता है। इन्होंने कुछ दिनों तक 'सिद्धान्त' नामक साप्ताहिक पत्र का भी प्रकाशन किया था जो अनेक वर्षों तक चलता रहा।

गोहत्या-प्रतिरोध

भारत में गोवंश की क्या महत्ता है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं है। गो को माता कहा गया है। अतः भारतवर्ष में गोहत्या न हो और गोहत्या पर कानून के द्वारा प्रतिरोध लगा दिया जाय, इसके लिए करपात्री जी ने बहुत बड़ा आन्दोलन खड़ा किया। इस कार्य में श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी तथा पुरी के शंकराचार्य स्वामी निरंजनदेव तीर्थ ने बड़ा सहयोग किया। इन दोनों सज्जनों ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर गोहत्या पर प्रतिबन्ध लगाने पर आमरण अनशन तक प्रारम्भ कर दिया। स्वामी करपात्री जी ने अपने भाषणों तथा लेखों द्वारा इस आन्दोलन को और भी अधिक बलवान् बनाया। इसके लिए दिल्ली में प्रदर्शन करने के कारण इन्हें जेल की यातना भी भुगतनी पड़ी। अन्त में सरकार झुक गयी और उसने गोहत्या बन्द कर देने का पूर्ण आश्वासन दिया।

यज्ञों की धूम-शिखा

स्वामी करपात्री जी का यह विश्वास था कि देश के कल्याण और मंगल के लिए यज्ञों का विधान अत्यन्त आवश्यक है। इसी सद्भावना से प्रेरित होकर इन्होंने स्थान-स्थान पर अनेक यज्ञों का विधान किया था। सं० १९९९ वि० (१९४२ ई०) में दिल्ली में शतमुखकोटि होम नामक यज्ञ का आयोजन इन्होंने बड़ी धूम-धाम से किया था, जिसको देखने के लिए सहस्रों नर-नारी नित्यप्रति उपस्थित होते थे। इसके एक वर्ष पश्चात् सं० २००० (१९४३ ई०) में कानपुर में गंगा के उस पार एक महान् यज्ञ का आयोजन किया गया। अनेक लोगों के प्रबल विरोध करने पर भी यह यज्ञ सफुल्ल समाप्त हो गया।

कानपुर के पश्चात् काशी में नगवा के समीप गंगा के तट पर पुनः एक महान् यज्ञ सम्पादित किया गया। इस यज्ञ के अवसर पर १०८ बार श्रीमद्भागवत का सप्ताह पाठ भी आयोजित किया गया था। इस यज्ञ में सम्मिलित होने का सीमाव्य इन पंक्तियों के लेखक को भी प्राप्त

हुआ। यज्ञ के अन्त में 'बसुधारा' का दृश्य दर्शनीय था जब सैकड़ों वैदिक विद्वान् अग्नि में आज्य की धारा छोड़ रहे थे। काशी के बाद स्वामी जी ने लखनऊ में लक्षचण्डी महायज्ञ का श्रीगणेश किया जो सफुल्ल समाप्त हुआ। उदयपुर के महाराणा के आग्रह पर स्वामी जी ने वहाँ चातुर्मास्य करना स्वीकार किया और वहाँ भी लक्षचण्डी यज्ञ का विशाल आयोजन कर उसे राजकीय वैभव के साथ सम्पन्न किया। इस प्रकार इन्होंने यज्ञमय वातावरण उपस्थित कर दिया था।

दैनिक चर्या

स्वामी करपात्री जी का चरित्र अत्यन्त उदात्त तथा पवित्र था। केवल सत्रह वर्ष के वय में ही इन्होंने अपने घर का परित्याग कर सांसारिक मोह-माया से नाता तोड़ भगवान् से नाता जोड़ लिया था। स्वामी जी की दिनचर्या सन्तुलित तथा नियमित थी। ये प्रतिदिन रात्रि में प्रायः २ बजे उठते थे तथा नित्यकर्म करके पूजा के आसन पर बैठ जाते थे। यह पूजन घण्टों प्रातःकाल तक चलता था। ये पूजन के त्रिकाल नियमों का पालन करते थे। दिन में घण्टों वेद-भाष्य की रचना के लिए लेखन का कार्य करते थे। सन्ध्या के समय प्रायः भागवत की कथा कहते थे अथवा आगत भक्तों को उपदेश देते थे। सन्ध्या को पाँच बजे केवल एक बार भोजन ग्रहण करते थे। रात्रि में पुनः पूजा-पाठ का क्रम चलता था। इस चर्या के पालन करने में ये बड़े कठोर थे।

करपात्री जी प्रायः पैदल ही चला करते थे। अन्त तक इनका यह क्रम चालू रहा। एक स्थान से सुदूर दूसरे स्थान तक जाने के लिए या तो यह नौका से यात्रा करते थे अथवा पैदल ही चलते थे। परन्तु धर्मसंघ की स्थापना होने पर अधिक भ्रमण की आवश्यकता को ध्यान में रखकर इधर ये मोटर कार का भी प्रयोग करने लगे थे। सम्भवतः वायुयान का प्रयोग भी यात्रा के लिए उत्तम समझते थे परन्तु रेलगाड़ी का प्रयोग सम्भवतः स्पर्शास्पर्श के कारण उचित नहीं मानते थे। (अगले अंक में समाप्त)

धोखा

जो यह कल्पना करता है कि, वह दुनिया के बगैर भी अपना काम चला लेगा, अपने-आपको धोखा देता है; पर जो इस खयाल में डूबा रहता है कि, दुनिया का काम उसके बगैर कभी नहीं चल सकता, वह तो एक ओर भी बड़े धोखे का शिकार है।

—रोशे

विंध्य क्षेत्र में शक्ति-पूजा की परम्परा

— श्री नरेन्द्र नीरव

[मीरजापुर जनपद की प्राकृतिक-भौगोलिक और आध्यात्मिक विशेषताओं ने शताब्दियों से अन्वेषियों को अपनी ओर खींचा है। इन दिनों इस जनपद का तीव्र औद्योगीकरण हो रहा है। चुरक, डाला, ओबरा, रेनुकूट, शक्तिनगर, अनपारा, बीना आदि औद्योगिक केन्द्रों में किस तरह का सामुदायिक जीवन विकसित हो रहा है? ऐसी स्थिति में विंध्य की परम्पराओं तथा धार्मिक मान्यताओं को सुरक्षा किस प्रकार सम्भव है? श्री नरेन्द्र नीरव का यह लेख इन प्रश्नों को संजीदगी से स्पर्श करता है।—सम्पादक]

भारतवर्ष के कटिप्रदेश में करघनी की भाँति आच्छादित विंध्य की पर्वतमालाओं को उत्तर और दक्षिण का सन्धि-स्थल कहा जाता है। यही अंचल गंगा और विंध्य का भी संयोजक है। 'रेवाखण्ड' का तात्पर्य भी उस वन-प्रदेश से है जिसमें देवात्माएँ निवास करती हैं। तीर्थराज प्रयाग तथा शिव की निराली नगरी काशी के मध्य स्थित वर्तमान मीरजापुर जनपद विंध्य का वह टुकड़ा है जिससे कैमूरघाटी शुरू होती है। मध्यप्रदेश के सरगुजा तथा सीधी जनपदों और बिहार प्रदेश के पलामू तथा रोहतास जनपदों को स्पर्श करनेवाली इस विशाल जनपद की सीमायें दक्षिण और उत्तर की सांस्कृतिक एकता का संगमस्थल हैं। अन्वेषियों, चिन्तकों, धर्मपुरुषों, आयुर्वेदाचार्यों तथा शान्तिप्रेमियों को यह सोनघाटी सदैव आकर्षित करती रही है। उत्तर और दक्षिण के यात्री इस घाटी को एक चुनौती तथा एक आकर्षण का क्षेत्र मानते रहे हैं। इतिहास के पृष्ठों का सर्वाधिक आनन्दप्रद तथ्य यह है कि दक्षिण और उत्तर के सम्राटों तथा सेनाओं के लिए विंध्य प्रायः अलंघ्य रहा है। लेकिन उपासकों तथा धर्माचार्यों के लिए कभी यह प्रतिकूल नहीं रहा, बल्कि साधना का क्षेत्र रहा है और जब उत्तरी सीमाओं पर विदेशी आक्रमण होने लगे, उत्तरांचल के धार्मिक स्थलों का ध्वंस और लूट का प्रारम्भ हुआ तब यही विंध्य हिन्दू, जैन, बौद्ध एवं शैव धर्मावलम्बियों के लिए आत्मरक्षा की सुरक्षित केन्द्र-शरणशिला बन गया। गुफाएँ, नदियों के संगम तथा पर्वतों के शृंग-साधना के पवित्र स्थान बन गये। इससे भी पूर्व, जब पर्वत पर वनवासी राज्य करते थे तब धार्मिक एकता के महान् आयोजन इस क्षेत्र में होते थे। स्वर्णकाल-गुप्तकाल में भारशिव सम्राटों, कुषाण सम्राटों तथा गुप्तराजाओं ने इस अंचल को सुरक्षित रखा था। यहाँ प्रत्येक युग में प्रत्येक उपासना-पद्धति के

अवशेष हैं। शिव, गणेश, हनुमान्, विष्णु, सूर्य, दुर्गा, काली, सूर्य, वराह, वामन, कार्तिकेय, भीम, स्कन्द तथा रामलक्ष्मण की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। विंध्य के नाम तथा भावार्थ के अनुरूप ही विंध्यवापिनो 'देवी' का स्थान प्रमुख है। पवित्र गंगा ने विंध्य को अपना 'गृह' माना है। गंगाजी के पुण्य स्पर्श से यह पर्वत क्षेत्र तपोभूमि बन गया है। डॉ. पारसनाथ मिश्र (प्राचार्य, गोवर्द्धनदास बिनानी महाविद्यालय, मीरजापुर) ने अपने एक शोधपूर्ण आलेख में कहा है कि गंगाजी के सांनिध्य के कारण विंध्यक्षेत्र विशेष पुण्यप्रद हो गया है तथा अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष-चारों प्रकार के पुरुषार्थों का दाता बन गया है, यथा—

'गंगाया विंध्यसम्बन्धात् विशेषेण प्रबुध्यते।

प्रायश्चित्तं फलं सर्वं चतुर्वर्गं फलं चयेत् ॥'

मीरजापुर जनपद मुख्यालय के समीप विंध्यचल-धाम में नवरात्र का विख्यात मेला लगता है। देश के कोने-कोने से असंख्य भक्त यहाँ आते हैं। माँ विंध्यवासिनो महालक्ष्मी यन्त्र पर स्थित है। समीप ही अष्टभुजा का स्थान है। चुनार में दुर्गा जी का तेजस्वी स्थान पहाड़ पर विद्यमान है। गंगा के उत्तरी तट पर सुल्तानपुर गाँव में माँ शीतला एक प्राचीन मन्दिर में विराजती हैं। यहाँ भी नवरात्र में लाखों नर-नारी पधारकर माँ शीतला का दर्शन करते हैं। इस मन्दिर का पुजारी भल्लाह (नाविक) जाति का होता है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पास चितईपुर से शीतलाधाम तक जाने के लिए पक्की सड़क है। धारा की शीतला पर अगहन और चैत मास में, कोंडरी देवी पर चैत में, विजयपुर-शीतला पर आषाढ़ में, जंगल महल देवीबाड़ी पर भाद्रपद मास में, मीरजापुर खुर्द तथा उत्तरांचल में सर्वत्र शक्ति के भिन्न-भिन्न रूपों की उपासना सामूहिक रूप से चली आ रही है। काशी, प्रयाग, पूर्वी

उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बिहार के जनपदों के शक्ति-उपासक इन स्थानों पर आते हैं। शक्तिपूजा के साथ एक, विशेष बात यह है कि मेला या पूजनोत्सव एक सप्ताह तक पन्द्रह दिनों तक और महीने भर चलता है जिससे दर्शनार्थियों को पर्याप्त मनोरंजन और क्रय-विक्रय का केन्द्र उपलब्ध रहता है। माँ गंगा, माँ विन्ध्यवासिनी, अष्टभुजा, शीतला आदि धर्मस्थलों के रख-रखाव, सुरक्षा तथा स्वच्छता के लिए शासन और समाज द्वारा दायित्वों का निर्वाह नहीं किया जा रहा है।

दक्षिणांचल या कैमूरघाटी में कोटा, वर्तमान शक्ति-नगर की ज्वाला देवी का ऐतिहासिक महत्त्व अभी तक अज्ञात है। शक्तिनगर के औद्योगिक योजनाकारों ने शक्ति-नगर की ज्वालादेवी को सुरक्षित तथा व्यवस्थित रखने के लिए कोई योजना नहीं बनायी। मन्दिर का गर्भगृह एक लाल-पत्थर के चौकोर कक्ष में स्थित है जिसमें माँ ज्वाला की जिह्वा (जीभ) प्रतिष्ठित है। यहाँ नवरात्र में मेला लगता है। चैत्र नवरात्र में तो लाखों वनवासी और गिरिजन दो महीने तक ज्वालादेवी पर आते रहते हैं। पास ही में एक ऐतिहासिक गुफा है। एक कुआँ भी है जिसमें से ज्वाला निकलती थी। ज्ञातव्य है कि ज्वालादेवी के चारों ओर



नागदेवी-नागी (छाया : जितेन्द्र)

कोयले की खानें बीना, झोंगुरदह, खड़िया, मरक, ककरी, जयन्त, गुरबी आदि हैं। सन् १८५६ में रफ्टन नामक अंग्रेज अधिकारी तथा सोलह अन्य अंग्रेजों को स्थानीय वनवासियों ने काटकर उसी कुएँ में फेंक दिया था।

कुँडारी देवी सोन के तट पर स्थित हैं। यहाँ भी वसन्त पंचमी, शिवरात्र तथा नवरात्र में मेला लगता है। बन्सरा देवी गोठानी, अगोरी के पास हैं। गोठानी के ऐतिहासिक मन्दिरों में भी दुर्गा की जीवन्त प्रतिमाएँ हैं। यहाँ भी विशाल मेला लगता है। अमिष्ठा भगवती का स्थान विजयगढ़ दुर्ग के समीप पहाड़ पर है। पास ही 'मच्छरमारा' है तथा कैमूर पर ही आगे 'वनदेवी' का स्थान है। अघोर सन्त कौनाराम ने यहाँ अपने सन्देश दिये थे। चुरिहर देवी भी सोन तट पर हैं। इन्हें चूड़ी चढ़ाने की परम्परा है।

वनवासी समाज में नवरात्र का महत्त्व अत्यन्त व्यापक और प्राचीन है। वे 'माया' की उपासना अपने ढंग से करते हैं। रामनवमी के दिन अपनी जीभ में लोहे की सलाखें घुसेड़ लेते हैं और 'गुरुदह' (लोहे के सीखचे) से अपनी पीठ पर बार-बार प्रहार करके 'माया' को रिश्ताते हैं। ओक्षा की



बंसरा देवी (छाया : जितेन्द्र)

एक अहम भूमिका वनक्षेत्र में रही है जो धीरे-धीरे समाप्त हो रही है। वनवासी 'शक्ति' को 'बुढ़िया माई' भी कहते हैं तथा बांस की डोली में रखकर उन्हें गाँव के बाहर बैठा देते हैं। किसी जमाने में 'सोन रेणुका' तथा 'बिजुल' के संगम पर नागपूजा और सतीपूजा की भी परम्परा थी। ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक युद्ध में पराजित क्षत्रिय सम्राट की पूरी सेना को वनवासी राजाओं ने खोज-खोजकर काट दिया। इस अंचल में रहनेवाली समस्त क्षत्राणियों ने आत्मदाह कर लिया। उनको स्मृति में निर्मित शिलालेख यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। इस लेखक ने अगोरी क्षेत्र में ही नागदेवी-नागी की एक दुर्लभ प्रतिमा को खोजा जिसमें 'नागी' को अर्चना भाव में दिखाया गया है। शिवद्वार में शिव-पार्वती की जो दिव्य प्रतिमा है उसमें भी 'शक्ति' भाव दर्शकों को खींचता है। पास में ही सतद्वारी में अनेक उपासना गृह हैं। 'पहाड़ा' स्टेशन से उत्तर पूर्व में चण्डिका देवी का पवित्र स्थान है जहाँ मेला लगता है।

विन्ध्य क्षेत्र की शक्ति-पूजा की परम्पराओं का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। बाणभट्ट तथा कालिदास ने अपनी रचनाओं में उनकी मौलिक विशेषताओं का उल्लेख

किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि विद्वानों ने भी विन्ध्य की शक्ति-परम्पराओं को अपनी लेखनी से रेखांकित किया है। इन परम्पराओं को विकसित, सुरक्षित तथा मर्यादित रखने की आवश्यकता है। क्योंकि औद्योगीकरण की प्रतिक्रिया में इनके लुप्त हो जाने या विकृत हो जाने की भी आशंका बनी रहती है।

मीरजापुर की सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्पराओं से काशी का अटूट सम्बन्ध रहा है। जब उत्तर भारत पर विदेशियों के हमले हुए, ध्वंस और लूट की विनाशकारी प्रक्रिया चली तब मीरजापुर के दक्षिणांचल में 'गुप्तकाशी' या 'विजयकाशी' की स्थापना की गयी थी। मारशिव नाग शासकों का भी काशी पर शासन रहा है तथा अहिरोरा और बरकछा की घाटियों के नीचे वनक्षेत्र से सदैव नूतन वस्तुएँ और सूचनाएँ काशी के सुधीगण प्राप्त करते रहे हैं। मीरजापुर के नये औद्योगिक क्षेत्रों का समूह जीवन भी 'बनारसी' बने, काशी की सांस्कृतिक सुगन्धि मीरजापुर के कोने-कोने में प्रसारित हो तो कितना सुखद है। यहाँ के धार्मिकों केन्द्र के प्रति तो काशीवासी सदैव संवेदनशील रहे ही हैं।

'मुमुक्षु' का यज्ञ-विशेषांक

काशी मुमुक्षु भवन सभा ने अपने मुख्य परिसर में शास्त्रीय विधि से एक यज्ञ-मण्डप का निर्माण कराया है जिसके चारो ओर चारो वेदों की मूर्तियाँ स्थापित की गयी हैं। इसके उद्घाटन के उपलक्ष्य में 'मुमुक्षु' का लगभग १६० पृष्ठों का एक सचित्र विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है।

जिसमें

'यज्ञ' की व्युत्पत्ति, परिभाषा, प्रकार, उनके दृष्ट और अदृष्ट फल तथा विधियों का विस्तारपूर्वक विवेचन होगा। ऋत्विजों, वैदिक आचार्यों तथा इस विषय में रचि रखनेवालों के लिए यह विशेषांक विशेष रूप से संग्रहणीय होगा।

इन विषयों के अधिकारी विद्वानों के लेख तथा सुझाव सादर आमन्त्रित हैं।

— सम्पादक, 'मुमुक्षु'

काशी मुमुक्षु भवन सभा

अस्सी, वाराणसी-५

सेवा का व्रत

महाभारत युद्ध प्रारम्भ हुआ तब भी महाराज युधिष्ठिर प्रतिदिन ईश्वर उपासना के लिए समय निकालते। युद्ध से वापस होते ही जब वे अपनी व्यक्तिगत साधना में लग जाते उस समय उन्होंने किसी से भी न मिलने का नियम बना लिया था।

अभी दस दिन ही बीते थे कि पाण्डवों की सेना में एक अफवाह फैल गयी कि धर्मराज युधिष्ठिर प्रतिदिन सायंकाल वेश बदल कर कहीं जाया करते हैं, किन्तु वह थे सम्राट्, उनके विरुद्ध जाँच कौन करता? यह खबर अन्य पाण्डवों के कानों में भी पहुँची। पाण्डवों की सहायक सेनाएँ विचलित न हो जायें इस दृष्टि से अर्जुन, भीम आदि ने वस्तु-स्थिति जानने का निश्चय कर लिया।

एक दिन जब युधिष्ठिर अपने उपासना-कक्ष से निकल कर चलने लगे तो शेष पाण्डव भी छिप कर उनके पीछे-पीछे चल दिये। उन्होंने देखा महाराज युधिष्ठिर हाथ में कुछ लिये हुए उषर की ओर बढ़ रहे हैं जिधर दिन में संग्राम हुआ था। यह देख कर पाण्डवों की उत्सुकता और भी बढ़ गयी। वे अपने को छिपाये हुए उनका पीछा करते चले गये।

युद्ध-स्थल आ गया तो पाण्डव एक ओर छिपकर खड़े हो गये और देखने लगे—महाराज युधिष्ठिर आखिर क्या करते हैं? युधिष्ठिर उन मृतकों को घूम-घूम कर देखने लगे, कोई घायल तो नहीं है, कोई प्यासा तो नहीं है, कोई भूख से तो नहीं तड़प रहा, किसी को घायलावस्था में परिजनों की कोई बिन्ता तो नहीं सता रही है। युधिष्ठिर घायलों को ढूँढ़ते, उनसे पूछते और अन्न-जल खिलाते-पिलाते बड़ी बेर तक घूमते रहे। कौरव रहा हो या पाण्डव बिना किसी भेद-भाव के वह सबकी सेवा करते रहे। किसी को घर की बिन्ता होती तो वे उसे दूर करने का आश्वासन देते। इस तरह उन्हें कई घण्टे वहाँ बीत गये।

शेष पाण्डव उनके लौटने की प्रतीक्षा में खड़े थे। समय हो गया। युधिष्ठिर लौटे तो वे लोग प्रकट होकर

सामने आ गये। अर्जुन ने पूछा—महाराज! आपको यों अपने आपको छिपा कर यहाँ आने की क्या आवश्यकता पड़ी?

युधिष्ठिर सामने खड़े बन्धुओं को सम्बोधित कर बोले, तात! इनमें से कई कौरव दल के हैं, वे हमसे द्वेष रखते हैं। यदि मैं प्रकट होकर उनके पास जाता तो वे अपने हृदय की बात मुझसे न बता पाते और इस तरह मैं सेवा के अधिकार से वंचित रह जाता।

भीम नाराज हुए, बोले—शत्रु की सेवा करना क्या अधर्म नहीं है?

इस पर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—बन्धु! शत्रु मनुष्य नहीं, पाप और अधर्म हुआ करता है। उसके विरुद्ध तो हम लड़ ही रहे हैं पर मनुष्य तो आखिर आत्मा है, आत्मा से आत्मा का क्या द्वेष? भीम युधिष्ठिर की इस महान् आदर्शवादिता के लिए नतमस्तक न हो पाये थे कि नकुल बोल पड़े—लेकिन महाराज, आपने तो सर्वत्र यही घोषित कर रखा है कि आप इस समय ईश्वर की उपासना किया करते हैं, इस तरह झूठ बोलने का पाप तो आपको लगेगा ही?

‘नहीं नकुल’! युधिष्ठिर बोले—भगवान् की उपासना स्तुति-प्रार्थना व जप-तप से ही नहीं होती, कर्म से भी होती है। यह विराट् जगत् उन्हीं का प्रकट रूप है। यहाँ जो दीन-दुःखी जन हैं उनकी सेवा करना, जो पिछड़े और दलित हैं उन्हें आत्म-कल्याण का मार्ग दिखाना भी भगवान् का भजन ही है। इस दृष्टि से मैंने जो किया वह झूठ नहीं, ईश्वर की सच्ची उपासना ही है।

और कुछ पूछने की शेष नहीं रह गया था। सहदेव ने आगे बढ़कर उनके चरणों में प्रणिपात होकर कहा—लोग सत्य ही कहते हैं तात! जहाँ सच्ची धर्म-निष्ठा होती है विजय भी वहीं होती है। हमारी जीत का कारण स्वयं की सैन्य शक्ति नहीं, आपकी शक्ति है जिसके कारण स्वयं भगवान् कृष्ण हमारे सहायक हुए हैं।

पतितों के भगवान्

— डा. श्रीमती अरुणा बनर्जी

किं दुःसहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम् ।

किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम् ॥

(श्रीमद्भा० १०-१-५८)

साधु पुरुषों के लिए कौन-सी बात दुःसह है । विद्वानों को किस वस्तु की अपेक्षा है, नीच पुरुष क्या नहीं कर सकते और धैर्यवान् पुरुषों के लिए कौन-सा काम कठिन है ? अर्थात् महात्मा सब कुछ सहन कर सकते हैं, असली विद्वान् को किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं रहती, नीच पुरुष अत्यन्त निन्द्य से निन्द्य क्रूर कर्म भी कर सकते हैं और धैर्यवानों के लिए कोई भी त्याग कठिन नहीं है ।

क्रूर पुरुष अपनी क्रूरता करके महापुरुषों को अवसर देते हैं कि वे अपनी सद्बृत्तियों को लोगों के सम्मुख प्रकट करें, जिनका अनुसरण करके दुःखी और चिन्तित पुरुष अपने जीवन को सुखमय और आनन्दमय बना सकें । सृष्टि के आदि में ही मधुकैटभ नाम के दो राक्षस पहले-पहल उत्पन्न हुए । उन्हें मारने पर ही भगवान् मधुकैटभारि बन सके । रावण न होता तो श्री रामजी के पराक्रम को कौन पहचानता ? पूतना न होती तो प्रभु की असीम दयालुता का परिचय कैसे मिलता ? शिशुपाल यदि गाली देकर भगवान् के हाथ से मरकर मुक्तिलाभ न करता तो 'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः' (भगवान् का क्रोध भी वरदान के समान है) इस महामन्त्र का प्रचार कैसे होता ? अजामिल जैसा नीच कर्म करनेवाला पापी पुत्र के बहने 'नारायण' नाम लेकर सद्गति प्राप्त न करता तो भगवन्नाम की इतनी अधिक महिमा किस प्रकार प्रकट होती ? कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार संसार को महात्मा और सत्पुरुषों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार दुष्टों की क्रूरता से भी उसका बहुत कुछ काम चलता है । भगवान् तो अवतार तब धारण करते हैं जब पृथ्वी पर बहुत से क्रूर कर्म करने वाले पुरुष उत्पन्न हो जाते हैं । क्रूर व्यक्ति की क्रूरता और महात्मा की परोपकारिता व परमार्थ कर्म के कारण ही अन्त में धर्म की विजय होती है ।

महाप्रभु गौरांगदेव के समय में भी नवद्वीप में जगाई-

मघाई (जगन्नाथ-भाषव) नाम के दो क्रूर-कर्मा ब्राह्मण कुमार निवास करते थे । वे उस समय गोडेस्वर की ओर से नदिया के कोतवाल बनाये गये थे । पर कोतवाल क्या, वे तो प्रजा का संहार करनेवाले एक प्रकार से नवद्वीप के बिना छत्र बादशाह ही थे । विनाश के सभी लक्षण उनमें विद्यमान थे ।

“यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु ।

धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विचक्ष्यति ॥”

(श्रीमद्भा० ७।३।२८)

भगवान् कहते हैं जिस समय मनुष्य देवताओं से, वैदिक कर्मों, गौ, ब्राह्मण, साधु एवं धार्मिक कृत्यों तथा मुझसे विद्वेष करने लगता है तब उसका शीघ्र ही नाश हो जाता है । जगाई-मघाई दोनों भाइयों से कोई बात बचो नहीं थी । नगर के काजी को खूब धन देकर मदिरापान कर वे सदा पाप कर्म करते रहते थे । काजी धन प्राप्त कर इनके विरुद्ध कुछ नहीं कहता था । भागीरथी तट पर इनका घर था पर वे सदा डेरा-तम्बू लिये एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में दौरा करते । जहाँ भी डेरा डालते वहाँ लोग भयभीत रहते, क्योंकि अत्याचार करने में वे कंस, शिशुपाल या नादिरशाह से कम न थे । एक दिन मदिरा के नशे में उन्मत्त लाल-लाल आँखें किये पागलों के समान प्रलाप करते वे कहीं जा रहे थे । नवद्वीप में नये आये नित्यानन्द जी ने हरिदास जी के साथ जाते समय इनकी इस विचित्र शोचनीय दशा देखकर लोगों से इनके बारे में पूछा । इनके कुकर्मों के बारे में जानकर नित्यानन्द को इन पर दया आयी कि ऐसे लोग ही तो वास्तव में कृपा के पात्र हैं । महात्माओं के सत्संकल्प होते ही पापी का उद्धार होता है । बुद्धिमान् वैद्य पहले अधिक बीमार व्यक्ति की चिकित्सा करता है, बाद में अन्य रोगियों की । नित्ताई भगवन्नाम गान करते हुए उन दोनों भाइयों के डेरे के समीप पहुँचे । जगाई-मघाई ने नशे में चूर पूछा—“तुम लोग कौन हो और क्या चाहते हो ?” नित्ताई ने मधुर स्वर में कहा—

“कृष्ण कहो, कृष्ण मजो छेहु कृष्ण नाम ।

कृष्ण माता कृष्ण पिता कृष्ण धन प्राण ॥”

उन्होंने कहा हम भिक्षुक हैं, आपसे भिक्षा माँगने आये हैं । भगवान् का मधुर नाम ही हमारी भिक्षा है । आप अपने मुख से “श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे ! हे नाथ नारायण बासुदेव ! ॥” इन मधुर नामों का उच्चारण करें ।

यही हम लोगों की भिक्षा है। इतना सुनते ही दोनों भाई क्रोधित हो इनकी ओर झपटे और उनके सेवकगण निताई व हरिदास को पकड़ने चले। दुबले-पतले चंचल युवक निताई ने तो दौड़ लगायी। पर वयस्क व स्थूल शरीर हरिदास दौड़ न सके और हाँफते हुए पीछे-पीछे चले। तब निताई ने कसकर उनको बाँह पकड़ी और घसीटते हुए ले चले। उधर जगई-मघाई के सेवकों ने कुछ दूर इनका पीछा किया फिर लौट गये कि मालिक तो नशे में ऐसा बका हो करते हैं।

निताई और हरिदास एक-दूसरे को प्रेमपूर्वक ताना देते हुए कि किस कारण दुर्भाग हुआ महाप्रभु गौरांग के समीप पहुँचे। सम्पूर्ण घटना को सुनकर प्रभु वे हँसते हुए कहा—“श्रीपाद (नित्यानन्द) को जिनके उद्धार की इतनी चिन्ता है वे महाभागवत पुरुष हैं और वे अब पापी बनकर कैसे रह सकते हैं?” इस प्रकार निताई ने संकेत से प्रभु के समीप जगई-मघाई के उद्धार की प्रार्थना की और प्रभु ने भी संकेत द्वारा उन दोनों भाइयों के उद्धार का आश्वासन दिया।

गौरांग प्रभु का घर गंगाजी के समीप था। प्रभु जिस रास्ते से गंगास्नान को जाते थे, उसी रास्ते में दोनों क्रूर-कर्मा भाइयों का डेरा पड़ा था। इनके डर से गंगास्नान के निमित्त कोई अकेला नहीं जाता, दस-बीस मिलकर जाते थे। शाम को प्रभु के गृह में भक्त संकीर्तन होता और कभी-कभी तो रात भर होता था। संकीर्तन की अनन्त सुमधुर ध्वनि इन दोनों भाइयों के कानों में पड़ी। शराब के मद में चूर वे इस मधुर ध्वनि को सुन और भी उन्मत्त हुए और इसी आवेश में सो गये। प्रातः भक्तों सहित जब महाप्रभु को गंगास्नान को जाते देखा तो दोनों भाइयों ने गवित स्वर में कहा—“निमाई पंडित रात्रि में बड़ा सुन्दर गाना गा रहे थे। क्या मंगलचण्डो के गीत थे। एक दिन हमारे यहाँ भी गान करो।” भगवन्नाम का यह प्रभाव है कि अनिच्छापूर्वक श्रवण करके भी जो दोनों भाई सीधी बातें नहीं करते थे वे अब प्रभु से गायन की प्रार्थना करने लगे।

एक दिन रात्रि के समय जब दोनों भाई शराब के नशे में चूर बैठे थे तो निताई प्रभु धीरे-धीरे भगवन्नाम उच्चारण करते हुए उनके डेरे के सामने से निकले। मघाई ने पूछा—“कौन जा रहा है?” निताई चुप रहे। इस पर उसने

डॉटकर पुनः पूछा। तब नित्यानन्द ने निर्भीक भाव से कहा, “हम हैं।” मघाई ने नाम पूछा। निताई को विनोद सूझा, उन्होंने कहा, “प्रभु के यहाँ संकीर्तन करने जा रहे हैं, हमारा नाम है ‘अवधूत’।” अविचारी मदोन्मत्त मघाई उसे दिल्लगी करते देख क्रोधित हो उठा और पास में पड़े एक घड़े के टुकड़े को जोर से नित्यानन्द के सिर पर मारा। उसके उनके मस्तक पर गड़ जाने से रक्त की धारा बह निकली। इस पर भी वे क्रोधित न हुए और नृत्य करते हुए भगवन्नाम का गान करने लगे। वे इन पर दया दर्शाते हुए रो-रोकर प्रभु से प्रार्थना करने लगे कि इस शरीर पर जो आघात हुआ उसकी मुझे चिन्ता नहीं, इन ब्राह्मण-कुमारों को ऐसी दुर्दशा अब मुझसे नहीं देखी जाती। हे दयालु प्रभु, इनकी रक्षा करो। उनको इस भाँति नृत्य करते देख मघाई और अधिक चिढ़ गया और दूसरी बार प्रहार करने चला। जगई कुछ कोमल प्रकृति का था, उसे नित्यानन्द की दशा पर दया आयी। उसने मघाई को रोका कि एक संन्यासी को मारना ठीक नहीं है। उधर लोगों ने यह समाचार महाप्रभु निमाई को दिया, जो उस समय भक्तों सहित कीर्तन प्रारम्भ करने हो वाले थे। वे तुरन्त उस स्थल पर पहुँचे। निताई के रक्त-प्रवाह को देखकर वे अपनी सब प्रतिज्ञा भूलकर आकाश की ओर देखकर ‘चक्र-चक्र’ कहते हुए इस प्रकार हुंकार देने लगे, जैसे वे पापियों के संहार हेतु सुदर्शन चक्र का आह्वान कर रहे हों। निताई ने विनोत भाव से उन्हें उनकी प्रतिज्ञा स्मरण करायी और क्रोध को दूर करने के लिए कहा। प्रभु को कुपित देख समस्त नर-नारी, भक्त-मण्डली, जगई-मघाई के सेवकगण व स्वयं दोनों भाई भी भयभीत हो गये। डर के कारण एक प्रकार का कोलाहल लोगों में होने लगा जैसे कि महाप्रलय होनेवाला हो। इतने में लगा कि सुदर्शन चक्र संहार के निमित्त उतर रहा है। निताई ने सबके भयभीत मन की बात समझकर चक्र से आकाश में रुके रहने की प्रार्थना की। उन्होंने प्रभु से दोनभाव में प्रार्थना की कि पापियों को दण्ड देने पर उनका उद्धार कहाँ हुआ? इन दो पतितों का उद्धार कर प्रभु अपने पतितपावन नाम को सार्थक करें। और जगई ने तो निताई की रक्षा की है वह निर्दोष है, यदि दण्ड देना है तो मघाई को दें।

जगई ने दूसरी बार मघाई के प्रहार से निताई की रक्षा की है, जानकर प्रभु ने उसे गले से लगाया। प्रभु का

प्रेमालिंगन पाते ही जगाई मूर्छित होकर उनके चरणों पर लोटने लगा। भाई की अवस्था देख मघाई के हृदय में भी पश्चात्ताप की ज्वाला जलने लगी। आँखों में आँसू भरकर वह प्रभु से बोला, “हम दोनों ने ही समान पाप किये और बड़े ही पातकी हैं। जब एक भाई को अपने चरणों की शरण दी है तो दोनों को ही अपनाइये।” वह प्रभु के चरणों में लोटने लगा। नदिया के बिना तिलक के राजाओं को धूलि में लोटते देख सभी आश्चर्य चकित हुए। प्रभु का रोष मघाई पर अब भी था। उन्होंने कहा यदि नितार्ई तुम्हें क्षमा कर दें तो तुम मेरे प्रिय हो सकते हो। क्योंकि उन्हीं का अपराध तुमने किया है। प्रभु की आज्ञा सुन मघाई नित्यानन्द के चरणों पर गिरकर रोने लगा। नितार्ई ने कहा, “प्रभु, यह तो आपकी सदा से रीति है कि अपने सेवकों के सिर सुयश का सेहरा बाँधते हैं। इसके उद्धार का श्रेय मेरे ऊपर देना चाहते हैं। पर यह तो सभी जानते हैं कि गौर ही में पापियों के उद्धार का सामर्थ्य है। मघाई के

प्रति मेरा तनिक भी विद्वेष नहीं, मैंने कभी कुछ सुकृत किया हो तो सबका पुण्य इन दोनों को प्रदान करता हूँ।” इतना सुनते ही प्रभु ने दौड़कर मघाई का भी आलिंगन किया। दोनों पापी भाइयों की दीनता देखकर भक्तजन हर्षित हुए। सभी हरिष्वनि करने लगे। नगरनिवासी भी भक्तों सहित—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

—इस महामन्त्र का उच्चारण करने लगे। वे बीच-बीच में गौर हरि का जयगान करते—“भजो नितार्ई गौर राघवेश्याम। जपो हरे कृष्ण हरे राम ॥ इस प्रकार भगवन्नाम गान करते हुए उन दोनों भाइयों को साथ लिये वे सब प्रभु के घर पहुँचे। जगाई-मघाई दोनों भाइयों की नितार्ई-निमाई इन दोनों भाइयों की अहैतुकी कृपा से काया पलट हुई, उन दोनों की भगवद्भक्ति जगत्-विख्यात हुई।

फार्म ४ (नियम ८) के अनुसार प्रकाशन विवरण

१. प्रकाशन-स्थान	श्री काशी मुमुक्षु भवन सभा अस्सी, वाराणसी-२२१००५
२. प्रकाशन अवधि	मासिक
३. मुद्रक का नाम	श्री पुरुषोत्तमदास मोदी
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	विशालाक्षी भवन, चौक, वाराणसी
४. प्रकाशक का नाम	श्री पुरुषोत्तमदास मोदी, मन्त्री, काशी मुमुक्षु भवन सभा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	विशालाक्षी भवन, चौक, वाराणसी
५. संपादक का नाम	श्री पुरुषोत्तमदास मोदी
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	विशालाक्षी भवन, चौक, वाराणसी
६. स्वामित्व	श्री काशी मुमुक्षु भवन सभा, वाराणसी
७. मुद्रण-स्थल	सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मैं पुरुषोत्तमदास मोदी एतत् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं।

‘मुमुक्षु’

काशी मुमुक्षु भवन सभा ता० १५-३-१९८२

—पुरुषोत्तमदास मोदी
(प्रकाशक के हस्ताक्षर)

पुस्तक-समीक्षा

१. श्रीमद्भगवद् गीतात्रयी—संपादक के शब्दों में “प्रायः सभी लोग श्रीकृष्ण की केवल उसी परोक्ष गीता को जानते हैं, जो कृष्णार्जुन-संवाद के रूप में महाभारत के भीष्म-पर्व में प्रथित है। इस श्रीकृष्णार्जुन-संवादमयी गीता को इसीलिए परोक्ष गीता (संजय द्वारा दिव्यशक्ति से घृतराष्ट्र को सुनाई हुई) कहा जाता है। इसी कारण कुछ विद्वज्जनों ने इसे श्रीकृष्णार्जुन-संवाद न कहकर घृतराष्ट्र-संजय-संवाद ही कहा है। इसे आपद्धर्म गीता भी इसीलिए मानते हैं कि यह गीता अर्जुन के तात्कालिक मानस-संकट को दूर करने के लिए कही गयी थी। किन्तु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से कही हुई दो और प्रत्यक्ष गीताएँ भी हैं। एक है महाभारत के ही आश्वमेधिक पर्व में अध्याय १६ से ५१ तक प्रथित अनुगीता, जो महाभारत युद्ध के पश्चात् इन्द्रप्रस्थ में अर्जुन के अनुरोध पर ब्राह्मण-ब्राह्मणी और गुरु-शिष्य-संवाद के रूप में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए यह भी कहा था कि युद्धभूमि में जो मैंने कहा था वह तो योगस्थ होकर कहा था, अब मुझे कहाँ याद है, फिर भी कुछ कहे देता हूँ। श्रीकृष्ण ने यह भी बताया कि मैं ही ब्राह्मण हूँ और बुद्धि ही ब्राह्मणी है। मैं ही गुरु हूँ और मन ही शिष्य है। दूसरी गीता है श्रीमद्भगवत् के एकादश स्कन्ध में अध्याय ७ से २९ तक सन्निविष्ट उद्धव के प्रति उपदिष्ट उद्धवगीता। इन दोनों गीताओं में अर्जुन और उद्धव को भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट रूप से कहा है कि ये ही बातें महाभारत को युद्धभूमि में जो ज्यों की त्यों पूछी गयी थीं। यह कथन इस तथ्य का प्रमाण है कि ये दोनों गीताएँ पहली गीता की प्रतीका और उसके सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्याएँ हैं। इन तीनों की समष्टि के बिना श्रीमद्भगवद्-गीता न तो पूरी हो जाती न मली प्रकार समझी हो जा सकती।”

वस्तुतः प्रचलित श्रीमद्भगवद्गीता समस्त धार्मिक क्षेत्रों में इस प्रकार छा गयी कि तत्त्वचिन्तकों को अन्य दो गीताओं की अपेक्षा ही नहीं रह गयी, विशेषकर श्रीमदाद्य-शंकराचार्य के भाष्य के कारण परोक्ष गीता का अधिक

प्रचार हुआ। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि हमारे दर्शनाचार्यों को अन्य गीताओं का परिचय नहीं था। श्री अनन्ताचार्य ने ‘तत्त्वविलास’ में इन गीताओं की उपयोगिता स्पष्ट रूप से स्वीकार की है—

श्रीमद्भगवत्ता गीता त्रिस्रोतसि च पापरा ।

गीतानुगीते पार्थाय तृतीया चोद्धवाय वै ॥

पार्थाय बोधिते गीते चोद्धवाय प्रबोधिता ।

गीतात्रय्या तु कृष्णस्य गीता पूर्णभवेद्भुवम् ॥

इसलिए तीनों गीताओं के हिन्दी भाष्य के साथ श्रीमद्भगवत् गीता-त्रयी का प्रकाशन दर्शन क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। आशा है, यह ग्रन्थरत्न हिन्दो और संस्कृत विद्वानों में समान रूप से समादृत होगा।

२. मानस एवं गीता का तुलनात्मक विवेचन— यद्यपि आधुनिक हिन्दी साहित्य में तुलनात्मक विवेचना की प्रथा पुरानी पड़ गयी है तथापि उसकी उपयोगिता सर्वथा समाप्त नहीं हुई है। तुलना के विषय में हिन्दी के आचार्यों का कहना है कि समान भाव, विषय, भाषा होने पर ही किन्हीं दो कृतियों का तुलनात्मक विवेचन समीचीन होगा। प्रस्तुत कृति में विद्वान् लेखक ने श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीता का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। इसी सन्दर्भ में लीलापुरुषोत्तम योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र और लोकसंग्रही मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के आदर्श चरित्रों की विशेषता स्पष्ट की गयी है। तुलनात्मक विवेचन के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग दोनों कृतियों तथा चरित्रों की विवेचना भी प्रस्तुत की गयी है। हिन्दी के जो पाठक संस्कृत और गीता के गम्भीर तत्त्वज्ञान से अपरिचित हैं, उनके लिए यह पुस्तक पथप्रदर्शक का कार्य करेगी। स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती के शब्दों में “वे (लेखक) जितने अच्छे वक्ता हैं, उतने ही अच्छे लेखक भी हैं।” लेखक वक्ता या ‘मानस’ के प्रवचनकर्ता के रूप में तो यशस्वी हैं ही इस कृति से उनका लेखक भी उभरकर हिन्दो जगत् के सामने आया है। आशा है, उनको अन्य कृतियों के समान हिन्दी जगत् प्रस्तुत पुस्तक का भी समादर करेगा।

१. वक्ता—भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णचन्द्र, सम्पादक और भाष्यकार—श्री स्वात्माराम (आचार्य सीताराम चतुर्वेदी), प्रकाशक—वेद-वेदांग-संगीत संगम, वेदपाठो भवन, मुजफ्फर नगर (उ० प्र०), पृष्ठ संख्या डिमाई ४३०, मूल्य पचास रुपये।
२. लेखक श्री पं० रामकिंकर उपाध्याय, प्रकाशक श्री ताराचन्द साबू, पृष्ठ संख्या १४० मूल्य—अमुद्रित।

मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

विशेष सहायता—‘मुमुक्षु’ के पाठकों को इस आशय का पत्र भेजा गया था कि जो उदार दाता काशी मुमुक्षु भवन सभा को (१०१) वार्षिक सहायता देंगे उन्हें ‘मुमुक्षु’ तो निःशुल्क भेजा ही जायेगा हमारे द्वारा प्रकाशित तथा प्रचारित साहित्य भी निःशुल्क भेंट किया जायगा। इसके अतिरिक्त उन्हें वर्ष में एक सप्ताह के लिए मुमुक्षु भवन में आवास की निःशुल्क सुविधा भी प्रदान की जायगी।

हमारे इस निवेदन के फलस्वरूप जिन उदार दाताओं ने संस्था की विशेष सहायता की है, उनके नाम, हम यहाँ धन्यवादपूर्वक प्रकाशित कर रहे हैं। साथ ही अन्य उदार-दाताओं से भी इसी प्रकार विशेष सहायता प्राप्त करने की अपेक्षा करते हैं।—मन्त्री

श्री बी० एल० जाजू, कलकत्ता	२०२)
श्री मेसर्स सन्तराम शिवरामदास, कलकत्ता	१०१)
श्री के० एन० फतहपुरिया, कलकत्ता	१०१)
श्री मुरारीलाल केडिया, वाराणसी	१०१)
श्री गोवर्धनलाल झँवर, वाराणसी	१०१)
श्री पूरनमल धानुका, वाराणसी	१०१)
श्री रणछोड़दास बिनानी, कलकत्ता	१०१)
श्रीमती कमला देवी रुइया, बम्बई	
श्री नन्दकिशोर एफ० सिंहल, बम्बई	

भण्डारा—मुमुक्षु भवन में ईश्वरमठ के दण्डी स्वामियों के लिये भिक्षा (भोजन भण्डारा) का प्रबन्ध है। इसके लिए दो प्रकार के दान स्वीकार किए जाते हैं। एक स्थायी कोष के रूप में और दूसरा आकस्मिक रूप में। स्थायी कोष में एक साथ ढाई हजार रुपया जमा कर देने पर—दाता की इच्छानुसार किसी विशिष्ट तिथि पर पक्के भण्डारे का प्रबन्ध किया जाता है और कच्चे भण्डारे के लिए (१२५०) एक साथ लिया जाता है। एक दिन के पक्के भण्डारे पर ढाई सौ रुपया खर्च होता है और कच्चे पर (१२५) व्यय होता है। पक्के भण्डारे में खीर-पूड़ी अथवा हलवा-पूड़ी या मिठाई-पूड़ी और कच्चे भण्डारे में रोटी, दाल, चावल और शाक तथा दही का प्रबन्ध किया जाता

है। आकस्मिक या अस्थायी भण्डारे के रूप में दाता पक्के या कच्चे भण्डारे के लिए दान देकर भण्डारा कराता है।

फरवरी के स्थायी भण्डारादाताओं की नामावली इस प्रकार है :—

१. श्री रामेश्वरप्रसाद गुटगुटिया, मधुपुर (कच्चा) १७-२-८२
२. श्री गोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता (कच्चा) २३-२-८२
३. श्री जगमोहनदास शाह, वाराणसी (कच्चा) २७-२-८२

फरवरी के अस्थायी भण्डारादाताओं की नामावली इस प्रकार है :—

१. श्रीमती सावित्रीदेवी, वाराणसी (पक्का) ७-२-८२
२. श्री श्यामलाल सुरेका, कलकत्ता (पक्का) ९-२-८२
३. स्वामी श्री भगवतानन्द तीर्थ (कच्चा) ११-२-८२
४. श्रीमती गायत्रीदेवी, नरकटिया (कच्चा) १२-२-८२
५. श्री मोहनलाल गट्टात्री, चुरू (पक्का) १३-२-८२
६. श्रीमती गीतादेवी झुनझुनवाला, भागलपुर (कच्चा) १६-२-८२
७. श्री शंकरलाल ठण्ड, कलकत्ता (पक्का) २१-२-८२

शोक सभा—काशी मुमुक्षु भवन सभा की ओर से आवासियों, कर्मचारियों और अधिकारियों तथा वेदवेदांग महाविद्यालय के अध्यापकों और छात्रों की एक शोक सभा अनन्तश्री विभूषित स्वामी श्री करपात्री जी के आकस्मिक ब्रह्मलीन होने के उपलक्ष्य में दिनांक ७-२-८२ को आयोजित की गयी जिसमें विद्वानों द्वारा पूज्य स्वामी जी के धर्मप्रमाण पवित्र जीवन एवं परोपकारमय निःस्वार्थ कार्यों को स्मरण करते हुए उन्हें सकल श्रद्धांजलि अर्पित की गयी। तदनन्तर दो मिनट तक मौन प्रार्थना की गयी।

होमियोपैथिक चिकित्सालय— श्री रामकुमार भुवालका जन कल्याण ट्रस्ट के सहयोग से चलनेवाले मुमुक्षु भवन के होमियोपैथिक चिकित्सालय में फरवरी महीने में नये ४३४ तथा पुराने २३१९ कुल २७५३ रोगियों ने चिकित्सा का लाभ उठाया।

स्वामी करपात्रीजी महाराज ब्रह्मलीन

आदि शंकराचार्य को परम्परा के अग्रणी, धर्मप्राण करपात्री जी महाराज ने रविवार ७ फरवरी को केदार-खण्ड में केदारेश्वर महादेव मन्दिर के पार्श्व में गंगा तट स्थित वेदशास्त्रानुसन्धान केन्द्र में पूर्वाह्न ९-१५ बजे स्नान-पूजन के उपरान्त स्तोत्र-पाठ सुनने के बाद चण्डी पाठ का श्रवण करते हुए महाप्रयाण किया। भारत की धर्म-व्यवस्था फहरते-फहरते सहसा रुक गयी। प्रकृति भी एक क्षण स्तब्ध रह गयी। जिनकी वाणी पर वेद-पुराण, शास्त्र आगम-निगम सभी साकार हो उठते थे, जो परम भागवत पुरुष थे, ऐसे दिव्य पुरुष के ब्रह्मलीन होने से देश की धर्मज्योति काँप उठी है। करपात्री जी महाराज देश की आध्यात्मिक विभूति थे। ७५ वर्ष पूर्व संवत् १९६४ वि. श्रावण शुक्ल द्वितीया (सन् १९०७) को प्रतापगढ़ जिले के मटनी ग्राम में पण्डित रामनिधि ओझा के घर आप का जन्म हुआ। २४ वर्ष की अल्प आयु में आप संन्यास धारण कर स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती के नाम से विख्यात हुए। अंजुलि में ही (कर को पात्र बना कर) मिखा लेने के कारण आप करपात्री जी के नाम से विद्वत हुए।

आपने अखिल भारतीय धर्म संघ, भारतीय रामराज्य परिषद् और धर्म संघ शिक्षा-मण्डल की स्थापना वैदिक सनातन धर्म, भारतीय संस्कृति और सर्वे भवन्तु सुखिनः की आदर्श भारतीय राजनीति की प्रतिष्ठा तथा सद्बुद्धि के प्रचार-प्रसार के लिए विभिन्न समय पर की थी। अपने सद्बिचारों के प्रचार के लिए आपने दैनिक 'सन्मार्ग' नामक पत्र काशी और कलकत्ता से प्रकाशित कराये।

दोनों ही स्थानों से यह समाचार-पत्र जागरूकता के साथ गतिशील है।

उनमें वाग्मिता की जन्मजात शक्ति थी। अपने विद्वत्तापूर्ण प्रवचनों से वे श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर लेते थे। शास्त्र के वे मूर्तिमान् स्वरूप थे। स्वामी जी ने अपनी मनीषा और विद्वत्ता से मण्डित अनेक अमर ग्रन्थों की रचना संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में की है, जिनमें भक्ति-रसार्णव, भक्ति-मुषा, वेदार्थ पारिजात, रामायण-मीमांसा, संघर्ष और शान्ति, मार्क्सवाद और रामराज्य प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त आपने शताधिक निबन्ध लिखे हैं जो समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। भारतीय वाङ्मय का कोई भी अंग आपके गम्भीर अध्ययन से अछूता नहीं रहा।

वर्तमान शती में ऐसा दूसरा कोई शास्त्रमर्मज्ञ विद्वान् उत्पन्न नहीं हुआ। वे शास्त्रों के सचल, जीवन्त विग्रह थे। न वे अशास्त्रीय बात कहते थे और न अशास्त्रीय विचार का समर्थन करते थे। गोहत्या-निषेध के लिए वे आमरण संघर्षशील रहे। स्वामी जी का यशःशरीर जरा-मरण से परे अविनाशी है।

काशी मुमुक्षु भवन सभा पर स्वामी जी की विशेष कृपा रहती थी। अनेक बार स्वामी जी की सनातन वाणी मुमुक्षु-भवन को पवित्र कर चुकी है, अब उसकी गूँज शेष रह गयी है। दण्डी स्वामियों के लिये वे आदर्श थे, वे समय-समय पर मार्ग-दर्शन प्रदान करते थे। उनका अभाव मुमुक्षु-भवन सभा के सभी सदस्यों, सद्भावियों और आवासियों को सदैव अनुभव होता रहेगा। भारतीय सनातन धर्म के क्षेत्र में यह अपूरणीय क्षति है जिसको पूर्ति निकट भविष्य में सम्भव नहीं। —सम्पादक

त्याग

एक समय मिथिला-नरेश निमि भोजन के बाद गवाक्ष में खड़े थे। उन्होंने देखा कि, मांस का पिण्ड लिये हुए एक चील आकाश में मँडरा रही है और बीसियों पक्षी चोंचें मार-मार कर उससे वह पिण्ड छुड़ा रहे हैं। प्रहार-पीड़ित चील ने अन्त में मांस-पिण्ड छोड़ दिया। दूसरे पक्षी ने उसे उठा लिया। फिर सारे पक्षी उससे छीना-झपटो करने लगे। उसने भी छोड़ा, तो तीसरा उसे लेकर भागा। किन्तु उसकी भी वही दुर्गति हुई। यह दृश्य देख राजा की अन्तश्चेतना जागी—“संसारी काम-भोगों की भी तो यही गति है। जिस-जिसने उनका लोभ किया, उसी ने दुःख पाया और जिसने उनका मोह छोड़ा, वही सुख का अधिकारी बना।”

— बौद्ध जातक

While purchasing Hessian, Sacking, Carpet Backing and other Jute products and cotton yarn, please insist on quality production.

We are always ready to meet the exact type of your requirement.

Kanoria Jute Cotton Mills Limited

4/1, Red Cross Place

Calcutta-700001

Phone : 23-2397/98
23-7197

Telex : 021-2196
Cable : KAYJUTE,
Calcutta.



JUTE MILL

Kanoria Jute Mill,
Sijberia, P. O. Uluberia,
Dist. Howrah (West Bengal)

SPINNING MILL

Shree Hanuman Cotton Mills
Fuleshwar, P. O. Uluberia, Dist. Howrah (West Bengal)

The Reliance Jute & Industries Limited

9, Brabourne Road

CALCUTTA - 700001

Phone : 26-7385 (4 Lines)

Gram : Reltrade

Telex : 7611 Rely, Calcutta



Proprietors of :

Reliance Jute Mills

Bhatpara, 24 - Parganas (W. B.)

Manufacturers of

Jute Goods (Hessian, Sacking,

Carpet Backing & Jute Specialities)

Keshari Steels

New Industrial Area,

Bombay - Agra Road, Dewas - 455001 (M. P.)

Manufacturers of Steel Rods & Bars

Licencees :

Pratappur Sugar Mills

P. O. Pratappur, Dist. Deoria (U. P.)

Manufacturers of Sugar



We specialize in

Decorative Jute Fabrics

For export as well as for local market

Ideally useful for

Furnishings, Wall Coverings

Hand, Shoulder, Shopping & School Bags

Ladies Hand Bags

Lamp Shades

Table Mats

Bed Covers

Shoe Uppers

and Innumerable other consumer items.



Distributors all over India

काशी मुमुक्षु-भवन-सभा के लिए श्री पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित



मुमुक्षु

अप्रैल १९८२

पाठकों की प्रतिक्रिया

काशी मुमुक्षु भवन सभा द्वारा प्रकाशित मुमुक्षु के पिछले अंकों के अवलोकन का अवसर प्राप्त हुआ। सामग्री का चयन, मुद्रण तथा सम्पादन ने उच्च मानदण्ड स्थापित किया है।

सभा के वर्तमान अधिकारियों के सुप्रबन्ध में श्री काशी मुमुक्षु भवन सभा के कार्यों का सुव्यवस्थित संचालन, संस्था की चल-अचल सम्पत्ति की सुरक्षा, आय-वृद्धि एवं परिष्कार कर उसमें नवजीवन का संचार हुआ है। आध्यात्मिक अभ्युन्नति के लिए नित्य कथावार्ता, भजन, ध्यान एवं विभूति-मण्डित महात्माओं के सत्संग के साधन प्रस्तुत कर मुमुक्षु जनों की साधना के पथ को सरल सफल बनाया गया है। और, अब क्रमबद्ध सामग्री से संबलित 'मुमुक्षु' को नियमित प्रकाशन कर संस्था के परमलक्ष्य की प्राप्ति में सर्वांगीण सहायता को प्रत्यक्ष कर अकल्पनीय उत्कर्ष का दर्शन कराया गया है जिससे संस्था से परिचित-अपरिचित समस्त जनमानस को चमत्कृत-सा कर हम सबके परम मोद का अवसर प्रदान किया गया है। अनेक साधुवाद तथा बधाइयाँ!

अस्सी, वाराणसी,
चैत्र कृष्ण प्रतिपदा,
सं० २०३८ वै०

—डॉ० गंगासहाय पाण्डेय

'मुमुक्षु' पत्रिका में छपे बहुत-से लेख मुझे अच्छे लगे।

कलकत्ता-५

८ मार्च १९८२

—शिवप्रसाद मोदी

अनासक्त, परमभगवत्त आश्रय श्री धनंजयमदास विरला के जन्मदिवस श्री रामनवमी पर आवश्यक सामग्री प्रकाशित कर आपने मेरे भावना-सागर को उद्वेलित कर दिया। वस्तुतः विरलाजी के सारे संस्कार आध्यात्मिक हैं। ये ही संस्कार उन्हें महामना मालवीयजी और महात्मा गान्धी के सान्निध्य में लाये जिनसे प्रेरित होकर विरलाजी ने अनेक

लोकोपकारी कार्य किये। मेरे स्वर्गीय पिताजी श्री राधाकृष्ण गनेड़ीवाला से आपका घनिष्ठ सम्बन्ध था। यहीं गोरखपुर में हमारे यहाँ से ही पूज्य मालवीयजी के साथ इनके राजनीतिक जीवन का श्रीगणेश हुआ। इसके बाद तो ये गान्धीजी के सभी कार्यों में सहयोगी रहे।

विरला जी के लोकोपकार, सागर के समान गहराई लिये हुए हैं और पुष्प के समान उनका सुगन्धित व्यक्तित्व लोगों को आकृष्ट करता है, कोई नहीं कह सकता कि गान्धीजी के साथ इनका कोई स्वार्थ था। राष्ट्रीयता की भावना ही इनका केन्द्रबिन्दु है। आज इस अवस्था में ये प्रौढ़ से भी अधिक सक्रिय हैं। समाज, राष्ट्र, व्यक्ति सबके लिए ये प्रेरणा-स्रोत हैं। ये चिरायु हों, यही मुमुक्षु के मन्त्रदाता भगवान् आशुतोष से प्रार्थना है।

गनेड़ीवाला-चाटिका,
गोरखपुर

—ब्रजभूषण गनेड़ीवाला

मैं 'मुमुक्षु' को उसके प्रथम अंक से ही पढ़ता आ रहा हूँ। यह पत्र मुझे बहुत ही चिन्तनपरक, अध्यात्मवादी एवं आस्थावान् लगा। इसकी सामग्री विचारोत्तेजक होने के साथ-साथ व्यक्ति को मननशील एवं मानवीय गुणों से युक्त बनानेवाली होती है। चूँकि यह आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पत्र है, अतः अच्छा हो, यदि इसमें भारतीय दर्शन की विविध विचारधाराओं से सम्बन्धित आध्यात्मिक लेखों का समावेश हो। पत्र ने थोड़े ही समय में अपने आध्यात्मिक, सांस्कृतिक व दार्शनिक लेखों से प्रबुद्ध व सुधी पाठकों पर गहरा प्रभाव डाला है।

बीकानेर, १-३-८२

—जगमोहनदास सूषड़ा

पत्रिका में लेख अत्यन्त सराहनीय एवं ज्ञानयुक्त हैं। आपका प्रयास-पूर्ण सफल हो, ऐसी आशा करते हैं।

कलकत्ता

—कैलाशपति लोहिया



आध्यात्मिक
तथा
सांस्कृतिक
मासिक

वर्ष १ : अंक ७
वैशाख, सं. २०३९
अप्रैल १९८२



प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी



वार्षिक : पन्द्रह रुपए
एक अंक : डेढ़ रुपया

वन्दना

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो ब्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥

—गीता अ० ११-३९-३७

हे हृषीकेश ! यह उचित ही है कि तुम्हारे गुण-कीर्तन से सारा जगत् प्रसन्न होता है और अनुराग करता है। भयभीत राक्षस दसों दिशाओं में भाग जाते हैं और सिद्ध पुरुषों के समूह तुम्हीं को नमस्कार करते हैं।

हे महात्मन् ! तुम ब्रह्मा के भी आदिकारण और उनसे भी श्रेष्ठ हो। तुम्हारी वन्दना वे कैसे न करेंगे। हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! सत् और असत् तुम्हीं हो, और इन दोनों से परे जो अक्षर (ब्रह्म) है, वह भी तुम्हीं हो।



अविनयमपनय विष्णो दमय
मनः शमय विषयमृगतृष्णाम् ।
भूतदयां विस्तारय
तारय संसारसागरतः ॥

—आद्य शंकराचार्य

हे विष्णुदेव ! मेरे अविनय को दूर कीजिए। मेरे मन को दबाइए और विषयों की मृगातृष्णा शान्त कीजिए। प्राणियों के प्रति मेरे हृदय में दया का विस्तार कीजिए और मुझे संसार-सागर से उबारिए।



धर्म की ओर प्रत्यावर्तन

विषय	पृष्ठ
वन्दना	१
धर्म की ओर प्रत्यावर्तन—सम्पादकीय	२
पाश्चात्य नारी	३
सीतारामजी सेक्सरिया—श्री लक्ष्मीनिवास बिरला	४
महात्मा दुर्योधन की जय—श्री के० सन्तानम्	५
हमारी मूल व्याधि—श्री अरविन्द	१०
स्वामी करपात्री का कर्तृत्व	
और व्यक्तित्व—श्री पं० बलदेव उपाध्याय	११
श्रीराम की खोज—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	१५
गंगोत्तरी—श्री दनश्यामदास बिरला	१७
पश्य देवस्य काव्यम्—श्री कुवेरनाथ राय	२०
आसन से उत्थान और आकाश-गमन	
—म० म० पं० गोपीनाथ कविराज	२५
मणिमाला का सुमेरु—श्री पुरुषोत्तमदास मोदी	२९
पुस्तक-समीक्षा	३०
काशी मुमुक्षु भवन-सभा-समाचार	३१

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से सम्पादक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

लेखकों से—‘मुमुक्षु’ में प्रायः धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रचनाएँ ही प्रकाशित की जाती हैं। ये रचनाएँ साहित्य की किसी भी विधा में हो सकती हैं। अतः लेखकों से निवेदन है कि वे अपने पास प्रतिलिपि रखकर ऐसी ही रचनाएँ भेजें। अस्वीकृत रचनाओं को लौटाने में हम असमर्थ हैं। स्वीकृत रचनाओं की सूचना पन्द्रह दिनों के भीतर भेज दी जाती है।—सम्पादक

पिछले दिनों धर्मस्थली में बाहुबली (तीर्थंकर) की विशाल प्रतिमा के स्थापन तथा महामस्तकामिषेक समारोह के अवसर पर विभिन्न धर्मों के आचार्य तथा प्रमुख उपस्थित हुए। इसी धर्म के प्रमुख रेवरेण्ड फादर पैट्रिक ई० मोहीलाल ने कहा—आज धर्म हमारी अनिवार्य आवश्यकता है। धर्म के बिना शान्ति, आन्तरिक सुख एवं सुविचारित सदाचरण सम्भव नहीं। धन अथवा सत्ता से इसे नहीं प्राप्त किया जा सकता। असन्तोष, अशान्ति एवं कुण्ठा की इस घड़ी में ‘धर्म की ओर प्रत्यावर्तन’ ही एकमात्र मार्ग है। ऋषीकेश की डिवाइन लाइफ सोसायटी के अध्यक्ष श्री स्वामी चिदानन्द ने विश्वास व्यक्त किया कि सभी धर्माचार्यों के समवेत प्रयास से हम मानवमात्र में देवत्व की जगाकर न केवल विश्व को विनाश से बचा सकते हैं, प्रत्युत भविष्य को भी स्वर्णिम बना सकते हैं। उन्होंने स्वीकार किया कि ईश्वर एक है, समस्त सृष्टि का जनक एक ईश्वर अथवा अलौकिक शक्ति है। सृष्टि के विविध रूप अवश्य हैं, पर वे सभी एक ही वृक्ष, एक ही फल के अलग-अलग रूप को प्रतिबिम्बित करते हैं। इसी प्रकार एक ही मनुष्य के विविध रूप, स्वभाव और सम्प्रदाय हैं। प्राकृतिक, भौगोलिक तथा आत्मिक कारणों से यह विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु सबके मूल में एक मौलिक एकता है। डॉ० एस० ए० अली, निदेशक, इन्स्टीच्यूट आफ इस्लामिक स्टडीज ने इस अवसर पर ऐसे ही विचार व्यक्त करते हुए स्वीकार किया कि ‘ईश्वर एक है और सभी धर्मों का तत्त्व एक ही है, फिर धर्म के नाम पर विद्वेष या घृणा फैलाना दुराचरण है। रंग, राष्ट्रीयता अथवा धर्म से मनुष्य को आँकना मूर्खता है—मनुष्य का सही मूल्यांकन उसके सम्प्रदाय से होता है। अस्तु, सभी धर्मावलम्बियों को मिल-जुलकर आणविक संहार से विश्व को बचाने का प्रयास करना होगा।’

आज के विकसित देश, जिन्हें अपनी पूँजीवादी व्यवस्था, सैन्यवादी परम्परा और प्रभुत्व-सम्पन्न समाज पर गर्व है, यह अनुभव कर रहे हैं कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था मनुष्य की आत्मा को निर्जीव और निष्प्राण करती जा रही है। उन्हें यान्त्रिक एवं वैज्ञानिक उत्कर्ष के साथ-साथ

आन्तरिक खोखलेपन की अनुभूति होने लगी है। वे भौतिक और तकनीकी चरमोत्कर्ष के बावजूद मन एवं आत्मा के घरातल पर सर्जनात्मक परिवर्तनों के लिए अधीर हो रहे हैं। उन्हें ऐसा आभास होने लगा है कि आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आदर, सत्य और सौन्दर्य के प्रति प्रेम, धर्म-परायणता, न्याय और दया, पीड़ितों के साथ सहानुभूति और मनुष्यमात्र के भ्रातृत्व में विश्वास, ऐसे गुण हैं, जो आधुनिक सभ्यता के विनाशकारी परिणामों से विश्व को बचा सकते हैं। उनके भीतर एक नयी धारणा जन्म लेने के लिए संघर्ष कर रही है और प्रचण्ड विस्फोटों के बीच बाहर आने का मार्ग बना रही है। वह हिंसा की राजनीति, कष्ट, आणविक विनाश, आतंक और तज्जनि अव्यवस्था से मुक्त होने के लिए छटपटा रही है। भगवद्गीता में कहा गया है कि जब मनुष्य अपने-आपको धरती पर देवता समझने लगता है और वह अपने मूल से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर पथभ्रष्ट हो जाता है तब उसमें एक शैतानी विकृति या अहंकार उठ खड़ा होता है, जो ज्ञान और शक्ति दोनों की दृष्टि से अपने-आपको सर्वोच्च घोषित करता है। आज का मानव अपनी भौतिक उपलब्धियों से इतना आत्मतुष्ट हो गया है कि वह सभी प्रकार के विवेक खोकर अपने को देवतुल्य समझने लगा है, फिर भी वह भयग्रस्त है; उसका अन्तःकरण विद्रोह कर रहा है—शान्ति एवं शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए। वह सत्य, शिव और सुन्दर की वैज्ञानिक व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं जान पड़ता। उसे ऐसा लगता है कि उसके बाह्य जीवन की अव्यवस्था और गड़बड़ी, उसके हृदय और मन की अस्त-व्यस्तता को प्रतिफलित कर रही है। यही कारण है कि वह शाश्वत में अपने मूल को खोजने के प्रयास में अनुभवजन्य सत्य को हृदयंगम करने को आतुर है। इसे ही हम 'धर्म की ओर प्रत्यावर्तन' की संज्ञा देते हैं।

आज पश्चिम के वैज्ञानिक भी यह अनुभव करने लगे हैं कि यान्त्रिक उत्कर्ष-जनित मानव-विरोधी प्रवृत्तियों, यथा हिंसा, घृणा और कलह के स्थान पर दया, क्षमा, प्रेम, सहयोग, सेवा और उपकार की भावना की उपादेयता असंदिग्ध है। आज की नयी पीढ़ी बदलती हुई आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों में कुढ़न तथा घुटन का अनुभव करने लगी है और उसमें इनके प्रति विद्रोह की ज्वाला भड़क रही है। वह धर्मजन्य वैदिक और आध्यात्मिक मूल्यों की ओर झुक रही है। उन्हें विश्वास होने लगा है कि प्रेम,

सौहार्द और शान्ति की 'त्रिवेणी' केवल धर्म से ही निर्गत होती है। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में आज के युग में जबकि विज्ञान के विकास से राष्ट्रों की भौगोलिक और राजनीतिक सीमाएँ खण्ड-खण्ड हो रही हैं केवल धर्म ही विश्व की एकता की कड़ी सुदृढ़ कर सकता है। आज का मानव विश्व की आध्यात्मिक एकता के लिए धर्म की अनिवार्यता का अनुभव करने लगा है। विश्व की आदि सत्ता की व्याख्या, जिसे विज्ञान बुद्धि द्वारा करने में अक्षम है, उसे धर्म प्रस्तुत करता है। इस प्रकार धर्म विज्ञान को भी सशक्त करने में समर्थ है। आज का धर्म वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर अवस्थित है। उसमें रूढ़िवादिता और अन्ध-विश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार धर्म भी विज्ञान का ऋणी है, जिसने उसे विचार-सम्मत बनाने में अपना योगदान किया है। आज के युग की पुकार है धार्मिक विज्ञान और वैज्ञानिक धर्म, क्योंकि विज्ञान और धर्म एक दूसरे के पूरक सिद्ध हुए हैं।

पाश्चात्य नारी

एक बार स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका में देखा कि एक महिला कन्न पर पंखा झल रही है।

"यह किसकी कन्न है?" स्वामी जी ने महिला से कुतूहलवश पूछा।

"यह कन्न मेरे पति की है।"

"देवि! ऐसी पतिनिष्ठा तो भारतीय नारियों में ही देखी जा सकती है जिसे पाश्चात्य नारियाँ अन्वमत्ति कहती हैं।"

"महात्मन्! यह भारतीय नारी की पतिनिष्ठा नहीं है। वास्तविक बात यह है कि पति के मरते समय मैंने उन्हें वचन दिया था कि जबतक आपको कन्न सूख नहीं जायेगी तबतक मैं पुनर्विवाह नहीं करूँगी। इसलिए कन्न पर पंखा झल रही हूँ कि वह शीघ्र सूख जाय।"

उसी महिला से स्वामी जी को यह भी पता चला कि उस पुरुष की वह पचोसवीं स्त्री थी और इस स्त्री का वह चालीसवाँ पुरुष।



सीतारामजी सेकसरिया

— श्री लक्ष्मीनिवास बिरला

सुजन समाज सकल धनखानी,
करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी ।

प्रणाम करवे योग्य सज्जनों को प्रणाम करने में भी एक रस आता है। वह तो मुद्दत की बात हो गयी, जब मैं पहले-पहल सीतारामजी से मिला। सन् १९२६ के हिन्दू-मुस्लिम दंगे के पश्चात् गांधी जी कलकत्ता आये थे, और बिरला-पार्क में ठहरे थे। और बातों के साथ तब यह बात भी निकली थी कि कलकत्ते में कोई अच्छा खादी-भण्डार नहीं है। मेरे पूज्य पिताजी के सहयोग से खादी-भण्डार खुला और इस अभाव की पूर्ति हो गयी। महावीरप्रसादजी पोद्दार ने भण्डार की देख-रेख का भार अपने ऊपर ले लिया। हर शनिवार को दो बजे आफिस बन्द होने के बाद मेरा तो नियम-सा ही हो गया कि खादी-भण्डार जाकर महावीरप्रसादजी के पास दो या तीन घण्टे बिताऊँ।

एक दिन “पोद्दारजी, पोद्दारजी” पुकारती एक लड़की खादी-भण्डार में आयी। हम लोग महावीरप्रसादजी को उनके नाम से ही पुकारते थे। पोद्दारजी कौन हैं, यह समझने में कोई बीस सेकेण्ड लगे। पूछने पर पता लगा कि यह सीतारामजी सेकसरिया की लड़की पाना बाई है। सीतारामजी के नाम से मेरा प्रथम परिचय यही था। यह शायद १९२७ की बात है।

इसके बाद तो सीतारामजी से काफी मिलना-जुलना हुआ। वह भी महावीरप्रसादजी का काम बँटाने खादी-भण्डार में बैठते थे। सामाजिक विषयों पर और राजनीति पर भी अक्सर बहस हो जाती थी। एक किस्सा याद आता है। शिशिर कुमार भादुड़ी ने नादिरशाह नामक नया नाटक रंगमंच पर रखा। नाटककार ने नादिरशाह को एक अच्छे नायक के रूप में दिखाया और उसके अत्याचारों का कारण यह बताया कि वह जुलम इसलिए करता है कि जनता बलवा करे और तानाशाह को उठा फेंके। मैंने कहा, शायद यह तरीका हिन्दुस्तान पर भी लागू हो। अंग्रेज ज्यादा जुलम करेंगे तो जनता मुकाबला करने को खड़ी हो



जावेगी। सीतारामजी ने इसका विरोध किया। उन्होंने कहा कि जनता तो और चुप्पी साध लेगी। मुझे कुछ ऐसा याद है कि शायद दो-तीन दिन तक, जब भी हम लोग मिले, इसी विषय पर चर्चा करते रहे। यों बातें होती थीं, बहस चलती थी और हम लोग एक दूसरे को समझ रहे थे। कुछ समय बाद तो खादी-भण्डार का पूरा दायित्व सीतारामजी के हाथों में आ गया। उनकी देख-रेख में शीघ्र ही खादी-भण्डार ने एक उन्नतिशील सेवाव्रती संस्था के रूप में ख्याति प्राप्त करली, क्योंकि इस देख-रेख के पीछे सीतारामजी का त्यागमय उच्च आदर्श एवं उनका अपना स्वप्न था।

तब से सीतारामजी का जीवन सामाजिक सेवाओं के लिए एक सूत्र ही बन गया। जिस कार्य को उन्होंने अपने हाथ में लिया, उसमें उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त हुई। कारण यही है कि उन्हें कार्य प्रिय था और उसे वे पूरी लगन के साथ बिना किसी प्रदर्शन के करते थे। समय-समय पर जब जैसी राष्ट्रीय आवश्यकता अनुभूत हुई, उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र में भी परिवर्तन किया। जब-जब उन्होंने नया दायित्व हाथ में लिया, उसे नये उत्साह और नये दृष्टिकोण के साथ सम्पन्न किया। इस प्रकार यद्यपि कार्य

[शेष पृष्ठ ३२ पर]

महात्मा दुर्योधन की जय

—के० सन्तानम्

(महर्षि व्यास-प्रणीत महाभारत के 'कलाइमेक्स' को यदि गान्धीवादी मोड़ दे दिया जाता, तो कथा-प्रवाह कौन-सी दिशा ग्रहण करता—इस सम्भावना को अपनी कल्पना पर चित्रित कीजिए और उसे स्व० के० सन्तानम् की इस कहानी के साथ परखिये)

हस्तिनापुर से ठीक चालीस मील दूर पाण्डवों के एक तम्बू में अर्जुन और भीम बैठे हुए थे। उनके मुख पर गहरी उदासी का आवरण छाया हुआ था। सामने वैठी द्रौपदी की आँखों से अविरल अश्रु-धारा प्रवाहित हो रही थी।

कुछ क्षणों की चुप्पी के बाद सबसे पहले भीम ने ही निस्तब्धता भंग की। नैराश्य-भरे स्वर में वह बोला—“अर्जुन, इस सारी स्थिति के लिए हम स्वयं उत्तरदायी हैं। बारह वर्षों के वनवास और उसके बाद वर्ष भर के अज्ञातवास ने जैसे सचमुच हमें कायर बना दिया है। ओफ! अपमान की हद हो गयी—आज हमें अपने रहने के लिए भी कौरवों से पाँच गाँवों की भिक्षा माँगनी पड़ रही है। यदि हम लोगों का उद्देश्य सिर्फ इतना हो है, तो क्या इतने बड़े भारतवर्ष में हम स्वयं अपनी ताकत से आज पाँच गाँव भी नहीं जीत सकते?” भीम अनायास ही काफी उत्तेजित हो उठा था, लेकिन यह स्थिति पल भर के लिए ही रही। अत्यन्त शिथिल और निढाल-सा होकर वह फिर बोला—“भाग्य की यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि, आज हम अपने रहने की जगह के लिए भी दुर्योधन की कृपा पर निर्भर करने लगे हैं। अपमान की इस स्थिति को सहन करने की अपेक्षा हमारे लिए आत्महत्या कर लेना शायद कहीं अधिक श्रेयस्कर होगा—।”

अर्जुन के मन में भी ऐसे ही विचार उठ रहे थे। उसने भीम की बातों का समर्थन करते हुए कहा—“तुम ठीक कह रहे हो भाई। पर हमारे पास चारा ही क्या है? लगातार पाँच घण्टों तक मैं धर्मराज युधिष्ठिर से तर्क करता

रहा। उन्होंने भी धैर्य एवं शान्ति के साथ मेरी बातें सुनीं, लेकिन अन्त में निर्णय अपने इच्छानुसार ही किया।—और, श्रीकृष्ण के कथनानुसार भी हमें चुपचाप धर्मराज की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए, क्योंकि धर्मराज ने काफी सोच-समझ कर यह निर्णय किया है।—मेरी तो बुद्धि ही काम नहीं कर रही है।”

द्रौपदी अब तक चुप थी, लेकिन क्रोध के आवेश ने उसे भी बोलने को बाध्य कर दिया—“वस्तुतः आज तुम सभी भ्रान्त-चित्त हो रहे हो। और, जब तुम ऐसी छोटी-छोटी बातों पर भी निरर्थक विवाद करने पर उतारू हो गये हो, तो ‘सुपरिणाम’ हो भी क्या सकता है। यदि तुम लोगों ने दृढ़ता के साथ अपना विचार घोषित कर दिया होता कि, हमें दुर्योधन से कोई भील नहीं चाहिए, तो आज यह स्थिति पैदा ही नहीं हो पाती। पर तुम सब तो मुझे उसी दुर्योधन की दासी बनाने पर तुले हो, जिसने भरे दरबार में मेरा अपमान किया था—।”

क्षोभ और नैराश्य की चरम सीमा ने द्रौपदी का कण्ठ अवरुद्ध कर दिया। वह चुप लगा गयी, लेकिन उसके अन्तर में विचारों का तूफान उसी तरह उद्वेलित होता रहा। अर्जुन और भीम भी आगे क्या बोलते—वर्तमान स्थिति असह्य अवश्य थी, पर धर्मराज युधिष्ठिर की इच्छा के विरुद्ध सिर उठाने का साहस किसमें था। साथ ही एक आशा उन्हें अभी और थी कि, दुर्योधन कभी भी प्रसन्नता-पूर्वक पाँच गाँव देना स्वीकार नहीं करेगा और तब शायद धर्मराज भी युद्ध की घोषणा के पक्ष में अपनी सहमति दे देंगे। मगर इसका निर्णय दुर्योधन की राज-सभा से श्रीकृष्ण के लौट आने पर हो हो सकता था।

ठीक गो-धूलि की बेला में श्रीकृष्ण हस्तिनापुर से वापस आये और अर्जुन, भीम तथा द्रौपदी की आशा के सर्वथा विपरीत उन्होंने बताया कि, भीष्म एवं कर्ण के काफी समझाने के बाद दुर्योधन ने पाण्डवों को पाँच गाँव देना स्वीकार कर लिया है।

“उक्त पाँचों गाँवों के निवासी भी यह सुसंवाद सुन चुके हैं”—श्रीकृष्ण ने दुर्योधन की राज-सभा का पूर्ण विवरण बताने के बाद अन्त में कहा—“और खुशो के नारे लगाते हुए वे यहाँ चले आ रहे हैं। धर्मराज के चरणों में वे अपनी अपार श्रद्धा और निश्चल प्रेम की भेंट चढ़ाना चाहते हैं।”

श्रीकृष्ण की बातों ने द्रौपदी के मन ही मन में घुटने वाले रोष को और भी दुगुना कर दिया। पाँच गाँव दुर्योधन द्वारा भीख में मिलने के समाचार को विष के घूँट की तरह गले के नीचे उतार कर उसने सव्यंश कहा—
“राज्याभिषेक का आनन्द आप लोग ही लूटिए। मैं अब इस अपमान को और अधिक नहीं सह सकती। मुझे आज्ञा दीजिये—मैं इसी क्षण यहाँ से चली जाना चाहती हूँ।”

भीम भी आवेश में उठ कर खड़ा हो गया—“मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ, द्रौपदी!—धर्मराज, क्षमा करेंगे। इस तरह का अपमान सहना मेरे लिए भी अब असम्भव ही है।”

अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति में चुपचाप खड़ा रहा। वह किसी भी निर्णय पर पहुँचने में अपने को असमर्थ पा रहा था। मन में उठने वाले विचार उसे भीम तथा द्रौपदी का साथ देने को कह रहे थे, पर धर्मराज की इस प्रकार अवहेलना करना उसके अन्तःकरण को मान्य नहीं था।

धर्मराज की मुखमुद्रा शान्त और स्थिर थी। निर्णयात्मक स्वर में उन्होंने आज्ञा दी—“जब तक पाण्डवों का प्रमुख मैं हूँ, तब तक तुम सबको मेरे आदेशों का पालन करना होगा। चुपचाप अपने-अपने शिविर में जाकर विश्राम करो। राज्यतिलक करने के लिए जो ग्रामीण आ रहे हैं, पहले उन्हें आ लेने दो। फिर सहदेव तुम्हें बतलायेगा कि, तुम लोगों को कौन-कौन से काम करने होंगे। मैं जानता हूँ, तुम लोग मेरे विचारों से सहमत नहीं हो, लेकिन मैं चाहता हूँ कि, कम से कम ६ महीने तक तुम मेरी कार्य-प्रणाली के अन्तर्गत कार्य करके देख लो। इस अवधि की समाप्ति के बाद भी अगर तुम्हारे विचारों में कोई अन्तर नहीं आया, तो तुम अपने विचारों को कार्य-रूप देने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र होगे।” धर्मराज की वाणी में जैसे स्वयं उनका आत्मविश्वास बोल रहा था।

धर्मराज की जय का नारा लगाते हुए प्रसन्न-वदन ग्रामीणों का झुण्ड अब तक वहाँ आ पहुँचा था। पाँचों पाण्डवों को पुष्प-हार पहनाते हुए एक स्वर से उन्होंने निवेदन किया—“श्रद्धा एवं प्रेम की भेंट के सिवा हमारे पास और कुछ भी नहीं है। हम लोग निर्धन और अज्ञानी हैं, फिर भी इतना विश्वास रखिए कि, आपका हर वाक्य हम लोगों के लिए साक्षात् परमात्मा का वाक्य होगा।”

ग्रामीणों के इस निश्छल स्नेह और सीधे-सादे व्यवहार से धर्मराज गद्गद हो गये। भावना के आवेग को दबाते हुए उन्होंने बड़ी आत्मीयता के स्वर में गाँववासियों से कहा—“सिर्फ घन-दीलत से ही कोई मनुष्य बड़ा नहीं बन जाता। प्राणिमात्र से प्रेम करने की भावना ही महानता का सही माप है। तुम लोगों की इस भेंट के आगे मैं विश्व की किसी भी बहुमूल्य वस्तु को तुच्छ मानता हूँ। हाँ, यह भी भली-भाँति समझ लो कि, तुम लोगों पर शासन करना या तुमसे अपने आदेशों का पालन करवाना हमारा ध्येय नहीं है। हमें तो तुम्हारे सहयोग की आवश्यकता है और इसीलिए मैं तुमसे अनुरोध करूँगा कि, हमारी सेवाओं को तुम हमेशा स्नेह एवं सद्भावना के साथ ही ग्रहण करना।”

भोले-भाले ग्रामीण सन्तुष्ट होकर लौट गये। अब तक चुपचाप सारी कार्रवाई देखते रहने के बाद लौटते हुए ग्रामीणों पर दृष्टि डाल श्रीकृष्ण ने पहली बार अपना मौन भंग किया—“धर्मराज! दुर्योधन के इस निर्णय से क्या आप सचमुच सन्तुष्ट हैं?—”

श्रीकृष्ण के इस प्रश्न से युधिष्ठिर का प्रफुल्ल मुख-मण्डल कुम्हला गया। बड़े ही व्यथित स्वर में उन्होंने उत्तर दिया—“कृष्ण! क्या तुम्हें भी इसमें सन्देह है। आज सुबह से मैं यही सोच रहा था कि, यदि दुर्योधन ने हमें पाँच गाँव देने से भी इनकार कर दिया, तो क्या होगा?—वह एक स्वप्न था या क्या, यह तो मैं नहीं कह सकता। लेकिन मेरे मन की आँखों के सामने एक चीज बिल्कुल स्पष्ट हो गयी थी—मैं पाण्डवों और कौरवों का भविष्य साफ-साफ देख रहा था। जानते हो, मैंने क्या देखा?” युधिष्ठिर क्षण भर के लिए काँप-से गये—“बड़ा ही भयानक स्वप्न था वह। मैंने देखा—कौरवों और पाण्डवों के बीच एक भयानक युद्ध छिड़ गया है। १८ दिनों तक घनघोर लड़ाई चलती रहती है। सभी ओर विनाश और विध्वंस का दृश्य उपस्थित हो जाता है और युद्ध के अन्त में द्रौपदी सहित हम पाँचों भाइयों को छोड़ कर दोनों दलों में और कोई जीवित नहीं बचता। उस समय हमें ऐसा अनुभव होता है कि, युद्ध में वीरगति प्राप्त करने वालों की अपेक्षा हम कई गुना अधिक अभाग्य हैं। परिणामतः अपने बन्धु-बान्धवों के खून की नदी बहा कर प्राप्त किये गये इस राज्य से हमें घृणा हो जाती है और

तीव्र आत्मसन्ताप एवं पश्चात्ताप की अग्नि में दग्ध होकर हम हिमालय की ओर निकल पड़ते हैं—सुख और शान्ति की खोज में।—स्वप्न तो किसी व्यवधानवश भंग हो गया, मगर तब से लेकर अब तक मैं चिन्ता के अथाह सागर में ही गोते खा रहा था। वास्तव में, मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि, दुर्योधन ने हमारी माँग स्वीकार कर इस चिन्ताजाल से हमें मुक्ति दे दी है।”

धर्मराज की बात सुन कर श्रीकृष्ण मुस्करा पड़े—
“आपका मस्तिष्क सचमुच ही बड़े आश्चर्यजनक ढंग से काम करता है।”

× × ×

हस्तिनापुर के राजभवन में अश्वत्थामा की प्रतीक्षा में बैठे हुए दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन और शकुनी पाण्डवों के साथ हुए शान्ति-समझौते के ऊपर विचार-विनिमय कर रहे थे। समझौते का यह तीसरा दिन था और पाण्डवों की सही-सही स्थिति का पता लगाने के लिए उन्होंने अश्वत्थामा को भेजा था। इस बात को जानने को उन्हें बड़ी तीव्र उत्कण्ठा थी कि, पाण्डवों पर कैसी बीत रही है और इसी से प्रतीक्षा का एक-एक पल उन्हें असह्य प्रतीत हो रहा था।

निश्चित समय पर, दिन ढलने के लगभग, अश्वत्थामा लौट आया। अब तक की प्रतीक्षा ने दुर्योधन को काफी अधीर कर दिया था। झुंझलाये स्वर में उसने प्रश्न किया—
“पाण्डवों के पाँच गाँवों तक जाकर आने में तुम्हें इतना अधिक समय कैसे लग गया? इतनी देर में तो वहाँ के कई फेरे लगा कर लौट आया जा सकता है।”

“आपका कथन सत्य है, श्रीमान्!” अश्वत्थामा ने भी कुछ व्यंग्य से कहा—“लेकिन मेरे साथ वहाँ तक पहुँच कर उलटे पैरों लौट आने का ही काम तो नहीं था। पाण्डवों के यहाँ जो नयी और आश्चर्यजनक बातें मुझे देखने को मिलीं, उनके कारण थोड़ी-बहुत देर हो जाना स्वाभाविक ही है।”

क्रुद्ध दुर्योधन लज्जित होने के स्थान पर कोई कड़ा-सा जवाब देना ही चाहता था, कि कर्ण ने परिस्थिति से माल ली—“पहले आराम से तो बैठ जाओ अश्वत्थामा, और फिर बताओ कि, तुमने वहाँ क्या-क्या देखा। जरा हमें भी तो मालूम हो कि, कौन-सी बातों ने तुम्हें आश्चर्य में डाल दिया।”

कर्ण के प्रश्न का उत्तर देते हुए अश्वत्थामा ने बताया—

“पाण्डवों के यहाँ जाकर सबसे पहले तो मेरी भेंट सहदेव से हुई। वह अपने काम में अत्यधिक व्यस्त था। यहाँ तक कि, मुझसे बातें करने का भी उसे अवकाश नहीं था। वह किसानों को खेती करने, हल चलाने, बीज बोने, पेड़-पौधों की कलमें लगाने आदि के सम्बन्ध में कुछ नयी बातें बता रहा था।—मुझे यह सब कुछ बड़ा अद्भुत लगा और मैं यह जानने को उत्सुक हो उठा कि, कृषि के सम्बन्ध में सहदेव ने इतना ज्ञान कहाँ से प्राप्त कर लिया? सहदेव से इस सम्बन्ध में मैंने प्रश्न भी किया और जवाब में जो कुछ उसने मुझे बताया, उसे सुन कर मैं पाण्डवों की बुद्धिमत्ता का कायल हो गया। उसने कहा—‘क्या तुम समझते हो कि वनवास के बारह साल हमने अकर्मण्य बन कर ही बिताये?’

पाण्डवों की यह प्रशंसा शकुनी को भली नहीं लगी। वह अश्वत्थामा पर क्रुद्ध होकर बरसना ही चाहता था कि, दुर्योधन के इशारे ने उसे खून के घूँट पीकर चुप रह जाने को विवश कर दिया।

“सहदेव के बाद फिर मैं अर्जुन से मिला”—अश्वत्थामा की बातों का क्रम उसी प्रकार जारी था—“गृह-उद्योगों का काम अर्जुन के जिम्मे है। पाँचों गाँवों के लुहारों और और सुतारों को एकत्रित करके वह उन सबके औजारों की परीक्षा कर रहा था। मुझे देखकर उसके चेहरे पर एक मुस्कराहट-सी दौड़ गयी।”

दुर्योधन की उत्सुकता निरन्तर बढ़ती चली जा रही थी। अश्वत्थामा के आगे कहने की प्रतीक्षा किये बिना वह पूछ बैठा—“और, भीम क्या कर रहा था?”

दुर्योधन की अधीरता पर अश्वत्थामा को हँसी आ गयी। लेकिन उसे रोकते हुए उसने पूर्ववत् गम्भीरता से कहा—“भीम फावड़े और कुदाल लेकर तालाब खोदने में लगा हुआ था। उसके ही समान मोटे-ताजे आदमियों की एक पूरी फौज उसका साथ दे रही थी। आपके राजमहल में कमल के फूलों वाला जो तालाब है, उससे बड़े तालाब प्रत्येक गाँव में तैयार करने का उसने प्रण किया है।”

“और द्रौपदी? वह क्या कर रही है?” दुःशासन ने प्रश्न किया।

दुःशासन के उक्त प्रश्न पर अश्वत्थामा की गम्भीरता और बढ़ गयी—“सच पूछो, तो सबसे अधिक कठिन कार्य द्रौपदी को ही सौंपा गया है। गाँव के सभी निराश्रित और

अनाथ बच्चों को एकत्र कर उसे एक अनाथालय का संचालन करना है। उन बच्चों की ठीक ढंग से देख-भाल कर उन्हें शिक्षित बनाने का कार्य उसके जिम्मे है। जब मैं द्रौपदी से मिला, तो वह प्रस्तावित अनाथालय के मकान को साफ करने में जुटी हुई थी।”

“नकुल के बारे में तो तुम्हें कुछ कहने की जरूरत नहीं है”—शकुनी ने बीच में ही कहा—“उसे तो हमेशा से पशुपालन का शौक रहा है। अवश्य ही वह तुम्हें जंगल में किसी जगह गाय-भैंस चराते हुए मिला होगा।”

“हां।” अश्वत्थामा ने भी हँसते हुए उत्तर दिया—“लेकिन आप सबको यह सुन कर आश्चर्य होगा कि, नकुल ने अपना काम बड़ी खूबी के साथ आरम्भ किया है। सबसे पहले उसने पाँचों गाँवों के दुर्बल, अपंग और रोगी पशुओं को इकट्ठा करके उन्हें पड़ोस के अन्य गाँववालों को दे दिया। बदले में उसे यद्यपि कम ही पशु मिले, पर वे स्वस्थ और बलिष्ठ थे। जिन लोगों से उसे दुर्बल, अपंग अथवा बीमार पशु प्राप्त हुए थे, उन्हें उसने स्वयं अपनी ओर से कुछ-न-कुछ हर्जाना देने का प्रयत्न कर लिया है। गाँव वाले उसकी इस व्यवस्था से पूर्णतया सन्तुष्ट प्रतीत हो रहे हैं।”

“धर्मराज क्या कर रहे हैं?” इस बार दुर्योधन ने कहा—“मैं समझता हूँ कि, वे अब आराम से अपने धार्मिक कृत्यों में लगे होंगे।”

“सिर्फ इतना ही नहीं”—अश्वत्थामा ने उत्तर दिया—“उन्होंने अब गाँव में बच्चों की एक पाठशाला भी खोल दी है और वे स्वयं उन्हें अक्षर-ज्ञान करा रहे हैं।”

अश्वत्थामा की सारी बातें सुन कर कर्ण ने सन्तोष की साँस ली—“चलो यह भी अच्छा ही हुआ कि, वे लोग अपने-अपने कामों में लग गये हैं और कौरवों तथा पाण्डवों के बीच युद्ध की कोई आशंका नहीं रह गयी है। अब निश्चित होकर हम लोग भी शान्ति के साथ अपने राज-काज में लग सकते हैं।”

लेकिन कर्ण की उक्त टिप्पणी से अश्वत्थामा का चेहरा तमतमा उठा। गम्भीर गर्जन के स्वर में सहसा वह चिल्ला उठा—“तुम सब लोग मूर्ख हो। पाण्डवों के यहाँ से मैं जो सूचना लेकर आया हूँ, उसके असली महत्व को समझने में तुम सभी असमर्थ रहे। क्या इतनी भी बात तुम लोगों के मस्तिष्क में नहीं समा रही है कि, धर्मराज ने एक नये युग का आरम्भ किया है? उनके इस नये प्रजातन्त्रात्मक

अभियान के सामने तुम्हारी साम्राज्य सत्ता का महत्व ही क्या रह जाता है—मैंने भी अब उनका साथ देने का निश्चय कर लिया है और बच्चों के स्कूल में उनका सहकारी बन कर काम करने के लिए तत्काल ही मैं वहाँ जा भी रहा हूँ।”

अपनी बात समाप्त करने के साथ ही अश्वत्थामा वहाँ से उठकर चल पड़ा। अवाक् दुर्योधन आश्चर्य से आँखें फाड़े इस अप्रत्याशित घटना को देखता ही रह गया—।

छह महीने बाद।

अपना दिन भर का कार्य समाप्त करके पाँचों पाण्डव द्रौपदी के साथ एक पेड़ के तले बैठे हुए थे। धर्मराज का मुखमण्डल किसी नवीन प्रकाश से आलोकित हो रहा था। कुछ क्षणों के लिए अपनी दोनों आँखें बन्द करके वह कुछ सोचने लगे और फिर सहसा वातावरण का मीन भंग करते हुए बोले—“मेरा जीवन अब समाप्ति के निकट आ रहा है। तुम लोगों ने अब तक मेरे सभी आदेशों का अक्षरशः पालन किया है। मेरे द्वारा दी गयी छह महीने की अवधि भी अब बीत गयी। अतः तुम अब जो-कुछ भी कहना चाहो, वह पूरी स्वतन्त्रता के साथ कह सकते हो। द्रौपदी! सबसे पहले तुम्हीं अपने विचार व्यक्त करो। क्या हमने कौरवों से सिर्फ पाँच गाँव लेना स्वीकार करके कोई भूल की है?—”

द्रौपदी के चेहरे पर लज्जा की लालिमा दौड़ गयी। बड़े धीरे-से वह बोली—“आप हमेशा मेरी परीक्षा ही क्यों लेते रहना चाहते हैं? परिस्थितियों को समझने में आरम्भ में मैंने अवश्य भूल की थी, लेकिन क्या अपने कार्यों से मैंने अपनी इस भूल का प्रायश्चित्त नहीं कर लिया है?”

धर्मराज अब भीम की ओर मुड़े—“भीम! तुम क्या कहते हो?” भीम ने भी शर्म से गर्दन झुका ली। नम्रता के साथ वह बोला—“कृपया मेरी मूर्खता को क्षमा कीजिए। हमारे पास राजसिंहासन न हुआ, तो क्या हुआ। यहाँ के सभी लोगों के हृदय-साम्राज्य को तो हमने जीत ही लिया है।”

धर्मराज ने फिर किसी से कुछ नहीं पूछा। मुस्कराते हुए स्नेह-स्निग्ध स्वर में स्वयं बोले—“मैं देखता हूँ कि, मेरा काम पूरा हो चुका है। अतः यहाँ मेरी अब कोई आवश्यकता नहीं। मेरे बाद अर्जुन तुम्हारा नेतृत्व करेगा। मैं अपने जीवन के बाकी दिन हिमालय के जंगलों में बिताना चाहता हूँ—इन सांसारिक बन्धनों से अब तुम लोग मुझे मुक्ति दो।”

लेकिन धर्मराज को इस बात का सभी ने एक स्वर से प्रतिकार किया—“नहीं। हम आपको अभी नहीं जाने देंगे। कुछ वर्षों तक अभी आपको हम लोगों के बीच और रहना ही होगा। अपनी कृपा से इतना शीघ्र हमें वंचित न कीजिए।”

धर्मराज को कुछ कहने का अवसर न मिल सका, क्योंकि रथ पर सवार श्रीकृष्ण भीष्म, दुर्योधन और कर्ण के साथ उसी क्षण वहाँ आते दिखाई दिये।

बड़े भीष्म पितामह के रथ से नीचे उतरते ही पाँचों पाण्डवों ने श्रद्धापूर्वक उनका चरण-स्पर्श किया। भीष्म ने उन्हें स्नेह से गले लगा लिया और फिर युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए बोले—“युधिष्ठिर! मेरे जीवन का उद्देश्य आज पूरा हुआ। दुर्योधन ने अपनी भूल मान ली है। उसने यह अच्छी तरह समझ लिया कि धर्म को कोई पराजित नहीं कर सकता। और, इसी से उसकी इच्छा है कि भारत के सम्राट् के रूप में वह तुम्हारा सादर राज्याभिषेक करे। स्वयं भी वह अब तुम्हारे आदेशानुसार ही कार्य करना चाहता है। क्यों, दुर्योधन !”

धीमे, किन्तु गम्भीर स्वर में दुर्योधन ने स्वीकार किया—“अब मुझे अधिक लज्जित न कीजिए। अपनी इस पराजय पर भी जो हर्ष मुझे हो रहा है, उसके बीच मेरे पिछले कृत्यों का स्मरण न दिलाइए।—हाँ, मैं आज वस्तुतः बहुत प्रसन्न हूँ। यदि अर्जुन के गाण्डीव अथवा भीम की गदा के आगे मैं पराजित होता, तो अवश्य ही मुझे इसका दुःख और पश्चात्ताप होता, किन्तु धर्मराज ! आपके महान्

व्यक्तित्व के आगे झुकने में मुझे आज किसी भी तरह की लज्जा या रत्नानि का अनुभव नहीं हो रहा है।”

धर्मराज ने आगे बढ़कर दुर्योधन को बाहुओं में भर लिया। हर्ष के आवेग पर बड़ी कठिनाई से विजय पाते हुए उन्होंने स्नेह-गद्गद स्वर में कहा—“दुर्योधन ! तुमने मेरे सुख को आज आनन्द की परम सीमा तक पहुँचा दिया है। लेकिन ऐसा कभी मत सोचना कि, मेरी आत्मा की शक्ति ने ही तुम्हें जीता है। हमारी सारी विद्वत्ता का मूल स्रोत तो पितामह भीष्म हैं और तुम्हारी सबसे बड़ी भूल यही थी कि, तुमने इनके मार्गदर्शन पर कभी ध्यान नहीं दिया—।”

धर्मराज थोड़ी देर के लिए रुके। उनकी वाणी हृदय के भावों में मानो उलझ गयी थी। कुछ स्वस्थ-से होकर वे फिर कहने लगे—“अपने शेष जीवन को भगवद्भक्ति में बिताने के लिए मैं कल हिमालय के वनों में जा रहा हूँ। मेरे पश्चात् अर्जुन पाण्डवों का प्रमुख होगा। मुझे विश्वास है कि, तुम दोनों भाई अब मिल-जुल कर एकमत से ऐसे रास्ते निकालोगे, जिनसे मानव-मात्र का भला हो।”

दुर्योधन ने सिर झुका कर एक बार पुनः युधिष्ठिर के प्रति सम्मान प्रकट किया और फिर उपस्थित जनवृन्द के जयजयकार के गम्भीर घोष के साथ उसने आगे बढ़ कर अर्जुन के साथ पर हस्तिनापुर का राजमुकुट रख दिया।

“महात्मा दुर्योधन की जय ! त्यागवीर दुर्योधन की जय !” के हर्षोन्मत्त नारों से सारा अन्तरिक्ष गूँज उठा।

‘मुमुक्षु’ का यज्ञ-विशेषांक

काशी मुमुक्षु भवन सभा ने अपने मुख्य परिसर में शास्त्रोप विधि से एक यज्ञ-मण्डप का निर्माण कराया है जिसके चारों ओर चारों वेदों की मूर्तियाँ स्थापित की गयी हैं। इसके उद्घाटन के उपलक्ष्य में ‘मुमुक्षु’ का लगभग १६० पृष्ठों का एक सवित्र विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है।

जिसमें

‘यज्ञ’ की व्युत्पत्ति, परिभाषा, प्रकार, उनके दृष्ट और अदृष्ट फल तथा विधियों का विस्तारपूर्वक विवेचन होगा। ऋत्विजों, वैदिक आचार्यों तथा इस विषय में रुचि रखनेवालों के लिए यह विशेषांक विशेष रूप से संग्रहणीय होगा।

इन विषयों के अधिकारी विद्वानों के लेख तथा सुझाव सादर आमन्त्रित हैं।

— सम्पादक, ‘मुमुक्षु’

काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी-५

हमारी मूल व्याधि

—श्री अरविन्द

मेरा तो विश्वास है कि, हमारे देश के दोर्वल्य का मूल कारण न तो परतन्त्रता है, न गरीबी और न धर्म अथवा अध्यात्म का अभाव ही, बल्कि वह है विचार करने की शक्ति और एकाग्रता का ह्रास। यही कारण है कि, इस ज्ञान-गौरवान्वित भूमि में आज सर्वत्र तमिस्रा का प्रसार है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो चिन्तन अथवा विचार की क्षमता पूरी निःशेष हो गयी या उसके प्रति एक भयंकर वितृष्णा से हम आकुण्ठित हैं। मध्ययुग में भारत की अवनति का कारण जो भी रहा हो, आज तो स्पष्टतया विचार-शक्ति का क्षय ही हमें पतनोन्मुख बनाये हुए है।

मध्ययुगीन शक्तियाँ अज्ञान के तिमिर में जकड़ी हुई थीं। इसके विपरीत आज का युग ज्ञान की विजय का युग है। आज तो जो जितना विचारोन्मुख है, प्रकृति के रहस्यों को अधिकाधिक समझकर उन्हें अपनाने की कोशिश जितनी ही अधिक करता है, उसी अनुपात में वह व्यक्ति या राष्ट्र अपने भीतर शक्ति का संचय कर पाता है। आज का यूरोप इसका ज्वलन्त उदाहरण है। वहाँ दो बातें प्रमुखतया देखने में आती हैं। एक तो चिन्ता एवं विचार का असीम सागर और दूसरा शक्ति के अपरिमित प्रवाह का सुनियोजित उपयोग। इसी अदम्य सामर्थ्य द्वारा आज यूरोप सारे संसार को विजित कर रहा है। आधुनिक यूरोपवासियों को देखकर हमें प्राचीनकाल के ऋषियों की याद आ आती है, जिनके सामर्थ्य के सामने देवता भी पराजित थे। लोग कहा करें कि, यूरोप विनाश-पथ पर अग्रसर है, किन्तु मेरी तो यह धारणा है, कि आज का यूरोप एक महान् क्रान्ति की सिद्धि के मार्ग से गुजर रहा है और परिवर्तन के ये द्रुत चरण उसके द्वारा एक नवीन विश्व का सृजन कराएँगे।

अब भारत को लीजिए। यत्र-तत्र गिनतों के कुछ प्रतिभाशाली व्यक्तियों को छोड़कर शेष सर्वत्र ऐसे ही लोग मिलेंगे, जो चिन्तन या विचारों से दूर भागते हैं। जिनमें

सोचने की क्षमता ही नहीं और शक्ति के चैतन्य के बजाय, जिनमें उत्साह की एक क्षणभंगुर तरंग ही प्रायः मिलती है। आज का भारत केवल साधारण वस्तुओं एवं सामान्य विचारों से ही सन्तुष्ट प्रतीत होता है। इसके प्रतिकूल यूरोप महान् विचारों एवं महती सामग्री का आकांक्षी है। वहाँ का एक साधारण कुली भी केवल सामान्य जानकारी से सन्तुष्ट नहीं होता, बल्कि किसी भी विषय का अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहता है।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि, आज यूरोप जो भी कर रहा है, वह सर्वांशतः मुझे स्वीकार्य है। इसके विपरीत आधुनिक यूरोप-वासियों के विचार-मनन की सांघातिक सीमाओं से भी मैं भली-भाँति परिचित हूँ। वास्तव में, अध्यात्म के क्षेत्र में उनकी विचार-शक्ति बड़ी पंगु है। शुद्ध, सात्त्विक तत्त्वदर्शन के बजाय इस प्रसंग में वे ऐंद्रजालिक मोहान्विता का ही परिचय देते हैं। किन्तु उनकी प्रयत्न-शीलता यहाँ भी अपराजित है। अपनी इन सीमाओं का अतिक्रमण करने के उनके प्रयास क्षीण होने के बजाय उत्तरोत्तर बल ही पकड़ते जा रहे हैं।

हमारी आज की आध्यात्मिकता, वास्तव में, हमारे पूर्वजों की महानता के आधार पर टिकी हुई है। हमारे पूर्वजों ने विचारों के अथाह सिन्धुओं का मन्यन करके एक महान् सम्यता का निर्माण किया था। ऐसा लगता है कि शनैः-शनैः वे थकते और क्षीणप्राण होते गये। फलतः विचारों की गति भी मन्द हो गयी और उसके साथ शक्ति का भी ह्रास होता गया। इस प्रकार हमारी संस्कृति स्वाभाविक चैतन्य खोकर जड़ हो गयी और हम आध्यात्मिक के नाम पर बाह्य-प्रतीकों के उपासकमात्र रह गये। यह अवगति जबतक प्रचलित है, तबतक मुझे शंका है कि, भारत शायद ही शाश्वत उत्कर्ष के बीज को अपने भीतर अंकुरित कर पायेगा।

स्वामी करपात्री जी का कर्तृत्व और व्यक्तित्व

— पं० बलदेव उपाध्याय

ग्रन्थ-रचना

स्वामी करपात्री जी के लिखने की शक्ति भाषण की अपेक्षा कम नहीं थी। ये लेखनी के धनी थे और संस्कृत एवं हिन्दी उभय भाषाओं में ग्रन्थों का प्रणयन कर इन्होंने पण्डितों तथा जिज्ञासु जनता का महान् उपकार किया है। संस्कृत ग्रन्थ पण्डितों को लक्ष्य कर लिखे गये हैं और हिन्दी ग्रन्थ उस भाषा से अनभिज्ञ सामान्य जनता के लिए। संस्कृत ग्रन्थों के विषय वेद, तन्त्र तथा भक्ति शास्त्र हैं। संस्कृत रचनाओं में प्रमुख हैं—

(क) वेदविषयक ग्रन्थ : वेदार्थ पारिजातः (बृहत् विशाल दो खण्डों में विभक्त), वेदस्वरूप विमर्शः, वेद-प्रामाण्यमीमांसा ।

(ख) तन्त्रविषयक ग्रन्थ : श्रीविद्यारत्नाकरः ।

(ग) भक्तिविषयक ग्रन्थ : भक्तिरसार्णवः ।

वेदार्थ पारिजात

स्वामी करपात्री जी इधर नवीन शैली से वेदों की व्याख्या करने में संलग्न थे। स्वामी करपात्री जी ने 'आध्यात्मिक शैली' को महत्त्व प्रदान कर इसी का पूर्णतः उपयोग अपने वेद के भाष्य में किया है। शुक्ल यजुर्वेद संहिता के चालीसों अध्यायों का इन्होंने विस्तृत भाष्य लिखा है जो अभी ग्रन्थरूप में है। वेदों के सम्बन्ध में स्वामी जी की वेदभाष्य भूमिका विस्तृत दो खण्डों में प्रकाशित हो चुकी है जिसमें हिन्दी पाठकों को ध्यान में रख कर संस्कृत के साथ ही उसका हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। वेदार्थ पारिजात नामक ग्रन्थ दो हजार पृष्ठों में है जो इनके वेद-भाष्य की भूमिका मात्र है। सनातनी परम्परा के पोषक तथा प्रचारक होने के कारण स्वामी जी मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को श्रुति मानते हैं। वेद अपौरुषेय



हैं। ऋषिगण मन्त्रों के द्रष्टा हैं, कर्ता नहीं। इसी प्रकार के अन्य सिद्धान्तों की पुष्टि तर्क तथा युक्ति के सहारे की गयी है और इन सिद्धान्तों का विरोध करने वाले व्यक्तियों के मतों का खण्डन इन्होंने बड़े विस्तार तथा वैशद्य से किया है।

(२) वेदस्वरूप विमर्शः—स्वामी करपात्री जी ने वेद के विशुद्ध स्वरूप का परिचय देने के लिए तथा परम्परागत वेद-प्रामाण्य की मीमांसा के लिए इस महनीय ग्रन्थ का निर्माण किया है। तर्क-वितर्क वाली शास्त्रीय पद्धति में निबद्ध होने वाला यह ग्रन्थ बड़े विस्तार के साथ वैदिक तत्त्वों का उन्मीलन करता है। इस ग्रन्थ में चार अध्याय या विमर्श हैं :— (१) वेदस्वरूप विमर्शः, (२) वेदप्रामाण्य विमर्शः, (३) वेद-अपौरुषेय-विमर्शः और (४) ब्राह्मणानां वेदत्वविमर्शः। प्रथम विमर्श में वेद शब्द की निरुक्ति, वेद की अनन्तता, यज्ञ मीमांसा आदि विषयों का विवेचन कर वेद में विज्ञान और इतिहास का अन्वेषण करने वाले विद्वानों के मत का खण्डन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। द्वितीय विमर्श में वेद के नित्यत्व तथा स्वतःप्रमाण होने के सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। भगवान् बुद्ध की सर्वज्ञता का खण्डन कर अन्त में वेदाध्ययन के अधिकारी का निरूपण किया गया है।

१. यह ग्रन्थ राधाकृष्ण प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता से १९८० ई० में प्रकाशित है।

२. वेदस्वरूप विमर्श : करपात्री जी, भक्तिसुधा साहित्य-परिषद्, कलकत्ता, सं० २०२६ वि० (१९६९ ई०)

तृतीय विमर्श में वेद के अपौरुषेयत्व के सम्बन्ध में गम्भीर विचार किया गया है। इस अध्याय के अन्त में वैयाकरणों के वेद-विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़ी विद्वत्ता के साथ सम्पन्न हुआ है। चतुर्थ विमर्श में यह बड़े ऊहापोह के साथ दिखलाया गया है कि वेदों का ब्राह्मण (ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्) का भाग भी श्रुति का अविभाज्य अंग है। यह ग्रन्थ ४५० अध्यायों में निमित्त है। वेदों के सम्बन्ध में यावत् ज्ञातव्य विषयों का एकत्र संकलन इस ग्रन्थ में मौलिक रूप में पाया जाता है।

(२) वेद प्रामाण्य मीमांसा—इस ग्रन्थ के द्वितीय विमर्श के वर्ण्य विषयों की सामग्री कुछ अधिक विस्तार के साथ 'वेद प्रामाण्य मीमांसा' नामक छोटी-सी पुस्तिका में वर्णित है।

श्रीविद्यारत्नाकरः

करपात्री जी महाराज के तन्त्रशास्त्र-विषयक प्रगाढ़ वैदुष्य का परिचायक यह 'श्रीविद्यारत्नाकरः' संस्कृत ग्रन्थ अनेक दिशाओं में अपना प्रामुख्य धारण करता है। इसके अनुशीलन से प्रतीत होता है कि ये तन्त्र की आनुष्ठानिक विधियों के, व्यावहारिक कार्यकलापों के तथा तान्त्रिक-पूजा-अर्चा के सूक्ष्मतत्त्वों के गम्भीर विद्वान् थे। यह ग्रन्थ तन्त्रशास्त्र के प्राचीन महनीय ग्रन्थ जैसे कुलार्णव, तन्त्र-राज, कलसूत्र, श्रीविद्यार्णव, त्रिपुरारहस्य एवं नित्योत्सव आदि को मुख्य आधार मान कर तत्तत् विषयों का पुंखानु-पुंख विवरण प्रस्तुत करता है। आरम्भ में दीक्षाक्रम का वर्णन है। तदनन्तर 'महागणपतिक्रम-पुरश्चरण विधि गणेशसहस्र नामावलि आदि के विवरण के साथ प्रति-पादित की गयी है। श्रीक्रम के विविध अनुष्ठान विस्तार से व्याख्यात हैं (पृ० ७५-२३४), तदनन्तर श्यामाक्रम (पृ० २३५-२६०), दण्डनीक्रम, वाराहीक्रम (पृ० २६१-२७५) तथा परापद्धति का प्रतिपादन है। अन्त में परि-शिष्ट (पृ० २८२-४७०) के भीतर श्रीविद्यामन्त्रभाष्य, वांछाकल्पलता के पश्चात् पूर्णाभिषेक का वर्णन बड़े विस्तार एवं वैशद्य के साथ दिया गया है। श्रीविद्या के सर्वस्वभूत पद आम्नायों से सम्बद्ध मन्त्रों का भी सुन्दर वर्णन है। ग्रन्थ के अन्त में आदि शंकराचार्य द्वारा प्रणीत प्रख्यात-स्तोत्र सोन्दर्यलहरी, त्रिपुरसुन्दरी मानसपूजा स्तोत्र, बाला-

त्रिपुरामुन्दरी मानसपूजा स्तोत्र भी दिये गये हैं। अनन्तर महायागक्रम में प्रयोगविधि संकेत भावनोपनिषद् दिया गया है। वर्ण्य विषयों की इस संक्षिप्त सूची से ही ग्रन्थ के विस्तार, गम्भीर तान्त्रिक विवेचन तथा विशिष्ट विषय-विन्यास का जिज्ञासु पाठकों को संकेत मिल जाता है। ग्रन्थ की उपादेयता तथा अत्रुर्वता नितान्त स्पृहणीय है (प्र० भक्तिमुषा साहित्य परिषद्, कलकत्ता, २०२९ वि० सं०)।

(४) भक्तिरसाण्व—इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य भक्ति रस का विस्तृत तथा गम्भीर विवेचन है। इस ग्रन्थ-रत्न में भक्ति रस के स्वरूप का विवेचन शास्त्रीय पद्धति से किया गया है। यह मधुसूदन सरस्वती के भक्ति-रसायन की शैली में ही निबद्ध है परन्तु उससे अनेक बातों में अपनी विलक्षणता रखता है। संस्कृत की शास्त्रीय पद्धति में निबद्ध होने पर भी उदाहरण की प्रचुरता के कारण यह ग्रन्थ सरल और सुबोध है।

हिन्दी रचनाएँ

हिन्दी में इनकी रचनाएँ बहुत हैं और प्रमेय-बहुल हैं। उनके प्रधान ग्रन्थ इस प्रकार हैं : (१) विचार-पीयूष, (२) रामायण मीमांसा, (३) भक्तिमुषा, (४) श्रीभागवत तत्त्व, (५) रामराज्य और मार्क्सवाद, (६) राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और हिन्दू धर्म। यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय ही ग्रन्थ की उपादेयता तथा प्रामाणिकता को प्रद-क्षित करने के लिए पर्याप्त होगा।

विचारपीयूष

यह ग्रन्थ करपात्री जी द्वारा रचित पुस्तकों में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ के दो विभाग हैं : (१) भारतीय राजनीति, और (२) आधुनिक वाद। प्रथम विभाग में स्वामी जी ने वेद, शास्त्र, काव्य, इतिहास और पुराणों में वर्णित राजनीति का सम्यक् विवेचन किया है। महाभारत इतिहास का ग्रन्थ होने के अतिरिक्त राजनीति का अगाध भण्डार है। इसके शान्ति पर्व में राजनीति का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। स्वामी जी ने महाभारत में उपलब्ध भारतीय राजनीति के विभिन्न तत्त्वों का उद्घाटन बड़ी ही विद्वत्ता से किया है। इसके साथ ही भारतीय नीतिकारों तथा संस्कृत के कवियों—विशेषकर

१. धर्मसंघ शिक्षा मण्डल, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी से प्रकाशित, सं० २०१७ वि०।

भारवि और माघ—ने कूटनीति का जो विवरण अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है उसका वर्णन स्वामी जी ने सरल रीति से हिन्दी पाठकों के लिए किया है। इस विभाग में इन्होंने छह विषयों का मूल उद्धरणों के साथ विवेचन किया है।

दूसरा विभाग 'आधुनिक वाद' है जिसमें विभिन्न प्रकार के ग्यारह विषयों (टापिक) पर विचार प्रकट किया गया है। स्वामी जी के द्वारा विचारणीय विषयों की सीमा बड़ी विस्तृत है। इन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता से लेकर वैयक्तिक सम्पत्ति, मार्क्सवाद, जनतन्त्र, धर्म-सापेक्षता और कौटिलीय अर्थशास्त्र तक को भी अपने विचारों का विषय बनाया है। इन्होंने गुरु गोलवलकर जी की पुस्तक 'विचार-नवनीत' में संकलित विचारों का खण्डन किया है। स्वामी करपात्री जी की धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक विचार-धारा से भले ही कोई सहमत न हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थ की रचना से इनकी राजनीतिक विद्वत्ता का पदे-पदे पता चलता है।

रामायण भीमांसा

स्वामी करपात्री जी द्वारा रचित यह विशालकाय ग्रन्थ रायल साइज के १११४ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इस ग्रन्थ में करपात्री जी ने कामिल बुल्के द्वारा लिखित 'रामकथा' के आक्षेपों का उत्तर दिया है। इसके साथ ही रामकथा से सम्बन्धित जो उपलब्ध सामग्री है उसका एकत्र संकलन किया गया है। इस मोटी-सी पुस्तक में कुल मिलाकर २२ (बाईस) अध्याय हैं। स्वामी जी ने रामकथा की परम्परा तथा इस कथा के विभिन्न पात्रों के चरित्र के विकास का वर्णन बड़ी ही विद्वत्ता से किया है। रामायण के विभिन्न काण्डों की कथा का प्रामाणिक तथा शास्त्रीय विवरण स्वामी जी के द्वारा प्रस्तुत है। परन्तु सबसे अधिक आश्चर्यजनक विषय है स्वामी जी के द्वारा भारतीय भाषाओं में रामकथा-साहित्य का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन। करपात्री जी ने हिन्दी, बंगला, उड़िया, असमिया, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में उपलब्ध रामकथा-सम्बन्धी ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् दक्षिण भारतीय भाषाओं—तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम में उपलब्ध भगवान् राम के चरित्र-सम्बन्धी काव्यों का सांगोपांग विवेचन किया है। किम्बहुना,

उर्दू साहित्य में रामकथा को लेकर जो काव्य लिखे गये हैं उनका भी वर्णन यहाँ पाया जाता है। राम की कथा का प्रचार तथा प्रसार प्राचीन काल में भारत के बाहर दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा तिब्बत, चीन और लंका में भी पाया जाता है। इस विषय के सम्बन्ध में पुस्तकों का अभाव है। परन्तु करपात्री जी ने अपनी अलौकिक विद्वत्ता से तिब्बत, खोतान, हिन्देशिया, मलाया, जावा, हिन्दचीन, श्याम, बर्मा आदि देशों में प्रचलित रामकथा का बड़ा ही प्रामाणिक तथा विशद वर्णन किया है। इससे स्वामी जी के अगाध पाण्डित्य का पता चलता है।

दूसरी बात जो भारतीय विद्वानों को स्वामी जी के गम्भीर अध्ययन की सूचना देती है वह है रामायण और महाभारत का काल-निर्णय। भारतीय इतिहास के इन महाकाव्य ग्रन्थों के समय-निर्धारण के सम्बन्ध में यूरोपीय विद्वानों—जैसे मैक्समूलर, मैक्डानल, कीथ, बेवर, व्यूलर आदि ने जो विवेचन किया है उसे पूर्वपक्ष मानकर स्वामी जी ने उनके मतों का बड़ी ही गम्भीरता के साथ खण्डन किया है। इतना ही नहीं प्रिंसेप, एलेन, मार्शल स्मिथ तथा कनिंघम आदि विदेशी विद्वानों ने भारतीय इतिहास तथा अशोक के शिलालेखों के सम्बन्ध में जो मत व्यक्त किया है स्वामी जी ने उसकी भी खरी आलोचना की है। पश्चिमी तथा भारतीय विद्वानों के मत से रामायण तथा महाभारत की रचना बुद्ध के पश्चात् और ईसा के पहिले दूसरी या तीसरी शती में हुई थी। परन्तु स्वामी जी ने इसकी रचना ईसा से हजारों वर्ष पूर्व में सिद्ध करने का प्रयास किया है। यह दूसरी बात है कि करपात्री जी के तर्कों तथा उनको स्थापनाओं से भले ही कोई देशी या विदेशी विद्वान् सहमत न हो, परन्तु जिस विद्वत्ता के साथ स्वामी जी ने इन तर्कों को प्रस्तुत किया है उसकी प्रशंसा किये बिना कोई नहीं रह सकता। कहीं वेदान्त का ज्ञान और कहीं भारतीय पुरातत्त्व तथा अभिलेख शास्त्र का अध्ययन। परन्तु स्वामी जी के व्यक्तित्व में इन दोनों ही—प्राचीन तथा नवीन—विद्याओं का मनोहर समन्वय पाया जाता है।

भक्तिमुधा

स्वामी जी के भागवत-विषयक ग्रन्थों में यह ग्रन्थ निःसन्देह मुकुटमणि है। इसका प्रथम संस्करण तीन खण्डों

में विभिन्न समयों में प्रकाशित हुआ था। नवीन द्वितीय संस्करण उसी का एक ही खण्ड में परिष्कृत एवं परिवृंहित स्वरूप प्रस्तुत करता है। लगभग एक सहस्र पृष्ठों में समाप्त यह विपुलकाय ग्रन्थ परिमाणतः ही विपुल एवं अभिराम नहीं है, प्रत्युत गुणतः भी कमनीय एवं रमणीय है। स्वामी जी का यह मौलिक ग्रन्थ निःसन्देह उनकी तपःपूत लेखनी का अद्भुत चमत्कार है। इसके दो-तिहाई भाग में (लगभग सात सौ पृष्ठों में) व्रजनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की वृन्दावन लीला के ही नानारूपों का सांगोपांग विवेचन रसिकों के लिए चिन्तन एवं मनन की विपुल नूतन सामग्री प्रस्तुत करता है। वेणुगीत, चौरहरण, रासलीला एवं रासपंचाध्यायी का गम्भीर विवेचन रोचक शैली में निबद्ध होकर अपने पूर्ण वैभव के साथ यहाँ प्रस्तुत किया गया है। श्रीमद्भागवत के प्रचुर श्लोकों की गम्भीर एवं नवीन व्याख्या स्वामी जी की अलौकिक प्रतिभा का प्रसाद उपस्थित करती है। केवल यह एक ही ग्रन्थ करपात्री जी की अलौकिक कल्पना, विशद व्याख्यान-शैली एवं नवीन आध्यात्मिक तथ्यों की विवेचना का द्योतक ग्रन्थ-रत्न माना जा सकता है।

भगवत तत्त्व

यह भी करपात्री जी के द्वारा लिखित, विशिष्ट महत्त्वपूर्ण निबन्धों का संग्रह है।

माक्सवाद और रामराज्य

इसमें पाश्चात्य राजनीति और भारतीय राजनीति का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत कर कार्ल माक्स के सिद्धान्तों की अनुपयोगिता सिद्ध की गयी है।

स्वामी जी के इतर हिन्दी ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

(१) वर्णाश्रम धर्म और संकीर्तन मीमांसा, (२) वेद का स्वरूप और प्रामाण्य, (३) अहमर्थ और परमार्थ-सार, (४) संघर्ष और शान्ति, (५) राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और हिन्दू धर्म, (६) विदेश यात्रा का शास्त्रीय पक्ष और (७) पूँजीवाद, समाजवाद एवं रामराज्य।

करपात्री जी का व्यक्तित्व

स्वामी करपात्री जी महाराज का व्यक्तित्व अलौकिक था जिसमें दृढ़ कर्मठता का, दीर्घ तपस्या के बल से उपाजित विशुद्ध ज्ञान का तथा सात्त्विक हृदय में उद्वेलित परमानन्द

से आप्लुत भक्ति का मधुमय सामंजस्य सद्यः प्रस्फुटित होता था। जिस किसी विषय के विश्लेषण में उनकी शोभणी संलग्न होती है, वह विषय गम्भीर से गम्भीर, कठिन से कठिन होने पर भी श्रोताओं तथा पाठकों के हृदय में अत्यन्त सरलता से उपस्थित हो जाता है। उनकी वाणी तथा लेखनी दोनों ही धार्मिक जनता को आकृष्ट करने की अद्भुत क्षमता रखती हैं। उनकी मधुर वाणी का चमत्कार उनके अद्भुत भाषणों में दृष्टिगोचर होता है तो उनकी प्रौढ़ लेखनी का प्रभाव उनके प्रमेयबहुल ग्रन्थों में भूरिशः अनुभवगम्य बनता है। इस तथ्य को दृष्टान्तों के सहारे बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

स्वामी जी के भाषणों एवं ग्रन्थों—दोनों की एक मधुर दिशा है। इन्हें सुनकर तथा पढ़कर व्यक्ति के हृदय में तत्तद् विषयों के प्रति किसी प्रकार के संशय का लेश भी विद्यमान नहीं रहता। शास्त्रीय तथ्यों के विश्लेषण के समय उनकी वाणी जितनी तर्कनिष्ठ एवं युक्तिप्रवण होती थी, भक्ति रस के विवरण में वह उतनी ही मधुर, सरल-सुबोध एवं आनन्द-प्रसविनी बनती थी। भागवत की 'रासपंचाध्यायी' के रहस्यों का उद्घाटन उनकी भक्तिमयी वाणी इतनी सुन्दरता से करती थी कि उसमें नये-नये भावों की व्यंजना से, नवीन अर्थों की अभिव्यक्ति से एवं भगवल्लीला के अभिराम आयामों की स्फूर्ति से श्रोताओं का हृदय आनन्द से आप्लावित हो उठता है। राधा-माधव की निकुंज लीला में प्रवेश कर वे अपनी विलक्षण अनुभूति का वर्णन सुनाकर विज्ञ श्रोताओं को रसविभोर बना डालते थे। उनके व्यक्तित्व में मस्तिष्क और हृदय दोनों की उदात्त वृत्तियों को जगाने, उद्बुद्ध करने तथा संचारित करने की विलक्षण प्रतिभा थी।

करपात्री जी के जीवन में कर्म, ज्ञान तथा भक्ति की विमल त्रिवेणी प्रवाहित होती थी। रामराज्य परिषद् की स्थापना, राजनीतिक चुनावों में भाग लेना, अपने विषय के प्रतिपादन के लिए सभा-मंचों से भाषण देना, धर्मसंघ की स्थापना तथा संस्कृत विद्या के प्रचार के लिए संस्कृत विद्यालयों की स्थापना—ये उनके कर्मठ जीवन के उज्ज्वल प्रतीक हैं। अध्यात्मविषयक अनेक ग्रन्थों की संस्कृत तथा हिन्दी में रचनाएँ इनके जीवन के ज्ञानपक्ष को उद्योतित करती हैं। अपने जीवन के प्रारम्भिक भाषणों में ज्ञानपरक

१. मूलचन्द्र चोपड़ा द्वारा बनारस से १९९७ वि० में प्रकाशित।

[शेष पृष्ठ २८ पर]

श्रीराम की खोज

— डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल

श्री गुरु चरण सरोज रज निज मन मुकुर सुधारि,
वरनउ रघुवर विमल जिस जो दायक फल चारि ।
गुरु कृपा से आज जो रामकथा हम सुनाने जा रहे हैं, वह एक ओर राम के चरित्र की कथा है पर बुनियादी तौर पर वह कथा हिन्दू मानस की है। सम्भवतः इसीलिए रामायण को रामचरितमानस कहा गया है अर्थात् व्यक्तिस्तर पर यह व्यक्ति की कथा है और जातिस्तर पर यह सम्पूर्ण हिन्दू मानस की कथा है।

आप सोचेंगे कि इतनी सारी तो रामकथाएँ प्रकाशित हैं। किताबों में हैं और तमाम कथा-वाचक, बड़े-बड़े विद्वान् राम की कथा सुनाते ही रहते हैं। फिर इस कथा में ऐसी कौन-सी खास बात है, जिसकी आज इतनी आवश्यकता पड़ गयी है। हाँ, यही तो बात है कि रामकथा को वर्तमान सन्दर्भ में कहने और समझने की आज जितनी जरूरत है उतनी शायद कभी नहीं थी। पहली बात तो यह कि राम-कथा के नाम पर अब जो सत्संग और प्रवचन आदि होते हैं और हो रहे हैं उसके पीछे भाव आज कुछ दूसरा हो गया है। कथावाचक, स्वामी लोग जब व्यासपीठ पर बैठते हैं, तो जो श्रोता-समाज अब इकट्ठा होता है वह एक अजीब संगम है। उसमें एक धारा है पैसे वालों की, दूसरी धारा है अफसरों और उच्च अधिकारियों की, तीसरी धारा है राजनेताओं की। इन तीनों धाराओं से मिलकर जो संगम आजकल देखने को मिलते हैं, उनमें रामकथा तो होती है पर रामचरित कथा नहीं होती। लगता है अब चरित्र की जरूरत नहीं है और खास कर वह रामचरित्र जो सम्पूर्ण हिन्दू मानस की ज्योतिषधारा है।



लेखक

दुर्भाग्य से, हिन्दू चैतन्य की मूर्च्छा अवस्था के कारण आज राम जनमानस में जिस रूप में प्रतिष्ठित है वह एक राजा का रूप है। “रघुपति राघव राजा राम”—सबसे लोकप्रिय रामधुन है और श्रीराम दरबार, अर्थात् राजा-राम दरबार की अनुपम झाँकी हिन्दुओं के घरों में और उनके दिलों में फोटो बनकर विराजती है। इस झाँकी का मतलब आम हिन्दू और खास हिन्दू मानस यह लगाता है कि हमारे करने-घरने की कोई खास जरूरत नहीं है। राजा राम तो हैं ही, वह सबकी रक्षा और सबका कल्याण करेंगे।

इस झाँकी से एक भयंकर भाग्यवाद, नियतिवाद, अन्धविश्वास, निष्क्रियता का भाव आज हिन्दू मानस में जड़ जमाकर बैठ चुका है। पर रामकथा का यह अर्थ बिल्कुल नहीं है बल्कि यह तो रामकथा का पूरा अनर्थ है। राम प्रजा के संरक्षक और प्रजापालक हैं पर यह रूप तो पूरे रामायण के बाद उत्तरकाण्ड में उभरकर आता है। उत्तर-काण्ड से पहले के राम तो बिल्कुल एक सामान्य हिन्दू जन हैं, जो बड़ी गम्भीर और संकटपूर्ण परिस्थितियों से गुजर रहे हैं। रामायण

में राम के राजा राम, दरबार का चित्र तो राम की सावना की पराकाष्ठा है। इसीलिए राजा राम रामायण के केन्द्र नहीं हैं। रामकथा के केन्द्र में हैं कार्यशैल, कर्मरत पुरुष राम जिनका जीवन भीतर और बाहर चारों तरफ से युद्धमय है।

हिन्दू मानस चूँकि सोया हुआ मानस है, भाग्यवादी और निष्क्रिय है। इसलिए इसने अपनी सुविधा और स्वभाव के अनुसार पूरी रामकथा और रामचरित्र में से सब कुछ को भूलकर केवल राजा राम की याद करती है। श्रीमद्भागवत

का श्लोक है कि राम का स्मरण करनेवाले भक्तों के हृदयों में, दण्डक वन के कांटों से छिड़े पैरों की स्थापना कर राम अपने लोक चले गये। धर्म की स्थापना, हिन्दुत्व की जीवन्तता और अस्मिता सतत कर्मों और संघर्षों से होती है। राजसत्ता का सुख और धन का प्रलोभन छोड़ देना यही भीतरी लड़ाई और संघर्ष है। भ्रष्ट और दुराचारियों से सतत युद्ध, उनके विरुद्ध शस्त्र-प्रयोग और दल संगठन यही बाहरी लड़ाई और बाह्य संघर्ष है, जो दण्डक वन में राम द्वारा शुरू हुआ। रामायण की पूरी कहानी में आज हमारे लिए, हमारे समय के लिए राम हमें कहीं और कब और कैसे मिलते हैं यह जानना आज हमारे लिए बहुत जरूरी है।

रामायण की कथा अर्थात् राम के चरित्र की कथा शुरू होने से पहले बालकाण्ड में राम की खोज से शुरू होती है। हिन्दू समाज हिन्दू मानस में राम कहीं हैं, किस अदृश्य लोक में छिप गये हैं इसी की तलाश से रामायण का श्रीगणेश होता है। हिन्दू दर्शन और भारतीय अध्यात्म का एक जबरदस्त संकट यह है कि यह मनुष्य को बाहर से भीतर की ओर ले जाता है। ऐतिहासिक रूप से हम इसे देखें तो बाहर से भीतर छिपने और छिपे रहने के कारण ही भारतवर्ष विदेशियों से पराजित हुआ। अपनी रक्षा में और अपने-आपको शुद्ध बनाये रखने में यह हिन्दुत्व उत्तरोत्तर बाहर से भीतर सिकुड़ता चला गया। इतनी सिकुड़न इसमें आयी कि यह मानसिक अन्धगह्वर में विलुप्त हो गया। हिन्दुत्व की यह भीतरी करुण कथा है। इस कर्मकथा में सम्प्रदायवाद, अन्धविश्वास, असंख्य कर्मकाण्ड, तन्त्रवाद, रहस्यवाद से लेकर जादू-टोना, टोटका तक इसकी दुर्गति हुई। इसकी बाहरी दुर्गति यह हुई कि मुसलमानों, अंग्रेजों इन दोनों शक्तियों ने इसे और भी घबके देते हुए इसे न जाने किस लोक में ले जाकर ठेल दिया। तुलसीदास ने जब उस राम को ढूँढ़ने का संकल्प किया, तो बालकाण्ड के प्रारम्भ में जो खलबन्दना की है, जिस अन्धकारपूर्ण परिस्थितियों का चित्रण किया है उसे बड़े ध्यान से याद रखना पड़ेगा।

राम कहीं हैं, राम माने हिन्दू मानस की शौर्यशक्ति, कर्मशक्ति ऐसा राम कहीं है? बाहर से राम के अवतार की चिन्ता हो रही है लेकिन यह धार्मिक प्रसंग की बात है। असली कथा यह है कि वर्तमान समाज में वह राम फिर कैसे प्रगट किये जायें, उस राम का अवतरण फिर कैसे हो, जो

न जाने कहीं सिकुड़कर, विकृत होकर अदृश्य हो गया है— किसी अन्धगह्वर में, पत्थरों में, राजा की मूर्तियों में, भोगी राज दरबारों में, जहाँ न कोई मर्यादा है, न पुरुषोत्तम के गुण। इस राम की तलाश का लक्ष्य है—हिन्दू मानस के शौर्य, उत्साह और रचनासंकल्प की तलाश। जो राम कहीं भीतर अदृश्य हो गये हैं, लुप्त हो गये हैं, हमारे आचरण और व्यवहार में जो नहीं रह गये हैं, उस राम को फिर कैसे अपने समाज और जीवन में ले आया जाय, यही राम-चरितमानस की कथा का शुभारम्भ है। जिस प्रकार अयोध्या की सरयू नदी का मूल स्रोत हिमालय के मानस सरोवर में है, उसी प्रकार रामकथा का उद्भव भी हिन्दू मानस सरोवर अर्थात् मनरूपी तालाब से हुआ है। इसीलिए जिस राम की तलाश मध्ययुग से लेकर आज तक हम सब तुलसी रामायण के माध्यम से कर रहे हैं, उसमें हमारी जरूरत ही यह है कि प्रत्येक हिन्दू के लिए जब तक एक-एक राम नहीं हो जाते, अर्थात् जब तक हम सब राम को अपने आचरण और कर्म में नहीं उतार लेते, तब तक हमें कभी सन्तोष नहीं होगा। इसीलिए मानस के राम ऐतिहासिक राम नहीं हैं। मानस के राम हम सबके मानसिक राम हैं। इसका मतलब यह है कि आज सही अर्थों में प्रत्येक व्यक्ति के लिए राम के अवतरण की आवश्यकता है और यह तभी सम्भव है जब श्रीराम मनुष्य न होकर ईश्वर हों। रामकथा का यही विरोधाभास, यही गहराई आज हमारी समझ में नहीं आ रही है, जो मनुष्य है, वह ईश्वर कैसे हो सकता है, जो ईश्वर है वह मनुष्य कैसे हो सकता है। समझ का यह संकट आज वर्तमान मनुष्य का नहीं है, यह संकट स्वयं तुलसीदास के रामायण में है। पार्वती और काकभुशुण्डी-जैसे पात्र भी इस विरोधाभास को नहीं समझ पाते।

इस कथा द्वारा तुलसीदासजी द्वारा जो एक आधुनिक दृष्टि हमें दी गयी है मैं विनम्र रूप से उसी कथा को आप सबके सामने प्रस्तुत करने की यथाशक्ति कोशिश कर रहा हूँ।

रामायण का अर्थ ही है राम का मन्दिर। पर राम-चरित मानस रामायण नहीं है। तब क्या है? तुलसीदासजी अपनी रामकथा का वर्णन या तो सरोवर के रूप में करते हैं या नदी के रूप में। तुलसी की रामकथा एक गंगा है और वाल्मीकि की रामकथा एक मन्दिर है। हमारी हिन्दू

[शेष पृष्ठ २८ पर]

केदार जी की महिमा तो मैं मुद्दत से सुनता आ रहा था और यह भी सुना था कि यह यात्रा कठिन है, क्योंकि एक तो तेरह मील पैदल चलना पड़ता है और दूसरे साढ़े बारह हजार फुट की ऊँचाई लांघनी होती है, इसलिए यह यात्रा दुष्कर मानी जाती है। पर सन् १९७१ के सितम्बर में केदार जी की यात्रा सफलतापूर्वक करके लौट आया तब एक नयी हिम्मत आ गयी और गंगोत्तरी की यात्रा करने की भी एक उमंग पैदा हुई।

केदार जी की यात्रा के मुकाबले गंगोत्तरी की यात्रा सहल मानी जाती है, इसलिए वहाँ जाने में मुझे कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। यह यात्रा भी १९७२ के अक्तूबर में मैं कर आया।

गंगोत्तरी के प्रशान्त वातावरण, वहाँ के अनुपम दृश्य और यात्रियों की गहरी श्रद्धा देखकर मुझ पर जो छाप पड़ी, तो सोचा कुछ लिख ही डालूँ। इसी संकल्प का यह परिणाम है।

सही नाम 'गंगोत्री' है या 'गंगो-त्तरी', इस पर वाद-विवाद हो सकता है। प्रचलित प्रयोग में तो लोग 'गंगोत्री' कहते हैं, पर इस शब्द के कुछ माने नहीं होते। यदि सही नाम 'गंगोत्तरी' है तो इसका अर्थ पूरा जम जाता है—'गंगा-उत्तरी' अर्थात् उत्तरीय गंगा। यही शब्द सही है, ऐसा मैं मानता हूँ।

प्राचीन लोगों ने जिस-जिस स्थान का नामकरण किया है, उसके पीछे उनका हेतु रहा है और कुछ अर्थ भी रहा है। नामकरण निरर्थक ही नहीं किया गया है, इन नामकरणों के पीछे गहरा सोचने से कुछ इतिहास भी मिल जाता है।

इसी दृष्टान्त को सामने रखकर हम गुप्तकाशी, उत्तर-काशी के नामकरण के विषय में भी नतीजे पर पहुँच सकते

हैं। उत्तरकाशी तो उत्तर की काशी स्पष्ट है। गुप्तकाशी के बारे में किंवदन्ती यह है कि शंकर भगवान् तप करने के लिए कोई एकान्त स्थान ढूँढ़ना चाहते थे, क्योंकि वाराणसी-काशी में उन्हें धूम-धड़क का ज्यादा लगा, इसलिए एकान्त की दृष्टि से उन्होंने गुप्तकाशी का चुनाव किया। काशी में तो धूम-धड़क आज भी वैसा ही जारी है। गुप्तकाशी आज भी तपस्या के लायक एकान्त और उपयुक्त स्थान है। शंकर भगवान् का यह निर्णय संगत था।

इसी तरह रुद्रप्रयाग, विष्णुप्रयाग, सोनप्रयाग, देव-प्रयाग इत्यादि के नामों के पीछे आशय है। जहाँ-जहाँ नदियों का संगम हुआ है, पूर्वजों ने उस स्थान का नाम प्रयाग रख दिया, ऐसा बोध होता है। इलाहाबादी प्रयाग भी गंगा-यमुना के संगम पर स्थित है।

प्रयाग नाम के पीछे भी कुछ तात्पर्य था। असल में तो प्रयाग उस स्थान को कहा है, जहाँ पर कोई बड़ा यज्ञ हुआ हो, पर इस मान्यता में भी झमेला पड़ जाता है, क्योंकि 'यज्ञ' शब्द का अर्थ भी व्यापक है।

गीता में भगवान् ने यज्ञों का जिक्र करते समय अर्जुन को बताया—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

अनेन प्रसविष्यध्वमेध वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

संसार के उत्पन्न करने के समय ईश्वर ने मनुष्यों के साथ-साथ ही यज्ञों की भी उत्पत्ति की और संसारियों से यह कहा कि यज्ञों से तुम फलोगे। यह यज्ञ तुम्हारी कामधुक् अर्थात् कामनाओं को पूर्ण करने वाली गाय होगी, और फिर कहा कि तमाम कर्म ब्रह्म से पैदा होते हैं और ब्रह्म अविनाशी है, यज्ञ कर्मों से पैदा होते हैं, इसलिए सर्वव्यापी-ब्रह्म सदा यज्ञ में स्थित है।



लेखक

यज्ञों का महत्त्व बताते हुए यह भी कहा कि जो यज्ञ से बचा भोजन खाता है, अर्थात् जो सेवा करता हुआ पेट भरता है, वह सब पापों से मुक्त होता है। पर जो स्वार्थी होकर खाते हैं, अर्थात् अपने लिए ही जीते हैं, उन्हें न तो यह लोक है और न परलोक।

यज्ञ की व्यापक व्याख्या करते हुए भगवान् ने फिर बताया कि यज्ञ करने वाले कुछ 'द्रव्य-यज्ञ', कुछ 'तप-यज्ञ', कुछ 'योग-यज्ञ', कुछ 'स्वाध्याय-यज्ञ' और कुछ 'ज्ञान-यज्ञ' करते हैं।

इस तरह यज्ञ का अर्थ श्रीकृष्ण भगवान् ने जान-बूझकर व्यापक और विस्तृत कर दिया है। उनका आशय था कि लोग समझ लें कि धी और अन्य सामग्रियों को अग्नि में होमने-मात्र का नाम यज्ञ नहीं है। असल में तो जो कार्य अनासक्त भाव से 'सर्वभूतहिते रताः' अर्थात् परार्थ किया जाता है—वह सब यज्ञ है।

सूर्य अनासक्त भाव से हमें तेज देता है, वायु अनासक्त भाव से हमें प्राण देती है—नदियाँ भी अनासक्त भाव से हमारी भिन्न क्षेत्रों में सेवा करती हैं, वृक्ष फल देकर, छाया देकर, ईंधन और आक्सीजन देकर प्राणिमात्र की सेवा करते हैं—ये सभी कार्य यज्ञ की व्याख्या में आ जाते हैं। इस माने में सूर्य, वायु, नदियाँ और वृक्ष सब निरन्तर यज्ञ करते रहते हैं।

तस्वर सरवर सन्त जन चौथे बरसण मेह।

परमारथ के कारणे इनने धारयो देह॥

इस व्यापक और वृहत् व्याख्या को जान लेने पर हमें यह ज्ञात होगा कि प्रयाग का क्या तात्पर्य है। सब प्रकार के अनासक्त भाव से किये गये सेवा-कर्म यज्ञ हैं। जहाँ ऐसे यज्ञ होते हैं, चाहे वे यज्ञ मनुष्य करते हैं या नदियों के संगम, वे सभी प्रयाग हैं।

मेरा ख्याल है कि इन प्रयागों की यात्रा और पूजा में यात्री को शान्ति मिलती है, शुभ-कर्म की प्रेरणा होती है और वहाँ के वातावरण में धर्म की भावना जाग्रत होती है, इसलिए इन प्रसंगों को पावन मानकर, इन्हें यज्ञ का प्रतीक समझकर इन पर बसे स्थानों का नाम आचार्यों ने प्रयाग रख दिया, ऐसा मानना चाहिए।

खैर, मैं जान-बूझकर इस विचारधारा के चक्र पर चढ़ बैठा हूँ, क्योंकि इससे कुछ इतिहास की कल्पना होती है—विचार करने का मसाला मिलता है, पूर्वजों की बुद्धि और

उनकी कल्पना के प्रति हमारा आदर बढ़ता है और यदि इस छानबीन में हमें कोई कुंजी मिल जाय तो आत्म-सन्तोष भी होता है। यह चर्चा पाठकों की कल्पना और विचार-शक्ति को भी यदि उत्तेजित करेगी तो उनका भी भला होगा।

गंगा की महिमा अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलित है। नदियाँ अनेक हैं, पर जो महिमा गंगा की है और जो भक्ति और श्रद्धा गंगा के प्रति हजारों साल से चली आ रही है वह और किसी नद और नदी को उपलब्ध नहीं है। जब से आर्यावर्त का इतिहास शुरू होता है, तभी से गंगा की कथा भी आरम्भ होती है। यमुना और गंगा के बीच के प्रदेश को ही आर्यावर्त कहा है, इसी से गंगा का महत्त्व समझ में आ सकता है।

श्रद्धालु भक्त काशी में गंगा-स्नान करते हैं, फिर लालसा बाकी रह जाती है, तो प्रयाग जाते हैं, फिर हरिद्वार और हृषीकेश स्नान करते हैं, पर इस पर भी भूख बनी ही रहती है, इसलिए इन सबके बाद गंगोत्तरी में गंगा-स्नान और माई का दर्शन कष्ट सहकर भी भक्त लोग करने जाते हैं।

गंगोत्तरी गंगा का मूल स्रोत माना जाता है, इसलिए और तीर्थों के बाद भी गंगोत्तरी का स्नान और माई के दर्शन का माहात्म्य यात्रियों को खींच ले जाते हैं। इसी आकर्षण से प्रेरित होकर लाखों यात्री गंगोत्तरी की यात्रा के लिए जाते हैं।

ग्रीष्म में तो बड़ी भीड़ रहती है, पर हम अक्टूबर में गये थे, उस शीतकाल में भी यात्रियों की कमी नहीं थी। प्रायः ठिठुरानेवाली सर्दी इस मौसम में पड़ती है, जो काफी कष्टप्रद है, पर श्रद्धा के सामने यात्री यह कष्ट भूल जाते हैं।

एक वृद्धा को हमने देखा, जो दमे से पीड़ित थी, पर लाठी के बल गिरती-पड़ती गंगामाई का दर्शन तो कर ही आयी।

किन्तु, गंगोत्तरी का स्नान और गंगामाई के दर्शन के बाद भी एक और अमिलाषा बाकी रह जाती है। उसकी पूरा करने के लिए यात्री और ऊपर जाते हैं, वे गोमुख की चढ़ाई करते हैं।

गोमुख गंगोत्तरी से दस मील आगे है। ऊँचाई बारह हजार फुट है। असल में गंगा का मूल स्रोत तो गोमुख से निकलता है। इसलिए यहाँ का माहात्म्य और भी बढ़ा-चढ़ा माना गया है।

एक ग्लेशियर—तुषारनद—है, जिसमें से पानी का स्रोत निकलता है। चूँकि वह हिमाच्छादित और बिलकुल धवल है, इसलिए गाय के मुख-जैसा दोखता है, इसलिए इस तुषारनद को गोमुख की उपमा मिल गयी।

पूर्वजों का जीवन काव्यमय था और जब वे सौन्दर्य-मुग्ध होकर भावना में समाधिस्थ होते थे, तब उनकी कल्पना वेग से उत्तेजित हो जाती थी। इस कल्पना की उड़ान में जैसे वाल्मीकि को अनायास अनुष्टुप् मिल गया, वैसे ही इन आचार्यों को जिह्वा से भी उपयुक्त शब्द अपने-आप निकल पड़ते थे। इसका प्रमाण तो हमें भारतवर्ष के कोने-कोने में मिलता है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं में जाइए।

शंकराचार्य की गद्दी भारतवर्ष के चार छूंटों पर स्थापित हुई, उनके स्थान और नामकरण भी सुन्दर हैं। जहाँ सौन्दर्य देखा, वहाँ पूर्वजों ने मन्दिर या मठ स्थापन कर दिया। पूर्वजों ने मूल स्रोत का नाम गोमुख इसी काव्यमयी भावना से प्रेरित होकर रखा। यह स्थान सौन्दर्य और शान्ति का अनुपम निक्षेप है।

पर जब हम गंगा के मूल स्रोत का दर्शन करके वहाँ स्नान करके गगन होते हैं और शान्ति अनुभव करते हैं, तब हमारी मुमुक्षु-वृत्ति जाग्रत् होकर यह प्रश्न करती है कि आखिर गंगा की महिमा इतनी क्यों? इसका इतिहास क्या है? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? स्थान-मात्र से पाप क्यों कट जाते हैं? गंगाजल पीने का इतना माहात्म्य क्यों? इसके उत्तर के लिए यह आवश्यक है कि हम कुछ गहरे उत्तरें।

हमें यह तो निश्चय समझ लेना चाहिए कि हमारे पूर्वज वहमो और अन्ध-श्रद्धा के शिकार नहीं थे, जो महज बिना सिर-पैर की कथा सुनकर भूल-भुलैया में पड़ जाते। जब विलक्षण लोग कहते थे कि गंगा-स्नान और गंगाजल पीने मात्र से पाप कट जाते हैं, तब उसके पीछे उनका ऐसा तात्पर्य होता था जो तर्क की कसौटी पर कसा जा सकता था और प्रमाणित भी किया जा सकता था।

‘नेति नेति’ कहनेवाले और ‘बुद्धं शरणम्’ वाक्य के वक्ता और श्रोता शंका-समाधान होने पर ही परिणाम को स्वीकार करते थे। जिसमें ‘स्वतः प्रमाणम् परतः प्रमाणम्’ शास्त्रार्थ चलता ही रहता था और किंवदन्ती यह भी है कि मंडन मिश्र के घर पर पिंजरे में बैठे तोता और मैना भी शास्त्र पर वाद-विवाद करते थे, उस देश के लोग बिना प्रश्नोत्तर और शंका-समाधान के बड़ों की व्यवस्था मूक होकर स्वीकार कर लेते, ऐसा नहीं माना जा सकता।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता सुनायी, तो भगवान् के अवतार होते हुए भी अर्जुन ने बिना प्रश्न पूछे सभी उपदेशों को स्वीकार नहीं कर लिया। उसने बार-बार प्रश्न किया और उत्तर माँगा और उत्तर मिला तब सन्तोष हुआ।

इसलिए गंगा-स्नान की महिमा सुनते समय हमें यह जान लेना है कि संस्कृत में स्नान शब्द को अवगाहन भी कहते हैं। अवगाहन का अर्थ स्नान तो होता ही है, पर इसका दूसरा अर्थ है गहरे उतरना, डुबकी मारना। गंगा-स्नान की जब हम महिमा सुनें, तब यह समझना चाहिए कि यह महिमा केवल जल-स्नान की नहीं है, महिमा अवगाहन की है। गंगा के स्नान के माने हैं गंगा में गहरा उतरना अर्थात् उसके चरित्र को समझना और हृदयंगम करना।

गंगा के जीवन और चरित्र में गहरे उतरकर और डुबकी मारकर अपने-आपको गंगा में सराबोर कर देना है, अर्थात् गंगा के चरित्र को अपने-आपमें अवतीर्ण करना है। उसी से पाप कटते हैं। गंगा के अवगाहन में पापों से मुक्ति है, नरक से मुक्ति मिलती है और भगवान् का साक्षात्कार होता है। केवल जलस्नान निष्फल है। अवगाहन ज्ञान और विवेक से होता है।

आखिर पशु-पक्षी भी तो गंगा-स्नान करते हैं, और गंगाजल पान भी करते हैं, पर वे अवगाहन नहीं करते, क्योंकि उनमें विवेक-बुद्धि नहीं है। माहात्म्य अवगाहन का है, न कि जल-स्नान का। गंगाजल-पान का भी यही आशय है कि गंगा का जीवनामृत पीकर गंगा का अनुसरण करना। (क्रमशः)

दुःख में साहस और सुख में संयम से काम लो और जो काम तुम्हारे हिस्से में आया है, उसे ईमानदारी से पूरा करो। बस रोज इतना करके शान्ति से सो जाओ, भगवान् तुम्हारा प्रहरी बनकर जागता रहेगा। —विक्टर ह्यूगो

पश्य देवस्य काव्यम्

—कुवेरनाथ राय

वाराणसी, वरुणा और असी दो नदियों के बीच गंगा-तट पर बसी अर्धचन्द्राकार शिवपुरी। आज से नहीं सर्वदा से, पुरी और पापहरा नदी गंगा दोनों परस्पर संलग्न हैं। 'वरुणा' और 'असी' दोनों शब्द की ध्वनि मेरे मन में 'वारुणी' और 'असि' के बिम्ब जगा जाती है। वरुणा और असी, 'वारुणी' और 'असि' काम और क्रोध, रजोगुण और तमोगुण; और इन सबको स्पर्श करती हुई तीसरी पापहरा नदी बहती है इन्हें विरज और विगततम करती हुई! कविता का व्याकरण और राग-विराग के बोध का व्याकरण, शब्दों और वाक्यों के व्याकरण से भिन्न है। 'निरुक्त' अवचेतन और मग्न चेतना में लिखित है। अतः कोई शाब्दिक व्याकरणगत सटीक कारण भले ही न उपलब्ध हो पर राग-बोध का व्याकरण मेरी इस धारणा से सम्मत है कि वरुणा और असी, अर्थात् 'वारुणी' और 'असि' अर्थात् रज और तम और इन्हें विरज और विगततम करके जो बहती है वह है निश्चय कोई सतोगुण की नदी, 'नदी शिवजलम्'। इस नदी को हम साधारण भाषा में गंगा कहते हैं। वाराणसी इन्हीं तीन जलधाराओं से घिरी धरती के दैहिक-दैविक-भौतिक त्रिकण्टक से बेपरवाह, इसके ऊपर स्थित 'विजंविशुद्धम्' विश्वेश्वरपुरी है, उनका अविमुक्त क्षेत्र है जिसे वे कभी भी छोड़कर नहीं जाते हैं। यहां की भूमि पर कभी-कभी अनायास कुछ ऐसा अनुभव हो जाता है जो अत्यन्त दुर्लभ है। काशी भारतवर्ष की अन्तर्दृष्टि है, तीसरी आंख है, ध्यान-नेत्र है। अतः इसके माध्यम से बहुत कुछ दृश्यमान हो जाता है जो अन्य स्थलों पर सम्भव नहीं। मैं उस दिन की बात बता रहा हूँ जिस दिन मुझे अस्सीघाट पर बैठे-बैठे आकाश में गायत्री के पाँचों चेहरों का दर्शन हुआ। ठीक पौ फटने के समय मैं प्रायः उस कच्चे घाट के एक शान्त कोने पर जाकर बैठ जाता हूँ। उधर से क्षुरधार भव-सरिता का प्रतीक अस्सी का गन्दा नाला इसमें आकर मिलता है। इस छोर से प्रारम्भ करने पर यही पहला घाट है। मैं नीलारुण फूटने के पूर्व ही पहुँच गया था उस दिन।

१. कुछ पण्डितों का विचार है कि सही शब्द 'वरुणा' नहीं 'वरणा' है। परन्तु एक यह भी ध्योरी चलती है कि इस क्षेत्र में आदिमकाल 'वरुणा' वृक्ष ज्यादा थे उन्हीं के कारण वरुणा और वाराणसी नाम चालू हुआ।

यह भी एक संयोग की बात है। अभी शुकतारा आकाश में था ही, यद्यपि कान्ति क्षीण पड़ गयी थी। मैं सुना करता था कि अस्सी घाट पर एक ऐसा बिन्दु है जहाँ पर बैठ कर देखने से ऊषाकालीन आकाश में पंचगायत्रियों के मुक्ता-विद्रुम-हेम-नील-धवलवर्णी चेहरों का दर्शन हो जाता है। पर उस भक्त को रूप आविष्कार करना पड़ता है और साथ ही यह भी शर्त है कि उस सूक्ष्म शक्तिप्रवाही बिन्दु को 'गुह्यानां परमं गुह्यम्' मानकर गोपन रखा जाता है अन्यथा अपनी अर्जित विद्या का ह्रास होता है। जो अधिकारी है उसे तो अन्तर की 'ज्योतिषां ज्योतिः' स्वयं उपलब्ध करा देगी, औरों को इसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। यों मैं जानता था और आज भी बिना किसी के स्मरण दिलाये खूब जानता हूँ कि मैं पुण्यबल से हीन, तपोबल से हीन, सब तरह से तुच्छाति-तुच्छ, कामकीट, कीटस्चकीट ठहरा। मैं तो निश्चय ही अधिकारी नहीं। पर एक बड़ा भारी भरोसा था, लोभी लालची मन उसी भरोसे पर तर्क देता था—अरे भाई, 'औदरदानी' का यह दरबार है; अतः उनकी दया हो जाय तो क्या नहीं हो सकता, उनकी मरजी हो तो करेला, अंगूर के गुच्छे फलने लगे, बट-पीपल के गोंदे गुड़ की भेलियाँ बन जायें, और ज्वार-बाजरे के पीधों में मालपुए-पेड़े फलकर लटक जायें, सब उनके मन की बात है। उस 'अबसर्ड' दरबार में दया और आशीर्वाद सुपात्र-कुपात्र-अपात्र सबको 'दोऊ हाथ से' मुक्तभाव से दान किया जाता है। उस देवाधिदेव के दरबार में पात्रता का विचार करने की फुरसत किसके पास है। अतः अपने 'हिप्पी' इष्ट देवता की मौजूदगी पर भरोसा करके मैं उस दिन बैठ गया कि उनकी दया का एकाध छिटफुट दाना भी यदि मेरे प्रसरित हस्त पर टपक कर आ गया तो पंचगायत्रियों का अद्भुत दर्शन पाकर मैं तो-चार मिनट के लिए ही सही आज मोक्ष मार्ग पर आरोहण करने का सुख प्राप्त करूँगा। मैं मन ही मन गायत्री का ध्यान-श्लोक दुहराने लगा और उसके रूप का चिन्तन उस श्लोक के माध्यम से करने लगा;

“शुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणः

युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्त्वार्थवर्णांसिकाम् ।

गायत्री वरदामयाङ्कुशकशा शुभ्रं कपालगुणं

शंखं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्ती भजे ।”

मैंने देखा नीलतमसा अभी भी गयी नहीं है पर छिन्न-शृंगार और क्षीणबल हो चुकी है। अब यह सौम्यतर हो रही है। तम या कालिमा आदिम रंग है। इसका आदिम वर्ण है सर्वप्रासी। यहाँ तक कि अन्धकार का भी भक्षण कर जाने वाली कालिमा। इसे ही महातमसा कहा गया है। आदिम जड़ प्रकृति इसी महातमसा रूप में थी। परन्तु जब इसमें चैतन्य का प्रथम प्रवेश हुआ, तो उस प्रथम स्पन्द काल में ही इसका रूप साँवला हो गया। इसी से 'काला' रंग आदिम जड़ का प्रतीक है तो श्यामाम या श्यामला आदिम सचैतन्य प्रकृति का। चैतन्य का मौलिक वर्ण है निरञ्जन उज्ज्वल श्वेत। परन्तु यह लीला-वश आता है। सूचीवेध्य काली जड़ प्रकृति के स्पर्श में और तब जड़ प्रकृति की कालिमा में एक कान्ति फूटती है। उसका रूप कान्तिमय अर्थात् 'श्यामाम' हो उठता है। और वह चैतन्य भी काले और श्वेत दोनों से भिन्न एक नया अपूर्व वर्ण ले लेता है नील वर्ण जो उसके सगुण स्वभाव का द्योतक है। मैंने देखा कि आकाश की छवि कान्तिमय हो रही है। तमसा का रूप साँवर हो चुका है और धीरे-धीरे उज्ज्वल में वह विलीन होता जा रहा है। परन्तु आकाश में एक अद्भुत कान्ति आ गयी है। गोया दिवस का मोती आवरण से ढका हुआ हो और उस आवरण को भेद कर उसकी कान्ति फूट रही हो। मुक्ता के दो गुण होते हैं। 'श्वेत रंग' और 'कान्ति'। अन्यथा मुक्तावर्ण और दुग्धवर्ण में कोई भेद ही नहीं। यह 'कान्ति' ही मुक्ता की विशेषता है। अतः आकाश का चेहरा, रंग नहीं परन्तु आभा की दृष्टि से मुक्तावर्ण हो गया है। लगता है कि परम चैतन्य अपना आभास अभिव्यक्त कर रहा है तमोगुणी जड़ता के माध्यम से। कीच में कमल उगाकर, कुरूप कोकिल के कण्ठ में संगीत का वास देकर, कालागर में अद्भुत सुगन्धि देकर वह विचित्र खेल प्रायः रचता है। इसी भाँति नीलारुण-क्षण के आकाश की कान्तिमय छवि भी उसकी आभासलीला को स्पष्ट करती ज्ञात होती है। शीघ्र ही वह साँवला आवरण भी हटेगा और माया का सतरंगी परिधान स्पष्ट हो उठेगा। पर अभी नहीं। अभी तो आभास का प्रथम स्पन्द है। यह आभा-भास्वर नीलारुण-क्षण और यह कान्तिमय आसमान मुझे प्रज्ञान दे जाते हैं गायत्री के प्रथम चेहरे का, मुक्तावर्णी आभामय मुखमण्डल का जिसका बोध मुझे प्राप्त हो रहा है इस क्षण के आकाशमण्डल को देखकर। मुझे ठीक-ठीक

रूपरेखा या आकृति नहीं दिखाई पड़ रही है परन्तु गायत्री की उपस्थिति का सगुण बोध प्राप्त हो रहा है, ऐसा सगुण बोध जो रूप-रंग-गन्ध-शब्द और स्पर्श से युक्त हो उसी तरह जैसे आदिगन्त फूली सरसों का विस्तार या आवाहनमय समुद्र। इन छवियों के मध्य कोई मानवीय आकृति, चेहरे की लाइनें भले हो न स्पष्ट हों परन्तु एक व्यक्तित्वपूर्ण उपस्थिति का रागात्मक बोध होता है। अवश्य इसी अर्थ में मैंने उस मुक्ता गुण-विशिष्ट और निरन्तर कान्तिमय होते आकाश में गायत्री के प्रथम चेहरे का दर्शन किया। वैदिक ऊपाओं का दर्शन वैदिक कवियों ने ठीक ऐसी ही शैली में किया होगा, सगुण परन्तु निराकार उपस्थिति के रूप में, एक आकृतिहीन परन्तु व्यक्तित्वपूर्ण 'परसनालिटी' के रूप में। सारी वैदिक कविता में देवताओं के हाथ-पाँव-नाक-नखों का वर्णन नहीं—परन्तु 'व्यक्तित्व' का स्पष्ट वर्णन है। उससे एक 'सगुण' रूप स्पष्टतः व्यक्त होता है।

देखते-देखते आसमान पर लाली दोड़ गयी। नीचे घाट का जन-कोलाहल तीव्रतर हो उठा। देखते-देखते आकाश ने मनोरम विद्रुम प्रवालवर्ण धारण कर लिया—एक सुन्दर नयनाभिराम टहक लाल रंग, सारी सृष्टि के मस्तक पर सुन्दर सीमन्त-सिन्दूर की भाँति। सीमन्त पर सिन्दूर सौभाग्य का प्रतीक है। सिन्दूर-धारण महज शृंगार नहीं, जैसी कि आजकल के लोगों की धारणा है कि बगल में भी माँग काढ़कर उसे किसी रंग से टीक देने से भी यह हो जाएगा। 'सीमन्त' या 'सीमानं' शब्द 'ऐतरेय उपनिषद्' में आया है। इसका अर्थ है कपाल (खोपड़ी) की शीर्षतम रेखा जो कपाल को चीरती हुई दो भागों में विभक्त करती है। इस उपनिषद् में एक सुन्दर प्रसंग आया कि जब लोक-लोकपालों, प्राणिजगत् एवं उसके आहार की सृष्टि हो गयी, जब पुरुष शरीर की रचना हो गयी, जब पुरुष ने गन्ध-श्रुत-वायु-अन्न आदि आहारों को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करना सीख लिया, तो उस सर्वस्रष्टा परमात्मा ने सोचा, यह पुरुष इन सारी ऐन्द्रिक क्रियाओं को करते हुए भी मेरे बिना कैसे रह सकेगा, यह जीवात्मा बिना मेरे नित्य सहयोग के कैसे रह सकेगी? "सः ईक्षत नु कथं स्यात्।" उसने चिन्ता की कि मेरे बिना यह अपनी दैहिक क्रियाओं की यांत्रिक क्षमता के बावजूद 'व्यक्तित्व' या 'जीवात्मा' के रूप में अस्तित्वमान नहीं हो सकता, तब उस परमात्मा ने शरीर की इसी

शीर्षतम सीमन्त रेखा को चीर कर उस मार्ग के द्वारा प्रवेश किया देह प्रतिमा के भीतर (“एतमेव सीमानं विदार्य तथा द्वारा प्रापद्यत”) यही विदारित स्थल (सीमन्त रेखा) ही ‘विदृत’ नामक आनन्द का द्वार है (“सैषा विदृति नाम द्वाः सदेतत् नानन्दम्”), (ऐतरेयोपनिषद् १/३/११-१२) किसी भी आनन्द की अनुभूति होने पर यहाँ द्वार-अनावृत्ति होने जैसी अनुभूति होती है, दैहिक-आनन्द (जैसे रतिक्रिया) में आपादमस्तक जो स्नायु-विद्युत् की धारा प्रवाहित होने लगती है वह इसी विदृत द्वार के कपाट पर प्राण विद्युत् की ‘दस्तक’ या ‘शॉक’ मात्र है, परन्तु योगीगण दृष्टानुसार इस आनन्द का पूर्ण उद्घाटित अनुभव कर सकते हैं, जो देहाश्रयी आनन्द में बद्ध कपाट-अनुभव की तरह सीमित और अल्पकालीन होता है। कहने का तात्पर्य यह कि यह शीश पर की सीमन्त रेखा एक तरह से देव-मन्दिर की देहरी या कपाट है जिसके भीतर सर्वव्यापी परमात्मा स्थित हैं चिद् और आनन्द रूप में, यह स्थान आनन्द और सोमाग्य का द्वार है, उसके ऊपर सिन्दूर अर्पित करना एक तरह से उस सोमाग्य या आनन्द के चरम स्रोत की तान्त्रिक उपासना है, सिन्दूर महज लाल रंग ही नहीं है, यह एक तान्त्रिक उपकरण भी है अतः सीमन्त रेखा पर सिन्दूर अर्पित करने की भारतीय प्रथा के पीछे एक दार्शनिक धारणा भी है जिसकी सिद्धि बगल में माँग फाड़कर सिन्दूर अंकित करने से नहीं होती, यों मानो तो महादेव नहीं तो पत्थर, कोई नारी कहे कि मैं ईश्वर, उपनिषद् आदि कुछ मानती ही नहीं—‘अयोवेदेत्यकर्तारो मण्डो धूर्त निशाचरी’, तो उससे तो कुछ कहना ही नहीं है, क्योंकि ये सब बातें तर्क आश्रित नहीं, प्रज्ञान आश्रित हैं और इसकी क्षमता और वृत्ति दोनों व्यक्ति-सापेक्ष है, परन्तु जो श्रद्धा के महत्त्व को मानती हैं उन देवियों को स्मरण रखना चाहिए कि सिन्दूर अर्पित करने का उपयुक्त स्थान है सीमन्त रेखा या ब्रह्म-रन्ध्र की रेखा यही अन्तर्यामी देवता के मन्दिर की देहरी है, सिन्दूर शृंगार तो है ही इसका सामाजिक महत्त्व भी है, परन्तु शृंगार, सामाजिक प्रथा के साथ-साथ इसे एक दार्शनिक स्तर पर भी स्वीकार करें तो अधिक उत्तम है, ऐसा करने से अपनी श्रद्धा और विश्वास को नया बल प्राप्त होगा, इस प्रकार आकाश में सृष्टि या अपरा प्रकृति के साल पर विद्रुमवर्ण सिन्दूर का प्रलेप देख मेरा चित्त प्रसन्न हो गया, उदयाचल से लाल चक्का आकाश में

धीरे-धीरे उभरने लगा; ऊपर और ऊपर उठने लगा; गंगा के घोर प्रवाह में, कई मन अभीर-कुंकुम कोई फँक गया; तमोगुण की लीला समाप्त हो गयी; नीलारुण के स्थान पर शुद्ध मंगलमय अरुणा आकर उपस्थित हो गयी; आदिगन्त जलथल उसकी विद्रुम-अरुण शोभा में लीन हो गये। मैं इस दृश्य को अनिमेष लोचन-दृष्टि से देखता रह गया और कुछ भी स्मरण नहीं रहा, मैं क्यों यहाँ आया हूँ, मैं कहाँ हूँ, मैं क्या देख रहा हूँ, मेरा सारा अस्तित्व उस महालग्न में एक मुट्ठी कुंकुम बन गया, जो गंगा के भाव-प्रवाह में धुलित होकर अपना व्यक्तित्व तज रहा हो। सुनता हूँ ब्रह्म साक्षात्कार करते समय [योगीगण आत्मसत्ता भूल आते हैं, वह अनुभव क्या कुछ-कुछ ऐसा ही होता है ? इसी प्रकार के दृश्य को देखकर वैदिक कवि ने कहा था : “पश्य देवस्य काव्यम् न ममार न जीर्यति”। कुछ समय बाद जब इस विद्रुमवर्ण में चमक आने लगी, रूप के परिवर्तन का प्रारम्भ हुआ तो मैं सचेत हुआ; तब मुझे ख्याल आया कि अरे अभी-अभी जो कुछ मैं देख रहा था वह तो गायत्री का ही विद्रुम मुख-मण्डल था, मैंने निराकार अम्बर में उदित सावित्री के उस मंगलमय अरुणवर्ण को श्रद्धापूर्वक शीघ्र नवाया।

विद्रुम वर्ण का भी रूपान्तर घटित हुआ। देखते-देखते आकाश चमाचम सुनहला होने लगा, निर्गुण शिव की साकार स्वर्णकुन्तल राशि आदिगन्त छा गयी, नदी जल में पुंज-पुंज सोना घुलने लगा; वृक्षों के शिखर स्वर्णभासे मण्डित हो उठे; नदीजल में उतरे नग्नगात पुरुषों पर सोने का अंगराग कोई मल गया, सृष्टि किरणों में स्नान करने लगी; गंगाजल में कई मन, कई ‘विदप्टल’ शुद्ध बारहबानी सोना कोई धोल गया; मेरे सहज तमोगुणी काले मन की कसीटी पर भी सोने की यह रेखा भीतर ही भीतर अंकित हो गयी और मेरी आत्मा लोभ से नहीं, सौन्दर्य-बोध से मत्त-प्रमत्त हो उठी। सुन्दर को देखने में भी एक नशा है। तभी तो आदमी सौन्दर्य के सम्मुख बुद्धि-विवेक खो बैठता है। इस अपूर्व हेम-प्रवाह को देखकर मुझे उपनिषदों के स्तोत्र गान याद आने लगे, उनके वाक्यांश बिना सन्दर्भ और बिना क्रम के ही मेरी स्मृति में उतराने लगे, गोया किसी ने अवश्य कपाट खोल दिया हो, और वे सारे आलोक-उज्ज्वल वाक्य और शब्द बाहर आकर पुनः अपनी पहचान दे जाने को विकल हो उठे हों। वह अग्निवर्ण, वह दिव्य स्वर्णज्वाल, ‘एक’ ही रूप है जो तीनों भुवनों में ‘रूपं रूपं प्रतिरूपं

बभूव !” जो रूप-प्रति-रूप धारण करके हमें एक साथ ही मुग्ध और मुक्त दोनों कर रहा है। इस हिरण्यमय हिरण्य-प्रवाही महाछवि को आदिगन्त देखकर मुझे लगा कि मेरी आँखें झप रही हैं। सुन्दर को उसके नग्न अनावरण रूप में देर तक देखते रहने की क्षमता बड़े-बड़ों में नहीं होती तो फिर मैं क्या हूँ। सुनता हूँ ईसाई रहस्यवादी सन्त सेण्ट बर्नार्ड जब प्रथम-प्रथम स्विटजरलैंड की मनोरम, नयनामिराम विस्तार वाली झीलों और उनकी पृष्ठभूमि की नील श्यामलतट-पाँति के सम्मुख खड़े हुए तो प्रथम दृष्टिपात में उनकी आँखें मूँद गयी थीं। मुझे लगता है कि केनोपनिषद् की हेमवती महाप्रज्ञा अपनी परोक्ष छवि को इस विराट् हिरण्यवाह दृश्य के मध्य अनावृत और प्रत्यक्ष कर रही है, हिरण्यमय आवरण खुलने ही जा रहा है, और मैं नयन मूँद लूँ, इसी में मेरी आत्मिता की भलाई है अन्यथा कौन जाने, लय का महालग्न ही उपस्थित हो जाय। यहीं पर और इसी क्षण।

इस प्रकार मैंने गायत्री के हेमवर्णी मुखमण्डल का दर्शन किया। फिर धीरे-धीरे, पर पता नहीं चला कब, सारा सोना अन्तर्धान हो गया। रह गया आकाश का ठण्डा शुद्ध नील वर्ण, शरद्कालीन “अतसी पुष्प-संकाश” निर्मल नीलवर्ण। विद्रुम नहीं, सोना नहीं, कुछ नहीं, शुद्ध नीलवर्ण, चिन्मय नीलिमा। इस आदिगन्त ठण्डे नीलवर्ण को देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। सबके चेहरे साफ हो गये। सबने अपना असली रूप पा लिया। सारी राजरज और अंगराग हवा हो गये। पर यह ठण्डा नीलाकाश स्थायी दृश्य नहीं था। गायत्री अपने नीलवर्ण की एक क्षणिक झाँकी दिखाकर अत्यन्त अल्पकाल में ही अन्तर्धान हो गयी। और, आकाश पर इस बार दुबारा कान्ति बढ़ने लगी। शुद्ध धवल या श्वेत वर्ण की कान्ति मैंने अनुभव की : अत्यन्त सूक्ष्म रूप में गायत्री का पाँचवाँ मुख धवल मुखमण्डल आकाश में उद्भावित हो रहा है, इस श्वेत स्वच्छ दिवस के चेहरे में, न केवल आकाश में बल्कि धरती-आकाश-अन्तरिक्षव्यापी दिवस के सम्पूर्ण निर्मल धवल रूप में गायत्री का यह पंचम मुखमण्डल व्यक्त हो रहा है। यद्यपि दिवस के कोलाहल के कारण और माया के सतरंगी दृश्यों के द्वारा दृष्टि अंवरत आकर्षित होने के कारण इस अन्तिम रूप को पहचान पाना अधिक कठिन है। माया अवसावधान हो गयी है। वह तमसा की चादर समेट कर, अपने सतरंगी वर्ण-पट का विस्तार

कर रही है। आँखें उसी की ओर खिंच जाती हैं और शान्त नीलारुण क्षणों की एकाग्रता नहीं आ पाती। तो भी चेष्टा करने पर गायत्री के इस श्वेत-धवल, निरञ्जन चेहरे का आविष्कार हो ही जाता है। मैंने आज ‘औदरदानी’ के आशीर्वाद से इसका चाक्षुष रसबोध प्राप्त कर लिया, यह मेरा सीमाग्रह है।

धीरे-धीरे धवलता प्रखर रूप लेने लगती है। स्वच्छ प्रभा-भास्कर दिवस का रूप मोती जैसा न रहकर, तेजस्वी होकर चमकते खड्ग जैसा हो उठता है। नगर में पण्य-कोलाहल बढ़ता जा रहा है। घाट पर जन-समारोह बढ़ता जा रहा है। “काशीविश्वनाथ गंगे” की महाध्वनि रह-रह-कर कानों में अब अधिक पड़ने लगी है। इस घाट से कुछ हटकर भीतर जल में अट्टालिकाओं जैसी आकृतियाँ बिम्बित हो रही हैं। मायाजल के प्रवाह में बिम्ब काँप रहे हैं, गोया काम-क्रोध के दबाव से यह बिम्ब-जगत् भी निरन्तर टेढ़ा-मेढ़ा हो रहा है। मैं एक अद्भुत मानसिक प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ कि इस कोलाहलमय माया-समारोह और इस निरन्तर काँपते बिम्ब-जगत् के मध्य बैठे-बैठे मैंने बिना परिश्रम के ही, बिना किसी जपतप के ही ‘औदरदानी’ को कृपा से आज गायत्री के उन पाँच चेहरों की छवि को देख लिया, जिनकी चर्चा एक बार महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के मुख से सुनी थी और विश्वास किया था। इसलिए यहाँ पर आकर बैठा। देखा, बात सच निकली। यों यह विश्वेश्वर और काशी का ही प्रभाव है। यह भूमि ही ऐसी है कि यहाँ पर रहकर तीनलोक से न्यारी बातें सूझती हैं, तीन-लोक से न्यारे होकर, मुमुक्षु होकर जीने की इच्छा होती है, तीन-लोक से न्यारे होकर त्रि-गुणात्मक अनुभव भोगने की इच्छा होती है। तीन लोकों की स्वार्थ-सीमा से मुक्ति दिलाने वाली यह पुरी “मुक्ति जन्म-महि जानि ज्ञान खानि अथ हानिकर” कही गयी है। बाहर के लोग कहते हैं काशी शिव के त्रिकण्टक शूल के ऊपर स्थित है, काशी दुनिया से बाहर है, तीन लोक से न्यारी है। तो ये बाहरवाले ठीक ही कहते हैं। ये बाहर वाले मेरी उपर्युक्त चर्चा को भी तीन लोक से न्यारे किसी सिर-फिरे गप्पी की चर्चा मानकर मुझे क्षमा कर देंगे। परन्तु काशी वाले काशी को तीन लोक से न्यारी नहीं मानते हैं। तीन लोकों के भीतर ही मानते हैं। परन्तु कहाँ ? पुरुष के ललाट में, दोनों भौंहों के मध्य में, जहाँ शिव का तीसरा

नेत्र रहता है, जहाँ बुद्ध का अवलोकितेश्वर बिन्दु था, जहाँ पर हम सबकी गुप्त आँख है जो अविद्या के आवरण से मुँदी हुई रहती है, वहीं पर ललाट के मध्य 'काशी' है, वहीं पर तेजोमयी हैमवती कन्या निवास करती है, उसी ध्यानलोक को 'सूक्ष्मकाशी' कहते हैं, उसी ध्यानलोक के सहयोग से सारे दिव्य दर्शन, सूक्ष्म-दर्शन तथा ज्ञान-विज्ञान के सारे प्रज्ञान (intuition) प्राप्त होते हैं; इस सूक्ष्म 'काशी'

के ऊपर कपाल में, ब्रह्मरन्ध्र में सहस्र दलों वाला ज्योतिर्मय कमल है, आदि-आदि ! बाहर वाले फिर कहेंगे "ये बातें भी लोक से न्यायी बातें हैं ।" मैं स्वयं काशीवाला नहीं हूँ, पर जन्मतः काशिका-क्षेत्र का होने से "तीन लोक से न्यायी" बातों में पूर्ण विश्वास करता हूँ । इसी से मैं अपने इस अनुभव को 'फन्तासी' या 'गप्प' न मानकर बोध और प्रज्ञान मानता हूँ ।



प्रवाह में आनन्द

— स्वामी रामतीर्थ

तालाब ने नदी से कहा—“तुम बड़ी मूर्ख हो, जो अपना जल खारे समुद्र में बराबर उड़ेलती रहती हो । क्या मिलता है तुमको इसके बदले में ? समुद्र तो फिर भी खारा ही रहता है ।” नदी ने उत्तर दिया—“बहना मेरा काम

है । मुझे तो उसी में आनन्द मिलता है । प्रतिदान या फल के बारे में मैं कभी नहीं सोचती ।” नदी ने अपना प्रवाह पूर्ववत् जारी रखा । वह बराबर बहती रही, लेकिन तालाब का स्थिर पानी सूख गया ।



‘मुमुक्षु’ के शुभचिन्तकों से निवेदन

‘पाठकों की प्रतिक्रिया’ से मुमुक्षु के शुभचिन्तकों को विदित होगा कि छह मास के शैशव-काल में ही ‘मुमुक्षु’ ने आशातीत लोकप्रियता प्राप्त कर ली है । उनकी साज-सज्जा, रेखांकन तथा रचना-संकलन से प्रभावित होकर कुछ उदार सहृदय पाठकों ने विशेष सहायता प्रदान की है और कुछ ने आजीवन सदस्यता के शुल्कादि नियमों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण जिज्ञासा प्रकट की है । एतदर्थ हम यहाँ विभिन्न ग्राहक-श्रेणियों के शुल्कादि नियम प्रकाशित कर रहे हैं । साथ ही आशा करते हैं कि मुमुक्षु के प्रत्येक हितैषी कम से कम पाँच ग्राहक अवश्य बनाएँगे ।

१. विशेष सहायक—जो सज्जन प्रतिवर्ष १०१) काशी मुमुक्षु भवन सभा को सहायता प्रदान करेंगे । ऐसे उदार दाताओं को ‘मुमुक्षु’ पत्रिका के अतिरिक्त सभा द्वारा प्रकाशित और प्रचारित साहित्य निःशुल्क प्रदान किया जायगा तथा वर्ष में एक सप्ताह के लिए उन्हें निःशुल्क आवासीय सुविधा प्रदान की जायगी ।
२. आजीवन ग्राहक—जो सज्जन एक साथ मनिआर्डर या ड्राफ्ट द्वारा २५१) भेजेंगे, उन्हें जीवन-भर ‘मुमुक्षु’ प्राप्त होता रहेगा ।
३. साधारण ग्राहक—जो सज्जन लागत मूल्य से भी कम वार्षिक शुल्क १५) मनिआर्डर या पोस्टल आर्डर से भेजेंगे उन्हें वर्ष भर ‘मुमुक्षु’ मिलता रहेगा ।
४. सहयोगी ग्राहक—जो सज्जन मुमुक्षु के कम से कम १५ साधारण ग्राहक बनायेंगे उन्हें सहयोगी के रूप में निःशुल्क एक वर्ष मुमुक्षु पत्रिका मिलती रहेगी ।

सूचना—मनिआर्डर, बैंक ड्राफ्ट, पोस्टल आर्डर, स्थानीय चेक ‘काशी मुमुक्षु भवन सभा’ के नाम से ही भेजना चाहिए । —मन्त्री, काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी, वाराणसी-५ ।

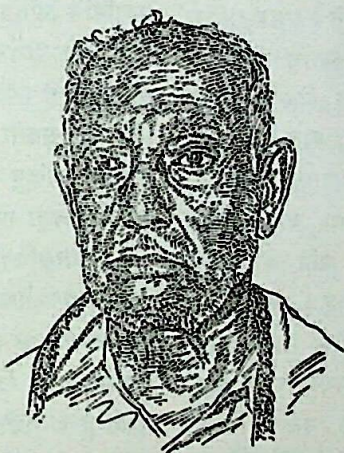
आसन से उत्थान और आकाश-गमन

— महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

(२)

शेखजी ने, जो बहुत अलौकिक शक्ति-सम्पन्न योगी थे, अपनी योगशक्ति के द्वारा भगवान् को माया का प्रभाव, विभिन्न प्रकार के दृश्यों में दिखलाते हुए, उनके सामने उपस्थित किया। उन्हें देखकर 'देशकाल का रहस्य अत्यन्त गम्भीर है, यह माया का ही खेल है, एक क्षण के भीतर युगयुगान्तव्यापी काल का स्फुरण हो सकता है तथा विशाल काल में भी एक क्षण की अनुभूति हो सकती है। इसी प्रकार, देश में भी समझना चाहिए। एक बिन्दु मात्र स्थान में विराट् सिन्धु का प्रत्यक्ष आविर्भाव हो सकता है तथा विराट् समुद्र भी सृष्टि-भेद से एक बिन्दु के सदृश प्रतीत हो सकता है, यह सुलतान की समझ में आया और स्पष्ट हृदयंगम हुआ कि मुहम्मद साहब का अनुभव किसी प्रकार अविश्वसनीय नहीं है। भगवत्-शक्ति के प्रभाव से अणु में महान् और महान् में भी अणु सिद्ध होता है।

प्रकृति के अवयव सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों में तमोगुण का धर्म है गुरुत्व और आवरण, किन्तु सत्त्वगुण का धर्म है ठोक इसके विपरीत, अर्थात् लघुत्व और प्रकाश। क्रियाशील रजोगुण दोनों के बीच रहकर सत्त्व को तम में और तम को सत्त्व में ले जाने की चेष्टा करता है। तपस्या, योगक्रिया, प्रार्थना, ध्यान आदि सत्त्वगुणाश्रित रजोगुण की क्रियाएँ हैं। इन क्रियाओं के प्रभाव से सत्त्वगुण का आधिक्य होने से तमोगुण दब जाता है। इसलिए देह का गुरुत्व घट जाता है एवं देह क्रमशः प्रकाशमय सत्त्वगुण में परिणति-लभ करती है। इसके कारण जो आवरण स्थूल देह को आवृत कर रखता है, वह हट जाता है और देह केवल हल्की ही



लेखक

हो, यह बात नहीं है, तेजोमय अवस्था भी उसे प्राप्त होती है। यह थोड़ा अधिक परिमाण में होने पर देह का लघुत्व होता है—यह देहस्थित सत्त्वगुण का उत्कर्ष होने पर ही सम्भव है। यह उत्कर्षलाभ प्राणायाम के द्वारा, जप के द्वारा अथवा अन्य किसी उपाय से हो सकता है। जब तक देह सत्त्वगुण-प्रधान रहती है, तभी तक तेजोमय या शुद्ध ज्योतिर्मय रहती है एवं उसके ऊपर मध्याकर्षण-क्रिया कम मात्रा में अनुभूत होती है। इसी का नाम देह को लघुता है। इसी के कारण देह वायु-समुद्र में ऊपर की ओर उत्थित होने की चेष्टा करती है। देह की लघुता अत्यन्त अधिक होने पर वह ज्योतिर्मय होकर एवं गुरुत्वरहित होकर वायुमण्डल के ऊपरी स्तर में उठ जाती है। उस समय तमोगुण अत्यन्त दबा रहता है। इसी का नाम देह का उत्थान है। यदि कुण्डलिनी-शक्ति का प्रबल रूप से जागरण हो, तो यह स्वभावतः हो जाता है। कुण्डलिनी-शक्ति की सुप्तावस्था का भंग होने पर यही चैतन्य-शक्ति के रूप में प्रकट होती है।

चैतन्य-शक्ति-युक्त देह ही चेतन देह है। देह की यह चेतनता सामयिक न होकर स्थायी होने पर अणु, परमाणु तक में परिवर्तित हो जाती है।

कुम्भक से भी किसी-किसी का आसन भूतल से थोड़ा-बहुत उत्थित होता है। हम लोगों के चारों ओर जो वायु-मण्डल है, उस वायु से आभ्यन्तर वायु के हल्की होने पर हम लोगों की देह स्वभावतः ही वायुमण्डल के ऊपर की ओर उठने की चेष्टा करती है। मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी-रूप बिंदुनि के प्रज्वलित होने पर भीतर की वायु उस अग्नि के ताप से तपकर लघुत्व को प्राप्त होती है। देह के

उपादान के सत्त्वगुण में रूपान्तरित होने पर वायु के साथ ही देह भी उत्थित होती है। देह के उत्थित होने पर ही आकाश में गमन या आकाश में संचरण सिद्ध नहीं होता। उसके लिए और भी अधिक प्रयास आवश्यक है।

आलोच्य विषय को और स्पष्ट करके कहने की चेष्टा की जा रही है। सम्पूर्ण जगत् का आश्रय करके सृष्टि-अवस्था में जैसे दो विरुद्ध शक्तियाँ क्रिया करती हैं, वैसे ही हम लोगों को जीव-देह का आश्रय करके भी निरन्तर दो विरुद्ध शक्तियों की क्रिया हो रही है। इन दो शक्तियों में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता रहती है। जब एक प्रबल होती है, तब दूसरी क्रमशः दब जाती है। क्रमशः ऐसा समय आता है, जब वह प्रबल शक्ति ही विराजमान होती है। किन्तु इसके बाद वह अभिभूत (दबी हुई) शक्ति फिर धीरे-धीरे जग उठती है। तब वह शक्ति ही प्रबल होती है। पहली शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होकर लुप्तप्राय हो जाती है। बाद, एक समय आता है, जब दूसरी शक्ति का ही प्राधान्य रहता है। प्रथम शक्ति नाम-मात्र रह पाती है। इस प्रकार, परिवर्तन निरन्तर चल रहा है। जीव-देह में सर्वत्र हो यह खेल दिखाई पड़ता है। जड़ में भी बहुत-कुछ अंशों में यही बात है। इस आवर्तन का नाम ही शुद्ध भाषा में कालचक्र का आवर्तन है। चढ़ना और उतरना या भीतर आना तथा बाहर जाना इसका स्वभाव है। इस आवर्तन के बाहर यदि जाना हो, तो मध्य मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। मध्य मार्ग कहने से सन्धि की प्रतीति होती है, जहाँ दोनों का समभाव विद्यमान है। दिन और रात्रि के मध्य में अथवा रात्रि और दिन के मध्य में जैसे सन्धि है, वैसे ही इन दो विरुद्ध शक्तियों के बीच भी एक सन्धि-स्थान है। चाहे जिस किसी कौशल से हो, इन विरुद्ध शक्तियों को साम्यावस्था में ला सकने पर सन्धि का पता चल जाता है। तब मध्यम मार्ग प्राप्त हो जाता है, जिसे बुद्धदेव कहते हैं—‘मध्यम प्रतिपद’ इसका आश्रय लिए बिना कोई भी योगी योग-सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर सकता। इस मध्यम पथ की प्राप्ति होने पर ही ऊर्ध्वगति आरम्भ होती है। मध्यम पथ की जो प्राप्ति है, वही कुण्डलिनी का उद्बोधन भी है। यही मार्ग सत्य है, ऊर्ध्वगति क्रमशः बढ़ते-बढ़ते देह की ऊर्ध्वसीमा में पहुँच जाती है, इसी को कहते हैं मेरुशिखर। योग भाषा में यही हुआ आज्ञाचक्र-भेद, जिसके कारण सहस्रदल के महाबिन्दु में स्थिति सम्भव होती है। आसन का उत्थान आदि इस

ऊर्ध्वगति के समकालीन व्यापार हैं। इसी का नाम व्याप्ति है। आकाश-गमन आदि इसी व्याप्ति के पूर्वकालीन आनुषंगिक व्यापार-मात्र हैं। खेचरी अवस्था की पूर्णता होने पर यह व्याप्ति स्वभावतः ही प्रकट होती है। पीछे जो कहा गया है, उसका अनुसन्धान कर आसन-उत्थान और आकाश-गमन का भावगत सम्बन्ध किस प्रकार का है, यह कुछ-कुछ समझ में आ-जायगा। असली बात यह है कि विरोध के समन्वय के बिना ऊर्ध्वगति का सूत्रपात नहीं होता।

योगवासिष्ठ में लिखा है कि आकाश-गमन आदि की शक्ति जीवन्मुक्त देह में नहीं होती। आत्मविद् इन सब शक्तियों को नहीं चाहते। वह वस्तु-स्वभाव है। आत्म-ज्ञान या मुक्ति न होने पर भी आकाश-गमनादि द्रव्य, मन्त्र, क्रिया और काल शक्ति से उद्भूत हो सकते हैं। द्रव्य-शक्ति, जैसे मणि, औषध आदि। जैसे गुटिका-सिद्धिविद् जानते हैं कि यथाविवि निमित्त संस्कारयुक्त पारद की गुटिका के प्रभाव से देह की ऊर्ध्वगति होती है। यहाँ तक कि खेचरीत्व भी हो सकता है। मन्त्र, अर्थात् मन्त्रशक्ति के द्वारा भी आकाश-गति हो सकती है। ‘क्रिया’ से यहाँ योगाभ्यास आदि समझना चाहिए। ‘कालशक्ति’ का प्रभाव भी अचिन्त्य है। इसीलिए कहा गया है :

अनात्मविद् अशुक्लोऽपि नभोविहरणादिकम् ।

द्रव्यकर्मक्रियाकालशक्त्या प्राप्नोति राघव ॥

तत्त्वज्ञ या अतत्त्वज्ञ पुरुष क्रमानुसार साधन करने पर (मणि, द्रव्य, क्रिया आदि द्वारा) ऊर्ध्वगति आदि प्राप्त कर सकते हैं। नभोगति, सिद्धि, काल—इन सबको आत्मज्ञ नहीं चाहते। नियति के क्रमानुसार ये सब सिद्धियाँ होती हैं। देवादि की खेचरता आदि तथा वस्तु-स्वभाव स्वतः सिद्ध हैं।

पतंजलि का मत है, यदि आकाश-गमन करना हो तो देह और आकाश के बीच जो परस्पर सम्बन्ध है, उसमें संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) करके उसे आयत्त किया जाता है। आसनादि में देह चाहे जहाँ रहे, वहीं आकाश भी है। कारण, आकाश सर्वव्यापक और सर्व वस्तुओं का अवकाशदायक है। आकाश के साथ देह का व्याप्ति-रूप जो सम्बन्ध है, उसे एकाग्र चिन्तन द्वारा अपनी इच्छा के अधीन करना पड़ता है। तब साथ-ही-साथ देह हल्की हो जाती है। मध्याकर्षण की क्रिया नष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त

तूल से परमाणु पर्यन्त अत्यन्त हल्के पदार्थ में चित्त लगने पर भी देह में हल्कापन आता है। तब आकाश आदि में संचरण करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। उसके बाद सूर्य-राशि में विहार किया जा सकता है। वास्तव में ये सब राशियाँ ही साधारणतः आकाश में यातायात के मार्गरूप हैं।

बौद्ध आचार्यों ने आकाश के गमनागमन के विषय में बहुत विचार किया है। बुद्धदेव की छह अभिज्ञाएँ हैं—उनमें एक का नाम 'ऋद्धि' है। वस्तुतः प्रथम अभिज्ञा ही ऋद्धि-पद-वाच्य है। अभिज्ञाएँ योगी-मात्र की हो सकती हैं, उनके लिए आर्य या अनार्य का कोई भेद नहीं, अर्थात् बुद्धोपदिष्ट धर्म ग्रहण न करके भी ऋद्धि प्राप्त करना सम्भव है। वास्तव में, छह अभिज्ञाओं में ऋद्धि आदि पहली पाँच अभिज्ञाएँ ही बौद्ध-मतानुसार अवोद्वेगों को भी हो सकती हैं। किन्तु छठी अभिज्ञा या आसन्न क्षयज्ञान (साक्षात्कार-अभिज्ञा) आर्य या बौद्ध के सिवा दूसरों को नहीं हो सकता। बौद्ध-योगियों के मत में आकाश-गमन नामक सिद्धि तीन श्रेणियों में विभक्त हो सकती है—(क) वहन-गति : जैसे, पक्षी अपने शरीर द्वारा आकाश में आरोहण करते हैं, यह गति भी उसी तरह की है। यह श्रावक और प्रत्येक बुद्ध की होती है। (ख) द्वितीय गति का नाम है, अधिमोक्षगति। यह गति वस्तुतः योगी की है, अपनी देह की गति नहीं है। यह संकल्प के बल से दूरस्थित वस्तु का निकट में आगमन-मात्र है। योगी को वस्तुतः लक्ष्य-स्थल पर जाना नहीं पड़ता। दूसरे शब्दों में, लक्ष्य वस्तु ही योगी के निकट उपस्थित हो जाती है। (ग) तृतीय है मनोवेग-गति, यह एकमात्र शास्ता या बुद्ध की ही हो सकती है, अन्य को नहीं। वहन-गति में अपनी देह को बाहर ले जाना पड़ता है, अधिमोक्ष-गति में जाना नहीं पड़ता, वस्तु ही निकट आ जाती है। कहावत है, मुहम्मद पहाड़ के पास नहीं जाता, पहाड़ ही मुहम्मद के पास आता है। तीसरी गति अतिक्षिप्र है, इसलिए अन्यत्र उसको 'मनोजवित्व' कहा है। योग-सूत्रकार भगवान् पतंजलि के मत में मनोजवित्व-इन्द्रिय-जय से उत्पन्न मधुप्रतीकसिद्धि के अन्तर्गत है। इसे भाष्यकार ने कार्य का अनुत्तम गति-लाभ कहा है। सिद्ध योगी जिस

शक्ति द्वारा जिस किसी क्षण में जिस किसी दूरवर्ती प्रदेश में स्थूल सत्ता लेकर प्रकट हो सकता है, उसका नाम मनोजवित्व है। यह बुद्ध के अतिरिक्त दूसरे को प्राप्त नहीं होता। बौद्ध लोग 'ऋद्धि' से समाधि का ग्रहण करते हैं। इसके दो भेद—अर्थात् इसका फल आकाश-गमन और निर्मिति, यानि इच्छानुसार रचना—ये दोनों ही हो सकते हैं। पाशुपत योगी महेश्वर के परम ऐश्वर्य को ज्ञान-शक्ति और क्रियाशक्ति—इन दो भागों में विभक्त करते हैं। उनमें मनोजवित्व, कामरूपित्व और विकरणधर्मित्व के भेद से क्रियाशक्ति तीन प्रकार की है। सिद्ध योगी अपनी महेश्वरता का लाभ कर सकते हैं, इसलिए मनोजवित्व सुतरां उनके अधीन है।

तिब्बत में इस समय भी प्रचलित आकाश-गमन के पूर्वाभास-स्वरूप देह के लाघव-निबन्धन क्षिप्रगति की साधना कोई-कोई जानते हैं। इस प्रक्रिया को तिब्बती भाषा में 'लांगोम' कहते हैं। जो इस तरह संचरण करते हैं, उन्हें 'लांगोम्पा' कहते हैं। अलेक्जेंडर डेविड नील ने तिब्बत में अपने निवास-काल में इस प्रकार के तीन सिद्ध पुरुषों के दर्शन किये और गति भी देखी। इसका वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक 'दि मिस्टिक्स एण्ड मैजिशियन्स इन तिब्बत' के छठे अध्याय में किया है। यह गति आकाश-गमन का ही एक प्राथमिक रूप है। उसका कारण यह है कि इस प्रकार गमन-काल में भूमि-स्पर्श नहीं होता और गमनकारी का चित्त भी लक्ष्य में एकाग्र होता है। उन्होंने कहा है—

"As a result of long years of practice, after he has travelled over in certain distance the feet of the Longom-pa no longer touch the ground and he glides on the air with an extreme clarity."

अर्थात् दीर्घकाल के अभ्यास के फलस्वरूप कुछ दूर चलने के बाद लांगोम्पा के चरण फिर भूमि-स्पर्श नहीं करते और वे वायुमण्डल का भेदन कर अनायासतया तीव्र वेग से अग्रसर हो सकते हैं।

विषयों पर ये संस्कृतमयी, लच्छेदार तथा कठिन भाषा का प्रयोग इतना अधिक करते थे कि श्रोताओं के समूह में शायद ही दो-चार व्यक्ति इनके आशय को समझने में समर्थ हो सकते थे। परन्तु धीरे-धीरे इन्होंने अपने भाषण के स्तर को सरल बनाया जिससे सभी लोग आसानी से समझ सकें।

भक्तिरस के विवेचन में भी करपात्री जी बड़े ही अनुरागी व्याख्याता थे। श्रीमद्भागवत की व्याख्या की ओर इनका नैसर्गिक आकर्षण था। राधा-माधव की लीलाओं के रहस्य का उद्घाटन ये इतनी सुन्दरता से करते थे कि कथा को सुनने वाले लोग मुग्ध हो जाते थे।

भक्तिरस का उदय तथा अभ्युदय, विचार एवं विश्लेषण—सब कुछ श्रीमद्भागवत के अनुशीलन का व्यापक फल है और इस महनीय कार्य के सम्पादन का श्रेय मिलना चाहिए काशी के अद्वैत वेदान्त के मनीषी संन्यासियों को ही। इसी काशी नगरी के महनीय अद्वैती संन्यासी श्रीधर स्वामी ने अपनी 'भावार्थदीपिका' नामक भागवत की व्याख्या के द्वारा भागवत के गम्भीर अर्थ को सर्वसाधारण के लिए सरल तथा सुबोध बनाया। यह घटना १४वीं

शताब्दी की है। इसके तीन शताब्दी बाद में विद्यमान गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन मधुसूदन सरस्वती शुष्क ज्ञानमार्ग के अनुयायी, अद्वैतवादी संन्यासी ही नहीं थे प्रत्युत भक्तिरस के व्याख्याता एवं भक्ति-स्निग्ध हृदय से सम्पन्न एक महामान्य साधक तथा भक्त भी थे। अद्वैत सिद्धि जैसे अद्वैत ज्ञान से मण्डित ग्रन्थ-रत्न के प्रणेता होने के साथ ही साथ वे 'भक्तिरसायन' जैसे भक्तिरस की व्याख्या करने वाले ग्रन्थ के रचयिता भी थे। चौसठवीं घाट पर विद्यमान अपने मठ में रहने वाले मधुसूदन सरस्वती काशी की ही प्रतिभाशाली विभूति थे। १८वीं शती में विराजमान स्वामी नारायणतीर्थ ने जहाँ वेदान्त के गम्भीर ग्रन्थों का प्रणयन किया, वहीं वे 'शाण्डिल्य भक्तिसूत्र' की भक्ति-चन्द्रिका नामक व्याख्या लिखकर भक्ति के तत्त्व, प्रकार तथा साधना को वेद मन्त्रों के द्वारा प्रतिष्ठित करने वाले व्याख्याकार थे। ये भी वाराणसी के ही संन्यासी सम्प्रदाय के अलंकार थे। स्वामी करपात्री जी भी काशी की इसी भक्तिमार्गीय, भागवती, अद्वैती संन्यासियों की परम्परा के मुकुटमणि के रूप में विराजमान थे।

[श्रीराम की खोज—पृष्ठ १६ का शेषांश]

संस्कृति में गंगा और मन्दिर दोनों को आदर का स्थान प्राप्त है। पर मन्दिर और गंगा में बहुत अन्तर है। मन्दिर एक स्थान विशेष में है, वह स्थिर है पर गंगा एक जगह स्थिर नहीं है। वह सतत प्रवहमान है। मन्दिर कहता है कि मैं तो समय पर खुलता हूँ और समय पर बन्द हो जाता हूँ। भाई पहले स्नान करो पवित्र बनो, तब मेरे पास आओ। जब कि गंगा कहती है—जैसे भी हो मेरे पास चले आओ। मुझमें गोता लगाकर पवित्र हो जाओ।

नदी या सरोवर की ओर जब हम जाते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति की एक ही दृष्टि नहीं होती। कोई वहाँ स्नान करने के लिए जाता है, तो कोई जल पीने के लिए, तीसरा व्यक्ति कपड़ा साफ करने के लिए जाता है तो चौथा जाता है उसकी गहराई में गोता लगाने के लिए। तुलसीदासजी इन चार घाटों की कल्पना द्वारा हम सबको सरोवर में आने का आमन्त्रण देते हैं। वे कहते हैं—हमारे श्रीराम का चरित्र दिव्य जल से भरे सरोवर की तरह है। जब कोई व्यक्ति

स्नान करने के लिए जायेगा तो सबसे पहले उसकी दृष्टि इस ओर जाएगी कि सरोवर का जल साफ है या नहीं। यदि जल स्वच्छ नहीं है तो नहाने का मन नहीं करेगा। और जो व्यक्ति जल पीने के लिए जाएगा उसकी दृष्टि स्वच्छता पर ही केन्द्रित नहीं रहेगी, वह यह भी देखेगा कि जल पीने में मिठा और शीतल है या नहीं। पर जो व्यक्ति तैरने के लिए जायेगा वह केवल स्वच्छता, मिठास अथवा शीतलता पर ही दृष्टि नहीं डालेगा, वह यह भी देखेगा कि जल में गहराई है या नहीं।

तुलसीदासजी का संकेत यह है कि जो चरित्रवादी धार्मिक प्रवृत्ति के लोग हैं, वे आवें और भगवान् श्रीराम के चरित्र की स्वच्छता में अपने चरित्र को स्वच्छ बनावें। उन्होंने कहा है कि जो लोग सगुण=साकारवादी (चरित्रवादी) हैं उनके लिए श्रीराम के चरित्र की शुद्धता और पवित्रता ही जल की स्वच्छता है। जो लोग ज्ञानी हैं, तैराक हैं, गहराई में जाना चाहते हैं, उन्हें भी गोस्वामीजी निमन्त्रण देते हैं।

मणिमाला का सुमेरु

कलकत्ते की सामाजिक एवं सांस्कृतिक मणिमाला की एक-एक मणि धीरे-धीरे क्रूर काल को समर्पित होती जा रही है। विगत कुछ ही दिनों में सर्वश्री रामेश्वर टॉटिया, भागीरथ कानोडिया, रामकुमार भुवालका, रामेश्वरलाल नोपानी, चिरंजीलाल बाजोरिया और ब्रजमोहन बिरला जैसी देदीप्यमान मणियाँ अपना यशःप्रकाश छोड़कर सदा के लिए बुझ गयीं। और, अब उस मणिमाला के सुमेरु श्री सीताराम सेकसरिया भी हमारे बीच नहीं रहे। वे १७ मार्च को प्रातः साढ़े तीन बजे ब्राह्ममुहूर्त में इहलीला समाप्त कर दिव्यलोक के यात्री बन गये।

श्री सीताराम सेकसरिया का जन्म सन् १८९२ में राजस्थान के सुप्रसिद्ध नगर नवलगढ़ में हुआ था। वहीं आपने तरुणावस्था में ही विद्याविवर्धन पुस्तकालय की स्थापना कर समाज-सेवा के क्षेत्र में प्रवेश किया। उसके पश्चात् तो समाजसेवा की एक लम्बी शृंखला शुरू हो गयी। देश की अनेक साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक संस्थाएँ आपकी सेवा-परायणता, निष्ठा और समर्पण-भावना के मूर्त स्मारक हैं, जिनमें शिक्षाव्ययन हाई स्कूल, शिक्षा-व्ययन कालेज, मारवाड़ी बालिका विद्यालय, कलकत्ता, वनस्थली विद्यापीठ, जयपुर, लोहिया मातृसेवासदन, भारतीय संस्कृति संसद, अमिनव भारती, टॉटिया हाईस्कूल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, गांधी विद्यामन्दिर, सरदार शहर, भारतीय ज्ञानपीठ, खादी मण्डार, कलकत्ता आदि प्रमुख हैं जिनसे श्री सेकसरिया जी विभिन्न रूपों में जुड़े रहे।

भारतीय भाषा परिषद् आपके जीवन की महत्त्वपूर्ण देन है। जीवन के अन्तिम वर्षों में उनके सामने एक ही महान् लक्ष्य था—भारत की विविध भाषाओं और उनके साहित्य तथा साहित्यकारों के अध्ययन, चिन्तन, मनन के लिए एक केन्द्रीय स्थल बने। आज इस लक्ष्य की सिद्धि के रूप में लगभग ६० लाख रुपये से निर्मित भारतीय भाषा-परिषद् का विशाल भवन अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ श्री सीतारामजी सेकसरिया की कीर्ति-पताका फहरा रहा है।

ऐसा मनीषी, ऐसा साहित्यसेवी, ऐसा सहृदय समाजसेवी आज हमारे बीच से उठ गया।

सन् १९६२ में भारत सरकार ने श्री सेकसरिया जी की महत्त्वपूर्ण देशसेवा के उपलक्ष्य में उन्हें 'पद्मभूषण' उपाधि से विभूषित किया।

श्री सेकसरिया जी प्रतिदिन नियमित रूप से प्रातः विक्टोरिया भ्रमण करते थे। पिछले नवम्बर महीने में मेरी उनसे भेंट हुई थी। मैंने उन्हें 'मुमुक्षु' पत्रिका भेंट की। बड़े स्नेह से उन्होंने मुझे आशीर्वाद प्रदान किया।

आज सेकसरिया जी यद्यपि हमारे बीच नहीं हैं तथापि उनकी स्मृति अमर है। उनका अभाव भावी पीढ़ी को निरन्तर खटकता रहेगा।

श्री सेकसरिया जी के परिवार में श्री दिलीप सेकसरिया और श्री अशोक सेकसरिया उनके प्रतिभावान् पुत्र हैं तथा उनकी दो पुत्रियाँ बाई पानादेवी और बाई विजया पोद्दार हैं।

आशा है, यह परिवार स्व० सेकसरिया जी की सेवा-परम्परा को आगे बढ़ायेगा।

मुमुक्षु परिवार की ओर से हम श्री लक्ष्मीचन्द जैन की वाणी में अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित कर रहे हैं :—

“बार-बार खोजते हैं, हम, कोई ऐसा विशेषण जो प्रतिबिम्बित कर दे मन में बसा वह सम्पूर्ण व्यक्तित्व जिसके एक आयाम में समाहित है प्रांजल लालित्य, आभा, शोभा, सुख, श्री, और दूसरा आयाम है, वाहक आदर्शों की अवधारणा का, कल्याण का जनहित का। सूक्ष्मता नहीं है कोई विशेषण एकाकी उभर कर आती है हृदय-पटल पर प्रतिच्छवि जिसे हमने जाना है साक्षात्, माना है अविचल श्रद्धा से, नाम-रूप-गुण का जीवन समीकरण श्री सीताराम !”

—पुरुषोत्तमदास मोदी



पुस्तक-समीक्षा

१. योगवाशिष्ठ की आध्यात्मिक कहानियाँ— भारतीय दर्शन ग्रन्थों में योगवाशिष्ठ का एक महत्वपूर्ण स्थान है जिसमें अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। अद्वैत दर्शन का प्रतिपाद्य विषय है—जीव और ब्रह्म की एकता, संसार का मिथ्यापन। ब्रह्म ही मायासक्त जीव है और जीव ही मायामुक्त ब्रह्म। इसीलिए अद्वैत दर्शन के प्रथम व्याख्याता भगवत्पाद जगद्गुरु आचार्य शंकर ने अपने दीक्षागुरु द्वारा परिचय पृष्ठने पर आत्म-परिचय दिया था—चिदानन्दरूप—शिवोऽहम्। अद्वैत दर्शन या अन्य दर्शनों के सिद्धान्त सुनने में जितने सरल लगते हैं, समझ और व्यवहार की दृष्टि से उतने ही कठिन हैं। किन्तु कठिन से कठिन विषयों को कहानी विधा और दृष्टान्तों के द्वारा सरलतम बनाया जा सकता है। इसलिए योगवाशिष्ठकार ने अद्वैत दर्शन को कहानियों के माध्यम से सरलतम शैली में समझाने का सफल प्रयास किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में कहानियों को प्रमुखता देते हुए योगवाशिष्ठ का अद्वैत दर्शन हिन्दी पाठकों के लिए प्रस्तुत किया गया है। किन्तु दार्शनिक विषयों को स्पष्टता देने में उसकी शब्दावली बाधक बनती है। भय रहता है कि सरलता के चक्कर में कहीं विषय-वस्तु का वास्तविक स्वरूप ही न लुप्त हो जाय। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक के लेखक के सामने भी यही भय था जिससे वह दार्शनिक क्लिष्ट भाषा का प्रयोग अधिक और कहानी के उपयुक्त सरलभाषा का प्रयोग बहुत कम कर सका है। जैसे—“विषयाकार बुद्धिवृत्ति में स्वयं प्रकाशमान जो आनन्दरूप निश्चय है, तद्रूप आत्मतत्त्व के परिशोधन द्वारा निरतिशय भूमा रूप से आविर्भूत आत्मा का निर्विकल्पक समाधि द्वारा बाह्य और अन्तःकरण के स्पन्दन का त्याग कर हम स्वात्मतत्त्व का निरन्तर अनुभव करते हैं।”

हम नहीं कह सकते कि यह शैली सामान्य हिन्दी पाठकों के लिए कहाँ तक उपयोगी होगी। फिर भी इतना तो निश्चित है कि हिन्दी के द्वारा अद्वैत दर्शन के जिज्ञासुओं का इस पुस्तक से अवश्य ज्ञान-वर्द्धन होगा।

२. भारत के सिद्ध सन्त—प्रस्तुत पुस्तिका में कुछ वर्तमान और कुछ निकट भूत में वर्तमान सिद्ध सन्तों का परिचय दिया गया है जिनकी नामावली इस प्रकार है—सर्वश्री मनमऊ वाले बाबा, हरी बाबा, राधा बाबा, स्वामी ओंकारानन्द सरस्वती, तुलसीमाता, सियारामशरणदास, नवको बाबा, मस्तराम बाबा, स्वामी भगवत्तानन्द सरस्वती, कुरेसरवाले बाबा, स्वामी महादेवानन्द, गोपीनाथदास जी परमहंस, आनन्दमयी माँ और देवरहवा बाबा।

आज के वैज्ञानिक युग में भी लोगों में यह प्रवृत्ति पायी जाती है कि लोग स्वकर्तृत्व पर विश्वास न कर ऐसे सिद्ध सन्त-महात्माओं की तलाश में रहते हैं जिनके चमत्कार और आशीर्वाद से मनोवांछित फल की प्राप्ति हो। ऐसा देखा जाता है कि किसी न किसी सरकारी मन्त्री या अधिकारी को भक्ति महात्माओं को अवश्य प्राप्त है जिससे लोकमान्यता का पथ प्रशस्त होता है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक भी उच्चपदस्थ सरकारी अधिकारी हैं। जैसा कि उनके वक्तव्य से पता चलता है कि सिद्ध सन्त-महात्माओं का पता लगाना उनकी ‘हाबी’ है जिसके द्वारा उक्त सन्तों का परिचय उन्हें प्राप्त हुआ है। अतः जिन पाठकों को ऐसे साधु-सन्तों की तलाश हो उनके लिए यह पुस्तिका उपयोगी सिद्ध होगी। किन्तु ऐसा परिचय परम्परागत श्रद्धा पर न होकर साधु-सन्तों के शास्त्र-वर्णित लक्षणों और उनके व्यवहारों के आधार पर होना चाहिए। अन्यथा श्रद्धा कभी-कभी धोखा भी दे जाती है।



१. लेखक—श्री दशरथनारायण शुक्ल, प्रकाशक—आर. एन. शुक्ल, बरुआ, उन्नाव (उ. प्र.), पृष्ठसंख्या क्राउन १२२, मूल्य तीन रुपये। छपाई-सफाई और कागज साधारण।

२. लेखक—प्रकाशक-वही। पृष्ठसंख्या क्राउन ५८, छपाई-सफाई साधारण, मूल्य दो रुपये।

मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

काशी मुमुक्षु भवन सभा की विभिन्न सेवा प्रवृत्तियों के लिए प्रतिवर्ष उदार दाताओं द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। सन् १९८१-८२ में प्राप्त प्रमुख अनुदानों का विवरण इस प्रकार है—

मण्डारा स्थायी कौश (कच्चा मण्डारा)		१४३६२-००	भवन-निर्माण	१,३२,०००-००
श्री देवीप्रसाद मोर, कलकत्ता			श्री मोदी फाउंडेशन, कलकत्ता	१,००००-००
„ मामनचन्द गुप्त, कलकत्ता			श्रीमती दुर्गादेवी	
श्रीमती कमलादेवी गुप्ता, कलकत्ता			मेमोरियल ट्रस्ट, कलकत्ता	३२,०००-००
श्री बालकिशन जगदीशप्रसाद केडिया, कलकत्ता				<u>१,३२,०००-००</u>
„ खेमचन्द मुरारका, पश्चिम बंगाल				
„ नथमल जानकीदास खेतान, कलकत्ता			जीर्णोद्धार	१४,३००-००
„ कैलाशचन्द्र राजेशकुमार, कलकत्ता			श्री रामेश्वरलाल थरड, वाराणसी	८०००-००
„ हजारीलाल अग्रवाल, कलकत्ता			„ सजनकुमार जैन, वाराणसी	५०००-००
„ लक्ष्मीप्रसाद ओमप्रकाश बजाज, रांची			„ सत्यनारायण अग्रवाल, वाराणसी	१३००-००
„ स्वामी विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती, वृन्दावन				<u>१४,३००-००</u>
श्रीमती चन्द्रलेखा कटासरा, संथाल परगना			यज्ञशाला	
श्रीमती सरस्वती देवी, दरभंगा			श्री राधाकृष्ण झुनझुनवाला,	
देवस्थान सहायता	८२४७-२०		कलकत्ता	२०,०००-००
श्री राजकुमार चौधरी, काठमांडू	३१९३-२०		श्री मुमुक्षुभवन वेदवेदांग महाविद्यालय	१०२६८-००
„ बट्टीदास कोठारी, कलकत्ता	११००-००		श्री विश्वनाथ सेवा ट्रस्ट, कलकत्ता	५०००-००
„ कृष्णा कम्पनी, कलकत्ता	१०००-००		„ श्री बाबू जगमोहनदास	
„ बंशीधर सुलतानिया, बेगूसराय	८००-००		चैरिटि ट्रस्ट, वाराणसी	२३००-००
„ प्रह्लाददास लूंगाटा, वाराणसी	५००-००		श्रीमती दुर्गादेवी रामकुमार बजाज,	
„ नारायण दास बंसल, वाराणसी	५००-००		रांची	११००-००
श्रीमती इन्द्राणी देवी, वाराणसी	२५१-००		श्री माधव संस्कृत पाठशाला ट्रस्ट,	
श्री मदनगोपाल केडिया, कलकत्ता	१५१-००		वाराणसी	१०००-००
„ सत्यनारायण अग्रवाल, वाराणसी	२५०-००		„ शिवमण्डार चैरिटेबुल	
„ विष्णुकान्त मिश्र, वाराणसी	२५१-००		सोसाइटी, कलकत्ता	८६८-००
„ सजनकुमार जैन, वाराणसी	१००-००			<u>१०,२६८-००</u>
„ श्री श्रीराजराजेश्वरी प्रसाद सिंह,			श्री ईश्वर मठ	
वाराणसी	१००-००		श्री धनश्यामदास भगत चैरिटेबुल	
„ स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती, वाराणसी	५१-००		ट्रस्ट, कलकत्ता	२,४६०-००
	<u>८,२४७-२०</u>			

विविध सहायता

१,२२,८५१-००

श्री मदनगोपाल केडिया, कलकत्ता	२५,०००-००
„ कोठारी चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता	२५,०००-००
„ आर्यधर्म सेवा संघ, कलकत्ता	२०,०००-००
„ सीताराम भण्डार, कलकत्ता	२०,०००-००
„ विश्वनाथ सेवा ट्रस्ट, कलकत्ता	२०,०००-००
„ गिरधरदास मोतीरतन मट्ट, कलकत्ता	५,०००-००
„ लक्ष्मीप्रसाद नारसरिया, वाराणसी	४०००-००
„ स्वामी विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती (जजस्वामी) आनन्दवृन्दावन	१२५०-००
„ रामेश्वरलाल नोपानी, वाराणसी	११०१-००

श्री अलकापुरी जन कल्याण ट्रस्ट,

कलकत्ता

१५००-००

१,२२,८५१-००

कुल योग ३,२४,४८८-२०

‘मुमुक्षु’ के लिए मार्च १९८२ में प्राप्त

विशेष सहायता

५०४-००

श्री रामभवतार केडिया, मेदिनीपुर	१०१-००
श्रीमती दुख्खीदेवी खेतान, कलकत्ता	१०१-००
श्री ज्ञानचन्द जैन, कलकत्ता	१०१-००
श्री हनुमानप्रसाद साहू, कलकत्ता	१००-००
श्री राजहंस फैब्रीकेटर्स, वाराणसी	१०१-००
	५०४-००



[सीतारामजी सेकसरिया—पृष्ठ ४ का शेषांश]

में वैविध्य रहा, तथापि उनके व्यक्तित्व और उनकी दक्षता की अमिट छाप उसपर पड़ती रही। उनकी इस योग्यता को सार्वजनिक रूप में स्वीकार किया गया, परन्तु स्वयं उन्होंने कभी भी ख्याति की आकांक्षा नहीं की। अपनी कार्यदक्षता और कार्यनिष्ठा के परिणामस्वरूप वे स्वतः विख्यात हो गये।

पहले कुछ समय वे राजनीति में भी सक्रिय भाग लेते रहे और “भारत छोड़ो” आन्दोलन के समय उन्हें कारावास भी मिला था। वे गांधीजी के निष्ठावान् अनुयायी थे। जब लोगों ने गांधीजी को ही भुला दिया तब सीतारामजी ने भी राजनीति से संन्यास ले लिया। राजनीति से अलग होकर भी वे सतत रचनात्मक कार्यों में अपने आपको लगाये रहे।

सीतारामजी के बारे में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि वे सदा सस्मित रहते थे। मैंने कभी भी उन्हें निराशावादी नहीं पाया। १९२७ के प्रथम साक्षात्कार के बाद अब तक अनेक घटनाएँ घट चुकी हैं। “मारवाड़ी बालिका-विद्यालय”, और तदुपरान्त “श्री शिष्यायतन” को शिक्षाक्षेत्र में प्रतिष्ठित करने का श्रेय एकमात्र श्री सीतारामजी को ही था।

चाहे किसी कार्य का दायित्व उन्हें सौंपा गया हो,



अथवा उन्होंने स्वयं उसमें अभिरुचि ली हो, दोनों ही दशाओं में उन्होंने अपूर्व कार्यक्षमता का परिचय दिया। सामाजिक दायित्व की भावना से उन्हें निःस्वार्थ सेवा की प्रेरणा मिली, और उन्होंने समाज के प्रति अपनी भावना तथा चेतना द्वारा अपने को उत्तरदायी समझा। यही कारण था कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने पूर्ण सहयोग दिया और सदैव अपने को सक्रिय रखा। कार्य छोटा हो अथवा बड़ा, उन्होंने समान रूप से रुचि लेकर उसे सुसम्पादित किया। गांधीजी के अनुयायी होने के नाते सीतारामजी ने छोटे-से-छोटे दायित्व को सहर्ष स्वीकार किया। सीतारामजी वर्डस्वर्थ के शब्दों में “छोटी सेवा ही सच्ची सेवा है, यदि वह चिरस्थायी हो”, इसके मूर्तिमान् उदाहरण थे।

शान्त, सरल, मृदुलस्वभाव श्री सीतारामजी कलकत्ता के सामाजिक क्षेत्र में आदरणीय सुपरिचित व्यक्ति थे। प्रत्येक सामाजिक कार्यक्रम में चाहे वह समाज के उन्नयन के निमित्त कोई भी कार्य हो, श्री सीतारामजी सदा अग्रिम पंक्ति में खड़े रहकर हर प्रकार की लगन और निष्ठा के साथ जनता के कल्याणार्थ दत्तचित्त रहे। नब्बे वर्ष तक अपना भार निभाकर जाते समय शान्तिपूर्वक संसार से उन्होंने विदा ली। ऐसा अनुकरणीय पुण्यजीवन भगवान् की अनुकम्पा से ही प्राप्त होता है।

While purchasing Hessian, Sacking, Carpet Backing and other Jute products and cotton yarn, please insist on quality production.

We are always ready to meet the exact type of your requirement.

Kanoria Jute Cotton Mills Limited

4/1, Red Cross Place

Calcutta-700001

Phone : 23-2397/98
23-7197

Telex : 021-2196
Cable : KAYJUTE,
Calcutta



JUTE MILL

Kanoria Jute Mill,
Sijberia, P. O. Uluberia,
Dist. Howrah (West Bengal)

SPINNING MILL

Shree Hanuman Cotton Mills
Fuleshwar, P. O. Uluberia, Dist. Howrah (West Bengal)

The Reliance Jute & Industries Limited

9, Brabourne Road

CALCUTTA - 700001

Phone : 26-7385 (4 Lines)

Gram : Reltrade

Telex : 7611 Rely, Calcutta



Proprietors of :

Reliance Jute Mills

Bhatpara, 24 - Parganas (W. B.)

Manufacturers of

Jute Goods (Hessian, Sacking,
Carpet Backing & Jute Specialities)

Keshari Steels

New Industrial Area,

Bombay - Agra Road, Dewas - 455001 (M. P.)

Manufacturers of Steel Rods & Bars

Licencees :

Pratappur Sugar Mills

P. O. Pratappur, Dist. Deoria (U. P.)

Manufacturers of Sugar



We specialize in

Decorative Jute Fabrics

For export as well as for local market

Ideally useful for

Furnishings, Wall Coverings

Hand, Shoulder, Shopping & School Bags

Ladies Hand Bags

Lamp Shades

Table Mats

Bed Covers

Shoe Uppers

and Innumerable other consumer items.



Distributors all over India

काशी मुमुक्षु-भवन-सभा के लिए श्री पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित

तथा सन्मति मद्रासालय, वाराणसी में मुद्रित ।

पाठकों की प्रतिक्रिया

अभी तक मुमुक्षु के चार अंकों को अवलोकन करने का अवसर मिला। आध्यात्मिक लेखों में भक्ति, ज्ञान एवं कर्म के समन्वित रूप की अभिव्यक्ति हुई है। इसमें कई प्रेरणादायक जीवनियों एवं कथाओं का आकलन किया गया है। यह पत्रिका वास्तव में अपने नाम के अनुकूल है। मुझे पूर्ण आशा है कि यह पाठकों के चारित्रिक स्तर को ऊँचा उठाने में सहायक सिद्ध होगी।

६, अलोपीबाग

इलाहाबाद-६

—डा. उदयनारायण तिवारी

‘मुमुक्षु’ की फरवरी और मार्च की दो प्रतियाँ मिलीं। मैंने उन्हें ध्यान से पढ़ा। बहुत अच्छी सामग्री दी गयी है और वह मुमुक्षु के योग्य ही दी गयी है। और, इसके व्यक्तित्व को बनानेवाली है, लक्ष्य को स्पष्ट करती है। इतनी सफल पत्रकारिता के लिए बधाई।

आरोग्य मन्दिर, आमबाजार
गोरखपुर

—विठ्ठलदास मोदी

‘मुमुक्षु’ पत्रिका का मार्च अंक मिला। मन प्रीत हुआ। इसका प्रकाशन जितना सुरचिपूर्ण है उतना ही उपादेय और आवश्यक। मुझे विश्वास है कि लगन, तत्परता और निष्ठा से यह पत्रिका एक अभाव की पूर्ति करती हुई, भारतीय ज्ञान मन्दाकिनी में आज की समस्त पीढ़ी को अवगाहन कराती हुई उसे हमारी महान् आध्यात्मिक व महिमान्वित परम्परा और दिव्यान्वित संस्कृति का सार्थक और प्रामाणिक परिचय देगी।”

२-ए, देशप्रिय पार्क ईस्ट

कलकत्ता-२९

—(प्रो०) कल्याणमल लोढ़ा

इस कलियुग में धार्मिक रुचि का उत्तरोत्तर ह्रास हो रहा है। धर्म, जिस पर मानवता आधारित है, ढोंग समझा जाता है। ऐसे समय में इस (मुमुक्षु) पत्रिका द्वारा जनता में धार्मिक प्रवृत्ति जाग्रत करने का प्रयास अति श्रेष्ठ है। दिग्गज विद्वानों के लेख पठनीय ही नहीं बरन् अध्ययन योग्य हैं।

४२६, कूचा ब्रजनाथ

चादनी चौक, दिल्ली-६

—आनन्द प्रकाश कानोड़िया

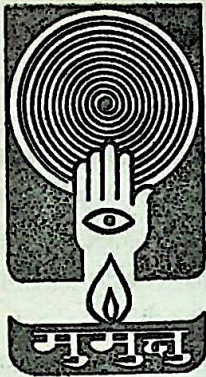
“रामनवमी का अवकाश था। भोजनोपरान्त मेज पर रखी पत्रिकाओं को उलट-पलट रहा था कि एक नयी पत्रिका हाथ में आ गयी। नाम था—‘मुमुक्षु’—काशी से प्रकाशित इस पत्रिका का यह प्रथम वर्ष का पाँचवाँ अंक (फरवरी ८२) था। नाम से आकर्षित हो पत्रिका के पन्नों पर विहंगम दृष्टि डालते-डालते ‘याचना’ शीर्षक से एक लघु प्रसंग जो रवीन्द्र के ‘अवदान शतक’ से अनूदित किया गया था, एक ही साँस से पढ़ डाला। नेत्र भर आये। पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करने की प्रेरणा मिली। प्रसंग इस प्रकार है.....।”

‘मुमुक्षु’ यथा नाम तथा गुण। मोक्ष का मार्ग दर्शाने-वाले ऐसे ही आध्यात्मिक लेखों से परिपूर्ण काशी मुमुक्षु भवन सभा द्वारा प्रकाशित एक सुन्दर पत्रिका है। आध्यात्मिक जगत् में निश्चय ही इसका हार्दिक स्वागत होगा।

५ अप्रैल १९८२

—दैनिक गांडीव, वाराणसी का
सम्पादकीय





आध्यात्मिक
तथा
सांस्कृतिक
मासिक

वर्ष १ : अंक ८
ज्येष्ठ, सं. २०३९
मई, १९८२

प्रकाशक

काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी

वार्षिक : पन्द्रह रुपए
एक अंक : डेढ़ रुपया

वन्दना

समृद्धं सौभाग्यं सकलवसुधायाः किमपि तन्-
महैश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः ।
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमथ मूर्तं सुमनसां
सुधा सौन्दर्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु ॥ १ ॥
दरिद्राणां वैश्यं दुरितमथ दुर्वासनहृदां
द्रुतं दूरीकुर्वन् सकृदपि गतो दृष्टिसरणम् ।
अपि द्रागाविद्याद्रुमवलनदीक्षागुह्रिह
प्रवाहस्ते वारां श्रियमयमपारां दिशतु नः ॥ २ ॥
— गंगालहरी

हे गंगे, सारी पृथ्वी के पूर्ण सौभाग्यरूप तथा लीलापूर्वक संसार को उत्पन्न करनेवाले शंकरजी की महाविभूति तथा वेदों का तत्त्व एवं देवताओं की पुण्यमूर्ति और अनिर्वचनीय अमृत के समान सुन्दर मधुर स्वादयुक्त शुभ्र आपका जल हम लोगों के अशुभ को नाश करे ॥ १ ॥

हे माता ! जो एक बार दृष्टिगोचर होने से ही दरिद्रों की दरिद्रता को तथा पापियों के पाप को शीघ्र ही नाश करता हुआ शीघ्र ही अविद्यारूपी वृक्ष को नाश करने में दीक्षागुरु तुम्हारे जल का प्रवाह है। वह प्रवाह इस लोक में हम लोगों को अपार सुख-समृद्धि प्रदान करे ॥ २ ॥

अच्युतचरणतरंगिनी शिव सिर मालतिमाल ।
हरि न बनायो सुरसरी कीजो इन्दवमाल ॥

— भक्तवर रहीम

माता गंगाजी ही अपने भक्तों को विष्णु या शिव बनाने की सामर्थ्य रखती हैं। भक्तवर रहीम गंगाजी से प्रार्थना करते हैं कि विष्णु भगवान् के चरणों से निकलनेवाली तथा शंकर जी के शिर पर मालतीमाला के समान विहार करनेवाली मां गंगे ! तुम मुझे विष्णु न बनाकर शंकर ही बनाना। क्योंकि यदि तू मुझे विष्णु बनाओगी तो तुम्हें चरणों में धारण करना पड़ेगा, जो मेरी भक्तिभावना के प्रतिकूल होगा। और, यदि शंकर बनाओगी तो तुम्हें मैं शिर पर धारण करूँगा जो मेरी भक्तिभावना के एकदम अनुकूल होगा।

विषय	पृष्ठ
१. वन्दना	१
२. दीपक बनो !	२
३. काशी में दण्डी साधुओं की परम्परा — श्री भारती भट्टाचार्य	३
४. गीता—आत्मा की कामधेनु—श्री अरविन्द	५
५. मनुष्य—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल	९
६. गंगोत्तरी—श्री धनश्यामदास बिरला	११
७. स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती — आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय	१६
८. भारतीय जीवन का पूर्ण आदर्श—भगवान् राम और भरत का पावन चरित्र — श्री रामकिंकर उपाध्याय	१९
९. मेरा प्रथम चातुर्मास — स्वामी श्री विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती	२२
१०. तप—श्री प्र० ग० सहस्रबुद्धे	२५
११. धन के दास न बनिए—श्री आनन्दकुमार पुस्तक-समीक्षा	२९
मुमुक्षु भवन समा-समाचार	३०
	३१

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से सम्पादक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

लेखकों से—‘मुमुक्षु’ में प्रायः धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रचनाएँ ही प्रकाशित की जाती हैं। ये रचनाएँ साहित्य की किसी भी विधा में हो सकती हैं। अतः लेखकों से निवेदन है कि वे अपने पास प्रतिलिपि रखकर ऐसी ही रचनाएँ भेजें। अस्वीकृत रचनाओं को लौटाने में हम असमर्थ हैं। स्वीकृत रचनाओं की सूचना पन्द्रह दिनों के भीतर भेज दी जाती है।—सम्पादक

कम्बोज के सम्राट् तिङ्-मिङ् की राजसभा में एक दिन एक बौद्ध भिक्षुक आया और कहने लगा—“महाराज ! मैं त्रिपिटकाचार्य हूँ। पन्द्रह वर्ष तक सारे बौद्ध जगत् का तीर्थाटन करके मैंने सद्धर्म के गूढ़ तत्त्वों का रहस्योद्घाटन किया है। मैं आपके राज्य का पट्ट पुरोहित बनने की कामना से आया हूँ—मेरी इच्छा है कि, कम्बोज का शासन भगवान् के आदेशों के अनुसार संचालित हो।”

सम्राट् तिङ्-मिङ् भिक्षु की कामना सुनकर किंचित् मुस्कराये—“आपकी सविच्छा मंगलमयी है। किन्तु, आपसे मेरी एक प्रार्थना है, आप धर्मग्रन्थों की एक आवृत्ति और कर डालें।”

भिक्षुक को बड़ा क्रोध आया। किन्तु, सम्राट् के प्रति वह अपने क्रोध को व्यक्त न कर सका। उसने सोचा, क्यों न एक आवृत्ति और कर लूँ ? सम्राट् को रुष्ट कर राज-पुरोहितके प्रतिष्ठित पद को क्यों हाथ से जाने दूँ।

दूसरे वर्ष, जब वह सम्राट् के सामने उपस्थित हुआ, सम्राट् ने फिर कहा—“भगवन्, एकान्त-सेवन के साथ एक बार और धर्म ग्रन्थों का पारायण कर लें, तो श्रेयस्कर होगा।”

भिक्षुक के क्रोध की सीमा न रही। अपमान के दंश से पीड़ित दिन भर भटकते सन्ध्या को एक सुनसान नदी-तट पर पहुँचा। ऊपर नीचे आकाश में तारे चमक रहे थे। नियमानुसार उसने सान्ध्य प्रार्थना की। किन्तु, आज की प्रार्थना में उसे बड़ा आनन्द मिला—शब्दों के नये-नये अर्थ उसकी चेतना पर जागने लगे। रात भर वह प्रार्थना के आनन्द में डूबा रहा।

साल भर बाद, सम्राट् तिङ्-मिङ् अपनी समस्त प्रजा के साथ करबद्ध उस नदी-तट पर उपस्थित थे। भिक्षुक तन-मन की सुधि भूले आनन्दातिरेक में बैठा था। धर्माचार्य बनने की महत्त्वाकांक्षा भस्मसात् हो चुकी थी। पांडित्य के अहंकार का स्थान आत्म-ज्ञान के आनन्द ने ले लिया था। सम्राट् ने प्रार्थना की—“भगवन्, चलिये, धर्माचार्य के... आसन को सुशोभित कीजिये।”

भिक्षुक के अधरों पर मन्द मुस्कान बिखर गयी—“राजन्, सद्धर्म उपदेश की नहीं, आचरण की वस्तु है। उपदेश में अहंकार है और आचरण में आनन्द। भगवान् के आदेश बड़े स्पष्ट हैं, वहाँ आचार्य की क्या जरूरत ? भगवान् ने एक वाक्य में ही सब कह दिया है—“अप्य दीपो भव” —अपने स्वयं के दीपक बनो।”

काशी में दण्डी साधुओं की परम्परा

— श्री भारती भट्टाचार्य

काशी में रास्ता चलते-चलते हर दो-चार कदम पर एक-न-एक साधु-संन्यासी से भेंट हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि कहावत है “राड़-साड़—सीढ़ी-संन्यासी, इनसे बचे तो सेवै काशी।” राड़-साड़ से तो बच कर चलना ही चाहिए परन्तु काशी आकर बिना साधु-संन्यासियों को जाने काशी-भ्रमण अधूरा रह जाता है।

काशी नगरी साधु तथा सन्तों का हमेशा से प्रमुख केन्द्र रहा है। काशी को अपना धर्म-प्रचार का केन्द्र बनाने के लिए इस नगरी में कौन नहीं आया? आदि-शंकराचार्य आये थे ज्ञानप्राप्ति तथा अद्वैत दर्शन प्रचार हेतु, श्री रामानुजाचार्य आये थे आस्तिकवाद के प्रचारार्थ, श्री रामानन्द ने काशी में ही वैष्णव मत का प्रचार शुरू किया। आचार्य बल्लभाचार्य ने काशी में काफी समय बिता कर यहीं पर अन्तिम सांस छोड़ी। सन्त कबीर, गोस्वामी तुलसीदास, सन्त नानक, श्री चैतन्य महाप्रभु आदि ने भी काशी को अपना धर्म प्रचार केन्द्र बनाया। तुलसी तथा कबीर का साधना-स्थल तो काशी ही रहा। आज भी काशी में इन सब साधु-महात्माओं, धर्मगुरुओं के चिह्न वर्तमान हैं। यहाँ साधु समाज को हर शाखाओं के संन्यासी मिलेंगे।

काशी का प्रधान साधु समाज शैव धर्मावलम्बियों का है। ये चार भागों में विभक्त हैं—शंकराचार्य के अनुयायी दसनामी संन्यासी, वीरा शैव, दक्षिण भारतीय शैव धर्मावलम्बी तथा गोरखनाथ द्वारा स्थापित नाथपन्थी साधु सम्प्रदाय।

आदि-शंकराचार्य ने शैव धर्म को दस भागों में बाँटा था। ये दस भाग ही दसनामी नाम से जाने जाते हैं। दसनामी सम्प्रदाय के हर संन्यासी को दीक्षा के बाद दसनामी में से एक नाम अपने नाम के पीछे लगाना पड़ता है। ये दस नाम हैं—तीर्थ, आश्रम, गिरि, पुरी, भारती, वन, अरण्य, पर्वत, सागर तथा सरस्वती। दसनामी सम्प्रदाय के

आठ मठ काशी में हैं। दसनामी सम्प्रदाय अब तीन भागों में विभाजित है—दण्डी, परमहंस तथा नागा।

आदि-शंकराचार्य ने भारत के चार भागों में चार पीठों की स्थापना की थी। शंकराचार्य से काशी में दण्डी साधुओं की परम्परा शुरू होती है। काशी के दण्डी समाज तथा पण्डित वर्ग कहते आये हैं कि भगवान् शंकर के पाँच मुँह हैं अतः चार पीठ कभी हो नहीं सकते। पंचम पीठ का होना जरूरी है एवं इसी कारण काशी में ‘ऊर्ब पीठ’ स्थित है, ऐसा वे मानते हैं। काशीपीठ सुमेरुपीठ के नाम से जाना जाता है।

कुछ वर्ष पहले काशी का दण्डी समाज अन्तर्कलह के कारण दो भागों में बँट गया। आदि सुमेरु मठ सहित कुछ अन्य संन्यासी संस्थाएँ काशीपीठ के शंकराचार्य को स्वीकार नहीं करती हैं। उन लोगों का कहना है कि वर्तमान शंकराचार्य एक अल्पसंख्यक दण्डी गुट द्वारा निर्वाचित हुए हैं। आदि सुमेरु मठ में उन साठ महन्तों को वंशावली सुरक्षित है जो ८२७ ई० से आज तक महन्त की गद्दी पर अविधित हुए हैं। मठ के वर्तमान महन्त ऐसा दावा करते हैं कि मठ में आदि-शंकराचार्य द्वारा व्यवहृत खड़ाऊँ तथा उन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठित दक्षिणा-कालिका मूर्ति एवं शिवलिंग स्थित हैं। १७१७ में तत्कालीन काशीनरेश महीपनारायण सिंह ने सुमेरुपीठ के तत्कालीन महन्त से दीक्षा ली थी। तभी से आज तक काशीनरेश की ओर से गुरु-पूणिमा के दिन इस मठ को सालाना अनुदान मिलता आ रहा है।

जैसा कि कहा गया है कि दसनामी संस्था तीन भागों में बँट गयी है। विभाजित होते हुए भी एक एवं अभिन्न नियमों के अनुसार हर दसनामी साधु को दीक्षा होता है। दीक्षा के बाद जो दण्ड लेते हैं, वे दण्डो कहलाते हैं तथा दीक्षा के सात दिन बाद जो दण्ड छोड़ देते हैं, वे त्यक्तदण्डो कहलाते हैं। वैष्णव सम्प्रदाय में कुछ ऐसे साधु हैं, जो

त्रिदण्डी कहलाते हैं—ये भी दण्डी के समान दण्ड धारण करते हैं। दण्डी सिर्फ ब्राह्मण ही हो सकते हैं जब कि त्यक्त दण्डी अन्य वर्गों के भी हो सकते हैं। काशी में शुद्ध वर्ण के त्यक्तदण्डी भी मिलेंगे। अधिकांश त्यक्त-दण्डी गृहस्थ धर्म पालन किये बिना ही संन्यास ले लेते हैं। परन्तु दण्डी को ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थाश्रम के कर्तव्य और दायित्व निभाने के बाद ही संन्यास धर्म ग्रहण करने का नियम है। दण्डी जिस दण्ड को लेता है, वह पतले-पतले बाँस के टुकड़ों से बनता है। दण्ड का ऊपरी भाग गेरुआ कपड़ा तथा जनेऊ से बँधा होता है। दण्डी साधु कमण्डल भी लेते हैं।

काशी में दण्डियों के ३७ मठ हैं। अधिकांश दण्डी गंगा के किनारे रहते हैं। इनकी संख्या काशी के साधु समाज का एक पंचमांश है। छठो शताब्दी में स्थापित जंगम मठ है। कहा जाता है कि दक्षिणामूर्ति आदि मठ शंकराचार्य के समय में स्थापित हुए थे। १५वीं शती के पहले चार दण्डी मठों की स्थापना हुई थी। १९४७ के बाद ९ प्र० श० दण्डी मठों की स्थापना हुई। विगत दो दशकों से दण्डी सम्प्रदाय सम्बन्धित संख्या धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। दण्डी मठों को किसी न किसी पीठ के साथ जुड़ा होना जरूरी है। एन० बोस० मेमोरियल फाउण्डेशन ने कई एक दशक पहले काशी के साधुओं पर एक सर्वेक्षण चलाया था जिसके अनुसार दण्डी साधुओं की संख्या तथा उनसे सम्बन्धित पीठों का आँकड़ा इस प्रकार है—

सम्बन्धित पीठों के नाम	काशी के दण्डी मठों का पीठों से सम्बन्ध	दण्डी संख्या
गोवर्धन पीठ (पुरी)	—	—
ज्योतिष पीठ (जोशिमठ)	—	—
शारदा पीठ (द्वारका)	२३	२०८
श्रुंगेरी पीठ (दक्षिण)	१४	२९
	<hr/> ३७	<hr/> २३७

दस नामों में तीन नाम—तीर्थ, सरस्वती तथा आश्रम ही अब दण्डी साधु लगाते हैं।

दण्डी साधु समाज में भी दो भाग हैं—पंचगौड़ एवं पंचद्रविड़। पंच द्रविड़ों के आठ मठ काशी में स्थित

हैं एवं इनके गुरु हैं तारकापीठ के स्वामी विनायक आश्रम। पंचगौड़ साधु समाज कामरूप पीठ के भोलानन्द तीर्थ के अनुयायी हैं। तमिल तथा केरली साधु इन दोनों साधु संस्थाओं से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। इन दोनों सम्प्रदायों के भीतर जात-पाँत की भावना कूट-कूटकर भरी है।

यहाँ दण्डी साधुओं की दो रजिस्टर्ड संस्थाएँ हैं—मिनगा राजा दण्डी सेवाश्रम (१९२४) तथा श्री काशी मुमुक्षु भवन सभा (१९२९)। ये दोनों संस्थाएँ बिना किसी जातपाँत तथा भेदभाव के दण्डियों को आश्रय देती आ रही हैं।

काशी मुमुक्षु भवन सभा एक लोकप्रिय संस्था है जिसमें पुस्तकालय, महाविद्यालय, मुमुक्षुओं के लिए आवास की समुचित व्यवस्था है। ईश्वर मठ और घनश्यामानन्द मठ में दण्डी स्वामी निवास करते हैं जिनके लिए भिक्षा का प्रबन्ध संस्था करती है। उन्हें प्रातः भोजन तथा रात में दूध दिया जाता है।

काशी के दण्डी मठों में वेद, वेदान्त, पुराण, उपनिषद् आदि पर प्राचीन एवं दुष्प्राप्य पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। कामरूप मठ, मछलीबन्दर मठ तथा काली मठ में तन्त्र-साधना पर महत्त्वपूर्ण संग्रह है। गौड़स्वामी मठ, दक्षिणामूर्ति मठ, त्रिमूर्ति दत्तात्रेय मठ, सुमेरु मठ, तारका मठ में वेद, पुराण, उपनिषद् पर पुराना संग्रह है। इससे यही प्रमाणित होता है कि किसी एक समय ये मठ 'वामाचार' तथा 'दक्षिणाचार' तन्त्र साधना के प्रधान केन्द्र थे। काली मठ में आज भी तन्त्र साधना के ऊपर ४०० दुष्प्राप्य पाण्डुलिपियाँ तथा कुछ प्राचीन चित्र मिलते हैं। इन संग्रहों में उल्लेखनीय हैं—निर्वाण तन्त्र, कामधेनु तन्त्र, काली तन्त्र, तोराल तन्त्र, श्री पूजन विधान, भुवनेश्वरी पद्धति आदि।

कुछ दण्डी अशिक्षित तथा गरीब होते हैं। परन्तु कुछ शिक्षित तथा पण्डित भी हुए हैं। धर्मसंघ शिक्षामण्डल के प्रतिष्ठाता स्वामी करपात्रीजी (जिनका स्वर्गवास गत फरवरी में हो गया) तथा काशी संस्कृत कालेज के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वामी महेश्वरानन्दजी सम्पूर्ण दण्डी समाज की विभूति समझे जाते हैं।

काशी का दण्डी समाज प्रत्यक्ष रूप से देश की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों से सम्बन्धित हो चुका है। स्वामी करपात्रीजी सहित दण्डी साधु संस्था स्वाधीनता के [शेष पृष्ठ ३२ पर]

गीता--आत्मा की कामधेनु

— श्री अरविन्द

“कर्म का रहस्य वही है, जो सारे जीवन और जगत् का रहस्य है”—यही श्रीमद्भगवद्गीता का, गीता के वक्ता श्री भगवान् के सन्देश का, सार कहा जा सकता है। कर्म का प्रयोजन है—आत्मानुसन्धान, आत्मपूर्ण और आत्म-सिद्धि, कोई लौकिक अथवा पारलौकिक फल नहीं। अपनी ही उच्चतम और अन्तस्तम सत्ता का अनुसन्धान करना और उसी में रहना, कर्म का महत्तम परम विधान है। जब तक यह नहीं होता, जीवन अपूर्ण रहता है और वह एक संकट अथवा एक समस्या-सा बना रहता है।

अपनी सदात्मा को पाना, अपने और सबके अन्दर रहनेवाले ईश्वर को जानना, कोई सुगम बात नहीं है। सामान्यतः मनुष्य अपने को, प्रकृति का निर्माण किया हुआ एक पृथक् प्राणी मानता है। यों कहिये कि, एक पृथक् अहंभाव, जो दूसरों के साथ अपने वही सम्बन्ध स्थापित करता है, जिसे प्रकृति उसे अपने दायरे के अन्दर करने देती है। और जो स्वभाव में प्रकृति का ही हेतु या धर्म होता है।

परन्तु, मनुष्य की चेतना में और भी एक बात है, जो नियम की चौखट में नहीं कसी जा सकती। वह है, आत्म-सत्ता का आन्तरिक सतत्व। उसमें उसकी एक ऐसी श्रद्धा होती है, जो जीव-भाव के उत्कर्ष के साथ बढ़ती जाती है। इस आन्तरिक सत्ता में सत्ता का सतत्व प्रकृति नहीं, बल्कि पुरुष है। प्रकृति स्वयं पुरुष की एक शक्ति है। मूल तो एक आत्मा है, एक पुरुष है, एक आत्मस्वरूप है, जो सबके अन्दर एक है। वही पुरुष इस जगत् का स्वामी है और यह जगत् उसका केवल एक अंशमात्र है। उसकी अनुमति से ही प्रकृति का कानून चलता है और प्रकृति की शक्ति विविध मार्गों में काम करती है। प्रकृति के अन्दर जो पुरुष है, वही जेय है। वही पुरुष प्रकृति को प्रकाश देता है और हमारे अन्दर उसे चेतन बनाता है। मानुषी तन का पुरुष

भी इन्हीं भगवान् का अंश है और वह इन्हीं के स्वभाव-वाला है।

वस्तुतः हमारी सच्ची अन्तरात्मा और हमारा आत्म-पुरुष हमारी बुद्धि से छिपा रहता है, क्योंकि हमारी बुद्धि को अन्तर्जगत् का ज्ञान नहीं है। वह मिथ्या ज्ञान के साथ तदाकार हो गयी है—मन, प्राण, शरीर के बाह्य यान्त्रिक जीवन के साथ घुल-मिल गयी है। परन्तु, यदि एक बार भी मनुष्य का यह व्यवहारी देही पुरुष अपने इन प्राकृत कारणों के साथ की तदाकारिता से अपने-आपको पीछे खींच सका तो जीवन और जगत् का कोई दूसरा ही रूप सामने नजर आने लगेगा। यही वह महान् परिवर्तन है, जिसकी साधना के लिए नर में रहने वाले नारायण, श्रीगुरु-रूप कृष्ण, कहते हैं—“मैं अधिकारी व्यक्तियों का आह्वान कर रहा हूँ और अधिकारी वे व्यक्ति हैं, जो अपने मन को प्राकृत ज्ञान की इन्द्रियों से हटाकर अपना अन्तरात्म-विषयक ज्ञान ईश्वर के साथ अपने सम्पर्क में लगा सकते हों।” यह परिवर्तन सामान्य नहीं है, बहुत बड़ा रूपान्तर है। आरम्भ में तो इस ज्ञान को भी बुद्धि-द्वारा ही ग्रहण करना होगा, परन्तु कालान्तर में यही मानव की चेतना बन जायेगी और और उसी में ढल कर व्यक्ति का सारा कर्म प्रवाहित होगा। अतः कहना चाहिए कि, अभ्यस्त प्रकृति वाले मनुष्य को ऐसा परिवर्तन लाना होगा कि, वह परमागवतो ब्रह्म-प्रकृति हो जाये। दूसरे शब्दों में, यों कहिये, कि, परमेश्वर और परम-ब्रह्म का एकत्व और उस समग्रत्व का ज्ञान ही असली ज्ञान है।

इस प्रकार अपने-आपको व्यष्टि-बन्धन से मुक्त करना तब तक सम्भव नहीं है, जब तक मनुष्य अपनी अहंता-ममता पाले हुए है। काम और काम से उत्पन्न होने वाले क्रोधादि-वेग अहंकार की खास निशानी है। वस्तुतः यह काम ही मनुष्य को सन्तोष और असन्तोष, राग और विराग, आशा

और निराशा, सुख और दुःख, द्वेष, क्रोध, क्षोभ, सिद्धि, विजय, सन्ताप आदि विकारों के अधीन कराता है। अतः जब तक कामना पोसी जायेगी, शाश्वत और निष्कलंक शान्ति असम्भव है।

इस स्थिति के बाद भी कर्म होता रहेगा, पर अन्तर यह होगा कि, इस स्थिति में मनुष्य कर्म का कर्ता नहीं, साक्षीमात्र होगा और उसी साक्षी-रूप में ही वह प्रकृति के गुणों का जादू देखेगा।

परन्तु, योग का सम्पूर्ण सार-तत्त्व यही नहीं है। अपेक्षित यह नहीं मानना चाहिए कि, मनुष्य यन्त्रवत् कर्मों का द्रष्टा ही बना रहे, वरन् उसे ऐसे कर्म करने चाहिए, जो दिव्य और पूर्ण हों। ये कर्म आरम्भ में आत्मसिद्धि के साधन के रूप में होंगे, पर उसी के साथ-साथ वे परम सिद्धि के एक अंग भी होंगे। कर्म भगवान् के समग्र ज्ञान का, उनके गुहातर रहस्य का और सर्वमावेन, उनमें रहने का एक अंग है। इस रूप में, संसिद्धि और मुक्ति-लाभ करने के पश्चात् भी, कर्म बना रह सकता है और उसे बनाये रखना चाहिए।

एक बात और, ज्ञान-साधिका बुद्धि और कर्म-साधक मन ही सब कुछ नहीं हैं। मनुष्य के अन्दर एक हृदय है, जिसकी पुकार आनन्द के लिए है। और इसी से, हृदय की तुष्टि के लिए मानवीय प्रकृति को भगवान् की ओर फेरना

होगा। इस क्रिया को हम 'भक्ति' कहते हैं और उस स्थिति की प्राप्ति ही वस्तुतः आत्मा का विशुद्ध कैवल्यानन्द है। परन्तु, समग्र ज्ञान से प्राप्त होनेवाला त्रिविध आनन्द इससे भी महान् है। उससे परम पुरुष के परमानन्द-पाठ खुल जाते हैं। इसलिए आवश्यक है कि ज्ञान और कर्म में त्रिविध सनातन परमानन्द को मिला दिया जाये। वस्तुतः वही परम सिद्धि की चरम अवस्था होगी।

पर, भक्ति भी दो प्रकार की होती है। एक तो वह, जो सहायता और छुटकारे के लिए भगवान् की खोज करती है और एक भक्ति ऐसी है, जो प्रकाश और ज्ञान के लिए भगवान् को ओर प्रभावित होती है। ये दोनों बीच की स्थितियाँ हैं। इनसे ऊपर की वह स्थिति है, जब भगवान् का भक्त भगवान् का जाता भी हो जाता है। उस समय भक्त और भगवान् में भेद नहीं रहता—वह उसके साथ एक हो जाता है। और, ऐसा भक्त ही परम पुरुष का परमानुगृहीत है।

इस त्रिविध मार्ग से मनुष्य अपनी निम्न प्रकृति से ऊपर उठकर आध्यात्मिक प्रकृति में पहुँचता है। यह प्रकृति छिपी हुई बिन्मय परा प्रकृति है। योग की यह परिपूर्णता कर्म की इस समस्या को जड़ से ही नष्ट कर देती है।

‘मुमुक्षु’ का यज्ञ-विशेषांक

काशी मुमुक्षु भवन सभा ने अपने मुख्य परिसर में शास्त्रीय विधि से एक यज्ञ-मण्डप का निर्माण कराया है जिसके चारों ओर चारों वेदों की मूर्तियाँ स्थापित की गयी हैं। इसके उद्घाटन के उपलक्ष्य में 'मुमुक्षु' का लगभग १६० पृष्ठों का एक सचित्र विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है।

जिसमें

'यज्ञ' की व्युत्पत्ति, परिभाषा, प्रकार, उनके दृष्ट और अदृष्ट फल तथा विधियों का विस्तारपूर्वक विवेचन होगा। ऋत्विजों, वैदिक आचार्यों तथा इस विषय में रुचि रखनेवालों के लिए यह विशेषांक विशेष रूप से संग्रहणीय होगा।

इन विषयों के अधिकारी विद्वानों के लेख तथा सुझाव सादर आमन्त्रित हैं।

— सम्पादक, 'मुमुक्षु'

काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी-५

कस्मै देवाय . . .

— आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

आज मनुष्य के लिए सबसे बड़ी समस्या हो गयी है— उसका बुद्धि-वैभव। इस मानव-बुद्धि ने प्रकृति के गुप्त रहस्य-भाण्डार से न जाने कितने रत्नों को खोज निकाला है और अपनी इहलौकिक सुविधाओं को बढ़ा लिया है। उत्पादन के साधन निरन्तर शक्तिशाली होते जा रहे हैं और मनुष्य के सुविधा-भोग की लालसाएं नित्य-प्रति बढ़ती जा रही हैं। वैज्ञानिक साधनों ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि, सारे संसार की समृद्धि थोड़े-से लोगों के हाथ में केन्द्रित हो गयी है। मिट्टी में आकर्षण का वेग होता है। वह समस्त जड़ वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है। भौतिक समृद्धि में भी यह आकर्षण का वेग पूरी मात्रा में है। संचित भौतिक समृद्धि अधिकाधिक समृद्धि को खींचती है। लखपति करोड़पति होते जा रहे हैं। नगर और जनपदों में फैले हुए करोड़ों की संख्या में लोग सर्वहारा होते जा रहे हैं। सुख के भौतिक साधन जितने अधिक बढ़ रहे हैं, उतना ही अधिक हाहाकार संसार में व्याप्त हो उठा है। भौतिक समृद्धि के स्वप्न ने समूची मनुष्य जाति को महाविनाश के कगार पर ला पटका है—कहीं शान्ति नहीं, कहीं चैन नहीं। बड़े-बड़े महापुरुषों ने सावधान रहने का सन्देश दिया है, परन्तु ऊँची कुर्तियाँ इतनी ऊँची हो गयी हैं कि, वहाँ तक यह आवाज पहुँच ही नहीं पाती, क्योंकि संसार के उत्पादन साधनों में जो भी क्रान्तिकारी परिवर्तन क्यों न हुए हों और मनुष्य के सोचने-समझने के तौर-तरीकों में कितनी भी उथल-पुथल क्यों न हुई हो, मनुष्य की भूख ज्यों की त्यों है। शरीर की भूख ही नहीं, मन की भूख भी ज्यों की त्यों है—आज भी मनुष्य यश और मान को लिप्सा में उसी प्रकार भटक रहा है, जिस प्रकार वह हजारों वर्ष पहले भटकता था।

वैरागी कहता है कि, यह भूख तुम्हारा शत्रु है, किन्तु कहने की इच्छा होती है कि, इस भूख में ही मनुष्यता है। जो उपलम्भ को पाकर भी बढ़ती रहती है, वह

विचित्र भूख है। 'जनम-जनम हम रूप निहारतु नयन न तिरपित भेल'—यह जन्म-जन्मान्तर के देखने से भी तृप्ति का न मिलना है, देखने की प्यास का न मिटना। वह मनुष्य-जीवन की गहराई में छिपा हुआ रहस्य है। सैकड़ों वर्षों से मनुष्य पूछता आ रहा है कि, यह क्या है? सब कुछ मिल जाने के बाद भी मिलने की यह लालसा आखिर क्यों बनी रहती है?

उपनिषद् के ऋषियों ने बार-बार इसे दुहराया है और आज का भी मनुष्य रह-रह कर पूछता है कि, वह क्या वस्तु है, जिसे पाने के लिए सब पाया हुआ मनुष्य भी छटपटा उठता है? भिन्न-भिन्न युग में मनुष्य ने अपनी कल्पना के अनुसार इस चिरन्तन लालसा के उपाय खोजे हैं। युग-युग से मनुष्य ने घोषणा की है कि, सीमाओं से वंचे हुए पदार्थों से पाया जाने वाला सुख क्षणिक है, उससे मनुष्य की शाश्वत तृप्ति नहीं होती। इसको पाकर भी मनुष्य का अन्तरतर मुँहभोर घोड़े की तरह भाग खड़ा होता है। सहस्रों वर्ष के मनुष्य के इतिहास में यह सत्य नाना भावों और नाना रूपों में प्रकट हुआ है कि, ससीम वस्तुओं से मनुष्य की कभी तृप्ति नहीं होती।

दीर्घ काल से मनुष्य को अन्तरात्मा की भूख वे नाना भाव से अपने को प्रकट किया है। मुनि ने कहा था कि, कीचड़ से कीचड़ नहीं धोया जा सकता। वासनाओं से लिप्त रह कर निर्गुण-निर्विकार को नहीं पाया जा सकता। कुछ दूसरे लोगों ने कहा कि, यह जो पाने की इच्छा है—यह जो अपने बुभुक्षित चित्त को तृप्त करने की लालसा है—वह क्या पाप है? विधाता ने मनुष्य के हृदय में जो इतना राग दिया है, लालसा दी है, इतनी आसक्ति दी है—वह क्या मनुष्य को छोड़ा देने के लिए ही? मनुष्य को दण्ड देने के लिए ही क्या इतनी बड़ी अपराजेय शत्रुवाहिनी को उसके पोछे लगा दिया है? काम, क्रोध आदि विकारों की पल्टन क्या कभी जीतो जा सकती है? जिसे मनुष्य देवता कहता है, जिसे अपना परम काम्य मानता है—वह क्या मनुष्य से परिदृष्ट जगत् से भिन्न वस्तु है? क्या लेकर मनुष्य अपने परम प्रिय को पूजा कर सकता है? वासनाओं के सिवा उसके पास और है क्या? और, ऐसी वह कौन-सी वस्तु है, जो मनुष्य की पिपासा, बुभुक्षा और लालसा से अधिक अपनी है? मनुष्य का भगवान् निर्मम कैसे हो सकता है? जिसने मनुष्य को इतनी

आसक्ति और तृप्ति दी है, वह स्वयं अनासक्त कैसे हो सकता है ? निश्चय ही जब उसने खेल के लिए सृष्टि का जाल पसारा है, तो उसे खेल में आनन्द आता है, वह खेल का साथी खोजता है। वह स्वयं भी मुग्ध है और अपने साथी को भी मुग्ध करता है। यह नहीं हो सकता कि, मनुष्य का अन्तरतर तो उसके लिए व्याकुल हो और वह उसके लिए व्याकुल न हो।

वैष्णव भक्तों ने इन दोनों पक्षों को दो स्पष्ट मूर्त प्रतीकों में चित्रित किया है। मनुष्य की जो अनन्त अतृप्त आकांक्षा है, जो किसी परम मोहन को तृप्त करने के लिए सदा व्याकुल रहती है, वह राधिका के रूप में अभिव्यक्त हुई है और जिसे पाकर वह चरितार्थ होती है, जिसे वह परम काम्य मानती है, वह श्रीकृष्ण के रूप में अभिव्यक्त हुई है। दोनों एक-दूसरे के लिए व्याकुल रहते हैं।

राधा के निवास-गृह पर नित्य काली घटा घहराती रहती है और श्रीकृष्ण की निवास-भूमि पर नित्य गोरी घटा उमड़ी रहती है—

सखी, कारी घटा बरसे बरसाने पै
गोरी घटा नन्दगाँव पै रो।

मनुष्य की जो अतृप्त आकांक्षा है, उसे वैष्णव कवियों ने ब्रज-सुन्दरियों के रूप में देखा है। व्यक्तिगत रूप से यह आकांक्षा अनेक रूपा है, लेकिन उसका अन्तर्भाव राधिका के रूप में हुआ है, जिनके लोचन मदमत्त चकोरी के लोचनों की चारुता हरण करने वाले हैं, जिनके परमाह्लादन बदनमण्डल ने पूर्णिमा की कमनीय कीर्ति का भी दमन किया है, जिनकी अंग-अंग की शोभा अविकल कलघोत की शोभा को भी पगास्त करती है और जो मधुरिमा की साक्षात् मधुपात्री है और इसीलिए जो भगवान् की आह्लादिनी शक्ति है, जिन्हें देख कर भगवान् भी आनन्द से परिप्लावित हो उठते हैं—

मदचिह्नुरचकोरीचारुताचारुदृष्टि-
वन्दनमितराकारोहिणीकान्तकीर्तिः।

अविकलकलघौगोदधूतचौरस्यकर्त्री—

मधुरिममधुपात्री राधिकाह्लादनीया ॥

और दूसरी ओर मनुष्य की इस चिरन्तन लालसा को निरन्तर उत्तेजित और उद्वेल बनानेवाले श्रीकृष्ण हैं, जिनकी नर्तमान झूलता के कारण मुखम्री अत्यन्त मधुर हो उठी है, जिनका कर्णप्रमाण अशोक-कलिका से विभूषित है, जो

नवीन निक्ष-प्रस्तर के समान श्यामल-मसृण शोभा के आधार हैं और जो निरन्तर वंशीरव से मनुष्य को वेबस कर डालते हैं—

अवल्लिताडवकलामधुराननश्रीः

कंकलिकोरककरवितकर्णपूरः।

को यं नवीननिक्षोपलतुल्यवेशो

वंशीरवेण सखि मामवशीकरोति ॥

यह अद्भुत साधना थी, मनुष्य की चिरसंचित अतृप्त वासनाओं को कभी ऐसा मनोरम उपभोग्य नहीं प्राप्त हुआ था। यहाँ आकर मनुष्य की बुद्धि मुग्ध और थकित हो जाती है। मनुष्य के चित्त को उन्मथित कर देने वाली जो वासनाएँ हैं, वे मानो अपने परम-प्राप्तव्य को पाकर स्तब्ध हो रहती हैं, मुग्ध और रुद्ध गति हो जाती हैं। यहाँ मनुष्य इस रूप को 'मदनमोहन' कह उठता है। तुलसीदास ने कहा है—

बिमल पीत दुक्कल दामिनि दुति बिनंदिनि चारु।

बदन सुषमा सदन सोमित मदन मोहनिहार ॥

मध्य-युग के वैष्णव भक्तों की यह मधुर भाव की कल्पना सचमुच ही मधुर है।

किन्तु जमाना बदल गया है। आज मनुष्य का ध्यान मनुष्य की ही महिमा पर प्रतिष्ठित है। विज्ञान की बढ़ती हुई समृद्धि ने मनुष्य को इतना बौद्धिक बना दिया है कि, वह ऐसी किसी भी वस्तु को मानने को प्रस्तुत नहीं है, जो उसके बौद्धिक-वितर्कों की गति रुद्ध कर दे। वह दृढ़ता के साथ विश्वास करने लगा है कि, यह ईश्वर और मोक्ष का जो विधान है, वह मनुष्य के मन की ऐसी कल्पना है, जिसे वह स्वयं घोखा देने के लिए पोस रहा है। सत्य को पाने के लिए उसे इस मानसिक भुलावे को छोड़ना पड़ेगा। वह भक्तिशास्त्रियों की मादक कल्पनाओं को जाग्रत स्वप्न से अधिक महत्त्व देना नहीं चाहता। उसका दृढ़ विश्वास है कि, ईश्वर और अध्यात्म की सब कल्पनाएँ केवल माया हैं—मिथ्या।

इस प्रकार एक तरफ मनुष्य अपनी ही बुद्धि के चमत्कारों से पिस रहा है और दूसरी तरफ वह उसका परि-त्याग भी नहीं कर सकता। आज भी उसकी चिर-पुरातन भूख जहाँ की तहाँ पड़ी है, आज भी अन्तरतर के कोने से कोई चिल्ला कर उससे पूछ बैठता है—“ततः किम् ?”

[शेष पृष्ठ १० पर]

मनुष्य

‘ईश्वर अंस जीव अविनासी’

— डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

गुह्यं ब्रह्म ब्रवीहि बहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ।

—शान्ति-पर्व, १८०-१२

अर्वाचीन विचार-धारा मानव-केन्द्रित है—अर्थात् जीवन के प्रत्येक अनुष्ठान का मध्यवर्ती बिन्दु मनुष्य है। वही प्रयोग आज महत्त्वपूर्ण है, जिसका दृष्टदेवता मनुष्य है। जिस कार्य का फल साक्षात् ऐहलौकिक मानव-जीवन के लिए न हो—जो मनुष्य की अपेक्षा स्वर्ग के देवताओं को श्रेष्ठ समझता हो—वह आधुनिक जीवन-पद्धति के अनुकूल नहीं है। विज्ञान, कला, साहित्य, राजनीति, सबकी उपयोगिता की एकमात्र कसौटी मानव का प्रत्यक्ष लाभ और प्रत्यक्ष जीवन है। प्रत्येक क्षेत्र में विचारों की हलचल मनुष्य के इसी रूप को पकड़ना चाहती है। हम दृष्टिगोचर से एक ओर मानव की प्रतिष्ठा बढ़ी है, दूसरी ओर स्वर्ग की ओर उड़नेवाले मनुष्य के विचारों ने पृथ्वी की कुशल पूछने का नया पाठ पढ़ा है।

यह सच है कि, अभी अनेक क्षेत्रों में यह नया पाठ पूरी तरह गले के नीचे नहीं उतरा है और स्वार्थों के पुराने गढ़ इसके विरोधी हैं, पर विश्व के विचारों का ध्रुव-बिन्दु आज मानव के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। विश्व-क्षितिज का प्रत्येक नया ग्रह मानव-रूपी केन्द्र के चारों ओर ही मँडराता है। विश्व-मानव प्राची के कोने में अपने बिखरे तेज को समेटता हुआ अधिकाधिक सामने आ रहा है। राजनीति के सतरंगे वादों से कहीं ऊपर, विश्व-मानव के ऐक्य, भ्रातृत्व का मानववाद का जन्म दुर्घर्ष गति से हो रहा है। जो आज नहीं हुआ है, वह कल होकर रहेगा।

जो मानव इतना महीन है, जो विश्व की परिधि का केन्द्र-बिन्दु है, वह यथार्थ में है क्या? क्या वह मिट्टी, पानी, आग, हवा का एक पुतला-भर है? क्या वह एक नगण्य बुलबुला है, जिसकी उपमा के करोड़ों-अरबों बुलबुले प्रत्येक शताब्दी में जन्म लेते और विलीन हो जाते हैं?

नहीं, मनुष्य केवल—मात्र स्थूल शरीर नहीं है। पाँच या चार तत्त्वों के अकस्मात् क्रमबद्ध हो जाने से मनुष्य नहीं बन गया। रासायनिक प्रक्रिया से ९२ तत्त्वों के किसी प्रकार रच-पच कर एक हो जाने से मानव का पुतला सामने आ गया हो, केवल यही अन्तिम सत्य नहीं है। अन्नमय पुरुष अवश्य ध्रुव सत्य है। उसे ही आज्ञाकल की परिभाषा में ‘बायोलाजिकल मैन’ कहेंगे। अशनाया इसी मानव की विशेषता है। पुत्रेष्टना इसी मानव का क्षेत्र है। प्रकृति के विराट् संविधान में यह मानव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो अन्न द्वारा देह का पोषण करता है और प्रजनन द्वारा सृष्टि-क्रम को जारी रखता है। आहार और मैथुन जिसकी विशेषता है, वह मानव वास्तविक है, स्थूल है—उसे हम मानव के भीतर का पशु-भाग कह सकते हैं।

इसी के साथ मानव में एक दैवी अंश है। वह इसका मनोमय और विज्ञानमय भाग है, जो स्थूल शरीर की अपेक्षा कम सत्य और वास्तविक नहीं है। भारतीय परिभाषा के अनुसार मानव में मर्त्य और अमृत का संयोग है। शरीर मर्त्य और मन अमृत-भाग है। मर्त्य-भाग उसे पार्थिव-जगत् के साथ बाँधे हुए है। अन्न और वायु इसी मर्त्य-भाग की प्रतिष्ठा है। ये दोनों मानव की लौकिक स्थिति के लिए अनिवार्य हैं। इस मानव की परिपूर्ण साधना के बिना पृथ्वी का ऋण नहीं उतरता। अतुल वासनाएँ पुनः-पुनः मानव के भीतर के पशु-भाग को अपने वश में कर लेती हैं। वास्तविकता के अनुसार व्यवहार में प्रवृत्त होने वाला कोई व्यक्ति, मानव के इस स्वरूप का निराकरण करने की बात कभी नहीं सोच सकता।

मनुष्य के भीतर ही उसका दैवी अंश भी है। वस्तुतः मन ही एक देव है, जो सब मानवों में प्रतिष्ठित है। ‘एको देवः सर्वभूतेषु गूढः’—इस गूढ़ देव को प्रकट करना और जीवन के हर कार्य में इसे अधिकाधिक प्रकट करना—मानव का दैवी सन्देश या कार्य है। इसका पूरा होना भी उतना ही आवश्यक है, जितना अन्न और काम के प्रति सन्तुलित अवस्था प्राप्त करना आवश्यक है। दोनों के समन्वय के बिना सन्तुलित मानव का आविर्भाव नहीं हो सकता। जब तक मर्त्य और अमृत-भागों का एक-सा विकास न किया जायगा, मानव अतुल और अपूर्ण हो रहेगा—उपका जीवन और उसके सब कार्य अधूरे रहेंगे।

जो स्थूल मानव है, वह प्रकृति का स्वामी है। जो अशनाया-ग्रस्त है, वह प्रकृति के साथ द्वन्द्व में फँसा है—उसके चारों ओर सीमा-भाव है। वासना, अधिकार, लिप्सा, ईर्ष्या और हिंसा, उस मानव के जीवन में उत्पन्न हो गये हैं, जो उसके अधिकांश दुःखों के कारण हैं। आध्यात्मिक मानव के विकास से ही मानव इन कमजोरियों से ऊपर उठ सकेगा। अध्यात्म की अभिव्यक्ति के साथ मानव के विकास का नया धरातल शुरू होता है। पशु को स्वरूप-परिवर्तन के द्वारा देव बनाना, यही अध्यात्म-प्रगति है। इसी का पुराना नाम यज्ञ है। मानव का स्थूल हिंसा-प्रधान जीवन क्षात्र-धर्म है। इससे ऊपर प्रेम और त्याग का जीवन ब्राह्म-संस्कृति है। वह दैवी अंश है। वह अमृत-भाग है। वही श्रेष्ठ कर्म है, जिसे 'यज्ञ' भी कहा गया है। विश्वात्मा के लिए यज्ञीय भाव या आत्म-समर्पण के बिना विश्व-मानव का जन्म असम्भव है।

आज सर्वत्र जिन विश्व-मानव की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है, उसका सोचा-सादा अर्थ यही है कि, एक मानव में जो अधिकार और स्वार्थ की सत्ता है, वह दूर होनी चाहिए और विश्व-मानव के साथ उसके मनो-भावों का स्वच्छन्द मेल होना चाहिए। जिनकी दृष्टि स्वच्छ है, उन्हें यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि, मानव के अमृत-अंश का—उसकी अध्यात्म-संस्कृति का—विकास होकर रहेगा। संघर्ष, द्वन्द्व और हिंस्र-मार्ग से भी मानव को अन्ततोगत्वा उसी ओर जाना पड़ेगा।

वस्तुतः विश्वात्मा के मन को उन्मुक्त करने के लिए सबकी मुक्ति आवश्यक है। इस अध्यात्म-संस्कृति के मार्ग में हर एक को ऊपर उठाकर अपनी उन्नति की जाती है। दूसरों के प्रति उन्मुक्त उदारता, सेवा, प्रेम और आत्मीयता के द्वारा ही हम विश्वात्मा या विश्व-मानव के साथ एक हो पाते हैं। आज विज्ञान के प्रांगण में विश्व-मानव का शीघ्रता से जन्म हो रहा है और निश्चय ही, भविष्य में विज्ञान के पीछे मानव के उच्च विकास का जो दर्शन है, वह पूर्ण होकर रहेगा। आज शक्तिमत्ता के साथ त्याग के मन्त्र की आवश्यकता है। गृहस्थाश्रम के संचय के साथ वानप्रस्थ और संन्यास के अपरिग्रह-धर्म की भी आवश्यकता है। ❁

वेह-मणि

महाप्रयाण के समय परमश्रेष्ठि ने अपने पुत्रों को चन्द्र-कान्तमणि दी—“वत्स, इस कामधेनुरूपिणी मणि द्वारा तुम अनन्त श्रीमुख प्राप्त करो।” ज्येष्ठ पुत्र ने रात्रि में प्रकाश के लिए मणि का प्रयोग किया। छोटे ने प्रणय-प्राप्ति-हेतु उसे नगर-वधू का अर्पण कर दिया। धन की भूखी गणिका ने उसे मणिकार को बेच दिया। मणिकार तो पारखी ठहरा। पूर्णिमा को रासायनिक प्रयोग द्वारा उसने अक्षय स्वर्णराशि उससे प्राप्त की। स्वयं सुख भोगा और परोपकार द्वारा करोड़ों के कष्ट मिटाये। महर्षि ने दृष्टान्त समझाते हुए कहा—“आयुष्मन्, मनुष्य-वेह को भी तुम ऐसी ही चन्द्रकान्तमणि मानो।”

[कस्मे देवाय... पृष्ठ ८ का शेषांश]

क्या होगा इस विशाल समृद्धि से, जो केवल बृहत्तर दुःख और घोरतर विनाश की ओर धकेले जा रही है? क्या होगा उस बौद्धिक विभूति से, जो केवल विकल्पों और वितर्कों की सृष्टि कर रही है, जो मनुष्य के खड़ा होने योग्य आधार भी नहीं दे रही है?

आज ऐसा कोई भी दर्शन नहीं टिक सकता, जो मनुष्य की बुद्धि के उस पहलू को न छू सके, जो विज्ञान के चिन्तन से और मानस-शास्त्र के मनन से अत्यन्त संवेदन-

शील तथा असहिष्णु बनी हुई है। कैसे होगा? किस प्रकार इस संशयशील सुकुमार बुद्धि-तत्त्व को सन्तुष्ट किया जाय, जो बुद्धि अध्यात्म-भाव के नाम से ही बिदक उठती है? और, सन्तुष्ट उसे करना ही होगा। नहीं तो मनुष्य का यह भीषण धावन और उत्पलवन उसको ध्वस्त कर देगा। अपनी शक्ति पर आधृत उसका विश्वास भस्मासुर के समान उसे ही जला कर खाक कर देगा। वर्तमान युग की यही सबसे विकट समस्या है।



गंगोतरी

— श्री धनश्यामदास बिरला

(गतांक का शेष)

गंगा की उत्पत्ति का क्या इतिहास है ? शास्त्रों में जब हम गंगा की उत्पत्ति और माहात्म्य पढ़ें, तब हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि प्राचीन शास्त्र और पुराण केवल इतिहास नहीं हैं। इतिहास नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है। इतिहास भी हैं, पर इतिहास और शिक्षा का समन्वय है, इतिहास लिखते समय शिक्षा का मिश्रण करने के लिए व्यास को कल्पना का घोड़ा दौड़ाने की पूरी स्वतन्त्रता रही है। शिक्षा-प्रधान रख कर जब कोई वाक्य कहा जाता है, तब फिर इतिहास का जामा शिक्षा को प्राधान्य देने के लिए स्वेच्छापूर्वक बदल दिया जाता है। आचार्यों को यह जामा बदलने का पूर्ण अधिकार रहा है। इस अधिकार के विषय में किसी ने आपत्ति नहीं की। यह प्राचीन रुढ़ि अन्य देशों में भी प्रचलित रही है।

इस लक्ष्य को सामने रख कर हम शास्त्रों को पढ़ें, तो शब्द की अवहेलना करके तत्त्व की खोज में उतर आयेंगे। गंगा में अवगाहन, अर्थात् डुबकी लगाने — सराबोर होकर गहरे उतरने के लिए हमें शब्दों को छोड़ कर तत्त्व में घुसना पड़ेगा। इसलिए गंगा की उत्पत्ति और माहात्म्य को भी तात्त्विक दृष्टि से जानना होगा।

तुलसीदास जी ने गंगा की महिमा गाते समय उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा था :

जिहि चरनन से निकसी सुरसरि संकर-जटा समायी ।

जटासंकरी नाम परयो है, त्रिभुवन तारन आयी ॥

भगवान् के चरणों से उद्भव होने की यह कथा पुराणों से ही संकलित हुई। श्रीमद्भागवत में यह कथा इस प्रकार है : “यज्ञमूर्ति भगवान् विष्णु ने त्रिलोकी को नापने के

लिए जब अपना पैर फैलाया, तब उसके बायें पैर के अंगूठे के नख से ब्रह्माण्ड का ऊपर का भाग फट गया। उस छिद्र में होकर ब्रह्माण्ड से जल की जो धारा गिरी, उसी निर्मल धारा को ‘भगवत्पदी’ कहते हैं, जो गंगाजी का ही नाम है। वहाँ से गंगाजी करोड़ों विमानों से घिरे हुए आकाश में होकर उतरती हैं और चन्द्र-मण्डल को आप्लावित करती हुई मेघ शिखर पर ब्रह्मापुरी में गिरती हैं। सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा नाम से चार धाराओं में विभक्त होकर यह गंगाजी अन्त में नद-नदियों के अवीश्वर समुद्र में गिर जाती हैं।”



लेखक

तुलसीदासजी और भागवत के इन दोनों वचनों अर्थात् भगवान् के चरणों से उद्भव होने के विषय में पूरा मेल है और अर्थ भी स्पष्ट है। समुद्र की वाष्प ऊपर उठ कर करोड़ों विमानों (मेवों) से घिरे हुए आकाश (विष्णु-चरण) से निकल कर हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों (शंकर-जटा) में समा कर अन्त में ‘त्रिभुवन तारण’ करती हुई, लोकों का कल्याण करती हुई, समुद्र में गिरती हैं।

भागवतकार में गंगाको भगवत्पदी कहा है और सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा—इन चार धाराओं में विभक्त माना है। कोश में गंगा को भागीरथी, भागवती, जाह्नवी, त्रिजटेश्वरी नामों से भी पुकारा है और उसे त्रिपथगामिनी कहा है। इन सबका अर्थ प्रायः स्पष्ट है, पर भागवतकार ने चार धाराओं में गंगा को विभक्त किया है, तो कोशकार ने इसे त्रिपथगामिनी कहा है। गंगा की धाराएँ प्राचीन काल में तीन थीं या चार, यह पुराण-भूगोल के पण्डित ही बता सकते हैं। यह विषय अन्वेषण

के योग्य है ।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, गंगा का एक नाम भागीरथी भी है । इसके पीछे भी एक कथा है, जो इस प्रकार है—

सगर नाम का एक यशस्वी राजा था । उसके पुत्रों ने पृथ्वी खोद कर उसे समुद्र बना दिया था । सगर ने तालजंघ, यवन, शक, हैहय और बर्बर जाति के लोगों का बध नहीं किया, पर उन्हें विरूप बना दिया । उनमें से कुछ के सिर मुँडवा दिये, कुछ के मूँछ-दाढ़ी रखवा दी, कुछ को खुले बालों वाला बना दिया तो कुछ का आधा सिर मुँडवा दिया । कुछ लोगों को सगर ने केवल वस्त्र ओढ़ने की ही आज्ञा दी, पहनने की नहीं । कुछ को केवल लंगोटी पहनने की, ओढ़ने की इजाजत नहीं दी ।

सगर ने अश्वमेध-यज्ञ के द्वारा भगवान् की आराधना की, पर यज्ञ में जो घोड़ा छोड़ा गया, उसे इन्द्र ने चुरा लिया । सगर के पुत्रों ने अपने पिता की आज्ञा मान कर सारी पृथ्वी छान डाली, पर घोड़ा उन्हें नहीं मिला ।

खोजते-खोजते उन्हें पूर्व और उत्तर के कोने पर कपिल मुनि के आश्रम में अपना घोड़ा दिखाई दिया । घोड़े को देख कर साठ हजार राजकुमार चिल्ला उठे और कहने लगे कि यही हमारे घोड़े का चोर है । इन्द्र ने राजकुमारों को बुद्धि हर ली थी, इसी से उन्होंने कपिल मुनि-जैसे महा-पुरुषों का तिरस्कार किया । इस तिरस्कार के फलस्वरूप उनके शरीर में ही आग जल उठी, जिससे क्षण-भर में वे सब-के-सब जल कर राख हो गये । साठ हजार राजकुमारों का शरीर राख के ढेर में परिणत हो गया ।

सगर की एक दूसरी पत्नी का नाम था केशिनी । उसके गर्भ से उन्हें असमंजस नाम का पुत्र हुआ था और उसका पुत्र था अंशुमान । वह अपने दादा सगर की सेवा में लगा रहता था । सगर की आज्ञा से उसका पीत्र अंशुमान घोड़े को ढूँढ़ने के लिए निकला । उसने अपने चाचाओं के द्वारा खोदे हुए समुद्र के किनारे-किनारे चल कर उनके शरीर की भस्म के पास हाँ घोड़े को देखा ।

अंशुमान ने जब भगवान् कपिल मुनि की स्तुति करके उन्हें प्रसन्न किया, तब मुनि ने अंशुमान पर अनुग्रह करके कहा, 'बेटा ! यह घोड़ा तुम्हारे पितामह का यज्ञपशु है, इसे ले जाओ, पर तुम्हारे जले हुए चाचाओं का उद्धार तो केवल गंगा जी से ही होगा ।'

यह सुन कर अंशुमान ने गंगा जी को लाने की इच्छा से बहुत वर्षों तक धीर तपस्या की, पर असफल रहा । अंशुमान के पुत्र दिलीप ने भी वैसी ही तपस्या की, परन्तु वह भी असफल रहा । समय पर उसकी मृत्यु हो गयी ।

दिलीप का पुत्र था भागीरथ । उसने बहुत बड़ी तपस्या की । उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवती गंगा ने उसे दर्शन देकर कहा, "मैं तुम्हें वर देने के लिए आयी हूँ ।" गंगा के ऐसा कहने पर राजा भागीरथ ने बड़ी नम्रता से अपना अभिप्राय प्रकट किया और कहा कि आप मृत्यु-लोक में चलिए । परिश्रम और तप करते-करते जब तीन पीढ़ियाँ बीत गयीं, तब गंगा ने अवतरण स्वीकार किया । पर गंगा जी ने कहा, "जिस समय मैं स्वर्ग से पृथ्वी पर गिरे, उस समय मेरे वेग को कोई धारण करने वाला होना चाहिए । ऐसा न होने पर मैं पृथ्वी को फोड़ कर रसातल में चली जाऊँगी ।"

भागीरथ ने उत्तर दिया, "माता ! मैं भगवान् शंकर से प्रार्थना करूँगा कि वह आपको झेल लें ।" भागीरथ ने तपस्या के द्वारा भगवान् शंकर को भी प्रसन्न कर लिया ।

घोड़े ही दिनों में महादेव जी उनपर प्रसन्न हो गये । भगवान् शंकर ने राजा को 'तथास्तु' कह कर गंगा को झेलना स्वीकार कर लिया और सावधान होकर गंगा जी को अपने सिर पर धारण किया । तुलसीदास जी की 'जटाशंकरी' और भागवत की 'जटाशंकरी' दोनों में यहाँ मेल मिल जाता है । यदि गंगा हिमालय में न पड़ कर पृथ्वी-तल पर पड़ती, तो एक भयंकर बाढ़ आ सकती थी । इसलिए गंगा का वचन सही था ।

इसके बाद भागीरथ त्रिभुवनपावनी गंगाजी को वहाँ ले गये, जहाँ उनके पितरों के शरीर राख के ढेर बने पड़े थे । वे वायु के समान वेग से चलने वाले रथ पर सवार होकर आगे-आगे चले और उनके पीछे-पीछे मार्ग में पड़ने वाले देशों को पवित्र करती हुई गंगा जी दौड़ी । इस प्रकार गंगासागर संगम पर पहुँच कर उन्होंने सगर के जले हुए पुत्रों को अपने जल में डुबो दिया ।

यह अत्यन्त ही दिलचस्प कथा है । इसके अर्थ का अक्षरशः निष्कर्ष तो कठिन है, पर तात्पर्य निकाल सकते हैं । वह यह है कि हिमालय से नीचे उतार कर गंगा को

समतल में संचालन करने का श्रेय भगीरथ को है। भगीरथ जैसे-जैसे रास्ता बनाता गया या नहर खोदता गया, अर्थात् टेढ़े-मेढ़े स्रोतों को एक-दूसरे में मिला कर एकीकरण करके मार्ग दिखाता गया, वैसे-वैसे गंगा उसके पीछे चलती गयीं।

यह एक बृहत् योजना थी—एक प्लान था—जो धीरे-धीरे और तीन पीढ़ियों के अथक परिश्रम के बाद सफल हुआ। यह यश भगीरथ को मिला। इसलिए गंगा का नाम भागीरथी पड़ा।

सगर ने यवन, बर्बर, शक और अन्य बाहरी जातियों के लोगों की दाढ़ी-मुँछें मुँडवा दीं या पूरा वस्त्र नहीं पहनने दिया, और किसी को केवल लँगोटी ही दी, यह प्रसंग गंगा की कथा में अप्रासंगिक मालूम होता है, पर दिल-चस्प भी है। इसमें इतिहास कितना है, यह कहना तो कठिन है, पर किंवदन्ती के आधार पर लिखी हुई कथा में तो तथ्य होगा ही। इतना तो स्पष्ट है कि यवन, शक आदि बाहरी जातियाँ सगर की प्रिय पात्र नहीं थीं।

पर, एक और कथा है जो और भी उलझन पैदा करती है। गंगा ने शान्तनु से विवाह किया।

भगवान् के चरणों से निकली गंगा नदी, वह मनुष्य शान्तनु से असम्भव विवाह कैसे करती, यह प्रकृति के विरुद्ध अनहोनी कथा है। नदी और मनुष्य का यह विवाह रूपक है—यह मानना होगा। पर रूपक है, तो भी उसका भी कुछ अर्थ तो है ही।

रूपक में कल्पना की उड़ान तो है, पर उसमें भी अर्थ होता है, यह दूसरी बात है कि उस अर्थ को हम खोज पाते हैं कि नहीं। गंगा का अत्यन्त वेगमय और मनमाना स्वभाव तो था ही, शान्तनु से विवाह करके भी गंगा पूरी शान्त नहीं हुई। सात पुत्रों को तो उसने बहा ही दिया, पर आठवें पुत्र को बहा देने से जब शान्तनु ने रोका, तब क्रुद्ध होकर गंगा अन्तर्धान हो गयी। यही आठवाँ पुत्र भीष्म था।

कौरवों के पितामह भीष्म तो ऐतिहासिक हैं, ऐसा मानना ही चाहिए। शान्तनु भी ऐतिहासिक ही होगा। पर, रूपक और इतिहास का यह मिश्रण हमारे आचार्यों ने जान-बूझ कर किया है, इसलिए सात पुत्र बहा देने की गंगा की कथा को रूपक मान कर क्या हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि गंगा ने सात धाराएँ समेट कर उसकी

केवल एक ही धारा भीष्मकर्मा रखी, जो आज भी देश का भीष्म कल्याण करती है ? कौन जाने ?

भीष्म ब्रह्मचारी था, इसलिए उसे कोई सन्तान नहीं हुई। गंगा को एक भीष्मकर्मा नयी सन्तान से वंचित होकर एक ही धारा में प्रवाहित चली आ रही है। हालाँकि पिछले सौ वर्षों से सरकार ने नयी-नयी नहरें निकाल कर एक महत् धारा की कई सन्तानें बना दी हैं। वे सब प्रजा का कल्याण भी करती हैं।

क्राइस्ट का जन्म कहाँ हुआ और वह कहाँ-कहाँ रहा, उसका जीवन कैसा था, उसके साथी कौन-कौन थे, वह भारत वर्ष की यात्रा भी कर गया था क्या ? इन बातों पर यूरोप के वैज्ञानिकों ने काफी शोध और अनुसन्धान किया है और कर रहे हैं। नयी खोजें हुई हैं। 'डेड सो-स्कोल' के कागज उपलब्ध हुए हैं, जिनसे क्राइस्ट पर नया प्रकाश पड़ा है।

पर खेद है कि हमारे पुरातत्त्वविशारदों ने यह खोज नहीं की कि गंगा हिमालय से उतर कर कितनी धाराओं में प्रवाहित हुई—तीन-चार या सात ? कितनी धाराएँ सिमट गयीं, कौन-सी बाकी रही और भगीरथ ने किस तरह गंगा का एकीकरण करके उसका एक ही धारा में संचालन किया, यह खोज इतनी कठिन नहीं है, क्योंकि पुरानी धाराओं के अवशेष-चिह्न खोज-पड़ताल से आज भी मिल तो सकते हैं।

पर, देखें कौन माई का लाल हमें, यह नया ज्ञान देगा।

जो हो, वे सारी की सारी कथाएँ इतिहास, किंवदन्ती, रूपक, कल्पना और भूगोल से इतनी घुली-मिली पड़ी हैं कि विशारद लोग जब अनुसन्धान करेंगे तब हमें काफी नया मसाला मिलेगा, जो भूले हुए इतिहास पर नया प्रकाश डालेगा।

गंगा जी के दर्शन से पाप कटते हैं, स्नान से नरक कटते हैं, गंगाजल के पान से यम-त्रास मिटता है, यह सब सही है, पर गंगोत्तरी या काशी किसी भी स्थान पर गंगा का सम्यक् दर्शन असम्भव है।

गंगोत्तरी में गंगा जी की धारा के एक छोटे-से हिस्से का दर्शन होता—हृषीकेश और प्रयाग में भी धारा का एक हिस्सा ही दिखाई दे सकता है। भौतिक चक्षुओं से, हमारे पास दूरबीन भी हो, तो भी थोड़ा-सा ही हिस्सा

हमें देख पड़ेगा। भौतिक चक्षुओं को तो आखिर मर्यादा है। वे इससे आगे जा ही नहीं सकते।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जब विराट् स्वरूप का दर्शन कराया, तब उससे कहा कि तुम अपनी इन भौतिक आँखों से मेरे इस विराट् स्वरूप का दर्शन नहीं कर सकते, इसलिए मैं तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूँ, उनसे तुम मेरा विश्वरूप देख सकोगे। जब उसे यह दिव्य चक्षु मिला, तब उसने देखा कि यह विश्वरूप अनन्त था, न इसका आदि था, न मध्य, न अन्त। सारे विश्व में वह व्याप्त था।

ऐसे रूप को कोई भौतिक चक्षुओं से क्या देखे और क्या भौतिक वाणी से उसका वर्णन करे। तो भी कुछ लोग विराट् स्वरूप का चित्र बना कर उसकी पूजा करते हैं। चित्र का तो आदि, मध्य और अन्त सब-कुछ होता है और वह केवल एक कागज के टुकड़े में ही सीमित है। वह विराट् स्वरूप तो सारे विश्व में व्याप्त था, इसलिए कागज पर उसका चित्र असम्भव है। वह तो दिव्य चक्षु अर्थात् विवेक और बौद्धिक चक्षुओं से ही देखा जा सकता है।

जब हम किसी मकान में प्रवेश करते हैं, तब हम ईंट, चूना, पत्थर सबमें मिट्टी देख सकते हैं, केवल बुद्धि के बल पर। पर जब केवल मिट्टी देखते हैं तब उसमें मिट्टी की बनी सारी सामग्रियों का हमें ज्ञान भी कहाँ है? उस मिट्टी में मकान, महल, कुटिया, हँडिया, सुराही, खनिज पदार्थ, सोना, चाँदी, ताँबा इत्यादि न जाने और कितनी सामग्रियाँ समायी हैं, जिनकी हमें पूरी जानकारी भी नहीं है, इसलिए उसके भीतर सारी सामग्रियों को देखने के लिए दिव्य चक्षु चाहिए।

इसी तरह गंगा माई के सम्यक् दर्शन करने के लिए भी दिव्य चक्षु चाहिए। यह दर्शन भौतिक चक्षुओं की सीमा के बाहर है और वर्णनातीत भी है, केवल बुद्धि-गम्य है।

समुद्र से, नदियों से, गन्दे नाले से, सरोवर से, हमारे श्वास-प्रश्वास से और हमारे पसीने से जो भाप निकलती है, वह सब आकाश में बादल बन कर ऊपर जाती है और वहाँ वह विष्णुपद (बादलों) से निकल कर शंकरजटा (हिमालय की चोटियों) पर गिर कर, नीचे आकर सारे भारतवर्ष को लाँच कर समुद्र में लीन हो जाती है और फिर वहाँ से पुनर्जन्म लेकर उसी चाल से

फिर प्रलय की ओर जाती है।

गंगा का जन्म है और प्रलय भी है। फिर जन्म है और फिर प्रलय। यह सारी लीला हम दिव्य चक्षु अर्थात् विवेकचक्षु से ही देख सकते हैं।

मनुष्य जीवन का भी यही क्रम है—जन्म और प्रलय :

पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्।

पुनरपि जननीजठरे शयनम्॥

गंगा जी का सम्यक् दर्शन हम दिव्य चक्षु से देख कर उसको हृदयंगम करके अपने आचरण में काट-छाँट करें, तो हम पापों से मुक्त हो जाते हैं।

संसार-चक्र एक अद्भुत रहस्य है। गीताकार ने कहा है—“इस रहस्य को कुछ लोग आश्चर्यवत् देखते हैं, कुछ आश्चर्यपूर्वक कहते हैं, कुछ आश्चर्यवत् सुनते हैं और अन्य सुन कर भी इसे नहीं समझते।”

जीवन का लक्ष्य है जन्म के बाद गंगा जी की तरह सेवा करते-करते प्रलय होना और इसी बुनियाद पर हमारे आचरणों को एक नया मोड़ देकर जीवन को यज्ञमय बना देना। इसी से तमाम पाप कटते हैं। भगवान् ने गीता में कहा है :

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

अर्थात्, “जो इस संसार-चक्र का अनुसरण नहीं करता और इन्द्रियों के भोगों में ही लित है, वह वृथा जीता है।”

गंगा ने इस संसार-चक्र का अनुसरण किया। हमें भी शास्त्र कहते हैं : इस संसार-चक्र का अनुसरण करो।

यदि गंगा के इस जन्म और प्रलय और जीवन-चरित्र को हम नहीं समझें और अपने जीवन को इसी ढाँचे में नहीं ढालें तो जीवन वृथा है।

गंगा जब शंकर-जटा में पड़ती है, तब छोटी-छोटी बूँदें बन कर। इसके अनन्तर गोमुख से एक छोटा-सा स्रोत निकलता है। गंगोत्तरी में यह कुछ और विस्तृत बन जाती है। जैसे-जैसे आगे चलती है, गंगा का शरीर बढ़ता जाता है, उसका विस्तार होता जाता है। पास के नदी-नाले भिल जाते हैं। हिमालय के नीचे पहुँचते-पहुँचते यह विशद हो जाती है, फिर हृषीकेश हरिद्वार होकर प्रयाग पहुँचती है, तो यमुना को भी मिला लेती है—विस्तार और भी फैल जाता है। अन्त में काशी होती हुई समुद्र में लीन होकर अपना व्यक्तित्व उसी बृहत् सागर में प्रसन्नतापूर्वक

विलीन कर देती है, जहाँ से पहले उसका उद्गम हुआ था। यह सम्यक् दर्शन हम दिव्य पक्ष से ही कर सकते हैं। यह दर्शन अवश्य ही रोमांचकारी है।

इस जीवन-काल में गंगा ने हजारों मील की यात्रा की, कभी मुड़ कर नहीं देखा। हृदय विशाल रखा, कभी कृपणता नहीं की। सारी यात्रा में तटवर्ती वृक्षों को पोषण देती आसी। नगर और ग्राम सबकी पिपासा बुझायी, उनको पोषण दिया, यातायात का साधन दिया, इसके जल में रहने वाले जीव-जन्तुओं का सहारा रही। बहती हुई गंगा मेघों को भी पानी देती गयी। सबको दिया, सबका उपकार किया, सबकी भलाई की, पर किसी से कुछ मांगा नहीं।

संक्षेप में, जब से गंगा का उद्भव हुआ, तब से लगा

कर इसके प्रलय काल तक वह सेवा ही करती रही। जन्मकाल में आह्लादित नहीं हुई। प्रलय में शोकार्त नहीं हुई। प्रलय में भी उसी तेज से, उसी प्रसन्नता से, सागर में मिल गयी। सारा जीवन पुण्य और यश करते-करते बीता।

ब्रह्म से उद्भव होकर हम सभी ब्रह्म में विलीन होते हैं, पर इस त्रिभुवन-तारिणी गंगा के जीवन को हम अपने सामने आदर्श रख कर अपने-आप में उसे प्रविष्ट करावें तभी हमारे पाप कटते हैं। इसीको अवगाहन-स्नान-कहते हैं, इसी को गंगाजल का पान कहते हैं। इस मर्म को समझते ही हम नरक से छूटते हैं, यम की यातना से मुक्त होते हैं, पाप काटते हैं, भगवान् का दर्शन करते हैं। गंगोत्तरी की यात्रा का यही माहात्म्य है।

जय गंगा माई की।

‘मुमुक्षु’ के शुभचिन्तकों से निवेदन

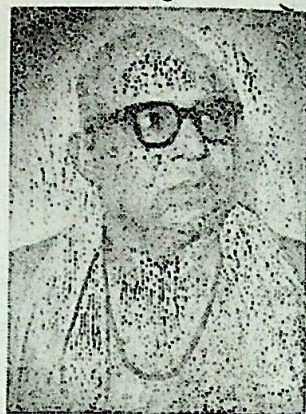
‘पाठकों की प्रतिक्रिया’ से मुमुक्षु के शुभचिन्तकों को विदित होगा कि सात मास के शैशव-काल में ही ‘मुमुक्षु’ ने आशातीत लोकप्रियता प्राप्त कर ली है। उसको साज-सज्जा, रेखांकन तथा रचना-संकलन से प्रभावित होकर कुछ उदार सहृदय पाठकों ने विशेष सहायता प्रदान की है और कुछ ने आजीवन सदस्यता के शुल्कादि नियमों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण जिज्ञासा प्रकट की है। एतद् अर्थ हम यहाँ विभिन्न ग्राहक-श्रेणियों के शुल्कादि नियम प्रकाशित कर रहे हैं। साथ ही आशा करते हैं कि मुमुक्षु के प्रत्येक हितैषी कम से कम पाँच ग्राहक अवश्य बनाएँगे।

1. विशेष सहायक—जो सज्जन प्रतिवर्ष (१०१) काशी मुमुक्षु भवन सभा को सहायता प्रदान करेंगे। ऐसे उदार दाताओं को ‘मुमुक्षु’ पत्रिका के अतिरिक्त सभा द्वारा प्रकाशित और प्रचारित साहित्य निःशुल्क प्रदान किया जायगा तथा वर्ष में एक सप्ताह के लिए उन्हें मुमुक्षु भवन में निःशुल्क आवासीय सुविधा प्रदान की जायगी।
2. आजीवन ग्राहक—जो सज्जन एक साथ मनिआर्डर या ड्राफ्ट द्वारा (२५१) भेजेंगे, उन्हें जीवन-भर ‘मुमुक्षु’ प्राप्त होता रहेगा।
3. साधारण ग्राहक—जो सज्जन लागत मूल्य से भी कम वार्षिक शुल्क (१५) मनिआर्डर या पोस्टल आर्डर से भेजेंगे उन्हें वर्ष भर ‘मुमुक्षु’ मिलता रहेगा।
4. सहयोगी ग्राहक—जो सज्जन मुमुक्षु के कम से कम १५ साधारण ग्राहक बनायेंगे उन्हें सहयोगी के रूप में निःशुल्क एक वर्ष मुमुक्षु पत्रिका मिलती रहेगी।

सूचना—मनिआर्डर, बैंक ड्राफ्ट, पोस्टल आर्डर, स्थानीय चेक ‘काशी मुमुक्षु भवन सभा’ के नाम से ही भेजना चाहिए। —मन्त्री, काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्ती, वाराणसी-५।

स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती

— आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय



श्रीमद्भागवत, उपनिषद् तथा अनेक शास्त्रों के उद्भट विद्वान् एवं प्रवचनकर्ता स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी का शास्त्रीय वैदुष्य जितना उच्च कोटि का है, उतनी ही उदात्त कोटि की है उनकी आध्यात्मिक साधना एवं दीर्घ तपस्या। आरम्भ से ही उनके चित्त को संसार का वासनामय वातावरण आकृष्ट नहीं कर सका और नैसर्गतः इनकी प्रवृत्ति अध्यात्म चिन्तन एवं विरक्ति की ओर उन्मुख रही। फलतः ये अपने लक्ष्य को प्राप्ति के लिए अपने जीवन की महीनय उपलब्धि—भगवत्कर्म—के लिए अनेक स्थानों में निवास करते हुए अपने को तैयार कर रहे थे। गोरखपुर के प्रख्यात आध्यात्मिक पत्र 'कल्याण' के द्वारा साहित्य सेवा करते हुए भी इन्होंने अपने को परम उद्देश्य की प्रगति की ओर बढ़ाया। श्रीमद्भागवत की हिन्दी व्याख्या, भक्ति तथा ज्ञान प्रचुर लेखों, दार्शनिक गूढ़ विषयों के विवेचन-प्रवचन आदि के द्वारा शान्तनुविहारी द्विवेदी का एक मात्र लक्ष्य रहा—भगवान् की 'पीयूषमयी कथा की ओर जनता-जनार्दन को उन्मुख करना तथा विद्वानों के हृदय में तात्त्विक भक्तिभाव की सद्यः स्फूर्ति करा देना।' आज भी स्वामी जी इसी कार्य में लगे हुए हैं, सनातन धर्म का प्रचुर प्रचार कर जनता में धार्मिक जागृति का समुज्ज्वल उदय कर रहे हैं।

जन्म

स्वामी जी का जन्म वाराणसी मण्डल के महाइच परगने के 'महराई' गाँव में पण्डित हर्षेन्दु द्विवेदी के आत्मज रूप में सं० १९६८ (१९११ ईस्वी) आवण अमावस्या को हुआ। इनके पितामह श्री चन्द्रशेखर द्विवेदी धर्मशास्त्र एवं ज्योतिष के प्रसिद्ध विद्वान् और विशाल प्रतिष्ठित जनवर्ग

के कुलगुरु थे। इनके पिता की अनेक सन्तानें अल्पकाल में ही कालकवलित हो गयी थीं। फलतः इनकी पितामही ने मथुरा मण्डल के प्रसिद्ध देवविग्रह सन्तानविहारी जी (श्री कृष्णजी) की वंशवर्धन, सन्तान की कामना के लिए बड़ी आराधना की। उसके फलस्वरूप इनका जन्म हुआ और इसीलिए इनका नाम रखा गया—शान्तनुविहारी (सन्तान विहारी)। भाग्यवश पिता जी की छाया इनके सिर से वि० सं० १९७५ (१९१८ ई०) में ही उठ गयी। जब ये केवल सात साल के बालक थे। अतः इनके पालन-पोषण का भार इनके पितामह तथा पूजनीया माता जी पर पड़ा। इनके दो भाइयों की मृत्यु इनके जन्म से पहले ही हो चुकी थी। फलतः ये पिता-माता की इकलौती सन्तान थे। ध्यान देने की बात है कि जिस बालक का जन्म भगवान् श्रीकृष्ण की दीर्घ उपासना और विमल मान्यता के फलस्वरूप हुआ, उसके जीवन में उनकी सरस अनुकम्पा तथा विशद भक्तिभावना का प्रसाद यदि अबाध गति से प्रवाहित हो चला, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

स्वामी जी की माता जी पतिपरायणा तथा सती साध्वी स्त्री थीं। वे रामचरित मानस की बड़ी भक्त थीं। जब वे रामायण का पाठ करने लगतीं तब उनकी आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती थी। अपने छोटे बच्चे (अखण्डानन्द जी) के हृदय में इन्होंने ही प्रेम की भावना जाग्रत की। सब तो यह है कि अक्षरारम्भ का अभ्यास इन्होंने रामायण पढ़ कर ही किया था।

१. स्वामी जी ने एक अवसर पर बताया था कि हमारे पूर्वज धाराधर द्विवेदियों के सुप्रसिद्ध पंक्ति-स्थान सरारि (गोरखपुर) से आकर 'महराई' गाँव में बस गये थे। — सम्पादक।

शिक्षा

स्वामी अखण्डानन्द जी की पाठशालीय शिक्षा कुछ विशेष नहीं हुई। इन्होंने केवल दूसरी कक्षा तक ही नियमित रूप से शिक्षा प्राप्त की थी। गाँव की पाठशाला में कुछ दिनों तक पढ़ने के पश्चात् संस्कृत साहित्य, व्याकरण तथा दर्शन शास्त्रों का विशेष अध्ययन करने के लिए ये काशी चले आये। यहाँ इन्होंने पं० रामभवन उपाध्याय (सुखपुरा, बलिया) से व्याकरण का अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त पं० रामपरीक्षण शास्त्री से दर्शन शास्त्र का पाठ पढ़ा। स्वामी मनोषानन्द जी के साथ सत्संग करने से इन्हें मानसिक पवित्रता प्राप्त हुई। इस प्रकार लगभग छह-सात वर्षों तक ये गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस में विभिन्न गुरुओं से व्याकरण, दर्शन आदि शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। ये नित्यप्रति भागवती कथा का श्रवण भी करते थे। इन्होंने दिनों-दिन उनके हृदय में भागवत की कथा कहने तथा प्रवचन करने का बीज अंकुरित होने लगा था।

गुरु

इस अंकुर के प्रेरणास्रोत थे उस युग के महनीय पौराणिक, भारतप्रसिद्ध श्रीमद्भागवत के प्रकाण्ड विद्वान् पण्डित नारायणदत्त भागवती जी। वाराणसी के प्रख्यात प्रतिष्ठित व्यक्ति कामेश्वरप्रसाद अग्रवाल के नीचीबाग के मन्दिर में प्रतिदिन वर्षों तक श्री भागवती जी का कथा-प्रवचन चलता रहा। उनके सहस्रों शिष्य भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में बिखरे हुए हैं जिनमें कई धर्माचार्य संन्यासी महात्मा भी हैं। उन्हीं में एक स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती भी हैं।

संन्यास

स्वामी जी के पितामह बहुत बड़े ज्योतिषी थे। उन्होंने अपने पौत्र की कुण्डली में मारक योग देख कर इनका विवाह सं० १९८० वि० (सन् १९२३ ई०) में कर दिया। उस समय इनका वय १२ वर्ष था। संयोग से १९ वर्ष के वय के पहले इन्हें सन्तान की प्राप्ति भी हो गयी। इस उम्र में इनके शरीर पर मारकेश ग्रह का तो कोई प्रभाव नहीं पड़ा, परन्तु इनके मन में संसार से विरक्ति अवश्य हो गयी। जब स्वामी जी कल्याण के सम्पादनार्थ गोरखपुर में निवास कर रहे थे, तब स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती की बड़ी ख्याति थी। कुछ वर्षों के पश्चात् ये ही

ब्रह्मानन्द जी बदरिकाश्रम के ज्योतिषी के शंकराचार्य के सिंहासन पर आसीन हुए। १९४२ ई० में इन्होंने स्वामी जी से इन्होंने संन्यास की दीक्षा ग्रहण की और पं० शान्तनु-विहारी द्विवेदी पूर्वाश्रम के नाम का परित्याग कर स्वामी 'अखण्डानन्द सरस्वती' नाम धारण कर लिया।

साधु-महात्माओं से सत्संग

स्वामी जी को अनेक प्रसिद्ध साधु-सन्तों से सत्संग करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था, जिनमें सुप्रसिद्ध महात्मा श्री उड़िया बाबा, स्वरूपानन्द जी, स्वामी करपात्री जी, श्रीकृष्णशोभाश्रम जी प्रमुख हैं। अपनी तीर्थयात्राओं में उत्तर तथा दक्षिण भारत के अनेक साधु-महात्माओं का इन्होंने दर्शन किया था। साधु-सन्तों के अतिरिक्त इनका सम्पर्क भारत के छोटी के दार्शनिकों तथा विद्वानों से भी था। स्वामी जी ने अपना पहला चातुर्मास्य कर्णवास क्षेत्र में किया था। वहाँ ये उड़िया बाबा के सान्निध्य में माण्डूक्य कारिका का प्रवचन करते थे। यहाँ देश के प्रसिद्ध दार्शनिकों का जमघट होता था। नरवर के ब्रह्मचारी पं० जीवनदत्त जी, पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पं० अखिलानन्द जी आदि विद्वान् सम्मिलित होते थे।

तीर्थाटन

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती ने समस्त भारत का पर्यटन कर इस देश के विभिन्न भागों में स्थित तीर्थों तथा धामों का दर्शन किया। इन्होंने पैदल तथा रेल द्वारा इस पवित्र देश की अनेक बार परिक्रमा की है। हिमालय से कन्याकुमारी तक और जगन्नाथ पुरी से द्वारका तक यात्रा कर इन्होंने शंकराचार्य की प्राचीन परम्परा का अनुसरण किया। उत्तराखण्ड की यात्रा में गंगोत्तरी में श्री कृष्णाश्रम जी महाराज तथा जोशीमठ में अपने संन्यास गुरु शंकराचार्य के पद पर प्रतिष्ठित स्वामी ब्रह्मानन्द जी का भी दर्शन किया। इसी प्रकार दक्षिण भारत की यात्रा इन्होंने दो बार स्पेशल ट्रेन से की। दक्षिण की इस यात्रा में इन्होंने पाण्डेचेरी में अरविन्द आश्रम देखा और तिरुवण्णमलै में श्री रमण महर्षि का भी सत्संग प्राप्त किया। कांची में कामकोटि-पीठाधिपति शंकराचार्य का दर्शन किया। इस प्रकार इस तीर्थ यात्रा में इन्होंने अनेक महात्माओं, साधुओं तथा सन्तों के दर्शन कर उनसे सत्संग का विशेष लाभ उठाया।

ट्रस्टों की स्थापना

स्वामी जी ने जनता के कल्याण के लिए जिन ट्रस्टों की स्वयं स्थापना की है अथवा जिनसे इनका सम्बन्ध है उनकी सूची निम्नांकित है—

१. श्री उड़िया बाबा ट्रस्ट, अध्यक्ष, २. श्री कृष्णभूमि ट्रस्ट, मथुरा, ट्रस्टी, ३. स्वर्गाश्रम ट्रस्ट, ऋषीकेश, ट्रस्टी, ४. आनन्द वृन्दावन चेरिटेबल ट्रस्ट, वृन्दावन, ५. जनता-जनार्दन सेवा ट्रस्ट, ६. प्रेमानन्द ट्रस्ट, बोरैया, इटावा, ७. सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई।

इन ट्रस्टों से स्वामी जी के क्रिया-कलापों का कुछ परिचय प्राप्त होता है।

ग्रन्थ-रचना

सत् साहित्य के निर्माण तथा प्रचार के लिए स्वामी जी ने बम्बई में 'सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट' स्थापित किया है, जहाँ से प्रायः स्वामी जी की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची निम्नांकित है—

१. माण्डूक्य-प्रवचन (आगम प्रकरण), २. माण्डूक्य कारिका प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण), ३. माण्डूक्य कारिका (भाग ३), ४. कठोपनिषद् (भाग १ तथा २), ५. श्रीमद्भागवत रहस्य, ६. सांख्य योग, ७. ध्यान योग, ८. कर्म योग, ९. भक्ति योग, १०. भक्ति सर्वस्व, ११. विभूति योग, १२. ज्ञान विज्ञान योग, १३. अरुणोक्षानुभूति, १४. साधना और ब्रह्मानुभूति, १५. नारद भक्ति दर्शन, १६. भक्ति रसायनम्, १७. मानव जीवन और भागवत् धर्म, १८. व्यवहार और परमार्थ।

इन विभिन्न ग्रन्थों के नाम से ही इनके विषय-वैविध्य का पता चलता है। वेद, दर्शन शास्त्र, भागवत आदि सभी विषयों में आप का प्रकाण्ड पाण्डित्य परिलक्षित होता है। साधु-सन्त तथा महात्मा लोग मौखिक रूप से प्रवचन तो करते हैं परन्तु लेखन-कर्म से वे प्रायः विरत रहते हैं। परन्तु स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती की विशेषता यह है कि ये उपनिषदों, वेदान्त ग्रन्थों एवं भागवत के मधुर वाचक ही नहीं हैं, प्रत्युत लेखनी के भी धनी हैं। इनकी वाणी

और लेखनी दोनों ही अध्यात्म के उपदेश में समभावेन गतिशील हैं।

श्रीमद्भागवत के उत्कृष्ट प्रवचनकला

स्वामी अखण्डानन्द जी के जीवन का सर्वोत्कृष्ट वैशिष्ट्य है श्रीमद्भागवत का प्रवचन। स्वामी जी ने दिव्य शरीर के साथ ही दिव्य वाणी भी प्राप्त की है। इनकी सुमधुर वाणी से निकले हुए भागवत के मधुर श्लोक श्रोताओं के ऊपर अलौकिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इनकी कथा-शैली इतनी रोचक और प्रभावोत्पादक है कि स्वयं महामना मालवीय महाराज ने इससे भागवत की कथा सुनने की इच्छा प्रकट की और इनकी कथा को सुन कर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। भारत के बड़े से बड़े सेठ-साहूकार, धनी-मानी व्यक्ति इनके शिष्य हैं और वे लोग अपने यहाँ भागवत की कथा सुनाने के लिए इन्हें बार-बार आग्रहपूर्वक निमन्त्रण दे कर बुलाते हैं। स्वामी जी की कथा कहने की विशेषता यह है कि ये अपने प्रवचन के बीच में उपदेशात्मक रोचक कथाएँ भी सुनाते रहते हैं जिससे श्रोता का मन ऊबने नहीं पाता। भागवत के श्लोकों का पाठ इनकी मधुर वाणी में सुनकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। भागवत की कथा को लोकप्रिय बनाने में स्वामी जी का योगदान प्रचुर परिमाण में पाया जाता है। ये आज भी अपने प्रवचनों के द्वारा सर्वसाधारण में भक्ति का प्रचार करने में संलग्न हैं। इस पवित्र कार्य के लिए इन्होंने अपना जीवन ही समर्पित कर दिया है। श्री वृन्दावन में उड़िया भाषा के आश्रम के अधिष्ठता रूप में और निजी आश्रम 'आनन्द वृन्दावन' के संचालक रूप में आपका व्यवस्थापक रूप भी निराला स्पृहणीय एवं आदरणीय है। आपके प्रवचनों में जितनी मधुरता एवं सरसता का संचार पाया जाता है, आपके लेखों में इतनी गम्भीरता एवं तार्किकता का प्रसार उपलब्ध होता है।

इसीलिए भागवत धर्म के शास्त्र-सम्मत प्रवचनों से देश के अनुपम उपकारी स्वामी जी के लिए भक्तों का यह उद्गार अक्षरशः सत्य है—

प्रेम मरा है जीवन इनका, प्रेम भरे हैं सीढे बोल।

प्रेम भरे हैं नयन मनोहर, जीवन को करते अवमोल ॥

[लेखक की शीघ्र ही प्रकाश्य पुस्तक 'काशी की पाण्डित्य परम्परा' से साभार]

भारतीय जीवन का पूर्ण आदर्श—भगवान् राम और भरत का पावन चरित्र

— श्री रामकिंकर उपाध्याय

[बिरला अकादमी आफ आर्ट ऐण्ड कल्चर की ओर से मानस मर्मज्ञ पं० रामकिंकर उपाध्याय के प्रवचन का आयोजन नई दिल्ली स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण-वाटिका में २६ मार्च से २ अप्रैल १९८२ तक चैत्र नवरात्र पर किया गया था। यहाँ हम उस प्रवचन का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे पाठकों को अनायास ही ज्ञात होगा कि गोस्वामी तुलसीदास ने 'मानस' के आदर्श चरित्रों द्वारा मानव-जगत् का कितना महान् उाकार किया है। —संपादक]

जीव का स्वतन्त्र कर्तृत्व

जीव रस्सी में बँधी गाय के समान एक सीमा तक ही स्वतन्त्र है। और, जिस प्रकार गाय रस्सी की लम्बाई की सीमा से बाहर घूमने-फिरने में असफल रहने पर अपने को अपने पालनकर्ता के अधीन अनुभव करती है उसी तरह जीवन में पराजय और असफलता आने पर निराश हुआ जीव भी सर्वशक्तिमान भ्रु का ध्यान करता है। इस प्रकार पराजय और परतन्त्रता भगवान् की दिशा में मोड़ती है। बल्कि यह कहना और अधिक ठीक है कि भगवान् की ओर उन्मुख होने के लिए जीवन में असफलता और पराजय आवश्यक है। ईश्वर की ओर जीव के उन्मुख होने के लिए अपनी असमर्थता की तीव्रतम अनुभूति आवश्यक है। जब तक मनुष्य को अपनी शक्ति व क्षमता का बोध है, वह उशका अधिकतम सीमा तक प्रयोग करता है। किन्तु जब वह असफल हो जाता है और उसकी अनुभूति उसे असह्य हो उठती है तभी वह ईश्वर शरण में जाता है।

'मानस' के महान् पात्रों में भी पराजय के क्षण आते हैं। किन्तु सामान्य जन की पराजय की अनुभूति और भक्त-हृदय की पराजय-अनुभूति में अन्तर है। पराजय की अनुभूति भक्त के हृदय में भगवत्प्रेम को तीव्रतम बना देती है। भगवद्-आश्रय के बाद यदि कभी संयोगवश भक्त बुराई के वशीभूत भी हो जाये तो अपनी इच्छा के विपरीत आये ऐसी स्थिति में कुछ समय के लिए उसमें निष्पन्दता आ जाती है। उस बुराई का उस पर स्थायी प्रभाव नहीं हो सकता।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

गोस्वामी तुलसीदास ने सत्यं शिवं सुन्दरम्—इन तीनों तत्त्वों के लिए मानस में तीन स्थानों पर समुद्र मन्थन का सांग रूपक बाँधा है। पहले सीता-सौन्दर्य-वर्णन के लिए जिस समुद्र मन्थन का उल्लेख है उसके उपादान तदनुकूल है। जैसे छवि का समुद्र, शृंगार की मथानी, शोभा की रस्सी तथा स्वयमेव कामदेव मथकर सौन्दर्य का अमृत निकालता है! किन्तु शृंगार-वर्णन मन को दूषित कर नीचे न ले जाये इसके लिए "परम रूपमय कच्छप सोई" भगवान् का आश्रय उसमें कच्छप बन कर शृंगार की मथानी को नीचे नहीं जाने देता है। दूसरे समुद्र मन्थन का रूपक उत्तरकाण्ड में है। वहाँ वेद समुद्र, मन में उदित ज्ञान ही मन्दराचल-मथानी है। विचार की गतिशीलता ही मथानी का चलना है। मन में विभिन्न प्रकार के प्रश्न संशय जिज्ञासा वासुकि रज्जु है। विचार मथानी के लिए ईश्वराश्रय का कच्छप है जिसके न होने पर विचार पतनोन्मुखी हो जायेंगे। इसके बाद सत्य तत्त्व अमृत की उपलब्धि होती है। तीसरे समुद्र मन्थन का रूपक शिव तत्त्व प्राप्ति के लिए है। जो भरत के हृदय रूप समुद्र के मथे जाने से प्रकट होता है। यहाँ १४ वर्ष का वियोग मथानी है। कैकेयी के वाक्य वासुकि-रस्सी हैं। पहले भरत के क्रोध का हलाहल उत्पन्न होता। किन्तु इस मन्थन में भी मथानी के आश्रय श्रीराम हैं।

समुद्र मन्थन की उपर्युक्त तीनों कल्पनाओं में अन्य साधन बदल जाते हैं पर मन्थन सफल होवे के लिए सर्वत्र

मंदराचल के आधार स्वयं ईश्वर हैं। इसीलिए तीनों मन्थनों से उपलब्ध तत्त्व कहीं विकृतिकारक नहीं बनते बल्कि सत्य, शिव और सुन्दर की भाँति हितावह हैं।

श्री भरतजी का महान् चरित्र

धर्म की दुहाई तो मानस के रावण, बाली, मन्थरा और कैकेयी जैसे निन्दनीय पात्र भी देते हैं और अपनी स्वार्थपरक व्याख्या के अनुसार अपने कृत्यों को धर्मानुकूल बताते हैं। सीताजी का अपहरण करनेवाला रावण रामदूत अंगद से कहता है कि मैं तुम्हारा वध कर सकता हूँ किन्तु दूत का वध करना धर्म-विरुद्ध है। बाली, जिसने अपनी अनुज-बधू को घर में रख लिया था, राम-बाण से आहत होकर गिरने पर राम के ही कार्य में दोष निकालता और धर्म की दुहाई देते हुए कहता है—“धर्म हेतु अवतरेउ गुसाईं, मारेउ मोहि व्याव की नाई।” मन्थरा भी अपने कथन को धर्मसम्मत बताते हुए कैकेयी से कहती है—“खाइय, पहिरिय राज तुम्हारे, सत्य कहहु नहि दोष हमारे।” कैकेयी तो राम को वनवास दिलवाने के कार्य को ही श्री दशरथ से सर्वश्रेष्ठ धर्म का पालन कराना बताती है। वह श्री दशरथ जी से यहाँ तक कहती है कि श्रीराम को वनवास देकर आप धर्म के चारों तत्त्वों सत्य, तप, दया और दान का पालन करेंगे।

यद्यपि नीतिकारों का मत है कि पिता की आज्ञा का पालन उसके उचितानुचित का विचार किये बिना करना चाहिए और इसी प्रकार गुरु तथा माता की आज्ञा भी शिरोधार्य है। किन्तु ये आज्ञाएँ पिता, गुरु तथा माता की हार्दिक इच्छानुसार स्वामाविक रूप से और सामान्य स्थिति में दी गयी हों तभी वे पालनीय हैं।

भरत जी ने दशरथ जी द्वारा प्रदत्त राज्य इसलिए स्वीकार नहीं किया क्योंकि ऐसा दशरथ जी को कैकेयी के दिए वचनों की विवशतावश करना पड़ा। श्री दशरथजी की हार्दिक अभिलाषा राम को ही राज्य देने की थी। भरत उनकी उसी हार्दिक अभिलाषा की पूर्ति के लिए राम को राज्य संभालने को कहते हैं और श्रीराम के न लौटने पर उनकी पादुकाओं को ही सिंहासन पर रखकर उनकी पूजा करते हैं। और इस प्रकार पिता की अभिलाषा पूरी करते हैं।

गुरु वसिष्ठ जी भरत से इतने प्रभावित होते हैं कि धर्माचरण में वे अपने से भरत को बड़ा हुआ मानते हैं

और कह उठते हैं कि भरत जो कुछ तुम समझते हो, करते हो और कहते हो बस वही धर्म है।

गुरु जी ने भरत जी को राज्य सिंहासन सम्हालने के लिए अनेक तर्क दिये। और इस कार्य को धर्मसम्मत भी बताया और कहा कि तुम्हारे पिताजी ने दो आज्ञा दी थी, उनमें से एक राम के लिए और एक तुम्हारे लिए। सो एक का राम ने पालन किया, दूसरी राज्य सम्हालने की आज्ञा तुम पालन करो। किन्तु शील के सागर भरत जी ने बड़ी नम्रता से कहा—धर्म का तत्त्व अपने को स्वार्थ से हटा कर दूसरे के हित की वृद्धि में है। श्रीराम ने जो पितृ-आज्ञा मानी उसमें त्याग है और दूसरी आज्ञा जिसे आप मुझे मानने को कहते हैं उसमें भोग और स्वार्थ है। फिर ये आज्ञाएँ दशरथ द्वारा विवशता में दी गयी थीं।

श्री लक्ष्मण का चरित्र आकाश के समान एकदम दृश्यमान है किन्तु भरत का चरित्र समुद्र के समान गम्भीर है। श्रीराम को वन से लौटाने के लिए वन जाते हुए भरत जब शृंगवेरपुर पहुँचते हैं तो निषादराज गुह को उनकी नीयत पर सन्देह होता है कि भरत इतनी सेना साथ क्यों ले जा रहे हैं। किन्तु भरत जी निषाद को राम का सखा सुनते ही रथ से उतर पड़ते हैं और उसका गाढ़ालिङ्गन करते हैं। भरत के इस शील स्नेह के कारण निषाद को देह की सुधि नहीं रहती—“देखि भरत कर शील सनेहू, भा निषाद तेहि समय बिदेहू।”

शाब्दिक उपदेश के बिना मनुष्य अपने चरित्र से ही किस प्रकार दूसरों के मनोविकारों को दूर करने के लिए व्यावहारिक उपदेश दे सकता है, यह भरत जी के चरित्र से स्पष्ट है। महर्षि भरद्वाज के आश्रम में जब श्री भरत जी पहुँचते हैं तो उनके त्याग व राम के प्रति प्रेम से पहले ही प्रभावित भरद्वाज जी उनका सत्कार करते हैं। बैठने को आसन देते हैं जिस पर अपने को कलंकित समझने वाले भरत जी लज्जा से सिर झुकाये बैठ जाते हैं। किन्तु भरद्वाज उनकी मनोव्यथा को ताड़ कर उनसे सामान्य जनों की भाँति समवेदना ही प्रकट नहीं करते बल्कि कहते हैं कि भरत, तुम इसे भले ही कलंक समझो किन्तु तुम्हारा शील और चरित्र तो हम सबके लिए क्रियात्मक उपदेश है। और इससे रामभक्ति रस तैयार होने का श्रीगणेश हो गया है।

“तुम्ह कहँ भरत कलंक यह, हम सब कहँ उपदेश ।
राम भगति रस सिद्धि हित, भा यह सिरी गनेश ॥”

यद्यपि संसार में ऐसा एक व्यक्ति भी मिलना कठिन है जो सबके लिए आदर्श हो किन्तु भरत का चरित्र ग्रन्थवादी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी सबके लिए प्रेरणाप्रद है । वस्तुतः भरत का यश-चन्द्र ऐसा है जिस पर न कभी ग्रहण लगता है और न कभी वह घटता है और न राम-प्रताप-सूर्य के सामने कान्तिहीन ही होता है ।

श्री भरत की चित्रकूट-यात्रा शाश्वत यात्रा है, जो हमेशा चलती रहती है । जीव का ईश्वर से मिलना ही अयोध्या से चित्रकूट पहुँचना है । भरत के साथ केवल ज्ञानी वसिष्ठ, श्रद्धास्वरूप कौसल्या और सुधी सुमन्त जैसे ही चित्रकूट नहीं जाते बल्कि राम को वनवास दिलाने वाली कैकेयी भी जाती है । इसीलिए तुलसीदास भरत जी से प्रोत्साहन पाकर चित्रकूट में रामदरस कर लेते हैं । अयोध्यावासी तो एक बार पहले भी राम के साथ (वन-गमन के समय) गये थे किन्तु तब वे बीच में सो गये और राम आगे वन में चले गये । ईश्वर का जीव से दूर जाना ही राम-वन गमन है ।

कीर्तिकामना सुरसा है

मानव जीवन में पुत्रैषणा और वित्तैषणा के बाद यशैषणा भी आती है । यद्यपि यश के मूल में सद्गुण होते हैं लेकिन बाद में ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुण भी पैदा हो जाते हैं । एक तो मनुष्य की यश-कामना सुरसा के समान मुँह फैलाये जाती है, इससे वह नहीं चाहता कि किसी और का यश उसके समान या उससे बढ़कर हो । यदि किसी का यश अधिक होगा तो उससे ईर्ष्या हो जायगी । सुरसा ने हनुमान् जी की यही परीक्षा ली थी कि वह कीर्ति की कामना का प्रास तो नहीं बनेंगे । हनुमान् जी ने भी सुरसा का वध इसलिए नहीं किया कि कीर्ति की कामना को नहीं मारा जाना चाहिए । किन्तु ध्यान रहे कि कीर्ति कहीं मानव के अहं की तुष्टि करने वाली न हो । गोस्वामी जी ने कहा है कि

कीर्ति, सम्पत्ति और रचना वही उत्तम है जिससे किसी का अहित न होकर सबका हितसाधन हो—

कीर्ति भूति भनिति भलि सोई ।

सुरसरि सम सब कर हित होई ॥

जीव और ईश्वर का मिलन

सत्य और शील धर्म की ध्वजा और पताका है । सत्य वह ध्वजा है जो किसी रंग में न रंगी जाकर स्वेत रहती है । जब कि शील पताका विनय, शिष्टता (शील) और करुणा के तीन रंगों से युक्त है । शील में बड़ों के लिए विनय, छोटों के लिए करुणा और बराबर के लिए शिष्टता विद्यमान रहती है । भरत और राम के मिलने से तो परम प्रेम की वह अनिर्वचनीय स्थिति उपस्थित हो गयी, कि ‘मन बुधि चित्त अहमिति बिसराई’, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का वहाँ पता ही नहीं चला और ‘परम प्रेम पूरन दोउ भाई’ प्रेम की पूर्णता नहीं, बल्कि परम प्रेम की पूर्णता हो गयी ।

ईश्वर का यह पूर्ण मिलन ऐसा हुआ कि दोनों के मध्य जरा-सा भी अन्तर नहीं रह गया । श्रीराम भरत का आगमन सुनते ही उनसे मिलने को ऐसे दौड़े कि ‘कहुँ पट, कहुँ निषंग धनु तीरा ।’ इन सबको छोड़ करके भरत से मिले अर्थात् इनको साथ में लेकर पूर्ण मिलन में जो अन्तर रह जाता वह भी नहीं रहा ।

चित्रकूट को जाते हुए अयोध्यावासियों को विभिन्न वाहनों पर सवार कराकर भी भरत द्वारा अपने लिए वाहन न लेने और माता कौसल्या के आग्रह से उनकी पालकी में बैठने का आध्यात्मिक अर्थ यह है कि जिनके पास ज्ञान, योग आदि जो भी साधन हैं वह उनसे ही भगवान् को प्राप्त करता है । साधक जब भगवत्प्रेम के नशे में खो जाता है तब उसे अपनी याद नहीं रहती । अर्थात् उसमें अहं नहीं रह जाता और न साधन का ध्यान रहता । वह तो साध्य में ही लय हो जाता । ऐसी स्थिति आ जाने पर भगवान् स्वयं उसकी सुधि लेते हैं । इसी प्रकार की स्थिति पहुँच जाने पर सुतीक्ष्ण के पास भगवान् स्वयं पहुँचे ।

मेरा प्रथम चातुर्मास

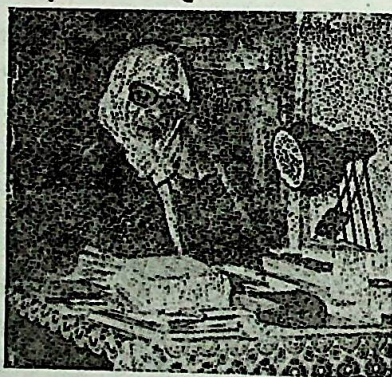
— स्वामी श्री विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती

[स्वामी श्री विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती पूर्वाश्रम में दिल्ली उच्च न्यायालय के न्यायाधीश रहे हैं और आज भी 'जज स्वामी' के नाम से ख्यात हैं। स्वामीजी ने अपना प्रथम चातुर्मास काशी मुमुक्षु भवन में पूरा किया था। इसी सन्दर्भ में चातुर्मास की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए आपने अपने प्रथम चातुर्मास का बड़ा हृदयग्राही शब्दांकन किया है।—सम्पादक]

चार संख्या का भारतीय संस्कृति में विशेष महत्त्व है। जैसे "ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पाद" (माण्डूक्य) —विश्व, तैजस, प्राज्ञ व तुरीय। परमात्मा को चार (ईश्वर, सूत्रात्मा, विराट् व अन्तर्यामी) उपाधियाँ। चतुर्व्यूह (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध अथवा राम, लक्ष्मण, भरत व शत्रुघ्न)। विष्णु के चार हाथ हैं, ब्रह्मा के चार मस्तक। चार वेद; चार पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष)। चार वर्ण और चार आश्रम हैं। यहाँ तक कि शास्त्र के अनुसार संन्यास के मुख्य प्रकार भी चार हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस एवं परमहंस। अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार) और साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, पठ सम्पत्ति व मुमुक्षुता) सर्वविदित हैं। समाधि दशा भी चार विघ्नों (लय, विकल्प, कषाय एवं रसास्वाद) पर विजय से प्राप्त होती है—योग की भी चार भूमिका (वाणीलय, मनोलय, बुद्धिलय व अहंकारलय) अथवा ज्ञान मार्ग के पथिक को शम-दम आदि द्वारा विषय निवृत्ति, एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासन से आत्मा का साक्षात्कार होता है। तत्पश्चात् ब्रह्मज्ञान की उच्चतर भूमिका (ब्रह्म-विद्, ब्रह्मविद्भर, ब्रह्मविद्बरीयान व ब्रह्मविद् वशिष्ठ) पर मुक्तजीव आलु होता है। इससे प्रकट होता है कि चार की संख्या अलौकिक पूर्णता की द्योतक है।

इसी प्रकार भारत में होने वाली छह ऋतुओं में से वर्षा व शरद् ऋतु पोषक काल हैं। चातुर्मास हरिश्चयिनी

एकादशी अथवा आषाढ़ शुक्ला पूर्णमासी से आरम्भ होकर देवोत्थान एकादशी अथवा कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा पर्यन्त होता है। यह काल पवित्र माना जाता है अतः देवाराधन एवं तप के लिए उत्तम है। प्रायः आस्तिक हिन्दू नर-नारी इस अवधि के लिए कोई विशेष नियम भगवत् कृपा की प्राप्ति के उद्देश्य से धारण करते हैं। इस समय वर्षा, बाढ़, तूफान का प्रकोप व व्यापार में मन्दी होती है। अतः याता-यात कठिन और कम हो जाता है। अतएव सदा विचरण करने वाले यतियों को भी एक ही स्थान पर रहने का शास्त्रीय आदेश है। इस काल में वे विशेष साधन, भजन, सत्संग व धर्म प्रचार का कार्य एक स्थान पर रहकर भली-भाँति सम्पन्न कर सकते हैं जिससे प्रचुर लाभ होता है।



लेखक

अष्टौ मासान् विहारः स्यात्
यतीनां संयतात्मनाम् ।
एकत्र चतुरो मासान्मासी
वा निवसेत्पुनः ॥

चातुर्मास चार मास का होता है, किन्तु विकल्प से अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार चार पक्ष अथवा दो मास केवल श्रावण-भाद्र का ही मनाया जाता है फिर भी नवीन संन्यासी को प्रथम बार चातुर्मास —पूर्ण चार मास का और यदि इस बीच में कोई अधिक मास आ जाये तो पाँच मास करने की परम्परा है।

चातुर्मास्य काल में संन्यासी के लिए नियम है कि और नहीं कराये, नवीन वस्त्र नहीं पहने, और न वस्त्रों को रंगे। क्षेत्र की सीमा का उल्लंघन न करे, नदी पार न करे

तथा एक ही स्थान पर अनिवार्य रूप से वास करे। चातुर्मास में सीमा का किन-किन परिस्थितियों में उल्लंघन किया जा सकता है इसका शास्त्रीय प्रमाण है जो इस प्रकार है—

संकल्पानन्तरं देशान्तरे न गच्छेत् ।

यदि च विपत्तिः स्यात् तदा गच्छेद्देव ॥

चौरैरुपद्रुतं देशं, दुर्मिक्षव्याधिपीडितम् ।

चक्रेणान्यस्य चाक्रान्तं वर्षास्वप्याश्रयं त्यजेत् ।

मुहुर्तमपि नासीत् देशो, सोपाकृते यतिः ।

उपहृते तु मनसि, समाधिर्नोपजायते ॥

मेरा प्रथम चातुर्मास सन् १९८१ में हुआ। १० मई १९८१ (वैशाख शुक्ला गंगा सप्तमी) को भगवान् के अनुग्रह से अनन्तश्री विभूषित स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज द्वारा तथा गोवर्धन पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्री निरञ्जन देव तीर्थ की प्रेरणा, सहायता व प्रयास से काशी में संन्यास की दीक्षा विधिवत् ग्रहण की तथा पूर्वाश्रम के शिक्षा, सूत्र व सब सम्बन्ध तोड़ दिये और दण्डी संन्यासी की नवीन जीवन पद्धति से नये नाम, वेश व गोत्र शास्त्रीय विधान के अनुसार धारण किए।

पहले मैं दो मास के लिए हरिद्वार—स्वर्गाश्रम चला गया। आपाड़ में पुनः काशी आया। चातुर्मास की अवधि १७ जुलाई से ११ नवम्बर तक थी इसकी प्रतीक्षा में इतनी आतुरता से कर रहा था जैसे किसी नवदम्पती को “हनीमून” (मधु मिलन) की होती है। कारण, प्रथम चातुर्मास में चार मास पर्यन्त श्री गुरुदेव के सान्निध्य में ऐसी शिक्षा व अनुभूति प्राप्त हुई जिसकी पूर्व कल्पना कदापि नहीं की जा सकती थी। इस निमित्त मैंने काशी वास किया। सीमाव्यवश उस समय जगद्गुरु श्री गोवर्धन पीठाधीश्वर भी गुरुदेव के पास वाराणसी पवारे तथा स्वामी श्री कृष्णानन्द जी, स्वामी श्री निश्चलानन्द जी, स्वामी श्री चिन्मयानन्दजी चातुर्मास के निमित्त काशी आये। तत्पश्चात् स्वामी श्री राधावाश्रम जी, स्वामी श्री भास्करानन्द जी, स्वामी श्री द्वारकेशानन्दजी व अन्य सन्तों एवं ब्रह्मचारियों के समक्ष सत्संग का अनुपम कार्य प्रारम्भ हुआ। श्री जगद्गुरु जी ने माण्डूक्य टीका शंकरभाष्य व आनन्द गिरि टीका सहित, ब्रह्मसूत्रभाष्य, भामती व अन्य टीकाओं सहित तथा नव्यन्याय विधिवत् अध्ययन कराया और सायं महाभारत से शान्ति पर्व के प्रवचन किये।

स्वयं गुरुदेव ने अपने अनुभव की छोटी-बड़ी बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें बतायीं तथा जगद्गुरुजी के जाने के पश्चात् ईशावास्य एवं केन उपनिषदों का पाठ शंकरभाष्य सहित कराया। इनमें प्रत्येक का अध्ययन बहुमूल्य है। अतः इतने विस्तृत एवं गम्भीर अध्ययन का परम सीमाव्य वर्णनातीत है। इसके अतिरिक्त गंगास्नान, देव दर्शन तथा अनेक समा व सत्संगों में भाग लेने का सुअवसर प्राप्त कर मेरे मन की अति प्रसन्नता एवं शान्ति का अनुभव हुआ। परन्तु यह विस्मरण नहीं किया जा सकता कि सत्संग का परमानन्द आत्मोन्नयन (शिज्यायुक्) है किन्तु इसकी पूर्ण अनुभूति तब तक नहीं हो सकती जब तक शारीरिक भोजन व आवास की यथोचित व्यवस्था न हो “भूखे भजन न होइ गोपाला, यह लो अपनी कण्ठी माला”।

इस सन्दर्भ में सुन्दर एवं उपयुक्त व्यवस्था कराने का श्रेय श्री पुरुषोत्तमदास मोदी को है। उन्होंने प्रथम पत्र द्वारा स्वयं आमन्त्रित किया कि मैं मुमुक्षु भवन में चातुर्मास करूँ। भगवान् की कृपा से मेरी स्वीकृति प्राप्त होने पर उन्होंने यथासम्भव उत्तम व्यवस्था की।

मुमुक्षु भवन का कार्य देखकर मुझको प्रसन्नता हुई। यह स्थान अस्सी से लंका के मध्य मुख्य मार्ग पर गंगाजी की घाटी से आधा किलोमीटर तथा हिन्दू विश्वविद्यालय से एक किलोमीटर की दूरी पर श्वेत रंग के विशाल भवन के रूप में स्थित है। इसमें श्री राधाकृष्ण, श्री शंकर परिवार और अभय वरद हनुमानजी के दिव्य मन्दिर हैं। विशाल विद्यालय, छात्रावास तथा पुस्तकालय हैं। एक नवीन यज्ञशाला का निर्माण हो रहा है। छोटी-सी सुन्दर पुष्पाटिका है तथा अतिथियों के निवास के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के कमरे बने हैं। मुमुक्षु भवन की दूसरी ओर ईश्वरमठ के प्रबन्धक श्री १०८ पूज्य स्वामी श्री गणेश्वरानन्द जी तीर्थ विराजते हैं जहाँ १५-२० दण्डी स्वामियों के स्थायी रूप से रहने की व्यवस्था है। उनकी पवित्र भिक्षा स्वतन्त्र रूप से उन्हीं के प्रबन्ध में निर्माण की जाती है। श्रीशिवशंकर क्षेत्र में बाहर से आये हुए दण्डी स्वामी व अन्य साधु-महात्माओं को भिक्षा दी जाती है। तत्पश्चात् दरिद्र अथवा अंगहीन भिक्षुओं को भी प्रसाद वितरण होता है। आदि मठाधीश्वर दण्डी स्वामी श्री वनश्यामानन्द जी तीर्थ की (जो एक अच्छे महात्मा हो चुके हैं) समाधि पास में ही बनी है, जो तप व त्याग की प्रेरणा देती है।

ईश्वरमठ के वर्तमान प्रबन्धक श्री स्वामी गणेश्वरानन्द तीर्थ जी महाराज अपने सहयोगी दण्डी स्वामियों को शिक्षा प्रदान करने के अतिरिक्त सर्वसाधारण के हितार्थ नित्य शास्त्रीय विधि से सत्संग-प्रवचन करते हैं। स्कन्दपुराण, श्रीमद्भागवत महापुराण, रामायण, गीता इत्यादि मूल ग्रन्थों की कथा-श्लोक पाठ, अनुवाद व व्याख्या सरल भाषा में करते हैं। सत्संग की शास्त्रीय व प्राचीन शैली यही है कि आर्ष ग्रन्थ पुराण इत्यादि की कथा, धर्म की व्याख्या तथा भगवत्-भक्ति का उपदेश किया जाय। वेदान्त ज्ञान साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति को गुरु-शिष्य परम्परा से श्रवण एवं मनन करने का आदेश व परम्परा है। आधुनिक प्रचलित शैली पुराणों की कथा अथवा धर्म का उपदेश न करके शुष्क वेदान्त के लेखक बिना अधिकार के सुनाना कि “धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, नरक-स्वर्ग सब मिथ्या है केवल ब्रह्म ही सत्य है और वह निर्विकार असंग तुम स्वयं हो”। अधिकारी के अभाव में इस प्रकार की नवीन व्याख्यान शैली से सत्संग का अच्छा प्रभाव आचरण में उतरता स्पष्टतया देखने में नहीं आता, अतः स्वामीजी की सत्संग शैली उल्लेखनीय व सराहनीय है। इसके अतिरिक्त मठ में श्री स्वामी प्रणवानन्द जी योगाम्नास कराते हैं।

हमारे आवास काल में मुमुक्षु भवन में कुछ विशेष सत्संग व उत्सवों का सफल आयोजन हुआ। स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज की जन्म-जयन्ती पर विशेष भंडारा हुआ। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के पुनीत अवसर पर जगद्गुरु श्री शंकराचार्य का स्वागत तथा उनका सारगर्भित भाषण हुआ। स्वामी श्री निश्चलानन्द सरस्वती, स्वामी श्री कपिला-नन्द तीर्थ के भाषण हुए। मैंने भी उस अवसर पर कुछ शब्द कहे। दैवी सम्पद मण्डल परमार्थ आश्रम वालों की

एक तीर्थयात्रा स्पेशल ट्रेन वाराणसी आयी। उसके मुख्य महात्माओं के स्वागत व भाषण हुए। कुछ अन्य विद्वान् एवं सन्तों के भी प्रवचन, कथा व कीर्तन होते रहे। सनातन धर्म के विशेष त्यौहार, श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, शरदपूर्णिमा, दीपावली, गोवर्धन पूजन आदि मनाये गये। यह सब देखकर हादिक प्रसन्नता हुई।

संस्था का प्रबन्ध एक रजिस्टर्ड सोसायटी के हाथ में है जिसके अध्यक्ष श्री लक्ष्मीनिवास जी बिरला, उपाध्यक्ष भूतपूर्व न्यायमूर्ति श्री चतुर्भुजदास पारिख और मन्त्री श्री मोदी जी हैं। संस्था का हिसाब-किताब ऑडिट होता है। संस्था का कार्य संचालन अच्छे वैतनिक मैनेजर तथा अन्य कर्मचारियों की सहायता से किया जाता है। संस्था की उन्नति व सुचारु प्रबन्ध के लिए संस्था के सदस्य प्रयत्नशील रहते हैं। आशा है कि इसके उद्देश्य की पूर्ति के लिए पदाधिकारी व कर्मचारी अधिक उत्साह व क्षमता से संलग्न होंगे।

अन्त में मेरे प्रस्थान के समय एक भावभीनी बिदाई का समारोह आयोजित किया गया जिसमें प्रेम व आदर के भाव महात्मागण एवं प्रबन्धकों ने व्यक्त किये जो स्मृतिपटल पर स्थायी रहेंगे।

हम श्री भगवान् से प्रार्थना एवं शुभकामना करते हैं कि मुमुक्षु भवन संस्था निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर हो, तथा सन्त-महात्मा एवं अतिथियों की सेवा एवं अन्य सुन्दर उद्देश्यों को अधिकाधिक कार्यान्वित करने में सफलता प्राप्त करे।

इस प्रकार मेरे संन्यासी जीवन का प्रथम चातुर्मास भूतभावन भगवान् शिव की नगरी में आनन्द और मधुर स्मृतियों से सजीव होता हुआ सम्पन्न हुआ।

विश्वास

एक बार त्जेकुंग ने महात्मा कम्प्यूशियस से पूछा—“सुचारु राज्य-संचालन के लिए किन-किन वस्तुओं की आवश्यकता है?”

कम्प्यूशियस ने उत्तर दिया—“पर्याप्त अन्न, पर्याप्त फौज और राजा के प्रति प्रजा में विश्वास।”

त्जेकुंग ने पूछा—“यदि ये तीनों वस्तुएँ एक साथ प्राप्त न हो सकें, तो इनमें से पहले किस वस्तु को छोड़ा जा सकता है?”

कम्प्यूशियस ने कहा—“फौज।”

त्जेकुंग ने फिर पूछा—“और भगवन्! यदि बाकी दो वस्तुओं में से भी यदि एक का परित्याग करना पड़े, तो किसे छोड़ा जा सकता है?”

कम्प्यूशियस ने कहा—“अन्न! अनन्त काल से मनुष्य मृत्यु के मुख में तो आता ही गया है; लेकिन जिस राजा में प्रजा का विश्वास न हो, उसका राज्य कभी टिक नहीं सकता।”

—‘लोकजीवन’ से

तप

— श्री प्र० ग० सहस्रबुद्धे

‘तपो मे हृदयं साक्षादात्मा हि तप सो हि वै—

अर्थात्, “यह तप मेरा प्रत्यक्ष हृदय है और मैं भी तप का हृदय हूँ। तप और मैं, हम एक रूप हैं।” यह किसका वचन है ? यह साक्षात् परमात्मा ने अपने विषय में कहा है। आगे कहा है—

सृजामि तपसैर्वेदं ग्रसामि तपसा पुनः ।

विभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः ॥

अर्थात्, “मैं यह सारा विश्व तप से उत्पन्न करता हूँ। पुनः तप के द्वारा ही उसे आत्मस्वरूप में लीन कर लेता हूँ। अखिल विश्व का पोषण भी मैं तपोबल से करता हूँ। मेरा समग्र असाधारण सामर्थ्य तप में ही संचित है।”

श्रीमद्भागवत द्वितीय स्कन्ध के नवें अध्याय में परमात्मा ने अपनी सर्वशक्तिसम्पन्नता का रहस्य उपर्युक्त शब्दों में वर्णन किया है।

आदिदेव, समस्त विश्वों का श्रेष्ठ गुरु ब्रह्मादेव अपने कमलासन पर चिन्तामग्न बैठे थे। क्या करें, क्या न करें, कुछ सूझता न था। विशेष कुछ करने की सामर्थ्य भी उनमें नहीं थी। ऐसी भ्रान्त अवस्था में थे कि जल में से ‘तप-तप’ ऐसी ध्वनि सुनाई दी। वे और असमंजस में पड़ गये। यह ध्वनि कहाँ से आयी ? किसने निकाली ? इसका अर्थ क्या ?—उनकी समझ में कुछ न आया। चारों ओर देखा पर कोई दिखाई नहीं दिया। अन्त में आँखें बन्द कर उन्होंने स्वयं चिन्तन किया। तब ध्यान में आया कि यह ईश्वरीय आदेश मिला। ईश्वर ने तप करने का आदेश दिया है। तुरन्त उन्होंने तपश्चर्या प्रारम्भ की और सर्वश्रेष्ठ तपस्वी बने। उन्होंने वायु एवं मन का निरोध किया। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को स्वाधीन कर अत्यन्त सावधान हो देवों के सहस्र वर्ष तक तपस्या की। उस तप से समग्र लोक प्रकाशित हुए। उस तप से भगवान् श्रीहरि ब्रह्मा जी पर प्रसन्न हुए, उन्होंने ब्रह्मा जी को अपना निजलोक दिखाया। भगवान् के उस लोक में क्लेश, मोह, भीति को कहीं ठौर

नहीं था। आत्मज्ञान सम्पन्न देवता भी उनकी स्तुति कर रहे थे। उनसे अधिक श्रेष्ठ कुछ भी नहीं था। इस भाँति भगवान् ब्रह्मा जी से प्रसन्न हुए। उन्होंने ब्रह्मा जी का हस्तस्पर्श किया और मन्दहास्ययुक्त मधुर वाणी से वे ब्रह्मा जी से बोलने लगे, ‘अरे, ‘तप-तप’ शब्द जो तुमने सुने थे, मैंने स्वगत कहे थे। तप के कारण तू मुझे अत्यधिक प्रिय हुआ है। तप ही मेरा प्रत्यक्ष हृदय है और मैं तप का हृदय हूँ। मेरा ‘कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्’ सामर्थ्य, मेरा समग्र ऐश्वर्य, तप ही मैं हूँ।”

ऐसी तप की महिमा है। इसीलिए हमारे यहाँ श्रेष्ठ महर्षियों, राजराजेश्वरों और साधु-सन्तों ने दीर्घ तपस्याएँ कीं अथवा तपश्चर्या के कारण ही वे श्रेष्ठ बन गये।

(२)

तप का अर्थ है तपाना। प्रखर तपाने के बाद ही सोने को जैसा चाहो आकार दिया जा सकता है। वैसे ही अपने जीवन को विशेष आकार देने का सामर्थ्य तप से प्राप्त होता है। तप अर्थात् शरीर को कष्ट या त्रास देना। श्रीमद्भगवद्गीता में अन्यान्य बातों के अनुसार तप के भी सात्त्विक, राजस और तामस, ऐसे तीन प्रकार बताये गये हैं।

देहविषयक सुख की तनिक भी चिन्ता न कर ईश्वर की साधना में जो मनुष्य रम जाता है, उसका तप सात्त्विक है। सर्व प्राणियों में स्थित ईश्वरत्व का साक्षात्कार कर जन सेवार्थ जिसने अपने को आजीवन समर्पित किया, उसका समग्र जीवन ही सात्त्विक तप है। भक्तियोग, ज्ञानयोग अथवा कर्मयोग का अनुसरण करने से ‘ब्रह्मानन्द में लगी है घुन, देह को संभाले कौन’ ऐसी जिसकी स्थिति हो गयी, उसका जीवन सात्त्विक तप है। “रे मन, चन्दन सम विसृता जा, सज्जन-मन को शीतल करता जा”—समर्थ रामदास का यह आदेश प्रतिदिन प्रतिक्षण जो कृति में लाता है, चन्दन के समान अपने शरीर को घिस कर या जला कर जो समस्त संसार को सुगन्धित करता है, उसका जीवन ही सात्त्विक-तप है। ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति के लिए ऐहिक जीवन को तुच्छ मान कर नचिकेता के समान जो प्रत्यक्ष यमराज के द्वार पर खड़ा हो, उसका जीवन सात्त्विक-तप है। यम ने नचिकेता को कितने प्रलोभन दिये, “अरे, मैं तुझे सुखोपभोग की प्रभूत सामग्री देता हूँ। शत वर्ष की आयु वाले पुत्र-पौत्रों का परिवार माँग लो। हजारों गायें अथवा अन्य उपयोगी पशु, हाथी, घोड़े, महान् साम्राज्य लो और उनके उपभोग

के लिए जितनी चाहो दीर्घायु मांग लो। अरे नचिकेता ! सम्पूर्ण मृत्युलोक में जो कभी प्राप्त न हो सके, ऐसे अनेक स्वर्गीय उपभोग्य पदार्थ जितने चाहो उतने देने को मैं तैयार हूँ। उन्हें तुम मांग लो।” परन्तु नचिकेता इन मोहों से विचलित नहीं हुआ। उसने स्पष्ट शब्दों में यम से कहा, “मुझे आत्मज्ञान चाहिए और कुछ नहीं चाहिए।” इस प्रकार की चिरनिर्मोही, दृढ़ प्रतिज्ञा एवं दीर्घोद्योगी वृत्ति जहाँ दिखाई दे, वहाँ सात्त्विक-तप है।

राज्य, धन, शास्त्रास्त्र, कीर्ति, लोकप्रियता, प्रतिष्ठा, अधिकार, चौदह विद्या और चौंसठ कलाओं में प्रवीणता आदि प्राप्त करने के लिए जो दीर्घोद्योग किया जाता है, उसे राजस तप कहते हैं। जागतिक कीर्ति के अनेक शास्त्र-वेत्ता, वर्षानुवर्ष अपनी प्रयोगशाला में स्वयं को बन्द कर क्षुधातृषा भूल कर, सब ऐहिक सुखों को तिलांजलि देकर, सृष्टि की अज्ञात शक्तियों का उद्घाटन कर, कीर्ति एवं प्रतिष्ठा सम्पादित करते हैं, यह राजस तप है। नन्हें से इंग्लैण्ड के मुट्टी-भर लोगों ने ‘जिसमें कभी सूर्यास्त नहीं होता’ ऐसा विशाल साम्राज्य निर्माण किया, वह कोई अकस्मात् नहीं हुआ। अंग्रेजों के सुकुमार छोकरे प्रलयकारी लहरों पर चढ़ कर मृत्यु से न डरते हुए देश-देशान्तर गये। उन देशों की भाषाएँ सीख कर, रीति-प्रथाएँ समझ कर, गुण-दोष भाँप कर, शनैः-शनैः उनकी नाडियाँ उन्होंने अपने हाथों में लीं और वहाँ आधिपत्य निर्माण किया। यह सब राजस तप का परिणाम है।

स्वधर्म प्रचार के लिए अनेक ईसाई उपदेशक देश-देशान्तर जाते हैं, गहन अरण्य में रहते हैं, अपने देश के आत-इष्ट, मित्र-सखा, अन्न, जल, वायु सबका मोह छोड़, स्वेच्छा से एवं दृढ़ता से पूर्णतया भिक्ष एवं विचित्र वातावरण में वर्षानुवर्ष रहते हैं। वन्य, अज्ञ, नृशंस मानवों की बहुविध सेवा करते हैं। प्रदेश के बाद प्रदेश, जाति के बाद जाति उनके अधीन हो जाती है। उनके यश को देख आलसी, तामसी लोग बूढ़ी औरतों के समान उँगलियाँ तोड़ कर उन्हें कोसते हैं। अध्यवसाय एवं निश्चय से किया गया यह मत-प्रचार, राजस तप का परिणाम है।

कोई व्यक्ति सफल हुआ, उसने घर-बार, खेतीबारी, बाग-बगीचे एवं अन्य अद्यावत् ऐश्वर्य सम्पादन किया तो इतर लोग सोचते हैं, इसने यह सब कैसे प्राप्त किया। अरबी भाषा की सरस कथाओं में वर्णित सिन्दबाद की

यात्राओं की कथा का प्रारम्भ भी इसी प्रकार हुआ है। हिन्दाबाद नामक एक भिखारी भीख माँगते हुए एक विशाल भवन के पास आता है। वहाँ उसे पता चलता है कि इस भवन के स्वामी का नाम सिन्दबाद है। सुनते ही उसके मुख से उद्गार निकलते हैं, “मेरे और इस धनिक के नाम में केवल एक अक्षर का अन्तर है, परन्तु हम दोनों की परिस्थिति में कितना महदन्तर है। मैं हिन्दाबाद भिखारी और यह सिन्दबाद कुबेरों का कुबेर। हे भगवन्, क्या है तुम्हारी माया।” उसके ये उद्गार ऊपर छज्जे में खड़े सिन्दबाद ने सुने। उसने हिन्दाबाद को घर में बुला कर उत्कृष्ट व्यंजनों का भोजन कराया और फिर उसे कहा, “अरे, मुझे यह ऐश्वर्य अनन्त कष्ट झेलने के बाद ही प्राप्त हुआ है—” इस प्रकार आरम्भ कर सिन्दबाद ने अपने सात बार के जल पर्यटनों का समग्र रोमांचकारी इतिहास उसे सुनाया और अन्त में कहा, “इस संसार में उद्योगी मनुष्य को ही ऐश्वर्य प्राप्त होता है।”

गायन-वादन में प्रवीणता प्राप्त करनेवाले कलाकार, एक ही गत और एक ही आलाप को घण्टों तक दिन-प्रति-दिन घोटते रहते हैं। टूटा-फूटा छोटा-सा घर है, शरीर पर फटे कपड़े हैं, दिनों आधा पेट रहना पड़ता है, फिर भी प्रातः तीन बजे उठ कर नौ बजे तक आसन लगा कर सारंगी पर उन्हीं स्वरों का जब वर्षों अभ्यास किया जाता है, तब कहीं संगीत की साधना सफल होती है। ये सब राजस-तप के प्रकार हैं।

दूसरे का नाश करने के लिए ईर्ष्या, मत्सर वा द्वेष से किया हुआ सतत उद्योग तामस-तप है। दस इन्द्रियों में से किसी के दास बन कर, उसके चोचले पूरे करने के लिए, हीन लालसाओं पूर्ति के लिए किया गया दीर्घोद्योग तामस-तप है। चोर, डाकू, लुटेरे लोगों को कुकर्म करते समय अत्यधिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। घण्टों चौकसी रखना, उचित अवसर को प्रतीक्षा करना, दुर्लभ स्थान पर चढ़ना-उतरना, गोपनीयता रखना, प्राणपण से जूझना आदि सब उन्हें करना पड़ता है। पुराणों में हिरण्यकश्यपु, सुन्दोपसुन्द, देवान्तक और नरान्तक, वृकासुर, रावण आदि के द्वारा की गयी दीर्घ तपश्चर्याओं का वर्णन आता है। इन सब में अध्यवसाय, दीर्घोद्योग, ध्येयनिष्ठा, दृढ़प्रतिज्ञता आदि गुण थे। परन्तु उनके पीछे निहित हेतु अथवा प्रेरणा बुरी थी। इन सबके दीर्घोद्योग तामस-तप कहलाते हैं।

बारह वर्ष के काल को 'तप' कहते हैं। किसी एक श्रेष्ठ कार्य के परिशीलन में लगातार बारह वर्ष व्यतीत करने से तपस्या होती है। तपश्चर्या करने के लिए वन में जाकर बैठना आवश्यक नहीं। तपस्या घर, विद्यालय, महाविद्यालय, प्रयोगशाला में अथवा तत्सम अन्य स्थानों पर भी हो सकती है। परन्तु एकान्तवास तपस्या के लिए अधिक अनुकूल रहता है। इसीलिए प्राचीन काल में ऋषि-मुनि अरण्य में जाकर रहते थे। सुख, विलास और मन को विचलित करने वाले अन्य साधनों से परिपूर्ण व्यावहारिक संसार से सम्बन्ध-विच्छेद कर, वर्षानुवर्ष अभ्यास कर वह किसी-न-किसी एकाग्र विषय में पारंगत होते थे।

चार्ल्स डार्विन 'बीगल' नामक जहाज पर एक बार जो चढ़ा वह सात वर्षों के बाद वापस आया। वहाँ उसने कुली के समान परिश्रम किया। रातदिन उसका सृष्टि-निरीक्षण कार्य चलता था। आयुष्मक न्यूटन के विषय में कहा जाता है कि एक बार वह अपनी प्रयोगशाला में गया कि क्षुधा-तृषा सब भूल जाता था। गैलीलियो और युक्लिड को, अपनी ही धुन में मग्न रहने की घटनाएँ बतायी जाती हैं। इस प्रकार किसी श्रेष्ठ कार्य विशेष में जो वर्षों मग्न रहते हैं, वे सब एक प्रकार के तपस्वी ही हैं। जिस समाज में ऐसे तपस्वियों की संख्या बढ़ती है और तपस्या के विषय में प्रेम और आदर उत्पन्न होता है, उस समाज की उन्नति होती है। रामदास स्वामी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि, जो पहले कष्ट सहन करते हैं उन्हीं को आगे सुख प्राप्त होता है। पहले जो मौज में दिन बिताते हैं उन्हें बाद में दुःख-प्राप्ति होती है। ईसप की कथाओं में 'चींटियाँ और टिड्डो' नामक एक छोटी-सी कथा है। उसका भी तात्पर्य यही है। ठण्ड के दिन थे। भूख से अवमारी हुई एक टिड्डो चींटियों से बोली, 'मुझे कुछ खाने को दो'। चींटियों ने उससे पूछा, 'हम ग्रीष्म ऋतु में परिश्रम कर भरपूर धान्य-संग्रह कर रखती हैं। तुम क्यों नहीं रखती? ग्रीष्म ऋतु में तुमने क्या किया?' टिड्डो ने कहा, 'सारी ग्रीष्म ऋतु मैंने गाते, मौज करते बितायी।' तब चींटियों ने कहा, 'फिर अब तुम जैसे को भूख से तड़प कर ही मरना चाहिए।' सामान्य देह-पोषण के लिए चींटी और मधु-मक्खी सतत कष्ट करती हैं। उनसे मनुष्य को उचित बोध प्राप्य है। उदर-भरण के लिए निर्बुद्ध प्राणी भी यदि इतने

कष्ट सहन करते हैं, तो सुबुद्ध मानव को मन, बुद्धि, आत्मा की पुष्टि के लिए कितने अधिक कष्ट सहने को तैयार रहना चाहिए।

वृथा देह-पीड़न का अर्थ तपस्या नहीं। आत्मसुख के लिए देहसुख को भूलना यह सच्ची तपस्या है। भारत में आज तपस्या की वृत्ति दिखाई नहीं पड़ती। सैकड़ों-हजारों लोग कोई-न-कोई श्रेष्ठ ध्येय समझ रख, उसके पीछे पागल हुए, खाना-पीना भूलकर वर्षों देह को कष्ट दे रहे हैं, ऐसा दृश्य दिखाई नहीं देता। चारों ओर छिछलापन और खाऊ-पना, तत्काल लाभ पाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। ज्ञान का महत्त्व समाप्त होकर ज्ञान के दिखावे को महत्त्व प्राप्त हुआ है। उपाधि के कुछ अक्षर और प्रमाण-पत्र प्राप्त कर हमने कोई बड़ा कार्य किया है, ऐसा लोग सोचते हैं। मुफ्त में या सस्ते में सब सुख और ऐश्वर्य मिलें, ऐसा इन लोगों को लगता है। आज जो ऐश्वर्यशाली देश हम देखते हैं, वे सब किसी-न-किसी तपस्या के बल पर वैभव सम्पन्न बने हैं। तपस्या का पुण्य गाँठ में रहता है, तभी तक वे सुख के स्वर्ग में रहते हैं। पुण्य क्षीण होने पर अधःपतित होते-होते रसातल में पहुँच जाते हैं। भारत की यही दशा हुई है। किसी समय वैभव शिखर पर आरुढ़ यह देश आज दुःख-दैन्य की गहरी खाई में पड़ा कराह रहा है। परन्तु अभी भी तप का महत्त्व उसने समझा हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। समाज के किसी भी वय, व्यवसाय या स्तर के सुशिक्षित या अशिक्षित लोगों का निरीक्षण करने से दिखाई देगा कि तप कोई नहीं चाहता। सर्वत्र वेतन-वृद्धि के लिए दौड़-धूप चलती है, पर अपनी कार्य-कुशलता, ज्ञान और आन्तरिक योग्यता बढ़े, इसकी किसी को चिन्ता नहीं। "कुतो विद्याथिनः सुखम्" अर्थात् विद्यार्थी के लिए सुख कहाँ? हमारे यहाँ की सनातन कल्पना यह है कि विद्यार्थी को सब सुखों से दूर रहकर कठोर जीवन व्यतीत करते हुए विद्यार्जन करना होता है। अपने देश के वर्तमान विद्यार्थी-जीवन में तप का अंश भी क्या हमें देखने को मिलता है? उनका खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना, उनके व्यसन, उनके मनोरंजन, यह सब देखने पर उन्हें विद्यार्थी का अभिधान देने को मन नहीं चाहता। आज का विद्यार्थी-जीवन एक मस्तमौजी जीवन बन गया है। विविध विषयों पर विपुल एवं अद्यावत् ग्रन्थ सम्भार जहाँ हो ऐसे ग्रन्थालय

हमें क्या स्थान-स्थान पर दिखाई देते हैं ? वाचनालय में बारह-बारह घण्टे बैठ कर किसी विषय का गहन अध्ययन करने वाले व्यासंगी विद्वान् क्या कहीं दिखाई देते हैं ? प्रयोगशाला में, कला केन्द्र में, साहित्य में, कहीं भी क्यों न हो पर मन लगता है, उस धुन में खाना-पीना भूल कर, नौद छोड़ कर, प्राणपण से किसी-न-किसी सत्कार्य में सैकड़ों लोग जुटे हैं, घर-बार, सखा-सम्बन्धी को भूल गये हैं—ऐसा दृश्य क्या हमें कहीं दिखता है ? नहीं। जहाँ 'तप' नहीं, वहाँ इसका व्युत्क्रम 'पत' माने पतन आरम्भ हो तो क्या आश्चर्य ? विद्यार्थी भी जब तप से दूर भागते हैं, तब ह्दय जनों की बात हो क्या ? इसीलिए आज सर्वत्र दरिद्रता आ गयी है। रामदास स्वामी कहते हैं—दुर्बल, अनाचारी, आलसी, लाऊ, ऋणग्रस्त एवं मूर्खता से सब कुछ खो दिया है। अतः खाने को नहीं, पहनने को नहीं, बिछाने-ओढ़ने को नहीं, अमागा, सम्बन्धी नहीं, मित्र नहीं, परिचय नहीं, आश्रय नहीं—ऐसी हमारी स्थिति हो गयी है। यदि इसे बदलना हो तो सर्वत्र तपस्या का वातावरण निर्माण करना होगा। समर्थ कहते हैं, “छोटा-बड़ा कोई काम किये बिना नहीं होता। जहाँ सावधानी और प्रयत्न न हों, वहाँ सुख-सन्तोष कैसे प्राप्त हो ? इसलिए आलस छोड़, यत्न करना चाहिए, बलपूर्वक मन को खिन्नता दूर करनी चाहिए।”

(५)

तपस्या करने के लिए मनुष्य के सामने महान् ध्येय होना चाहिए। ध्येय की विशालता की कल्पना चित्त में स्थिर होनी चाहिए। यह काम गुरुजनों द्वारा अच्छा होता है। तप साधना के लिए मन का निश्चय होना चाहिए।

उसके लिए प्रथम मन एवं शरीर का बल चाहिए। देह को कष्ट देने में भी एक प्रकार का आनन्द होता है। उसमें मन रमना चाहिए। एक बार एक घन्टी सुखी सज्जन अपने किसान बाल मित्र के यहाँ गये। वहाँ के निवास-काल में वह नित्य खेत पर जाकर काम करने लगे। आठवें दिन उसने कहा, “अहो, आज तक का पूरा जीवन मैंने व्यर्थ गँवाया। गद्दी पर लोटने और चकाचक खाने में ही मैं जीवन का सब सुख समझता था, पर आज मैंने जाना कि काम करने और पसीना बहाने में उससे कितने गुना अधिक सुख है।” इस श्रेष्ठ सुख की मिठास यदि समाज ने चखी तो चारों ओर तपस्या का वातावरण निर्माण होकर सम्पूर्ण राष्ट्र उन्नति-सोपान की सीढ़ियाँ चढ़ने लगेगा।

तपश्चर्या से ध्रुव को अटल पद प्राप्त हुआ, विश्वामित्र को प्रतिसृष्टि निर्माण करने का सामर्थ्य प्राप्त हुआ, अगस्त्य ऋषि को विन्ध्याद्रि को सुलाने और समुद्र को प्राशन करने का सामर्थ्य प्राप्त हुआ। तप से प्रत्यक्ष परमात्मा की प्राप्ति होती है, तो अन्य ऐहिक वा पारलौकिक बातों का क्या कहना ? योगवासिष्ठ में वचन है कि, “तपसैवं महोग्रेण यददुरापं तदाप्यते”—अर्थात् कठिनाई से प्राप्य कोई भी वस्तु दीर्घ एवं उग्र तप से प्राप्त होती है।

आज हमें छोटी-बड़ी कई चीजें प्राप्त करनी हैं। उनकी प्राप्ति केवल इच्छा-मात्र से, दूसरे का मुखापेक्षी बन, भीख माँग कर, अथवा ‘चाहिए, चाहिए’ का समाधोष कर नहीं होगी। उनके लिए तपस्या करनी होगी। जो तपस्या करता है, उसी का सम्यक् उत्कर्ष होता है और उसी को निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है।

मंगल-कामना

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेयस्मै ।

रायस्पोषं सवितरासुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥

हे ज्ञान के अधिष्ठातृ-देवता, मनुष्य को आयु दो कि, वह सम्यक् ज्ञानार्जन करे। हे सृष्टि के अधिष्ठाता, तुम इसको तेजस्वी सन्तान दो, जो इसके ज्ञान का अभिवर्द्धन करे। हे सविता, तुम इसे तेज और पुष्टि दो कि, यह तुम्हारा होकर सौ वर्षों तक जिये। —अथर्व० २-२९-४



धन के दास न बनिये

— श्री आनन्दकुमार

देवों और दानवों का भयंकर युद्ध चल रहा था। दानव अधिक शक्तिशाली और सुसंगठित थे। उन्होंने देवताओं को परास्त कर दिया। देवतागण व्याकुल होकर अपने नीति-निपुण गुरु बृहस्पति के पास आत्मोद्धार का उपाय पूछने पहुँचे। बृहस्पति ने बहुत सोच-विचार कर कहा—“दानवों को पराजित करना बड़ा कठिन है, क्योंकि वे लोग बड़े संयमी और संगठित हैं।—आप सब लोग इस विषय में दत्तात्रेय जी से सहायता माँगिये।”

देवता लोग वहाँ से भाग कर भगवान् दत्तात्रेय की शरण में आये। दत्तात्रेय परम ज्ञानी और दीर्घदर्शी थे। देवताओं का आर्तनाद सुनकर उन्होंने कहा—“एक बार की असफलता से हताश नहीं होना चाहिए, बारम्बार प्रयत्न करने से असम्भव भी सम्भव हो जाता है—तुम लोग विजय के लिए फिर उद्योग करो।”

दत्तात्रेय की आज्ञा से देवों ने दानवों के साथ पुनः युद्ध की घोषणा कर दी। इस बार दानवों ने क्रुद्ध होकर देवों पर भीषण आक्रमण किया। देवतागण अस्त्रशस्त्र फेंक कर भाग खड़े हुए, पर क्रुद्ध दानवों ने उनका पीछा नहीं छोड़ा।”

भागते-भागते देव-मण्डली दत्तात्रेय के आश्रम में पहुँची। वहाँ देखा, तो दत्तात्रेय जी बगल में लक्ष्मी जी को लिए एक आसन पर चुपचाप आँख मूँदे बैठे हैं। वे अभी कुछ कह भी न पाये थे कि, दैत्य-दल आँधी-तूफान की तरह वहाँ आ पहुँचा। देवताओं का आत्मबल क्षीण हो चुका था। वे ‘त्राहि-त्राहि’ चिल्लाते हुए दत्तात्रेय की स्तुति करने लगे। इधर विजयी असुरों ने वहाँ पहुँच कर सामने जब लक्ष्मी को देखा, तो उनकी बुद्धि मोहित हो गयी। संसार की माया ने उन्हें ऐसा भुग्न बना दिया कि, वे सब-कुछ—यहाँ तक कि, अपना उद्देश्य भी—भूल गये। सामने खड़े

देवों को भी मानो उनमें से किसी ने नहीं देखा।

दत्तात्रेय चुपचाप आँख मूँदे बैठे थे। दानवों के लिए अच्छा अवसर था। उन्होंने लक्ष्मी को उठा कर एक डोली में रखा और इसके बाद उसे अपने कन्धों पर लाद कर सब-के-सब उछलते-कूदते वहाँ से चले गये। उनके जाने के बाद दत्तात्रेय ने अपने नेत्र खोले और पास में खड़े देवताओं से हँस कर कहा—“अब तुम लोगों को विजय निश्चित है, क्योंकि लक्ष्मी उन लोगों के सिर पर सवार हो गयी हैं। अब उनका सम्पूर्ण बुद्धि-विवेक-बल नष्ट हो जायगा और वे लोग शौर्य-पराक्रम त्याग कर भोग-विलास में लिस हो जाएँगे। अब उनमें एकता भी नहीं रहेगी, क्योंकि सबके सिर पर लक्ष्मी चढ़ी हैं—सब स्वार्थान्ध होकर उस सम्पत्ति को अपनाता चाहेंगे। अर्थ से स्वार्थ उत्पन्न होता है और स्वार्थ से अनर्थ। लक्ष्मी किसी को नहीं हैं, वे तो इन मूर्खों को विपत्ति में डाल कर कहीं और चली जाएँगी। फिर उस समय तुम लोग इन ‘पराक्रमी’ दानवों को आसानी से जीत लोगे।”

दत्तात्रेय का वचन सत्य निकला। दैत्यगण धर्म-कर्म छोड़कर दिन-रात लक्ष्मी का उपभोग करने लगे। प्रत्येक दानव चाहता था कि, लक्ष्मी पर उसी का—सिर्फ उसीका—अधिकार रहे। इसलिए, सब एक-दूसरे से ईर्ष्या करवे तथा आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। उनका संघ टूट गया, बल-उत्साह जाता रहा।

देवताओं ने अनुकूल अवसर देख लक्ष्मी के मद से चुर दैत्यों पर आक्रमण करके उनको पूर्ण रूप से परास्त कर दिया। राज्य-लक्ष्मी दैत्यों को छोड़ कर चली गयीं। जिस सिर पर लक्ष्मी को चढ़ा कर उन्होंने यह अनर्थ मोल लिया था, अब उसी को पीट-पीट कर अपनी भूल पर पछताने लगे।

पुस्तक-समीक्षा

१. गोरखनाथ और उनकी परम्परा का साहित्य— भारत का कोई भी प्रान्त ऐसा नहीं है, जिसके प्राचीन आध्यात्मिक एवं भक्ति-साहित्य पर महायोगेश्वर श्री गोरखनाथ का प्रभाव न पड़ा हो। सभी का यही कहना है कि वे हमारे ही यहाँ रहते थे। भारत से बाहर नेपाल-निवासियों का भी यही कहना है। कबीर-पन्थियों से तो यह मान्यता है कि गोरखनाथ से कबीर का संवाद भी प्रसन्नोत्तर रूप में हुआ था। प्रस्तुत शोधग्रन्थ में योगेश्वर पर पुष्ट प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें आरम्भ में उनका जीवन-वृत्त, उनकी साधना-पद्धति और साधना-स्थलियों का परिचय देकर उनकी हिन्दी तथा संस्कृत की रचनाओं का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् सिद्धों और उनके साहित्य का उल्लेख करते हुए उसके विकास पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में हिन्दी की निर्गुण और सगुण भक्ति-धारा पर गोरखनाथ जी का प्रभाव दिखाते हुए भारत की भावात्मक एकता के उनके प्रयास और तदर्थ उनके योगदान का विशद उल्लेख हुआ है। विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि इस शोधग्रन्थ से गोरखनाथ, उनके पन्थ, तद्विषयक साहित्य और उसके भारतव्यापी प्रभाव से पाठकों को व्यापक जानकारी मिलेगी और इससे अनेक बहमूल भ्रान्तियों का निराकरण भी हो सकेगा।

२. अमृत - कुम्भ — (विचार-प्रधान पारिवारिक त्रैमासिक) अमृत-कुम्भ का आलोच्य अंक २, वर्ष २,



वैशाख-आषाढ़, सं० २०३९ वि० तदनुसार अप्रैल-जून १९८२ है।

धार्मिक तथा सामाजिक उत्कर्ष की भावना से ओतप्रोत अमृत-कुम्भ भारतीयों के लिए पठनीय महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत अंक में स्वामी करपात्री जी के लिए श्रद्धांजलि, उनका आदर्श जीवन परिचय, रामायण में सुन्दर काण्ड, शब्दों के भूले-विसरे अर्थ, हिन्दू एकता का महातीर्थ : धर्मस्थल आदि सूचनात्मक तथा ज्ञानवर्धक लेख हैं। हिन्दू समाज को चेतावनी देने वाले समाचार संकलन तथा सम्पादकीय इस पत्रिका की अतिरिक्त विशेषता है। सामाजिक और धार्मिक विषयों में रुचि रखनेवालों के लिए यह पत्रिका अत्यन्त उपयोगी है।

३. मन्त्र प्रतिलोम-दुर्गा सप्तशती—पराम्बा जग-ज्जननी आद्याशक्ति भगवती दुर्गा की उपासना सनातन जगत् में शाश्वत चली आ रही है। ऐसे भी साधक देखे गये हैं, जो शिर के बल खड़े होकर शीर्षासन में श्री दुर्गा सप्तशती का सम्पुट पाठ करते हैं। लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में अध्याय-क्रम न देकर विलोम-अनुलोम-क्रम से उवाच आदि के साथ दुर्गासप्तशती के सात सौ मन्त्रों के पाठ का उल्लेख किया है। यही मन्त्र प्रतिलोम-दुर्गा सप्तशती का क्रम है और यह भी तान्त्रिक साधना की एक सिद्ध पद्धति है। इस अप्राप्य ग्रन्थ का सम्पादन और प्रकाशन कर लेखक ने साधना-जगत् को विस्मृतप्राय पद्धति की उजागर कर एक महान् कार्य किया है।

१. लेखक : डॉ० श्री दिवाकर पाण्डेय, प्रकाशक : शोध संस्थान, गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, वितरक : विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी। मूल्य : २१-००
२. प्रकाशक—श्री गोविन्द देवड़ा, ई. १३१६, कृष्णनगर, दिल्ली ५१, सम्पादक—श्री घनश्याम देवड़ा, पुष्ट संख्या डिमाई ५२, वार्षिक मूल्य १५ रुपये, एक प्रति ४ रुपये।
३. सम्पादक—आचार्य पं. श्री शिवदत्त मिश्र, प्रकाशक—शिव-साहित्य संस्थान, सी० के ५/२६ ए०, भिखारीदास लेन, वाराणसी-१, पुष्ट-संख्या क्राउन १९२, मूल्य पन्द्रह रुपये।

मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

श्री द्वारकापीठ के जगद्गुरु श्री शंकराचार्य ब्रह्मलीन

श्री द्वारका शारदापीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य श्री अभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ महाराज ७ अप्रैल सन् १९८२ को जूनागढ़ जिले के वेरावल अस्पताल में मस्तिष्क की नस फटने से ब्रह्मीभूत हो गये। आप ७० वर्ष के थे।

श्री शंकराचार्यजी सनातन धर्म के वरिष्ठ आचार्यों में थे। वे वर्णाश्रम स्वराज्य संघ तथा धर्मसंघ के अध्यक्ष रह चुके थे। आपने संस्कृत तथा धर्मशास्त्रों के प्रचार-प्रसार में सक्रिय योगदान किया था। श्री शंकराचार्यजी ने स्वामी करपात्री जी के साथ धर्मसंघ के तत्त्वावधान में गोहत्या तथा हिन्दू कोड बिल विरोधी आन्दोलन का भी नेतृत्व किया था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तथा विश्व हिन्दू परिषद् को भी आपका सहयोग प्राप्त था। आपने संस्कृत तथा गुजराती में अनेक ग्रन्थों की रचना की है।

श्री द्वारका पीठाधीश्वर ने ईसाई बनाये गए वनवासियों तथा हरिजनों को पुनः सनातन धर्ममें दीक्षित किये जाने के भी प्रयास किये।

काशी मुमुक्षु भवन को जगद्गुरु का विशेष रूप से आशीर्वाद प्राप्त था। 'मुमुक्षु' प्रकाशन के सम्बन्ध में आपने अपनी शुभ कामना इस प्रकार व्यक्त की थी—“काशी मुमुक्षु भवन सभा द्वारा 'मुमुक्षु' पत्रिका के प्रकाशन की बात सुनकर प्रसन्नता हुई। शुभाशीर्वाद है कि यह धार्मिक-आध्यात्मिक छेत्तादि से परिपुष्ट होकर जनता की सेवा करे। जनता कृतार्थ हो, मासिक चिरंजीवी बने।” और मुमुक्षु का प्रथमांक देखकर इन शब्दों में अपना हर्ष व्यक्त किया था—“‘मुमुक्षु’ मासिक पत्र का प्रथमांक प्राप्त हुआ। आनन्द हुआ। धन्यवाद।”

श्री शारदापीठ के जगद्गुरु श्री शंकराचार्यजी का अभाव मुमुक्षु भवन के सभी सदस्यों, सद्भावियों और आवासियों को सदैव अनुभव होता रहेगा। भारतीय सनातन धर्म के क्षेत्र में यह अपूरणीय क्षति है जिसकी पूर्ति असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। सभा अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करती है।

भण्डारा—मुमुक्षु भवन में ईश्वरभट के दण्डी स्वामियों के लिए भिक्षा (भोजन भण्डारा) का प्रबन्ध है। भण्डारा दो प्रकार का है कच्चा और पक्का। कच्चे भण्डारे में रोटी, दाल, चावल और शाक तथा दही का प्रबन्ध किया जाता है। पक्के भण्डारे में खीर-पूड़ी अथवा हलवा पूड़ी या मिठाई पूड़ी का प्रबन्ध है। ये भण्डारे प्रायः दो प्रकार के दाताओं की सहायता से चलाये जाते हैं। स्थायी कोष द्वारा स्थायी भण्डारा और अस्थायी दान द्वारा अस्थायी भण्डारा। गत मार्च महीने में निम्नलिखित भण्डारे दिए गये।

स्थायी—

- श्री मामनचन्द्र गुप्त, तुल्लापट्टी, कलकत्ता (कच्चा) २-३-८२
- श्री धानुका चैरिटेबुल ट्रस्ट, गोहाटी (कच्चा) १०-३-८२
- श्री सत्यनारायण अग्रवाल चैरिटेबुल ट्रस्ट, सलकिया हवड़ा (कच्चा) १२-३-८२
- श्री स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती, मुमुक्षुभवन, काशी (पक्का) ११-३-८२
- श्रीमती वैराग्यवतीदेवी, मुमुक्षुभवन, काशी (पक्का) ९-४-८२
- श्रीमती विट्टोदेवी ,, ,, (कच्चा)
- श्री गोपीराम अग्रवाल (पक्का) २३-४-८२

अस्थायी—

- श्री एम. नारायण स्वामी, मद्रास (पक्का) ११-३-८२
- श्रीमती दुर्गाबाई गडिया, अंबेरी, बम्बई (कच्चा) १४-३-८२
- श्री घनश्यामदासजी हलवाई, बम्बई (कच्चा) १५-३-८२
- श्री राधाकृष्ण मुनमुनवाला, मुमुक्षुभवन, काशी (कच्चा) १६-३-८२
- श्रीमती कैलाशो बाई भोजनगरवाली अहमदाबाद (पक्का) १७-३-८२
- श्रीमती रुक्मिणीबाई, मुमुक्षुभवन (कच्चा) १९-३-८२
- श्रीमती पत्ताबाई सुलतानिया, बम्बई (कच्चा) २०-३-८२
- श्री शिवप्रसाद अग्निहोत्री, कानपुर (पक्का) २२-३-८२

९. श्रीरामचन्द्रजी फोगला, वाराणसी (कच्चा) २३-३-८२
 १०. श्रीमती मुक्तीदेवी खेतान, कलकत्ता (पक्का) २५-३-८२
 ११. श्रीमती संपत्तीबाई, राजगढ़,
 साहुलपुरा (कच्चा) २६-३-८२
 १२. श्री रामप्रताप लिह्ला काठमांडू (कच्चा) २७-३-८२
 १३. श्री ज्वालाप्रसाद तिवारी, भागलपुर (पक्का) २८-३-८२
 १४. श्री रामप्रताप लिह्ला, काठमाण्डू (कच्चा) २९-३-८२
 (,,) २९-३-८२
 १५. श्री लक्खीप्रसाद नरसरिया,
 वाराणसी (पक्का) ३०-३-८२
 १६. श्री सदायतन पाण्डेय, मिर्जापुर (कच्चा) ५-४-८२
 १७. श्री रामविलास अग्रवाल,
 मुमुक्षुभवन, काशी (पक्का) ८-४-८२
 १८. श्री श्यामस्वरूप ब्रह्मचारी ,, (कच्चा) १६-४-८२
 १९. श्री लक्खीप्रसाद नारसरिया,
 वाराणसी (पक्का) २६-४-८२

होमियोपैथिक चिकित्सालय— श्री रामकुमार भु-
 वालका जन कल्याण ट्रस्ट के सहयोग से चलनेवाले मुमुक्षु-
 भवन के होमियो पैथिक चिकित्सालय में गत मार्च महीने में
 में नये ५१६ तथा पुगने २५७४ कुल ३१९० रोगियों ने
 चिकित्सा का लाभ उठाया ।

मुमुक्षु पत्रिका के लिए अप्रैल १९८२ में प्राप्त
 आजीवन सदस्यता—

- | | |
|--|--------|
| १. श्री परमानन्द खेमका, वाराणसी | २५१-०० |
| २. श्री जी० एस० वोहरा, कलकत्ता | २५०-०० |
| ३. श्री कमलकुमार कानोडिया, कलकत्ता | २५१-०० |
| ४. श्री अभिमन्यु भुवालका, कलकत्ता | २५१-०० |
| ५. श्री गम्भीर सिंह पी० जादेजा, भावनगर | २५१.०० |

विशेष सहायता-शुल्क

राजा बहादुर सर वंसीलाल धर्मार्थ ट्रस्ट,
 हैदराबाद

१०१-००

[काशी में दण्डी साधुओं की परम्परा —पृष्ठ २९ का शेषांश]

बाद से देश की धर्मनिरपेक्ष नीति की आलोचना करती
 आयी है । सनातन धर्म की स्थापना हेतु १९४८ में काशी
 में करपात्रीजी ने रामराज्य परिषद् तथा धर्मसंघ की
 स्थापना की थी । १९५२ से ही परिषद् देश के आम
 चुनावों में भाग लेती आयी है । दण्डी साधुओं ने हिन्दू
 कोड बिल का विरोध किया था । समस्त साधु संस्था
 गोहत्या बन्द करने के आन्दोलन का समर्थन करती
 है । १९५३ में काशी विश्वनाथ मन्दिर में अस्पृश्यता
 कानून द्वारा जब हरिजनों को प्रवेश दिया गया, उस
 समय करपात्रीजी के अनुगामी कट्टर दण्डी साधुओं ने इसका

विरोध कर प्रचण्ड प्रदर्शन किया था । उनपर लाठीचार्ज
 भी किया गया था । करपात्रीजी सहित अनेक दण्डी साधुओं
 को गिरफ्तार कर लिया गया था तथा कानून भंग करने के
 अपराध में सजा भी दी गयी थी । इसके खिलाफ करपात्री-
 जी ने काशी में एक अलग विश्वनाथ मन्दिर बनाया जिसके
 अन्दर हरिजनों का प्रवेश निषिद्ध है ।

काशी का ७०% दण्डी मठ हिन्दीभाषी है । दोष्ता के
 बाद दण्डी स्वामियों का जीवन मधुकरी पर निर्भर रहता
 है । सभी दण्डी मठ सम्पन्न नहीं हैं । पर कुछ मठ समृद्ध-
 शाली भी हैं ।



प्राण और प्रणव

देवों और असुरों के बीच एक भयंकर द्वन्द्व मच गया। दोनों प्रजापति की सन्तानें थीं, किन्तु दोनों की प्रकृति में मूलगत विपमता थी। देवगण विद्या की उपासना करना चाहते थे और असुरगण भौतिक शक्ति का विस्तार करना चाहते थे। इस प्रकार दोनों की प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे की विरोधी थीं। फल यह हुआ कि, दोनों एक-दूसरे के विनाश के प्रयत्न में जी-जान से जुट गये।

देवताओं ने 'उद्गीथ' (ओंकार) की उपासना आरम्भ कर दी। उन्होंने सोचा कि, यदि विद्या के मूल बीज-रूप ओंकार-तत्त्व का मनन, चिन्तन और आराधन करना आरम्भ कर दें, तो निश्चय ही उससे तमोगुण-युक्त असुरों की सारी आसुरी शक्ति नष्ट हो जायगी।

उन्होंने पहले श्वास के रूप में ओंकार की उपासना की। श्वास में ओंकार की प्रतिष्ठा करके वे दिन-रात उसे भजने लगे। असुरों को जब यह ज्ञात हुआ, तो उन्होंने श्वास-वायु को पाप से कलुषित करना आरम्भ कर दिया। फल यह हुआ कि, जिस श्वास-वायु को घ्राण-शक्ति द्वारा देवगण केवल दिव्य सुगन्धियों को सूँघा करते थे, उससे वे दुर्गन्ध से भी परिचित हो उठे। तभी से विश्व के समस्त मानव-प्राणी सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों का अनुभव करते हैं। दुर्गन्ध की अनुभूति ने श्वास-वायु को ओंकार की प्रतिष्ठा से बिल्कुल अयोग्य सिद्ध कर दिया।

इसके बाद देवों ने वाणी को ओंकार के रूप में मानकर उसकी उपासना आरम्भ कर दी। असुरों ने उसे भी पाप से कलुषित कर दिया। यही कारण है कि, वाणी सत्य और असत्य दोनों प्रकार के वाक्यों को बोला करती है। और तब, सत्य के साथ असत्य को भी अपनाने के कारण वाणी भी ओंकार की स्थापना के उपयुक्त नहीं रह गयी।

तब देवों ने चक्षु को ओंकार-रूप में मानकर उसकी उपासना आरम्भ कर दी। पर असुरों ने उसे भी निष्कलंक नहीं रहने दिया। उसे भी पाप से कलुषित कर दिया। यही कारण है कि, दृष्टि सुन्दर और असुन्दर, दर्शनीय और अदर्शनीय—दोनों प्रकार की वस्तुओं को देखा करती है।

जब देवताओं ने देखा कि, दृष्टि भी ओंकार-रूप में उपासना के योग्य नहीं रही, तो उन्होंने श्रवण-इन्द्रिय को

अपनाया और 'उद्गीथ' के रूप में उसी की आराधना करने लगे। किन्तु असुरों ने उसे भी नहीं छोड़ा और उसे भी पाप से कलुषित कर दिया। फल यह हुआ कि, वह ऐसी बातों को भी सुनने लगी, जो श्रवण के योग्य नहीं हैं।

उसके बाद देवों ने मन को ओंकार के रूप में मजना आरम्भ किया। असुरों ने उसे भी पाप-वासना से कलुषित कर दिया। फल यह हुआ कि मन अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की कामनाएँ करने लगा—देवतागण इस बार भी असफल रहे।

अन्त में देवताओं ने प्राण में ओंकार की प्रतिष्ठा की और उसकी उपासना करने लगे। असुर उसे भी पाप से कलुषित करने के लिए आ पहुँचे। पर इस बार वे स्वयं इस प्रकार नष्ट होते गये, जैसे किसी कठिन और अमोघ चट्टान पर डेला पटकने से वह चकनाचूर हो जाता है। तब देवताओं ने जाना कि, प्राण निष्कलुष और पवित्र है। उसपर किसी पाप का प्रभाव नहीं पड़ सकता।

इसी-प्रकार वह व्यक्ति भी अमोघ पाषाण पर पड़े गये मिट्टी के डेले की तरह विनष्ट हो जाता है, जो प्राण-तत्त्व के जाननेवाले को पाप से कलुषित करना चाहता है।

यह मूल प्राण-तत्त्व ऐसा निर्विकार है कि, उसके द्वारा मनुष्य न सुगन्ध को सूँघता है न दुर्गन्ध को। वह जो भक्षण या पान करता है, उसका स्वयं उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि दूसरी प्राणशक्तियों को बल मिलता है। सब इन्द्रियाँ प्रकृति से ही स्वार्थरत होती हैं, क्योंकि वे अपनी ही विशेष-विशेष प्रवृत्तियों को चरितार्थ करने के लिए उत्सुक रहती हैं। पर प्राण-तत्त्व स्वयं निर्लिप्त रहकर सबके हित के लिए निरन्तर व्यस्त रहता है। अन्त समय आने पर प्राण न भोजन करता है न पान। फल यह होता है कि, दूसरी इन्द्रियों का सहारा जाता रहता है। वे शरीर को छोड़ चली जाती हैं और मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

अंगिरा ऋषि ने इसी अमर और निर्विकार प्राण-तत्त्व में ओंकार की प्रतिष्ठा करके उसकी उपासना की थी, इसलिए वे 'आंगिरस' के नाम से प्रसिद्ध हैं। निश्चय ही, जो इस अविनाशी 'उद्गीथ' को उपासना सर्वात्मि भाव से 'शिबोऽस्मि'-रूप में करता है, वह सत्य-सम्यक् का विवेकी बनकर परम आनन्द का अधिकारी बन जाता है।

—'छांदोग्योपनिषद्' से

Jindal Aluminium Limited

Manufacturers of :

Aluminium, Copper & Brass Extrusions and Sprinkler
Irrigation Equipments



REGD. OFFICE & WORKS :

16th K.M, Tumkur Road,

Bangalore-560 073.

Telephone : 38255 (4 Lines)

Telex : 0845-305

Grams : JINDALEX



BRANCH OFFICES :

NEW DELHI

1/6B, Asaf Ali Road,
New Delhi-110 002.

Telephone : 271712 &

278189

Grams : JINDALEX

BOMBAY

416, Prasad Chamber,
Swadeshi Mill Compound,
Bombay-400 004.

Telephone : 380508 &

383410

Grams : JINDALEX

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए श्री पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित



मुमुक्षु

जून १९८३

पाठकों की प्रतिक्रिया

आप पिछले ४-५ महीने से अपनी मासिक पत्रिका 'मुमुक्षु' मेरे पास भेज रहे हैं, जिसे पढ़कर बहुत खुशी हुई। इसमें प्रायः सभी लेख शिक्षाप्रद, सारगर्भित पढ़ने को मिलते हैं। इसका आजीवन ग्राहक बनने में मुझे खुशी होगी।

कलकत्ता

—अभिमन्यु भुवालका

'मुमुक्षु' मासिक का अप्रैल '८२ का अङ्क देखा। स्व० सेकसरिया जी एवं ब्रह्मलीन स्वामी करपात्री जी महाराज पर श्रद्धाञ्जलि स्वरूप जो सामग्री प्रकाशित की है, वह बहुत ही उपयुक्त एवं ज्ञानवर्धक है। कुबेरनाथ राय की अपनी एक विशिष्ट आकर्षक शैली है, उसमें उनकी अपार विद्वत्ता तो झलकती ही है, रोचकता एवं सरसता से भी वह ओत-प्रोत है। वाराणसी पर उनका लेख 'पश्य देवस्य काव्यम्' पठनीय है।

सम्पादकीय 'धर्म की ओर प्रत्यावर्तन' भी बहुत सामयिक है। सम्भवतः ध्यान से यह बात उतर गयी कि 'बाहुबली' जैन धर्मावलम्बियों के तीर्थंकर नहीं हैं। वे जैनों के आदि तीर्थंकर 'ऋषभदेव' के पुत्र थे। जैन परम्परा के २४ तीर्थंकर माने गये हैं। बाहुबली मुक्त-पुरुष थे पर तीर्थंकर नहीं।

सम्पादक, अमृत कुम्भ, दिल्ली

—घनश्याम देवड़ा

'मुमुक्षु' के मार्च तथा अप्रैल, १९८२ के अङ्क मिले। धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पक्ष को उजागर करने वाला यह एक मात्र पत्र है। इसमें सम्मिलित लेख सुविचारित मानव-समाज को कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर करने वाले हैं। पं० बलदेव उपाध्याय जी का 'स्वामी करपात्री का कृतित्व और व्यक्तित्व' शीर्षक लेख में करपात्री जी की जीवन एवं उनकी विचारधारा

पहली बार इतने सुन्दर ढङ्ग से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हुई है। आपके इस प्रयास के लिए साधुवाद देता हूँ।

सेवा-निवृत्त माषा-सञ्चालक;
मध्यप्रदेश

—शुकदेव दुबे

आज जैसे व्यावसायिक पत्रकारिता के युग में चिन्तन-प्रधान पत्रिका का प्रकाशन एक साहसिक कदम है। इतनी सुन्दर विचारप्रधान पत्रिका के लिए बधाई।

ब्राह्मणपुरी, खण्डवा,
(म० प्र०)

—रामनारायण उपाध्याय

'मुमुक्षु' के सभी अङ्क पढ़ता रहा हूँ। किसी धार्मिक पत्रिका को इतना पठनीय और लोकप्रिय बनाना सम्पादक की प्रतिभा के कारण ही है। पुराण कथाओं को एक निश्चित क्रम में प्रकाशित करते रहें तो यह पत्रिका और लोकप्रिय हो जायेगी। सुर्क्षपूर्ण प्रकाशन के लिए मेरी प्रशंसा स्वीकार करें।

डी. ५२/७३, मामूरगंज,
वाराणसी

—शुकदेव सिंह

'मुमुक्षु' के अङ्क नियमित रूप से प्राप्त हो रहे हैं। प्रत्येक अङ्क की सामग्री सुसम्पादित तथा सभी लेख पठनीय है। मेरा सुझाव है कि भारत के सभी धार्मिक नगरों के सम्बन्ध में विवरण प्रकाशित करें ताकि काशी, मथुरा के अलावा अन्य नगरों का धार्मिक एवं आध्यात्मिक महत्व जन साधारण को ज्ञात हो सके। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल जिस सरल ढङ्ग से धार्मिक ग्रन्थों का माध्य लिख गये हैं, उस ढङ्ग से विभिन्न ग्रन्थों के विवरण प्रकाशित करने से मेरे जैसे पाठकों के ज्ञान में वृद्धि होगी।

सिद्धगिरि बाग
वाराणसी-१०

विश्वनाथ मुखर्जी



आध्यात्मिक
तथा
सांस्कृतिक
मासिक

वर्ष १ : अंक ९
आषाढ़, सं. २०३९
जून, १९८२

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी

वार्षिक : पन्द्रह रुपए
एक अंक : डेढ़ रुपया
आजीवन
दो सौ इक्यावन रुपये

वन्दना

वाराणसी - पुरपते मर्णिकर्णिकेश
वीरेश दक्षमखकाल विभोगणेश ।
सर्वज्ञ सर्वहृदयैकनिवास नाथ
संसार - दुःख - गहनाज्जगदीश रक्ष ॥
विश्वेश विश्वभवनाशित विश्वरूप
विश्वात्मक त्रिभुवनैक गुणाभिवेश ।
हे विश्वबन्धु करुणामय दीनबन्धो
संसार दुःख गहनाज्जगदीश रक्ष ॥
—जगद्गुरु शंकराचार्य

हे वाराणसी नगरी के स्वामी, मर्णिकर्णिका महाश्मशान के मालिक, वीरभद्र के स्वामी, दक्ष-यज्ञ विध्वंसक, सर्व समर्थ गुणों के स्वामी, सर्वज्ञ, सबके आत्मा, मेरे स्वामी, संसार के घोर दुःख से मेरी रक्षा करो !

हे विश्वपति, हे समस्त जगत् को विनष्ट करने वाले, हे विश्वरूप विश्वात्मक, तीनों लोकों और गुणों के एकमात्र अधिष्ठान, हे जगत् के बन्धु तथा करुणामय, हे दोनों के बन्धु, संसार के घोर दुःख से मेरी रक्षा करो !

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः,
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौयथाहेर्ध्रमः ।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावितां,
वन्देऽहं तमशेष-कारण-परं रामाख्यमीशं हरिम् ॥
—गोस्वामी तुलसीदास

जिसकी माया के वश में सारा संसार, ब्रह्मादिक देवता तथा असुर हैं, जिसकी सत्ता से रस्सी में सपं के भ्रम की भाँति यह सारा जगत् सत्य प्रतीत होता है, और जिसके चरण ही भवसागर से तरने की चाह करने वालों के लिए एकमात्र नौका हैं, सभी कारणों से परे उन राम नामक भगवान् हरि की मैं वन्दना करता हूँ ।

इस अङ्क में

वन्दना	१
सुख की खोज	देवीप्रसाद मस्करा २
सेवाव्रती महावीरप्रसादजी पोद्दार	
	श्री लक्ष्मीनिवास बिरला ३
महर्षि वाल्मीकि और उनके आदर्श चरित्र	
	स्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती ५
जमुनोत्तरी	श्री घनश्यामदास बिरला १०
आरोप साधन	
	महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज १४
राम की खोज	डा० लक्ष्मीनारायण लाल १७
लोक-देवता श्रीहनुमान्	कुबेरनाथ राय १९
निष्काम कर्मयोग	पं० प्रेमनारायण पाण्डेय २३
कोणाकं का सूर्य मन्दिर	श्री भवानीशङ्कर शुक्ल २५
जब रामचन्द्रजी ससुराल से लौट नहीं रहे थे	
	श्री नारायणप्रसाद सिन्हा २८
पुस्तक-समीक्षा	२९
श्री मोहनलालजी जालान भी नहीं रहे !	३१
ताऊजी !	३२

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से सम्पादक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है ।

लेखकों से—‘मुमुक्षु’ में प्रायः धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रचनाएँ ही प्रकाशित की जाती हैं । ये रचनाएँ साहित्य की किसी भी विधा में हो सकती हैं । अतः लेखकों से निवेदन है कि वे अपने पास प्रतिलिपि रखकर ऐसी ही रचनाएँ भेजें । अस्वीकृत रचनाओं को लौटाने में हम असमर्थ हैं । स्वीकृत रचनाओं की सूचना पन्द्रह दिनों के भीतर भेज दी जाती है ।—सम्पादक

सुख की खोज

आधुनिक समाज अनेक भौतिक सुविधाओं से सम्पन्न है । संचार और यातायात के द्रुत साधनों ने संसार को बहुत छोटा कर दिया है । विज्ञान के नित्य नये आविष्कारों ने मनुष्य की लालसाएँ बढ़ा दी हैं । परिणाम यह है कि इन समस्त सुविधाओं के बावजूद मनुष्य भीतर से अशान्त और अतृप्त है । वह संसार में रह कर एक मशीन बन गया है । उसका विश्वास खण्डित हो गया है । उसकी आत्मिक शक्तियाँ क्षीण होती जा रही हैं । यदि इसी प्रकार विज्ञान हमारे जीवन को प्रभावित करता रहा तो मनुष्य का क्या स्वरूप होगा इसकी कल्पना ही भयावह है ।

आज आवश्यकता है, मनुष्य अन्तर्मुख हो कर प्रकृति से प्राप्त अपनी दैवी शक्तियों का विकास करे जिससे उसमें आत्मविश्वास जाग्रत हो और विज्ञान के भौतिक व्यामोह से दूर हटे, जिससे उसका जीवन अशान्त हो गया है । सुख मनुष्य के भीतर है, बाहर नहीं, और उस सुख को प्राप्त करना ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है ।

—देवीप्रसाद मस्करा

क्षणभंगुर जीवन की कलिका,
कल प्रातः जाने खिली न खिली ।
मलयाचल की शुचि शीतल मंद,
सुगंध समीर मिली न मिली ।
कलिकाल कुठार लिए फिरता,
तन कोमल चोट झिली न झिली ।
भज ले हरि-नाम अरी रसना,
फिर अंत समय में हिली न हिली ।

सेवाव्रतो

महावीरप्रसादजी

पोद्दार

● श्री लक्ष्मीनिवास बिरला

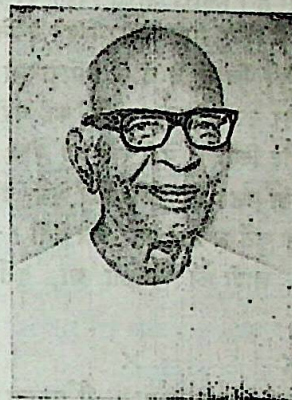
किसी एक व्यक्ति की उपस्थिति अथवा किसी अन्य की अनुपस्थिति की अनुभूति का मुख्य कारण उतना ही सरल है, जितना कि उषाकालीन सूर्योदय। चरित्र एक नैतिक व्यवस्था है जो वैयक्तिक स्वभाव द्वारा प्रतिबिम्बित होता है।

एक अंग्रेज कवि ने कहा है कि एक रात अबूबिन अदम की आँख खुली, तो वह देखता है कि एक फरिश्ता कई नामों को तख्ती पर लिख रहा है। उसने पूछा तो फरिश्ते ने जवाब दिया कि वह ईश्वर के भक्तों के नाम लिख रहा है। अबूबिन अदम ने कहा कि “उन भक्तों की सेवा करने वालों के नाम लिखो तो मेरा भी नाम लिख लेना।”

दूसरे दिन जब उसकी आँख खुली तो देखा कि वह फरिश्ता ईश्वरभक्तों के नामों की सूची लिए खड़ा है और उसमें सबसे पहला नाम अबूबिन अदम का था।

मैं कलकत्ता महाविद्यालय का छात्र था। मुझे कहा-नियाँ पढ़ने का शौक था। पिताजी ने एक दिन कहा कि कहानियाँ पढ़नी हों तो प्रेमचन्द की कहानियाँ ले आओ। मैं हिन्दी पुस्तक एजेन्सी पहुँचा। महावीरप्रसादजी दूकान में एक मेज के पास बैठे थे। उनकी मेज पर बिल बनाने की कापी और शायद दो-तीन रजिस्टर जैसे भी रखे थे। महावीरप्रसादजी ने हिन्दी-पुस्तक प्रचार के लिए यह दूकान खोली थी। मैंने पूछा तो उन्होंने “सस सरोज” निकाल कर दिया। महावीरप्रसादजी से यह मेरी पहली मुलाकात थी। फिर तो मैं जब-जब जाता, कई बार महावीरप्रसादजी मिलते थे, कभी-कभी एक दूसरे सज्जन भी वहाँ रहते थे।

एक दिन सुना कि महावीरप्रसादजी पोद्दार ने पुस्तकों की यह दुकान तिलक स्वराज फण्ड को दान में दे दी है।



फिर सुना कि किसी को वापिस खरिदवा दी है। पीछे पता चला कि उसे खरीदने वाले वैजनाथ केडिया थे। महावीरप्रसादजी ने दुकान का काम जमाया और कलकत्ता छोड़कर चले गये। पर हिन्दी-पुस्तक प्रचार की उनकी यह लगन बनी रही। सस्ता-साहित्य-मण्डल के स्थापना-कारु से ही वे उसके आजीवन सदस्य रहे।

×

×

×

कलकत्ता में सतीश बाबू का खादी प्रतिष्ठान तो था, किन्तु कोई जोर से खादी का प्रचार करने का स्थान नहीं था। महात्माजी के कहने पर पिताजी ने पूँजी देकर खादी-मण्डार की स्थापना करने का आयोजन किया। लेकिन खादी-मण्डार संभालेगा कौन, यह फिक्र थी। महात्माजी ने महावीरप्रसादजी के नाम का सुझाव दिया। उन्होंने यह दायित्व सहर्ष ले लिया। महात्माजी ने खादी मण्डार का उद्घाटन किया और उसी दिन खादी बेचने के लिए भी वे खड़े हो गये। खरीदारों का इतना लम्बा ताँता लगा कि वह देखने लायक दृश्य था।

इसके बाद तो मेरा नियम बन गया कि हर शनिवार को दो बजे खादी-मण्डार जाता और महावीरप्रसादजी के

साथ कई तरह की राजनीतिक, सामाजिक चर्चा भी करता। एक दिन मैंने बताया कि अंग्रेजों की इस तरह की संस्थाओं को बड़े-बड़े घरों की औरतें स्वेच्छापूर्वक अपना योगदान देती हैं। हमारी औरतें बिक्री का काम तो शायद न संभाल सकें किन्तु सस्ते तैयार कपड़े बेचने के लिए घर पर सिलाई का जिम्मा वे ले लें। पोद्दारजी को यह बात ज्ञात हुई और उसी दिन उन्होंने कई घरों में कुर्तें सीने का काम बाँट दिया। मेरी स्त्री भी रोज चार कुर्तें सीने लगी। कपड़ा कटा कर पोद्दारजी भेज देते और स्त्रियाँ सिलाई करके कुर्तें मण्डार पर भेज देतीं। सिलाई के पैसे बचने लगे। खादी का जमाना था, कुर्तें हाथ के हाथ बिक जाते।

× × ×

होली का त्योहार आया। मैं जानना चाहता था कि होली पर महावीरप्रसादजी क्या नई बात करेंगे। होली के बाद मैंने उत्सुकता से पूछा तो उन्होंने बताया कि तब यह हुआ था कि एक रंग की एक हँडिया रख देंगे और हम में से जो दौड़कर वहाँ पहले पहुँचेगा वह सब पर रंग डालेगा। महावीरप्रसादजी, सीतारामजी, मागीरथजी, प्रभुदयालजी आदि दौड़े, पर हँडिया पर सबसे पहले महावीरप्रसादजी पहुँचे। सब पर रंग डालने की बजाय हँडिया का रंग उन्होंने अपने सर पर ही उड़ेल लिया। इस तरह उन्होंने वह नई तरह की होली मनायी।

× × ×

खादी मण्डार का काम जमाकर सीतारामजी सेक्स-रिया को सम्हलाकर महावीरप्रसादजी फिर चलते बने। मैंने देखा कि एक चीज तैयार की और दूसरे काम को पीछे शुरू कर दिया। यह बात जैसे उनके स्वभाव में थी।

जब नमक सत्याग्रह चला, तो उन्होंने भी नमक बनाया। पुलिस ने आकर उनको और उनके साथियों को घेर लिया। महावीरप्रसादजी ने दोनों मुट्ठियाँ नमक से भर लीं। पुलिस ने काफी कोशिश की नमक छीनने की

पर उन्होंने मुट्ठी नहीं खोली। पुलिस ने तब एक तरकीब सोची, और उनकी घोंटी खोलने लगे। महावीरप्रसादजी मुट्ठी बन्द करके बैठ गये, पर नमक नहीं छोड़ा। अन्त में पुलिस जब उन्हें गिरफ्तार करके जेल ले जाने लगी तभी वे उठे और कपड़े ठीक करके जेल जाने के लिए तैयार हो गये।

× × ×

जेल से छूटकर सुना कि महावीरप्रसादजी ने गोरखपुर में एक प्राकृतिक चिकित्साकेन्द्र खोला है। इस बीच भारत छोड़ो आन्दोलन में वे दुबारा भी जेल यात्रा कर आये।

लड़ाई के पश्चात् केशवप्रसादजी गोयनका ने जसीडीह में अपनी पत्नी की स्मृति में कोठियाँ बनवायी थीं और जसीडीह-आरोग्य-भवन को दान कर दीं। किन्तु उन कोठियों में कोई भी नहीं रहना चाहता था। कोठियाँ खाली पड़ी थीं। एक बार महावीरप्रसादजी कलकत्ता आये और उन्होंने कोठियों की चर्चा सुनी। मेरे पास आकर उन्होंने प्रस्ताव रखा कि वे वहाँ पर प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्र स्थापित कर देंगे। ट्रस्टियों को यह बात बहुत अच्छी और कोठियाँ महावीरप्रसादजी को सम्हला दीं।

इसके बाद तो वे कोठियाँ कमी खाली नहीं रहीं। यह पहला मौका था कि महावीरप्रसादजी टिक कर अन्त तक वहाँ बैठे।

उनके शरीरान्त के तीन दिन पहले मैं उनसे मिलने गया। चुपचाप लेटे हुए थे। किसी ने कहा कि “लक्ष्मी-निवास आया है।” तुरन्त जवाब दिया “बोलने की ताकत नहीं है,” जबान से बोले कि “ताकत नहीं है” पर आवाज तो उस दिन भी बुलन्द थी। लेकिन धीरे-धीरे निशीथ की ओर वे बढ़ रहे थे। अन्त तक होश था, पर कमजोरी बढ़ती ही गयी। तीन दिन बाद चल बसे। जीये तब तक लोगों की सेवा में जीवन बिताया और गये तब भी लोक-सेवा की ही बातें सोचते गये।

●

दुःख एक चतुर बहुरूपिया है। वह हमेशा सुख का स्वांग भर कर ही आता है और लोग हँस कर उसका स्वागत करते हैं।

महर्षि वाल्मीकि और उनके आदर्श चरित्र

स्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

वाल्मीकि महाराज के जीवन के सम्बन्ध में अध्यात्म रामायण, पद्मपुराण, विष्णु पुराण आदि में तरह-तरह की कथाएँ आती हैं। अद्भुत बात यह है कि उनका पूर्व जीवन उत्तम कोटि का नहीं बताया गया है। अध्यात्म रामायण में आता है—

अहं पुरा किरातेषु किरातैः सह वर्द्धितः ।

जन्ममात्रं द्विजत्वं मे शूद्राचारतः सदा ॥

अर्थात् वाल्मीकि जी स्वयं कहते हैं कि, मैं पहले जङ्गल में रहता था। जङ्गली लोगों के साथ ही मुझे पढ़ने-लिखने का अवसर मिला। वहाँ मैंने बुरे-बुरे चरित्र किये। मैं शूद्राचार-परायण हो गया। ब्रह्मसूत्र में शूद्र शब्द की व्याख्या की गयी है—‘शुचा द्रवति इति शूद्रः ।’ जो बात-बात में स्वयं दुःखो हो जाय और दूसरों को दुःखी करे, रलाये, उसका नाम शूद्र है।

वाल्मीकिजी कहते हैं कि मैं पहले इसी तरह के काम किया करता था, कि एक दिन मेरे सामने से सप्तर्षि निकले। मन में आया कि उनके पास जो कमण्डलु, दण्ड और वस्त्र हैं उन सबको मैं छीन लूँ और उनसे प्राप्त द्रव्य अपने कुटुम्ब के पालन-पोषण में लगाऊँ।

यहाँ ज्ञातव्य है कि एक पुराण में तो यह लिखा है कि वाल्मीकि जी को सप्तर्षि मिले किन्तु दूसरे पुराण में लिखा है कि केवल नारद जी मिले। जो भी हो। जब वाल्मीकि जी कमण्डलु आदि को छीनने के लिए सप्तर्षियों के पास पहुँचे तब उन्होंने कहा—तुम जो यह काम करने जा रहे हो, इसके फलमागी तुम्हारे घर वाले होंगे या नहीं? जानते हो पाप का क्या फल होता है? केवल दुःख होता है। यदि तुम हमारा सामान छीन कर हमें दुःख दोगे तो तुमको भी दुःख होगा। इसलिए पहले यह देख लो कि

तुम जो पाप कर रहे हो और जिसके फलस्वरूप तुम्हें दुःख मिलने वाला है, उसमें तुम्हारे घरवाले हिस्सेदार होंगे या नहीं?

वाल्मीकि जी ने कहा—मुझे तो यह सब मालूम नहीं है। मैं घर वालों से पूछ कर जवाब दे सकता हूँ। लेकिन इसके लिए मैं घर जाऊँ और तुम लोग इतने में खिसक जाओ तब क्या होगा?

इस पर ऋषियों ने कहा तुमको जिससे सन्तोष हो, वह कर लो ! लेकिन घर जाकर पूछ जरूर आओ !

वाल्मीकि जी ने ऋषियों को पेड़ से बाँध दिया। वे खुशी से बँध गये और, बँधे-बँधे भगवान् का स्मरण करने लगे।

वाल्मीकिजी ने घर जाकर पत्नी, माता-पिता और बन्धु-बान्धवों, सबसे पूछा कि “मैं चोरी-डकैती, बेईमानी, छल-कपट तथा दूसरों को दुःख पहुँचा कर धन-सम्पत्ति ले आता हूँ, जिससे तुम सबका पालन-पोषण होता है। लेकिन इस पाप-कर्म का मुझे जो फल मिलेगा, उसमें तुम लोग हिस्सेदार

बनोगे या नहीं?” तब सबने एक स्वर से उत्तर दिया—“नहीं ! तुम घर के मालिक हो। तुम्हारा कर्तव्य है कि हमारा पालन-पोषण करो। तुम अपने कर्तव्य के अनुसार ही इसके लिए धन कमा कर ले आते हो। लेकिन हम यह नहीं जानते कि तुम कहाँ से कैसे लाते हो। इसलिए यदि तुम्हारे कर्तव्य-पालन का फल दुःख है तो हम उसको भोगने में हिस्सेदार नहीं होंगे।”

यह सुनकर वाल्मीकि जी को बड़ी रलानि हुई। वे तुरन्त ऋषियों के पास पहुँचे और उन्हें बन्धन-मुक्त कर बोले—घर वाले तो दुःख में हिस्सेदार नहीं होंगे।

इसके बाद ऋषियों ने वाल्मीकि जी को समझाया—



दूसरों को तकलीफ देकर धन बटोरना पाप है। फिर उस पाप में जब तुम्हारे परिवार के लोग ही सम्मिलित नहीं हैं तब तुम अपने लिए दुःख की सृष्टि क्यों कर रहे हो ?

अब वाल्मीकि जी ऋषियों के पूर्ण शरणागत हो गये। उन्होंने इनको 'राम-राम' जपने का आदेश दिया। लेकिन वाल्मीकि जी की स्थिति ऐसी थी कि उनके मुँह से 'राम-राम' निकले ही नहीं। तब ऋषियों ने कहा—यदि तुम सीधे 'राम-राम' नहीं जप सकते तो 'मरा-मरा' जपो। क्योंकि 'मरा-मरा' जपने से भी 'राम-राम' का उच्चारण हो जायेगा। इसी आधार पर गोस्वामी जी ने कहा है—

उलटा नाम जपत जग जाना ।

बालमीकि भये ब्रह्म समाना ॥

वाल्मीकि जी 'मरा-मरा' जपने लगे और ऐसी तपस्या में संलग्न हुए कि ब्रह्म के समान हो गये। इसलिए वाल्मीकि रामायण के प्रारम्भ में ही उन्हें 'तपस्वी' कहा गया है—

तपः स्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदांवरम् ।

नारदं परिपृच्छ वाल्मीकिमुनिपुङ्गवम् ॥

वही वाल्मीकि जी जब तपःसिद्ध होकर दुबारा नारदजी से मिले तब उन्होंने यह प्रश्न किया कि महाराज, इस संसार में सबसे श्रेष्ठ गुणवान् मनुष्य कौन है ?

कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥
चारित्र्येण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैक प्रियदर्शनः ॥
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः ।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम् ॥

इन प्रश्नों का अर्थ यह है कि इस समय इस संसार में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवक्ता और दृढ़ प्रतिज्ञ कौन है ? कौन सदाचार-परायण, समस्त प्राणियों का हितसाधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली और प्रियदर्शन है ?

मन पर अधिकार रखनेवाला, क्रोधजयी, कान्तिमान् और अनिन्दक कौन है ? संग्राम में कुपित होने पर देवता भी किससे डरते हैं ? मैं यह सब जानना चाहता हूँ। मुझे यह सब जानने की बड़ी उत्सुकता है। आप ऐसे पुरुष को जानने में समर्थ हैं इसलिए हे महर्षि मुझे बताइये।

इस पर नारदजी ने उत्तर दिया—ऐसे गुणागार तो केवल इक्ष्वाकुवंशी श्री रामचन्द्र ही हैं और यह बात जनता को, जन-जन को मालूम है—

इक्ष्वाकुर्वंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ।

नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी ॥

वाल्मीकिजी के प्रश्नों में जो 'साम्प्रतं' और 'अस्मिन् लोके' शब्दों का प्रयोग है, उसका अर्थ है—इस समय, इसी धरती पर कौन-सा मनुष्य है जो श्रेष्ठ गुणों का आकर है ?

इसी प्रकार नारदजी द्वारा श्री रामचन्द्र को इक्ष्वाकु-वंशी कहने का अभिप्राय यही है कि इक्ष्वाकुवंश में इसी समय इसी धरती पर विद्यमान हैं—

श्री रामचन्द्र को इक्ष्वाकुवंश-प्रभव कहने का एक तात्पर्य यह भी है कि भगवान् श्रीरामचन्द्र कर्मयोग की परम्परा के एक आचार्य हैं; क्योंकि राजर्षियों ने कर्मयोग की जो परम्परा बताई है, उसके अनुसार कर्मयोग सबसे पहले भगवान् की ओर से विवस्वान् अर्थात् सूर्य में आया, सूर्य से मनु में आया और मनु से इक्ष्वाकु में आया। गीता में भी यही कहा गया है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥

यहाँ सूर्य की चर्चा चलने पर ऋग्वेद का यह मंत्र ध्यान में आता है—

स्वस्ति पन्थानमनुसरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।

इसका अर्थ है कि सूर्य-चन्द्रमा दिन-रात कल्याणकारी मार्ग से चलते रहते हैं। सूर्य प्रकाश देते हैं और चन्द्रमा चाँदनी तथा आह्लाद देते हैं। दोनों एक क्षण के लिए भी विश्राम नहीं करते। जैसे वायु चलती रहती है, जल बहता रहता है और पृथ्वी सबको धारण करती रहती है।

वैसे ही सूर्य-चन्द्र भगवान् सबको प्रकाश एवं आह्लाद देते रहते हैं।

इसलिए श्री रामचन्द्र का इक्ष्वाकुवंश में जन्म लेने का तात्पर्य यह हुआ कि वे मनुष्य रूप में निरन्तर कर्म-निरत हैं। उनके जीवन में कभी विश्राम नहीं है। इसीलिए वाल्मीकि रामायण में उनका वर्णन आदर्श कर्मयोगी के रूप में हुआ है।

इससे यह आशय भी निकलता है कि श्री रामचन्द्र केवल त्रेता युग में ही नहीं हुए, आज भी इस धरती पर हैं। उनके गुणों की तन्मात्राएँ धरती पर फैली हैं और उन तन्मात्राओं को स्वीकार करके ही मनुष्यों के हृदयों में धर्म-भावनाओं का उदय होता है।

वास्तव में इस धरती पर भगवान् श्री रामचन्द्र का नाम सबके पास पहुँचा हुआ है। ऐसा कोई नहीं है जिसके कान में राम का नाम न पड़ा हो। आज भी लोग एक दूसरे के कान में राम राम कहते हैं—

रामो रामो रामेति कर्णे कर्णे जपन् जनाः।

श्री रामचन्द्र किसी-किसी के लिए तो अवतार हैं। ऊपर से धारा हैं। किसी ने कहा वे वैकुण्ठनाथ थे। विष्णु के, नारायण के अवतार हैं। किसी ने कहा, काम रूप रावण का नाश करने के लिए अपने हृदय में भगवान् का जो अवतार होता है, वही राम हैं। किसी ने कहा कि राम तुरीय तत्त्व हैं। अध्यात्म के रूप में भगवान् हृदय में राम रूप से, ज्ञान रूप से स्थित हैं और मोहरूपी रावण को मारते हैं। कोई कहता है कि वैकुण्ठनाथ भगवान् विष्णु बड़े कृपालु हैं और महर्षियों का, देवताओं का संकट देखते हैं तो कृपा करके रामरूप से अवतार धारण करते हैं। महात्माओं की दृष्टि में जो कुछ भी है—तुरीय तत्त्व, संसार, जीव—सब कुछ ब्रह्मस्वरूप राम ही राम हैं।

परन्तु वाल्मीकि रामायण में जिन राम का वर्णन है, उनका विचार यदि अमिथा शक्ति से ही किया जाय तो वे मनुष्य रूप से ही वर्णित हुए हैं। वाल्मीकि रामायण के राम मानव राम हैं। न तो वे मोहविनाशक ज्ञान के रूप में वर्णित हैं और न तुरीय तत्त्व के रूप में वर्णित हैं। ये सब बातें तो लक्षणा से प्रतीकात्मक अर्थ करके कही जाती हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि प्रतीकार्थ गौण होता है।

अमिथा शक्ति से जिस अर्थ का बोध होता है, वही मुख्य प्रतिपाद्य होता है।

सीधी बात है कि अयोध्या नगरी है। उसमें कौसल्या और दशरथ दम्पती हैं और उनके पुत्र हैं श्री रामचन्द्र। वे मनुष्य के रूप में इतने सद्गुण-सम्पन्न हैं कि मृत, वर्तमान और भविष्य में सदा-सर्वदा मानव के आदर्श रूप में बने रहेंगे। एक सच्चे मनुष्य के जीवन में कितने और कैसे-कैसे गुण होने चाहिए, उसका व्यवहार कैसा होना चाहिए, इसके लिए श्री रामचन्द्र का चरित्र आदर्श है।

इसीलिए वाल्मीकि जो हमें वैकुण्ठ ले जाकर श्री रामचन्द्र से नहीं मिलाना चाहते। अज्ञान की निवृत्ति होने पर उस अज्ञान निवृत्ति से उपलक्षित आत्मा और ब्रह्म की एकता के रूप में भी नहीं मिलाना चाहते। वाल्मीकि जो तो श्री रामचन्द्र को हमें इसी धरती पर मिलाना चाहते हैं। यदि श्री रामचन्द्र भगवान् हमें इस धरती पर नहीं मिलेंगे तो वैकुण्ठ जाना तो हमारे लिए बहुत दुर्लभ है। इसी प्रकार आत्मा के रूप में अनुभव करने के लिए तो साधन चतुष्टयसम्पन्न अधिकारी चाहिए।

इसलिए रावण को न ज्ञानरूप राम मार सकते हैं और न देवता रूप राम मार सकते हैं। रावण को कोई मार सकता है तो-मनुष्य राम ही मार सकता है। इसलिए श्री रामचन्द्र भगवान् को यह मानकर कि वे वैकुण्ठ में रहते हैं, हमें अपने से दूर नहीं फेंक देना चाहिए। इसी तरह उनको किसी निभृत गुहा में ले जाकर नहीं बैठा देना चाहिए। श्री रामचन्द्र भगवान् तो हमारे जीवन में हैं। हमारी आँखों के सामने हैं और सद्गुणसम्पन्न होकर हमें मार्ग दिखा रहे हैं।

एक बात और है। यदि किसी को यह मालूम हो जाय कि श्री रामचन्द्र मनुष्य नहीं, साक्षात् नारायण हैं तो रावण तक भी यह खबर पहुँच जायेगी। वह ब्रह्माजी के पास जाकर लड़ पड़ेगा। कहेगा कि मुझे वरदान दिया था कि मैं मनुष्य के हाथों ही मरूँगा। फिर तुमने मुझे मारने के लिए नारायण को क्यों भेज दिया? यदि नारायण मारेंगे तो तुम्हारा यह वरदान झूठा हो गया कि मनुष्य और वानर के अतिरिक्त अन्य किसी से मुझको मय नहीं रहेगा। इसलिए श्री रामचन्द्र यदि मनुष्य न हों, विष्णु

देवता के रूप में प्रख्यात हो जायें तो ब्रह्माजी द्वारा रावण को दिया हुआ वरदान निराधार हो जायगा।

यह बात भी ध्यान में रखने की है कि हिन्दी में भगवान् शब्द ईश्वर के लिए चल गया है। वैष्णव लोग भगवान् शब्द का और शैव लोग ईश्वर शब्द का प्रयोग करते हैं। भगवान् शब्द संस्कृत में संज्ञा नहीं है, विशेषण है। इसीलिए भगवान् शुकः भगवान् नारदः, बोलते हैं। लेकिन विशेषण होने पर भी भगवान् शब्द का प्रयोग वाल्मीकि रामायण में बहुत कम नाममात्र को प्राप्त होता है।

इसका कारण यही है कि भगवान् का, सर्वेश्वर का, वैकुण्ठनाथ का, विष्णु का अथवा साक्षात् परब्रह्म परमात्मा का जो रामरूप है, वह वाल्मीकि की दृष्टि में मानव रूप है और हम सब लोगों के जीवन के साथ सीधा सम्बन्ध रखता है। हमें अन्य भगवानों की उपासना करनी पड़ेगी, ध्यान करना पड़ेगा, प्रार्थना करनी पड़ेगी, उनका ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा, पर हम श्री रामचन्द्र के चरित्र को साक्षात् अपने इसी भौतिक जीवन में उतार सकते हैं।

अब हमें वाल्मीकि रामायण के प्रमुख पात्रों पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए! वाल्मीकि जी क्या हैं? वाल्मीकि माने होता है बाँबी। तपस्या करते-करते उनके शरीर में लग गये दीमक और दीमकों की माटी से उनका शरीर ढँक गया। वे केवल अस्थिमात्र शेष रह गये। उनके चाम, रक्त और मज्जा को दीमक चाट गये। दीमकों की बनाई बाँबी से प्रकट होने के कारण उनका नाम वाल्मीकि पड़ा। मतलब यह कि वाल्मीकि धरती (पृथ्वी) के पुत्र हैं।

सीताजी क्या हैं? जब यज्ञ के लिए भूमि शोधन करते समय जनकजी का स्वर्ण-हल चल रहा था तब उसकी 'हराई' से जानकीजी निकलीं। इसलिए वे भी धरती की पुत्री हैं। भूमि से ही उनका सम्बन्ध है।

इसी तरह श्री रामचन्द्र क्या हैं? उनका भी सम्बन्ध धरती के साथ है। वे आराम हैं। संस्कृत भाषा में राम शब्द को कर्ता अर्थ में बनाना बहुत मुश्किल है। राम शब्द का अर्थ होता है—रमन्ते अस्मिन् इति। जैसे कोई आराम अर्थात् बगीचा होता है और बालक उसमें

आकर खेलते हैं, वैसे ही राम शब्द भी है। भगवान् राम प्राणिमात्र के लिए रमण के, त्रिहार के, क्रीड़ा के केन्द्र हैं। उनका चरित्र देवलोक के लिए नहीं इसी धरती के लिए है। हमारे वैयाकरणों ने राम शब्द का अर्थ अव्युत्पन्न पक्ष में दशरथनन्दन, कौसल्यानन्दन माना है। अव्युत्पन्न पक्ष का अर्थ है उसमें धातु और प्रत्यय मत लगाओ। जैसे एक राजा-रानी के राजकुमार उत्पन्न हुआ और उस राजकुमार का नाम राम रखा गया। इसलिए वह व्याकरण से व्युत्पन्न नहीं है, बल्कि लोगों के द्वारा रखा हुआ भगवान् का नाम है दशरथनन्दन, कौसल्यानन्दन का एक नाम है राम। यह तो बड़े-बड़े विद्वानों ने, ऋषियों ने, व्युत्पत्ति करते हुए कह दिया है—रामो रमयतां वरः। इसलिए भगवान् श्री रामचन्द्र सबको आराम देने वाले हैं। मनुष्य मात्र को ही नहीं, प्राणिमात्र को आनन्द देने वाले हैं।

जब हम लक्ष्मण पर दृष्टि डालते हैं तब देखते हैं कि वे भी शेष हैं, भूमिशापी हैं। वे हमेशा तो धारण करते हैं पृथ्वी को अपने सिर पर और जब अवतार लेते हैं तब भी पृथ्वी पर ही रहते हैं। श्री रामचन्द्र भले ही शय्या पर शयन करें, लेकिन लक्ष्मण कभी शय्या पर शयन नहीं करते, भूमि पर ही शयन करते हैं, इसलिए भूमि से उनका अभिन्न सम्बन्ध है।

इसी तरह हम भरत को देखते हैं तो वे भी धरती में गुफा खोदकर रहते हैं। उनको इस बात का ध्यान रहता है कि श्री रामचन्द्र जिस धरती पर चलते हैं, अपना चरण रखते हैं, उस धरती पर उनके बराबर मैं कैसे बैठूँ, कैसे सोऊँ? इसीलिए वे धरती में गड्ढा खोदकर रहते हैं।

दशरथ का संस्कृत भाषा में सीधा अर्थ यह है कि जिसका रथ दसों दिशाओं में चल सकता है, जिसके रथ की गति को कोई रोक नहीं सकता। धरती पर ही दशरथ का रथ चलता था। इस नाते दशरथ धरती से सम्बद्ध हैं। यह बात दूसरी है कि दशरथजी कभी-कभी देवताओं की सहायता करने के लिए रथ समेत देवलोक आते-जाते थे। इससे यह बात प्रकट होती है कि देवताओं की सहायता मनुष्य ही करता है। इसलिए कहा गया है कि विश्व-सृष्टि

में मनुष्य से बढ़कर दूसरी कोई शक्ति नहीं है : न. मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ।

कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी के नाम भी देश के सम्बन्ध से ही हैं। कौसल देश की कन्या कौसल्या, केकय देश की कन्या कैकेयी।

कौसल्या के विवाह के सम्बन्ध में लोककथा प्रचलित है कि जब उनका विवाह दशरथजी से तै हो गया तब उसका पता रावण को चल गया। उसने यह भी जान लिया कि इस लड़की से जो पुत्र उत्पन्न होगा वह मुझे मारेगा। इसलिए उसने कौसल्या का अपहरण कर लिया और घोर जङ्गल में स्थित किसी मन्दिर में बन्द कर दिया। इधर दशरथजी की बारात कौसलपुरी पहुँच गयी। लेकिन कौसल्या तो थी नहीं। अतः कौसल्या के बजाय सुमित्रा से दशरथ का विवाह सम्पन्न हुआ। दोनों समान थीं। इसलिए बात खुली नहीं। जब दशरथजी सुमित्रा को साथ लेकर लौटने लगे तब विश्राम के लिए बारात उसी मन्दिर के पास ठहरी। सुमित्रा के कानों में सिसकने की आवाज पड़ी। फिर मन्दिर से कौसल्या निकाली गयीं। उन्हें राजा दशरथ ने बड़ी रानी के रूप में स्वीकार किया।

वाल्मीकि रामायण में राम को प्रायः मानव कहा गया है किन्तु कुछ स्थानों पर उन्हें भगवान् भी कहा गया है। ऐसे तो वे भगवान् हैं ही। परन्तु जब हम वाल्मीकि रामायण में श्री रामचन्द्र के गुणों का वर्णन मनुष्य रूप में पढ़ते हैं तब यह सम्भावना बन जाती है कि उनके जैसे गुण हमारे जीवन में भी आ सकते हैं। क्या हम श्री रामचन्द्र की तरह माता-पिता की आज्ञाओं का पालन नहीं कर सकते? राम को आदर्श मानकर उनके कुछ गुणों को तो अपनाया ही जा सकता है।

माता-पिता की आज्ञा का पालन यदि आराम से हो, सुख से हो, अपने लाभ के लिए हो तो बहुत से लोग उसे धर्म समझ कर करना चाहते हैं और करने के लिए तैयार रहते हैं। किन्तु इस धर्म के प्रति निष्ठा की परिपुष्टि तो

तब होती है, जब उसका पालन करने में हमें कष्ट हो और उस कष्ट को सहकर भी हम अपने धर्म का पालन करें। श्री राम ने ऐसा ही किया। वस्तुतः धर्म का पालन तभी होता है जब हम अपने हाथ को वासना के अनुसार काम करने से रोकें और आज्ञानुसार काम करने दें। अनुशासन सबसे बड़ी चीज है। हमारे पाँवों को आज्ञा के अनुसार चलना चाहिए। अतः हमें यह देखते रहना चाहिए कि हम अपने जीवन में जो मनोरथ करते हैं, वे वासनानुसार हैं अथवा वेद-शास्त्र, आचार्य और बड़ों की आज्ञा के अनुसार हैं।

इसी तरह यह भी देखते रहना चाहिए कि धर्म का पालन करने में यदि कष्ट होता हो तो हम उसे सहने के लिए तैयार हैं या नहीं? यदि नहीं हैं तो हम सच्चे धार्मिक नहीं हैं।

श्री रामचन्द्र की यही विशेषता है कि वे घोर कष्ट उठा कर भी धर्म का पालन करते हैं। धर्म माने धारण करना। धरति इति धर्मः, ध्रियते इति धर्मः। जो हमारे भीतर रहकर हमारी रक्षा करता है, पाँवों को बुरी जगह जाने नहीं देता, हाथों से बुरा काम नहीं करने देता, मुँह से बुरी बात नहीं बोलने देता, इन्द्रियों को बुरे मार्ग पर नहीं चलने देता, वह धर्म है। जो शक्ति हमारे अन्तःकरण में विराजमान है और हमारी इन्द्रियों तथा मन को पकड़ कर वश में रखती है उसी का नाम है धर्म।

वाल्मीकि जी कहते हैं कि रामो विग्रहवान् धर्मः— श्रीरामचन्द्र मूर्तिमान् धर्म हैं। उनके रूप में मानो धर्म ने शरीर धारण कर लिया है क्योंकि वे अपनी इन्द्रियों को संयम में रखते हैं। श्री रामचन्द्र ऐसे हैं जिनका अपनी इन्द्रियों पर, अपने मन पर, जीवन पर नियन्त्रण है। वेदों में जो मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव आदि वचन मिलते हैं, इसका अक्षरशः पालन किया है श्री रामचन्द्र ने। इसलिए वे हमारे जीवन के पूर्ण आदर्श हैं।

जमुनोत्तरी

श्री घनश्यामदास बिरला

गंगोत्तरी की यात्रा समाप्त करने के बाद मैंने गंगोत्तरी पर एक लेख लिखा था। गंगा की उत्पत्ति की पृष्ठभूमि और उसकी महिमा के सम्बन्ध में अपने ढंग से मैंने कुछ विवेचना भी की थी।

अब मैं जमुनोत्तरी की यात्रा भी कर आया तो जमुना के सम्बन्ध में भी कुछ लिखने का संकल्प हुआ। उसी का परिणाम यह लेख है।

पर जमुना की कहानी गंगा से सर्वथा भिन्न है। गंगा का एक स्वतन्त्र माहात्म्य बन गया है। इसका इतिहास, इसका जीवन, सब कुछ निराला है। भगवान् के चरणों से इसका विकास हुआ और शङ्कर की जटा ने इसको झेला। फिर आगे चलो तो सबको कुछ देती ही गयी। इसलिए यद्यपि नदियाँ भारतवर्ष में सैकड़ों हैं, तथापि गंगा की महिमा उन सबसे चढ़ी-चढ़ी है। गंगा की महिमा न तो गंगोत्तरी के कारण है, न हरिद्वार और प्रयाग पर अवलम्बित है, बल्कि हरिद्वार और प्रयाग की ख्याति गंगा के कारण है। गंगा की महिमा स्वयंसिद्ध है क्योंकि इसका जन्म और जीवन दोनों परार्थ हुए। जहाँ से गंगा का प्रवाह निकला और जहाँ से यह प्रयाण करती हुई, जिन-जिन स्थानों के समीप से आगे बढ़ी, उन-उन समी स्थानों को यह पवित्र करती गयी और उनका उपकार करती हुई समुद्र में जा गिरी। यही इसके उत्कृष्ट माहात्म्य का कारण है।

जमुना की महिमा भी है, पर वह विशेषतया इसलिए कि वह श्रीकृष्ण भगवान् का क्रीड़ा-क्षेत्र बन गयी थी। श्रीकृष्ण के जन्म के बाद जब वसुदेव जी बाल-कृष्ण को सिर पर टोकरी में रख कर नन्दबाबा के यहाँ गोकुल

छोड़ने गये, तभी से भगवान् का और जमुना का सम्पर्क शुरू होता है और यह सम्पर्क जब-तक श्रीकृष्ण मथुरा छोड़ कर द्वारका नहीं चले गये तब तक जारी रहा और हड़ बनता चला गया। प्राचीन और अर्वाचीन कवियों ने जब-जब श्रीकृष्ण का स्मरण किया, तब-तब उनके स्मृति-पट पर जमुना भी अपना पद-चिह्न छोड़ती चली गयी। दिल्ली की जमुना या आगरे की जमुना का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, क्योंकि वहाँ श्रीकृष्ण नहीं थे। महिमा है मथुरा या ब्रज की जमुना का, जहाँ श्रीकृष्ण ने अपने बालपराक्रम से अमुर-सृष्टि में तहलका मचा दिया और सन्तसृष्टि में आनन्द की लहर जगा दी।



शास्त्रों और पुराणों के अनुसार जमुना के तट पर कई महात्मा यज्ञ हुए। ध्रुव ने जमुना के तटवर्ती मधुवन में जा कर तप किया और ईश्वर का साक्षात्कार किया। मनु ने भी पुत्र कामना से जमुना के तट पर तप करके दस पुत्रों की प्राप्ति की। अम्बरिष ने जमुना तट पर तपव्रतों का साधन करके भगवान् की कृपा-सम्पादित की। इस तरह जमुना के तट पर यज्ञ और व्रतों के अनुष्ठानों की कोई कमी नहीं रही है। भारतवर्ष

में छोटे-मोटे सभी तीर्थों की गाथा इसीलिए गाई गयी है कि उन सभी पर व्रत और यज्ञों का अनुष्ठान होता रहा। पुष्कर राज की तो बात ही क्या! काशी की ज्ञानवापी का भी माहात्म्य है। जमुना का भी काफी माहात्म्य है, फिर भी हम इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि जमुना का विशेष माहात्म्य तो इसीलिए है कि उसकी एक-एक वृंद श्रीकृष्ण की क्रीड़ाओं से सुवासित है। श्रीकृष्ण को उसने साक्षात् देखा, जमुना पर भगवान् की छाया पड़ी और वह छाया अमिट रही।

जयदेव कवि ने 'धीर समीरे यमुना तीरे, वसति पने वनमाली' गाकर जब वनमाली को याद किया, तब साथ-साथ उसे जमुना का भी स्मरण हो आया। 'भरन जो गई जल, जमुना-तट, पनघट तट नागर को प्रगट दरस भयो' यहाँ भी नटनागर का प्रकट दरस जमुना के पनघट पर ही होता है। वंशीवट भी जमुना के तट पर था। जमुना और श्रीकृष्ण के इस घनिष्ठ सम्बन्ध की घटनाओं से सारा 'भागवत' भरा पड़ा है। जमुना के माहात्म्य का इस तरह श्रीकृष्ण के माहात्म्य से अनुबन्ध है, इसलिए जमुना ने भी अपनी सीमित मर्यादा का अनुभव करके अन्त में प्रयाग जा कर गंगा को आत्म-समर्पण कर दिया।

गंगा-जमुना के इस संगम की अत्यन्त महिमा है। संगम के कारण प्रयाग की ख्याति बढ़ गयी, पर इस संगम में जमुना सम्पूर्णतया विलीन हो गयी। आखिर गंगा-जमुना का संगम होने के बाद यह क्या जरूरी था कि गंगा ही रह जाय और जमुना विलीन हो जाय, पर यह निष्कर्ष निकलता है कि गंगा के महत्त्व के सामने जमुना का अस्तित्व ठहरना मुश्किल था। इसलिए जमुना का निर्णय सही था। दोनों का संगम हो कर जमुना-गंगा में से केवल एक गंगा ही रह गयी, जो गंगासागर तक गंगा ही रही।

जमुना की अपनी स्वतन्त्र महिमा न सही, पर श्रीकृष्ण का यह निकट सम्पर्क जमुना के लिए कोई कम लाभ नहीं था। यह एक दुर्लभ आशीर्वाद था, महापुरुषों का सम्पर्क उत्कृष्ट पुण्य का ही प्रताप होता है। राम के सम्पर्क से ही हनुमान् की पूजा हुई। हनुमान् की बड़ाई है कि वह राम के पायक के, इसलिए राम की महत्ता का अंश हनुमान् के हिस्से में भी आ गया।

अर्जुन की ख्याति भी यह है कि वह श्रीकृष्ण का सखा था। नर और नारायण ने बदरिकाश्रम में साथ-साथ तप किया था। नर तो अर्जुन के रूप में प्रकट हुआ और नारायण ने श्रीकृष्ण भगवान् का शरीर धारण किया। यदि अर्जुन न होता तो गीता न होती। गीता के जन्म का श्रेय श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों को है। महापुरुषों की संगत भी जीवन की एक अपूर्व घटना होती है। उसका फल भी महान् होता है। श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्बन्ध

ने एक महान् ग्रन्थ का उदय किया। 'दोषघा गोपाल-नन्दनः। पार्थो वत्सः' यह यथार्थ वाक्य है।

भगवान् और जमुना का सम्पर्क जमुना से लिए एक दुर्लभ संग्रह हुआ। इसके कारण जमुना का माहात्म्य बढ़ा, इसलिए जमुनोत्तरी की यात्रा का माहात्म्य इतना ही माना जाना चाहिए, जितना कि गंगोत्तरी का। यात्री उसी भक्ति-भाव और श्रद्धा से जमुनोत्तरी जाते हैं, जितने भक्ति-भाव से वे गंगोत्तरी जाते हैं। जमुना के स्रोत में स्नान करते हैं, फिर तसकुण्ड में स्नान करते हैं। जमुना मैया का दर्शन करते हैं और अपने को कृत-कृत्य मानते हैं। इस सारे भक्ति-भाव को महज भावुकता मानना असंगत होगा। वर्तमान काल में जब प्रजा अनेक संशयों से व्याकुल है, तब यह श्रद्धा बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करती है, यह श्रद्धा आत्म-बुद्धि के लिए, लोक-संग्रह के लिए वांछनीय है, शुभ है, मंगल है।

भक्ति-भावना और अंधश्रद्धा एक नहीं है। बुद्धि की एक सीमा होती है, उसके आगे जाने से बुद्धि इनकार करती है। जहाँ बुद्धि कुण्ठित होती है, वहाँ श्रद्धा का विकास शुरू होता है। उसे अंधश्रद्धा नहीं, पर विवेक कहना चाहिए। ईश्वर को हमने देखा नहीं, हम केवल अनुभव और श्रद्धा से ही उसका अनुभव करते हैं। इतिहास बताता है कि अच्छे का फल अच्छा होता है, बुरे का बुरा। यह क्यों होता है? इसे हम तर्क से सिद्ध नहीं कर सकते। केवल श्रद्धा के बल पर जानते हैं कि यह तथ्य सही है। इसी श्रद्धा के बल पर हम उपासना और प्रार्थना करते हैं और शान्ति का अनुभव करते हैं। श्रद्धा एक दैवी सन्मत्ता है। ईश्वर की कोई प्रतिमा नहीं है। ईश्वर का न तो आरम्भ है और न अन्त है। उस विश्वरूप की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। अनन्त की कल्पना कैसी? पर ज्ञान और श्रद्धा से हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। उपनिषद् बताता है :

ईशावास्यं इदं सर्वं यत्किञ्च जगत्स्यं जगत्।

अर्थात्, यह सारा संसार ईश्वर से व्याप्त है। इस आधार पर जमुना या गंगा या सारे तीर्थ ही क्या, सारा जगत् ईश्वर से आच्छादित है, इसलिए सारा जगत् ईश्वर-स्वरूप है। जब हम तीर्थ-यात्रा करते हैं, तब वहाँ

के शान्त वातावरण में तीर्थों का दर्शन करके प्रकारान्तर से हम ईश्वर का ही दर्शन करते हैं, जो अशान्त वातावरण में सम्भव नहीं। इसे भावना कहो या श्रद्धा कहो, इससे सत्य संशुद्धि होती है। बुद्धि को स्थिति और अन्तरात्मा को शान्ति मिलती है। इसलिए जिसे हम भावुकता मानते हैं, वह बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरणा देनेवाली एक शक्ति है, जो उपासनीय और कल्याणप्रद है। यह वेदान्त और विज्ञान दोनों को मान्य है। विज्ञान कहता है कि वेदान्त विज्ञान के दोनों मार्ग आगे चल कर एक होकर आपस में मिल जाते हैं। यह सर्वथा सत्य है।

जमुनोत्तरी का विकास और प्रवाह हिमालय से शुरू होता है, इसलिए हिमालय का विवेचन भी आवश्यक हो जाता है। हिमालय पर्वत संसार में सबसे अधिक ऊँचा, सबसे अधिक चौड़ा और सबसे अधिक लम्बा है। यह एक अद्वितीय पर्वत है। इसकी तुलना में इस भू-मण्डल का कोई पर्वत ठहर नहीं सकता, इसलिए इस पर्वत को पर्वत-राज कहना अयुक्त नहीं होगा।

इस विशाल पर्वत में से अनेक नद और नदियों का उद्गम हुआ है। इसके द्वारा हिमवान् पर्वत ने भारत को एक विशाल जलराशि देकर इस देश का और विशेषकर उत्तर और पूर्वी भारत का काफी उपकार किया है। कई नदियाँ तो पाकिस्तान में होती हुई समुद्र में गिरती हैं और बाकी कुछ बङ्गलादेश और भारत में विचरती हुई समुद्र में गिरती हैं।

जो-जो नदियाँ भारत में से गुजरी हैं, उन्होंने देश की अनेक प्रकार से सेवा की है। हिमालय ने जल तो दिया है, फसल के लिए, पीने के लिए, दोनों के लिए। वायु को भी स्वच्छता दी। यातायात के लिए जलमार्ग की सृष्टि की। वर्षा और मेघों की उत्पत्ति इन्हीं से हुई। इस विशाल जीवन-धूँटी का सही मूल्यांकन कठिन है। हिमगिरि का यह प्रचण्ड जल-प्रवाह यदि भारत को नहीं मिलता, तो यह देश रेगिस्तान बन जाता। मीषण अकाल, महामारियों और अनेक तरह की यन्त्रणाओं से रोग-ग्रस्त होकर विनाश की ओर चला जाता। यह स्थिति कल्पना-तीत नहीं है।

जैसे भारतवर्ष को हिमालय ने जीवन-दान दिया, उसी

तरह हिमालय के उस पार की नदियों ने जिन्होंने उत्तर की ओर यात्रा की, चीन की भी उतनी ही सेवा की है, जितनी कि इस ओर की नदियों ने हमारे देश की सेवा की है। चीन की 'यांगटि-सिक्यांग' और 'पीली नदी' का उद्गम भी हिमालय से है। 'मेकांग' हिमालय से निकल कर स्याम जाती है, तो 'साल्विन' बर्मा से गुजरती है। हिमालय की महिमा इससे भी जानी जाती है कि स्याम के राजा का राज्याभिषेक जिस मन्दिर में होता है; उसका नाम है कैलासगिरि। इस तरह हम इस निर्णय पर आते हैं कि हिमालय के इस विशाल उपकार से सारी-की-सारी पृथ्वी ऋणग्रस्त है।

इन बातों पर अधिक विचार करें और यदि इसके मूल इतिहास में गोता मारने का प्रयास करें, तो अतीत का एक अद्भुत चित्र हमारी आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। यह चित्र विलक्षण है। प्रज्ञा-चक्षुओं के सहारे हम इसकी अनुभूति कर सकते हैं।

महज कुतूहल के लिए यह जानना दिलचस्प होगा कि करोड़ों साल पहले ब्रह्मपुत्र बंगाल का खाड़ी में न गिर कर पश्चिम की ओर जाकर समुद्र में गिरता था। एक झोंका आया और पृथ्वी का नक्शा बदल गया। यह झोंका कहाँ से आया, क्यों आया, यह कोई नहीं बता सकता। जिस युग में यह झोंका आया, उस युग में न तो गंगा थी, न जमुना थी, इस झोंके ने ब्रह्मपुत्र का मार्ग बदल दिया और गंगा-जमुना को पैदाइश कर दी। यह प्रकृति की एक विलक्षण लीला है, जो विचार करने पर हमारे सामने ईश्वर के महान् प्रभुत्व का प्रमाण प्रस्तुत करती है। 'केसव कहि न जाइ का कहिए, देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए।'।

खैर, हमने आरम्भ तो हिमालय की महिमा से किया था, यह समझाने के लिए कि हिमालय ने पृथ्वी का कितना उपकार किया है और प्रकृति की अनन्त शक्ति कैसे एक पल में भारी परिवर्तन कर डालती है। पर इसके साथ-साथ यह भी प्रश्न उठता है कि हिमालय किसको कहे ?

पुराणों और प्राचीन संस्कृत काव्यों में हिमालय का काफी वर्णन आता है। ऋषियों ने हिमालय की जी भर कर गाथा गायी है, पर जो कुछ मसाला पुराणों से या

काव्यों से उपलब्ध है, उसके आधार पर हम हिमालय का सही मानचित्र नहीं खींच सकते, क्योंकि हमें कई उलझनों का सामना करना पड़ता है। पहला प्रश्न तो जैसा ऊपर कहा है, वह यह उठता है कि हिमालय कहाँ से शुरू होता है और इसका कहाँ अन्त होता है? हिमालय का जो हिस्सा पाकिस्तान में चला गया उसका आज से पचास साल के बाद क्या नामकरण होगा? हिन्दुकुश, पामीर, गिलगित आदि चोटियाँ हिमालय की ही शाखाएँ समझनी चाहिए, पर वहाँ के देशवासी इसे हिमालय नहीं मानते। चीन वालों के लिए भी उनकी दक्षिण दिशा का पर्वत, जो हमारे उत्तर में हिमालय नाम से प्रख्यात है, उनके लिए यही पर्वत किसी दूसरे ही नाम से प्रख्यात है। हमारे उत्तर के जो पर्वत हिमालय के अन्तर्गत हैं, वही उनकी दक्षिण दिशा में हैं, पर उनकी बोली में वे हिमालय नहीं हैं। हर देश का नामकरण बिल्कुल भिन्न है। उनका भी भिन्न है। इसलिए हिमालय कौन-सा है, कहाँ से चला, कहाँ समाप्त हुआ, यह शमेला जारी रहता है।

ब्रह्मपुत्र का उद्गम भी भारत में नहीं, चीन या तिब्बत में होता है। उसका नाम उनके यहाँ मेघाङ्गु साङ्गपो है, पर जहाँ यह नद भारतीय सीमा में घुसा कि वह ब्रह्मपुत्र बन गया। ये सब उलझनें सही भूगोल बनाने में बनी ही रहेंगी।

हिमालय का सीधा-सादा अर्थ है, 'हिम या बर्फ का घर' पर उसकी निश्चित सीमा अभी तक सर्वसम्मति से निर्धारित नहीं हुई। हर देश अपनी सहूलियत के साथ अपने पर्वतों और नद-नदियों का नामकरण करता है और सीमा भी अलग ही मानता है। इसका एकीकरण असम्भव है।

इसलिए हमारे लिए तो हिमालय वही पर्वत है, जो भारत के सारे-के-सारे उत्तर में एक विशाल दृढ़ दीवार की तरह खड़ा है, जिसने इस देश को पानी देकर जीवन-दान दिया, जिसकी ख्याति प्राचीन पुराणों और काव्यों में मरी पड़ी है, जो भू-मण्डल पर सबसे बड़ा पर्वत और जिसे कृष्ण भगवान् ने 'स्थावराणां हिमालयः' कह कर उसे अपनी ही प्रतिमा कहा।

जिस हिमालय का पुराणों में वर्णन है, उसका अध्ययन हमारी सारी-की-सारी ज्ञान-पिपासा को तो शान्त नहीं करेगा। अतीत की तह में वास्तविकता इतने गहरे छिपी पड़ी है कि लाख अनुसन्धान करें तो भी सत्य छिपा ही रहेगा, क्योंकि भूगोल भी बदलता रहा है। हिमालय की भी लाखों वर्षों में अदल-बदल हुई है, इसलिए कौन से मानचित्र को हम स्थायी मान कर स्वीकार करें? तो भी पुराणों का हिमालय वर्णन पढ़ना और समझना रुचिकर और मनोरञ्जक है।

(घोष अगले अंक में)

कल का क्या भरोसा !

बगदाद के एक खलीफा ने अपना वेतन भी निश्चित कर रखा था। राजकार्य तथा प्रजा की सेवा के बदले वे राज्य के कोष से प्रतिदिन संख्या के समय तीन दिरम ले लिया करते थे। यद्यपि अन्य-कर्मचारियों का वेतन खलीफा के वेतन से अधिक था तथापि खलीफा अपने लिए इतना धन ही पर्याप्त मानते थे।

एक बार खलीफा की बेगम ने उनसे प्रार्थना की—“आप मुझे तीन दिन का वेतन अग्रिम दे दें जिसमें मैं बच्चों के लिये ईद पर नये वस्त्र सिलवा सकूँ।”

खलीफा बोले—“यदि मैं तीन दिन जिन्दा न रहूँ तो यह कर्ज कौन चुकायेगा? तुम खुदा से मेरी जिन्दगी का पट्टा ला दो तो मैं तीन दिन का अग्रिम वेतन खजाने से ले लूँ।”

बेगम क्या कहती! अपने कर्तव्यनिष्ठ स्वामी की सावधानी उन्हें भी बहुत सच्ची और उचित मालूम पड़ी।

आरोप साधन

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

साधनाएँ बहुत प्रकार की हैं एवं साधक के अधिकार के अनुसार प्रत्येक साधना की सार्थकता है। साधक में जैसी योग्यता का तारतम्य रहता है तदनुसार वैसा ही साधना के फल में भी तारतम्य होता है। जो लोग साधना के इतिहास का अनुशीलन करते हैं वे तटस्थ दृष्टि से तारतम्य का अनुभव कर सकते हैं। किन्तु साधक स्वयं तटस्थ दृष्टि का अवलम्बन नहीं कर सकता, इसलिए उक्त तारतम्य का ग्रहण करना उसके लिए असम्भव है। अमि-रुचि और सामर्थ्य के विकास के अनुसार जो साधक जिस मार्ग का अवलम्बन कर साधन-पथ का पथिक होता है उसको उस समय उस पथ का लक्ष्य ही साधना की चरम सिद्धि के रूप में प्रतीत होता है। अन्य मार्गों के साथ तुलना कर तारतम्य का विचार करने की सामर्थ्य उसमें नहीं रहती। यही साधारण नियम है और यह स्वामाविक भी है। फिर भी विशेष परिस्थितियों में इस नियम का व्यभिचार भी न दिखायी देता हो सो बात नहीं है।



मैं प्रस्तुत निबन्ध में आरोप साधन के सम्बन्ध में कतिपय बातें कहना चाहता हूँ। मैं जो कहूँगा वह यद्यपि किसी विशिष्ट धारा का अवलम्बन करके ही कहूँगा तथापि उसमें जो गम्भीर तत्त्व निहित है वह अवस्थाविशेष में अन्यान्य साधन पद्धतियों से भी आंशिक रूप में लक्षित हो सकता है। आरोप साधन योगियों के समाज में भी अत्यन्त गुप्त साधन माना जाता है। भाग्यवान् भक्तों के सिवा और कोई उसका रहस्य नहीं जानते हैं। प्रचलित अधिकांश साधन आत्म-साक्षात्कार के उद्देश्य से किये जाते हैं। आत्मसाक्षात्कार होते ही सिद्धि प्राप्त हुई यह समझ कर आगे के मार्ग में फिर कोई अग्रसर नहीं होता।

यह आत्मसाक्षात्कार आरम्भिक आत्मसाक्षात्कार है, पूर्ण आत्मसाक्षात्कार नहीं है। प्रकृति से पृथक् आत्मा का दर्शन कराना ही प्रारम्भिक आत्मसाक्षात्कार का उद्देश्य है। यह प्रारम्भिक आत्मसाक्षात्कार जब तक नहीं होता तब तक आरोप साधन का श्रोगणेश ही नहीं होता। आरोप साधन से जो पूर्ण आत्म-साक्षात्कार प्राप्त होता है वह अद्वैत आत्मस्वरूप में अवस्थिति है। वह बहुत दूर का आदर्श है। किन्तु प्राथमिक आत्मसाक्षात्कार भी साधन-

पथ में अत्यन्त उच्च अवस्था को सूचित करता है। अस्तु, आरोप साधन के वैशिष्ट्य का इससे कुछ-कुछ अनुमान हो सकता है।

दीक्षा के समय गुरु शिष्य के दाहिने कान में इष्ट मन्त्र का प्रदान करते हैं, यह सब पर विदित है। वस्तुतः गुरु साधारण व्यक्ति के समान शिष्य को बाहर से कोई शब्द सुना देते हैं यह बात नहीं है। वे दीक्षा के समय अन्तःकरण में प्रविष्ट हो कर अन्तर्यामी के रूप में शब्द ब्रह्ममय ज्ञान देते हैं। इसीलिए दीक्षा देनेवाले गुरु

का ज्ञानदाता के रूप से शास्त्रकारों ने उल्लेख किया है। वह ज्ञान परोक्ष ज्ञान है, क्योंकि वह शब्द से निकला है।

ज्ञान दो प्रकार का है। एक शब्दज (अर्थात् उपदेश वाणी से शिष्य के हृदय में परोक्षरूप से उत्पन्न) ज्ञान है। उसे आगमोक्त अथवा आगमजन्य ज्ञान कहते हैं। कुछ लोग उसे औपदेशिक ज्ञान भी कहते हैं। द्वितीय प्रकार का ज्ञान शब्द से उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् गुरु-वाक्य से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु शिष्य के विवेक से अपने आप उत्पन्न होता है। उसे विवेकज ज्ञान कहते हैं—प्रातिभ ज्ञान भी उसका नामान्तर है। वह अनौपदेशिक ज्ञान है।

वह दूसरे के मुख से निकली हुई वाणी से उत्पन्न नहीं होता। वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। सद्गुरु की विशेष कृपा का उदय हुए बिना वह दूसरे प्रकार का ज्ञान आविर्भूत नहीं होता है। वस्तुतः वह ज्ञान ही तारक ज्ञान है। उसका कुछ भी अविषय नहीं रहता है। उसमें एक ही क्षण में अतीत, अनागत और वर्तमान सब पदार्थों का सब प्रकार का ज्ञान विद्यमान है। उस ज्ञान में क्रम नहीं रहता, देश अथवा काल के व्यवधान का प्रश्न नहीं रहता। सर्वज्ञान उसीका नामान्तर है। गुरु के मुख से विनिर्मृत उपदेश वाणी से उस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। उक्त महाज्ञान के सञ्चार के समय सद्गुरु बाहर से किसी वाक्य का प्रयोग नहीं करते हैं, किन्तु मौनी रहते हैं और उसका ऐसा प्रभाव होता है कि उससे सम्पूर्ण संशयों का उच्छेद हो जाने के कारण सब कर्मबन्धन क्षीण हो जाते हैं एवं हृदय के मर्म में स्थित सब ग्रन्थियाँ कट जाती हैं : 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यस्तु छिन्नसंशयः।'।

परीक्षज्ञान प्राप्ति के अनन्तर साधक के चित्त में जब तक इष्ट साक्षात्कार के लिए व्याकुलता उत्पन्न नहीं होती तब तक सद्गुरु की कृपा का उदय नहीं होता एवं उपर्युक्त ज्ञान का आविर्भाव भी नहीं हो सकता है। कठोर तपस्या, कुछ साधन, अभाव की पीड़ा, कलङ्क, आधि और व्याधि तथा विविध प्रकार की परीक्षाओं का उल्लङ्घन यदि न किया जा सके तो प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए उत्कृष्ट अमिलाषा पैदा नहीं होती है। गुरु की मङ्गलमय इच्छा से साधक को अवस्थाओं के बहुत प्रकार के उलट फेरों के मध्य में अग्रसर होना पड़ता है। कुछ लोगों ने इन सब अवस्थाओं की प्रारम्भ के फलमोग के रूप में व्याख्या की है। बहुत प्रकार के प्रलोभन तथा परीक्षाओं से साधक का चित्त यथायं सत्य के अन्वेषण के मार्ग में जागरूक रहता है। बहुत साधकों के विश्वास और धैर्य की परीक्षा इसी समय होती है। जिसके चित्त में जिस अंश में दुर्बलता होती है, उसकी उसी अंश में साधारणतः परीक्षा होती है। पाश्चात्य भक्त (mystic) लोगों के वर्णन के अनुसार उक्त समय Dark night of the soul कि बहुता Dark night of the spirit भी कही जा सकती है। यह सचमुच गहरी अमावस्या की रात्रि के समान अन्धकारमय और

आतङ्कप्रद है। प्रबल उत्कण्ठा, गुरु के आदेश के अनुसार यथाशक्ति साधन की चेष्टा, नैतिक जीवन के महान् आदर्श को अधुण रखना एवं अत्यन्त प्रतिकूल अवस्था में भी धैर्य और सह्यशीलता द्वारा अपने चित्त को संयत और स्थिर रखने की चेष्टा करना एवं सर्वोपरि अवस्थामावी गुरु कृपा के ऊपर अटल श्रद्धा रख कर उसके लिए एकाग्र मन से प्रतीक्षा करना—ये ही उस समय के एकमात्र कर्तव्य हैं। उस अवस्था में अतर्कित रूप से सद्गुरु की महती कृपा प्रकट होती है एवं साधक के अन्धकारावृत हृदय में शान्ति और आनन्दमय चैतन्य की उज्ज्वल ज्योति का स्रोत फूट उठता है। अत्यन्त उत्तापमय ग्रीष्म ऋतु के अन्त में नव वर्षा का आरम्भ होने पर जैसे ताप से झुलसा हुआ जीवजगत् उत्फुल्ल हो जाता है ठीक वैसे ही दीर्घकाल के अवसाद और निराशा के अनन्तर गुरुकृपा का आविर्भाव होने पर साधक का चित्त भी सब प्रकार के संशय और चञ्चलताओं से मुक्त हो कर एक शान्त और स्थिर आनन्द में स्थित होता है। इस अवस्था का नाम प्रत्यक्ष ज्ञान का उदय है, जिस ज्ञान में सन्देह अथवा विकल्प के लिए स्थान नहीं रहता है। सूर्य का उदय होने पर अन्धकार-राशि जैसे सूर्य-किरणों से छिन्न-भिन्न हो कर दूर भाग जाती है, वैसे ही अपरोक्ष ज्ञान का उदय होने पर चित्त में स्थित अनादि काल से सञ्चित कूड़ा-करकट का ढेर एक क्षण में विलीन हो जाता है। शब्द-ब्रह्म से शब्दातीत परब्रह्म का बोध इसी प्रकार से होता है।

वह परब्रह्मरूपी आत्मा अथवा साक्षी निर्मल चैतन्य-स्वरूप है। वह मनुष्य के शरीर में और विश्व में सर्वत्र असङ्गरूप से व्याप्त है। देश, काल और आकृति का बन्धन उसमें नहीं है। इसलिए सर्वत्र, सदा और सब आकारों में वह समान रूप से विराजमान रहता है। किन्तु ऐसा ही अद्भुत रहस्य है कि वह सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी सद्गुरु की कृपा के बिना किसी के भी दृष्टि-गोचर नहीं होता है। एक लोहे के टुकड़े को अङ्गीठी में डालकर बहुत देर बाद अङ्गीठी से निकालने के अनन्तर जो अग्निमय लोहपिण्ड दिखाई देता है उस एक में ही जैसे अग्नि भी रहती है और लोहा भी रहता है, दोनों

ही परस्पर मिले हुए विद्यमान रहते हैं वैसे ही एक ही आधार में देह और आत्मा दोनों ही वर्तमान रहते हैं, किन्तु अपृथक् रूप से अथवा मिश्रित रूप से, क्योंकि देह से आत्मा अथवा आत्मा से देह पृथक् करके गृहीत नहीं होता। एकमात्र गुरु द्वारा उपदिष्ट कर्म-कोशल से उक्त आत्मरूप वस्तु देह से अथवा प्रकृति के अंश से पृथक् दिखाई देती है। यही विवेक ज्ञान का उदय है, जो एक प्रकार से आत्मदर्शन के नाम से साधक-समाज में विदित है। सर्वदा, सब जगह, समभाव से जो विद्यमान रहता है यह उसी का साक्षात्कार है। इसी का नाम ज्ञानचक्षु का उन्मीलन है। उस समय दीक्षाकाल में प्राप्त परोक्ष ज्ञान साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान में परिणत हो जाता है। आरोप साधक योगिगण उस साक्षिस्वरूप चिन्मय सत्ता को अपनी सरल भाषा में 'वर्तमान' कहते हैं। यह वर्तमान वास्तव में निराकार और साकार दोनों सत्ताओं की समन्वय भूमि है। गीता में उक्त उत्तम पुरुष में अथवा परमात्मा में जैसे क्षर और अक्षर दोनों सत्ताओं का समन्वय प्रदर्शित हुआ है वैसे ही इस नित्य वर्तमान में

निराकार और साकार दोनों ही सत्ताएँ विराजमान हैं। इसीलिए आरोप साधक कहते हैं—

साक्षिभूत वर्तमान खड़ा है साक्षात् रूप में।
निराकार और साकार ये दोनों देखो उसमें ॥

उस वर्तमान के आविर्भाव के साथ-साथ ज्ञान का काम समाप्त हो जाता है, क्योंकि वह वर्तमान ही ज्ञेय अर्थात् ज्ञान का विषय है और उसको अभिव्यक्त करना ही ज्ञान का उद्देश्य है। कर्म जैसे ज्ञान का उदय होने से सार्थक होता है, वैसे ही ज्ञान भी ज्ञेय के आविर्भूत होने पर सार्थक होता है। ज्ञेय ही इष्ट है, इसलिए कर्म और ज्ञान के प्रभाव से इष्ट का आविर्भाव होने पर साधक दोनों के अतीत एक नूतन उन्नत स्तर में प्रवेश करता है। जो साधक इसी जगह निवृत्त हो जाते हैं उनके लिए आगे की अवस्थाओं की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस अवस्था में आत्मदर्शन होने पर भी वह पूर्ण आत्मदर्शन नहीं है, एवं इस अवस्था में स्थित अखण्ड आत्मरूप में स्थिति नहीं है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

अंतर्वेदना

एक दिन महावीर स्वामी कहीं जा रहे थे। उनके साथ एक सेवक भी था।

जब वे एक विशाल भवन के सामने से गुजर रहे थे, तभी उन्हें एक भयंकर चीत्कार सुनाई पड़ी। उन्होंने अपने सेवक से इसका पता लगाने को कहा।

कुछ देर बाद लौटकर उसने बताया कि एक आदमी, दूसरे को पीट रहा है।

महावीर स्वामी ने तत्काल पूछा—“क्यों पीट रहा है?”

“इसलिए कि पीटने वाला मालिक और पीटने वाला उसका नौकर है” सेवक ने उत्तर दिया।

“अच्छा !” स्वामी जी ने आश्चर्य से पूछा—“क्या इस राज्य में किसी को मालिक बनने और नौकर बनाने का अधिकार है?”

“राजकुमार जी ! इतना ही-नहीं, मालिक को नौकर खरीदने और बेचने का भी पूरा अधिकार है।”

महावीर जी सोचने लगे “ऐसा राज्य और समाज किस काम का, जहाँ एक मालिक हो और दूसरा दास। ऐसा विधान किस काम का, जहाँ एक व्यक्ति दूसरे के साथ अन्याय, अत्याचार, दुर्व्यवहार करे।”

इस घटना का उनके मन-मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा और समय आने पर एक दिन घर-बार तथा राज-पाट त्याग कर कठोर साधना के मार्ग पर चल पड़े।

राम की खोज

डा० लक्ष्मीनारायण लाल

राम की खोज की बात चली तो मन उदास हो गया। राम की खोज! आज इतने अस्त-व्यस्त जीवन में कौन उस राम को खोजे। वह राम, जो अपने मन में, आचरण में, चरित्र में छिपा है। राम माने राम भाव-जो सबका अपना-अपना है। साधारण मनुष्य का राम, दुखिया का राम, सुखिया का राम, राजा और सन्त का राम, पापी अपराधी का राम। राम, जिसके साथ काम करे, खाये, घूमे, जीवन-आचरण करे, जीवन जिये, जिस भाव के साथ रहे वही अपना राम है।

रामावतार कलियुग में सम्भव है

वही राम न जाने कैसे-कहाँ हमसे खो गया। तुलसी के साथ हम उसी राम की खोज में चलते हैं। खोज में निकलते ही हम देखते हैं कि और लोग भी उसी राम की खोज में निकलते हैं—तो क्या राम कलियुग में—आज उन्नीस सौ बयासी में भी मिल सकते हैं? कहा तो यह जाता है कि भगवान् एक कल्प में अवतार लेते हैं। भाई, वह राम तो त्रेता युग में मिलेंगे। अभी तो कलियुग है। इसके

बाद सत्ययुग, फिर कहीं त्रेता। फिर कहाँ मिलेगा राम? पर मानस में तुलसी रास्ता बताते हैं और भाई, कल्प तो एक भाव है। कर्म आप किस अनुभूति और भाव से करते हैं। हाँ, हमारे अन्तःकरण की जो कला है—वही है जीवन क्षण-जहाँ राम से भेंट होगी। कला मात्र पंचांग नहीं, मन का उत्थान और पतन है।

तो राम की खोज में हम चलते हैं। वह किस जगह हैं? किस ब्रह्माण्ड में हैं? एक ब्रह्माण्ड तो भौगोलिक है। दूसरा ब्रह्माण्ड प्रत्येक व्यक्ति का जीवन है—



शरीर है—मन है। उसी व्यक्ति ने जीवन में राम की खोज की है तुलसी ने। जय-विजय का जीवन ऐसा अहंकार-पूर्ण है कि उन्होंने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार जैसे ऋषियों को भी भगवान् के धाम में जाने से रोका। वही ऋषि शाप से रावण और कुम्भकर्ण बने।

फिर जीवन कथा आती है शंकर जी के दो गणों की, जो नारद की बन्दर-मुखाकृति पर हँस रहे थे और वे फलतः रावण-कुम्भकर्ण बने। मानुप्रताप राजा की जीवन कथा। बड़ा धार्मिक राजा था। पर उसने एक बार

प्रजा को ऐसा भोजन कराना चाहा कि उसमें मांस मिला हुआ था। उसे शाप मिला कि जा तू रावण हो जा।

अवतार ईश्वर की इच्छा से नहीं, मनुष्य की पुकार पर होता है। यह सोचकर कि अभी तो कलियुग है, राम का अवतार समय आने पर स्वयं होगा, हमें हाथ पर हाथ रखे बैठे नहीं रहना है।

कृत, त्रेता आदि युग मन की अवस्थाएँ हैं, जिस युग में राम की खोज होगी वहीं से त्रेता आरम्भ हो

जाता है।

इन कथाओं का मतलब यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में अपने-अपने ढङ्ग का एक रावण होता है—कहीं अहङ्कार, कहीं लोभ, कहीं वासना, कहीं घृणा के रूप में। तो अब रास्ता मिल गया। अगर हम अपने जीवन में अपने रावण को पहचान जायें तो हम निर्णय कर सकते हैं कि हमें किस राम की तलाश है—आवश्यकता है। जैसे अनगिनत रूप में रावण और कुम्भकर्ण हैं, वैसे असंख्य रूपों में राम भी हमारे इन्तजार

में हैं—जरा बढ़कर देखिये तो सही। मतलब कर्म में उतरकर स्वयं को देखिये और जागिये।

अवतार स्वयं नहीं हमारी माँग पर

कथा कहकर बताते हैं तुलसी कि एक कल्प में कश्यप और अदिति दशरथ और कौसल्या बने। दूसरे कल्प में मनु और शतरूपा दशरथ और कौसल्या हुए। मतलब राम तो किसी के घर, किसी के जीवन में मिलने को तैयार हैं—चाहे वह राजा हो, चाहे ऋषि, चाहे कोई घर-गृहस्थी वाला सामान्य व्यक्ति। राम तो भाव पुरुष हैं। चुनाव करने वाले, उन्हें अपने जीवन में अवतरण कराने वाले तो हम ही हैं।

राम एक सम्पूर्ण अच्छाई का नाम है, जैसे रावण एक बुराई का नाम। बुराई में सम्पूर्णता की जरूरत नहीं है। पर अच्छाई में सम्पूर्णता-समग्रता अनिवार्य है। या यों कह लीजिये कि वेईमानी के लिए मात्रा का कोई बन्धन नहीं है, पर ईमानदारी-अच्छाई के लिए वह शर्त अनिवार्य है। मतलब सत्य को, सुन्दर को, शिव को पूरा सत्य-सुन्दर होना ही होगा। पर असत्य के लिए, असुन्दर के लिए ऐसी कोई शर्त नहीं है।

राजा प्रतापमानु रावण बन गया। वह तो सत्यकेतु का पुत्र था और उसका पतन कालकेतु के कारण हुआ। सत्यकेतु और कालकेतु यही जीवन के दो विरोधी पक्ष क्रमशः राम और रावण हैं। सत्यकेतु वह है जिसमें धैर्य है, मर्यादा है, अपने जीवन का कोई दृढ़ उसूल है—भाव है—चरित्र है, कोई अपनी आस्था है। पर कालकेतु वह है जो अवसरवादी है, आस्थाहीन है। सत्यकेतु माने सत्य का क्षण्ड। कालकेतु माने अवसर के अनुकूल क्षण्ड।

दुःस्वप्न

राजा अमोघभूति ने एक रात भयंकर दुःस्वप्न देखा कि, राजप्रासाद को शत्रुओं ने घेर लिया है! भय और आवेश में विक्षिप्त, वे खड्ग उठाकर बाहर लपके। देखा, उनके ठीक सम्मुख एक क्रोधोन्मत्त खड्गहस्त व्यक्ति बढ़ा चला आ रहा है। उन्होंने तत्काल प्रहार किया। किन्तु यह क्या? वह तो दीवार का शीशा था, अट्टहास के स्वर में मानों उनका परिहास करते हुए चूर-चूर हो गया था।

स्वप्न ही नहीं भंग हुआ, राजा के प्रज्ञाचक्षु भी खुल गये—क्या मनुष्य का भौतिक जीवन भी इसी प्रकार के लक्ष-लक्ष भयंशका-प्रताड़ित दुःस्वप्नों से व्रस्त नहीं है?

सत्यकेतु का बेटा प्रतापमानु—हम—भारतवासी—कालकेतु माने विदेशी ताकतों के सामने हार गये, काल के समक्ष सत्य पराजित हो गया। क्यों? कैसे?

इसी अन्धकार के भीतर राम की खोज है। इसी में से राम मिलेंगे। चलो अपने भीतर खोजें उस भाव को—वह भाव अभाव में क्यों बदल गया?

क्योंकि हम आकृष्ट हो गये रावण से। हम सिकुड़ गये आत्मरक्षा से। हम भागकर छिप गये और वहाँ से कर्म की जगह वकवास करने में लग गये—निर्गुण या सगुण, भक्ति या ज्ञान—नीच-ऊँच, छूत-अछूत। अपने सम्पूर्ण जीवन जीने के बजाय—उस जोखिम से भागकर हम निर्गुण और सगुण में उलझे रहे। अरे! राम तो समग्र सम्पूर्ण जीवन है—आधा अधूरा नहीं—पूरा दाशरथी। आदमी जो खोजता है, वही पाता है राम को। निर्गुण के रूप में जो अव्यक्त राम था। खोया हुआ, वही सगुण राम के रूप में सामने आ गया।

निर्गुण राम जीवन फल का एक बीज है और सगुण राम उसी बीज का पूरा फल—कर्म कीजिए पूरी ईमानदारी से, न्याय के साथ तो फल मिलेगा ही। गुठली में केवल बीज है पर फल में रस है, सुगन्धि है, रूप है—क्या नहीं है उसमें। वही है राम।

राम, केवल रामलीला नहीं है। राम चरित्र है। उसी राम-चरित्र को हम नहीं देख पाये, नहीं जी पाये अपने जीवन में, तभी काग भुशुण्डि की तरह हम हिन्दू लोग मागे। पर देखो—आज भी, अब भी देखो—राम की भुजा हमें पकड़ने के लिए बढ़ रही है। राम को नहीं खोजोगे अपने जीवन में, तो रावण खड़ा है दरवाजे पर।

लोक-देवता श्रीहनुमान्

श्री कुबेरनाथ राय

[रामचन्द्र 'चिन्मय' भारत (वेदान्त) के प्रतीक हैं तो हनुमान् 'शाश्वत' (प्रवाहशील 'इतिहास') भारत के । ऐतिहासिक (या अर्धऐतिहासिक) पुरुष राम पर वैदिक देवता विष्णु का आरोपण हो गया तो उनकी सहयोगी वानर संस्कृति के एक नायक पर लोकदेवता किसी आदिम 'महावीर' का । हनुमत्-उपासना इस दृष्टि से भारत की लोकायत उपासना का प्रस्थान-बिन्दु है और वैष्णव साधना से जुड़कर वह चरम बिन्दु तक अविच्छिन्नरूप में विकसित होती गयी है । इस हनुमत् उपासना की जड़ें हमारी संस्कृति के पाताल में निहित हैं और इसका अपने आदिमरूप में प्रारम्भ भारत के 'गुहामानव' की कल्पना में होता है । यही कारण है कि हनुमत् उपासना लोक और वेद का बल लेकर आज इतनी व्यापक हो सकी है । यह निबन्ध लेखक की अप्रकाशित पुस्तक 'श्रोता का वृहत्साम' से लिया गया है । —सम्पादक]

मुझे लगता है कि हनुमान् चण्डिका और गणपति की तरह आदिम भारत के देवता हैं । यह बात पहले ही कही जा चुकी है । हो सकता है उनका नाम तब 'हनुमान्' न रहा हो । परन्तु राम कथा के एक वानर वीर के साथ जिसकी लोक-प्रचलित संज्ञा हनुमान् है उस आदिम हनुमान् का समन्वय और समीकरण हो गया है तथा आदि हनुमान् के देवी, अर्ध देवी गुणों का समहार करके उस चरित को विशिष्टतर किया गया है । यह 'आदि हनुमत्' आर्यों के इन्द्र, विष्णु, सोम, रुद्र के पूर्व ही किन्हीं-किन्हीं दाक्षिणात्य और मध्य भारतीय लोक-समूहों में आराध्य रहे हैं महायक्ष या 'महावीर' देवता के रूप में ।

आदिम धर्म साधना भयाश्रित थी और प्रेतपूजा तथा जड़ (शिलावृक्षादि) पूजा थी । प्रेत से हमारा तात्पर्य वीर, यक्ष, अप्सरा आदि समस्त उपदेवता-मण्डल से है । आज भी हनुमत् उपासना का स्वरूप बहुत कुछ 'चैत्य या बरमथान' की उपासना से मिलता-जुलता है । खड़ाऊँ, लंगोट, यज्ञोपवीत और ध्वजा का अर्पण, लड्डू का प्रसाद ही नहीं, उनके अंगों में तेल और सिन्दूर का पुता जाना आदि

आदिम लोकायत उपासना पद्धति का संकेत करते हैं । गणपति चैत्य और चण्डी चैत्यों में भी सिन्दूर का प्रलेप होता है । यों आज हनुमत्, चण्डी, गणपति की उपासना में षोडशोपचार, पञ्चोपचार, हवन आदि भी आ गये हैं । परन्तु यह उत्तरकालीन विकास है । मूल रूप लौकिक पद्धति में ही सुरक्षित है । वाल्मीकि भी स्वीकार करते हैं कि हनुमत् जन्म रामावतार से बहुत पूर्व हुआ है । शिव-पुराण इन्हें महेश्वर का एक संस्करण बताकर उस ऐतिहासिक पद्धति की ओर इशारा करता है जिसके अन्दर प्राचीन लोकधर्म के यक्षथानों और वीरथानों में बहुत से



शैव पीठों में बदल गये । उनका लांछन है मुद्गर और शिलाखण्ड । ये गुहामानव के हथियार हैं । उनकी देह पर लंगोट ही एकमात्र वस्त्र सज्जा है । यह भी संकेतपूर्ण है । राम यदि ऐतिहासिक पुरुष हों, तो राम के सहयोगी, सुग्रीव, अंगद, हनुमान् आदि भी ऐतिहासिक हैं । परन्तु उनकी आकृति और क्रियाकलापों पर 'आदि हनुमान्' का आरोपण वैसे ही सत्य है जैसे ऐतिहासिक राम पर विष्णुत्व

का आरोपण। उनकी आकृति भी 'वृषाकपि' आधा मनुष्य (वृष = पुरुष) आधा पशु (कपि) है। वृषाकपि आकृति वाले देवता प्राचीनतर उपासना पद्धति के अवशेष हैं। संयुक्त देवताओं की कल्पना आर्यों में भी थी। 'मित्रावरुण' ऐसे ही संयुक्त देवता हैं। 'वृषाकपि' शब्द सूर्य, विष्णु, रुद्र के लिए भी आया है। सूर्य के उदयपूर्व ऊषाकाल के रूपों में एक रूप 'वृषाकपायी' भी है क्योंकि वह अन्धकार और प्रकाश का रूप है। मित्रावरुणरूप भी 'वृषायुक्त कपि' है। मित्र (सूर्य = प्रकाश) वरुण (असुर = तमस्), अथवा मित्र (प्रकाश) वरुण (जल) का मुख्य रूप होने के कारण। परन्तु इन युक्तरूपों की कल्पना चेतना की आदिम अवस्था की द्योतक है। उनके जन्म की कथा भी उनकी आदिमता का प्रमाण है। Robert Graves ने ग्रीक मिथों के अध्ययन से यह उपलब्ध किया था कि आदिम संस्कृति नारी-प्रधान थी और 'जन्म' तथा 'गर्भाधान' का रहस्य पूर्णतः ज्ञात नहीं था और इसे नारी की 'दिव्य शक्ति' का प्रतीक मानकर ग्रहण किया जाता था। आदिम युग में इसीसे मरुत या हवा के द्वारा या जल के द्वारा या विशिष्ट वस्तुओं के स्पर्श द्वारा गर्भाधान के सम्बन्ध में अविश्वास फैला हुआ था। हनुमत् जन्म कथा में इसी लोक विश्वास का प्रयोग हुआ है और अञ्जना एक नारी सत्ताप्रधान समाज से आती है। यहाँ तक कि पूर्णतः पुरुषप्रधान समाज के महाकवि वाल्मीकि में भी यह संकेत विद्यमान है, जब वह कहती है "यह कौन है जो अपने 'एक पत्नीव्रत' को भंग कर रहा है?" इन सब बातों से पता चलता है कि आदि हनुमान् की मिथ मूलतः आदिम समाज की लोक-श्रुति है, और पुराणों में उसी का उपवृंहण एवं विस्तार हुआ है। 'आदि हनुमान्' जो आदिम भारत के लोकायत देवता हैं, रामकथा में लोकायत पथ से ही प्रविष्ट होते हैं।

रामकथा के एक विशेष पात्र को जो सुग्रीव-सखा और रामदूत भी हैं, देवी महत्त्व देने के लिए और लोक-प्रचलित हनुमान् की 'वीर-उपासना' की पद्धति को आत्मसात् कर लेने के लिए। रामकथा वैदिक सृष्टि-कथा का उपवृंहण है तो हनुमान-कथा लौकिक देव-कथा का। लोक और वेद दोनों का बल पाकर ही रामोपासना और हनुमदुपासना इतनी बलवती हो गयी है। केवल वेद का बल लेकर चलने वाली उपासना चल नहीं पायी, इन्द्र, प्रजापति आदि विस्मृत हो गये। विष्णु के अन्दर अवतारवाद तथा परवर्ती लोभ-विश्वासों की ऋद्धियाँ आ जुड़ीं। इसी से विष्णु, उपेन्द्र होते हुए भी, सर्व देवोपरि परमात्मा बन गये।

लोगों की धारणा है कि हनुमान् जी को जैन 'महावीर' के अनुकरण पर 'महावीर' कहा जाने लगा। परन्तु बात उलटी है। जैनो ने जिन तीर्थंकर वर्द्धमान को महत्ता देने के लिए 'महावीर' संज्ञा स्वयं लोकधर्म का बल आहरण करने के लिए बनायी है। तीर्थंकर महावीर जिस क्षेत्र में पैदा हुए थे उस मगध में वीरोपासना के अनेक अवशेष आज भी अन्तर्प्रान्तीय महत्त्व के 'वरमथानों' के रूप में प्राप्त हैं। काशी-मगध का अञ्चल 'वरम' और 'वीर' थानों से भरा हुआ है। वर्द्धमान की जीवन कथा में नाग देवताओं और यक्ष देवताओं का बार-बार उल्लेख आता है। 'यक्ष' ही कालान्तर के लोकधर्म में 'वीर' बन गये। कुछ का रूपान्तर शैव पीठों में भी हो गया। लोक-धर्म के बल को प्राप्त करने के लिए ही जैन तीर्थंकर तथा सनातनी हनुमान् को 'महावीर' की संज्ञा मिली है। दोनों का स्रोत है उत्तर भारतीय 'लोकधर्म'। उत्तर भारत में आर्य धर्म चालू होने के बहुत पूर्व से ही वीर पूजा और यक्ष पूजा चलती थी। यह 'वीर' शब्द अनाय माषा का

1. प्राचीन ईरान और मिस्र में भी अनेक देवताओं का रूप 'वृषाकपि' था। सुमेर-बेबीलोनीय महाकाव्य 'गिलगमेश' में 'वृषाकपि' चरित्रों का अस्तित्व है। 'Gilgamesh' धरती का सर्वाधिक प्राचीन महाकाव्य है जिसमें नायक अमृत-लता के अनुसंधान में पाताल में जाता है। इसका अन्त ट्रेजिक है। परन्तु कथा वैदिक सुपर्ण द्वारा सोम या अमृत के आनयन से कुछ मेल खाती है। इन समानताओं का अर्थ एक दूसरे से अधिग्रहण नहीं, बल्कि स्वामाविक समान-धर्मी कल्पनाओं का स्वतन्त्र एवं आत्मनिर्भर विस्तार मात्र है। 'विश्व के प्रत्येक मानवकुल में कुछ समान धर्मी सार्व-भौम प्रवृत्तियाँ हैं। अतः समानधर्मी उपलब्धियाँ सम्भव हैं।

है, जिसका अर्थ होता है 'शक्तिकर अपदेवता'। प्रेत से ऊपर तथा यक्ष, किन्नर; अम्बरा से नीचे का लोक देवता 'वीर' कहलाता है। असम-बङ्गाल में यही 'बिड़ा' (वीरा) कहलाता है। यह 'वीर' शब्द आर्य 'वीर' शब्द से मिलता है। आर्य भाषा में 'वीर' का अर्थ होता है साहसी या बहादुर। यह शब्द यूरोप में 'Wiros' के रूप में वर्तमान है और यह शब्द प्राचीन यूरोप में 'आर्य' शब्द का पर्याय है। नाडिक-आर्य अपने लिए 'Wiros' शब्द का ही प्रयोग करता था, 'आर्य' शब्द का नहीं। आर्य शब्द तो एशिया के आर्यों द्वारा प्रयुक्त है। १९ वीं शती के भाषा-वैज्ञानिकों ने इस शब्द को अन्तराष्ट्रीय महत्त्व दे दिया। कहने का तात्पर्य 'वीर' शब्द ध्वनि एक होते हुए भी आर्य एवं आर्येतर परम्पराओं में मिलन अर्थ रखता है। 'भूत' शब्द की भी यही गति है। आर्येतर अर्थ है 'प्रेत', आर्य अर्थ है 'द्रव्य'। हमारे उत्तर भारत की निम्न वैश्य और ब्रह्म जातियों में 'पञ्चपीर और साकरकुती' की एक लोकोपासना चलती है। यह 'पीर' भी मूलतः 'वीर' है और यह आदिम किरात-निषाद की 'पञ्चवीर-उपासना' का परिवर्तित रूप है। आदिम मानव ने 'क्षिति, जल, पावक, व्योम, मरुत' को पाँच प्रधान शक्तिधर अपदेवता (क्योंकि देवता की आइडिया ही उन दिनों 'अपदेवता' से अधिक नहीं थी) के रूप में देखा। ये ही पाँच मूल 'वीर' या 'भूत' माने गये। असम के बोड़ो कछारी आज भी बाँस की पाँच लकड़ियों को स्थापित करके पञ्चभूतों की उपा-

सना करते हैं। सांख्य दर्शन का मूल यह पञ्चभूत पूजा ही है। बोड़ोकछारी मानते हैं कि पञ्चभूतों के ऊपर स्थित है 'वा-थी' महादेव और अम्बिका। 'वा' (बाबा), 'थी' (थउ—थिउ—शिउ—शिव)। शिव की बात तो बाद में प्रधान हुई। आदिमकाल में अम्बिका ('मइना' या 'खामाबिशा'—'कामारका') ही प्रधान थी। वह पुरुष-अधीन नहीं थी, स्वतन्त्र थी, अतः 'शाश्वत कुमारिका' और भैरव (प्रेमी शिव) की योगिनी (प्रेमिका) थी। आदिम काल में उत्तर भारत के लोकधर्म में पञ्च वीरों (भूतों) और परमा प्रकृति की जो पूजा चलती थी, वही ऐतिहासिक दबाव से 'पञ्च पीर' और 'साकरकुती' की पूजा बन गयी। मुस्लिम सूफी सन्तों, साँइयों के प्रभाव से इस सूची में एक ही भारतीय नाम है 'समरधीर' (जो 'समीर' यानी 'वायु' का रूपान्तर है) शेष नाम शहाबुद्दीनगोरी, सैयद मसूद गाजी आदि मुस्लिम विजेताओं के आ गये हैं। पंजाबी में 'ब' का उच्चारण 'प' जैसा हो जाता है। अतः 'पञ्चपीर' निश्चय ही 'पञ्चवीर' हैं। पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस पूजा को अहीरों में ज्यादा प्रचलित देख कर कल्पित किया है कि यह भागवतों के चतुर्व्यूह (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध) के साथ साम्ब को जोड़कर भागवत लोकधर्म की 'पञ्चवीर उपासना' का अवशेष है। ऐसा भी सम्भव हो सकता है। परन्तु भागवतों ने स्वयं इसे आदिम निषाद-किरात की पञ्च 'भूत' (वीर) उपासना की नकल पर चलाया होगा। यह भी निश्चित समझिए।

१. पाँचों पीर के साथ 'साँकर कुती' भी है जिसका भागवतों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। यह 'साँकर कुती' अम्बिका ही है। परमाप्रकृति दुर्गा का एक नाम। 'साँकर' या सँकरी 'शाकम्भरी' का रूपान्तर है। अथवा 'गगरी' का 'गागर' की तरह 'सँकरी' का 'साँकर' बना। इसका अर्थ होता है 'संकटा' (गिरि-संकट कहते हैं पहाड़ी दर्रे को)। 'कुती' शब्द के बारे में मेरी धारणा थी कि मुसलिम साँइयों ने हिन्दुओं का राष्ट्रीय अपमान करने के लिए 'संकटा' या 'शाकम्भरी' के साथ 'कुतिया' शब्द जोड़ दिया है। पर बाद में मेरा भ्रम टूटा जब मैंने देखा कि आन्ध्र-भाषा में 'ककुती' शब्द है जिसका अर्थ होता है पार्वती या दुर्गा। 'ककुत' अर्थात् छोटी पहाड़ी। 'ककुती' अर्थात् पार्वती। संस्कृत में 'ककुद्' शब्द का अर्थ बैल या साँड़ के 'डोल' के लिए चलता है जो इसी स्रोत से आया होगा। 'डोल' और 'टीला' एक ही शब्द हैं। अतः साँकर कुती का अर्थ संकटा या शाकम्भरी दुर्गा ही है। भागवतों के साथ इसे जोड़ा जायगा तो इसका अर्थ होगा भागवत पञ्चव्यूह के साथ ब्रजमण्डल की कात्यायनी या विन्ध्यक्षेत्र की 'योगमाया' जो 'यशोदा गर्भ-सम्भवा' है। परन्तु यह भागवत पञ्चवीर तथा योगमाया की उपासना भी आदिम किरात-निषाद की 'पञ्चवीर' और परमाप्रकृति की उपासना की नकल ही है।

कहने का तात्पर्य यह कि 'वीर' पूजा के प्रबल लोकधर्म के सन्दर्भ में हो हनुमान वीर की संज्ञा 'महावीर' का ऐतिहासिक अर्थ खुलता है।

पार्जितर महोदय ने दिखाया है कि 'हनुमन्त' शब्द ही मूल शब्द है और यह 'वृषा कपि' शब्द का द्राविड़ संस्करण है। 'आण' शब्द का तामिल में अर्थ होता है वृषण (अण्डकोष)। 'आणु' का अर्थ होता है 'पुरुष'। 'मण्डी' शब्द तेलुगु में 'वानरी' के लिए आता है, उसका पुरुषरूप हुआ 'मण्ड'। मूल शब्द रहा होगा 'आणुमण्ड'। संस्कृत में आर्येतर नामों में यदि प्रथम स्वर वर्ण हो तो 'ह' जोड़कर ग्रहण करते हैं। जैसे 'इडुम्बी' का आन्ध्र-भाषा में अर्थ होता है 'गर्विली नारी'। इसी का संस्कृत रूप 'हिडुम्बी' ('हिडिम्बा' भीम की प्रेमिका) हो गया। वैसे ही 'आणुमण्ड' से 'हाणुमण्ड' फिर 'हनुमन्त' बना। परन्तु मुझे लगता है कि 'हनुमान्' ही मूल शब्द है। 'आणु' अर्थात् 'पुरुष' का 'हनु' तो ठीक है। 'मान्' है रूपान्तर 'माल' का। 'माल' का तमिल में अर्थ होता है नायक, वीर और विष्णु। 'आणुमाल' (पुरुष + वीर या नायक) अर्थात् 'वीर पुरुष' या 'सेनापति'। यही 'माल' उत्तर भारत में 'मल्ल' (नायक, वीर, पहलवान) रूप में विख्यात है। अतः 'आणुमाल' (वीर पुरुष, सेनापति या मल्ल) का परिवर्ती रूप है 'हाणुमाल' और फिर 'हनुमान्'। यह अर्थ ज्यादा सटीक लगता है और 'हनुमान्' के चरित्र से पूरा-पूरा मेल खा जाता है। हनुमान्-कथा आर्येतर लोक-संस्कृति से आयी है। अतः उनके नाम का अर्थ भी आर्येतर अर्थात् निषाद-द्रविड़ (Austro Dravidian) शब्दावली में ही ढूँढना ठीक है। प्रचलित अर्थ 'टेढ़ी ठुड़ी वाला', बहुत सटीक नहीं लगता। द्वीपान्तर की निषाद-मानखोर-संस्कृतियों में भी

'हल्लुमान' तथा 'हनुमोन' शब्द चलता है। 'मान' 'मोन्' 'मोइ' आदि शब्द 'मालव-निषाद' जातियों के लिए चलते हैं। यह भी संकेतपूर्ण है। वस्तुतः 'हनुमान्' और 'महावीर' शब्द अर्थ की दृष्टि से एक दूसरे के नजदीकी की हैं।

हनुमान् को ठीक से समझने का अर्थ है भारतीय इतिहास की विराट् और उदार चेतना तथा समन्वय-दृष्टि को समझना। वे एक महान् लोकदेवता ही नहीं हमारे आर्य-आर्येतर समन्वित जीवन के महाप्रतीक हैं। इस अर्थ में उन्हें ग्रहण करने पर गाँव की सिन्दूरलिपी हनुमत्-प्रतिमा भारतवर्ष का सनातन चेहरा बन जाती है। मैं तो हाथ जोड़कर कहता हूँ 'हे वजरंगवली ! तुम साक्षात् भारतवर्ष हो। यदि रामचन्द्र इस देश के 'चिन्मय' रूप 'वेदान्त' के प्रतीक हैं तो तुम इस देश के 'शाश्वत' रूप अविच्छिन्न भारतीय 'इतिहास' के प्रतीक हो। 'त्वं साक्षात् भारतोऽसि'। ऐसा दब-दबा वाला, ऐसे रोब-दाब वाला देवता तो सारे हिन्दुस्तान में और कोई नहीं। ये तो अशुतोष शिव से भी सरल चित्त हैं। यदि शिवजी कृपालु होकर सचमुच सामने प्रकट हो जायें तो उनके फुफकारते हुए सहचरों के कारण निकट जाकर उनका चरण स्पर्श करते समय मारे मय के टाँगें कँप जाएँगी और निवेदन करना पड़ेगा, 'प्रभु, अपने इन आभूषणों को कुछ देर के लिए दूर हटा दीजिए।' परन्तु वजरंग वली तो रन में, बन में सदैव साथ-साथ अमय की गदा लेकर चलने वाले देवता हैं और उनका चरणस्पर्श क्या, निर्भय होकर "उस्ताद-उस्ताद" कह कर उनके पाँव तक दबाये जा सकते हैं। अपने इतना नजदीक हो जाने वाला आशुतोष देवता और कौन है ?

निष्काम कर्मयोग

पं० प्रेमनारायण पाण्डेय

आधुनिक कर्मवाद के स्वरूप को निर्धारित करने वाले विद्वानों ने कहा है कि “कर्म मनुष्य को उन्नति का मूल है; कर्म से ही मनुष्य दुःख से छुटकारा पाकर मुक्ति प्राप्त करता है। अतः मनुष्य को निरन्तर कर्म में लगे रहना चाहिए।” आधुनिक कर्मवाद में कर्म की जो व्याख्या की गयी है उसके अनुसार यह भी स्पष्ट होता है कि यदि इस कर्म में निष्काम भाव भी जोड़ लिया जाय तो जगत्-कल्याण हो सकता है।

निष्काम कर्मयोग की चर्चा गीता में भी की गयी है। स्वयं भगवान् कृष्ण ने कहा है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

स संन्यासी च योगी न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

अर्थात् जो मनुष्य फल के आश्रय से रहित होकर कर्म करता है, फल की इच्छा बिल्कुल नहीं है, ऐसा पुरुष श्रेष्ठ माना जाता है। वह योगी है। किन्तु जिसने केवल स्वरूप से कर्मों का त्याग कर दिया है, वह न संन्यासी है न योगी। वास्तव में जिसके अन्तःकरण में उच्चकाटि का भाव है, जिसका अन्तर्मन निर्मल है, जिसके भीतर त्याग है, ज्ञान है, वह कर्मयोगी हो सकता है।

‘सकाम’ और ‘निष्काम’ में अन्तर

निष्काम कर्म क्या है और सकाम कर्म क्या है। इसके अन्तर को मली-भांति समझ लेना भी आवश्यक है। आप दूसरों की सेवा करते हुए यदि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा की इच्छा रखते हैं तो वह निष्काम कर्म नहीं है। यह सकाम भाव है। जिस कर्म के बदले कुछ चाहना हो वह कर्म कभी निष्काम कर्म नहीं हो सकता। यहाँ यह आवश्यक हो जाता है कि हम प्रत्येक कर्म के साथ यह विचार कर लें कि हम जो यह काम कर रहे हैं इसमें मेरी निज की कोई

कामना तो नहीं है, मेरी कोई आसक्ति तो नहीं है। जहाँ आसक्ति है, कामना है, वहाँ निष्कामभाव हो ही नहीं सकता। गीता में निष्काम कर्मयोगी का उल्लेख है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संग त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

अर्थात् निष्काम-कर्मयोगी केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से अनासक्त भाव से आत्मा की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। इससे अन्तःकरण शुद्ध होने पर वे परमात्मा को पा लेते हैं।

निष्काम कर्म का एक सुन्दर उदाहरण एक भिक्षु ने प्रस्तुत किया था। एक बार एक ब्राह्मण-पुत्र स्नान करते समय सरिता के अथाह जल में डूबने लगा। इसके पहले कि वह जलमग्न हो जाय एक भिक्षु ने उसे देख लिया। वह तुरन्त सरिता में कूद पड़ा और उस ब्राह्मण-पुत्र को डूबने से बचा लिया। उस आश्रम के लोगों ने उसके साहस की प्रशंसा की और उसे कुछ देने की इच्छा व्यक्त की। इस पर वह भिक्षु क्षुब्ध होकर बोला—“मैंने आत्म-प्रशंसा या कि किसी लालच से यह कर्म नहीं किया है।” और चुपचाप वहाँ से चला गया। यही विचार निष्काम कर्म है।

निष्काम कर्मयोग से भगवत्प्राप्ति

मनुष्य को इस जगत् में कई रूपों में जीना पड़ता है। हमारा कब कहाँ किसके साथ क्या कर्तव्य बनता है यहाँ यह विचार कर लेना भी उचित रहेगा। वह कौन-सा कर्म है जिससे भगवान् की प्राप्ति हो सकती है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकोऽपि।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करने वाला पुरुष कर्म-फल को त्याग कर निष्ठा वाली शान्ति को पा लेता है। यह शान्ति योगनिष्ठा की या परमात्मा की प्राप्ति होने से मिलती है। इसे परम शाश्वत शान्ति या मुक्ति भी कहते हैं। पर जो योग-युक्त नहीं है, वह कामना के कारण फल में आसक्त हुआ, कर्मों के द्वारा बँध जाता है। इस तरह जहाँ कामना का अभाव है, आसक्ति का अभाव है, कर्तव्य और बुद्धि से कर्म किया जाता है वह निष्काम कर्म है और इसी प्रकार के निष्काम कर्म से भगवत्प्राप्ति सम्भव होती है।

भगवत्प्राप्ति के लिए कौन-सा निष्काम कर्म किसे करना चाहिए, यह भी लगभग निश्चित-सा है। शास्त्रों में स्त्री के लिए जो धर्म निश्चित किया गया है उसको निष्काम भाव से करने पर उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है। सुहागिन स्त्री के लिए पतिव्रत धर्म का पालन करना ही सबसे बड़ा कर्म है, पर इसमें निष्काम भाव होना अति आवश्यक है। यदि कोई भी सुहागिन स्त्री निष्काम भाव से पतिव्रत धर्म का पालन करे तो उसे भगवत्प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है। श्री तुलसीदास ने पत्नी के इसी निष्काम धर्म की बात अनुसूया नामक पात्र से इस तरह कहलायी है—

एकइ धर्म एक व्रत नेमा ।
काय बचन मन पति पद प्रेमा ॥
बिनुश्रम नारि परम गति लहई ।
पतिव्रत धर्म छाड़ि छल गहई ॥

इसी प्रकार जिसके माता-पिता जीवित हैं वह केवल निष्काम भाव से माता-पिता की सेवा करके परम गति को प्राप्त हो जाता है। उसके लिए माता-पिता की सेवा ही श्रेष्ठ कर्म है। किन्तु यहाँ भी यह आवश्यक है माता-पिता के प्रति यह सेवा कर्म निष्काम भाव से ही हो। मनुस्मृति में कहा गया है—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्य हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥

अर्थात् माता-पिता और आचार्य की निष्काम भाव से सेवा करने से ही मनुष्य (मोक्ष) भगवत्प्राप्ति कर लेता है। उसके लिए माता-पिता या आचार्य की सेवा करना ही परम धर्म है, बाकी सभी उपधर्म हैं।

यहाँ एक बात और ध्यान में रखने की है कि जो कुछ मन के अनुकूल होता है उसमें राग होता है और जो अपने मन के प्रतिकूल प्राप्त होता है, उसमें द्वेष होता है। राग-द्वेष से रहित होकर विषयों में विचरण करना भी ब्रह्माण-कारी होता है। किन्तु यहाँ यह भी निश्चित है कि बिना निष्काम कर्म किये राग-द्वेष से रहित हुआ ही नहीं जा सकता है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

आशय यह है कि जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करके स्पृहा (आसक्ति) से रहित होकर और ममता तथा अहङ्कार से रहित होकर विचरण करता है। वह उस यथार्थ शान्ति को प्राप्त होता है। जो शान्ति परमात्मा की प्राप्ति होने पर मिलती है।

यहाँ पर इस प्रकार से विचरण का अर्थ निष्काम कर्म-योग से है और यथार्थ शान्ति का अर्थ भगवत्प्राप्ति से है। यहीं एक स्थान पर “स शान्तिमाप्नोति न कामकामी” कह कर भी इसी तथ्य की पुष्टि की गयी है। इस प्रकार निष्काम कर्मयोग के अनुष्ठान से भगवत्प्राप्ति हो जाती है। यदि इसमें भक्ति का सम्मिश्रण हो जाये तो फिर क्या कहने.....।

निष्काम कर्म की व्याख्या वैष्णव आगमों में की गयी है। बृहद् ब्रह्मसंहिता में ज्ञानाधृत निष्काम कर्मयोग से भक्ति उपासना का सम्भव प्रतिपादन हुआ है। शब्दब्रह्म की समाराधना करने पर ब्रह्म प्राप्त होता है। शब्द ब्रह्म की यह समाराधना निष्काम कर्मयोग से सम्भव है।

इस प्रकार यदि हम अनासक्त होकर कर्म करते चलें तो हमें बिना प्रयास के ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

कोणार्क का सूर्य मन्दिर

श्री भवानीशङ्कर शुक्ल

भारतवर्ष के दक्षिण-पूर्वी तट पर उड़ीसा राज्य में, पुरी से लगभग १९ मील पूर्वोत्तर, वह स्थान है जहाँ सूर्य की उपासना का सर्वोत्कृष्ट स्मारक एक सुप्रसिद्ध सूर्य-मन्दिर (जिसे स्थानीय रूप से सूर्यदिउल कहते हैं) अपने अनेक ध्वस्त मन्दिरों के साथ खड़ा है। यह स्थान कोणार्क है। सिकता के समुद्र में खड़े कोणार्क के मन्दिर की दीर्घ छायाएँ अपराह्न में बङ्गाल की खाड़ी में शयन करती हैं। इन खण्डहरों को देख कर शरीर में जो रोमाञ्च होता है, उसका वास्तविक कारण इस स्थान के अतीत की कहानी है। एक वह समय रहा होगा जब कुशल कारीगरों ने अनेक मन्दिरों से मरी हुई इस सूर्यपुरी की रचना की थी, और दूसरा आज का समय है जब वही नगरी वीरान पड़ी है। परन्तु इसकी गरिमा अब भी वही है—“रोब में कोई कमी नहीं। कौन ऐसा व्यक्ति है जो कोणार्क के इन अवशेषों की रूपधारा में सदा ह्वत्ता-उतराता न रहे ?

कला यदि मनुष्य की संस्कृति की बाहिका है, तो पत्थर, मिट्टी, विभिन्न धातुओं तथा अन्य अनेक वस्तुओं द्वारा बनी कृतियाँ किसी समाज के सांस्कृतिक इतिहास को जानने के लिए सबसे अच्छे साधन हैं। इस दृष्टि से मध्यकालीन भारत के पाषाण-निर्मित मन्दिर विशेष महत्व रखते हैं, जिनको देख कर तत्कालीन समाज का परिचय आप-ही-आप मिल जाता है। इनका फैलाव भी दूर तक है—समुचा मध्यवर्ती भारत और उड़ीसा। कोणार्क का सूर्यमन्दिर एक ऐसी ही कलाकृति है जिसका समय यद्यपि मध्ययुग के अन्तर्गत ईसा की तेरहवीं शताब्दी में है पर जिसने उक्त युग की सभी कलात्मक और सांस्कृतिक विशेषताओं को सुन्दरता से सँजो रखा है।

सूर्योपासना भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है। वेदों में सूर्य के प्रति जो मन्त्र कहे गये हैं, वे उनको विष्णु और रुद्र इत्यादि देवताओं से बड़ा सिद्ध करते हैं। ऋग्वेद में विष्णु स्वयं एक साधारण सौर देवता हैं। यद्यपि आगे चल कर उनका पद सबसे ऊँचा हो गया,

तथापि सूर्य का महत्व कम न हुआ। इसका कारण सम्भवतः उनकी विराट् भौतिक शक्ति थी। उन्हीं के माध्यम से शायद ईश्वर की सत्ता का दर्शन किया गया। इसीलिए उनकी पूजा के लिए मन्दिर भी बनने लगे। मन्दसोर, उड़ीसा, गुजरात और कश्मीर आदि के मन्दिर इसी बात के प्रमाण हैं। इनमें कुछ तो अपनी सज्जध और कलात्मक विशेषताओं के कारण अत्यधिक प्रसिद्ध भी हैं।

उड़ीसा में सूर्य की पूजा वैष्णव सम्प्रदाय के पुनर्स्थान के फलस्वरूप शुरू हुई, जब वहाँ बौद्ध धर्म समाप्त हो रहा था। वहाँ का राजवंश सूर्योपासक था। कोणार्क का अग्रतिम सूर्य मन्दिर इसी वंश के शासक महाराज नरसिंह देव के शासन-काल में लगभग १२३८ ई० से १२६४ ई० के बीच बनवाया गया। आज जब कि भारत के प्रायः सभी सूर्य मन्दिर या तो पूर्णतः उपलब्ध नहीं हैं या ऐसी दशा में हैं कि उनके वास्तविक रूप की कल्पना करना कठिन है, कोणार्क का मन्दिर लुप्त नहीं हुआ है। ध्वस्त होते हुए भी अभी उसमें प्राण हैं और उसकी जोर्णता में भी उसके यौवन का सौन्दर्य झाँक रहा है। आँधी, पानी, खारे समुद्र की लहरों और तटवर्ती बालुका के द्वारा बहुत कुछ धराशायी होने के बावजूद भी यह अब भी और मन्दिरों की अपेक्षा अधिक अच्छी दशा में है। १६वीं शताब्दी में यह अपनी सुन्दरता से दर्शकों को चमत्कृत कर देता था। आर्झेने-अकबरी का लेखक अबुल फजल कहता है : “जगन्नाथ के मन्दिर के निकट ही सूर्य का एक मन्दिर है जिसके निर्माण में उड़ीसा का बारह वर्ष तक का सारा राजस्व खर्चा गया। बिना चकित हुए कोई व्यक्ति इसको नहीं देख सकता। इसको चारों ओर से घेरने वाली दीवार १५० हाथ ऊँची और १९ हाथ मोटी है। मुख्य द्वार के सामने काले पत्थर का एक अठकोना स्तम्भ है जिसकी ऊँचाई ५० गज है। यहाँ ९ सीढ़ियों की चढ़ाई है, जिसको पार कर एक विस्तृत खुले अहाते में आयेंगे, जहाँ पाषाण-निर्मित एक विशाल महाराज मिलेगी।

उसके ऊपर सूर्य और नक्षत्र उत्कीर्ण हैं। चारों तरफ किनारे पर विभिन्न जातियों के अनेक उपासकों का चित्रण है जिनमें कुछ तो सर पर खड़े हैं, कुछ साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहे हैं, कुछ हँस और कुछ रो रहे हैं, कुछ व्यग्र और कुछ सचेत हैं तथा उनके साथ गायक और अनेक विचित्र पशु हैं जिनका अस्तित्व केवल कल्पना में ही है।”

कोणार्क के सूर्य मन्दिर के रूप की कल्पना भी अद्भुत है। यह मन्दिर समस्त जगत् को आलोकित करने वाले भगवान् सूर्यदेव को पृथ्वी पर सशरीर उतारने का एक वृहत् प्रयास था। हिन्दू धर्म-कथाओं में सूर्य को सात घोड़ों से जुते हुए रथ पर बैठ कर विश्व का भ्रमण करते हुए कहा गया है। उड़ीसा के कलाकारों को उनका यही रूप भाया और उन्होंने उसको ही मूर्तिमान् बनाने की कोशिश की। फलतः यह मन्दिर रथ के रूप में निर्मित किया गया। मुख्य मन्दिर, समा मण्डप और दो अन्य कक्ष एक ऐसे ऊँचे चबूतरे पर खड़े हैं जिसके दाहिने और बायें लगभग दस-दस फुट व्यास वाले बारह विशाल पहिये खुदे हैं। इनकी कारीगरी गजब की है। रथ को खींचने वाले आगे सात घोड़े हैं, जो लगता है कि अथक चलते रहने के बाद अब भी रुकने का नाम तक नहीं लेते “रास डौली की और ये समूचे रथ को ले उड़े।

मन्दिर का सारा प्लान दो परस्पर सम्बन्धित भागों में बँटा है—एक विशाल मण्डप जिसकी बाहरी छत में ही आप मन्दिर की सबसे बड़ी विशेषता पायेंगे, (इसे स्थानीय रूप से जगमोहन कहते हैं) और मण्डप के पीछे उससे भी बड़ा दिउल (मुख्य मन्दिर) जिसकी ऊँचाई भूमि से लगभग सवा दो सौ फुट होगी। मुख्य सीढ़ियों के ठीक सामने एक वर्गाकार कक्ष है और इसकी भी छत जगमोहन की-सी है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक छोटे-छोटे पूजागृह भी हैं जो लगभग ८५० फुट लम्बे और ५५० फुट चौड़े अहाते की शोभा सम्पन्न करते हैं।

इस अहाते में घुसते ही आप पाषाणों से निर्मित एक ऐसे लोक में पहुँच जायेंगे जहाँ सजीव और निर्जीव में भेद करना कठिन होगा। रथ को खींचते हुए इन घोड़ों को देखिये जो गति, शक्ति और सौन्दर्य के प्रतीक हैं। कौन कहेगा कि ये पाषाणों के ढले निरे पुतले हैं? बल्का से

आकृष्ट और चलने के लिए तत्पर ये अश्व मूर्तिमान् जीवन हैं। इनसे अलग निकट ही दो अन्य अश्व हैं जिनमें भी जीवन उफना रहा है। प्रसिद्ध कला-पारखी हैवेल कहते हैं कि ये भारत के अवशिष्ट शिल्प के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। “अपनी कला-चातुरी से भारतीय शिल्पियों ने यह सिद्ध कर दिया कि वे अपनी अभिव्यक्ति में वही आग और वही संवेग भर सकते हैं जो योरोपीय कला के विजय दर्प के चित्रण में है।”

निकट ही इस विशालकाय हाथी को देखिये जो उस पापात्मा को सूँड़ से चूर्णित कर रहा है। क्या यह वास्तव में केवल पाषाण है? पशुओं का ऐसा सजीव, सशक्त और अनुभूतिपूर्ण चित्रण संसार-भर की कला में मिलना दुर्लभ है। लोग कहते हैं कि पाषाण कठोरता का प्रतीक है। परन्तु कोणार्क में वह कलाकार के भाव व्यक्त करता है। यहाँ इन्हीं पाषाणों के माध्यम से इस क्षेत्र के रहने वाले लोगों ने अपने भावों को मूर्त रूप दिया है; अपनी धार्मिक भावनाओं को सूर्य देवता के चरणों पर चढ़ाया है और अपने अन्तस् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों को सारे संसार के सामने उपस्थित किया है।

कोणार्क का सूर्य-मन्दिर स्थापत्य की नागर शैली का एक उत्तम उदाहरण है जिसकी समता उड़ीसा में क्या, भारत में कोई मन्दिर नहीं कर सकता। इस शैली का विकास उड़ीसा में ईसा की लगभग आठवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ था। ११वीं-१२वीं शताब्दियों तक इस प्रकार के अनेक सुन्दर मन्दिर बन गए। जब कोणार्क का सूर्य मन्दिर बनने लगा, तब स्थापत्य की इस महान् शैली की अन्तिम घड़ियाँ थीं। इस समय के दूसरे मन्दिर यही सिद्ध करते हैं। परन्तु कोणार्क इसका अपवाद है। यहाँ ह्लास की कौन कहे, विकास का ही उत्कर्ष है, क्योंकि कलाकारों को पिछली कई शताब्दियों का अनुभव था। इस मन्दिर की डिजाइन समस्त संसार के लोगों को भारतीय कलाकारों की कला के प्रति ईर्ष्यालु बना देती है। परन्तु कोणार्क का यह स्वप्निल सूर्य मन्दिर जो मध्य-कालीन सामन्ती संस्कृति के अमित साधनों को ले कर खड़ा किया गया, कभी वास्तव में अपनी योजना के अनुसार पूरा बन कर तैयार हो सका, इसमें सन्देह है। श्री पर्सी

ब्राउन का कथन है कि “इस मन्दिर की कल्पना अद्वितीय प्रतिभा की उपज है। लेकिन इसके जवरदस्त रोव ने इसे मूर्त रूप देने में बाधा डाली। उस कल्पना को साकार करना निर्माताओं की शक्ति के बाहर था; इसका बड़प्पन कलाकारों के बड़प्पन से भी अधिक था और इसलिए इसके निर्माण में वे असफल रहे। तथापि यह एक ऐवस्थ-मयी असफलता थी, क्योंकि कल्पना को अकारण कष्ट दिये बिना ही इसके खण्डहरों में भी देखा जा सकता है कि भारतीय भवन-निर्माताओं की यह परमोत्कृष्ट कृति है।” ब्राउन महोदय पुनः कहते हैं कि “अपनी जीर्ण दशा में यह मन्दिर विभिन्न अङ्गों से टूटी हुई किसी ऐसी प्रसिद्ध प्रतिमा के धड़ की याद दिलाता है जिसका आधा भाग बालू में गड़ा है। परन्तु वह अब भी श्रेष्ठ कलाकृति के रूप में पहचानी जा सकती है।”

सब कुछ प्रायः देखने और समझने के बावजूद भी अभी हम कोणाक के मन्दिर की उन बारीकियों की ओर ध्यान नहीं दे पाये जो भारत की मध्ययुगीन संस्कृति का ढिबोरा पीट रही हैं। मन्दिर के चारों ओर प्रदक्षिणा कीजिये और देखिये कि किस प्रकार तिल-भर जगह में भी अलङ्करण किये गये हैं। यह स्मरण रहे कि माध्यम पाषाण है। परन्तु छेनी का काम भी क्या खूब है कि पाषाण मोम की तरह ढला मालूम पड़ता है। एक ओर जगमोहन और दिउल की छतें क्रमशः ऊपर की ओर पिरामिड की तरह होती चली गयी हैं और दूसरी ओर उनमें जहाँ भी सम्भव हुआ गाने-बजाने वालों के दल खड़े किये गये जो अपने सङ्गीत से वातावरण में जान डाल रहे हैं। परन्तु ये च.हे जितने बोलने के लिए उत्सुक दिखलायी पड़ते हों, इनसे बोलिये मत। आखिर तो ये पाषाण हैं। मन्दिर की बाहरी दीवारों पर एक दूसरा ही संसार बसा है जिसमें अनेक प्रकार के प्राणी हैं, जिनके पार्श्व में खड़ा हो कर कोई भी सहृदय व्यक्ति भूल जाता है कि वह पाषाणों के बीच खड़ा है।

कोणाक में हम जितनी मूर्तियाँ देखते हैं वे या तो शिलाखण्डों पर ‘रिलीफ’ में खुदी हुई हैं या उनकी ‘राउण्ड’ में स्वतन्त्र रचना हुई है। स्वतन्त्र खड़ी घोड़े और और हाथियों की मूर्तियों को हम देख चुके हैं। ‘रिलीफ’

में पशु, काल्पनिक जीव, वनस्पति तथा देवी और मानवी मूर्तियों को उनके नैसर्गिक वातावरण में प्रस्तुत किया गया है। वैसे फूल, पत्ते, लताएँ, वृक्ष अथवा अनेक मुद्राओं में यक्षिणियाँ, सभी सुन्दर एवं आकर्षक हैं, परन्तु सूर्य के इस पवित्र मंदिर के समस्त बाह्य भाग पर सर्वत्र मैथुन और काम-शास्त्र का चित्रण अनायास दृष्टि का ध्यान आकर्षित करता है, यद्यपि मैथुन की विविध मुद्राएँ केवल कोणाक में ही नहीं हैं, भुवनेश्वर और खजुराहो के मंदिरों पर भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है; यही नहीं, दक्षिण भारत के मंदिरों में भी वे देखी जा सकती हैं, परन्तु कोणाक में उनकी बहुलता और विविधता असीम है। यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है कि मंदिर के भीतरी भाग में कोई ऐसा भौतिक दृश्य नहीं है।

साधारणतया यह समझना कठिन है कि इन दृश्यों का क्या अर्थ है। मन्दिरों के साथ इनका क्या सम्बन्ध है? इन मैथुन-सम्बन्धी दृश्यों की व्याख्या विद्वानों के लिए पहेली है। उन्होंने प्रायः इनको अश्लील, गन्दा, अशिष्ट, अमद्र और न जाने क्या-क्या कहा है। ये शब्द आज उन दृश्यों की प्रकृति को मले ही बतलाते हों, परन्तु इससे कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता। मध्यकालीन मन्दिरों में सभी जगह ऐसे दृश्यों का प्रदर्शन निरुद्देश्य नहीं हो सकता। एक विद्वान् का यह विचार कि देवदासियों के शारीरिक सौन्दर्य का विज्ञापन ही इन दृश्यों का सही उत्तर है, उचित नहीं है। इसी प्रकार कुछ लोगों के अनुसार मन्दिर के भीतरी भाग की सरलता और देवत्व से पवित्र वहाँ के वातावरण के विपरीत बाह्य संसार की भौतिकता और काम-प्रधानता को दिखलाने के लिए इन दृश्यों को उत्कीर्ण किया गया है। स्टेला क्रमरिख के विचार से इनका प्रदर्शन “यौन रहस्यवाद” (सेक्स मिस्टिसिज्म) की ओर संकेत करता है जो भारतवर्ष की मध्ययुगीन धार्मिक विचारधारा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान लिए था। उनके इस विचार की पुष्टि पर्री ब्राउन के द्वारा भी होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बौद्ध धर्म के ह्रास के पश्चात् भारत की चिन्तना अनेक धाराओं में विभक्त होकर बहने लगी थी। एक ओर शैव और वैष्णव धर्मों का पुनरुत्थान हुआ, और [शेष पृष्ठ ३० पर]

जब रामचन्द्रजी ससुराल से लौट नहीं रहे थे

नारायणप्रसाद सिन्हा

एक बार भगवान् राम ससुराल गये और बहुत दिनों तक जनकपुर में ही रह गये। इधर अयोध्या में महाराज दशरथ उनकी अनुपस्थिति में घबरा रहे थे। किन्तु इसमें कठिनाई यह थी कि, राजा जनक के पास स्पष्ट शब्दों में वे राम की बुलाहट नहीं भेज सकते थे।

अन्त में, महाराज दशरथ ने अपने चतुर मन्त्रियों से परामर्श कर राजा जनक के पास एक कूट-पत्र लिखवाया कि, आप शीघ्र ही अपने राज्य से एक कुञ्ज, एक कुपक्षी, एक कुपात्र और एक कुमानुष भेज दीजिए। अयोध्या में वे वस्तुएँ उपलब्ध नहीं हैं।

पत्र पढ़ कर जनक जी ने चारों वस्तुओं की व्यवस्था का आदेश दे दिया।

वस्तुओं का संग्रह होने लगा। दरबारियों ने बहुत विचार-विमर्श के बाद निश्चय किया कि, कुञ्ज में महुआ ही है। अतएव जनक के आदेश से महुआ दरबार में उपस्थित किया गया और उसे राजकीय आदेश सुनाया गया, कि तुम कुञ्ज हो, अतः जनकपुर छोड़ अयोध्या जाओ। वहाँ तुम्हारी आवश्यकता है।

महुआ ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया—“महाराज, मैं कुञ्ज की श्रेणी में नहीं हूँ। मुझे तो किसान लोग सबसे पहले अपने खेतों में बोते हैं और सबसे पहले तैयार भी हो जाता हूँ। मैं अकाल-जैसे कठिन समय में बहुत काम आता हूँ। अतः मैं किसी भी दशा में कुञ्ज नहीं हूँ।”

जनक ने पूछा—“तो तुम्हीं बताओ, कुञ्ज कौन है?”

महुआ ने उत्तर दिया—“भगवन्, कुञ्ज की श्रेणी में श्यामा (एक प्रकार की घास) है। यह पक-पक कर घरती पर बिखर जाती है। कदाचित् ही यह किसी व्यक्ति को प्राप्त होती है।”

अतः, सर्वसम्मति से तय हुआ कि, कुञ्ज की श्रेणी में श्यामा अनाज ही आता है। अतः अयोध्या भेजने के लिए उसे बुलवा कर रख लिया गया।

अब कुपक्षी को खोज की जाने लगी। दरबारियों ने

बताया कि, कुपक्षी की श्रेणी में कौआ आता है। कौए को बुला कर राजकीय आदेश सुनाया गया।

कौआ बोला—“श्रोमन्! मैं कुपक्षी नहीं, कुपक्षी तो उल्लू है। मैं तो सुबह-ही-सुबह सबको जगाता हूँ। मैं न रहूँ तो गंदगी बढ़े और समय पर लोग बिस्तर त्याग उठें भी नहीं।”

कौए की बात सुन कर यह निश्चय किया गया कि, वास्तव में, कुपक्षी उल्लू ही है। अतएव उल्लू को बुलवा कर अयोध्या भेजने के लिए रख लिया गया।

कुञ्ज और कुपक्षी का संग्रह हो जाने के बाद कुपात्र की खोज होने लगी। दरबारियों ने कहा कि, कुपात्र की श्रेणी में कूँड़ी (एक प्रकार का लोहे का बरतन, जिससे मगध में खेत पटाये जाते हैं) ही है। यदि उसमें पानी भर कर रख दिया जाय, तो एक बूँद भी पानी नहीं रहेगा, क्योंकि जमीन पर वह कमी सीधी बैठती नहीं है।

राजा जनक के दरबार में कूँड़ी की बुलाहट हुई। कूँड़ी ने आते ही कहा—“महाराज! मैं कुपात्र की श्रेणी में कदापि नहीं हूँ। यदि मैं न रहूँ, तो खेती नष्ट हो जाय और लोग भूखों मरने लगें। मैं प्राणियों का कितना उपकार करती हूँ और महाराज मुझे कुपात्र बना रहे हैं।”

जनक ने पूछा—“तो कुपात्र है कौन?”

कूँड़ी ने उत्तर दिया—“सरकार, कुपात्र कलाली का प्याला है। लोग उसमें शराब पीकर फेंक देते हैं। अतः वास्तव में, कुपात्र कलाली का प्याला ही है।”

अतएव सर्वसम्मति से यह निश्चय किया गया कि, वस्तुतः कलाली का प्याला ही कुपात्र है।

इन तीन वस्तुओं का संग्रह हो जाने के बाद कुमानुष की खोज होने लगी। दरबारियों ने कहा कि, कुमानुष जुलाहा है। जुलाहा बड़ा मूर्ख होता है।

जुलाहा राजा जनक के दरबार में बुलाया गया और उससे कहा गया कि, तुम कुमानुष हो, अतः अयोध्या जाओ। वहाँ तुम्हारी आवश्यकता है।

[शेष पृष्ठ ३० पर]

पुस्तक-समीक्षा

१. बुद्ध-जीवन और दर्शन—डॉ० सद्धातिस्स की पुस्तक 'द लाइफ आफ द बुद्ध' का श्री विट्ठलदास मोदी द्वारा हिन्दी अनुवाद 'बुद्ध-जीवन और दर्शन' बौद्ध दर्शन में निहित कठणा तथा मानवीय स्वरूप को वर्तमान जीवन की प्रासंगिकता के साथ जोड़ने का एक सफल प्रयास है। यों श्री मोदी प्राकृतिक चिकित्सा विषयक अनेक पुस्तकों के रचयिता हैं और उनकी पुस्तकें पाठकों में बहुत ही लोक-प्रिय हुई हैं। प्रस्तुत पुस्तक में विद्वाद् लेखक ने भगवान् बुद्ध की जीवनी के साथ उनके विचारों के विकास की राह, उनका साधना-पथ और उनके धर्म की रूपरेखा को अत्यन्त सरस एवं बोधगम्य भाषा में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है। सम्बोधि की प्राप्ति एवं निर्वाण जैसे गहन विषयों को जिस सरल शैली में स्पष्टता के साथ इस पुस्तक में निरूपित किया गया है, वह श्री विट्ठलदास मोदी जैसे मँजे हुए लेखक से ही सम्भव है। पुस्तक में दिये गये चित्र स्पष्ट एवं मनोहारी हैं। आशा है, पुस्तक बालक, युवा, वृद्ध, सभी के लिए समान रूप से उपयोगी और आकर्षक सिद्ध होगी।

२. स्वर्गीय भागीरथ कानोडिया स्मृति-ग्रन्थ—इस स्मृति-ग्रन्थ के संयोजन, सम्पादन एवं प्रस्तुतीकरण में जिस लगन और उदात्त भावना का परिचय मिलता है, वह स्वयं में श्री कानोडियाजी की लगन और उदात्त भावना का प्रतीक है। पुस्तक को जीवन-वृत्त, संस्मरण, पत्र एवं लेखन, भागों में विभक्त कर सम्पादित किया गया है। जीवन-वृत्त का अध्ययन कर पाठक श्री कानोडियाजी के विनम्र एवं आत्मश्लाघा से दूर जीवन के प्रति नत-

मस्तक हो उठता है। इस ग्रन्थ में कुल १४१ संस्मरण दिये गये हैं—ये संस्मरण देश के माने-जाने साहित्यकारों, राजनेताओं, समाजसेवियों, विरक्त वैचारिकों एवं श्री कानोडियाजी के सान्निध्य में रहनेवाले व्यक्तियों द्वारा लिखे गये हैं। आचार्य भावे, काका कालेलकर, श्रीमती महादेवी वर्मा, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, श्री सिद्धराज ठड्डा, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री दादा धर्माधिकारी, श्री अतुल्यघोष, श्री कालूलाल श्रीमाली, डॉ० मैत्रेयी बोस, श्रीमती सरोजिनी शाह एवं श्री राधाकृष्ण कानोडिया के संस्मरण श्री कानोडियाजी के जीवन के विभिन्न पहलुओं का सुखद शब्दचित्र प्रस्तुत करते हैं। श्री कानोडिया जी के विनोदी स्वभाव की भी झाँकी इन पत्रों में यदा-कदा मिलती है। परिशिष्ट में श्री रेवतीरमण शाह का लेख 'भागीरथजी और साहित्य' श्री कानोडियाजी की पैनी नजर, उनके सम्बेदनशील स्वभाव और उनकी भाषा की रोचकता पर प्रकाश डालता है। इस लेख में कानोडियाजी के लोक-कथाओं और कहावतों के प्रति झुकाव की झलक मिलती है। इसमें दिये गये चित्र इतने सुस्पष्ट एवं सुन्दर हैं कि पाठक का ध्यान बरबस उनकी ओर आकृष्ट हो जाता है। श्री भागीरथ कानोडिया-स्मारक समिति ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर जहाँ श्री कानोडियाजी के प्रति अपनी असीम श्रद्धा का परिचय दिया है; वहीं उसने इस ग्रन्थ के माध्यम से पाठकों को भी कानोडियाजी को निकट से समझने और उनका अनुसरण करने हेतु उत्प्रेरित करने का श्लाघनीय प्रयास भी किया है।

१. लेखक—डॉ० सद्धातिस्स द्वारा लिखित मूलपुस्तक का हिन्दी अनुवाद—अनुवादक : श्री विट्ठलदास मोदी, प्रकाशक : यशपाल जैन, मन्त्री । सस्ता साहित्य मण्डल—एन ७७, कनाट सर्कस, नई दिल्ली । मूल्य : ६.०० रुपये ।
२. सम्पादक : श्री भँवरमल सिन्धी, प्रकाशक : श्री भागीरथ कानोडिया स्मारक समिति, ११ लार्डसिन्हा रोड, कलकत्ता ।

३. उत्तर साकेत—श्री रामरंगजी ने दो खण्डों में जो काव्यधारा प्रवाहित की है, वह आज के पाठकों को प्रथम दृष्ट्या सम्भवतः बहुत प्रभावित न कर सके—फिर भी श्री 'रामरंगजी' का प्रयास इसे एक महाकाव्य का रूप प्रदान करने का है, जो बहुत कुछ सफल भी हुआ है। श्री 'रामरंगजी' के अनुसार श्री रामकथा को पृथक् कर भारतीय-साहित्य का मूल्यांकन तो क्या होगा अपितु उसके अस्तित्व की कल्पना करना भी, जलराशि पर रेखा खींचते हुए उसको स्थिरता देने के प्रयास में भी अपनी ही अज्ञता का प्रदर्शन कर अपने को उपहासास्पद बना देने जैसा ही है। दो खण्डों में प्रकाशित इस काव्य रचना 'उत्तर साकेत' में कवि ने रामचन्द्र के वनवास की अवधि के बाद के कथानक को चित्रित किया है। आपकी रचना दोहा, सोरठा, चौपाई, रोला, मालती प्रभृति छन्दों के माध्यम से इस पुस्तक में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की गयी है। विषय गहन और दुरूह है और वर्तमान सर्जनात्मक धारा से मेल

भी नहीं बन पाता, फिर भी 'राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है। कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।' यह उक्ति यहाँ सर्वथा चरितार्थ होती है। श्री रामरंगजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि वर्तमान में राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, साहित्यिक, आर्थिक, नैतिक आदि समस्त मान्यताएँ अभूतपूर्व पूर्वग्रहों के पिशाच-झुण्डों से पूर्णतः आक्रान्त हो गयी हैं और उसमें भी युवक-मनीषा की तो और भी अधिक दुर्दशा है। ऐसी हालत में यह पुस्तक युवा पाठकों को कितना प्रभावित कर सकेगी यह सन्देहास्पद है। भाषा, छंद, अलंकार आदि की कतिपय त्रुटियाँ अवश्य रह गयी हैं—पर वे नगण्य हैं। श्री रामरंगजी का प्रयास निश्चय ही स्तुत्य है। सुधीजन इससे लाभ उठा सकेंगे। नवयुवक पीढ़ी भी इस काव्य-धारा में मज्जन कर अपने मार्ग को प्रशस्त कर सकेगी।

—अम्बिकाप्रसाद चौबे

[पृष्ठ २७ का शेषांश]

दूसरी ओर शाक्तजनों का भी इस समय उदय हुआ। तान्त्रिकता देश के सभी भागों में फैली और उसमें अनेक स्थानीय विशेषताएँ भी सम्मिलित हुईं। मध्यवर्ती और दक्षिण-पूर्वी भारत में तान्त्रिकता उन सभी यौन-विचारों से बोधिल हो गई जिनकी एक झलक इस युग के अनेक मंदिरों

में मिलती है। यह असम्भव नहीं है कि कोणाक का उक्त सूर्य मंदिर तान्त्रिक सम्प्रदाय का एक प्रमुख केन्द्र रहा हो। जो कुछ भी हो, इन प्रश्नों का समुचित उत्तर देना विद्वानों के लिए अभी शेष है।

[पृष्ठ २८ का शेषांश]

जुलाहा हाथ जोड़ कर बोला—“श्रीमान् ! मैं कुमानुष कदापि नहीं हूँ। यदि मैं नहीं रहता, तो सभी व्यक्ति नग्न-वस्था में ही जीवन-यापन करते। अतः मैं किसी आधार पर कुमानुष नहीं कहा जा सकता।”

जुलाहे ने छूटते ही उत्तर दिया—

कुमानुष कहिये वाको, ससुरार में बसे ताको।

तब राजा जनक ने पूछा—“तो कुमानुष कौन है आखिर ?”

अब सारा भेद खुल गया। भगवान् राम कुमानुष प्रमाणित हुए। वे समझ गये कि, मेरी बुलाहट है और उसी दिन अयोध्या की ओर चल पड़े।

३. लेखक : श्री सोहनलाल 'रामरङ्ग', - प्रकाशक : दि दिल्ली रजिस्टर्ड स्ट्राक होल्डर्स (आइरन एण्ड स्टील) एसोसिएशन लि०, जयसाव प्लेस, ५००८ हमदद मार्ग, दिल्ली-१३०००६, मूल्य : २००-०० सम्पूर्ण ग्रन्थ।

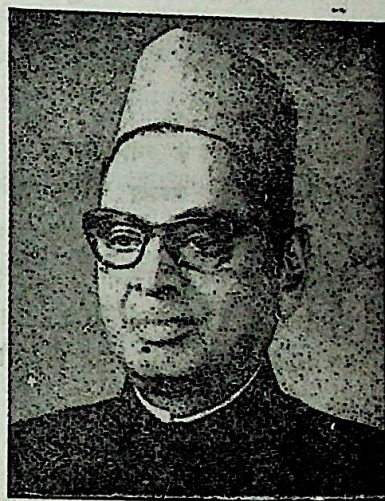
श्री मोहनलालजी जालान भी नहीं रहे !

कलकत्ता के प्रमुख समाजसेवी तथा उद्योगपति एक-एक कर काल को समर्पित होते जा रहे हैं। अभी श्री सीतारामजी सेक्सरिया के अभाव को हम भूल नहीं पाये थे कि श्री मोहनलालजी जालान भी १ मई १९८२ को तेरह मास की मूर्च्छा के बाद हृदयगति रुक जाने से परलोक सिंघार गये। गतवर्ष अप्रैल के प्रारम्भ में लेक पर घूमते समय अचानक लारी से टक्कर लग जाने के कारण गिर पड़े और अंतिम समय तक मूर्च्छा में रहे।

श्री जालानजी काशी मुमुक्षु भवन समा के प्रमुख सञ्चालकों में थे और समा की विभिन्न प्रवृत्तियों में बराबर रूचि लेते रहते थे। फरवरी १९८१ में ये श्रद्धेय पं० गिरधारीलालजी मेहता के साथ मुमुक्षु भवन पधारें और इन्होंने मुमुक्षु भवन का निरीक्षण किया था। उन्होंने मुझसे कहा था कि इस बार कलकत्ते आना तो मुझसे मिलना और मुमुक्षु भवन की आवश्यकताएँ बताना ताकि इस सम्बन्ध में कुछ किया जा सके, किन्तु दुर्भाग्य कि जब मैं कलकत्ता गया, मूर्च्छित अवस्था में अस्पताल में उनका दर्शन करना पड़ा। उनके निधन से मुमुक्षु भवन ही नहीं, काशी तथा देश की अनेक समाजसेवी संस्थाओं का बल टूट गया। १९८१ में ही आपने भारतीय विद्या भवन को एक करोड़ का एक मुक्त अनुदान प्रदान कर इतिहास स्थापित किया।

२४ मार्च १९०५ को राजस्थान के रतनगढ़ में आपका जन्म हुआ। आपके पिता स्व० सूरजमलजी जालान ने सूरजमल नागरमल नाम से उद्योग और व्यवसाय का प्रतिष्ठान स्थापित किया। बारह-वर्ष की अवस्था में ही श्री मोहनलालजी जालान ने इस प्रतिष्ठान का कार्य-व्यवसाय देखना प्रारम्भ कर दिया था और अपने पिता स्व० श्री सूरजमलजी जालान की मृत्यु के बाद वरिष्ठ भागीदार के रूप में पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ कार्य संभाल लिया था।

व्यावसायिक क्षेत्र की अनेक उपलब्धियों में आपकी सबसे बड़ी उपलब्धि श्री हनुमान जूट मिल्स है जो आपने



पचपन वर्ष पूर्व स्थापित की थी और किसी भारतीय द्वारा स्थापित यह पहली जूट मिल थी। वे भारतीय जूट उद्योग के नियामक कहे जाते थे। आपके निर्देशन में सूरजमल नागरमल प्रतिष्ठान ने देश के औद्योगिक घरानों में प्रमुख स्थान प्राप्त किया।

उद्योग-व्यवसाय के साथ-साथ शिक्षा, समाज और धर्म के क्षेत्र में भी आपने अनेक मानक स्थापित किये। लड़कियों और महिलाओं की शिक्षा को ओर आपका विशेष ध्यान रहा। आपने कलकत्ते में सूरजमल जालान कन्या विद्यालय तथा महाविद्यालय की स्थापना कर अपने पिता के स्वप्न को साकार किया।

आपने अपने पैतृक स्थान रतनगढ़ में भी अनेक संस्थाएँ स्थापित कीं। कलकत्ते का श्रीराम मन्दिर आपकी ईश्वरीय आस्था का प्रतीक है। गूँगे-बहरों के लिए विद्यालय, मानसिक चिकित्सालय, तीर्थ-यात्रियों के लिए विश्रामालय आदि अनेक दातव्य संस्थाएँ आपकी देन हैं। कलकत्ते की मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी के आप अनेक वर्षों तक अध्यक्ष थे। भारतीय ज्ञानपीठ ट्रस्ट के आप ट्रस्टी थे। विक्टोरिया मेमोरियल के जीर्णोद्धार के लिए भी आपने उदारतापूर्वक अनुदान दिया। भारतीय संस्कृति और परम्परा के प्रति आपकी गहरी आस्था थी। जुलाई १९७८ में आपकी पत्नी श्रीमती पद्मादेवी का स्वर्गवास हो चुका था। वे अपने पीछे तीन पुत्र और ३ पुत्रियों सहित भरा-पुरा परिवार छोड़ गये हैं।

काशी मुमुक्षु भवन समा के न्यास-मण्डल की एक शोक समा ७ मई १९८२ को अध्यक्ष श्री लक्ष्मीनिवास बिरला की अध्यक्षता में कलकत्ते में हुई और समा के सदस्यों तथा आवासियों की एक शोक-समा रविवार ९ मई को वाराणसी कार्यालय में हुई, जिसमें श्री मोहनलालजी जालान के निधन पर हार्दिक समवेदना व्यक्त की गयी। ●
ताऊजी !

अभी सीतारामजी सेक्सरिया के अमाव का घाव मरा भी नहीं था कि उनके अनन्य सहयोगी, सेवार्तरी और

उनकी कन्या विजया बाई के स्वशुर श्री महावीरप्रसादजी पोद्दार भी कलकत्ते में २७ अप्रैल १९८२ को इहलीला समास कर ९२ वर्ष की आयु में स्वर्गलोक को सिधार गये। वे प्राकृतिक चिकित्सा के कट्टर समर्थक थे। जसीडीह का प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र उनकी सेवा का स्मारक है। उन्होंने जीवन-पर्यन्त औषधि के नाम पर एक भी टिकिया नहीं ली। आँखों में मोतियाबिन्द हुआ, किन्तु आपरेशन नहीं कराया। उन्हें सभी ताऊजी कहते थे, मेरे तो वे सचमुच ताऊजी थे, उनकी गोद में खेला। बचपन तथा यौवन की अनेक स्मृतियाँ उनसे जुड़ी हुई हैं। शुद्ध-भाषा लेखन का संस्कार उन्होंने जगाया, दूसरों की सेवा के सुख का स्वाद उनसे ही प्राप्त हुआ। पैसे तथा साधन का दुरुपयोग उन्हें कभी बर्दाश्त नहीं था। गांधीजी की सरलता तथा सादगी के वे मूर्तिमान् स्वरूप थे। गोरखपुर में उनका बगीचा देश की अनेक विभूतियों का केन्द्र था। कोई भी ऐसा देश-सेवी राष्ट्रीय नेता नहीं था जो उस समय गोरखपुर में ताऊजी के पास नहीं आया हो। गाँधी युग की वे अद्भुत और अद्वितीय प्रतिभा थे। आज वे नहीं हैं किन्तु उनको सीख, स्नेह और शुभाशीर्वाद जो पिछले दिनों एक पत्र के रूप में प्राप्त हुआ था, मेरा सम्बल है। उनके श्री-चरणों में मेरी यह छोटी-सी अर्धजांजलि।

पुरुषोत्तमदास मोदी

भावी समाज

तो हमारा लक्ष्य क्या होगा ? बाहरी हितों और स्वार्थों की साक्षेदारी नहीं, बल्कि आन्तरिक ऐक्य के द्वारा मानवजाति की एकता, केवल पाशविक और आर्थिक जीवन या केवल बौद्धिक और सुरुचिपूर्ण में से आध्यात्मिक सत्ता की महिमा में मनुष्य का पुनर्स्थान, आत्मा की शक्ति को भौतिक ढाँचे और मानसिक यन्त्र में ढालना है ताकि मनुष्य अपनी मानवता को उस सच्ची अतिमानवता में विकसित कर सके जो हमारी वर्तमान स्थिति से उसी तरह आगे बढ़ी हुई होगी जैसे हमारी यह अवस्था पशु अवस्था से (विज्ञान का कहना है कि हम उसी से आये हैं) बढ़ी हुई है। ये तीनों एक ही हैं, क्योंकि मानव एकता और मनुष्य का आत्मातीत्य (अपने-आप से परे होना) अपनी आत्मा के अन्दर निवास करने-से ही आ सकता है।

‘मुमुक्षु’ के शुभचिन्तकों से निवेदन

‘पाठकों की प्रतिक्रिया’ से मुमुक्षु के शुभचिन्तकों को विदित होगा कि आठ मास के शैशव-काल में ही ‘मुमुक्षु’ ने आशातीत लोकप्रियता प्राप्त कर ली है। उसकी साज-सज्जा, रेखांकन तथा रचना-संकलन से प्रभावित होकर कुछ उदार सहृदय पाठकों ने विशेष सहायता प्रदान की है और कुछ ने आजीवन सदस्यता के शुल्कादि नियमों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण जिज्ञासा प्रकट की है। एतदर्थ हम यहाँ विभिन्न ग्राहक-श्रेणियों के शुल्कादि नियम प्रकाशित कर रहे हैं। साथ ही आशा करते हैं कि मुमुक्षु के प्रत्येक हितैषी कम से कम पाँच ग्राहक अवश्य बनाएँगे।

१. विशेष सहायक—जो सज्जन प्रतिवर्ष (१०१) काशी मुमुक्षु भवन सभा को सहायता प्रदान करेंगे। ऐसे उदार दाताओं को ‘मुमुक्षु’ पत्रिका के अतिरिक्त सभा द्वारा प्रकाशित और प्रचारित साहित्य निःशुल्क प्रदान किया जायगा तथा वर्ष में एक सप्ताह के लिए उन्हें मुमुक्षु भवन में निःशुल्क आवासीय सुविधा प्रदान की जायगी।
 २. आजीवन ग्राहक—जो सज्जन एक साथ मनिआर्डर या ड्राफ्ट द्वारा (२५१) भेजेंगे, उन्हें जीवन-भर ‘मुमुक्षु’ प्राप्त होता रहेगा।
 ३. साधारण ग्राहक—जो सज्जन लागत मूल्य से भी कम वार्षिक शुल्क (१५) मनिआर्डर या पोस्टल आर्डर से भेजेंगे उन्हें वर्ष भर ‘मुमुक्षु’ मिलता रहेगा।
 ४. सहयोगी ग्राहक—जो सज्जन ‘मुमुक्षु’ के कम से कम १५ साधारण ग्राहक बनायेंगे उन्हें सहयोगी के रूप में निःशुल्क एक वर्ष ‘मुमुक्षु’ पत्रिका मिलती रहेगी।
- सूचना—मनिआर्डर, बैंक ड्राफ्ट, पोस्टल आर्डर, स्थानीय चेक ‘काशी मुमुक्षु भवन सभा’ के नाम से हा भेजना चाहिए। —मन्त्री, काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी, वाराणसी-५।

‘मुमुक्षु’ का यज्ञ-विशेषांक

काशी मुमुक्षु भवन सभा ने अपने मुख्य परिसर में शास्त्रीय विधि से एक यज्ञ-मण्डप का निर्माण कराया है जिसके चारों ओर चारों वेदों की मूर्तियाँ स्थापित की गयी हैं। इसके उद्घाटन के उपलक्ष्य में ‘मुमुक्षु’ का लगभग १६० पृष्ठों का एक सचित्र विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है।

जिसमें

‘यज्ञ’ की व्युत्पत्ति, परिभाषा, प्रकार, उनके दृष्ट और अदृष्ट फल तथा विधियों का विस्तारपूर्वक विवेचन होगा। ऋत्विजों, वैदिक आचार्यों तथा इस विषय में रुचि रखनेवालों के लिए यह विशेषांक विशेष रूप से संग्रहणीय होगा।

इन विषयों के अधिकारी विद्वानों के लेख तथा सुझाव सादर आमन्त्रित हैं।

—सम्पादक, ‘मुमुक्षु’

काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी-५

Two is company



Six is not a crowd



The one car that takes six passengers as luxuriously as two—with ease and relaxed comfort for all. With lots of space in the boot. With power and strength. Countrywide availability of spares and service centres. And the lowest fuel cost per passenger kilometre !
The ideal car for India.
Better value for your money

Ambassador
Mark 4
You need it now

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए श्री पुरुषोत्तमदेवास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित
तथा आनंद कानन प्रेस में मुद्रित ।

CC/HM-3/82



मुमुक्षु

जुलाई १९८२

पाठकों की प्रतिक्रिया

‘मुमुक्षु’ के दो अंक पढ़े। प्रेरक, ज्ञानवर्धक एवं रोचक सामग्री से समृद्ध ऐसे पत्र की आज सर्वाधिक आवश्यकता है। स्वस्त-पस्त मानव-मूल्यों में नवप्राण प्रवाहित करने में आपके हाथों ‘मुमुक्षु’ समर्थ होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

—रतनलाल जोशी, नई दिल्ली

‘मुमुक्षु’ का मई अंक मिला। देख कर बड़ा हर्ष हुआ। उसकी रचनाओं को पढ़ कर तो और भी प्रसन्नता हुई। आज बहुत-सी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश उद्देश्य-विहीन हैं। उनके सामने कोई आदर्श नहीं है। वर्तमान युग में सबसे अधिक आवश्यकता चरित्र-निर्माण की है। चरित्र के अभाव में देश उत्तरोत्तर निचाई की ओर जा रहा है। उसे ऊपर उठाने के लिए ऐसी पत्रिकाओं की अपेक्षा है, जो नैतिक मूल्यों की स्थापना करने और देशवासियों के चरित्र को ऊँचा करने में सहायक हों।

‘मुमुक्षु’ में आपने ऐसी ही सामग्री दी है। उसकी रचनाएँ सुपाठ्य तथा चरित्र-निर्माण की प्रेरणा देने वाली हैं।

उदात्त विचारों के ऐसे लोकोपयोगी पत्र के प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक बधाई।

—यशपाल जैन, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

‘मुमुक्षु’ बहुत अच्छा निकल रहा है। लेखों के चयन में आप इस बात की गम्भीर सावधानी ले रहे हैं कि ‘आध्यात्मिकता’ प्रतिदिन के जीवन से मुक्त हो कर ही

मिलने वाली वस्तु नहीं है, वह जीवन-सापेक्ष है और सहज निर्मल उपलब्धि है। अप्रैल १९८२ के अंक में डा० लक्ष्मीनारायण लाल, धनश्यामदास जी बिरला और श्री कुवेरनाथ राय के लेख बहुत महत्वपूर्ण, उत्तेजक, जीवन्त और सरस हैं।

—डा० श्रीकान्त जोशी, जवाहरगंज, खण्डवा

पत्र की सामग्री व आकर्षण बहुत ही प्रशंसनीय है। मैं आपको हार्दिक शुभेच्छाएँ भेजता हूँ। अभी तक जितने भी नियमित अंक आपके द्वारा मिले हैं उनमें एक लाइन भी ऐसी नहीं मिली जो अपठनीय हो। मुझे तो इस पत्रिका द्वारा भारी धार्मिक आश्वासन मिला है।

स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज, बाबू धनश्यामदासजी बिरला व बाबू लक्ष्मीनिवासजी बिरला, भगीरथ जी कानोडिया व सोतारामजी सेकसरिया की ज्ञान-सरिताओं में अवगाहन का अवसर मिला।

स्वामी करपात्रीजी के बारे में मेरा ज्ञान शून्य था परन्तु आपकी पत्रिका के दो लेखों में उनके बारे में पूरा व्योरा पढ़कर रोमांचित हुआ। पं० गोपीनाथजी कविराज की कथनी भी बहुत आदर-मनन की वस्तु है। मुझे पत्रिका से पूर्णतया सन्तोष है।

२१४, नरीमन प्वाइन्ट,

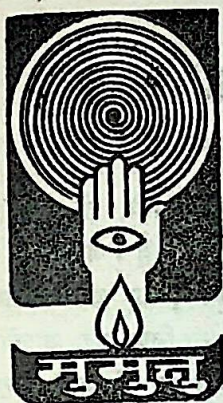
—नन्दकिशोर सिंघल

बम्बई : ४०००२१

आप मुमुक्षु का अच्छा सम्पादन कर रहे हैं। भारतीय संस्कृति के उन्नयन में उसका बड़ा योगदान होगा।

भोपाल

डा० विनयमोहन शर्मा



आध्यात्मिक
तथा
सांस्कृतिक
मासिक

वर्ष १ : अंक १०
श्रावण, सं. २०३९
जुलाई, १९८२

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी

वार्षिक : पन्द्रह रुपए
एक अंक : डेढ़ रुपया
आजीवन
दो सौ इक्यावन रुपये

नीतिशतकात्

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः ।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥१९॥

मनुष्य की शोभा न बाजूबन्द पहनने से और न चन्द्रमा के समान उज्ज्वल हार से होती है। स्नान, सुगन्धित द्रव्यों के लेप, फूल, बालों के सजाने से भी उसकी सुन्दरता में वृद्धि नहीं होती। सम्य जनों के द्वारा व्यवहृत वाणी ही मनुष्य की शोभा बढ़ा देती है। गहने तो कुछ दिनों बाद नष्ट हो जाते हैं, किन्तु वाणी की सुन्दरता स्थायी होती है।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥८४॥

नीतिज्ञ लोग निन्दा करें या प्रशंसा, सम्पत्ति आवे या चली जाय, मृत्यु चाहे आज हो या इस युग के बाद हो, किन्तु धीर-पुरुष न्याय के मार्ग से पैर नहीं हटाते।

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ।
सौजन्यं यदि किं गुणैः सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥५५॥

यदि किसी व्यक्ति में लोभ है तो अन्य दुर्गुणों की क्या आवश्यकता ? यदि चुगलखोरी है तो दूसरे पापों की क्या जरूरत ? यदि सत्य है तो तपस्या का क्या प्रयोजन ? यदि मन शुद्ध है तो तीर्थों में क्या घूमना ? यदि सौजन्य हो तो अन्य गुणों से क्या मतलब ? यदि सच्ची महिमा प्राप्त है तो साज-शृंगार से क्या काम ? यदि उत्तम विद्या प्राप्त है तो धन का कौन-सा प्रयोजन ? यदि अपयश मिल चुका है तो मृत्यु की क्या आवश्यकता ?

इस अङ्क में

नीतिचतकाव	१
भगवान की थाती	२
तुलसीदास की आत्मकथा	श्री इलाचन्द्र जोशी ३
खोजना अपने आपको ही है	श्री रतनलाल जोशी ७
घन सम्पदा	रवीन्द्र १०
जमुनोत्तरी	श्री घनश्यामदास बिरला ११
आरोप साधन	
महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज	१५
काल कौतुक	श्री मुरारीलाल केडिया १७
मन्त्र विवेक	श्री शिवनाथ मेहरोत्रा १७
सनातन धर्म	स्वामी कपिलदेवानन्द तीर्थ १९
वर्तमान से अतीत	श्री अम्बिकाप्रसाद चौबे २०
बुद्धों की समस्या	२१
विघटन की ओर अग्रसर	
समाज की सुरक्षा कैसे हो ?	श्री विद्याभास्कर २३
गाथा कर्म- जति की	२५
काशी मुमुक्षु भवन सभा	२७
माँ, शरणागत की रक्षा करो	२९
	श्रीमती रुक्मणी देवी बिरला ३०
मानवधर्म	काशीनाथ मिश्र ३०
काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार	३१

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से सम्पादक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है ।

लेखकों से—‘मुमुक्षु’ में प्रायः धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रचनाएँ ही प्रकाशित की जाती हैं । ये रचनाएँ साहित्य की किसी भी विधा में हो सकती हैं । अतः लेखकों से निवेदन है कि वे अपने पास प्रतिलिपि रखकर ऐसी ही रचनाएँ भेजें । अस्वीकृत रचनाओं को लौटाने में हम असमर्थ हैं । स्वीकृत रचनाओं की सूचना पन्द्रह दिनों के भीतर भेज दी जाती है ।—सम्पादक

भगवान् की थाती

परमहंस के वचनानुसृत

एक बार नारदजी जब वैकुण्ठ आये, तो उन्होंने देखा कि, महाविष्णु चित्र बनाने में निमग्न हैं । आस-पास शिव, ब्रह्मा, इन्द्रादि अगणित देवता विष्णु का कृपा-कटाक्ष पाने के लिए लालायित खड़े हैं । किन्तु विष्णु को उनकी ओर देखने का भी अवकाश नहीं । चित्रलीन विष्णु ने नारद जी की ओर भी दृष्टिपात नहीं किया । नारद जी को विष्णु का यह व्यवहार बड़ा अपमानजनक प्रतीत हुआ । वे आवेश में विष्णु के समीप गये और पास ही खड़ी लक्ष्मी से पूछा—‘आज इतनी तन्मयता के साथ भगवान् किसका चित्र बना रहे हैं ?’ लक्ष्मी ने स्वामाविक भृकुटी-चांचल्य के साथ कहा—‘अपने सब से बड़े भक्त का ।’

दोहरे-अपमानित नारद जी ने पास जा कर देखा, तो आश्चर्य-स्तब्ध हो गये—अचल व्यानावस्थित विष्णु एक मैले-कुचैले अर्द्धनग्न मनुष्य का चित्र बनारहे थे । नारद जी का चेहरा क्रोध से तमतमा गया । वे उल्टे पाँवों भूलोक की ओर चल पड़े । कई दिनों के भ्रमण के बाद उन्हें एक अत्यन्त धनीनी जगह पर पशु-चर्मों से घिरा एक चमार दिखायी दिया, जो गन्दगी और पसीने से लथपथ चमड़ों के ढेर को साफ कर रहा था । पहली दृष्टि में ही नारद जी ने पहचान लिया—विष्णु इसी का चित्र बना रहे थे । दुर्गन्ध के कारण नारद जी उसके पास न जा सके । अदृश्य होकर दूर से ही उसकी दिनचर्या का निरीक्षण करने लगे ।

सन्ध्या होने को आयी, किन्तु वह चमार न तो कभी मन्दिर में गया और न आँख मूँद कर उसने क्षणभर के लिए हरिस्मरण ही किया । नारद जी के क्रोध की सीमा न रही । एक अधमाधम चमार को श्रेष्ठ बता कर विष्णु ने उनका कितना क्रूर अपमान किया है । अंधेरा बढ़ने के साथ-साथ उनके मन की अस्थिरता भी गहरी होने लगी । आवेशान्ध हो विष्णु को शाप देने के लिए उन्होंने अपनी

[शेष पृष्ठ १४ पर]

तुलसीदास की आत्मकथा

श्री इलाचन्द्र जोशी

आधी रात का समय है। काशी के अस्सी घाट की गुफा के भीतर टिमटिमाते दीये के प्रकाश में अपने पिछले जीवन का लेखा-जोखा करने बैठा हूँ। सोच रहा हूँ कि कहाँ से कहाँ आकर पहुँचा हूँ। जीवन के कितने उतार-चढ़ाव के बीच में होकर गुजरने के बाद बाबा विश्वनाथ की नगरी में जीवन के अन्तिम दिन बिताने के इरादे से आया हूँ। तुलसी गुसाईं होने पर अपने जिन भोंडे दिनों को भूल गया था, आज फिर उन्हीं दिनों की याद में जीना चाहता हूँ।

जन्म से ही राम ने मुझे कौसी कड़ी अग्नि-परीक्षा में डाल दिया था, आज जब यह सोचता हूँ तब हृदय आतंक से सिहर उठता है। मंगनों के कुल में जन्म लिया। जनमते ही माँ को परलोक के घाट उतार दिया और पिता से भी अबोध-अवस्था में नाता टूट गया। इस विराट विश्व में एक छोटा-सा अज्ञात शिशु अनाथ अवस्था में, अत्यन्त उपेक्षणीय और अवाञ्छनीय स्थिति में पड़ा रह गया। आठ-नौ वर्ष की अवस्था में ही मैं अपने पेट की आग बुझाने के लिए स्वयं अपने ही प्रयत्नों पर आश्रित रहने लगा। आत्म-रक्षा के लिए मेरे वे पराक्रम और प्रयत्न केवल इतने ही तक सीमित थे कि घर-घर, दरवाजे-दरवाजे मटक कर या तो किसी की जूठन से पेट भरता था या इधर-उधर से मुट्ठी-प्ररचना जुटा कर उन्हें खा कर अपने को किसी तरह जिन्दा रखता था। जीवन का मूल उद्देश्य ही तब मेरे लिए केवल पेट की आग बुझाना था।

इस जन्म के कंगाल में राम की शक्ति के बीज न जाने कहाँ छिपे थे। और न जाने कितने जन्मों से मैं इन बीजों को अपने अन्तर में संजोये, बहुरंगी जीवन के अविरल प्रवाह में तिनके की तरह बहता चला रहा

था। जब कभी कहीं राम की चर्चा की मनक कानों में पड़ती तो सारा अन्तर किसी पूर्व जन्म की रहस्य-मंथुर और करुण-कोमल सुधि से विकल हो उठता। उस अबोध अवस्था में भी मुझे लगता कि जिन यथार्थ परिस्थितियों में मैं जी रहा हूँ, वे सब जैसे दुःस्वप्न हैं और वास्तविकता जो है उसे मैं बहुत दूर, पूर्व जन्म के उस पार छोड़ आया हूँ।

मुझे बड़े चाव से जूठन खाते देखकर पास-पड़ोस के बच्चे या तो हँसते थे या करुणा और घृणा सनी दृष्टि से मेरी ओर देखते थे। यह देखकर उस छोटी अवस्था में भी मुझे अपने ऊपर दगा आती थी। पर मेरे चोट खाये हुए मन की वह व्यथित भावना मेरे पेट की आग के ऊपर कभी विजय न पा सकी। कोई मुझे यह सलाह देनेवाला न था कि पढ़ना-लिखना सीख ले। मैं सबकी नजरों में एक घृणित या उपेक्षणीय कीट था, किसी आवारा खज्जहा कुत्ते का पिल्ला था, जिसके जीने के लिए नाली में पड़ा जूठन का टुकड़ा पर्याप्त था। ऐसे धिनौने जीव को कौन अपने पास बिठा कर पढ़ाने-लिखाने की बात सोचता? पर अपनी आवारागर्दी के चक्करों में मैं जब किसी कथावाचक को चौपाल में बैठ कर कथा बाँचते सुनता, तब पेट की आग को भूल कर अलग एक किनारे अछूतों की तरह दूर खड़े-खड़े तन्मय भाव से सुनता रहता।

उन दिनों मैं सड़ों में आवारा कुत्तों की तरह मटक रहा था। आयु नौ या दस साल की रही होगी। बाबा नरसिंह तब पीपल की छाया के नीचे एक चबूतरे पर हनुमान जी की एक मूर्ति के निकट बैठ कर लोगों को राम की कथा सुनाया करते थे। बड़े प्रेम से वह कथा सुनाते थे। उनके मुख पर सच्चे ज्ञान और शक्ति का ऐसा सहृदयतापूर्ण प्रकाश सब समय चमकता रहता था कि

चारों ओर के क्रूर और निपट स्वार्थपूर्ण वातावरण के बीच में वह सिवार से घिरे, सुन्दर स्वच्छ कमल की तरह लगते थे ।

एक दिन सन्ध्या को जब वह कथा सुना कर घर लौट रहे थे, तब मैंने दोनों हाथों से उनके चरण-कमल पकड़ लिए और उन पर अपना सिर रख दिया । उन्हें अपने को छुड़ाने में कुछ समय लगा, और तब उन्होंने बड़े प्रेम से मेरा हाथ पूछा और विस्तार से सुना ।

मैंने कहा—“गुरु जी, जैसे भी हो मुझे अपने चरणों का सेवक बनाइये और शिक्षा दीजिये ।” मेरे आँसू उनके चरणों को भिगो रहे थे । कैसे पुनीत और पावन रहे होंगे अन्तर के भी अन्तर से निकले हुए वे आँसू ! आज तो जगत के व्यवहारों से मेरा अन्तर इस हद तक कड़ा हो चुका है कि विकट से विकट मानसिक पीड़ा में भी इन पथराई आँखों से दो बूँद गीले आँसू नहीं निकल पाते । केवल पत्थर के आँसू निकल कर रह जाते हैं ।

मैं अपनी आयु की तुलना में बहुत अधिक अनुभूतिशील था । गुरु जी ने शरण दी और उनकी सेवा करता हुआ मैं पूरी तन्मयता से पढ़ना-लिखना सीखने लगा । दो-चार ही वर्षों में मैंने ऐसी उन्नति कर ली कि गुरु चकित रह गये । सबसे अधिक विस्मय और हर्ष उन्हें उस दिन हुआ जब मैंने दो संस्कृत-श्लोकों के आधार पर हिन्दी में दो छन्द रच डाले । वह बार-बार दोनों को पढ़कर, दोनों की तुलना करते रहे और सहसा मुझे छाती से लगाकर मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए गद्गद कण्ठ से बोले—“रामबोला, सच मानो, अपने सारे ज्ञान की शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हारा अनुवाद मूल से हजार गुना श्रेष्ठ है । तुम यह काम जारी रखो । तुम्हारे भीतर आश्चर्यजनक प्रतिभा काठ के गर्भ में आग की तरह छिपी पड़ी है । जिस दिन वह सुलग उठेगी, उस दिन उसके प्रकाश से सबकी आँखों में चकाचाँध लग जायेगी, और जन-मन का गहन अन्धकार खिसिया उठेगा ।”

गुरु जी की बात तब मेरी समझ में आई और मैं अपनी प्रशंसा सुन कर सकुचा कर रह गया । तब से संस्कृत का जो भी श्लोक मुझे पसन्द आता उसका मैं तत्काल भाषा में पद्यानुवाद कर डालता । बीच-बीच में

मौलिक रचनाएँ भी करता । गुरु जी ने संस्कृत साहित्य के अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों का संग्रह कर रखा था । मेरे हाथ जो भी पुस्तक लगती, मैं उसे पढ़कर, रट कर, घोट कर चाट डालता । किसी नियम से मैं पुस्तक नहीं पढ़ता था, जो भी हाथ लग जातो उसी के अध्ययन में जुट जाता । बहुत-सी पुस्तकें तो मैं गुरु से चुरा कर पढ़ता—विशेषकर शृंगार साहित्य की पुस्तकें । राम साहित्य में विशेष रुचि होने पर भी मैं सभी विषयों की रचनाओं में रस लेता था ।

गुरु जी के आँगन के चौतरे में तुलसी का एक बिरवा था, जिसकी सेवा करने में मुझे बड़ा सुख मिलता था । मैं नित्य उस पर पानी चढ़ाता, उसकी सूखी पत्तियाँ झाड़ कर साफ करता रहता । वह बिरवा काफी फैल गया था और उसकी गन्ध से आँगन सब समय महकता रहता था । एक दिन मैं पानी डाल चुकने के बाद बिरवा हिला कर सूखी पत्तियाँ बटोर कर चौतरा साफ कर रहा था । यह देखकर गुरुजी सहसा बोल उठे—“आज से मैं तुम्हें रामबोला न कह कर तुलसीदास कहूँगा ।” और उस दिन से मेरा नाम स्थायी रूप से तुलसीदास हो गया ।

कुछ समय बाद गुरु जी की मृत्यु हो गयी और मैं फिर यायावर का जीवन बिताने के लिए निकल पड़ा । पढ़ने-लिखने का नियमित क्रम टूट गया । पर जब कभी और जहाँ कहीं भी मौका मिलता, मैं कुछ-न-कुछ अध्ययन कर ही लेता । फिर भी पढ़ने से अधिक आनन्द मुझे प्रत्यक्ष जीवन की विविधता का अनुभव प्राप्त करने में आता । कभी शतरंज के खिलाड़ियों के साथ घण्टों बैठा रहता, कभी नटों के साथ एक गाँव से दूसरे गाँव की यात्रा करता हुआ तमाशा देखता रहता, कभी बन्दरों का नाच दिखाने वाले मदारियों के दल में जा मिलता और कभी किसी मेले में मानवीय लीला के विविध रूपों का अनुभव प्राप्त करता । इन सब चक्करों के बीच मैं कविता लिखने की प्रवृत्ति समय-समय पर मेरे सिर पर भूत की तरह सवार हो उठती और मैं छिट-पुट रूप से कुछ-न-कुछ लिखता चला जाता ।

मैं जवान था, सुन्दर था और रसिया था । नारी के सौन्दर्य के प्रति मैं आरम्भ ही से वैरागी रहा होऊँ, ऐसी बात नहीं है । यह ठीक है कि किसी भी नारी के साथ

मेरा अनुचित सम्पर्क नहीं रहा। पर शृङ्गार रस के प्रति आकर्षण का अनुभव मैंने अपनी जवानी के दिनों में खूब किया है। किसी चक्कर से मेरा विवाह भी एक सुन्दर लड़की से हो गया। मोहमग्नता के वे दिन मुझे कभी नहीं भूलेंगे। अन्त में एक दिन मेरी साध्वी पत्नी ने मेरी आँखें खोलीं। उसने मेरी मोहाच्छन्नता को धिक्कारा और तब से मैं अपनी जवानी की भूलों से मुक्त हो कर राम निर्देशित कर्तव्यों की पूर्ति के इरादे से बाहर निकल पड़ा। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं अब नियमित रूप से कविता लिखूँगा—पर ऐसी कविता जो राम से सम्बन्धित हो, क्योंकि मुझे विश्वास हो गया था कि राम ही में सृष्टि के सारे तत्त्व निहित हैं, जीवन-लीला के सभी रूप समाहित हैं।

मैंने आरम्भ ही से कविता के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग किये। संस्कृत के श्लोकों के वाक्वातुय को हृदय की अन्तरतम भावना-भूमि में उतार लाने की प्रबल इच्छा मेरे मन में जागती रहती थी, इसलिए इस पुराने प्रयोग को मैंने जारी रखा। उदाहरण के लिए, एक दिन मेरी दृष्टि 'हनुमन्नाटक' के इस श्लोक पर पड़ी—

सद्यः पुरी परिसरेषु शिरीषमृद्वी
गत्वा जवात् त्रिचतुराणि पदानि सीता ।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद्ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥

मुझे तत्काल प्रेरणा हुई और मैंने उसके आधार पर यह मधैया रच डाला—

पुर तें निकसी रघुबीर बधू
घरि धोर दिये मग में डग द्वै ।
झलकी भरि भाल कनी जल की
पुट सूखि गये मधुराधर वै ।
फिरि बूझति है चलनोऽब कितो
प्रिय पनंकुटी करिहौ कित ह्वै ।
तिय की लखि आतुरता पिय की
अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥

अपने इस प्रयास से मुझे स्वयं बड़ा सन्तोष हुआ।

तब से मैं कभी संस्कृत में रचे गये राम-सम्बन्धी ग्रन्थों की प्रेरणा से और कभी अपने अन्तर की अनुभूति से विविध छन्दों में राम-सम्बन्धी गाथा लिखता चला गया। लोक-भाषा, लोक छन्दों, लोक गीतों से मुझे बड़ी प्रेरणा मिलती थी और राम की कथा को उन्हीं छन्दों और गीतों की शैली में लिपिबद्ध करने की बड़ी इच्छा होती थी। इसी सिलसिले में कई प्रयोग मैंने किये। उदाहरण के लिए 'रामलला नहछू' के ये पद प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

गोद लिहे कौसिला बैठि रामहिं बर हो ।
सोभित दूलह राम सीस पर आँचर हो ॥
नख काटत मुसुकाहिं बरनि नहिं जातहि हो ।
पदुमराग मनि मानहुँ कोमल गातहि हो ॥

× × ×

कटिकै छीनि बरिनिया आना पानिहि हो ।
चन्द्रबदनि मृगलोचनि सब रसखानिहि हो ॥

'गीतावली' में मैंने राम-जननी को एक सरल देहाती स्त्री माना है, जो राम के वन-गमन पर व्याकुल हो कर पुकार उठती है—

राघौ एक बार फिरि आवौ ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बनहि सिधावौ ॥
भरत सौगुनी सार करत है अति प्रिय जानि तिहारे ।
तदपि दिनहि दिन होत झाँवरे मनहुँ कमल हिम मारे ॥
सुनहु पथिक, जो राम मिलहि बन, कहियो मातु सँदेसो ।
तुलसी मोहि और सब हो ते इन को बड़ो अँदेसो ॥

'बरवै रामायण' में भी कविता को जन-मानस में उन्हीं की भाषा में प्रविष्ट कराने का प्रयास मैंने किया। उसमें सीता का रूप-वर्णन इस प्रकार है—

सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर,
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर ।
का घूँघट मुख मूँदहु नवला नारि,
चाँद सरग पर सोहत यहि अनुहारि ।

'कवितावली' में भी मैंने यही प्रयोग जारी रखा और अन्त में एक बहुत बड़े प्रयोग का बीड़ा मैंने उठाया,

जिसकी कल्पना मैं बहुत वर्षों से कर रहा था, पर हाथ लगाने का साहस नहीं होता था। वह प्रयोग था राम-चरितमानस। इस ग्रन्थ में मैंने अपनी जन्म-जन्मान्तर से प्राप्त अनुभूतियों को, अपने समस्त ज्ञान-विज्ञान को अन्तः प्रेरणा की आँच में जला कर राम की गुण-गाथा गाने के बहाने सम्पूर्ण मानव-जीवन लीला को ही कविता के रूप में ढालने का प्रयास किया। अपने इस बाल-प्रयास की सफलता के सम्बन्ध में मैं बहुत शकित था, पर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मैंने देखा कि उसकी लोकप्रियता दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती चली जा रही है। जो ज्ञानलव-दुर्विदग्ध आलोचक वरसों से कविता के क्षेत्र में मेरे नये प्रयोगों का उपहास करते चले आ रहे थे, वे तक मौन हो गये। चारों ओर से मुझे अप्रत्याशित सम्मान प्राप्त होने लगा। तुलसी गुसाई बन गया और सब जगह पुजने लगा। अपने वे मौढ़े दिन वह भूल गया जब वह घर-घर टुकड़े माँगता फिरता था, दुष्टों से छिप कर मसजिदों में सोता था और दुनिया भर की उपेक्षा और उपहास का पात्र बना हुआ था। यह राम की महिमा थी—

रामनाम को कलपतरु कलि कल्याण निवास।
जैहि सुमिरत भयो भाँग ते तुलसी तुलसीदास ॥

पर मेरी निरन्तर बढ़ती हुई प्रसिद्धि ने खलों को फिर मेरे विरुद्ध कर दिया। और शंभु की इसी काशी नगरी में वे संगठित उपायों से मुझे कष्ट पहुँचाने लगे, यहाँ तक कि मेरी हत्या के उद्देश्य से भी कई प्रयत्न उन्होंने किये। मृत्यु का भय मुझे नहीं है, पर इस कल्पना से मेरी छाती फटी जाती है कि इस काशी नगरी में भी विकट राम-

विरोधी प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं। मेरे उस राम का विरोध यहाँ होता है, जिसके विराट् रूप के भीतर जीवन के सभी मूल तत्त्व और उनके विकास के सारे उन्नत रूप वर्तमान हैं, जिसके व्यक्तित्व में सभी धर्मों और सभी सम्प्रदायों की प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ घुल-मिल कर एक हो गयी हैं, जो अपनी अनेकरूपता में भी एक हैं और जो जीवन के समस्त अकल्याणकारी तत्त्वों के बीच में चिर मंगलमय प्रकाश की कमी न बुझने वाली लौ को जलाये हुए हैं।

अपने दोष जीवन के कड़वे और मोठे, छिछले और गहरे, सभी अनुभवों के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि राम की लीला अनन्त और अपार है। वह न जाने कितने जन्मों से मुझे इसी तरह नचा रही है। पर इन सारे चक्करों के अन्तराल में उसकी अनन्त करुणा की धारा अदृष्ट रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। वचन में उसकी लीला को जितना समझ पाया था, नब्बे वर्ष की उम्र में उससे एक कण भी अधिक नहीं समझ पाया हूँ। पर इसे न समझ पाने का तनिक भी दुःख मुझे नहीं है; क्योंकि उसके प्रेम का मूल स्रोत मैंने पा लिया है। मुझे न मोक्ष चाहिए, न यश, न सांसारिक सुख। चाहिए केवल राम के प्रेम-पीयूष पान से कमी न अघाने वाली अदृष्ट प्रवृत्ति। एक दिन मैंने गाया था—‘तू दयाल दोन हौं तू दानि हौं मिखारी।’ मंगतों के कुल में जन्मा मैं मिखारी, गुसाई हो जाने पर भी आज भी मिखारी ही हूँ, और अनन्त काल तक राम के दरवाजे पर खड़े हो कर प्रेम की भीख माँगते रहने की चिर अतृप्त आकांक्षा अन्तर में संजोये हूँ। आज भी मेरी यही कामना है कि—

जनम-जनम रति राम पद यह बरदान न आन।

जीवन का लक्ष्य

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु यन्मे मोदसागराः।

त एव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ॥

—दूसरों के मुक्त होने से मेरे मन में आनन्द के जो सागर उठते हैं, वे मेरे लिए पर्याप्त हैं। मैं इस व्यक्तिगत मोक्ष को, जिसमें कुछ रस नहीं है, लेकर क्या करूँगा ?

—बोधिचर्यावतार से

खोजना अपने-आपको हो है

श्री रतनलाल जोशी

सन् १९४६ के दिसम्बर महीने की बात है। एक महीने की दारुण बीमारी ने शरीर और मन को रस-निचोड़ ईख बना कर रख दिया था। रोग डाक्टरों के लिए मायामृग बना हुआ था, उनकी पकड़ में ही नहीं आ रहा था—फलतः दवाओं का परिणाम भी विपरीत ही हो रहा था। प्राणशक्ति का क्षरण इस सीमा तक हो चुका था कि अक्सर चेतना अन्तर्धान हो जाती और आत्मीय-स्वजनों के पुकारने पर ही फिर से जाग्रत हो पाती थी। अन्न छूट गया था, केवल सब्जियों का 'सूप' या सन्तरे का रस ही प्राणों को थामे हुए था। मोह-ममता का बन्धन कहिये या अस्तित्व की शर्त कि जीवन एक क्षीण-शीर्ण घागे के रूप में ही देह से अटका हुआ था। डाक्टरों ने आशा छोड़ दी थी। मित्र-समुदाय जरूर ढाढ़स बँधाता था; मगर यह तो कर्तव्यवशात् ही था। चिन्ता और भय की अतल गहराई उनकी आँखें मुझसे छिपा नहीं पाती थीं।

मुझे अच्छी तरह याद है। उस दिन मंगलवार था। दिसम्बर का महीना था। सरदी थोड़ी ज्यादा थी। अपराह्न के चार बजे मेरे शरीर में एक तीव्र कँपकँपी सिर-से-पैर तक दौड़ गयी और उसके बाद इतना तेज पसीना आया कि कपड़े भीग गये। बस इतना मुझे ज्ञात है—करीब तीन घण्टों में मुझे होश आया और जब आँख खुली तो करीब आधे घण्टे तक मुझे न तो अपने पर विश्वास आया और न अपने आसपास की दुनिया पर! करीब साल भर मेरी यही हालत रही। पचासों बार यह दौर आया और गया। इस दौर के दरम्यान मुझे यही लगता कि मैं वह नहीं हूँ जो उस मंगलवार से पहले था और जो संसार मुझे चारों ओर से घेरे हुए है, वह मेरा संसार नहीं है, किसी दूसरे व्यक्ति का है, भूल से मुझे सौंप दिया गया है।

इस नवीन चेतना के दौर का असर मुझ पर प्रायः तीन-चार दिन तक रहता; मैं अपने-आपको एक भिन्न व्यक्ति अनुभव करता। प्रचलित काम-काज में मेरा मन नहीं लगता—न मौन एवं एकान्त ही भाता था और न जन-संकुलता ही। अकेला रहता तो ऐसा मान होता मानो किसी अतल गहराई में डूबकर खो गया हूँ या कण-कण बिखरकर अस्तित्वहीन हो गया हूँ। लगता कि एक धुँधला बिन्दु भी नहीं हूँ मैं—कुछ भी तो नहीं हूँ!

हाँ, उस मंगलवार को जब मैं चेतनाशून्य हो गया था, तो उस घोर अन्धकार में जो कुछ मैंने देखा, वह आजीवन अविस्मरणीय रहेगा। मुझे याद था कि मेरी आँखें खुली हुई थीं; किन्तु मेरे सामने जो था, वह मैं नहीं देख रहा था, कुछ और ही देख रहा था। मुझे लगा कि मैं बड़ी तेजी से नीचे उतरता जा रहा हूँ, इतनी तेजी से कि जैसे मैं भारहीन हो गया हूँ और ऊँचाई-निचाई अथवा गति मेरे शरीर के लिए कोई चीज नहीं है। काफी देर तक यही क्रम रहा—मैं लगातार नीचे बूढ़ता गया। चारों ओर अन्धकार था—निस्सीम अन्धकार। दिशाओं की दीवारें ढह गयी थीं। अनन्त मुक्तावकाश मेरे आसपास था—शब्दहीन, वर्णविहीन, मौन से आवृत।

इस निर्विकार-निःसीम शून्य में 'मुझे बड़ी सान्त्वना का अनुभव हुआ। चारों ओर व्याप्त एक अतुलनीय शान्ति के सुरभित स्पर्श अपनी सौम्य शीतलता में मुझे एक विलक्षण तृप्ति की अनुभूति दे रहे थे। सुख की यह अनुभूति धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी और उसके साथ-साथ मेरे नीचे उतरते जाने की गति भी। अन्धकार का भी यही क्रम था—मुझे लगा, वह भी उत्तरोत्तर सघन एवं काला होता जा रहा था—काजल से भी हजार गुना ज्यादा काला और स्थिर एवं अचल।

सुख-सान्त्वना की इस अनिवर्चनीय अनुभूति में सहसा एक महान् परिवर्तन हुआ। अकस्मात् एक बिजली-जैसी कौंधी—निःशब्द और उस अनन्त-अखण्ड मौन-जैसी ही एक मुक विद्युल्लता उस दिक्कालहीन अन्धकार-को ऐसे पी गयी जैसे वह वहाँ कभी था ही नहीं। चारों तरफ वसन्त के सूर्योदय की भाँति प्रकाश फैल गया मोठा-मोठा, प्यार-प्यारा प्रकाश और मैंने पाया कि मैं उस शून्य में घुलमिल कर शून्य नहीं हो गया हूँ, वरन् मैं शेष हूँ, मेरा अस्तित्व है—मैं हूँ !

मैं उस प्रकाश के भीतर देखने का प्रयत्न करने लगा—पहले के अतल-असीम अन्धकार की तरह वह प्रकाश भी अनन्त था—दिशाहीन, शब्दहीन। काफी देर तक मैं इस प्रकाश से घिरा रहा। महासागर की मछली की तरह उसमें डूबता-उतराता रहा। फिर अपलक देखा कि उस प्रकाश के भीतर से एक मानव-आकृति उभर रही है। उस आकृति की रेखाएँ बड़ी तीव्रता से स्पष्ट होती जा रही हैं। उस उजाले के पट पर जब वह उज्ज्वल मूर्ति पूरी साकार हो गयी, तो मैंने पाया कि केवल उस मूर्ति का ही आलोक शेष रह गया है और वास्तव में वह सारा अनन्त प्रकाश सहस्र-सहस्र किरणों के रूप में उस मूर्ति से ही निकलकर दिग्दिगन्त में फैलता जा रहा है।

थोड़ा और स्पष्ट होते ही उस मूर्ति को मैंने पहचान लिया। मेरे देखते-ही-देखते वह आकृति अपनी परिपूर्ण तेजस्विता में निखर गयी। चकित-विह्वल मैं उसे अपलक देखता रहा। वह मूर्ति भी अचल खड़ी थी और अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से मुझे एकटक देख रही थी। कैसी आँखें थीं वे—ममत्व का पर्वत जैसे उनमें पिघल गया हो। मैंने देखा, उन आँखों से दूध-जैसी तिरल किरणें निकल रही हैं और वे किरणें मेरे अंग-प्रत्यङ्ग का अभिप्रेक कर रही हैं—मैं सिर-से-पैर तक स्नेह-सौरभ-स्नात हूँ। न जाने कौन सी सुधा-संजीवनी छिड़क रही हैं वे आँखें मेरी देह पर कि मैं आनन्दातिरेक में अपनी हस्ती भूल गया हूँ। बड़ी देर तक स्नेह-स्निग्धता-वर्षण की यह स्थिति बनी रही। वह प्रसन्नवदन मूर्ति अपनी शशि-स्मिति में अनिमेष मुझे देख रही थी और मैं उन प्रेम-पयोधि जैसी आँखों से बरस रहे आनन्द में सराबोर खड़ा था।

काफी लम्बे मौन के बाद उस मूर्ति ने अपने अधर खोले। मुझे सम्बोधन करते हुए बड़े मधुर स्वर में कहा—
'क्यों, कुछ छूट गया है क्या पीछे ?'

मेरे मुख से निकला—'नहीं, छूटा तो कुछ भी नहीं है।'

वह मूर्ति और भी ममत्व-भरे स्वर में बोली—'तो फिर यहाँ इस नदी के किनारे खड़े-खड़े क्या सोच रहे हो ? नदी को पार क्यों नहीं कर लेते हो ? काफी देर से खड़े हो, मैं देख रहा हूँ।'

मैंने नीचे देखा, तो सचमुच नदी थी मेरे पैरों के पास—एक विशाल नदी जिसके दूसरे किनारे पर एक छोरहीन स्वर्ण-नगरी बसी हुई थी। बड़े-बड़े भवनों वाली उस नगरी के चारों कोनों पर हीरे के विशाल गुम्बद थे और नगर के बीचों-बीच एक गगनचुम्बी स्तम्भ था जो अपने मूल में मंथर गति से गोल घूम रहा था और उस आवर्तन में उस पर इन्द्रधनुष के रंग चमचमा उठते थे। एक विचित्र प्रकार के सफेद धुएँ से वह नगर आच्छादित था। उस सफेद धुएँ के बादल ऊपर-नीचे, दायें-बायें, सब तरफ थे।

मगर मैंने देखा कि नगर की बस्ती इतनी सधन है, फिर भी कहीं कोई कोलाहल नहीं—विस्मय-जड़ खड़ा मैं न-जाने कब तक देखता रहा उस लम्बी-चौड़ी सोने की नगरी को, जो अपनी बनावट में किसी अत्यन्त सुदक्ष इंजीनियर की कृति लग रही थी, किन्तु जिसमें अचल मौन का ही आवास था—न कहीं कोई गति थी और न स्वर !

मुझे उस स्थिति में विस्मृत देख उस मूर्ति ने अपना दायी हाथ उठाया और उस स्वर्ण-नगर की ओर इशारा करते हुए कहा—'उसे अमरपुरी कहते हैं। देवों का निवास है वह। क्या वहाँ जाने की इच्छा है तुम्हारी ?'

मैंने एक बार और उस स्वर्ण-नगर की ओर देखा और स्पष्ट स्वर में उत्तर दिया—'नगरी बड़ी सुन्दर है; किन्तु मैं वहाँ नहीं जाना चाहता।'

'क्यों ? क्या भय लगता है ?'—उस दिव्याकृति ने मुझसे पूछा।

'नहीं। भय कैसा ? किससे डरूँगा ? यहाँ-वहाँ कोई

कुछ भी तो नहीं है। शून्य में किसका डर ?' मैंने तर्क किया।

अपनी भुवन-मोहिनी मुख-छवि में वह पुरुष थोड़ा मुस्कराया, बोला—'तो फिर क्यों जाना नहीं चाहते ? इतना आ गये हो तो आगे भी जाओ।'।

'मुझे लगता है कि यह सब भ्रम है—स्वप्न है। इस मिथ्या में जाकर मुझे क्या मिलेगा ?' मैंने अपने-आपको स्पष्ट किया।

'और क्या तुम स्वयं भ्रम नहीं हो ? क्या यह नहीं हो सकता कि तुम स्वयं भ्रम हो और यह सब सत्य है' वह व्यक्ति और मुस्कराया।

'हाँ, यह ठीक हो सकता है। क्या सही है मुझे यही खोजना है।'।

वह देवोपम व्यक्ति अपनी आँखों में अपार माधुर्यभरे मुझे घूरता रहा, काफी देर तक। फिर बोला—'कहाँ खोजोगे इसे ?'

मैं आत्मविमूढ़ अवाक् खड़ा था। क्या उत्तर देता ? मैं आगे बढ़ा और उस ज्योतिर्मयी आकृति के पैरों में झुक गया। मुझे आज भी याद है, मैंने उन पावन चरणों का स्पर्श किया था, मैंने उन पाद-पद्मों में अपना सिर टेक दिया था।

उन्होंने मुझे उठाया नहीं। मेरा स्पर्श भी नहीं किया। केवल यह कहा—'समर्पण उपलब्धि के द्वार खोल देता है। जाओ खोलो द्वार। खोजना किसी और को नहीं, अपने को ही खोजना है।'।

थोड़ी देर बाद ही मेरी आँखें खुल गयीं। मैं रो पड़ा, नहीं खुलती तो अच्छा था। अपने को बहुत धिक्कारा। कितना पा गया था ? क्या वापस आकर कुछ पा सकूँगा ? क्या इस दानवीय अहम् को अर्पण बनाकर उन चरणों में फिर चढ़ा सकूँगा ?

मन बड़ा छटपटाया। कानों में वे शब्द गूँजते रहे—'समर्पण उपलब्धि के द्वार खोल देता है—खोजना किसी और को नहीं, अपने को ही खोजना है।'।

मरण-द्वार पर आकर जिसने ममत्व-पीयूषी स्वर में ये शब्द कहे, क्या उनकी ऐसी महती कृपा इस नये जीवन में मिल सकेगी ? क्या इतनी पात्रता कमा सकूँगा मैं ?

प्रश्न क्षीण होते-होते आज शून्य हो गये हैं—खंडहर भी तो नहीं मिलते उनके ? किन्तु वे शब्द जरूर आते हैं; बार-बार आते हैं और मेरे अँधेरे को आलोकित कर जाते हैं।

ये शब्द थे भगवान् श्रीरमण महर्षि के जिन्हें मैंने मृत्यु के उस छोर पर उस मृत्युविहीन क्षण में, प्रत्यक्ष पा लिया था। यों बाद में उनके दर्शन दर्जनों बार किये; किन्तु मरण के तोरण-द्वार पर मेरी चेतना को अपनी कृपा की किरणों से मिगोती वह मूर्ति अद्वितीय थी—मानव-ममत्व से आपूर्ण उन दो नयनों से कैसा आश्वासन टपकता था—मानो आश्वासन के इस अमृत-घूँट से ही इस सृष्टि में प्राण-स्पन्दन है !

जीभ और जितेन्द्रिय

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।

वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्द्धते॥

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान्।

न जयेद्रसनं यावत् जितं सर्वं जिते रसे॥

—मनीषी इन्द्रियों को उनका आहार देना बन्द करके शीघ्र ही उन पर विजय प्राप्त कर लेता है।

किन्तु इन्द्रिय-मुख में तब भी उसकी लालसा बनी रहती है, जो अपना आहार न पा कर निरन्तर बढ़ती ही जाती है। इसलिए, जबतक मनुष्य अपनी रसना (जिह्वा) पर विजय नहीं प्राप्त कर ले, तब तक वह जितेन्द्रिय नहीं कहा जा सकता। जिसने रसना को जीत लिया, उसने सब कुछ जीत लिया।

—श्रीमद्भगवत्

धन-सम्पदा

रवीन्द्र

८

केवल प्रज्ञा और शक्ति ही भगवती माता के व्यक्त रूप नहीं हैं। उनकी प्रकृति का एक और सूक्ष्म रहस्य है जिसके बिना प्रज्ञा और शक्ति अपूर्ण रहती है, और पूर्णता भी पूर्ण नहीं हो सकती। ज्ञान और शक्ति के ऊपर शाश्वत सौन्दर्य का चमत्कार, दिव्य सामञ्जस्यों का अगम रहस्य है, अति सम्मोहक विश्वव्यापी मनोहरता और आकर्षण का जादू है जो वस्तुओं, शक्तियों और सत्ताओं को अपनी ओर आकर्षित करके एक जगह बाँधे रखता है और उन्हें मिलने और एक होने के लिए बाधित करता है, ताकि छिपा हुआ आनन्द परदे के पीछे से अपना साज बना सके और उन्हें अपना ताल-छन्द और अपनी टेक बना सके। यह महालक्ष्मी की शक्ति है और देहधारी सत्ताओं के लिए दिव्य शक्ति का कोई रूप इतना आकर्षक नहीं होता। धरती के वासियों को—पार्थिव प्रकृति की क्षुद्रता को—महेश्वरी इतनी अधिक शास्त्र, महाम् और दूर लग सकती है कि वह उन्हें सह भी न सके, परन्तु महालक्ष्मी की ओर सभी बड़े उल्लास और उत्कण्ठा के साथ मुड़ते हैं, क्योंकि वे भगवान् की सम्मोहक मधुरता का जादू फैलाती हैं। उनके पास होने का अर्थ ही है गलत सुख पाना और उन्हें अपने हृदय के अन्दर अनुभव करने का अर्थ है जीवन का आनन्दोल्लास और चमत्कार से मर जाना। महालक्ष्मी से लावण्य, मोहकता और मृदुता ऐसे ही प्रवाहित होती है जैसे सूर्य से प्रकाश। वे जहाँ कहीं अपनी अद्भुत दृष्टि को स्थिर करती हैं या जिस पर अपनी स्मित की मधुरता डालती हैं वही आत्मा उसकी पकड़ में आ कर बन्दी बन जाती है और अथाह आनन्द की गहराई में डूबकी लगाती है। उनके हाथों का स्पर्श चुम्बन की तरह आकर्षक है, और उनका रहस्यमय कोमल प्रभाव मन, प्राण और शरीर का परिष्कृत करना है और जहाँ उनके चरण पड़ते हैं वहाँ सम्मोहक आनन्द की दिव्य धाराएँ बहने लगती हैं।

फिर भी उनकी मोहिनी शक्ति की माँग को पूरा करना या उनकी उपस्थिति को बनाये रखना आसान नहीं है। मन और अन्तरात्मा का सौन्दर्य, विचारों और भावनाओं का सौन्दर्य, हर बाहरी गतिविधि और क्रिया में सामञ्जस्य और सौन्दर्य, जीवन और उसके परिवेश का सामञ्जस्य और सौन्दर्य—यही है महालक्ष्मी की माँग। जहाँ सृष्टि के गूढ़ रहस्यमय आनन्द के साथ सम-स्वरता होती है, जहाँ परम सुन्दर के आह्वान का उत्तर मिलता है और भगवान् की ओर उन्मुख बहुत-से व्यक्तियों की मैत्री, एकता और प्रसन्न जीवन-प्रवाह होते हैं; महालक्ष्मी उसी वातावरण में निवास करना स्वीकर करती है। जो कुछ कुरूप, क्षुद्र, तुच्छ है, जो दीन, मलिन और कुत्सित है, जो कुछ उजड़ू और असंस्कृत है वह उनके आगमन को रोकता है। जहाँ प्रेम और सौन्दर्य नहीं है या जहाँ वे जन्म लेने से इनकार करते हैं, ऐसे स्थान पर महालक्ष्मी नहीं आती और जहाँ वे घटिया चीजों के साथ मिले रहते हैं या उनके कारण भेदे बन जाते हैं वहाँ से महालक्ष्मी तुरन्त मुँह मोड़ लेती हैं या वहाँ अपना ऐश्वर्य उडेलने की परवाह नहीं करती। अगर वे मनुष्यों के हृदयों में अपने-आप को स्वार्थ, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, असूया और कलह से घिरा हुआ पाती हैं, जब पवित्र पात्र में विद्वासघात, लोभ, कृतघ्नता मिले रहते हैं, यदि वासना की ग्राम्यता और असंस्कृत या अपरिष्कृत कामना भक्ति को भ्रष्ट कर देती है तो ऐसे हृदयों में यह सुन्दर कृष्णामयी देवी क्षण-भर के लिए भी नहीं ठहरती, ऐसी अवस्था में वे दिव्य जुगुप्सा से मर जाती हैं और वे पीछे हट जाती हैं, क्योंकि वे सभी नहीं हैं कि आग्रह या संघर्ष करें। या फिर वे अपना मुँह ढक कर इस कड़वे विषैले आसुरी तत्त्व के बाहर फेंके जाने की प्रतीक्षा करती हैं, ताकि वे अपने आह्लादपूर्ण प्रभाव को फिर से स्थापित कर

[शेष पृष्ठ १४ पर]

जमुनोत्तरो

श्री घनश्यामदास बिरला

(गतांक का शेष)

कालिदास के अनुसार कैलास की तराई में एक 'अलका' नाम की नगरी थी। यह कुवेर की राजधानी थी। कैलास शिवजी का मुख्य स्थान था। उसीकी तराई में अलका नाम की यक्षों की एक बस्ती थी। वहाँ के एक यक्ष ने बदतमीजी की, इस पर उसके स्वामी ने खफा होकर उसे देश-निकाला दे दिया। उसने नागपुर के पास रामगिरि पर एक कुटी बना ली। वहाँ वृक्षों की सघन छाया में कई आश्रम थे। उसने भी वहाँ अपनी कुटी बनायी। सघन छाया के बावजूद शीत में रहने वाला पर्वतीय यक्ष रामगिरि की गर्मी से सन्तप्त हो उठा। दूसरी ओर अपनी पत्नी के वियोग से भी वह व्याकुल था, इसलिए इतना क्रुश हो गया कि उसके हाथ का कंगन भी बाँह से निकल कर नीचे गिरने लगा।

अब आषाढ़ का महीना आया। आकाश में मेघ धिर आया और उस मेघ की यात्रा शुरू हुई। यह मेघ उत्तर की ओर जाता था। बेचारे यक्ष ने सोचा कि उस मेघ द्वारा ही सही, अपने घर और अपनी पत्नी को जो 'अलका' में रहती है, कुशल संवाद तो भेजूँ। इसलिए उसने मेघ को अपना दूत बना कर पत्नी के नाम अपना सन्देश भेजना शुरू किया। साथ-साथ मेघ को यह भी बताना जरूरी था कि वह कौन-से रास्ते से अलका सही-सलामत पहुँच जायगा। यह कालिदास के 'मेघदूत' की कहानी है। मेघ यक्ष के बताये मार्ग से अलका की ओर चल पड़ा। यक्ष के बताये मार्ग से वह रामगिरि से चल कर क्रमशः माल क्षेत्र, आन्नकूट, नर्मदा, दशार्ण, वेत्रवती, विदिशा, उज्जैन होता हुआ चर्मण्वती से आगे बढ़ कर कुरुक्षेत्र होता हुआ कनखल पहुँच गया।

यहाँ तक तो मेघ के पद-चिह्नों के पीछे-पीछे चल कर हमें कनखल तक अर्वाचीन भूगोल से मेल मिलाने में कोई कठिनाई नहीं होती, पर कनखल पहुँचते ही मेघ अचानक एक ही छलांग में जब कैलास पहुँच जाता है, जिसकी तराई में 'अलकापुरी' थी, तब उलझन शुरू होती है, क्योंकि आज जिसे हम कैलास मानते हैं और जो तिब्बत में है, वहाँ पहुँचने में सारे हिमालय को लाँघना पड़ता है। रास्ते में कई प्रसिद्ध स्थान आते हैं उनका मेघ ने कोई जिक्र नहीं किया। कैलास में मन्दाकिनी बतायी है, जो आज के कैलास में है ही नहीं। इसलिए हमें मेघदूत के वर्णन से कुछ भ्रम पैदा हो जाता है।



लेखक

मेघ ने तो आकाश-मार्ग से हिमालय के सौन्दर्य की सारी झलक देखी होगी। यह वर्णन यदि वह सांगोपांग करता, तो अवश्य ही हमारे ज्ञान की वृद्धि होती और नक्शा खींचने में भी हमें सहायता मिलती, पर मेघ ने इस क्षेत्र में मौन रह कर अदृश्य हो हमें इस दिलचस्प वर्णन से वंचित रखा है।

पर अन्वीक्षकों ने कैलास की बृहद् व्याख्या की है, जो हमारी उलझनों को सुलझा देती है। कैलास का एक नाम 'हेमकूट' भी था। नन्दलाल दे की राय में हेमकूट नाम से हिमालय की वह बन्दरपूँछ श्रेणी भी जानी जाती थी, जिसमें अलकनन्दा, गंगा और यमुना का उद्गम है। कैलास और बन्दरपूँछ की श्रेणियाँ सो कैलास के अन्तर्गत ही थीं। प्राचीन भूगोलविदों के अनुसार गन्धमादन भी कैलास-शृंखला का ही एक भाग है। 'कालिकापुराण' ने इसे कैलास पर्वत के दक्षिण में रखा है। महाभारत और

बाराहपुराण इसी पर्वत पर बदरिकाश्रम की स्थिति मानते हैं। मार्कण्डेय और स्कन्दपुराणों के अनुसार वह पर्वत, जिससे अलकनन्दा निकलती है, गन्धमादन है। गन्धमादन को स्पष्टतः कैलास-शृङ्खला के भीतर या उसके पास ही रखा जाता है। कालिदास के अनुसार मन्दाकिनी और जाह्नवी गन्धमादन के भीतर होकर बहती हैं। इस तरह वह सारी-की-सारी शिखर-श्रेणी कैलास के अन्तर्गत आ जाती है। इसे स्वीकार करने पर हमारी बहुत-सी उलझनें सुलझ जाती हैं।

कैलास शिवजी का स्थान था। आज भी केदारजी का मन्दिर मन्दाकिनी के तट पर है, वहाँ शिवजी का स्थान रहा होगा। यक्ष की अलकापुरी भी, चूँकि बन्दरपूँछ, हेमकूट, गन्धमादन—ये सभी पर्वत-श्रेणियाँ कैलास की संज्ञा में समाविष्ट होती हैं, इसलिए इन्हीं पर्वतों में कहीं रही होगी।

महाभारत और अन्य पुराणों में भी हिमालय का काफी रसमय वर्णन मिलता है। पाण्डव जब युद्ध की तैयारी में लगे हुए थे और द्रौपदी तथा भीम काफी क्रुद्ध होकर युधिष्ठिर को शीघ्र ही युद्ध में उतरने के लिए उकसा रहे थे, उसी समय व्यास जी वन में युधिष्ठिर से मिलने आ गये। व्यास जी ने यह विवाद-सुनकर द्रौपदी और भीम को शान्त करते हुए कहा, 'तुम लोग वृथा जल्दबाजी करना चाहते हो। बिना पूरी तैयारी के युद्ध नहीं जीते जाते। अपने विरोधियों के बलाबल का अनुमान करके ही युद्ध आरम्भ करना चाहिए।'।

उन्होंने कहा, 'विजय के लिए यह आवश्यक है कि अर्जुन इन्द्र के पास जा कर उनसे अमीष शस्त्रों की याचना करे और पूर्ण बल सम्पादन करे।' व्यास जी ने यह भी कहा कि इन्द्र ने अर्जुन से वादा किया था कि यदि शंकर भगवान् अर्जुन को पाशुपतास्त्र प्रदान कर देंगे, तो इन्द्र भी अर्जुन को अपने शस्त्रास्त्रों से सहायता करेगा, इसलिए अर्जुन हिमालय में जाकर पहले भगवान् शंकर से पाशुपत लाये और फिर इन्द्र से उन शस्त्रास्त्रों की याचना करे। यह राय सबको पसन्द आयी और अर्जुन उत्तर की ओर चला गया। पहले तो उसने हिमालय में तप करके शिव भगवान् से पाशुपत लिया और फिर इन्द्र से अन्य हथियार माँगे।

अर्जुन इन्द्र का अत्यन्त प्रिय पात्र था, इसलिए इन्द्र ने अर्जुन की याचना स्वीकार की और कहा, कि वत्स, मेरे साथ अब चलकर कुछ समय इन्द्रलोक में बिताओ और उसके बाद शस्त्र लेकर घर जाना। अर्जुन ने यह आज्ञा मानकर इन्द्र के साथ कुछ समय के लिए इन्द्रलोक में रहना स्वीकार किया।

जब बहुत समय बीत जाने पर भी अर्जुन वापस नहीं लौटा तो युधिष्ठिर और अन्य माइयों की चिन्ता बढ़ गयी। वे लोग चिन्ता कर ही रहे थे कि इस बीच में नारद जी पहुँच गये। नारद जी ने इन माइयों से कहा कि 'तुम सब लोग चिन्ता से विमुक्त होकर तीर्थयात्रा कर आओ।' इसी बीच लोमश ऋषि भी इन्द्रलोक से संवाद लेकर आ पहुँचे कि अर्जुन सकुशल हैं, पर तीर्थयात्रा का जो निश्चय किया, वह स्थायी रहा।

इसके बाद युधिष्ठिर की तीर्थयात्रा शुरू होती है। पूर्व, दक्षिण और पश्चिम के तीर्थों का पर्यटन करते हुए चारों माई और द्रौपदी अन्त में उत्तर को गये और फिर हिमालय में प्रविष्ट हुए।

यहाँ से हिमालय का वर्णन शुरू होता है, जो काफी मनोरंजक और ज्ञानवर्धक है। ऋषि ने हिमालय का जो वर्णन उस समय किया, वह आज भी उसी से मेल खाता है। इसमें मन्दराचल, गन्धमादन, बदरि, मैनाक, गंगा का स्रोत बिन्दुसार इत्यादि का विस्तृत वर्णन है। बदरि में नर-नारायण ने तप किया, उसका भी वर्णन है। 'फूलों की घाटी' का भी जिक्र है। आज भी यह फूलों की घाटी सारे संसार में प्रसिद्ध है। दूर-दूर के विदेशी यात्री इस घाटी को देखने के लिए आते हैं। इन सब स्थानों में ऋषियों के आश्रम थे, इसका काफी विस्तार के साथ महाभारत में वर्णन आता है।

इन तीर्थों का पर्यटन करते-करते अर्जुन भी आ पहुँचा और सब माई अत्यन्त विह्वल होकर अर्जुन से मिले।

हिमालय का यह महाभारत का वर्णन इतना प्रभावोत्पादक और हृदयग्राही है कि पढ़ने पर उमंग उठती है कि हम भी वहाँ क्यों न थे।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस महापर्वत से सैकड़ों नद-नदियाँ निकली हैं, पर जिस क्षेत्र में गंगा-यमुना का

उद्गम हुआ है और हजारों यात्री हर साल वहाँ जाते हैं, उस क्षेत्र में चार ही मुख्य स्थान हैं, जिन्हें चार घाटियाँ भी कह सकते हैं। इन सब घाटियों के पूर्व में तो बदरि है, जहाँ से अलकनन्दा निकलती है, उसके पश्चिम में केदार है, जिसे हम शिव का स्थान भी कह सकते हैं। यह भी किंवदन्ती है कि इसी रास्ते से पाण्डवों ने स्वर्गारोहण किया था। वहाँ से मन्दाकिनी का निकास होता है। उसके पश्चिम में गंगोत्तरी शुरू होती है और अन्त में सबके पश्चिम में है जमुनोत्तरी। गंगोत्तरी के यात्री कुछ ऊपर गोमुख तक भी जाते हैं, पर जमुनोत्तरी का स्रोत बन्दरपूँछ पर्वत के एक भाग कलिन्दगिरि से निकलता है, जिस कारण इसका नाम कालिन्दी या कलिन्दकन्या भी पड़ा है। पर कलिन्दगिरि तक कोई यात्री जाता है, ऐसा हमने सुना नहीं।

इस तरह इस क्षेत्र को सुमीते के लिए चार दरों या चार घाटियों में विभाजित किया जा सकता है। अर्थात् जमुना घाटी, गंगा घाटी, मन्दाकिनी घाटी और अलकनन्दा घाटी। यद्यपि छोटी-छोटी घाटियाँ, जैसी कि पर्वतों में होती हैं, और भी अनेक हैं, पर मुख्यतया ये चार ही दरें हैं। अलकनन्दा घाटी में सौन्दर्य नहीं है। बाकी जमुना, गंगा और मन्दाकिनी घाटियाँ तो सौन्दर्य से छलाछल उमड़ी पड़ी हैं। ये घाटियाँ अत्यन्त मनमोहक और शांतिप्रिय हैं। इसका अनुभव वहाँ जाने से ही होता है।

मन्दाकिनी और अलकनन्दा तो गंगा में मिलकर, गंगारूप होकर ही प्रवाहित होने लगीं। जमुना प्रयाग में गंगा से मिलकर विलीन हुई। प्रयाग के आगे के मार्ग में वैसे तो गंगा एक-चौथाई हिस्सा ही है। जमुना-मन्दाकिनी, अलकनन्दा का तीन-चौथाई। पर तो भी गङ्गा का ही आधिपत्य सर्वोपरि रहा। और भी कई नदी-नाले मिलते गये, पर गंगा ही स्थायी रही।

एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भर्यो।
जब मिलकर सब एक बरन भए, सुरसरि नाम पर्यो॥

सुरसरि का नाम-प्रभुत्व अन्त तक अखण्ड रहा।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, गंगा, जमुना,

अलकनन्दा और मन्दाकिनी इन सबका उद्गम हेमकूट की बन्दरपूँछ श्रेणी से हुआ है और यह हेमकूट और बन्दरपूँछ उसी कैलास के अन्तर्गत हैं, जिसका पुराणों में वर्णन है। इस तरह ये सभी पवित्र स्रोत एक ही पर्वत की सन्तानें हैं। ये सभी धाराएँ सौन्दर्य से प्लावित हैं, सभी शान्त वातावरण पैदा करती हैं। इन सबका संगीतनाद निरन्तर यात्रियों के कर्णगोचर होता रहता है। यह संगीत सबका इकसार है। यदि किसी मनुष्य को उसकी आँखों पर पट्टी बाँधकर एक घाटी में ले जा कर उसकी पट्टी खोल दी जाये, तो वह यह नहीं बता सकता कि वह जमुनोत्तरी जलप्रवाह देख रहा है या गंगोत्तरी के जल की धारा। यह सब उनके सादृश्य बताता है। घाटियों का और आसपास की पर्वत-श्रेणियों का सौन्दर्य भी एक ही जैसा है। सबके जल का जनक है समुद्र, जिसने मेघों को जल देकर पर्वतों पर भेजा और जलदान दिया। अन्त में सभी का जल समुद्र में जा कर लीन होता है।

आकाशात्पतितं तोयं, यथा गच्छति सागरम्।

इस तरह इन सबकी अन्तिम गति भी इकसार है।

पर नाम-भेद के कारण इन सब तीर्थों का माहात्म्य भिन्न-भिन्न है और इन सबमें गंगा के माहात्म्य का आधिपत्य है। यह क्यों? भगवान् श्रीकृष्ण के वय का अधिक हिस्सा द्वारका में बीता, पर द्वारका को उन्होंने विशेष महत्त्व नहीं दिया, जमुना की कीर्ति बढ़ाई, पर तो भी ऐन मौके पर यह कह डाला, 'स्रोतसामस्मि बाह्वी' गंगा मैं हूँ। गंगा को यह आधिपत्य क्यों दिया? 'उज्ज्वल पंख दिये बगुला को, कोयल किहि बिष कारी?' क्यों इस जगत् में सभी प्रश्नों का उत्तर उपलब्ध नहीं होता?

हमारी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सभी की शक्ति अत्यन्त परिमित है। हमारी आँखों की दृष्टि एक विस्तार के बाद निरर्थक हो जाती है। और अन्य इन्द्रियों की शक्ति का भी यही हाल है। इसी तरह हमारी बुद्धि की भी सीमा है। अपने अज्ञान और अहंकार के कारण इस सीमा को स्वीकार करने में हम हठधर्मी करते हैं और एक सर्वविद् की ओढ़नी ओढ़ कर, प्रश्नोत्तर और वाद-विवाद में फँस जाते हैं।

गान्धी जी से एक मरतबा पूर्वजन्म के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए मैंने पूछा कि पूर्वजन्म की कल्पना क्या सही है ? उन्होंने कहा, 'इस विवाद में न पड़ो, जो कर्तव्य कर्म है, उसे करो, बाकी पचड़े को छोड़ो।' रामायण के सम्बन्ध में एक मरतबा राजाजी से बात करते समय मैंने रामायण के कुछ पात्रों का विश्लेषण शुरू किया तो राजाजी ने कहा, 'रामायण पढ़ना हो तो भक्तिभाव से पढ़ो, तर्क से नहीं।' यह सत्य है।

ईश्वर की रचना का या प्रकृति के व्यापार का कितना भी विश्लेषण करो, मनुष्य की सीमित बुद्धि कोई सही निर्णय नहीं दे सकती। इसलिए इन जटिल समस्याओं के लिए मौन ही धर्म है, नेति नेति। निरापद मार्ग यही है, जो हमारा कर्तव्य-कर्म है, उस पर लगन के साथ लगे रहें, बाकी मगवान् पर छोड़ें।

सुरसरि में सब जलों का समावेश है और समावेश है उसी महात्मा शक्ति का जिसने सारे विश्व को ढक

रखा है। सारा विश्व उस महात्मा सत् का एक अणु से भी छोटा हिस्सा है। अन्त में उसी महात्मा में गंगा भी लीन हो जाती है। 'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते अविभक्तं विभक्तेषु तद् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।' सब भूतों में जो एक ईश्वर को देखता है, विभक्तों में जो अविभक्त को देखता है, वह सात्त्विक बुद्धिवाला है। यह वेदान्त कहता है। साइंस इसका समर्थक है। यहाँ वेदान्त और साइंस का संगम हो जाता है।

पायस में महिमा न तो दूध की है, न शक्कर की और न चावल की। सबके मेल ने ही पायस को यह महिमा दी। सुरसरि की महिमा भी यह उसी अविभक्त ईश्वर की ही महिमा है, जो सबमें व्याप्त है। जमुना, गंगा, अलकनन्दा, मन्दाकिनी सभी की उपासना द्वारा हम केवल उस पर-पुरुषोत्तम की ही उपासना करते हैं।

इसलिए उस पुरुषोत्तम भगवान् को हमारे अनेक नमस्कार।

[पृष्ठ २ का शेषांश]

तेजस्वी बाहु ऊपर उठायी। किन्तु, सहसा लक्ष्मी ने प्रकट होकर उनका हाथ पकड़ लिया—'देव, भक्त की उपासना का उपसंहार तो देख लीजिए। फिर जो करना हो, वह कीजिए।'।

चमार ने चमड़ों के ढेर को समेटा। सबको एक

गठरी में बाँधा। फिर एक मैले कपड़े से सिर से पैर तक शरीर पोंछा और गठरी के सामने झुक कर विनय-विह्वल वाणी में कहने लगा—'प्रभो, दया करना, कल भी मुझे ऐसी ही सुमति देना कि, आज की तरह ही पसीना बहा कर तेरी दी हुई इस चाकरी में सारा दिन गुजार दूँ।'।

[पृष्ठ १० का शेषांश]

सकें। उन्हें तपस्वी की शुष्कता और कठोरता पसन्द नहीं है और न हृदय के गम्भीर भावावेगों का दमन या आत्मा और जीवन के सुन्दर भागों का निग्रह ही पसन्द है, क्योंकि वे प्रेम और सौन्दर्य के द्वारा ही मनुष्यों पर भगवान् का जुआ रखती हैं। उनकी परम सृष्टि में जीवन स्वर्गीय कला की एक समृद्ध कृति बन जाता है और सारा अस्तित्व एक पवित्र आनन्द का काव्य। संसार की सारी समृद्धि, सम्पदा एकत्रित करके परम व्यवस्था के लिए इकट्ठी की जाती है। उनके ऐक्य सम्बन्धी सहज ज्ञान

और उनकी आत्मा के उच्छ्वास से सादी-से-सादी और मामूली-से-मामूली चीजें भी अद्भुत बन जाती हैं। हृदय में प्रवेश पा जायें तो वे प्रज्ञा को आश्चर्य के ऊँचे-से-ऊँचे शिखर पर पहुँचा देती हैं और उसके आगे ज्ञान से परे आनन्द-समाधि के गुप्त रहस्य खोल देती हैं। वे भक्त को भगवान् के प्रति तीव्र आकर्षण के जाय जोड़ देती हैं, बल और शक्ति को ऐसा छन्द सिखाती हैं जिससे उनके कर्म समस्वर और सप्रमाण हो जायें। वे पूर्णता पर एक ऐसी मोहिनी छा देती हैं जिससे वह चिरस्थायी हो जाय।

आरोप साधन

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

(गतांक से आगे)

(२)

इस बार साधक के जीवन में प्रेम का कार्य आरम्भ होगा। श्री श्रीगुरुदेव कहते थे, कर्म से ज्ञान होता है, ज्ञान से भक्ति होती है एवं भक्ति से प्रेम होता है। वास्तव में ज्ञान का काम समाप्त हुए बिना रस-साधना का श्रीगणेश नहीं हो सकता है। इस साधना के लिए भाव का विकास आवश्यक है एवं भाव के विकास के लिए पूर्व प्रत्यक्ष ज्ञान का उदय होना आवश्यक है। किन्तु केवल प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर भी भाव का उदय नहीं हो सकता है, उसके लिए आनुषंगिक साधना आवश्यक है। यहाँ पर हम उस आनुषंगिक साधना का परिचय देने की यथाशक्ति चेष्टा करेंगे। हमने जिसे आरोप साधन कहा है, उसका पूर्वोक्त आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद अनुष्ठान हो सकता है। पूर्ण आत्मस्वरूप में स्थिति, आत्माराम की अवस्था की प्राप्ति, नित्य लीला का आस्वादन आदि मनुष्य का उत्कृष्ट से उत्कृष्ट पुरुषार्थ सिद्ध होता है।

सीढ़ी का सहारा लेकर छत पर चढ़ने के बाद उस सीढ़ी की जैसे फिर आवश्यकता नहीं रहती वैसे ही कर्म और ज्ञान का अवलम्बन कर ज्ञेय की प्राप्ति होने पर फिर कर्म और ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती है। मैं पहले कह चुका हूँ कि ज्ञेय ही इष्ट है, वे सदा और सर्वत्र विद्यमान पुरुषोत्तम हैं। कृष्ण के उपासकों के वे नित्य कृष्ण हैं तथा राम के उपासकों के वे नित्य राम हैं। सभी उपासकों के अपने इष्ट के रूप में वे ही एकमात्र उपास्य हैं।

दीक्षाकाल के दो शब्द मंत्रदाता गुरु के मुख से शिष्य के कान में प्रविष्ट हुए थे। सद्गुरु की कृपा से वही शब्द आज प्रत्यक्ष ज्ञान की अवस्था में ज्ञेय रूप में अथवा चिन्मय

इष्ट के रूप में प्रकाशित हुआ है। बैखरी वाणी आज पश्यन्ती भूमि पर आरुढ़ हुई है। क्रिया, मन्त्र, जप आदि सार्थक हुए हैं; क्योंकि जो वस्तु इतने दिनों तक केवल कर्णगोचर थी आज वह नेत्रगोचर हुई है अर्थात् श्रवण से उत्पन्न ज्ञान साक्षात्कार में परिणत हुआ है। अब पृथक् रूप से क्रिया आदि की जरूरत नहीं है, क्योंकि आत्मभाव-निष्ठ होने पर साधक की सब चेष्टाएँ अर्चना में परिणत हो जाती हैं एवं सभी वाक्य मन्त्र जप हो जाते हैं।

यह वर्तमान रूप ही आरोप साधक लोगों की परिभाषा में 'श्याम बिन्दु' के नाम से परिचित है। जगत् के अनन्त रूप, भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल, दूर और निकट समस्त देश सभी इस नित्य वर्तमान में अभिन्न रूप से स्थित हैं। इस रूप का उदय होने पर ही जगत् आलोक से युक्त होता है एवं इसके तिरोभाव से जगत् आच्छन्न हो जाता है।

उक्त रूप अत्यन्त गुप्त और गुह्य है। यद्यपि वह सदा सर्वत्र ही पूर्ण रूप से विराजमान रहता है तथापि पर्दे से आवृत होने के कारण सब की दृष्टि में भासित नहीं होता।

द्रष्टा की दृष्टि में भी आवरण रहता है और वस्तु के स्वरूप में भी स्वकल्पित आवरण है। जब तक अखण्ड सत्ता का भाव नहीं होता तब तक आवरण का रहना स्वाभाविक है। आत्म-साक्षात्कार के बाद उस दृष्टिगोचर आत्मस्वरूप का नियम से भजन करना आवश्यक है। वह कर्म का अंग-भूत उपासना स्वरूप भजन नहीं है, वह नित्य भजन है। उसमें दिशा, देश और काल का कोई नियन्त्रण नहीं रहता है। उसमें अवस्था, वर्ण, परिमाण और लिंग का कोई भेद नहीं है। वह चिन्मय, सर्वरूप और सर्वाकार है।

साधकों ने उसकी निष्क्रिय भजन के रूप से व्याख्या की है। वे यद्यपि सर्वाकार हैं, फिर भी साधक स्वयं मनुष्य रूपी हैं, इसलिए अपने इष्ट की प्राप्ति होने पर ही उन्हें भजन की सुविधा होती है। इसलिए साधक के कल्याण की कामना से वे उनके ज्ञेय या इष्ट मनुष्य का आकार धारण कर आविर्भूत होते हैं। मनुष्याकार की विशेषता यह है कि साधक स्वयं मनुष्य है, इसलिए उक्त इष्ट आकार वास्तव में उनका अपना ही आकार है अथवा अपने साथ अभिन्न रूप से प्रतीत होता है। उस समय भक्त साधकों को अपने शरीर के लिए जो सेवा अथवा परिचर्या करनी पड़ती है वह उनके इष्ट की परिचर्या के रूप में परिणत हो जाती है। भक्त का रूप और उनके भजनीय का रूप पृथक् होने पर भी उस समय अपृथक् हो जाता है, दोनों ही उस समय समान हो जाते हैं। इष्ट उस समय भक्त के साथ रह कर भक्तिपूर्वक की गयी भक्त-सेवा ग्रहण करते हैं। परब्रह्म उस समय मनुष्याकार या नररूप हो जाते हैं। भक्त मनुष्य है, इसीलिए भगवान् मनुष्य होते हैं, दोनों में कोई व्यवधान नहीं रहता।

यह नित्य वर्तमान का दर्शन निःसीम सौभाग्य की बात है, गुरु-कृपा की पराकाष्ठा इसी दर्शन में है। मैं पहले कह चुका हूँ कि नित्य वर्तमान में तीनों काल भासते हैं, लेकिन वास्तव में तीन काल कहाँ हैं? एक मात्र वर्तमान ही भूत और भविष्यत् पर अतिक्रमण कर अपने असाधारण प्रभाव से विराजमान रहता है। इसीलिए साधक चाहे जिस किसी भी अवस्था में उक्त स्थिति को प्राप्त करे, यह अवस्था उसके लिए फिर अवस्था नहीं रहती है, वह नित्य वर्तमान के रूप में प्रकाशित होती है। इसीलिए भजन के प्रभाव से वह अवस्था या दशा विकार-रहित होकर नित्य अथवा चिरस्थायी रूप धारण करती है। उस समय वह काल की दशा के रूप में नहीं गिनी जाती है, क्योंकि वह कालातीत है। उसे नित्य देह कहते हैं। जो शरीर जिस अवस्था में और जिस रूप में भजन करता है वही नित्य देह के रूप में प्रकट होता है।

(३)

आरोप साधन में अभ्यास अपेक्षित है। उक्त अभ्यास

का क्रम है। यहाँ पर मैं स्थूल रूप से उस क्रम को एक संक्षिप्त तालिका देने की चेष्टा कर रहा हूँ।

(क) साक्षिभूत सम्मुख स्थित वर्तमान में निराकार और साकार दोनों सत्ताओं को देखने का अभ्यास करना आवश्यक है।

(ख) मन की उत्कण्ठा और प्राप्ति की उत्कट इच्छा जिससे क्रमशः अधिकतर तीव्र हो उसके लिए प्रयत्न करना उचित है। विषय और विषयी के सम्पर्क से जहाँ तक सम्भव हो दूर रहना उचित है, क्योंकि वे भजन में विघ्नरूप हैं। जिसको जितनी उत्कट आकांक्षा होगी प्राप्ति उसके लिए उतनी निकट जाननी चाहिए, अतएव आकांक्षा को हृदय में रख कर हृदय से आशा के कन तक का त्याग कर देना चाहिए अर्थात् आशा न रख कर केवल आकांक्षा बढ़ानी चाहिए।

(ग) एकान्तवास इस साधन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। जितने अधिक समय तक सम्भव हो, निर्जन स्थान में रहने की कोशिश करनी चाहिए। लोगों के संसर्ग से यथासम्भव दूर रहना चाहिए, क्योंकि उससे शक्ति का क्षय होता है। एकान्त स्थान में रहते समय ऐसे रहना चाहिए जैसे कि कोई देख न पावे। शरीर को चाहे जिस प्रकार से ही क्यों न हो स्थिर रखने का अभ्यास करना उचित है। गाड़ा हुआ खम्भा जैसे निश्चल रूप से खड़ा रहता है वैसे ही देह को भी निश्चित रूप से स्थिर रखने की चेष्टा करनी चाहिए।

(घ) देह-स्थिति के साथ ही साथ मन को सदा यथा-शक्ति भौरों के बीच में धारण करने की चेष्टा करना उचित है। इसी के सहायक रूप से निमेष और उन्मेष से विहीन अवस्था की प्राप्ति के लिए नेत्रों की पलकें जैसे दीर्घ काल तक न गिरें उस ओर दृष्टि रखनी चाहिए। इसका नाम 'निमेषवर्जन' है। अभ्यास के समय तन्द्रा और निद्रा का आक्रमण किस प्रकार न हो इस सम्बन्ध में सावधान होने की आवश्यकता है। निमेषपात (पलक गिरना) और क्षणभर के लिए तन्द्रा का आना आदर्श-प्राप्ति में विघ्नभूत हैं। निमेष या पलक गिरने की आशंका होने पर नेत्रों को ढीला रखना ठीक है। दीर्घकाल के अभ्यास से

[शेष पृष्ठ २२ पर]

मन्त्र-विवेक

ज्योतिषकलानिधि शिवनाथ मेहरोत्रा

भगवान् शंकर मन्त्रशास्त्र के उपदेष्टा हैं। मन्त्रशास्त्र का ज्ञान भारत की प्राचीन थाती है। परन्तु कालक्रम के प्रभाव से मन्त्रशास्त्र-विषयक ग्रन्थ और ज्ञान धीरे-धीरे दुर्लभ होते चले गये। आज भारती विद्याओं के नाम पर चल रही संस्थाएँ तो बहुत सी हैं और बड़े-बड़े मठ और संस्थान इन विद्याओं को आधार मानकर चल रहे हैं। परन्तु मन्त्रशास्त्र की प्रतिष्ठा करने की प्रवृत्ति या उत्साह कहीं नहीं दिखता। भगवान् शंकर का स्पष्ट आदेश है—

अमन्त्रं अक्षरं नास्ति।

योजकस्तत्र दुर्लभः॥

प्रत्येक अक्षर का अपना पृथक्-पृथक् प्रभाव है। उनका कम्पन, स्वभाव, स्वरूप, वर्ण, राशि, तत्त्व आदि अनेक विषय हैं जो महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु उन सबको एकत्र कर सरल भाषा में ग्रथित करना और उसे जनोपयोगी बनाने की ओर ध्यान देने की ओर प्रवृत्ति करने पर ही यह महत्कार्य सम्भव हो सकेगा। इस सम्बन्ध में विद्वज्जनों और सामर्थ्यवान् जनों का भी ध्यान प्रार्थित है।

मन्त्रशास्त्र का प्रयोग केवल काम्य कर्मों में या मोक्ष, प्राप्ति के लिए विहित नहीं है। राष्ट्रीय महत्त्व के कामों में भी उनका प्रयोग बताया गया है। ब्रह्मास्त्र, वारुणास्त्र, अग्न्यास्त्र आदि के प्रयोग जो मन्त्रशास्त्रों में वर्णित हुए हैं कालक्रम से उनमें त्रुटि आ गई हो सकती है! परन्तु व्यावहारिक रूप में काम आने योग्य उनमें अब भी बहुत कुछ सम्भव लगता है। शत्रुविनाश के लिए तान्त्रिक लोग अब भी बाण-प्रयोग करते हैं। ऐसे अनेक मामले पढ़ने-सुनने एवं देखने में आते हैं। मेरे एक मित्र पर एक व्यक्ति ने मारण प्रयोग किया था। मैंने स्वयं उसे देखा है। उक्त प्रयोग जिस दिन हुआ और जिस ढंग से उसने मुझे प्रभावित किया उसमें मानसिक के अतिरिक्त कई भौतिक लक्षण भी प्रकट हुए थे।

काव्य कौतुक

(समाजरत्न मुरारीलाल केडिया)

एक एव खगो मानी, चिरं जीवतु चातकः।
त्रियते वा पिपासायां, याचते वा पुरन्दरम्॥
खग मानी चातक अहै, चिरजीवी त्वै जाय।
कै याचै सुरराज सौं, कै प्यासो मरि जाय॥
दुर्जनः परिहर्तव्यः, विद्ययाज्जलंकृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः, किमसौ न भयंकरः॥
विद्या-भूषित हो तदपि, छोड़ो दुर्जन संग।
भयकारी होता न क्या, मणि-सम्पन्न भुजंग॥

यदि मन्त्रशास्त्र के इन प्रयोगों की ओर राष्ट्रीय स्तर पर अन्वेषण किये जायें तो यह विदित हो सकेगा कि अणुबम या परमाणु बम के इस युग में हम इनका प्रयोग किस प्रकार कर सकते हैं। भारत सरकार ने इस ओर यदि प्रवृत्ति नहीं की तो इसमें दोष इस विद्या से सम्बन्धित आचार्यों पर आता है जो स्वयं इसे प्रतिष्ठित और प्रमाणित करने पर कमी प्रयत्नशील नहीं हुए। तान्त्रिकों में क्षुद्र अर्थसिद्धि के लिए वाममार्गीय तन्त्र प्रयोगों की प्रवृत्ति तो दिखाई पड़ती है परन्तु उसे विशाल महत्त्व के कामों में प्रवृत्त करने में वे अपने आपको सम्भवतः असमर्थ समझते हैं। ऐसे ही एक तान्त्रिक ने एक बार मुझे डराया था कि यदि अमुक प्रयोग के लिए मुझे अमुक धन न दोगे तो तुम्हारे पुत्र का अशुभ होगा। इसका उत्तर मैंने उन्हें तत्काल दिया था कि यदि आपमें कोई शक्ति है तो आप सिर्फ मेरे सर में दर्द पैदा करके दिखा दीजिए। वास्तव में क्षुद्र कार्यों में क्षुद्र शक्तियों का प्रयोग करनेवाले ये तान्त्रिक किसी के निर्बल तन्त्र को पकड़ सकें तभी उसे हानि पहुँचा सकते हैं। जहाँ 'इष्ट' है वहाँ अनिष्ट कभी

नहीं होता। अतः इष्ट को पकड़े रहनेवाले किसी भी साधक की रक्षा स्वयं इष्टदेव को करनी ही पड़ती है। वास्तव में इन क्षुद्र शक्तियों के प्रयोग के कारण ही मन्त्र और तन्त्रशास्त्र अपमान तथा अवहेलना के पात्र बनते गये हैं। परन्तु इससे एक बात यह तो स्पष्ट होती ही है कि यह मन्त्र और तन्त्र क्षुद्र हों या पवित्र—उनमें भौतिक दृष्टि से न समझने योग्य अनेक शक्तियाँ निहित हैं। हमें तो मन्त्रशास्त्र की उस अनोखी शक्ति का ही अपने हित में प्रयोग करना चाहिए जो हमारे अमावों को मरने में सहायक होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे इस तीन आयामों वाले विश्व में चतुर्थ आयाम का सहारा जोड़ने का काम मन्त्रशास्त्र ही करता है। अतः बहुत सी बातों में इस शास्त्र का प्रयोग करना सम्भव है। एक तन्त्र ग्रन्थ में तो बड़ी ही अद्भुत बात कह दी गयी है। वह भगवान् शंकर बताते हैं कि यदि तुम्हारे प्रारब्ध में भी कोई वस्तु नहीं है परन्तु तुम इस प्रकार से यन्त्र का निर्माण कर लो तो वह वस्तु तुम्हें प्राप्त हो जायेगी। वे कहते हैं—

अथ यन्त्रविधिं वक्ष्ये सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ।
सिद्धस्य लेखनादेव यन्त्रसिद्धिः प्रजायते ॥
न भावि यत्र कार्यं तु सिद्धं चापि तदी भवेत् ॥

इस सिद्ध यन्त्र प्रकरण में २८ यन्त्रों का उल्लेख किया गया है। भाषा इतनी कठिन संस्कृत है, कि एक प्रसिद्ध तान्त्रिक विद्वान् के समीप, जो स्वयं एक विश्वविद्यालय में संस्कृत भाषा के प्राध्यापक रह चुके हैं (बाद में विमाणाध्यक्ष भी रहे हैं) इस प्रकार का सही-सही अर्थ लगाने में कठिनाई की आत्म-स्वीकृति मिली है। स्पष्ट ही इस प्रकार के ग्रन्थ भी दुर्लभ हो गये हैं और उनका अर्थ लगाकर उनके द्वारा प्राप्य लाभ की कमाई करना तो दुष्कर है ही। यह सब काम सम्भव कर पाने के लिए ही समर्थ लोगों का ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है।

मन्त्रों की विविध व्याख्याएँ जो यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं, उन सबको एकत्र किया जाय तो निश्चय ही बहुत बड़ा काम होगा। अ आ एवं क ख आदि विविध स्वरों और व्यञ्जनों के पृथक्-पृथक् स्वरूप बताये गये हैं। एक-एक अक्षर की साधना के समय उस स्वरूप का ध्यान

किया जाता है। प्रत्येक अक्षर को कई विविध ग्रन्थों में अलग-अलग तत्त्वों में विभाजित किया गया है और तत्सम्बन्धी प्रयोजन उन ग्रन्थों में ही वर्णित हैं। उदाहरण के रूप में कुण्डलिनी शक्ति के प्रकरण में पचास अक्षरों की स्थिति जिस चक्र में बताई गयी है वहाँ-वहाँ जिस तत्त्व की स्थिति है उस-उस तत्त्व से उनका सम्बन्ध प्रतिपादित होता है। इसका प्रयोग शक्ति उत्थापन के निमित्त विहित है। मन्त्र महोदधि में विविध अक्षरों का तत्त्वविभाग इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है—

पृथ्वी	जल	तेज	वायु	आकाश
उ	ऋ	इ	आ	लृ
ऊ	ॠ	ई	आ	लृ
ओ	औ	ए	ऐ	अं
ग	घ	ख	क	ङ
ज	झ	छ	च	ञ
ड	ढ	ठ	ट	ण
द	ध	द्य	त	न
ब	भ	फ	प	म
ल	व	र	य	श
ल	स	ह	ष	ह

यहाँ यह बताया गया है कि पृथ्वी आदि पाँचों तत्त्वों में परस्पर मैत्री, अमैत्री और उदासीनता आदि का ध्यान रखकर उक्त तत्त्वगत अक्षर मन्त्र का अपने ऊपर प्रभाव समझना चाहिए। अर्थात् पृथ्वी तत्त्व का मित्र जल है। शत्रु तेज है। उदासीन वायु है। जल तत्त्व का मित्र पृथ्वी है। शत्रु तेज है। उदासीन वायु है। अग्नि अर्थात् तेज तत्त्व का मित्र वायु है, शत्रु जल है, उदासीन पृथ्वी तत्त्व है। वायु तत्त्व का मित्र अग्नि है, शत्रु पृथ्वी है, उदासीन जल तत्त्व है। आकाश तत्त्व सभी का मित्र है।

इन उपर्युक्त बातों को समझ लेने मात्र से अनेक मन्त्रों के कुछ रहस्य के पता चलता है। इस ज्ञान का प्रयोग हम और भी कई प्रकार से कर सकते हैं। इससे यह विदित होता है कि तत्त्वक्रम के प्रभाव से हमारा तत्त्व हमारे नामाक्षर के अनुसार कौन सा है और हमारे शत्रु तत्त्व एवं मित्र तत्त्व के अन्तर्गत जो वर्ण हैं उनसे प्रारम्भित नामों को हम एक बार भी जान सकते हैं। मला

जल और अग्नि या पृथ्वी व अग्नि तत्त्व के लोग आपस में मैत्री कैसे कर सकते हैं ?

इन अक्षरों का प्रयोग शान्ति कर्म में किस क्रम से होता है और विनाशादि कर्मों में किस क्रम से होता है इसका उल्लेख भी मंत्र शास्त्रों ने विविध स्थलों पर किया है। इनका अध्ययन करने से इनके प्रयोग की वैज्ञानिक अथवा सामान्य जनोपयोगी शास्त्र-सम्मत विधि का प्रतिपादन किया जा सकता है। अब शान्ति कर्म से सम्बन्धित इन अक्षरों के प्रयोग क्रम के सम्बन्ध में ध्यान दें। ज्योतिष शास्त्र का सर्वप्रधान चक्र सर्वतोमद्र चक्र है। अन्य सभी चक्रों का यह राजा है। जैसा इसका नाम है वैसा ही यह सब प्रकार से कल्याण प्रदान करने वाला चक्र है। प्रत्येक शुभ काम में सर्वतोमद्रचक्र निर्माण कर उसके पूजन करने के विधान का तो सभी कर्मकाण्डी पालन करते हैं, परन्तु उसमें कौन से कोष्ठक में कौन सा अक्षर पूजित होता है, इसके बारे में वे या तो जानते नहीं या जानना आवश्यक नहीं समझते। सर्वतोमद्रग्रथित यह चक्र नीचे दिये जा रहा है।

इस मन्त्र का विवरण देते हुए 'मन्त्रमहोदधि' में कहा गया है—

ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं
अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	
ज	झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ	
छ	म	म	य	र	ल	ळ	
च	व	स	ह	ल	रा	ल	
ङ	फ	ष	श	व	त	ए	
घ	प	न	ध	द	थ	ऐ	
ग	ख	क	अः	अं	औ	ओ	
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

प्राक् प्रत्यक् दक्षिणादूर्ध्वं कुर्याद्विखाष्टकं समं ।
 एवमेकोनपंचाशज्जायन्ते कोष्ठकास्ततः ॥
 दिग्गतान्तित्रपंक्तिस्थान् चतुर्विंशतिवर्णकान् ।
 अकारादि जकारान्तान् लिखेच्चन्द्रसमन्वितान् ॥
 तदन्तर्गतपंक्तिस्थान् कादिभान्ताश्च षोडश ।
 तदन्तस्थान्मादिसान्तान् हुकारं शिष्टकोष्ठके ॥
 रेखाग्रेषु त्रिशूलानि कुर्वीत रदसंख्यया ।
 उपर्यधस्त्रिशूलान्तहंल्लेखा सप्तकं लिखेत् ॥

निश्चय ही इस प्रकार के बहुत से सूत्र यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। इन सबका योजक बनने वाला विश्व का अद्भुत कल्याण कर सकता है।

सनातन धर्म

सनातन का अर्थ है नित्य जो सतत प्रवाहित हो। धर्म का अर्थ है धारण तथा पोषण करना। जो त्रिकाल में भी सम बना रहे वह सनातन है और जो जगत् का धारण पोषण करे उसे धर्म कहते हैं। सतो गुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीन गुणों से जगत् का निर्माण हुआ है। इन्हीं से जगत् का पोषण और लय भी होता है। आज विश्व में तमोगुण से प्रेरित होकर लोग परस्पर कलह और रागद्वेष में संलग्न हैं और धन-जन का नाश हो रहा है। उसकी रक्षा के लिए पुलिस, सेना अथवा कोई सहायक नहीं हो सकता। संसार को विनाश से बचने के लिए सनातन धर्म की शरण लेनी होगी। सनातन धर्म मानव-मानव में समरसता का संचार करता है और गीता के अनुसार 'रागद्वेष विनिर्मुक्तः सर्वभूतहिते रतः' का बोध कराता है। धर्म जीवन से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। धर्म जीवन में ही समाहित है। धर्म जीवन की पूर्णता का बोध कराता है और उसके सुखद निर्माण का मार्ग प्रशस्त करता है।

शासक और उसके अधिकारियों को जितेन्द्रिय और विनयशील होना चाहिए। उससे जनता में भी अनुशासन व्याप्त होगा और विश्व में सुख और शान्ति का संचार होगा। —स्वामी कपिलदेवानन्द तीर्थ

वर्तमान से अतीत

श्री अम्बिकाप्रसाद चौबे

सन् १८९३ में शिकागो में सम्पन्न विश्व-धर्म-सम्मेलन (एसेम्बली आफ वर्ल्ड रिलिजन्स) में विश्व के विशिष्ट विद्वानों और धर्माचार्यों को एक भारतीय स्वामी की वाणी सुनने का अवसर मिला। ये भारतीय थे, स्वामी विवेकानन्द जिन्होंने अपनी बौद्धिकता एवं तर्कसंगत वाक्य विन्यास से भारत की सांस्कृतिक महत्ता की अमिट छाप विदेशियों के मस्तिष्क पर डालने में सफलता प्राप्त की। परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश शासन काल में जहाँ भारत की भौतिक सम्पत्ति आर्थिक लाभ के लिए विदेश जाती रही, वहीं हमारे देश की सांस्कृतिक धरोहर का विदेशी विद्वान् अध्ययन, अनुशीलन एवं अनुवाद कर विश्व में प्रतिष्ठा प्राप्त करने में लगे थे। यथार्थतः अमेरिकी और योरीपीय देश हमारे औद्योगिक उत्पन्नों से कहीं अधिक हमारी सांस्कृतिक निधियों का आयात करते हैं।

स्वतन्त्रता के पश्चात् देश भौतिक दृष्टि से समृद्धि की ओर आगे बढ़ने लगा। वह विकसित देशों का अनुकरण करने लगा। उसे ऐसा लगा कि उद्योग, व्यवसाय और राजनीति से ही देश के शाश्वत व्यक्तित्व का निर्माण होता है, अस्तु उसने इसे भौतिक व्यक्तित्व के निर्माण का साधन बनाया और कला-निधि की उपेक्षा की जाने लगा। फलस्वरूप देश की कला-चित्र, शिल्प तथा पाण्डुलिपियों के रूप में चोरी-चुपके तस्करी से विदेश जाने लगी। आज अमेरिका अथवा अन्य विकसित देशों की यात्रा पर गये हर भारतीय को यह देखकर आश्चर्य एवं कोतूहल होता है कि वह जिस जीवन-दर्शन को भारत में छोड़कर आया है, उसके प्रति उन विदेशियों के मन में कितनी ललक है।

विकसित देशों के निवासी, जिनकी भौतिक समृद्धि को स्पर्श करने में हमें शताब्दी लग सकती है, हमारी संस्कृति-जन्य कला, शिल्प और चित्रों से अपने ड्राइंगरूम को सज्जित कर गौरव का अनुभव कर रहे हैं। भारतीय जब ऐसे विदेशियों के घरों में जाते हैं और वहाँ भारतीय

कलानिधि का दर्शन करते हैं तब उन्हें अपने स्वर्णिम अतीत और अपनी गौरवमयी संस्कृति का बोध होता है। पर खेद इस बात का है कि जब कभी विदेशी उनसे भारतीय धर्म, कला और संस्कृति के सम्बन्ध में जिज्ञासा करते हैं तो वे अपने को शून्य पाते हैं और संस्कृति-सम्पन्न देश में जन्म लेकर भी उन्हें हीनता का अनुभव होता है। भौतिक दृष्टि से तो हीन हैं हीन, किन्तु मानसिक दृष्टि से हीन होना अत्यधिक लज्जाजनक है। ऐसे भारतीय अब धीरे-धीरे यह अनुभव करने लगे हैं कि विदेशियों के बीच में सम्मान पाना है तो भारतीय धर्म, कला और संस्कृति को आत्मसात् करना होगा। जिसे भारत में जन्म लेकर उन्होंने नहीं जाना, उसे अब वे विदेशों में रहकर जानने का प्रयास कर रहे हैं। वे भारत के मूल ग्रन्थ वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, उपनिषद्, गीता आदि की ओर आकर्षित हो रहे हैं।

हमारी युवा पीढ़ी जब पश्चात्य वेश-भूषा और रहन-सहन की अन्धाधुन्ध नकल करने में गौरव का अनुभव करती है, तब हमारा ध्यान हठत् विदेशों के युवावर्ग की ओर आकर्षित होता है जो अपने देश की आपाधापी के वातावरण से ऊबकर हमारी संस्कृति की ओर झुक रहा है। 'हरे कृष्ण अभियान', जिसका प्रारम्भ अमेरिका में सन् १९६६ में स्वामी प्रभुपाद की 'इण्टरनेशनल सोसाइटी फार कृष्ण कान्ससेनेस' से हुआ, और जो देखते-देखते अमेरिका से इंग्लैण्ड और सोवियत रूप तक अपनी जड़ें जमा चुका है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि इस देश की सभी धार्मिक, सामाजिक और आध्यात्मिक संस्थाएँ एकजुट होकर देश की सांस्कृतिक निधि को संवारने, संजोने एवं उसका प्रसार करने में लग जाएँ। यही नहीं, सरकार के लिए भी यह परम आवश्यक है कि वह हमारे देश से [शेष पृष्ठ २२ पर]

वृद्धों की समस्या

वियना में १९८२ ई० में होने वाली विश्वपरिषद् के प्रस्ताव से स्पष्ट है कि सारे विश्व में विशेष रूप से विकासशील देशों में वृद्धों की संख्या में निरन्तर वृद्धि न केवल चिन्तनीय है, अपितु इसके निराकरण की समुचित योजनाओं के अभाव में, यह समस्या हर विवेकशील प्राणी के हृदय को उद्वेलित कर रही है। एशिया एवं पैसिफिक आर्थिक-सामाजिक आयोग की आख्या से इस समस्या पर जो प्रकाश पड़ता है, उसका यही निष्कर्ष है कि बीसवीं सदी के अन्त तक विश्व की कुल जन-संख्या में ९.७ प्रतिशत वृद्ध होंगे जिनमें दो-तिहाई विकासशील देशों में पाये जायेंगे। यदि परिवार-नियोजन कार्यक्रम को दृढ़ता से लागू किया जायेगा तो सम्भवतः आगामी बीस वर्षों में जनसंख्या की वृद्धि ५२ प्रतिशत ही होगी, पर वृद्धों की संख्या में यह वृद्धि १०२ प्रतिशत होगी।

इस प्रकार यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि २१ वीं सदी वृद्धों की सदी होगी। अतः आवश्यक है कि एक ऐसा विश्वव्यापी कार्यक्रम रखा जाय, जिसके द्वारा वृद्धों को आर्थिक एवं सामाजिक गारण्टी के साथ-साथ ऐसे अवसर उपलब्ध कराये जाएँ जिनसे वे राष्ट्र के विकास में सहयोगी हो सकें और सम्मानित जीवन जी सकें। अन्यथा, वे राष्ट्र की मुख्य धारा से अलग-थलग पड़ जायेंगे और उनकी समस्या और विकट हो जायगी। ग्रामीण युवकों का शहर की ओर झुकाव एवं पलायन वृद्धों को गाँवों में असहाय छोड़ देता है। अस्तु, गाँवों में आधुनिक सुविधाओं के विस्तार द्वारा युवकों की पलायनवादी प्रवृत्ति को रोका जाय। यही नहीं, वृद्ध महिलाओं की समस्या वृद्ध पुरुषों से भी अधिक है, उनके लिए विशेष कार्यक्रम चलाने की आवश्यकता है।

पारिवारिक देखभाल और सामाजिक सुरक्षा तथा सम्मान वृद्धों को सुलभ हो, इसके लिए सरकार एवं

समाजसेवी संस्थाओं को मिल कर कार्य करना होगा। सरकार क्या करती है और संस्थाएँ क्या करेंगी, इसकी रूप-रेखा मिल-बैठ कर बनानी होगी। बच्चों को इस प्रकार शिक्षित करना होगा कि वे वृद्धों की सेवा समर्पण की भावना से कर सकें, साथ-ही परिवार की क्षमता में वृद्धि करनी होगी, वृद्धों को शिक्षित करने का प्रयास करना होगा, सेवा-निवृत्ति के पूर्व ऐसी तैयारी करनी होगी ताकि सेवा-निवृत्ति के बाद वे समाज में अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकें और सम्मानजनक स्थान बना सकें।

अब तक के अनुमानित आँकड़ों से जो पर्याप्त छान-बीन पर आधारित हैं, १९८१ में इस देश में ६० वर्ष या उससे अधिक उम्र वाले लोगों की संख्या ४ करोड़ ७ लाख की थी जो कुल संख्या का लगभग सात प्रतिशत होती है। पिछले ३० वर्षों में भारत में वृद्ध लोगों की जनसंख्या दुगुनी-से भी अधिक हो चुकी है। १९५१ में यह संख्या एक करोड़ ९९ लाख आँकी गयी थी। इस देश में काम करने वाली जनसंख्या में पुरुषों में ७३.७ प्रतिशत को तथा स्त्रियों में १०.४ प्रतिशत को उनकी वृद्धावस्था में सहायता की अपेक्षा है। यह संख्या लगभग २ करोड़ ३० लाख है। इसमें लगभग ५० लाख सरकारी सेवा तथा कारखानों में काम करने वाले जैसे संघटित क्षेत्र में हैं, जिन्हें पेंशन एवं ग्रेच्युटी आदि की सुविधा है। शेष १ करोड़ ८० लाख लोग ऐसे हैं जिन्हें बुढ़ापे में सहायता की अपेक्षा होती है। इस प्रकार हमें वृद्ध लोगों के विकास एवं पुनर्वास को एक बड़े परिप्रेक्ष्य में समझना होगा। इनकी समस्या का सुविचारित समाधान ढूँढ़ने में सभी सरकारी एवं सामाजिक संस्थाओं को आगे आना होगा।

वृद्धों की समस्या उत्तरोत्तर जटिल होती जा रही है और समय रहते हमें इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर, इसका समाधान ढूँढ़ना होगा। वृद्ध शारीरिक

रूप से अक्षम होते हुए भी अनुभव-लब्ध ज्ञान और हुनर की अमूल्य थाती हैं और उनके इस ज्ञान और हुनर से समाज लाभान्वित हो सके, इसके लिए भी इन वृद्धों को संरक्षण एवं सहायता देना आवश्यक है। ऐसा करके ही हम विकास की गति को आगे बढ़ा सकेंगे और उन शायबत मूल्यों को संरक्षित कर अगली पीढ़ी तक पहुँचा सकेंगे, जो वृद्धों का समाज के लिए एक वरद योगदान होगा, साथ ही इन वृद्धों को सम्मान का जीवन व्यतीत करने का एक साधन होगा। भारत जैसे कृषिप्रधान देश में तो इन वृद्धों के अनुभव से और अधिक लाभ उठा कर हम अपनी कृषि-जन्य सम्पदा को और आगे बढ़ा सकते हैं।

वृद्धों की समस्या पर विचार करते समय मनीला की

बैठक में प्रायः सभी लोग एकमत थे कि वृद्धों की उपादेयता से लाभान्वित होने के लिए विश्वसमाज को अविलम्ब इस समस्या के हल की ओर ध्यान देना चाहिए। संयुक्त राष्ट्रसंघ की यह एक मात्र ऐसी बैठक थी जिसमें बिना किसी रागद्वेष या विरोध के सभी सदस्य एकमत थे और शायद उन्हें प्रेसिडेंट मारकोस की ८८ वर्षीय माता के ओजस्वी उद्घाटन भाषण से वैचारिक साम्य की प्रेरणा मिली। आपने अपने भाषण में विश्वसमाज का आह्वान किया कि वह वृद्धों को शान्तिपूर्ण एवं उपयोगी जीवन-यापन के लिए आवश्यक साधनों की खोज करे। इस महान् वृद्ध महिला के मार्मिक भाषण से सभी प्रतिनिधि प्रभावित थे।

[पृष्ठ १६ का शेषांश]

अपनी इच्छा के अनुसार 'निमेषवर्जित' अपने अधीन हो जाता है। यह एक ऊँची अवस्था है। इस तरह मन स्थिर हो जाता है, वायु स्थिर हो जाती है एवं आकांक्षा न होने पर भी सब सिद्धियाँ हस्तगत हो जाती हैं। आरोग्य-साधक

कृत्रिम रूप से प्राणायाम या कुम्भक आदि का अभ्यास नहीं करते हैं। उनकी प्राणवायु स्वाभाविक रीति से उपशम को प्राप्त होती है। उसके लिए उन्हें हठयोग आदि से होने वाली प्राणायाम-क्रिया की आवश्यकता नहीं होती।

[पृष्ठ २० का शेषांश]

विदेशों में कार्यरत दूतावासों में देश के ऐसे विद्वानों और मनीषियों को भेजे जिन्हें भारतीय संस्कृति का सम्यक्-ज्ञान हो और जो स्वयं संस्कारपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए देश की संस्कृति के प्रसार और प्रचार में अभिरुचि रखते हों। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी सांस्कृतिक निधि इतनी समृद्ध और पूर्ण है कि विदेशों में इससे देश की छवि निखरेगी और विदेशियों को हमारे सांस्कृतिक गौरव की सही तस्वीर मिल सकेगी।

आज की विश्वव्यापी अनियमित युवापीढ़ी को सही

मार्ग दर्शन देने के लिए अपनी संस्कृति की पृष्ठभूमि में हमें जीवन के शाश्वत तत्त्वों को खोजना होगा। जीवन को व्यवस्थित करने के लिए हमें अनुभवातीत सत्य में विश्वास जमाना होगा। प्रकृति के सान्निध्य में प्रतिफलित हमारी संस्कृति को विविधता ही, विश्वात्मा को मानव-जीवन में प्रतिबिम्बित कर, मानव-जीवन का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। अस्तु, आइए, नई ऊर्जा और संकल्प के साथ इतिहास के जगत् की ओर लौटकर एकबार अपने गौरवशाली अतीत का दर्शन करें।

विघटन की ओर अग्रसर समाज की सुरक्षा कैसे हो ?

श्री विद्याभास्कर

भारतीय समाज प्रधानतया हिन्दू समाज है। उसका अंगच्छेद अभी एक बार नवराष्ट्र के उदय के समय हो चुका है। फिर भी ऐसे लक्षण सामने हैं कि एक और टुकड़ा माँगनेवाले सक्रिय हो रहे हैं। पृथक्तावादी मुसलिम समुदाय पृथक् भाषा, पृथक् क्षेत्र, पृथक् संरक्षण तथा पृथक् निर्वाचन तक माँगने की तैयारी कर रहा है। हिन्दुओं का वह अंग जो आज से कोई पचास बरस पहले तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री रामजे मैकडोनाल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय के अनुसार हिन्दुओं से अलग होना चाहता था; महात्मा गांधी के अपनी जान की बाजी लगा देने से हिन्दुओं से मिलकर रहने के लिए राजी हो गया था। अब वह पुनः पृथक् होना चाहता है, हिन्दू समाज को छोड़कर मुसलिम समुदाय में मिलना चाहता है।

यह अवस्था हमारी सामाजिक व्यवस्था की कमजोरी है। इसके कारणों की खोज कर उन्हें दूर करने के उपाय हमें आज करने हैं।

किसका काम है ?

यह काम किसे करना चाहिए ? कौन करेगा ?

राजनीतिक नेताओं से इस प्रकार के सत्कार्य की आशा करना व्यर्थ है।

बौद्धिक वर्ग से यह आशा करने का अधिकार देश के हर वर्ग को है। लेकिन इस वर्ग की अपनी संकुचित सीमा है। चरित्र की दुर्बलता नहीं, बल्कि ऐसी अन्यान्य परिस्थितियाँ हैं, जो उन्हें निर्विवाद रूप से सामने आने से रोकती हैं। यह बात भी है कि उनकी बात सुनी नहीं जाती। अक्सर बौद्धिक विचारकों को राजनीतिक नेताओं अथवा उनकी पार्टियों का पिछलगू चाटुकार या चमचा कह दिया जाता है।

अब रहा देश के धर्माचार्यों का वर्ग जो वीतराग है, जिसमें अनेक श्रद्धेय एवं पूजनीय यतिराज हैं। परन्तु इनकी

दुर्बलता यह है कि अपनी-अपनी सम्पत्ति तथा गद्दी की रक्षा करने के प्रयास में लगे रहने से इन्हें फुसंत नहीं मिलती। आज हमारे देश पर विधर्मियों का हमला अन्दर-अन्दर से ही होने लगा है। इसका निरोध करने के लिए हिन्दू संघटन को सुदृढ़ करने की जरूरत है। हरिजनों तथा अस्पृश्य कहे जानेवाले अपने ही अनिवार्य अंग के प्रति अपने देश, समाज की नीति का ऐसा विवेचन तथा व्याख्या करने की आवश्यकता है जो समाज की रक्षा करने में सहायक हो। लौकिक कार्यकर्ताओं को किस आध्यात्मिक परिभाषा, निदेश, निर्णय तथा व्यवस्था से सहायता मिले उसकी आवश्यकता है। पूज्य पण्डित मदनमोहन मालवीय ने 'ॐ नमः शिवाय' का मन्त्र दिया था जो अति उदार न होने पर भी सामयिक प्रयोजन का साधक हुआ। हमारे धर्माचार्यों तथा पण्डितों का वर्ग यह व्यवस्था दे ही सकता है कि आज जिस संकट से देश को गुजरना पड़ रहा है, उसमें और जैसा काल-परिवर्तन तेजी से होने लगा है, उसे देखते हुए वर्ण-व्यवस्था में इतना सुधार तो किया जा सकता है जिससे कर्मानुसार वर्ण के सिद्धान्त को मान्यता मिल जाय। आज व्यवहारतः ऐसा है भी। चार पुस्त पहले के जो अनेकानेक हरिजन माई बर्मा, शर्मा या सिंह और श्रीवास्तव आदि के नाम से साधारण समाज के अंग बन गये हैं, ऐसा कोई समझदार आदमी उनकी जाति नहीं पूछता। यह भी बहुत पुरानी भारतीय परम्परा है कि हरिजन-वर्ग के साधु, सन्त और मक्त आदि लोग समूचे समाज में समादर तथा विशिष्ट स्थान पाते हैं। हरि को जो मजे, वह हरिका हो जाता ही है। हरिजन जब मुसलमान या ईसाई हो जाता है तब उसकी इज्जत करनेवाले पोंगा पण्डित की बुद्धि को क्या कहा जाय ? यही कहना चाहिए कि उससे बढ़कर पतित अन्य कोई नहीं है। इतना भी काफ़ी नहीं है। उसे तो राष्ट्र, देश और समाज का शत्रु कहना भी अपर्याप्त होगा।]

धर्माचार्य सुनोगे ?

हमने ऊपर कहा है कि बौद्धिक वर्ग की अपेक्षा धर्माचार्यों का वर्ग ऐसा है जो दृढ़तापूर्वक समाज-सुधार, हिन्दू संघटन की सम्पुष्टि के काम कर सकता है क्योंकि वह पराश्रित और राज्याश्रित नहीं है और इसी कारण समाज से पूजित है। यह धर्माचार्यों का परम्परागत वर्तव्य भी रहा है। इस प्रसंग में विद्वान् विचारक डाक्टर सम्पूर्णानन्दजी के चिन्तन मननीय हैं। आप कहते हैं— जिस समय श्री शंकराचार्य ने इनकी (चार मठों की) स्थापना की थी उस समय इनकी बहुत बड़ी आवश्यकता थी। धार्मिक संक्रमण का काल था और उस धार्मिक संक्रमण के साथ समाज में राजनीतिक और सांस्कृतिक अनेक प्रकार की उथल-पुथल हो रही थी। बौद्ध और जैन सम्प्रदायों का ह्रास हो चुका था, परन्तु इतस्ततः उनका प्रभाव बना हुआ था। उनकी जगह नवोत्थित वैदिक शासन या यों कहिये कि हिन्दू शासन को फिर से सुदृढ़ बनाना था। भारत छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया था। ऐसे राज्य धर्म की जड़ को सुदृढ़ नहीं कर सकते थे। यह काम शंकराचार्य ने अपने मठों को सौंपा। ऐसी व्यवस्था की थी कि इन मठों के अध्यक्ष विद्वान् और तपस्वी हों जो अपनी विद्या और चरित्र के बल से तथा अपने रहन-सहन के उदाहरण से अन्य धर्मावलम्बियों के प्रभाव का उन्मूलन कर सकें और लोगों को धर्म का निरन्तर उपदेश देते रहें।— 'बहुता पानी और रमता जोगी' की 'लोकोक्ति' बन गयी। वर्ष के आठ महीने संन्यासी देश में घूमता रहता था और लोगों को धर्म का उपदेश देता था। सारी जनता शास्त्रीय ज्ञान को ग्रहण करने के योग्य कभी नहीं होती और न सब लोग दर्शन के गम्भीर सिद्धांतों को समझ सकते हैं। परन्तु संन्यासियों के अविरत प्रयास का यह फल हुआ कि वेदान्त के गूढ़ सिद्धान्त शिक्षित से अशिक्षित ग्राम-वासियों तक पहुँच गये।—देखना यह है कि क्या आज भी इन चार मठों से सम्बद्ध संन्यासी यह सब काम कर रहे हैं? जो कोई भी व्यक्ति समाज की अवस्था से परिचित है, यह जानता है कि ऐसी नहीं हो रहा है। धर्म के मूल सिद्धान्त

तो अटल हैं, सार्वभौम हैं, सर्वकालिक हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य इत्यादि तो सदैव, सबके पालन करने के योग्य हैं। परन्तु काल के अनुसार धर्म के व्यावहारिक रूप में परिवर्तन हो रहे हैं। हमारे अधिकतर संन्यासी वर्तमान युग के अनुकूल जो परिवर्तन हुए हैं, उनसे अनभिज्ञ हैं। इसलिए नये जमाने के मनुष्य से नये जमाने के अनुकूल भाषा में बात नहीं कर सकते। आँख बन्द करके पुरानी बातों को दुहरा सकते हैं, जिनको सुनने के लिए जनता तैयार नहीं है। मठों में उनको उचित शिक्षा नहीं मिलती। नये युग के अनुरूप धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक प्रश्नों पर ऊहापोह नहीं होता, विचार नहीं होता और जनता को बौद्धिक स्थिति को समझकर उसको क्या उपदेश देना चाहिए, इसको कोई शिक्षादीक्षा नहीं होती। फलतः ये संन्यासी उस कर्तव्य का निर्वाह नहीं कर सकते जिसके लिए इनकी संस्था की सृष्टि हुई थी। इस विचारोत्तेजक लेख के अन्तिम भाग में डाक्टर सम्पूर्णानन्दजी कहते हैं:—

‘मैं जानता हूँ कि आजकल साधु-संन्यासियों में कुछ लोग इस विषय में सतर्क हुए हैं और सार्वजनिक कार्यों में अभिरुचि लेने लगे हैं, परन्तु उनका यह प्रयास कृत्रिम है। अपने चित्त से उठी भावना नहीं, बरन् कुछ राजनीतिक नेताओं की प्रेरणा का परिणाम है।—साधु-संन्यासी के लिए वह मार्ग प्रशस्त है जिसपर कभी बुद्ध, शंकराचार्य, महावीर, कबीर, नानक जैसे लोग चले थे। उनकी उपदेश की शैली और प्रवचनों की पद्धति संन्यासियों से भिन्न होनी चाहिए तभी वह प्रभावशाली होगी। धर्म को राजनीति का अनुचर बनाने से न धर्म का मला होगा और न राजनीति का।’

डाक्टर सम्पूर्णानन्दजी ने पर्याप्त, प्रचुर संकेत कर दिया है। हिन्दू समाज को पतित और विघटित होने से बचाने के लिए जिस किसी से जितना भी बन पड़े, करना चाहिए। धर्माचार्य और संन्यस्त मनीषी बहुत अधिक कर सकते हैं।

गाथा कर्म-जति की

‘गाथा कर्म-जति की’ कर्मयोगी श्री गंगाबक्स जी कानोड़िया की जीवन-यात्रा का बहुत ही मर्मस्पर्शी एवं



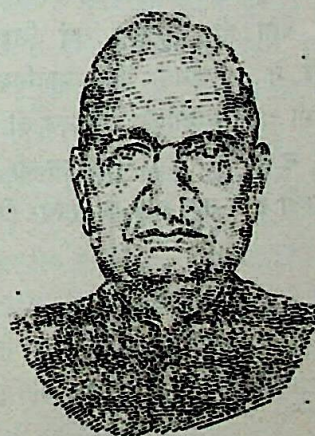
श्री गंगाबक्स कानोड़िया

प्रेरणादायक चित्रण है। पुण्यतोया गंगा की अविरल धारा-सी शाश्वत प्रवाहित श्री गंगाबक्स जी की जीवनगाथा, सम्भवतः अधूरी ही रह जाती, यदि उसे उनकी वंश परम्परा—जीवन स्रोत से न जोड़ा जाता। व्यक्ति, समाज और जाति का अपना अतीत होता है और वह अतीत समय की धड़कनों से जुड़ कर, वर्तमान को निखारने में सदैव सहायक होता है। कानोड़िया जी के पारिवारिक अतीत की उपलब्धियाँ उनकी जीवन-धारा को एक महिमामयी गति प्रदान करती हैं। प्रस्तोता के शब्दों में, ‘गंगाबक्स जी के कर्मक्षेत्र के प्रारम्भ का निमित्त बनी उस गति और उस प्रक्रिया को उनके साथ न रखा जाता तो सम्भवतः उनका अथ ही अपरिचित रह जाता और बिना अथ कैसी परम्परा और कैसा निर्वाह?’

इस गाथा में पाँच पीढ़ियों के व्यापक जीवनक्रम का

संक्षिप्त विवरण आया है। पाँचवीं पीढ़ी के प्रतिनिधि के रूप में गंगाबक्स जी सामने आये। वे, विवेक और कौशल-सम्पन्न होकर, वर्तमान को सहज भाव से जीते हुए, भविष्य के रंग भरने लगे। उनकी कर्मनिष्ठा आस्था, लोक-कल्याण, कृपा और सेवा की जमीन पर खड़ी थी। निश्चय ही यह ‘गाथा’ परिवार-श्लाघा के रूप में नहीं, प्रत्युत श्रम, सेवा, आस्था और धीरज की यात्रा के भावनापूर्ण वर्णन के रूप में पाठकों के लिए प्रेरणा-सूत्र बनेगी।

पुस्तक में प्रस्तोता ने शेखावटी का जो शब्द-चित्र खींचा है, वह बरबस पाठक को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। यहीं ‘सोनल रेत के नीचे कालचक्र की परतें भी हैं जिनके नीचे शकों, हूणों, तुगलकों, लोदियों, मुगलों, खिलजियों, गोरे अंगरेजों के और घर की कलह से ही अपने ही हाथों से जोड़ी-रौंदी गयी किसी भी हरकत को पहचानना कठिन है फिर भी शेखावटी अपने अन्तर की सज्जनात्मकता की नींव पर स्वयं का अस्तित्व बनाये हुए है। धुन के पक्के, कर्मनिष्ठ कानोड़िया परिवार की सज्जनात्मकता



कर्मनिष्ठ पिता के पुत्र श्रीराधाकिशन कानोड़िया

और सारस्वत स्वभाव शेखावटी की हो देन है। मूल नारनोल (हरियाणा) की सीमा पर का गाँव ‘कानोड़’

और यहीं का वैश्य (अग्रवाल) परिवार कानोड़िया, कालान्तर में अमृतवेली की माँति देश के सुदूर छोर तक अपने कीर्ति-स्तम्भ स्थापित करने में सफल हुआ।

सावसर, आज का मुकुन्दगढ़ इसी परिवार की यशो-गाथा गा रहा है। मुकुन्दगढ़-हवेली का प्रवेशद्वार, कानोड़ियों का कुआँ, हरिजनों का कुआँ, गंगाबक्स कानोड़िया विद्या मन्दिर, मुकुन्दगढ़, कानोड़िया परिवार की उदारता, दानशीलता और समाज-सेवा के जाज्वल्यमान प्रतीक हैं। गंगाबक्स कानोड़िया गांधी इण्टर कालेज, कसानगंज (उत्तर प्रदेश), गंगाबक्स कानोड़िया विद्या मन्दिर, अहमदाबाद, डिब्रूगढ़ का राधा-कृष्ण मन्दिर, शिव-पञ्चायतन मन्दिर आसाम, कसानगंज (उत्तर प्रदेश) का मन्दिर, आयुर्वेदिक औषधालय, मुकुन्दगढ़ एवं मुकुन्दगढ़ का अस्पताल, कुछ ऐसी संस्थाएँ हैं जो न केवल कानोड़िया परिवार की समाज-सेवा की प्रतीक हैं, प्रत्युत जिनसे राष्ट्र की प्रगति का इतिहास भी जुड़ा हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक से स्पष्ट है कि गंगाबक्स जी का जीवन पुण्यसलिला गंगा के समान ही भारत की संस्कृति एवं आस्था का अजस्र स्रोत रहा है। कानोड़िया परिवार अपने मौक्तिक उतार के अन्धकार से लड़ता हुआ शनैः-शनैः आगे बढ़ता ही गया। यह रामदत्त जी का तपः तथा जो गंगाबक्स के रूप में फलित हुआ। गंगाबक्स जी का ननिहाल पोद्दार-परिवार भी वैसा ही सुसंस्कृत एवं शिक्षाप्रेमी था। गंगाबक्स जी ने व्यक्तिगत और मानसिक अवसाद के कारण कभी भी अपने सामाजिक दायित्व की पूर्ति में न तो संकोच किया, न ही विलम्ब। गंगाबक्स जी ने सनातनी और आर्यसमाजी साथ-साथ होने के साथ ही व्यक्ति रूप

में समाजवादी विचार को अपने जीवन में उतारा। परिवार और परिवेश के लिए वे एक अनुकरणीय उदाहरण बने रहे।

कानोड़िया जी ने अपने अन्तिम दस्तावेज में लिखा—
“मेरी राय”

कुटुम्ब के लोगों अथवा अन्य किसी आदमी के साथ व्यवहार पड़ जाय तो उसको प्रेम से सलटा लेना। कसर (नुकसान) खा लेना। आगे से काम नहीं करना। परन्तु लड़ाई-झगड़ा नहीं करना। प्रेम रखना।

बिड़ला का अपने ऊपर बहुत उपकार है, इसलिए इनकी मदद रही, उसे याद रखना।

श्रीनारायण का पूरा मरौसा, पूरा विश्वास रखना। नारायण को हमेशा याद रखना। खराब काम, झूठ, चोरी, वेईमानी, धोखेबाजी वगैरह से जहाँ तक हो सके बचाव रखना, हो सके जहाँ तक परोपकार करना।”

यह दस्तावेज इस बात का प्रमाण है कि गंगाबक्स जी कितने उदारमन थे, और किस प्रकार वे समाज के प्रति अपने दायित्वों में सजग थे। बिरला-परिवार के प्रति उनकी प्रगाढ़ निष्ठा भी इस दस्तावेज से प्रमाणित होती है। कुल मिलाकर ‘गाथा कर्म जति की’, न केवल गंगाबक्स जी के जीवन पर प्रकाश डालती है, प्रत्युत यह कानोड़िया परिवार के उत्थान का रोमांचक इतिहास भी है। प्रस्तुत पुस्तक कानोड़िया परिवार के राष्ट्र और समाज के प्रति सजग दृष्टिकोण पर भी प्रकाश डालती है। आज का प्रबुद्ध जन-समुदाय तथा युवा-उद्यमी और व्यवसायी इस गाथा से निश्चित रूप से लाभान्वित होगा।

प्रस्तोता

सखा बोर्ड एवं हरीश भादानी

प्रकाशक

गंगाबक्स कानोड़िया स्मृति ग्रन्थ समिति ब्रैबोन रोड, कलकत्ता-७००००१

काशी मुमुक्षु भवन समा

काशी मुमुक्षु भवन समा वाराणसी (इण्डियन सोसाइटीज ऐक्ट, संख्या २१, सन् १९६० के अन्तर्गत पंजीकृत) पिछले ५० वर्षों से अधिक समय से एक सामाजिक, आध्यात्मिक संस्था के रूप में सेवा कार्यों का संचालन कर रही है। इस समा के अध्यक्ष श्री लक्ष्मी-निवास बिरला एवं उपाध्यक्ष न्यायमूर्ति चतुर्भुजदास पारिख भूतपूर्व जज, इलाहाबाद हाई कोर्ट एवं श्री आत्माराम ढांडनिया हैं। आप लोगों के ही सुविचारित एवं सुव्यवस्थित निर्देशन में यह समा जन-साधारण विशेष कर दण्डी स्वामियों, मुमुक्षुओं एवं पूजा-अर्चना के उद्देश्य से काशी आने वाले तीर्थयात्रियों की सेवा में तत्पर है। सेवा कार्यों में तत्पर इसके विभिन्न अवयव इस प्रकार हैं—

१. ईश्वर मठ—इस मठ के चार खण्ड हैं जिनमें लगभग १२० कमरे हैं। साथ में रसोईघर एवं साधना-स्थली है। यहाँ के दण्डी स्वामियों को निःशुल्क भोजन एवं वस्त्र की व्यवस्था की जाती है। प्रातः भोजन तथा रात्रि में दूध दिया जाता है। स्वामियों के लिए श्रद्धालु दाताओं द्वारा प्राप्त हुई निधि से कच्चा एवं पक्का मण्डारा भी आयोजित होता है। कच्चे मण्डारों की स्थायी योजना के अन्तर्गत दाता १२५० रुपये तथा पक्के मण्डारा के लिए २५०० रुपये एक बार जमा कर देता है। इस राशि को फिक्स्ड डिपॉजिट के अन्तर्गत जमा करा दिया जाता है जिसके व्याज से दाता द्वारा निर्धारित तिथि पर मण्डारा कराया जाता है और इसकी सूचना दाता को दे दी जाती है। दैनिक दूध के लिए भी श्रद्धालुओं से राशि प्राप्त होती है। इस सत्कार्य में रुचि रखने वाले दाताओं से इस निमित्त वांछित अनुदान की हम अपेक्षा रखते हैं।

२. मन्दिर—समा के परिसर में ५ मन्दिर हैं जिनमें गणेश मन्दिर अति प्राचीन है। नये मन्दिरों में राधाकृष्ण

मन्दिर, श्री बदरीश्वर महादेव एवं श्री अमयवरद हनुमान मन्दिर हैं। इन मन्दिरों के सामने प्रवचन के लिए विशाल सभामण्डप हैं जिसमें प्रतिदिन धार्मिक प्रवचन होते हैं। विशिष्ट पर्वों पर उत्सव भी मनाये जाते हैं—श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, अन्नकूट, वसन्त पंचमी, शिवरात्रि, रामनवमी एवं रथयात्रा प्रभृति पर्वों पर विशेष आयोजन-पूजन की व्यवस्था की जाती है। ये सभी आयोजन भक्तों द्वारा प्राप्त अनुदान से किये जाते हैं। जिस दिन जिस दाता के अनुदान से उत्सव किया जाता है, मन्दिर के नामपट्ट पर उसका उल्लेख कर दिया जाता है और इसकी सूचना दाता को भेज दी जाती है। धर्मपरायण भक्त दाताओं से इस निमित्त अनुदान की अपेक्षा है।

३. यज्ञशाला—इन्हीं मन्दिरों से संलग्न एक विशाल यज्ञशाला का निर्माण किया गया है। इस यज्ञशाला में काशी निवासियों के अतिरिक्त देश के दूरस्थ भागों से आने-वाले धर्मानुरागी भी यज्ञ का आयोजन कर सकते हैं। अग्निकुण्ड सतत जागरित रहे इस निमित्त हम धर्मप्राण व्यक्तियों से सहयोग की अपेक्षा रखते हैं।

४. शिवशंकर क्षेत्र तथा अन्नक्षेत्र—श्री गंगानगर (राजस्थान) के श्री भगवती ट्रेडिंग कम्पनी तथा अन्य दाताओं के सहयोग से विगत अनेक वर्षों से शिवशंकर क्षेत्र और अन्नक्षेत्र से प्रतिदिन प्रातः बाहरी दण्डी स्वामियों एवं दरिद्र नारायण को भोजन वितरित किया जाता है। यह कार्य निरन्तर चलता रहे, इसके लिए एक स्थायी कोष बनाने की आवश्यकता है।

५. भुवालका जनकल्याण होमियो चिकित्सालय-भवन के परिसर में ही कलकत्ता के सुप्रसिद्ध दाता स्व० श्री रामकुमारजी भुवालका के भुवालका जनकल्याण ट्रस्ट के सहयोग से होमियोपैथिक चिकित्सालय विगत अनेक

वर्षों से सेवारत है और प्रतिदिन लगभग एक सौ से एक सौ पचास रोगी इससे लाभ उठाते हैं। इस सेवा का विस्तार कर हम एलोपैथिक एवं आयुर्वेदिक चिकित्सा की व्यवस्था हेतु भी प्रयत्नशील हैं। जनसेवा में रुचि रखने वाले दाताओं और संस्थाओं से इस निमित्त उदार अनुदान की अपेक्षा है।

६. वेदवेदाङ्ग महाविद्यालय—इसी भवन परिसर में वेद वेदाङ्ग महाविद्यालय है जहाँ मध्यमा, शास्त्री एवं आचार्य की पढ़ाई की व्यवस्था है। महाविद्यालय उत्तर-प्रदेश शासन तथा सम्पूर्णानन्द संस्कृत महाविद्यालय द्वारा मान्यताप्राप्त है। यहाँ छात्रों के निमित्त आधुनिक सुविधा-सम्पन्न छात्रावास भी है जिसमें छात्र निःशुल्क रहते हैं। इनमें अधिकांश छात्रों को छात्रवृत्ति भी दी जाती है। शुल्क के साथ ही परीक्षा शुल्क भी दाताओं के सहयोग से समा द्वारा दिया जाता है। संस्कृत भाषा एवं साहित्य तथा वेद के प्रचार-प्रसार निमित्त इस मद में अनुदान की अपेक्षा है।

७. वेदवेदाङ्ग पुस्तकालय एवं वाचनालय—यह पुस्तकालय संस्कृत तथा वैदिक साहित्य के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों के साथ ही आचार्य तक की शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों को पाठ्यक्रम की पुस्तकें भी उपलब्ध कराता है। इसे निकट भविष्य में प्राच्य विद्या, धर्म, दर्शन तथा संस्कृति का शोध-केन्द्र बनाने की योजना है और इस निमित्त हम विद्यानुरागी दाताओं से अनुदान की अपेक्षा रखते हैं। साथ ही पुस्तकालय भवन एवं अलग वाचनालय की व्यवस्था हेतु भी हम प्रयत्नशील हैं। आशा है, सुधी-जनों से हमें इस कार्य हेतु पर्याप्त सहयोग एवं अनुदान प्राप्त होगा।

८. मुमुक्षु पत्रिका—भारतीय धर्म, संस्कृति एवं परम्परा के सही ज्ञान एवं मूल्यांकन हेतु इस समा द्वारा 'मुमुक्षु' मासिकपत्रिका का प्रकाशन किया जाता है। यह पत्रिका विशुद्ध रूप से सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक लेखों को प्रकाशित कर भारत के गौरवशाली अतीत को पाठकों के सामने लाकर उनकी रुचि को परिष्कृत करने का प्रयास करती है। आशा है, जिज्ञासु

पाठक इसके आजीवन ग्राहक बन कर हमें सहयोग देंगे। आजीवन ग्राहक हेतु शुल्क मात्र २५१) रुपये हैं।

९. काशी-वास—मुमुक्षु, जो जीवन-यात्रा से थके हुए मोक्ष की एवं शान्ति की खोज में काशी आते हैं, उनके आवास की व्यवस्था इस परिसर में स्थायी रूप से की गयी है। ऐसे मुमुक्षुओं की अवस्था ६५ वर्ष से अधिक हो, वे स्वस्थ एवं स्वावलम्बी हों और पूजा, पाठ, ध्यान के अतिरिक्त अन्य किसी व्यवसाय में न लगे हों, तभी उनको रहने पर आवास सुलभ किया जा सकता है। इसी के अन्तर्गत पर्यटक आवास की भी व्यवस्था है जिसमें पर्यटकों और तीर्थ-यात्रियों के अस्थायी आवास की व्यवस्था है।

भवन निर्माण

दाताओं की ओर से धार्मिक कार्यों से काशी पधारने वाले तीर्थयात्रियों और पर्यटकों को अस्थायी आवास सुलभ कराने की दृष्टि से आधुनिक सुविधा-सम्पन्न दो भवन और एक पर्यटक आवास निर्माणाधीन हैं। भवनों का निर्माण श्रीराधाकृष्ण कानोडिया एवं मोदी फाउंडेशन के अनुदान से किया जा रहा है और पर्यटक आवास की आधारशिला समा के अध्यक्ष श्री लक्ष्मीनिवास बिरला के अनुदान से रखी गयी है। ऊपर के कमरों के लिए अन्य दाताओं से अनुदान प्राप्त हो रहे हैं।

संस्था की अन्य भू-भवन-सम्पत्ति उत्तरकाशी, दण्डी आश्रम तथा धर्मशाला, गंगोत्री और गंगा आश्रम, झूसी में हैं। इन सबकी व्यवस्था काशी मुमुक्षु भवन समा द्वारा की जाती है। इन सभी कार्यों के निमित्त दाताओं से अधिक से अधिक अनुदान तथा सहयोग की अपेक्षा है।

१०. दण्डी क्षेत्र, उत्तरकाशी, गंगोत्री

काशी मुमुक्षु भवन समा की बहुत बड़ी सम्पत्ति उत्तरकाशी और गंगोत्री में है। विगत कुछ समय से प्रबन्धक स्वामी के अस्वस्थ हो जाने और तत्पश्चात् ब्रह्मलीन हो जाने के कारण क्षेत्र की व्यवस्था बिगड़ गयी थी। वहाँ संस्था की बहुत बड़ी सम्पत्ति है। यात्रियों के लिए आवास की व्यवस्था है और दण्डी स्वामी तथा

संन्यासियों के लिए क्षेत्र चलता है। इधर उसकी व्यवस्था में पर्याप्त सुधार किया गया है। श्री किशनदयाल रामेश्वर चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता के सहयोग से अन्न क्षेत्र का संचालन विगत अनेक वर्षों से हो रहा है। इस अन्न क्षेत्र के विस्तार हेतु श्री एस० एन० अग्रवाल चैरिटेबल ट्रस्ट, सलकिया, हवड़ा सहयोग प्रदान कर रहे हैं। उत्तराखण्ड में भ्रमण करनेवाले अनेक साधु-संन्यासी इस अन्नक्षेत्र में कृपापूर्वक भिक्षा ग्रहण करते हैं। अन्नक्षेत्र का कार्य नियमित रूप से चलता रहे, इसके लिए उदारमना सज्जनों के सहयोग की अपेक्षा है। कम से कम ग्यारह सौ रुपया जमा कराने पर

उसके ग्राज से वर्ष में एक दिन दाताओं की ओर से अन्न-क्षेत्र में भिक्षा का वितरण किया जा सकेगा।

यदि कोई सज्जन मण्डारा कच्चा अथवा पक्का कराना चाहते हैं तो उसके अनुसार अनुदान प्राप्त होने पर व्यवस्था कर दी जाती है।

उत्तरकाशी में ज्ञानसू तथा लक्षेश्वर में काशी मुमुक्षु भवन सभा की सम्पत्ति है जिसकी सुरक्षा और रखरखाव की व्यवस्था की जा रही है। गंगोत्री में श्री तीर्थ-यात्रियों और संन्यासियों के विश्राम के लिए आवास बने हुए हैं।

काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी, वाराणसी—२२१००५ फोन : ५६३८०

कलकत्ता कार्यालय

बिरला बिल्डिंग (१४ तल्ला), ९११ आर. एन. मुखर्जी रोड, कलकत्ता ७०००१

मां, शरणागत की रक्षा करो

श्री तायुमानकर स्वामिहल, तमिल के महान् शैव सन्त कवि

हे शक्तिस्वरूपे ! काले मेघ के समान श्यामोज्ज्वल तुम्हारा अलक-भार मेघवाहन मन्थन को भी हतश्रो कर भगा देता है। तीखे खड्ग की धार से भी तीक्ष्ण हैं तुम्हारे कोमल नयनों के दृष्टि-पात, अधर्म का निरसन एवं धर्म का पालन तुम अपने दृष्टि-पात मात्र में कर सकती हो। भगवान् शिव की अधर्माग्नि ! मुझ अभागे का उद्धार करो। धूलिधूसरित वस्त्र की तरह कर्म-विपाकों से दूषित इस चर्मनीड में मैं बुरी तरह बँध गया हूँ। प्रचण्ड झँझावात में फँसे कपास पर आग लग जाय, तो उसे बचावे कौन ? वही स्थिति मेरी है, हे माता ! इस ऐन्द्रजालिक प्रपञ्च में उलझे रहने वाले मुझ दीन के अत्यल्प सदज्ञान में भी अहंकार और अज्ञान की आग लग गयी है तथा मौका पाकर उधर यमराज का दूत बन कर बुढ़ापे ने भी मुझे अपना आखेट बना लिया है। हे उमादेवि ! अब मेरा दुर्बल मन निरुपाय हो गया है। किंकर्तव्यविमूढ़ मैं निर्लज्ज एवं निराश्रय हो भूला-भटका फिर रहा हूँ—अन्धे देहाती शूकर की तरह। जगदम्बे ! मेरी इस क्षुद्रातिक्षुद्र दशा को ही देखना चाहती हो क्या तुम ? न, न, अम्ब ! इस गर्हित, घोर अधःपतन से शीघ्रातिशीघ्र मेरा उद्धार करो।

श्रीमती रुक्मिणीदेवी बिरला : एक अप्रतिम व्यक्तित्व

राजा बलदेवदास बिरला के कनिष्ठ पुत्र स्व० श्री बृजमोहन बिरला की धर्मपत्नी श्रीमती रुक्मिणी देवी बिरला, भौतिक रूप से समृद्ध परिवार की उन इती गिनी महिलाओं में थीं जिनका सारा जीवन महिला उत्थान, दीन-दलितों की सेवा तथा शिक्षण संस्थाओं की सहायता के लिए समर्पित था। यह धर्मप्राण महिला इतनी विनम्र और उदार थीं कि उनके सम्पर्क में आते ही लोगों की उनके प्रति असीम श्रद्धा हो जाती थी। वे सम्भ्रान्त परिवार की महिलाओं और समाज-सेवियों के लिए प्रेरणा की स्रोत थीं।

स्व० श्री गजानन्द तापड़िया की पुत्री के रूप में उन्हें समाज-सेवा की जो जन्मजात थाती प्राप्त थी वह बृजमोहन बिरला की धर्मपत्नी के रूप में सहज साकार हो उठी। महिलाओं के जागरण और उत्थान हेतु वे सतत् प्रयत्नशील रहीं क्योंकि उनका विश्वास था कि समाज में व्याप्त रूढ़िवाद को केवल महिलाओं के नवजागरण से ही दूर किया जा सकता है। इसी उद्देश्य से १९३५ में पर्दा विरोधी आन्दोलन का उन्होंने नेतृत्व किया था। माहेश्वरी सभा से सम्बद्ध होकर वे माडर्न हाई स्कूल और रानी बिरला कालेज की प्रेरणास्रोत बनी रहीं।

शिक्षा और चिकित्सा क्षेत्र के साथ ही धार्मिक क्षेत्र में भी उनकी अभिरुचि थी और देश के कई प्रसिद्ध मन्दिरों और देवालयों के जीर्णोद्धार में उन्होंने करोड़ों रुपये का दान दिया होगा। वे अपने देहावसान के दिन ७७वर्ष की हो गयी थीं और बिरला परिवार में नई और पुरानी पीढ़ी के बीच एक अति मधुर कड़ी के रूप में उन्हें स्नेह तथा सम्मान प्राप्त था। पति की मृत्यु के ६मास के भीतर वे इहलीला समाप्त कर देवलोक की पथगामिनी बनीं और छोड़ गयीं अपने पोछे एक भरापूरा परिवार, एवं अश्रुपूरित श्रद्धालुओं की एक भीड़। भगवान् उनकी आत्मा को चिरशान्ति प्रदान करे।

मानव धर्म

मानव धर्म समस्त धर्मों को एक सूत्र में बाँधने का महत्वपूर्ण माध्यम है।

गंगा-यमुना की इस पावन धरती (हरिद्वार) पर मानव धर्म-सम्मेलन के आयोजन से सनातन धर्म का सही रूप देखने को मिला है, जिसमें जाति-प्रथा तथा छुआछूत का कोई स्थान नहीं है।

अपेक्षा है मानव धर्म के एक ऐसे मन्दिर की जिसमें संसार के प्रत्येक धर्म का समुचित स्थान हो। इसी से जनतन्त्र की कड़ी मजबूत होगी और सारी वसुधा सिमट कर एक स्थान पर आ जायेगी।

मानव धर्म, सनातन धर्म तथा गोस्वामी तुलसीदास का मानव धर्म पर्यायवाची हैं।

देश का नागरिक सही अर्थों में वही होगा जिसका स्वाभिमान हिमालय की तरह ऊँचा हो और जिसका हृदय समुद्र की तरह गहरा तथा गंगा की तरह निर्मल हो।

—काशीनाथ मिश्र

राज्य सूचना मन्त्री, उत्तर प्रदेश

काशी मुमुक्षु भवन समा-समाचार

अप्रैल-मई १९८२

देवस्थान पूजा स्थायी कोष

श्री बद्रीप्रसाद कोठारी, कलकत्ता :
श्री बद्रीश्वर महादेव मन्दिर में
नियमित पूजा अर्चना हेतु १५,०००-००

भवन निर्माण हेतु

मोदी फाउंडेशन, कलकत्ता १,५०,०००-००
दुर्गादेवी मेमोरियल ट्रस्ट, कलकत्ता ५०,०००-००

स्थायी भण्डारा कोष

श्रीमती सरस्वती देवी १,२५०-००

विविध सहायता

श्री अभिमन्युप्रसाद भुवालका,
भुवालका जन कल्याण ट्रस्ट कलकत्ता
द्वारा राधाकृष्ण मन्दिर के मुख्य द्वार
पर गिल और द्वार लगाने हेतु ७,०००-००

मुमुक्षु (आजीवन सदस्यता)

श्री गम्भीरसिंह पी० जेडीजा,
भावनगर (गुजरात)

श्री अभिमन्युप्रसाद भुवालका, कलकत्ता
श्री परमानन्द खेमका, वाराणसी
श्री जी०एस० बोरा, कलकत्ता

वितरण

एकादशी के अवसर बिरला निकेतन कलकत्ता की
सहायता से नगर के लगभग १४० दण्डी स्वामियों को
प्रतिस्वामी ढाई किलो चीनी तथा द्वादशी को एक किलो
चावल का वितरण किया गया ।

मन्दिर

प्रतिदिन ३ बजे अपराह्न स्वामी गणेश्वरानन्द तीर्थ
द्वारा प्रवचन एवं शाम ६ बजे से ८ बजे तक कीर्तन

और आरती । हनुमज्जयन्ती पर विशेष सजावट और
प्रसाद वितरण ।

भुवालका जन कल्याण ट्रस्ट, होमियोपैथिक चिकित्सालय

अप्रैल मास में ५०९ नये एवं २६४६ पुराने रोगियों
का इलाज हुआ और मई मास में ६०३ नये रोगी और
२४२२ पुराने रोगी चिकित्सा से लाभान्वित हुए ।

विशेष सहायता (मुमुक्षु)

राजा बहादुर सर बंसीलाल धर्मार्थ ट्रस्ट, सुलतान
बाजार, हैदराबाद ।

ईश्वर मठ

भवन द्वारा ईश्वर मठ के दण्डी स्वामियों के लिए
मिक्षा (भोजन भण्डारा) का प्रबन्ध है । ये भण्डारे दो
प्रकार के होते हैं—कच्चा और पक्का । कच्चे भण्डारे में
रोटी, दाल, चावल, शाक और दही दिया जाता है तथा
पक्के भण्डारे में खीर-पूड़ी अथवा हलवा-पूड़ी या मिठाई-
पूड़ी का प्रबन्ध है । स्थायी कोष द्वारा स्थायी भण्डारा
और अस्थायी दान द्वारा अस्थायी भण्डारा । गत मई मास
में निम्नलिखित भण्डारे दिये गये—

स्थायी भण्डारा

१. श्रीमती बसन्तसुन्दरी देवी,
वाराणसी (पक्का) १-५-१९८२
२. श्री कैलाशचन्दजी गोयल,
कलकत्ता (कच्चा) १०-५-१९८२
३. श्री गोपीराजजी अग्रवाल,
कलकत्ता (कच्चा) २३-५-१९८२

अस्थायी भण्डारा

१. श्री स्वामी अमयानन्द तीर्थ (कच्चा) ४-५-१९८२
२. श्री रामकुमारजी सराफ,
मारवाड़ी सेवा संघ (कच्चा) ६-५-१९८२

३. श्री शिवभगवानजी जालान,
मारवाड़ी सेवा संघ (कच्चा) ७-५-१९८२
४. श्रीमती कमली बाई (काशीपुर-
वाली), मुमुक्षु भवन (कच्चा) १६-५-१९८२
५. श्रीमती सावित्री देवी मुरारका,
मीरघाट, वाराणसी (कच्चा) २४-५-१९८२
६. डा० गोरखनाथ चतुर्वेदी,
द्वारा स्वामी गणेश्वरानन्द (पक्का) २६-५-१९८२
७. श्रीमती शान्तिदेवी झुनझुन-
वाला, कलकत्ता (कच्चा) ३०-५-१ ८२

उत्तर काशी; ईश्वर मठ दण्डीक्षेत्र

८. श्री एस०एल० अग्रवाल
चैरिटेबुल ट्रस्ट, कलकत्ता (पक्का)
९. श्री स्वामी गोविन्दानन्द गिरि,
उजेली (पक्का)

जून १९८२

स्थायी भण्डारा

१. श्री मदनलालजी चौधरी, कलकत्ता (कच्चा)
२. श्री बालकिशन, जगदीशप्रसाद, कलकत्ता (कच्चा)
३. श्री गोपीरामजी अग्रवाल, कलकत्ता (पक्का)

अस्थायी भण्डारा

१. श्री यदुनन्दनप्रसाद दीक्षित, बिट्टो चौक (कच्चा)
२. श्री वहीशदेव ब्रह्मचारी, मुमुक्षु भवन (कच्चा)
३. श्री स्वामी गणेशानन्द तीर्थ, मुमुक्षु भवन, षोड़सी (पक्का)
४. श्री केशरीमल अगरवाल, महाराजगंज, हैदराबाद (पक्का)

५. श्री स्वामी देवानन्द तीर्थ, वार्षिक आराधना,
मुमुक्षु भवन (कच्चा)
६. श्री पूरनचन्द, आगरा (कच्चा)
७. श्री स्वामी अखण्डानन्द तीर्थ, मुमुक्षु भवन (कच्चा)
८. श्रीमती गायत्री देवी व रतनी बाई, सलकिया (पक्का)
९. श्री कान्ताप्रसाद, हनुमानप्रसादजी गनपत
रामजी, दारुका, बाकुड़ा (कच्चा)
१०. श्रीमती रुक्मिणी देवी, वाराणसी (कच्चा)
११. श्री शिवप्रसादजी बड़मेर वाला (कच्चा)
१२. श्री लल्लूजी मुकुन्दलाल एण्ड सन्स, वाराणसी (पक्का)

वितरण (दण्डी स्वामी तथा अन्य)

१. श्री रामकुमार बज्ज, फल प्रति एकादशी
२. श्री नन्दकिशोर प्रह्लादका, आम

प्याऊ

विरला निकेतन कलकत्ता के सहयोग से संचालित
प्याऊ (पीसरा) १ मई से १५ जुलाई, १९८२ तक

मुमुक्षु (पत्रिका) आजीवन सदस्यता २५१.००

१. कमला चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता
२. श्री रघुनाथप्रसाद कागदी, बम्बई
३. श्रीमती सरोज गुटगुटिया, पटना

मुमुक्षु (पत्रिका) विशेष सहायता १०१.००

१. श्रीमती चन्द्रकला केजरीवाल, कलकत्ता
२. लोहिया चैरिटेबुल ट्रस्ट, कलकत्ता

भुवालका जनकल्याण ट्रस्ट द्वारा संचालित होमियो- पैथिक चिकित्सालय

जून माह में ५१० नये रोगियों एवं २५६२ पुराने
रोगियों की चिकित्सा की गई ।

सूचना—काशी मुमुक्षु भवन सभा, अरुंसी वाराणसी का फोन नम्बर ६४३८० के स्थान पर ५६३८० हो गया है ।

‘मुमुक्षु’ के शुभचिन्तकों से निवेदन

‘पाठकों की प्रतिक्रिया’ से मुमुक्षु के शुभचिन्तकों को विदित होगा कि आठ मास के शैशव-काल में ही ‘मुमुक्षु’ ने आशातीत लोकप्रियता प्राप्त कर ली है। उसकी साज-सज्जा, रेखांकन तथा रचना-संकलन से प्रभावित होकर कुछ उदार सहृदय पाठकों ने विशेष सहायता प्रदान की है और कुछ ने आजीवन सदस्यता के शुल्कादि नियमों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण जिज्ञासा प्रकट की है। एतदर्थ हम यहाँ विभिन्न ग्राहक-श्रेणियों के शुल्कादि नियम प्रकाशित कर रहे हैं। साथ ही आशा करते हैं कि मुमुक्षु के प्रत्येक हितैषी कम से कम पाँच ग्राहक अवश्य बनाएँगे।

१. विशेष सहायक— जो सज्जन प्रतिवर्ष (१०१) काशी मुमुक्षु भवन सभा को सहायता प्रदान करेंगे। ऐसे उदार दाताओं को ‘मुमुक्षु’ पत्रिका के अतिरिक्त सभा द्वारा प्रकाशित और प्रचारित साहित्य निःशुल्क प्रदान किया जायगा तथा वर्ष में एक सप्ताह के लिए उन्हें मुमुक्षु भवन में निःशुल्क आवासीय सुविधा प्रदान की जायगी।
२. आजीवन ग्राहक— जो सज्जन एक साथ मनिआर्डर या ड्राफ्ट द्वारा (२५१) भेजेंगे, उन्हें जीवन-भर ‘मुमुक्षु’ प्राप्त होता रहेगा।
३. साधारण ग्राहक— जो सज्जन लागत मूल्य से भी कम वार्षिक शुल्क (१५) मनिआर्डर या पोस्टल आर्डर से भेजेंगे उन्हें वर्ष भर ‘मुमुक्षु’ मिलता रहेगा।
४. सहयोगी ग्राहक— जो सज्जन ‘मुमुक्षु’ के कम से कम १५ साधारण ग्राहक बनायेंगे उन्हें सहयोगी के रूप में निःशुल्क एक वर्ष ‘मुमुक्षु’ पत्रिका मिलती रहेगी।

सूचना—मनिआर्डर, बैंक ड्राफ्ट, पोस्टल आर्डर, स्थानीय चेक ‘काशी मुमुक्षु भवन सभा’ के नाम से हा भेजना चाहिए। — मन्त्री, काशी मुमुक्षु भवन सभा, अरसी, वाराणसी-५।

‘मुमुक्षु’ का यज्ञ-विशेषांक

काशी मुमुक्षु भवन सभा ने अपने मुख्य परिसर में शास्त्रीय विधि से एक यज्ञ-मण्डप का निर्माण कराया है जिसके चारों ओर चारों वेदों की मूर्तियाँ स्थापित की गयी हैं। इसके उद्घाटन के उपलक्ष्य में ‘मुमुक्षु’ का लगभग १६० पृष्ठों का एक सचित्र विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है।

जिसमें

‘यज्ञ’ की व्युत्पत्ति, परिभाषा, प्रकार, उनके दृष्ट और अदृष्ट फल तथा विधियों का विस्तारपूर्वक विवेचन होगा। ऋत्विजों, वैदिक आचार्यों तथा इस विषय में रुचि रखनेवालों के लिए यह विशेषांक विशेष रूप से संग्रहणीय होगा।

इन विषयों के अधिकारी विद्वानों के लेख तथा सुझाव सादर आमन्त्रित हैं।

—सम्पादक, ‘मुमुक्षु’
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अरसी, वाराणसी-५

ORIENT PAPER & INDUSTRIES LTD.

(Regd. Office : Brajrajnagar, Orissa)

Manufacturers of Superior Quality

Printing-Writing, Packing-Wrapping

Papers and Paper Boards.

MILLS : BRAJRAJNAGAR-768 216

AMLAI-484 117

“FOR FAST MAIL ALWAYS MENTION POSTAL PIN CODE”



मुमुक्षु

अगस्त १९८३

पाठकों की प्रतिक्रिया

आपका 'मुमुक्षु' मिल जाता है। बड़े मनोयोग से पढ़ता हूँ। उसके लेख ज्ञानवर्धन के साथ मनोरंजन भी करते हैं। जून के अंक में 'कोणार्क का सूर्य मन्दिर' लेख अमूल्य सामग्री से भरा है। 'लोकदेवता श्री हनुमान' में श्री कुवेरनाथ राय ने लोक श्रुति को ही पुराणों में विस्तृत किया गया माना है जो सुमेर तथा बेबीलोन तक प्रचलित थी। ऐसी प्रचलित मिथ लोक श्रुति होने के साथ ऐतिहासिक तथ्य भी हो सकती है। 'वीर' शब्द भी अनार्य नहीं। वेद में वह विद्यमान है। वीरासः और Wiros एक ही है। वेद में वीर का अर्थ पुत्र तथा बहादुर है। जर्मनी में भी Wiros इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। बिरला जी के लेखों को पढ़कर भी आनन्द को लहर उठने लगती है।

१।७७ आयनगर, कानपुर

—मुंशीराम शर्मा

मुमुक्षु' देखा। निश्चित रूप से आप आध्यात्मिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों की उत्तम पठनीय सामग्री देते हैं। आप जैसी अन्य धार्मिक स्वयं-सेवी संस्थाओं की ओर से शायद ही ऐसी कोई उच्चकोटि की पत्रिका निकलती हो। इस उल्लेख प्रकाशन एवं सम्पादन के लिए अनेक साधुवाद एवं बधाई।

३८२ सी. बड़ी पियरी, वाराणसी-१

—मनु शर्मा

आपका भेजा मुमुक्षु मिला। पढ़कर बड़ी खुशी हुई। ऐसे समय में जब कि देश में चरित्रहीनता का बोलबाला है यह एक बहुत सामयिक प्रयास है। साथ ही साथ हमारे युवकों में अपने पुराने साहित्य की ओर आस्था जागृत कराने का एक स्तुत्य प्रयास है। समाज को इसकी बहुत आवश्यकता है। भगवान् आपको इस क्षेत्र में यश दें, यही हमारी मंगल कामना है।

गोरखपुर

—दामोदरदास मोदी

'मुमुक्षु' पत्रिका का मई अंक मिला। उसका प्रकाशन जितना सुरुचिपूर्ण है उतना ही उपादेय है।

श्री कबीर-शान्ति सन्देश
वाराणसी

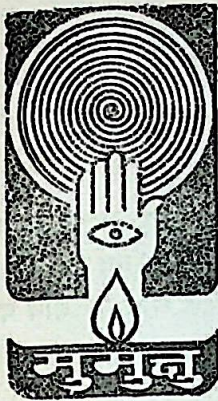
—श्यामदास शास्त्री,

'मुमुक्षु' का अंक मिला। बहुत धार्मिक व्यक्ति नहीं हूँ। पर अंक में खोजपूर्ण लेख पढ़कर बहुत अच्छा लगा। कर्मकाण्डी रचनाओं से ये रचनाएँ बहुत सार्थक होती हैं। कर्मकाण्ड से मुक्त धर्म ही तो संस्कृति है। प्रारम्भ में संस्कृति और धर्म एक ही थे। कर्मकाण्ड बढ़ा तो धर्म लुप्त हो गया, तब संस्कृति की पुकार हुई। धर्म के मूलरूप को प्रतिष्ठित करो। वह जीवन पद्धति है, जीवन मूल्यों का उत्सव है धर्म।

आश्चर्य तो यह है कि जिन बातों के बारे में हम जानते नहीं उन्हीं के बारे में लड़ते हैं। पोद्दार जो पर छोटा सा लेख मन को छू गया तो श्री कुवेरनाथ राय के लेख ने कहीं दूर पहुँचा दिया। और लेख भी पठनीय हैं। मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

८१८, कुण्डेवाला, अजमेरी गेट, दिल्ली-११०००६

—विष्णु प्रभाकर



आध्यात्मिक

तथा

सांस्कृतिक

मासिक

वर्ष १ : अंक ११
भाद्रपद, सं. २०३९
अगस्त, १९८२

प्रकाशक

काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी

वार्षिक : पन्द्रह रुपये
एक अंक : डेढ़ रुपया
आजीवन
दो सौ इक्यावन रुपये

अनेकरूपा राजनीति

सत्यानुता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंसा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।

नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥४७॥ नी० श०

कभी सत्यभाषी, कभी असत्यभाषी; कभी कठोर और कभी मधुर बोलनेवाली; कभी हिंसक, कभी दयामयी; कभी धनलोलुप, कभी उदार; कभी धन लुटानेवाली, कभी धन संग्रह करनेवाली राजनीति, वेश्या के समान दुरङ्गी होती है। अतः इन दोनों से सावधान रहना चाहिए।

प्रणम्य पुरुष

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम् ।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले
येष्वेते निवसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः ॥६२॥ नी० श०

जो मनुष्य सज्जनों की सङ्गति के अभिलाषी होते हैं, जिनकी दूसरे के गुण में प्रीति होती है, जो गुरु के प्रति विनयशील रहते हैं, जिन्हें विद्या का व्यसन होता है, जो अपनी पत्नी से ही प्रेम करते हैं, जो लोक-क्रिन्दा से डरते हैं, जो भगवान् शिव में भक्ति रखते हैं, जो आत्म-संयमी हैं, जो दुष्टों से दूर रहते हैं, ऐसे आदर्श पुरुषों को मैं प्रणाम करता हूँ।

मित्रता का आदर्श

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः
क्षीरोत्तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानो हुतः ।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापदं
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वोदृशी ॥७६॥ नी० श०

पहले जब दूध में पानी जा मिला तब दूध ने उसे अपने सारे गुण देकर मित्र बना लिया। अपने ऐसे मित्र दूध को जब पानी ने आग पर उतार देते देखा तब उसने पहले अपने को ही आग को समर्पित कर दिया। यह देखकर दूध आग को बुझाने के लिए उफन कर उसकी ओर बढ़ा। किन्तु जब पानी की छोटें डाली गयीं तब अपने मित्र को पाकर दूध शान्त हो गया। सज्जनों की मित्रता ऐसी ही होती है।

इस अङ्क में

अनेकरूपा राजनीति, प्रणम्य पुरुष, मित्रता का आदर्श	१
महालक्ष्मी का निवास चक्रवर्ती राजगोपालाचारी	२
श्रीकृष्ण श्री रंगनाथ दिवाकर	३
प्रवाह श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	५
जिन्दगी और मौत के दस्तावेज	
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी	७
रावणानुग्रह मूर्ति का एक दृश्य राय आनन्दकृष्ण	९
जब विन्ध्याचल ने सिर उठाया	
श्री रामनारायण उपाध्याय	११
मन्त्रतत्त्व ज्योतिषकलानिधि शिवनाथ मेहरोत्रा	१३
स्वभाव आचार्य स्वामी	१४
बुढ़ापा यों बिताइये श्री विठ्ठलदास मोदी	१५
ईश्वर-भजन अर्थात् लोक-कल्याण	
श्री घनश्यामदास बिरला	१६
विज्ञान, शक्ति और पवित्रता	
डा० राधाकमल मुखर्जी	१७
अतिथि-सत्कार	२१
उदारता	२२
सार्वजनिक सेवा और वानप्रस्थ आश्रम	विनोबा २३
पड़ोसी प्रेम	२४
दुःस्वप्न 'रमणसूक्त' से	२४
सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई	
श्री लक्ष्मीनिवास बिरला	२५
राजा और उसका राजधर्म	२९

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से सम्पादक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

लेखकों से—'मुमुक्षु' में प्रायः धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रचनाएँ ही प्रकाशित की जाती हैं। ये रचनाएँ साहित्य की किसी भी विधा में हो सकती हैं। अतः लेखकों से निवेदन है कि वे अपने पास प्रतिलिपि रखकर ऐसी ही रचनाएँ भेजें। अस्वीकृत रचनाओं को लौटाने में हम असमर्थ हैं। स्वीकृत रचनाओं की सूचना पन्द्रह दिनों के भीतर भेज दी जाती है।—सम्पादक

महालक्ष्मी का निवास

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

विश्वजित् यज्ञ में राजा रघु अपना सर्वस्व दान कर चुके थे। तभी एक दिन ऋषि वरतंतु के शिष्य कौत्स उनके पास पहुँचे। रघु ने हार्दिक श्रद्धा के साथ ऋषि की अभ्यर्थना की, किंतु सम्पत्ति के नाम पर कुशासन और मिट्टी के पात्र को देख कर ऋषि बड़े हताश हुए।

फिर भी उन्होंने कहा—'राजन्, सूर्य के सामने जिस प्रकार अँधेरा ठहर नहीं सकता, उसी प्रकार तुम्हारे सुशासन में दुःख किसी को नहीं व्यापता है। मैं तुम्हारे पास याचक बन कर आया था, पर देखता हूँ, मैं विलम्ब से पहुँचा। तुमने अपना सब-कुछ औरों को दे डाला—अब तो सिर्फ तुम्हारा शरीर-भर तुम्हारे पास बचा है। मुझे गुरुदक्षिणा देने के लिए चौदह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ चाहिए। अतः मेरी कामना यहाँ सिद्ध नहीं हो सकती। तुम्हारा कल्याण हो।' किंतु रघु ने उन्हें रोकते हुए बड़ी नम्रता से कहा—'मुनिवर, आप यहाँ से निराश हो, किसी अन्य का द्वार झाँकें, यह कैसे सम्भव है? कृपया आप हमारी यज्ञशाला में चल कर विश्राम कीजिए। दो-तीन दिनों में ही मैं आपकी गुरु-दक्षिणा की व्यवस्था कर दूँगा।'

कौत्स, रघु का आश्वासन सुन बड़े प्रसन्न हुए। इधर राजा रघु ने मन-ही-मन निश्चय किया—'पृथ्वी पर तो धन है नहीं, अतः मैं कुबेर के पास जाऊँगा। उन्हें पराजित कर मुनि की गुरुदक्षिणा के लिए धन ले आने में कोई अड़चन नहीं होगी।'

किंतु दूसरे दिन जब वे अपने इस अभियान पर निकलने ही वाले थे कि, राजकोष के रक्षकों ने आकर सूचना दी—'महाराज! रात को कोष में बहुत देर तक सोने की वर्षा होती रही है। सोने का ढेर ऐसा चमक रहा है, मानो किसी ने वज्र से सुमेरु पर्वत का एक टुकड़ा काट कर गिरा दिया हो।'

[शेष पृष्ठ ८ पर]

श्रीकृष्ण

व्यक्ति में विराट् के चरमोत्कर्ष

श्री रंगनाथ दिवाकर

हिन्दुओं के दशावतारों में राम और कृष्ण सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। सम्भव है, किसी समय इन दोनों के उपासकों में पारस्परिक स्पर्धा अथवा संघर्ष भी रहा हो, किन्तु आज तो देश के कोने-कोने में दोनों की समान श्रद्धा-भक्ति से पूजा होती है। 'रामकृष्ण' यह अत्यन्त लोकप्रिय नाम भी दोनों अवतारों के भक्तों का आज का मेलजोल प्रमाणित करता है। करोड़ों नर-नारी रामनवमी और कृष्णाष्टमी के पर्व, समान श्रद्धा-समारोह के साथ मनाते हैं।

पारस्परिक तुलना की दृष्टि से कृष्ण की अपेक्षा राम का व्यक्तित्व अधिक सरल और विवाद-रहित है। वे एक आदर्श पुरुष हो गये हैं—उदात्त जीवन के ऐसे महान् शिल्पी कि, उच्चादर्शों की मर्यादा बनाये रखने के लिए उन्होंने किसी भी त्याग में कृपणता नहीं की। 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' की संज्ञा उन्हें इसीलिए दी गयी है। ईश्वरावतार होते हुए भी, उन्होंने अपने स्वयं की मर्यादाएँ निर्धारित कीं और सदैव उनकी परिधि के भीतर वर्तन किया। इसके विपरीत श्रीकृष्ण 'पूर्णवितार' कहलाते हैं। उन्होंने नर-देह धारण की, किन्तु अपनी शक्तियों के प्रदर्शन में कोई सीमा स्वीकार नहीं की।

श्रीकृष्ण का चरित्र एवं जीवन दोनों ही जटिल हैं और कई मतभेदों एवं विवादों की ग्रन्थि हैं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि, श्रीकृष्ण, एक नहीं, दो-तीन भिन्न-भिन्न व्यक्ति हो गये हैं। वे मानते हैं कि, उपनिषदों के देवकी-पुत्र कृष्ण, गोपियों के नटनागर-कृष्ण और गीता के सत्य-द्रष्टा कृष्ण एक नहीं, अलग-अलग हैं। मैं यहाँ सिर्फ व्यास द्वारा विरचित गीता के वक्ता कृष्ण की ही एक झलक प्रस्तुत करूँगा।

मूल प्रसंग पर आने से पूर्व, मैं चाहता हूँ कि, अवतारवाद के विषय में भी थोड़ा-सा स्पष्टीकरण कर दूँ। मोटे तौर पर मानवीय सीमा एवम् क्षेत्र में ईश्वरत्व के प्रकटीकरण को ही अवतार कहा जाता है। सर्वशक्तिमान् होने के कारण

ईश्वर के लिए कुछ भी असम्भव नहीं। वह अपनी इच्छा या संकल्प-मात्र से किसी भी कार्य को कर सकने में समर्थ है। किन्तु धर्म की स्थापना के हेतु, उसका मनुष्य-योनि में पृथ्वी पर अवतीर्ण होना, निश्चय ही, कोई एक विशेष महत्वपूर्ण उद्देश्य का परिचय है। यह स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि, मनुष्य की आन्तरिक विभूति कितनी विराट्, मानवीय शक्ति के आविर्भाव की सीमा कितनी विशाल है और उसकी अन्तश्चेतना कैसे-कैसे असाधारण रूपों में प्रस्फुटित हो सकती है। इसी से मानव को अपनी अन्तःशक्तियों के विकास की सीमा का ज्ञान और परिचय हो सकता है। इसी से मानवीय प्रयत्नों की दिशा का दिग्दर्शन भी होता है। गीता के श्रीकृष्ण, जो हमारे सामने हैं, उनका दर्शन हमें इसी पृष्ठभूमि के भीतर करना है।

सर्वप्रथम पार्थ-सारथी के रूप में ही श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं। अर्जुन तत्कालीन क्षत्रिय-समाज का श्रेष्ठतम योद्धा और धनुर्धरः। किन्तु अपने ही हाथों अपने स्वजन-परिजनों के संहार की अशुभ कल्पना ने उसके क्षत्रिय-सहज संकल्प की जड़ें हिला दीं। उसने युद्ध नहीं करने का निश्चय किया। श्रीकृष्ण को अर्जुन के इस अप्रत्याशित निर्वेद से बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने कई युक्तियों द्वारा उसे क्षत्रिय-धर्म-पालन के लिए प्रेरित किया। किन्तु अर्जुन की शंकाएँ इतनी गहरी थीं कि, केवल क्षत्र-धर्म का स्मरण ही उसके समाधान के लिए पर्याप्त न था। श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्मयोग का निरूपण किया, मगर जब उन्होंने अनुभव किया कि, कर्मयोग का शुष्क-नीरस दर्शन अर्जुन को इस गहन पतन से त्राण देने में समर्थ नहीं है—उसकी जिज्ञासाओं की जड़ें कहीं अधिक गहरी हैं—तो उन्होंने उसके समक्ष उस सर्वनियन्ता परमात्मसत्ता के स्वरूप का वर्णन किया, जो इस नामरूपात्मक जड़-चेतन के सृजन-संहार की एकमात्र संचालिका और अधिष्ठात्री है। उन्होंने अर्जुन के मानस-चक्षु के समक्ष यह स्पष्ट करा दिया कि, इस जागतिक विधि-

विधान में मनुष्य उस अन्तर्यामिनी सत्ता के हाथ की केवल निरीह कठपुतली है—उसकी स्थिति आद्योपांत 'निमित्त-मात्रेण' की ही है—वास्तव में, पुरुषोत्तम-रूपी महासिन्धु की एक क्षुद्र तरंग से अधिक उसकी अवस्थिति नहीं।

अर्जुन के मोह-निगूढ़ अहंकार पर यह वज्र-प्रहार था। सर्वनियंता ब्रह्मा की सत्ता के इस परिचय से उसकी अन्तः-चेतना जागी और उसने कारण, कर्म और कर्ता के वास्तविक रूप को पहचाना। किन्तु अर्जुन के केवल मानस-चक्षु को ही सत्य का दर्शन करा कर श्रीकृष्ण सन्तुष्ट नहीं हुए।

शुद्ध-सनातन सत्य के इस निदर्शन में श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व विकास के सर्वोच्च शृंगों का स्पर्श करता प्रतीत होता है। मार्गद्रष्टा अथवा उपदेशक की सीमित परिधियों का अतिक्रमण करते हुए, वे यहाँ ब्रह्मानुभूति की अनुरूपता प्राप्त कर स्वयं ब्रह्म-रूप में प्रकट होते हैं। वस्तुतः यह उनकी ही निजी आत्मानुभूति का प्रस्फुटन था—परमात्म-सत्ता का उनके ही भीतर महात्मा साक्षात्कार था। और, यह सत्य-दर्शन उनकी चेतना की भूमि पर इतनी तीव्रता, इतनी विदग्धता और पूर्णता के साथ व्यक्त हुआ कि, उसका एक-एक बिन्दु तक उन्होंने अर्जुन के मानस पर उतार दिया। सत्यानुभूति के इस प्रचण्ड प्रकाश के सम्मुख भला अर्जुन का अज्ञान-तिमिर कैसे ठहरता ?

गीता में श्रीकृष्ण का यह आत्म-दर्शन ही विशेष मननीय है। वास्तव में, श्रीकृष्ण की यह अपूर्व-अमिनव व्यक्तिमत्ता अध्यात्म या तत्त्व-साधना के क्षेत्र में अद्वितीय है। तत्त्व-शोध के इस अभियान में, उनकी ऊर्ध्वमुखी चेतना विकास की जिस ऊँचाई पर प्रतिष्ठित हुई—उनकी ससीम वैयक्तिक सत्ता ने जिस विदग्धता से उस असंम विराट् सत्ता में अपने को निलय कर परम-पुरुषोत्तम-रूप में व्यक्त किया और इस स्थिति में जिस अपरिमेय शक्ति का उनके भीतर विस्फोट हुआ तथा जिस सामर्थ्य के साथ उन्होंने अर्जुन को 'विराट् पुरुष' के प्रत्यक्ष दर्शन कराये—वह सब अनन्य महिमामयी घटनाएँ हैं—सर्विकल्प अथवा निर्विकल्प समाधि से भी कहीं अधिक साधक।

कहते हैं कि, रामकृष्ण परमहंस ने केवल स्पर्श-मात्र से समाधि के आनन्दातिरेक की एक झलक विवेकानन्द के मानस-पट पर उतारी। मगर गीतोक्त 'विराट्-पुरुष' के

दर्शन का प्रसंग तो इससे कहीं अधिक तात्त्विक एवं गहन है। गीता की ब्रह्मानुभूति जितनी व्यापक है, उतनी ही अतल-स्पर्शिनी भी। यहाँ तो समस्त ब्रह्माण्ड के कार्य-व्यापारों में दिव्यतिदिव्य के अनुभव को मूर्त रूप में दिया गया है—एक ही व्यक्ति के कोटि-कोटि नटराजों के चैतन्य को एक ही समय अनुभव कराया गया है। और, यह चरम विशाल अन्तरानुभव अपरिमेय की उस स्थिति तक पहुँचाया गया है कि, वहाँ काल भी अपनी गति भूल गया है। इससे भी बड़ी विशेषता इस दिव्यानुभव की यह है कि, यह केवल व्यक्तिनिष्ठ (सबजेक्टिव) नहीं, वस्तु-निष्ठ (आब्जेक्टिव) भी है। इसीलिए तो अर्जुन का विचलित हृदय पुनः अडिग एवं सशक्त बन युद्ध में प्रवृत्त हो जाता है।

जहाँ तक मेरा ज्ञान है, संसार के किसी भी धर्म में स्वयं परमात्मा ने अपनी जबान से धर्मोपदेश नहीं किया। मत्स्यो को 'मगवान् का सन्देश' प्रायः पैगम्बर, देवदूत, कवि आदि ही सुनाते हैं। अतः स्वयं ईश्वर का अपने ही मुख से ईश्वरीय सन्देश सुनाना, आत्मबोध के इतिहास की वास्तव में, अद्भुत एवं चमत्कारी घटना है। तत्त्वानुभव के चरमोत्कर्ष की इससे भव्य कल्पना और हो ही क्या सकती है। ईश्वरत्व की जिस व्यक्तिमत्ता से स्फूर्त श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं, उससे प्रमाणित होता है कि, व्यक्ति की चेतना भी अद्वैतानुभूति का चरमोत्कर्ष प्राप्त करने में समर्थ है—केवल समाधि की अवस्था में ही नहीं, बल्कि उस अवस्था में भी, जब वह धर्म को उद्धेलित करने वाले किसी भी सम्भाषण में लीन हो और वह भी कुरुक्षेत्र के रणरंग पर सारथ्य करते समय। ऐसी स्थिति में, वैयक्तिक अहं का दुर्ग हटात् ढह जाता है और व्यक्ति अपनी अनुभूतियों में विश्व-रूप की चरितार्थता प्राप्त करने लगता है।

चेतना के इस ऊर्ध्वमुखी आरोहण का यह चरमोत्कर्ष केवल व्यक्तिनिष्ठ अनुभव ही नहीं है, वर्न् अर्जुन-जैसे प्रज्ञाशील और विवेकी व्यक्ति भी प्रत्यक्ष प्रभावित होकर उसे अपने भीतर प्रतिबिम्बित पा सकते हैं। यदि इस स्थिति का मनोवैज्ञानिक एवं बौद्धिक धरातल पर और भी विस्तृत अन्वेषण किया जाये, तो बहुत सम्भव है कि, अनेक अद्भुत परिणामों की सूचना मिले।

प्रवाह

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

ब्रह्म की व्यापकता के साथ शक्ति की भी व्यापकता सिद्ध होती है। ब्रह्म और उसकी शक्ति दोनों अभिन्न हैं। सूर्य से उसकी किरणों को अलग नहीं किया जा सकता। ब्रह्म का जो स्वरूप सच्चिदानन्द है उसमें शक्ति का भी सत्ता विराजमान है। सत्, चित् और आनन्द विचार में भिन्न होते हुए भी वास्तव में एक हैं, सर्वव्यापी हैं, अतएव ब्रह्म के लक्षण हैं। किन्तु साथ ही, जिन अर्थों द्वारा वे सर्वव्यापी हैं, वे अर्थ सर्वव्यापिनी शक्ति की ही सूचना देते हैं।

इस सर्वव्यापिनी महाशक्ति की कल्पना से असंख्य ब्रह्माण्डों की सृष्टि हुई है। उस महाशक्ति में यह कल्पना कब हुई थी या इस कल्पना का कब अन्त होगा, यह महर्षि तक नहीं कह सके और न आगे कभी कोई कह सकेगा। कारण, अनादि अनन्त महाशक्ति की इच्छा को वाक्यों में लाना न सम्भव हुआ और न होगा। असीम कभी ससीम हो सका है ?

महाशक्ति की कल्पना से ही यह संसार दृष्टिगोचर हो रहा है। कल्पना चञ्चल या गतिशील होती है। अतएव उसे प्रवाह कहना अनुचित नहीं। महाशक्ति की कल्पना अनादि और अनन्त है अथवा यह कहिये कि प्रवाह अनादि और अनन्त है। प्रहर, दिन, पक्ष, मास, अयन, वर्ष, युग, युगान्तर आदि उस अनन्त प्रवाह के समय-सूचक खण्ड-से कर दिये गये हैं। अनादि और अनन्त प्रवाह की कोई भी वस्तु उस अनादि सत्ता से भिन्न नहीं है। महासमुद्र की एक छोटी-सी तरंग उस असीम महासागर से अभिन्न है। जो कुछ दृश्यमान है या जो कुछ मनोग्राह्य है, वह कल्पना या प्रवाह से पृथक् नहीं है। इसीलिए कहा जाता है कि यह तमाम विश्व-संसार प्रवाह, कल्पना या माया के अधीन है।

प्रवाह सदा एक-सा नहीं रहता। परिवर्तन ही प्रवाह

को गतिशील करता है। इधर कल्पना भी एक ही चित्र पर अवलम्बित नहीं रहती। नित नये रंग बदलना उसका स्वाभाविक धर्म है। शास्त्रकारों ने इसी को माया कहा है। माया वह है जो वस्तु का सच्चा स्वरूप देखने नहीं देती। आज साँप बन रही है तो कल बिच्छू। आज लड़के के मुँह से बाबा कहाती है तो कल लड़का ही बाबा बन जाता है। आज हम धन को संसार का श्रेष्ठ सुख समझते हैं तो कल सम्मान ही हमारे सामने सुख का सच्चा आदर्श हो जाता है। अस्तु, हम देखते हैं कि माया, कल्पना या प्रवाह में परिवर्तन विद्यमान है। यदि परिवर्तन न हो तो प्रवाह निश्चल हो जाये, कल्पना स्थिर हो जाये और माया दूर हो जाये।

एक रूप से दूसरे में बदलने को परिवर्तन कहते हैं। यह परिवर्तन विश्व-संसार में लक्षित हो रहा है। जब कि विश्व-संसार माया या प्रवाह की प्रभुता मानता है तो वह परिवर्तन का तिरस्कार कब कर सकता है ? जिसे हम निष्प्राण जड़ समझते हैं वह भी यथासम्भव अपना स्वरूप बदल कर अपनी स्पन्दनशीलता दिखा देता है। पत्थर भी फटता, चूर-चूर हो जाता है और परमाणुओं से मिल कर एक नया ही रूप धारण करता है। हाँ, वह बढ़ता और घटता भी है। यदि आप कहें कि पत्थर के कटने में पत्थर की निज शक्ति प्रमाणित नहीं होती, वह एक और ही शक्ति—एक दूसरे ही कारण से कटता, घटता या बढ़ता है, तो निवेदन यह है कि तुम तो अपने को संप्राण और शक्तिमान् समझते हो ? फिर जमीन पर पैर न रखो और चलो ? साँस लेकर हवा न खींचो और कुछ कहो ? बाहर से विषय ग्रहण न करो और अपने मस्तिष्क से कुछ निकालो ? क ख ग घ न र टो और विद्वान् बन जाओ ? इसका उत्तर निरुत्तर होगा अथवा हमारे ही विषय को पुष्ट

करेगा। अस्तु, संसार की हर वस्तु का रंग बदलता रहता है। जिसे आज हम हरा-भरा देखते हैं कल वह सूख जाता है। आज जो नवीन है कल वही प्राचीन हो जाता है। आज जो बसन्त-बहार गा रहा है कल वही मेघ-मल्हार के दिन मनाता है। इधर मन में भी यही दृश्य उठ रहे हैं। अभी-अभी तो १० हजार रुपये दरिद्रालय में दिये किन्तु पल-भर में ही ठग विद्या सिर पर सवार हो गयी। परिवर्तन का हाल ही यही है कि क्या मन में और क्या बाहर, संसार में सर्वत्र थियेटर के जैसे सीन उठते और गिरते रहते हैं।

यही परिवर्तन व्यष्टि या समष्टि का जीवन है। जीवन भी प्रवाह है। अतः यह सदा एक-सा नहीं रहता। अवस्थाओं और दशाओं का परिवर्तन तो इसमें होता ही है किन्तु ज्ञान और विचारों का भी परिवर्तन हुआ करता है। किसी-किसी ने तो जीवन के लक्ष्यों पर यह कहा है कि खण्ड-खण्ड ज्ञानों का अनुभव ही जीवन है। अर्थात् अभी-अभी एक विषय का ज्ञान हुआ, थोड़ी ही देर में मन में दूसरा विषय आया और उसका ज्ञान प्राप्त हुआ। इसी तरह तमाम जीवन मानो खण्ड-खण्ड ज्ञानों की समष्टि है। शास्त्रकारों ने इन खण्ड-ज्ञानों को अज्ञान, स्वप्नवत् असार कहा है क्योंकि ये माया-राज्य के मिथ्या अनुभव हैं, जो ज्ञान है वह सदा एकरस है, अपरिवर्तनीय है, स्थिर है, प्रवाह से मुक्त है।

जीवन का प्रत्येक खण्डज्ञान एक चित्रविशेष है। उसे भी आप एक दृश्य कह सकते हैं। उस ज्ञान के मूल में प्रगतिपूर्ण एक वासना विद्यमान है। अथवा यों कहिए कि उस ज्ञान की प्राप्ति के पहले मन में वासना थी, इच्छा का स्फुरण होता है, जिसकी प्रेरणा मन में उस खण्डज्ञान का चित्र अंकित कर जाती है। उदाहरणार्थ यह लिख देना बहुत है कि हमने पिता जी को लिखा कि मैं कल इलाहाबाद आया। इस वाक्य के लिखने के पहले हममें लिखने की इच्छा हुई थी, तभी हम लिख सके थे। उधर हमारे पत्र के पढ़ने के पहले पिता जी में पढ़ने की इच्छा होगी, तभी वे पढ़ सकेंगे। दोनों ओर पहले इच्छा का उद्भव हुआ, फिर ज्ञान की प्राप्ति या हमारे इलाहाबाद आने चित्र का खिंच जाना। स्मरण रहे कि इनमें से कोई भी प्रवाह से अलग

नहीं। न इच्छा का विकास ही प्रवाह से भिन्न है और न चित्र का अंकित होना ही प्रवाह के बहिर्गत है। माया, प्रवाह, परिवर्तन, जीवन और खण्डज्ञान बाहरी भेद रहते हुए भी वास्तव में एक है।

जो बात व्यक्तिगत जीवन पर कही गयी वही बात जातीय जीवन पर भी कही जा सकती है। जिस प्रकार छोटी-छोटी नदियों के प्राकृतिक संगठन से एक महावेगवान् नद का आकार बनता है उसी प्रकार व्यक्तिगत एकता से एक जातीय जीवन को बल, पराक्रम आदि मिलते हैं। व्यक्तिगत खण्डज्ञानों पर अनुकूल परिस्थिति के समष्टिगत विश्वास द्वारा जातीय जीवन पुष्ट होता है। अर्थात् खण्डज्ञान प्रकाशित या प्रचलित होने पर उस पर समष्टि का जो विश्वास है वह जातीय जीवन को शक्तिमान् कर देता है। प्रत्येक जाति का खण्डज्ञान उस जाति का साहित्य है। जातीय साहित्य में जितनी दृढ़ता होगी जातीय जीवन में जीवनी शक्ति भी उतनी ही अधिक होगी। खण्डज्ञान पर स्वभावतः लोगों का विश्वास होता है। संवादों पर या अपने पूर्वोक्त प्रकार के अनुभवों पर मनुष्य बिना विश्वास किये रह नहीं सकते। जब तक जीवन है तब तक ऐसा होना अनिवार्य है। और अपने अनुभवों पर सत्य की धारणा करते हुए दूसरों को भी लोग अपने मत पर ले आते हैं। इसी प्रकार भावों और सहानुभूति के द्वारा मनुष्य एक-दूसरे से सम्मिलित होते हैं। प्राकृतिक अनुकूलता के साथ-साथ भावों और आचारों की भी अनुकूलता जातीय एकता को दृढ़ करती है। यह संगठन जिस जाति का अच्छा है, उसका प्रवाह किसी असंगठित या विक्षिप्त जाति द्वारा रुक नहीं सकता।

आत्मवाद या मुक्ति ही भारत के जातीय जीवन का लक्ष्य है। मुक्ति प्रवाह या माया के अधिकारों से अलग है। बिना मुक्ति हुए जीव स्वतन्त्र नहीं हो सकता। मुक्ति पद पर पहुँचने के जो उपाय कहे गये हैं वही साधन-मार्ग हैं। साधन से सिद्धि तक का रास्ता प्रवाह के ही भीतर है। किन्तु वह प्रवाह माया या अविद्याकृत नहीं। वह विद्याकृत है। मुक्ति-साधन का प्रारम्भ करते ही यथार्थ विद्या या सत्य ज्ञान का भी आरम्भ हो जाता है और ब्रह्म या आत्म-दर्शन में सत्य ज्ञान का पूर्णता प्राप्त होती है।

जिन्दगी और मौत के दस्तावेज

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

ज्ञानी लोग कहते हैं कि मृत्यु सबसे बड़ा सत्य है। हर आदमी यह जानता है कि मरना निश्चित है, लेकिन फिर भी सब समय वह इसे मानता नहीं। जानना और मानना एक ही चीज नहीं है। इतिहास में प्रायः देखा गया है कि मनुष्य कुछ देर के लिए जब शक्ति अर्जित कर लेता है, तब इस प्रकार व्यवहार करने लगता है मानो वह अजर-अमर होकर रहेगा। कभी-कभी तो वह इतना मदमत्त हो उठता है कि धरती कसमसा उठती है, परन्तु अन्त तक कालदेवता की चक्की में वह भी पिस जाता है और उसका नाम भर शेष रह जाता है। कभी-कभी तो नाम भी शेष नहीं रहता। न जाने कब से यह प्रक्रिया चल रही है। यक्ष ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया था कि सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया था कि प्रतिदिन लोग मर रहे हैं, मरने का सिलसिला जारी है, फिर भी जो बचे रह जाते हैं, उनमें जीने की इच्छा बराबर बनी रहती है। इससे बड़ा आश्चर्य क्या हो सकता है :

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषा जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥

इसका अर्थ प्रायः यह लगाया जाता है कि मृत्यु सत्य है और जीवित रहने की इच्छा धोखा है। लेकिन मेरा मन कहता है कि इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए। इसका अर्थ कदाचित् यह है कि जिस प्रकार मृत्यु सत्य है उसी प्रकार, या उससे भी बढ़कर, जिजीविषा सत्य है। आश्चर्य तभी हो सकता है कि मरना जितना निश्चित है उतनी ही निश्चित है जीवित रहने की इच्छा—जिजीविषा। आश्चर्य यही है कि हम जानते हैं कि एक-न-एक दिन मृत्यु आयेगी, लेकिन हम मानते हैं कि हम किसी-न-किसी रूप में जीवित अवश्य रहेंगे। प्रथम सत्य मृत्यु और दूसरा है जिजीविषा। क्या ये दोनों

सत्य परस्पर-विरोधी हैं? वैरागी शायद ऐसा ही मानता है, किन्तु उसका यह मानना ही क्या चरम और परम है? शायद मृत्यु भी जिजीविषा का ही अंग है।

चरम और परम सत्य

कैसे मालूम हो कि इतिहास-विधाता की क्या योजना है? हमारी योजना उसके अनुकूल पड़ रही है कि नहीं? अपने सीमित साधनों के बल पर मनुष्य ने कुछ अनुमान लगाया है। जितनी दूर तक हमें इतिहास पीछे जाने की ओर सहायता कर सकता है, उतनी दूर तक हमें इतना मानने को विवश होना पड़ता है कि यह सारा खेल हमारे भीतर के चैतन्य को निरन्तर विकसित करते रहने का प्रयास है। जो कुछ हमारे आन्तरिक चैतन्य के विकास के अनुकूल है उतना ही सही है और जो कुछ उसके विरुद्ध जाता है, वह गलत है। परन्तु यह भी अनुमान ही। चरम और परम सत्य क्या होगा, यह कहना बड़ा कठिन है। जो कुछ मनुष्य-दृष्ट है उसी को मानकर चलने के सिवा और कोई चारा नहीं है। निरन्तर चैतन्य का परिष्करण ही अब तक ज्ञात सभी बातों में सत्य है। यही अन्तिम सत्य है या नहीं, कोई नहीं कह सकता। लेकिन चैतन्य का परिष्करण ही सत्य है तो विश्वास और आस्था के साथ माना जा सकता है कि हमारे अन्तरतम में विद्यमान चित्तत्त्व निरन्तर इसी ओर इशारा कर रहा है। जिजीविषा इस चैतन्य की उपलब्धि के लिए एक सार्थक प्रयास है। मनुष्य जीना चाहता है, निरन्तर परिष्क्रियमाण चित्तत्त्व के रूप में। इससे बड़ा सत्य हो भी क्या सकता है? यदि कुछ हो भी तो हमारी ग्राहिका-शक्ति से परे है।

जिसे हम सदाचार कहते हैं, वह चैतन्योन्मुख आचरण-मात्र है। जिसे हम भ्रष्टाचार कहते हैं, वह चित्तत्त्व का विरोधी आचरण है। चरम और परम सत्य

क्या है, हम नहीं जानते। किन्तु मनुष्य-दृष्ट सत्य चित्तत्व की निरन्तर परिष्कृत होने की प्रक्रिया ही है। यह मुझे अपना सत्य मालूम प्रडता है। जो जिन्दगी का दस्तावेज नहीं बना सका, वह मौत का दस्तावेज क्या बनायेगा। यह मेरा अपना सत्य जान पड़ता है, औरों के लिए सत्य है कि नहीं, मैं नहीं कह सकता। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं सत्य को विभाजित करके देखता हूँ या ऐसा सोचता हूँ कि हर व्यक्ति सत्य का अलग-अलग रूप लेकर पैदा हुआ है। मेरे कहने का मतलब सिर्फ इतना ही है कि विघाता ने मुझे जैसा बनाया है, उसका अपना सत्य यही है। सूर्य की रोशनी तो एक ही होती है, लेकिन भिन्न-भिन्न रंग की वस्तुओं पर वह भिन्न-भिन्न प्रतिभात होती है।

‘शूद्र जाति का ब्राह्मण हूँ’

सब कुछ देख-सुन कर यही लगा कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ, कोई कर रहा है। मेरी योजनाएँ पड़ी रह जाती हैं और उस अज्ञात उपदेष्टा के इशारे पर चलने लगता हूँ। अफसोस करना बेकार है। शायद अफसोस करने में भी मैं बहुत अधिक स्वतन्त्र नहीं हूँ। इसलिए मैं

प्रायः कहा करता हूँ कि मैं शूद्र जाति का ब्राह्मण हूँ। जो कोई भी लिखता-पढ़ता है वह कर्मणा ब्राह्मण है, लेकिन ब्राह्मण भी चार प्रकार के हैं—१. वे जो अपनी योजना के अनुसार लिखते-पढ़ते हैं। इनको मैं ‘ब्राह्मण’-ब्राह्मण कहता हूँ। २. वे जो ‘युद्धं देहि’ का वाता धारण किये हुए कलम चाले रहते हैं। इनको मैं ‘क्षत्रिय’-ब्राह्मण कहता हूँ। ३. वे जो अर्थोपार्जन के लिए कलम को तराजू की भाँति इस्तेमाल करते हैं। इनको मैं ‘वैश्य’-ब्राह्मण कहता हूँ। ४. वे जो किसी दूसरे के इशारे से विनियुक्त होकर कलम घसीटते हैं। इन्हीं भाग्यवंचितों को मैं ‘शूद्र’-ब्राह्मण कहता हूँ। मैं इसी श्रेणी का हूँ।

जो जिन्दगी का कोई दस्तावेज नहीं बना सका, वह मौत का दस्तावेज क्या तैयार करेगा? दस्तावेज भी कुछ स्वतन्त्र चिन्तन की अपेक्षा रखता है। कौन जानता है कि कुछ बनाते-बनाते क्या बना जाऊँ? सो मैं इस क्षमले में नहीं पड़ता। जानता हूँ कि बनाने वाला कोई और है। मैं उसके इशारे की प्रतीक्षा भी नहीं कर पाऊँगा। जब, जहाँ, जैसे चाहेगा, बनवायेगा। बेकार कौन मूढ़ मारे।

[पृष्ठ २ का शेषांश]

रघु ने वह सारा धन कौत्स ऋषि को भेंट कर दिया। किन्तु कौत्स ने कहा—“राजन् ! मैं इतना सुवर्ण ले कर क्या करूँगा? मुझे तो गुरु-दक्षिणा चुकाने-भर को धन चाहिए।” रघु ने विनीत भाव से हाथ जोड़े और कहा—“महात्मन् ! यह सारा धन तो आपके ही निमित्त का है। मैं इसे गला कैसे रख सकता हूँ?”

एक बड़ी जटिल समस्या खड़ी हो गयी। किन्तु न तो कौत्स आवश्यकता से अधिक लेने को तैयार थे, न राजा रघु ही उस अपार धनराशि को अपने पास रखना चाहते थे। इहलोक में दो अलौकिक विभूतियों की यह होड़ देख कर सदैव गतिमान महाकाल भी अपनी गति में क्षण-भर को स्तब्ध रह गया।

आकाश से जय-जयकार होने लगा। देवता पुष्प-वर्षा

करने लगे। शेषशायी के साथ स्वयं महामाया लक्ष्मी भी यज्ञशाला में आयीं और अपनी परम आह्लादिनीमुद्रा में कहने लगीं—“राजन्, आज से तुम तीनों लोकों की श्रो-सम्पदा के अधिकारी हो गये। त्याग कर जो भोगता है, उसका कोष मैं कभी दीन नहीं होने देती, किन्तु जो परम दैन्य की दशा में भी यज्ञार्थ—लोकजीवन के संचालनार्थ—सम्पत्ति और साधन जुटाने में अपने सारे पौरुष-पराक्रम को लगा देता है, विष्णु के ऐसे प्रतीक को छोड़ लक्ष्मी और कहाँ जायेगी?”

राजधर्म और प्रजाधर्म के ऐसे उदाहरण हमारे देश को कब प्रेरित करेंगे—तथागत से लेकर गाँधी तक के संतों की परम्परा भी अगर हमारी जड़ता को न धो सकी, तो आगे राम ही जाने।

रावणानुग्रह मूर्ति का एक दृश्य

राय आनन्दकृष्ण

कुछ वर्ष पहले 'भारत कलामवन' को एक मूर्ति प्राप्त हुई थी। वह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। उसमें एक व्यक्ति अपनी समूची शारीरिक शक्ति लगाकर मानो एक संसार को ही उठा ले जाना चाहता हो। यह संसार कोई साधारण जगत् नहीं है, यह कैलास है; शिव का परम धाम। कोई दसवीं-ग्यारहवीं शती के मूर्तिकार ने इसी दृश्य को यहाँ मूर्त रूप प्रदान किया है। इस मूर्ति की अभिव्यक्ति को परखने के पूर्व संक्षेप में हम इसकी पौराणिक पृष्ठभूमि देख लें।

शिव को रावण ने अपनी बठोर तपस्या से प्रसन्न कर लिया था। मनचाहे वरदान प्राप्त कर उसने सारे अग-जग पर अपना तामसी प्रभाव जमाना शुरू किया। जब उसने कुबेर की अलका तक जीत ली, तब उसके दर्प का पारावार न रहा। उधर अन्तर्यामी शिव की दृष्टि से कुछ छिपा न था। वे इसकी परिणति जानते हुए भी सारा घटना-चक्र मानो तटस्थ भाव से देख रहे थे।

आगे की कथा के भिन्न-भिन्न रूप हैं। यह रूप कम प्रचलित है, वह है,—अलका-विजय से रावण ने समझा कि इससे बढ़कर संसार में और क्या है? इसी दर्प में वह शिव का दर्शन करने कैलास की ओर जा रहा था। रास्ते में शरवण नामक उद्यान मिला। यहीं स्वामी कार्तिक का जन्म हुआ था। रावण ने जो उसे देखा, ठक-सा रह गया। यह तो अलका से भी अधिक मन्व्य था। इसे कैसे प्राप्त किया जाय। इतने ही में उसे शिव के गण—नन्दिकेश्वर दिखलाई पड़े। उनका मुँह बन्दर का था। रावण को आगे बढ़ते देख उन्होंने टोका "आगे कहाँ जा रहे हो? आगे कैलास है, वहाँ भगवान् शंकर पार्वती माता के साथ केलि कर रहे हैं।" वस्तुतः कैलास का शाब्दिक अर्थ ही है : जहाँ केलि हो, मोज-मस्ती हो। अतः मेघदूत में महाकवि कालिदास ने कैलास के सन्दर्भ में अनेक ऐसी अद्भुत उक्तियाँ दी हैं—जिनसे उक्त रूप प्रकट होता है। उदाहरण के लिए दर्पण के

समान कैलास में आकर अप्सराएँ अपना मुँह देखती हैं। स्वयं कैलास मानो शिव के मनोविनोदपूर्ण अट्टहास की एक बहुत बड़ी राशि हो। यह उक्ति इस आधार पर है कि



संस्कृत साहित्य में हँसी को श्वेत रंग का माना गया है। फिर आदि पुरुष शंकर की हँसी, कोई साधारण तो होगी

नहीं। कालिदास 'अट्टहास' शब्द का सार्थक प्रयोग करते हैं।

अस्तु, नन्दी या नन्दिकेश्वर के वारण करने पर भी अपने आसुरी दर्प में रावण आगे बढ़ता ही गया तो नन्दिकेश्वर ने उसे शाप दिया : 'मेरे ही जैसे मुँहवाले तेरा नाश करेंगे।' फिर रामावतार में श्रीराम की सेना के कपियों द्वारा रावण का नाश हुआ।

ये नन्दिकेश्वर कोई अन्य न थे बल्कि स्वयं शिव थे, अपने गण का रूप धर कर वहाँ खड़े थे। तत्काल रावण ने देखा, वहाँ न शरवण था, न नन्दिकेश्वर। उसने स्वयं को कैलास के उपान्त में पाया। उसके मन में शिव ने अपनी लीला द्वारा यह भावना भर दी कि क्यों न कैलास को उठाकर लंका ले चलें कि यहाँ आने और नन्दिकेश्वर जैसे गण द्वारा रोके जाने की बात ही न रह जाय। फिर वही दृश्य हुआ जो मूर्ति में अंकित है।

दूसरा उपाख्यान अधिक लोकप्रचलित है। लोक-साहित्य के अनुरूप उसमें हास्य का पुट भी है। कथा है—

आशुतोष शिव ने रावण की भक्ति पर द्रवित होकर रावण को धरदान दे दिया, "अच्छा चलो कैलास समेत मुझे लंका ले चलो। यही सही।" फिर भोलेनाथ के मन में आया, अरे तरंग में मैं यह क्या कह बैठा! सो, उन्होंने एक शर्त लगा दी, "मई, कैलास के बोझ को कहीं न समाल पाये तो बीच में न रख देना। यदि रखा तो बस वहीं मैं भी स्थापित हो जाऊँगा।" उधर रावण तो मदोन्मत्त था उसने हुंकार मारी होगी। हुआ वही जो देव-देव शिव के मन में था। बेचारे रावण को क्या पता कि यह "लीला" है। कैलास को लादे-फाँदे बेचारा रावण चला कि वैद्यनाथ धाम पहुँचते-पहुँचते, प्रभु की माया ने उसके मन में ऐसा विचार उत्पन्न किया कि वह कैलास को वहीं स्थापित कर लघुशंका को बैठ गया। सो शिवजी महाराज तो वहीं स्थापित हो गये और रावण की लघुशंका बन्द ही न हुई। आज तक रावण की लघुशंका एक मुहावरा बन गया है।

अब हम इस प्रसंग के केन्द्र बिन्दु कैलास को उठाये रावण वाली मूर्तियों को लें। यह अभिप्राय कालिदास के समय में भी था; उन्होंने कैलास के विषय में लिखा है : "दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधिः" अर्थात् कैलास का

जोड़-जोड़ रावण के उठाने से ढीला पड़ गया। इस दृश्य के दो-एक सुन्दर शिलापट्ट (पैनल) एलोरा नामक प्रसिद्ध स्थान पर हैं। इसमें वहाँ के सुप्रसिद्ध कैलास मन्दिर में एक शिलापट्ट है जो अपनी भावाम्बिव्यक्ति के लिए जगत्-प्रसिद्ध हो चुका है। एलोरा की ही घूमरलेन गुफा में एक अन्य दृश्य है। यह कैलास मन्दिरवाली प्रतिमा की बराबरी तो नहीं कर सकता परन्तु रावण की पीठ का तनाव, रीढ़ की हड्डी के खिचाव को दिखलाने में यह उससे भी बढ़ कर है। कैलास मन्दिरवाले दृश्य में भीति से पार्वती का बांह थाम लेना और शिव का निष्कम्प रूप से सहज भाव से बैठना एक बहुत बड़े कलाकार की ही छेनी से अभिव्यक्त हो सकता था। दूसरी ओर रावण अपनी बीस भुजाओं से इस दुस्साध्य कार्य को कर दिखाने में अमानुषिक शक्ति से लगा है। खेद है, इस प्रतिमा की सतहें गल-सी गयी हैं।

कलामवन वाली उक्त प्रतिमा भी कई दृष्टियों से मार्के की है। इसमें कैलास पर्वत को शिलाओं की एक पट्टी के समान दिखलाया गया है। रावण उसे अपनी दुर्बल शक्ति से हिलाना चाहता है। कलाकार ने बस उसी स्थल पर जहाँ रावण ने हठपूर्ण प्रयत्न किया है इस शृंखला को तनिक-सा उभार दिया है, मानो वह पहाड़ न होकर एक गद्दा हो। इससे जैसे घबराकर गुफा से गधा जैसा पशु अपना सिर बाहर निकाले है, मानो वह रावण का ही सिर हो।

मुख्य दृश्य इसके ऊपर प्रारम्भ होता है। कंकालवत्, एक गण घबराकर भाग रहा है। भारी बदन के गणेश बैठे-बैठे जैसे लुढ़कनेवाले हैं, अचकचा उठे हैं। स्वयं पार्वती माता अपना सिर उठाकर बड़े स्नेह से मानो शिव से पूछती हों : "नाथ, यह सब आखिर क्या है?" उन्होंने शिव के पैर पर स्नेहवश एक हाथ भी रख दिया है। भारतीय कला और साहित्य में भय संचारी से भी शृंगार रस का उद्बोधन होता है। वह भाव भी यहाँ है।

इस सारी हलचल में, कोलाहलमय जगत् में स्थिर आकृति है तो शिव की है। वे निष्कम्प दीप के समान बैठे हैं। समूचे दृश्य में उनका बृहदाकार भारी त्रिशूल भी एक

[शेष पृष्ठ १२ पर]

जब विन्ध्याचल ने सिर उठाया

श्री रामनारायण उपाध्याय

पुराणों में एक कथा है। एक बार नारद धूमते-धूमते विन्ध्याचल के पास पहुँचे। विन्ध्याचल ने प्रसन्न होकर नर्मदा के जल से उनके पाँव पखारे और अष्टांग अर्घ्य से उनकी पूजा कर प्रणाम किया। फिर भी उनका चेहरा उदास बना रहा। जब विन्ध्याचल ने इसका कारण पूछा तो नारद ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए कहा, “क्या बताऊँ भाई, पर्वतों में श्रेष्ठ होने पर भी सुमेरु पर्वत तुम्हें नीचा दिखाना चाहता है। सूर्य भी उसी की परिक्रमा करता है, इसी बात का मुझे दुःख है।”

बात विन्ध्याचल को लग गयी। वह अपमान से तिलमिला उठा और उसने सुमेरु से होड़ के लिए ऊँचा उठना शुरू किया। उसके शिखर आसमान छूने लगे। हवा का मार्ग रुक गया, सूरज का रथ थम गया। धरती गरम तवे-सी तपने लगी। चारों ओर हाहाकार मच गया। सब लोग दौड़े-दौड़े सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के पास पहुँचे।

ब्रह्मा ने कहा, “धरती पर एकमात्र अगस्त्य ही ऐसे ऋषि हैं, जिनकी बात विन्ध्याचल मान सकता है।” वे सब अगस्त्य ऋषि से मिले। अगस्त्य उनके दुःख से द्रवित होकर, सबको अपने साथ लेकर अपने शिष्य विन्ध्याचल के पास पहुँचे। विन्ध्याचल ने प्रसन्न होकर, श्रद्धा से झुककर गुरु के चरणों में प्रणाम किया। अगस्त्य ने इस विनम्रता का लाभ उठाते हुए बिना एक क्षण की देरी किये कहा, “मैं तुम्हारी सेवा-भावना से खुश हूँ। लेकिन अभी तो मैं दक्षिण भारत की यात्रा पर जा रहा हूँ, जब तक वहाँ से लौटकर नहीं आऊँ, तब तक इसी तरह झुके रहना।” कहते हैं, तब से आज तक अपने गुरु के लौटने की आशा में विन्ध्याचल उसी तरह झुका हुआ खड़ा है।

यह एक प्रतीक कथा है। वास्तव में विन्ध्य की पर्वत-श्रेणियाँ संसार की प्राचीनतम पर्वतश्रेणियाँ मानी गयी हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से विन्ध्य और सतपुड़ा का अंचल आदिवासियों का निवास स्थान रहा है। पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लगाकर पश्चिम में खम्बात की खाड़ी तक और नर्मदा के दक्षिण में सतपुड़ा से लगाकर अजंता और छोटा नागपुर की पहाड़ियों तक महाराष्ट्र, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार, बंगाल और उड़ीसा के जंगलों में, नदी-द्रोणों और पर्वतों के शिखरों पर मधुमक्खी के छत्ते की तरह करोड़ों आदिवासी वन्यजातियाँ रहती आयी हैं। चाहे त्रेता के राम हों या द्वापर के कृष्ण, सबको उनकी सहायता लेनी पड़ी।

लेकिन संसार की प्राचीनतम, सुसंगठित वन्यजाति होने पर भी सुमेरु-संस्कृति वाले लोग विन्ध्याचल की गोद में बसने वाले आदिवासियों को हीन भावना से देखते थे और उत्तर से दक्षिण की ओर चलने वाली अपनी निरन्तर यात्राओं के सिलसिले में उन्हें रौंदते-कुचलते और अपमानित, पददलित करते हुए आगे बढ़ जाते थे।

एक दिन नारद ने इसी अपमान की ओर आदिम जातियों का ध्यान आकर्षित किया। बात इतनी सच और तीखी थी कि उनके हृदय को भेद गयी और उन्होंने तिलमिलाकर सुमेरु-संस्कृति वालों से बदला लेने की ठानी। देखते-देखते वनों, पर्वतों और नदियों के किनारे रहने वाली असंख्य वन्य जातियाँ संगठित होकर उठ खड़ी हुईं। उन्होंने उत्तर से दक्षिण जाने वाले मार्ग को बन्द कर दिया। व्यापार-व्यवसाय, आवागमन, सब कुछ ठप्प हो गया। सम्पत्ता, संस्कृति, आर्थिक और सामाजिक

व्यवस्था, सब कुछ डगमगाने लगी। हवा भी मानों साँस रोक-कर खड़ी हो गयी। मानव जाति का दम घुटने लगा। लाचार सब लोग सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा के पास पहुँचे।

ब्रह्मा तो चतुर्मुख ठहरे, उन्हें स्थिति को समझते देर नहीं लगी। और उन्होंने तुरन्त कहा, “आदिम जातियाँ अगर दुनिया में किसी की बात मानती हैं तो एकमात्र अपने गुरु की। अगर तुम काशी नगरी में रहने वाले अगस्त्य मुनि की शरण में जाओ तो वे तुम्हें इस संकट से उबार सकते हैं।”

सब लोग भागे-भागे अगस्त्य मुनि के आश्रम में पहुँचे। अगस्त्य ने अत्यन्त ध्यानपूर्वक उनकी बात सुनी। मानव जाति पर आये संकट को पहचाना और उसे सुलझाने के लिए सबको साथ लेकर विन्ध्यवासियों के पास पहुँचे।

जिस रास्ते पर पक्षी पर मारने का साहस नहीं कर सकते थे वहाँ अपने गुरु को आर्यजनों के साथ आया देखकर विन्ध्यवासियों का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा। उन्होंने नर्मदा के पावन जल से सबके पाँव पखारे, और अपने यहाँ प्राप्त विपुल वनसंपदा, दही, शहद, घी, चावल, तिल, कुशा, दुर्वादल और सुगन्धित फलों से उनका स्वागत किया। फिर अत्यन्त नम्रता से उनके चरणों में प्रणाम कर गुरु की आज्ञा का पालन करने के लिए विनम्र सेवक की तरह झुककर खड़े हो गये।

अगस्त्य ने इस क्षण की गम्भीरता को समझा, विस्फोटक स्थिति को पहचाना और आर्य तथा अनायें जातियों के संघर्ष से उत्पन्न खतरे को टालने के लिए बड़े से बड़ा बलिदान करने का संकल्प मन ही मन करते हुए कहा, “मैं तुम्हारी सेवाओं से खुश हूँ और तुम्हारे उन्नत भविष्य की कामना करता हूँ। लेकिन देखो, अभी तो मैं अपनी पत्नी लोपामुद्रा के साथ-दक्षिण भारत की यात्रा पर जा रहा हूँ, जब तक उधर से नहीं लौटूँ, तब तक इसी प्रकार विनम्र बने रहना। किसी यात्री को नहीं सताना और किसी का मार्ग अवरोध नहीं करना। इसी में से तुम्हारे कल्याण का मार्ग गया है।” इतना कहकर वे अपनी पत्नी के साथ दक्षिण भारत की यात्रा पर चले गये और उसके बाद फिर कभी लौटकर नहीं आये।

कहते हैं, तब से आज तक विन्ध्य के अंचल में बसने-वाली आदिम जातियाँ अपने गुरु की याद में इतनी विनम्र बनी हुई हैं कि उत्तर से दक्षिण भारत की यात्रा पर जाने-वाले यात्रियों के शोषण और उत्पीड़न को सहकर भी उन्हें अपने हृदय में से आने-जाने का मार्ग दिये हुए हैं और इस बात की प्रतीक्षा कर रही हैं कि कभी तो कोई अगस्त्य लौटकर आयेगा जो उन्हें सिर उठाकर जीने का उनका अधिकार प्रदान करेगा।

[पृष्ठ १० का शेषांश]

स्थिरता प्रदान करता है। इस प्रकार यह सुन्दर कलात्मिक-व्यक्ति है।

मूर्तिशास्त्र के अनुसार भी यह अनोखी कृति है। इसमें ऊपर चार शिवालिंग बने हैं। यह बात स्वयं में समझ में आती है, क्योंकि शिव के पाँच रूप हैं जो पञ्चतत्त्व के प्रतीक हैं। इनमें आकाशतत्त्व अमूर्त है, वह “योगिनाम-व्यगम्यः” (योगियों तक के परे) है। अतः कला में पाँच के स्थान पर चार मूर्तियों का अंकन प्रायः होता है। इन्हीं चार में पाँचवीं मूर्ति अन्तर्भुक्त होती है। यहाँ अनोखी बात इस प्रकार है : चार में से तीन तो लिगाकार हैं, परन्तु चौथे लिंग पर एक मुख प्रकट हो गया है। ऐसे मुखलिंग

(अर्थात् लिंग पर एक मुखाकृति) कला में बहुत पहले से मिलती है। पर इस प्रसंग में एक प्रश्न रह ही जाता है : अन्य लिंगों पर मुख क्यों नहीं है ? फिर मुखलिंग वाली मूर्तियों में एक ही लिंग के चार ओर (कभी-कभी अपवाद रूप में पाँचवीं ओर अर्थात् लिंग की ऊपरी सतह पर भी) मुख होते हैं। यहाँ चार स्वतन्त्र लिंग क्यों हैं ? इन सबका कोई शास्त्रीय और तान्त्रिक महत्त्व हो सकता है, जो किसी रहस्य में छिपा है। सर्वोपरि मुख उसी लिंग पर प्रकट हुआ है, जिसका त्रिशूल की नोक से स्पर्श है।

वस्तुतः सभी प्रश्नों के उत्तर नहीं होते। कुछ प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाते हैं।

मन्त्र तत्त्व

ज्योतिषकलानिधि शिवनाथ मेहरोत्रा

किस मन्त्र का क्या फल है यह प्रायः हर मन्त्र के प्रकरण में बताया जाता है। मंत्रों को संख्या सात करोड़ बताई गई है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इनकी संख्या इससे भी बहुत अधिक-अनन्त समझ में आती है। मन्त्र का अर्थ यदि विदित न हो तो उसकी सिद्धि कैसे होगी? मन्त्र के अर्थ और मंत्र के फल के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् सुस्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। मन्त्र का फल मले ही मन्त्र प्रकरण में बता दिया जाए परन्तु मन्त्रार्थ गुरु द्वारा ही बताया जाता है। शास्त्रों में कहा है कि मन्त्र का अर्थ, मन्त्र की चेतना और योनिमुद्रा से जप करने की विधि न विदित हो तो मन्त्र सफल नहीं होता—

मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति यः।

शतकोटि जपेनापि तस्य विद्या न सिध्यति ॥

‘मन्त्रार्थ’ स्वयं में एक गूढ़ शब्द है। यह सच है कि मन्त्रार्थ गुरु द्वारा प्रदान किया जाता है परन्तु आज के समय में सर्वज्ञ गुरु का अभाव होता जा रहा है। अतः मन्त्रार्थ के निमित्त शास्त्र ज्ञान को क्रमबद्ध, नियमित और प्रकाशित करने की बहुत आवश्यकता है। विशेष रूप से इसकी आवश्यकता इस दृष्टि से है कि गुरु जब मन्त्रार्थ देते हैं तो केवल एक गुरुमन्त्र का दे देते हैं, परन्तु उसे मन्त्र-शास्त्र के व्यापक प्रयोग में लेना सम्भव नहीं होता।

मन्त्रार्थ ज्ञान की दिशा में सर्वोत्तम पद्धति यह होगी कि प्रत्येक अक्षर के गुण, दोष, अर्थ और तत्त्व को परखा जाय। इस दिशा में एक प्रयास ‘मन्त्रविवेक’ नामक लेख में प्रस्तुत किया जा चुका है। श्री स्वतन्त्रानन्द नाथ नामक एक प्रसिद्ध तन्त्राचार्य ने “मातृका चक्र विवेक” नामक ग्रन्थ में विविध अक्षरों के पृथक्-पृथक् तत्त्वों का जो उल्लेख किया है वह निश्चय ही मन्त्रशास्त्र को एक अमूल्य निधि है और उसे समझने की चेष्टा करने पर अनेक गूढ़ रहस्य धीरे-धीरे समझ में आते हैं। उक्त तन्त्र ग्रन्थ का क्रम सुधी पाठकों के समक्ष यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। उक्त ग्रन्थ

संस्कृत भाषा का एक दुर्लभ ग्रन्थ है और इस प्रकार के अभी बहुत से ग्रन्थ अनुशोलन और मनन की अपेक्षा रखते हैं।

श्री स्वतन्त्रानन्द नाथ जी के अनुसार हर अक्षर-तत्त्व इस प्रकार है—

१. क	=	पृथ्वी
२. ख	=	जल
३. ग	=	अग्नि
४. घ	=	वायु
५. ङ	=	आकाश
६. च	=	गन्ध
७. छ	=	रस
८. ज	=	रूप
९. झ	=	स्पर्श
१०. ञ	=	शब्द
११. ट	=	पायु
१२. ठ	=	उपस्थ
१३. ड	=	पाणि
१४. ढ	=	पादौ
१५. ण	=	वाक्
१६. त	=	घ्राण
१७. थ	=	जिह्वा
१८. द	=	चक्षु
१९. ध	=	त्वचा
२०. न	=	श्रोत्र
२१. प	=	प्रकृति
२२. फ	=	अहंक्रिया
२३. ब	=	बुद्धि
२४. भ	=	मन
२५. म	=	पुरुष
२६. य	=	कला (बन्ध)
२७. र	=	अविद्या (,,)

२८. ल	=	राग (बन्ध)
२९. व	=	काल (,,)
३०. ल	=	नियति (,,)
३१. श	=	शुद्ध विद्या
३२. ष	=	ईश्वर
३३. स	=	सदाशिव
३४. ह	=	शक्ति
३५. क्ष	=	बिन्दुरूप शिव

३६. सोलह स्वर—सकल विश्व की बीजभूता कलाएँ हैं।

इन्हें मायातत्त्व कहा जायगा।

उपर्युक्त क्रम से ये ३६ तत्त्व निर्दिष्ट किये गये हैं।

अब उपर्युक्त के अनुसार प्रत्येक अक्षर का विशेष प्रभाव कहाँ है इसका ज्ञान प्राप्त होता है। मानों हमें 'सोहं' मन्त्र पर विचार करना है। इसमें 'स' सदाशिव का वाचक है। 'ओ' स्वरात्मिका कला है। 'ह' शक्ति का वाचक है। अतः यह यन्त्र सदाशिवयुक्ता शक्ति का वाचक है।

वैसे ही यदि 'हंसः' मन्त्र का प्रभाव जानना है तो वह शक्तिपूर्वा सदाशिव का वाचक मन्त्र है। एक मन्त्र सदाशिव से शक्ति की ओर चलता है तो दूसरा शक्ति से सदाशिव की ओर चलता है। यदि दोनों को जोड़ दिया जाय तो उसका मन्त्रार्थ होगा—सदाशिव और सम्पूर्ण कलाओं सहित शक्ति तथा सम्पूर्ण कलात्मिका शक्ति एवं उससे पूरित सदाशिव।

'नमः' मन्त्र इसी प्रकार श्रोत्र एवं पुरुष को प्रतिपादित करने वाला होने से श्रोत्रशक्ति प्रदान करेगा और दिव्य

वाणी, दिव्य स्वरों व नादों का बोध कराता हुआ पुरुष तत्त्व तक पहुँचा देगा।

'राम' मन्त्र इसी दृष्टि से विचार करने पर अविद्या रूपी बन्ध के छोर से पुरुषतत्त्व के दूसरे छोर तक पहुँचाने वाला तारक मन्त्र है।

'कृष्ण' मन्त्र पृथ्वी तत्त्व के 'क' से प्रारम्भ होता है। अतः सर्वथा मूल में स्थित है। पृथ्वीतत्त्व का सम्बन्ध 'ष' अर्थात् ईश्वर (पुरुष विशेष) से करा कर 'ण' अर्थात् वाक् शक्ति से उसका सम्बन्ध जोड़ता है। कृष्ण की वंशी की जो धुन है वह इस वाक् शक्ति से उत्थित है। कृष्ण नाम मन्त्र पृथ्वी, ईश्वर एवं वाक् तत्त्वों को ग्रथित कर उनकी सिद्धि से होने वाला परम फल प्रदान करता है।

यह तो एक युक्ति है। जब विद्वान् मनीषी जन इस पर विचार करेंगे और उसका अनुशीलन करेंगे तो इससे अन्य अनेक प्रयोग साधित कर सकेंगे।

इस लेख की समाप्ति में मैं एक तन्त्र ग्रन्थ का उल्लेख करने का लोभ नहीं रोक पाता। मेरे पास एक 'उड्डीश तन्त्र' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ था जो कालक्रम के प्रभाव से नष्ट हो गया। परन्तु अवश्य ही इसकी दूसरी प्रतियाँ भारत में आज कहीं-न-कहीं सुरक्षित होंगी। इसमें मेघनाद के बताये हुए मन्त्ररहस्य वर्णित हैं। इसमें इस प्रकार के प्रयोग हैं—जैसे 'अं आं इं ईं उं ऊं' आदि या "कां कीं कुं कै कः" जैसे मन्त्रसमूहों के जप के प्रभाव बताये गये हैं। इनसे मन्त्र-विषयक सिद्धान्त-प्रतिष्ठा में महत्त्वपूर्ण सहयोग मिल सकता है। ऐसे ग्रन्थों का अन्वेषण एवं अनुशीलन होना चाहिए।

स्वभाव

एक दिन पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा—अपना-अपना दुखड़ा रोते हुए आत्मा से बोलीं—“बहन, कभी हँसना, कभी रोना—सारी उम्र इसी छलना में गँवा दी। एक क्षण भी मन ने विश्राम नहीं पाया—सुख मरीचिका ही बना रहा।” अपने स्वामाविक स्नेह—आश्वासन के साथ आत्मा ने कहा—“बहनो,

हमारे दुखों का मूल कारण है—हमारा स्वभाव, जो हमें पशु की तरह देह के छूँटे से बाँधे रखता है। मेरी बात मानो, तो तुम अपने स्वभाव को जीतना सीखो। तुम पाओगी कि, प्रयत्न के श्रीगणेश से तुम्हारे सुख का भी श्रीगणेश हो गया है। यह उपदेश नहीं, मेरे स्वयं के अनुभव का सत्य है।”

—आचार्य स्वामी

बूढ़ापा यों बिताइये

श्री विट्ठलदास मोदी

उम्र से बुढ़ापे का कोई सम्बन्ध नहीं है और न यह बात ही सही है कि ऐसी उम्र भी आती है, जब मनुष्य उन कार्यों को नहीं कर सकता, जो वचपन और जवानी में किया करता था और न उसके जीवन में वह आनन्द ही रह जाता है, जो नयी उम्र के लोगों में रहता है। यह भी सही नहीं है कि, आदमी बूढ़ा होने के लिए लाचार और असमर्थ है।

आदमी की उम्र और शरीर की अवस्थाएँ, उसकी विचार-शक्ति और अनुभूति की तीव्रता से आँकी जानी चाहिए। दूसरे शब्दों में, यदि मनुष्य शरीर और मन से जवान है, तो उसके लिए वर्षों की गणना का कोई मूल्य नहीं है। उपर्युक्त कथन की सत्यता उम्र और जवानी पर विचार करने वाले अनेक शरीर-शास्त्रियों ने साबित की है। यदि मनुष्य जीवन और स्वास्थ्य सम्बन्धी स्वामाविक नियमों का अनुसरण करे, तो इसमें सन्देह नहीं कि, उसका जवानी के बाद का जीवन भी कम मूल्यवान एवं अल्प उपयोगी नहीं होगा।

आप एकाध ऐसे पुरुष अथवा स्त्री से जरूर परिचित होंगे, जो सत्तर-पचहत्तर या इससे भी अधिक उम्र में अपना शारीरिक एवं मानसिक काम ठीक-ठीक कर पाते हैं और जिन्हें लोग एक युवा पुरुष या नारी से भी अधिक स्फूर्तिपूर्ण बताते हैं। ऐसे व्यक्ति जवानी का रोना नहीं रोते। वे नये-नये काम हाथ में लेते रहते हैं, नयी-नयी चीजें सीखते रहते हैं और नये-नये आविष्कार करते रहते हैं। जितना वे करना और सीखना चाहते हैं, उसके लिए उन्हें अपनी एक जिन्दगी का समय कम मालूम होता है।

गान्धी जी का देहावसान अस्सी वर्ष की उम्र में हुआ था। वे जीवन के अन्तिम क्षण तक जवानों से कई गुना

अधिक काम करते रहे। कई भाषाएँ सीखने, नये काम हाथ में लेने का उनका जोश कभी ठण्डा नहीं हुआ। उनकी विचार-शक्ति कम होने के बजाय अधिक तीव्र और अधिक परिपक्व होती गयी। इससे यह मलौमाँति समझा जा सकता है कि, कुछ सीखने से, कुछ नया करने से—जिसे जवानी का प्रमुख लक्षण समझा जाता है—उम्र का कोई सम्बन्ध नहीं है।

कुछ लोग तो साठ की उम्र के बाद नयी-नयी चीजें सीखने की खास सिफारिश करते हैं। ऐसे लोगों का भाव बताने वाली ही यह कहावत है—साठा तब पाठा। उनका कहना है कि, जिन बातों के बारे में जानने का पहले समय नहीं मिला, उन्हें सीखने का यही समय है। बढ़ती हुई उम्र की मानसिक और अनुभूति-सम्बन्धी समस्याओं को, जो जितनी ही अच्छी तरह समझता है, वह उम्र बढ़ने पर भी अपने जीवन को उतना ही लाभकर और सर्वांग सुन्दर बना सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि, उम्र बढ़ने पर दिल की धड़कन जरा धीमी जाती है और ज्ञानेन्द्रियाँ थोड़ी थियिल हो जाती हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि, आप सभी काम छोड़ बैठें। इस समय भी आप कार्यशील और शक्तिपूर्ण रहना चाहते हैं, तो आपको अपने भोजन, कसरत और विश्राम के नियमों में कुछ परिवर्तन करना होगा।

ज्यों-ज्यों आदमी की उम्र बढ़ती जाती है, उसके शरीर की भोजन की आवश्यकता कम होती जाती है। अघेड़ उम्र में, मोटापा आने का कारण यह है कि, अब शरीर को उतने भोजन की आवश्यकता नहीं है, जितनी उसे कभी रही है। इस समय भोजन में अन्न की मात्रा कम करके उसकी जगह फल-तरकारियों की मात्रा बढ़ानी जरूरी है।

ऐसा न करने वालों को ही हमेशा भूख की शिकायत रहती है।

कसरत की जरूरत भी उम्र बढ़ने पर चली नहीं जाती। उस वक्त दण्ड-बैठक की जरूरत नहीं होती, पर खुली जगह दूर तक टहलना नितान्त आवश्यक है।

आराम करना भी सीखना चाहिए। जिन्हें उम्र बढ़ने पर सोने से आराम नहीं मिलता, वे शरीर शिथिल करने की विधि सीख कर अच्छी नींद बुला सकते हैं।

मस्तिष्क से काम न लेकर उसे शिथिल बनाना ठीक नहीं है। उसे जाग्रत रखना चाहिए और कुछ-न-कुछ नयी चीज सीखते रहना चाहिए। भूत में विचरण न करके वर्तमान में ही रहना श्रेयस्कर है।

बुढ़ापे के सम्बन्ध की गलत धारणाओं में न पड़ें, न बुढ़ापे के कथित कष्टों से हो डरें। वास्तव में, इन धारणाओं को मानना और इन से डरना ही आदमी को बूढ़ा बना देता है।

ईश्वर-भजन अर्थात् लोक-कल्याण

एक सज्जन ने गान्धी जी को लिखा था कि अब आप संसार में थोड़े ही दिनों के मेहमान हैं, इसलिए बेहतर यह है कि आप सारे काम-धाम को छोड़कर अपना अन्तिम समय हरि-भजन में बितावें। गान्धी जी ने जो उत्तर भेजा, उसका भावार्थ यह है—

“आपने लिखा सो ठीक है, पर हम अन्तिम समय को ही ईश्वर-भजन में बिताएँ और बाकी जीवन में बेफिक्र रहें, यह सारी भावना भूल-भरी है। हमारी गरदन तो हर क्षण काल के हाथों में पड़ी है, इसलिए सारा-का-सारा जीवन ही अन्तिम घड़ी है, ऐसा मानना चाहिए। और मेरी बात तो यह है कि मेरा प्रतिक्षण ईश्वर-भजन में ही व्यतीत होता है।”

गान्धी जी का यह कथन कोई अनोखा नहीं है। जो लोग भजन का अर्थ आँख मूँद कर बैठ जाना करते हैं, उन्हें चाहे यह बात कुछ आश्चर्यमय-सी मले हो लगे। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है “यज्ञः कर्मसमुद्भवः”—यज्ञ का कर्म

में ही समावेश है। ‘नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्य-कर्मकृत्।’ किसी भी मनुष्य का एक क्षण भी कर्म के बिना नहीं बीतता। प्रश्न इतना ही है कि वह कर्म ‘स्व’ के लिए होता है या ‘पर’ के लिए? जो कर्म ‘पर’ के लिए है, वही यज्ञ है। स्वार्थी लोग जिस तरह आसक्त होकर अपने लिए कर्म करते हैं, महापुरुष अनासक्त होकर निरन्तर लोगों के कल्याण के लिए कर्म करते हैं। श्रीकृष्ण ने कहा—मेरे लिए तीनों लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, पर :

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।

मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

यदि अँगड़ाई लेने की भी फुरसत लिए बिना मैं काम में न लगा रहूँ, तो लोग भी आलसी बन जायेंगे।

बिना विश्राम लिए जो हर क्षण ‘पर’ के लिए कर्म करते हैं, अर्थात् उनका यज्ञ बराबर चलता ही रहता है। फिर क्यों न कह सकें कि वे हरि-भजन में लगे हुए हैं।

—घनश्यामदास बिरला

विज्ञान, शक्ति और पवित्रता

(कर्मकाण्ड रहस्य तथा शक्ति-साधना का ध्येय)

डा० राधाकमल मुखर्जी

किसी भी धर्म की विशेषता का निर्णय इस बात को ले कर होता है कि उसके अन्दर सामाजिक अनुभव एवं परम्परागत सिद्धान्तों एवं संस्कारों पर आध्यात्मिक ज्ञान का कितना प्रभाव पड़ा है। बहुधा यह देखने में आता है कि सन्त लोग एकान्त में रह कर प्रभु के समागम का आनन्द लूटते हैं। वे अपनी निर्वाणमयी शान्ति की दिव्य उच्च मनोभूमि में स्थित रह कर किसी प्रकार का मानसिक विक्षेप नहीं सह सकते, वे नहीं चाहते कि उनकी दिव्य मधुर साधना में किसी भी भाँति भी बाहर से व्याघात पहुँचे, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि सबसे ऊँची आध्यात्मिक स्थिति वह नहीं है जिसमें मनुष्य उन्मत्त हो कर बिचरे अथवा संसार से उपराम हो कर रहे, अपितु प्रतिदिन के व्यक्तिगत एवं सामाजिक कर्तव्यों का उत्साहपूर्वक यथाविधि पालन ही इस स्थिति का स्रोतक है।

अधिक लोगों का अनुभव तो यही देखने में आया है कि सन्त लोग सेवामय जीवन को अपनी आध्यात्मिक मस्ती और ध्यान आदि के लिए एक प्रकार का विघ्न ही मानते हैं। इसीलिए वे संसार को हेय समझ कर इससे अलग हो जाते हैं। आध्यात्मिक जीवन की प्रारम्भिक स्थिति में, जब तक कि साधक अपनी इच्छाओं का दमन नहीं कर चुकता, संसार और शरीर की अपवित्रता का भाव उसके मन में प्रबल रूप में बना ही रहता है। यही कारण है कि अधिकांश धर्मों में साधना और अभ्यास की एक प्रारम्भिक अवस्था होती है जिसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि साधक निरोध एवम् निग्रह के द्वारा वृत्तियों को काबू में लावे और अन्तश्चेतना को साधे। प्राचीन काल के ब्राह्मण-धर्म से बढ़ कर किसी भी धर्म में संयम तथा तप पर इतना अधिक जोर नहीं दिया गया है।

एक पहुँचे हुए पुरुष की दृष्टि में अथवा समाधि-अवस्था में संसार और शरीर का रूप कुछ और ही हो जाता है। कुछ धर्मों में इस स्थिति पर पहुँचने के लिए विषयों से घिरे हुए रह कर ही उनसे इन्द्रियों को अलग रखने का सुदीर्घ काल तक निरन्तर अभ्यास करने का विधान है। शक्ति अर्थात् ईश्वरीय शक्ति के उपासकों के योग की यही विशेषता है, जिनकी संख्या पूर्वीय देशों में बहुत अधिक है। शक्तिउपासना का दार्शनिक आधार तो अद्वैतवाद ही है। इसमें परात्पर ब्रह्म की उपासना माता के रूप में होती है। 'नवरत्नेश्वर' में लिखा है—'सच्चिदानन्दस्वरूपिणी देवी की स्त्री-रूप में, पुरुष-रूप में अथवा शुद्ध ब्रह्म रूप में भावना करनी चाहिए।' ब्रह्म का व्यक्त रूप 'शक्ति' है। भारतीय भाषाओं में शक्ति की भावना स्त्री-रूप में की जाती है। इसका कारण यह है कि नारी जाति आनन्द, क्रोड़ा एवं सृष्टि की स्रोतक है। भारतीय परम्परा में सृष्टि के समस्त व्यक्त रूपों को सनातन नारी का रूप दिया गया है—चाहे वह इन्द्रियों की वृत्ति के अन्दर छिपा हुआ हो अथवा ईश्वर के मस्तिष्क में। एक बार देवी ने भगवान् से पूछा—'देव ! दया कर यह बताइये कि 'शक्ति' किसका नाम है और 'शिव' कौन है ?' भगवान् ने उत्तर दिया—'देवि ! शक्ति का निवास चंचल चित्त में है और शिव का शान्त स्थिर चित्त में। जिसका चित्त शान्त और सुस्थिर है वह अपने इस शरीर में ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।' (योगशास्त्र) देवी-भागवत में लिखा है कि ब्रह्मा ने आदि-शक्ति से पूछा—'तुम स्त्री हो या पुरुष ?' माता ने उत्तर दिया—'पुरुष और मैं सदा एक ही हैं। पुरुष मैं और मुझमें कोई अन्तर नहीं है। जो मैं हूँ वही पुरुष है, जो पुरुष है वही मैं हूँ। सनातन ब्रह्म, जो 'एकमेवाद्वितीयम्' है, सृष्टि के

समय दो रूपों में विभक्त हो जाता है। उपाधि-भेद से एक ही दीपक द्विधा हो जाता है। ठीक जिस प्रकार एक ही मुख के दर्पण में प्रतिबिम्बित होने पर दो मुख हो जाते हैं अथवा जैसे एक ही शरीर छाया के कारण दो-सा प्रतीत होने लगता है, ठीक उसी प्रकार हे अज ! हमारी भूर्तियाँ भी चित्त के भेद से, जो माया का कार्य है, अनेक हो जाती हैं। सृष्टि रचना के उद्देश्य से ही सृष्टि-काल में भेद हो जाता है। यह भेद केवल दीखन-न-दीखने का है। महा-प्रलय के समय मैं न पुरुष रहती हूँ, न स्त्री और न नपुंसक। पुरुष और स्त्री के भेद की कल्पना सृष्टि के समय ही होती है।”

अपने परात्पर रूप में जगज्जननी ब्रह्मा से अभिन्न हैं। ‘उसे कोई जान नहीं सकता।’ परन्तु सारे व्यक्त पदार्थों में माँ अपने स्त्री रूप में प्रकट होती है। वास्तव में वह प्रकाश रूप और प्रकाश का विषय दोनों है। इस प्रकार यह जगत् माँ का विश्व-रूप है। जगन्नाटक उसकी लीला है। उसके परम मनोहर दिव्य मुख-मण्डल में सुन्दर-सुन्दर सलोनो आँखें वैसी ही लुभावनी प्रतीत होती हैं जैसे निर्मल जल में सुन्दर भँछलियाँ तैर रही हों। उनके नेत्र खुलने के साथ ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो जाते हैं और बन्द होते हो कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड विलीन हो जाते हैं। जब वह आँखें खोलती हैं उस समय ये समस्त ब्रह्माण्ड उनके प्रकाश से आलोकित हो जाते हैं और जब वह उन्हें मूँद लेती हैं उस समय वे घोर अन्धकार से आच्छन्न हो जाते हैं। अपना स्वयं-आत्मा ही विश्वरूप जननी का लीलामय विग्रह है। केवल व्यक्त रूप में वह गौरी (गौर-वर्ण) है—धवल है। जब वह मन के रूप में व्यक्त होती है तब उसका रंग बदल कर लाल हो जाता है, जो इच्छा और क्रिया का—रजोगुण का—द्योतक है। इसी रूप के ध्यान का नाम पूजा है।

उत्सादिका शक्ति सर्वत्र सभी दृश्य पदार्थों में विद्यमान है, अतः मन और इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न रूप अपने-अपने सूक्ष्म रूप में ‘शक्ति’ के ही विशिष्ट स्वरूप हैं। यह समस्त विश्व शक्ति से ही अनुप्राणित है, शक्ति का ही व्यक्त रूप है। परन्तु एक विशिष्ट नामवाली देवी भी शक्ति का ही व्यक्त रूप है, जिसका उस नाम के द्वारा निर्देश किया

गया है। उपासक अपने शारीरिक एवं मानसिक व्यापार के प्रत्येक अंग को भगवती के रूप में देखता है अथवा प्रारम्भिक अवस्था में उसे देवी के द्वारा अधिष्ठित मानता है। प्रारम्भिक अवस्था में चित्त को एक स्वतन्त्र वस्तु मानते हैं, जिसके ऊपर देवी अथवा शक्ति का शासन है। अधिक अनुभवी लोगों का यह सिद्धान्त है—और यही ठीक भी है कि चित्त भी शक्ति का ही रूप है अर्थात् शक्ति की ही एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है।

लगातार एवं सच्चे मन से इस बात की भावना करने से कि यह सारा विश्व भगवती का ही रूप है, मेरा मन और इन्द्रियों के सारे विषय भी जगज्जननी के ही रूप हैं, उपासक की स्थिति वास्तव में ऐसी हो जाती है कि फिर प्रत्येक वस्तु—यहाँ तक कि खान-पान, स्त्री आदि सारी भोग्य वस्तुएँ भी उसकी दृष्टि में साक्षात्-जगदम्बा का रूप बन जाती है। वास्तव में स्त्री आदि-शक्ति का ही तो अंश है। इस प्रकार भोग उसकी दृष्टि में भोग नहीं रह जाते। स्त्रीपात्र को जगदम्बा का रूप मान लेने पर काम का रूप ही बदल जाता है और खाने-पीने की सामग्री भी भगवती को अर्पित हो चुकने पर भोग्य विषय नहीं रह जाती। शास्त्रों में लिखा है—‘जो मनुष्य अपनी धर्मपत्नी के साथ सम्भोग करते समय इस प्रकार की भावना नहीं करता कि वह साक्षात् पराशक्ति है जो उसकी आत्मा के साथ संयोग चाहती है, वह उसके साथ व्यभिचार करता है। वही सच्चा आमिषभोजी है जो इन्द्रियों को विषयों से हटाकर आत्मा के साथ संयुक्त करता है, दूसरे तो निरे पशुघातक हैं। जो मनुष्य आदिशक्ति और आत्मा के संयोग-सुख का उपभोग करता है वही सच्चा कामुक है, अन्य सभी काम-वासना के गुलाम हैं। सच पूछा जाय तो जो मनुष्य इस संसार और शरीर को, जिनसे हम बुरी तरह चिपटे हुए हैं, जगदम्बा को अर्पित कर सकता है, उसकी आध्यात्मिक शक्ति उन लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रबल है जो संसार और विषयों से कायर की भाँति दूर भागते हैं, और वे इस संसार की कठिन परीक्षा में अधिक सफलता के साथ उत्तीर्ण हो सकते हैं।’ ‘कुलार्णव-तन्त्र’ में लिखा है—

‘उस महान् ईश्वर ने विज्ञ साधकों के लिए ऐसा

विधान किया है कि लोग उन्हीं वस्तुओं के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति का साधन करें जो मनुष्यों के पतन का कारण होती हैं ।'

और भी कहा है—'हे विज्ञ साधकों की अधीश्वरि ! विज्ञ साधकों के सम्प्रदाय में भोग ही आत्मा और परमात्मा के पूर्ण संयोग में परिणत हो जाता है, दुष्कर्म सत्कर्म बन जाते हैं और यह संसार मुक्ति-धाम हो जाता है ।'

यही उत्पादिका शक्ति की उपासना का स्थूल सामान्य तत्त्व है जिसके प्रति एशिया के एक बहुत बड़े भाग के लोगों की अगाध श्रद्धा है । इस प्रकार का मत जिसमें केवल शृङ्गार की गुस बातें हों, अथवा जो धर्म के लिए नरक का द्वार खोल देता हो, कदापि इतना अधिक व्यापक और स्थायी नहीं हो सकता । इस धर्म में भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाओं और साधनों का विधान है, अधिकारी का विवेचन है तथा अशक्त एवं दुर्बल हृदय के लोगों को यह आश्वासन दिया गया है कि वे भी इस प्रक्रिया से अपनी इच्छा-शक्ति को प्रबल और कामनाओं को पवित्र बना सकते हैं । इसके अन्दर प्रतीक-पूजा की प्रधानता है और उसका उद्देश्य है विषयों से इन्द्रियों को हटा लेना, जिससे उच्चकोटि का ध्यान तथा भोग दोनों एक साथ हो सकें, और इनमें परस्पर कोई विरोध न रहे एवं भोग में से उसकी वासना, भद्रापन अथवा ग्राम्यता तथा पापवृत्ति निकल जाय । तान्त्रिक विधि के उपासक अनेक प्रकार के गुस मन्त्रों तथा यन्त्रों, कलश आदि पूजा के पात्रों, मुद्राओं एवं न्यासादि का प्रयोग करते हैं । इन सब साधनों एवं उपकरणों से इस भावना की पुष्टि तथा समर्थन होता है कि भगवती ही भिन्न-भिन्न रूपों में उसके मन और शरीर, उसकी खास-खास इन्द्रियों अथवा अवयवों तथा उसकी इच्छाओं अथवा अभीष्ट विषयों पर शासन करती है । पूजा के क्रिया-कलाप के मूल में प्रधान दार्शनिक सिद्धान्त वही है जिसकी स्वयं भगवान् ने इस प्रकार व्याख्या की है— 'अपने आपको भगवती का स्वरूप समझो, आद्या शक्ति की ही अभिव्यक्ति समझो । मन, वचन और शरीर से इस बात की भावना करो ।' हार्थों के द्वारा अंगन्यास, करन्यास, मुद्रा आदि जितनी क्रियाएँ होती हैं तथा शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के जो चिह्न तथा

रेखाएँ बनायी जाती हैं, उनसे मनोभाव के द्वारा एक प्रकार से शरीर की ही पूजा होती है और इसके अनन्तर यह भावना जागृत होती है कि यह शरीर स्वयं भगवती का ही यन्त्र है ।

इस भावना के द्वारा हम आगे चल कर तन्त्र के एक दूसरे प्रमुख सिद्धान्त पर पहुँचते हैं । वह यह है कि यह मानव-देह स्वतः एक सूक्ष्म जगत् है जिसके अन्दर वे सारे तत्त्व सूक्ष्म रूप से विद्यमान हैं जो इस विश्व-ब्रह्माण्ड में पाये जाते हैं । तन्त्र-शास्त्र में यन्त्रों के द्वारा इस मानव-देहरूपी सूक्ष्म जगत् तथा इस विश्व-ब्रह्माण्ड दोनों का संकेत कराया गया है और इनके ध्यान के द्वारा इसी बात का अनुभव कराया जाता है । तान्त्रिक उपासना के भीतर एक और महत्त्वपूर्ण रहस्य छिपा हुआ है, जिसका सम्बन्ध हठयोग से है । वास्तव में इस उपासना का प्रारम्भ कामना तथा मनोभावों से होता है और इसका पर्यवसान योगिक समाधि में होता है । योग-सम्बन्धी अनुकूल नाड़ियों, चक्रों तथा चक्रों के अन्दर रहने वाली शिराओं को ध्यान के द्वारा जागृत कर उपासक अपने शरीर और मन पर अधिकार कर लेता है और अन्त में जाकर निराकार के ध्यान की स्थिति प्राप्त करने में समर्थ होता है । उपासक के लिए यह विधान है कि वह अपने मेरुदण्ड में स्थित शक्ति के छह महान् केन्द्रों अथवा चक्रों पर अपना ध्यान जमावे । इनमें से प्रत्येक को कमल कहते हैं और उन पर ध्यान जमाने की विधि यह है कि एक कमल से दूसरे कमल तक मन को चींटी की गति से पहुँचावे । ऐसा करने में आध्यात्मिक चेतना की कई अवस्थाओं में से होकर गुजरना पड़ता है । आदिशक्ति कुण्डलाकार सर्प की भाँति सोयी रहती है, वह कमल नाल के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तन्तु-जैसी पतली होती है, किन्तु उसकी प्रमा कोटि-कोटि सूर्यों की प्रमा से भी अधिक होती है । यह शक्ति सदैव एक क्रुद्ध सर्पिणी की तरह फुफकारती रहती है । सदैव यह अपना सिर ऊपर उठाये रहती है । मन की चञ्चलता का कारण यही है । दूसरी नाड़ियाँ इससे सम्बद्ध हैं । उच्चकोटि के ध्यान के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि ध्यान के द्वारा एक कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर इसे सबसे नीचे के कमल से ऊपर उठा कर सबसे ऊपर के

कमल पर पहुँचाया जाय जो कपाल के ऊर्ध्व भाग में स्थित है। कुछ शरीर-शास्त्रवेत्ताओं ने कुण्डलिनी को Vagus Nerve का ही दूसरा नाम माना है जिसका योग की प्रक्रिया के अनुसार ध्यान में बहुत उपयोगी होता है। उन्होंने षट्चक्रों को भी हमारे शिराजाल के संवेदनशील भाग के कुछ खास गुच्छों के रूप में माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर के खास-खास आसनों और प्राणायाम आदि या अन्यान्य साधनाओं से हृदय तथा पेट आदि की मांसपेशियाँ संकुचित हो जाती हैं जिससे साधारण रुधिर की गति तथा श्वास-प्रश्वास की क्रिया में एक प्रकार की हलचल-सी मच जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि संवेदनशील स्नायुओं में अत्यधिक उत्तेजना हो जाती है, जिससे सोई हुई कुण्डलिनी (Vagus Nerve) जाग जाती है। योगी लोग इस Vagus नामक शिरा के दोनों सिरों को अथवा केन्द्र-स्थान को उत्तेजित करके अपने वश में कर लेते हैं। किसी खास नाड़ी को जागृत करने के लिए दूसरी किसी नाड़ी की परवाह न कर केवल उसी नाड़ी पर ध्यान जमाया जाता है। इससे उस नाड़ी में एक अन्तर्मुखी प्रेरणा होती है जिसे 'कमल' अथवा कामना की पूर्ति का विषय अपनी ओर आकृष्ट करता है। इस प्रकार कुण्डलिनी का स्वतन्त्र शिराजाल के छह गुच्छों में से होकर मस्तिष्क तक पहुँचना उच्चकोटि के ध्यान के लिए अनिवार्य माना गया है। कुण्डलिनी को मेरुदण्ड के रास्ते से क्रमशः एक कमल से दूसरे कमल तक ले जाने से मन ब्रह्म में लय हो जाता है।

यह बात ध्यान देने की है कि हिन्दू-मन्दिरों में जो प्रतिमाएँ स्थापित हैं उनमें भी कभी-कभी कमल-दल के आकार की शकलें देखने में आती हैं और भगवान् बुद्ध को कुछ मूर्तियों में बुद्ध के अंगों में एक साँप लिपटा हुआ दिखाया गया है। छह कमलों को भेदने की क्रिया वास्तव में एक प्राचीन और बहुव्यापी योग-सम्प्रदाय का ही एक अंग है। सुफी-मत के कुछ सम्प्रदायों में ऐसा माना गया

है कि मानव-शरीर में मित्त-मित्त वर्णों के छह तेजोमय बड़े-बड़े चक्र हैं। इन बड़े चक्रों को शरीर के भीतर इस प्रकार गतिशील करना होता है जिससे वर्णों की दृश्यमान विमिश्रता के अन्दर साधक उस मौलिक वर्णविहीन प्रकाश का अनुभव करता है जिसके कारण सारी वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है, परन्तु जो स्वयं अदृश्य है। इस प्रकार साधक अथवा आत्मा की केवल निराकार-शक्ति अथवा वर्णहीन ज्योति से ही एकाकारता नहीं होती अपितु समस्त शारीरिक क्रियाओं और कार्यों में वह 'माता' के साथ भी अभिन्नता स्थापित कर लेता है। ऐसी दशा में कोई भी वस्तु अपावन अथवा अश्राद्धान नहीं रह जाती। प्रत्येक वस्तु एक शक्ति-विशेष का रूप धारण कर लेती है। मित्त-मित्त क्रिया-कलाप, व्रत-अनुष्ठान तथा ध्यान की प्रक्रियाओं के द्वारा साधक धीरे-धीरे इस बात का अनुभव करने लगता है कि ये सभी देवियाँ जो शक्ति के विशिष्ट रूप हैं मानों एक ही मूल ईश्वरीय शक्ति के अंश हैं और स्वयं साधक अपने आत्म-रूप में तथा उसके शरीर और मन—जो भगवती के विशिष्ट रूप हैं—उस परमशक्ति जगज्जननी के ही रूप हैं। अद्वैतवाद का यही पर्यवसान होता है। इस स्थिति में पहुँच कर साधक पुकार उठता है—'भगवती मेरा ही रूप है, मैं और भगवती एकही हूँ, मैं भगवती से भिन्न नहीं हूँ—मैं मुक्त हूँ।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधक आकार मात्र की मित्त-मित्त देवियों के रूप में पूजा करता है। इसके अनन्तर वह शक्ति के छोटे स्वरूपों से ऊपर उठ कर बड़े स्वरूपों को पकड़ता है और आगे चलकर उस 'परमशक्ति' की उपासना करने लगता है जो इन सारी शक्तियों की जननी है और जो इन सारी शक्तियों में तथा स्वयं साधक के अन्दर तथा उसके रूप में प्रकट है और अन्त में जा कर उस महा शक्ति के साथ वह एकाकार हो जाता है, क्योंकि एक 'माता' के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है।

(शेष अगले अंक में)

अतिथि-सत्कार

किसी जंगल में एक व्याध रहता था। दिन-मर भयानक जंगलों में घूम-घूम कर वह तरह-तरह के पक्षी पकड़ता और उन्हें बेचकर अपनी जीविका का उपाजन किया करता था।

एक दिन सवेरे से मटकते-मटकते दिन का दूसरा पहर आ पहुँचा; किन्तु व्याध की टोकरी में सिर्फ दो-तीन ही पक्षी पड़े थे। इससे तो उसके दिन-मर का खाना भी पूरा नहीं होगा। निराश हो वह इधर-उधर घूम रहा था कि सहसा आकाश में घटाएँ घिर आयीं। काले मेघों ने चारों ओर अँधेरा कर दिया और देखते-ही-देखते घनघोर वृष्टि होने लगी।

अकस्मात् पानी में भीगते-काँपते व्याध की दृष्टि एक कबूतरी पर पड़ी, जो ठंड से ठिठुरकर किसी वृक्ष से घरती पर आ गिरी थी। यद्यपि इस प्रलय-वृष्टि से व्याध की दशा भी बहुत बुरी थी; कबूतरी की उस हालत पर उसे प्रसन्नता ही हुई। उसने कबूतरी को अपनी टोकरी में बन्द कर लिया। दुर्जनो को समय-कुसमय और धर्म-अधर्म का ध्यान नहीं रहता। प्रतिपल वे अपने स्वार्थ की पूर्ति का ही अवसर ढूँढ़ते रहते हैं।

वृष्टि रुकने पर व्याध खाना हुआ। किन्तु उसका घर काफी दूर था। शाम का अँधेरा रात्रि की कालिमा में बदल रहा था। व्याध ने एक बार आकाश की ओर देखा फिर घर पहुँचने की आशा त्याग दी। इधर-उधर दृष्टि दीड़ी, तो पास ही एक घना वृक्ष देख पड़ा। वह वृक्ष के नीचे पड़े शिलाखण्ड पर लेट गया।

उस वृक्ष पर एक कबूतर-दम्पती ने अपना घोंसला बना रखा था। कबूतरी आज सवेरे जो आहार की खोज में निकली थी, सो अभी तक लौटकर नहीं आयी थी।

कबूतर चिन्तित बैठा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था—“कहीं कबूतरी किसी दुर्घटना में तो नहीं फँस गयी?” उसे क्या पता कि, उसकी कबूतरी उसी वृक्ष के नीचे व्याध की टोकरी में बन्द पड़ी है।

इधर कबूतरी से अपने पति की चिन्ता न देखी गयी। शान्त स्थिर वाणी में उसे ढाँढ़स बँधाती हुई वह बोली—“स्वामिन्, मैं काल-चक्र से व्याध की टोकरी में बन्द हूँ। अतः आप व्यर्थ ही चिन्तित न हों—एक दिन सबकी आयु शेष हो जाती है।

“देखिये, यह व्याध हमारे घर आकर टिका है। ठंड और भूख से इसकी बुरी दशा है। यद्यपि यह बड़ा निर्दयी और अधर्मी है, हमारा घोर शत्रु है, तथापि इस समय यह हमारा अतिथि है। घर आये अतिथि का सत्कार करना गृहस्थ का परम धर्म है। अतः आपसे अनुरोध करती हूँ कि वैर-भाव भुलाकर आप सच्चे मन से इस अतिथि की सेवा कीजिये।”

कबूतरी की ज्ञान-मरी बातों से कबूतर का मोह नष्ट हो गया। निर्भय मन और प्रसन्न-चित्त उसने विनम्र वाणी में व्याध से कहा—“बन्धु, आप हमारे घोर शत्रु हैं; किन्तु इस समय मेरे अतिथि हैं। अतः निस्संकोच कहिये, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?”

व्याध तीव्र ठण्ड से काँपते अपने गात की ओर देखकर बोला, “मुझे बड़ी ठंड लग रही है। इसका कुछ उपाय करो।”

तत्काल कबूतर ने सूखे पत्ते व्याध के सामने इकट्ठे कर दिये और पास के गाँव से अपनी चोंच में जलता हुआ अंगारा लाकर उसे सूखे पत्तों के ढेर में डाल दिया। आग शीघ्र ही सुलग उठी और पत्ते धू-धू कर जलने लगे। ठण्ड

से काँपते व्याध के शरीर में गर्मी का संचार हुआ। वह आराम से पैर फैला कर बैठ गया।

किन्तु भूख से उसके प्राणों पर आ बनी थी। कुतज्ञता-मरी आँखों से कवूतर की ओर देखता हुआ वह बोला—
“इस समय मुझे बड़ी भूख लगी है। अगर सम्भव हो, तो कहीं से कुछ खिलाओ।”

कवूतर के सम्मुख एक समस्या आ खड़ी हुई। अतिथि के खाने के लिए कहाँ से वह कुछ लाये? क्षणभर तक सिर झुँकाकर सोचता रहा और फिर मानो कुछ स्मरण कर वह खिल उठा। प्रसन्नता-मरे स्वर में बोला—“मैं इसका भी प्रबन्ध कर देता हूँ, आप निश्चय ही इससे तृप्त हो जायेंगे।”

व्याध आश्चर्य-मयी दृष्टि से उसकी ओर देखता रहा। कवूतर ने एक बार अपनी कवूतरी पर स्नेह-मयी दृष्टि डाली और फिर ऊपर उड़ गया। चारों ओर परिक्रमा कर

मन-ही-मन उसने अग्निदेव को प्रणाम किया और फिर किसी पके फल के समान घघकती अग्नि-ज्वालाओं के बीच आ गिरा।

व्याध यह देखते ही घबरा कर चिल्ला पड़ा—
“ओफ! यह क्या हुआ?” दौड़कर जब तक वह कवूतर को बचाने का प्रयास करे, तब तक कवूतर के पंख जल गये, शरीर झुलस गया और प्राण-पखेरू उड़ गये।

व्याध का मन ग्लानि से भर गया। उसे स्वयं से घृणा हो आयी। अपने अब तक के कृत्यों पर सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करते हुए उसने मन-ही-मन यह प्रतिज्ञा की कि अब से यह नीच कर्म वह कभी नहीं करेगा। उसने अपने जाल को नष्ट कर दिया और टोकरी के द्वार खोल, सभी पक्षी मुक्त कर दिये।

उदारता

एक बार पंजाब केसरी महाराजा रणजीत सिंह कहीं जा रहे थे। अचानक एक ढेला आकर उनके लगा। महाराजा को बड़ी तकलीफ हुई। सिपाही दौड़े और एक बुढ़िया को पकड़ लाये, उसे महाराज के सामने उपस्थित कर दिया।

बुढ़िया मय के कारण काँप रही थी। उसने हाथ जोड़कर कहा—महाराज! मेरा बच्चा तीन दिन से भूखा था। खाने को कुछ मिला नहीं। मैंने पके हुए बेल (फल) को देखकर ढेला मारा था। ढेला लग जाता तो बेल टूट जाता और उसे खिलाकर मैं बच्चे के प्राण बचा सकती पर दुर्भाग्यवश आप बीच में आ गये और ढेला आपको लग

गया। मैं निर्दोष हूँ महाराज!

बुढ़िया की बात सुनकर महाराजा रणजीतसिंह ने अपने कोषाध्यक्ष से कहा, ‘बुढ़िया को एक हजार रुपये और उतने का सामान देकर आदरपूर्वक घर भेज दो।’

लोगों ने कहा—‘महाराज! यह क्या करते हैं? इसने आपको ढेला मारा है, इसे तो कठोर दण्ड मिलना चाहिए।’

रणजीत सिंह बोले—‘माई! जब बिना बुद्धि वाला पेड़ ढेला मारने पर फल देता है, तब मैं इसे दण्ड कैसे दे सकता हूँ?’

सार्वजनिक सेवा और वानप्रस्थ आश्रम

विनोबा

आज हिन्दुस्तान में सार्वजनिक सेवा कम हो गयी है। सिर्फ भोग ही शेष रह गये। हमारी संस्कृति का अलंकार नष्ट हो गया है, अभिमान बचा है, पर वस्तु खो दी है। हम लोग भारतीय संस्कृति का बहुत अभिमान रखते हैं। उस संस्कृति की एक बहुत बड़ी देन है। उसमें चार आश्रमों की जो कल्पना है, वह बहुत बड़ी बात है। लोगों ने चातुर्वर्ण्य की भी कल्पना की है, पर आश्रम की कल्पना कायम रह गयी है। चातुर्वर्ण्य की कल्पना समय-समय, देश-काल के अनुसार बदलती रही है। सत्ययुग में एक वर्ण था और अब चातुर्वर्ण्य हो गया है। सबसे अन्त में एक ही वर्ण हंस-वर्ण शेष रहेगा, यह कहा जाता है। लेकिन आश्रम की कल्पना कभी बदलती नहीं। उपनिषद में इसकी कथा आती है। वहाँ कहा गया है कि पहले एक ही वर्ण था—ब्राह्मण वर्ण। फिर उसकी मदद के लिए कुछ और वर्ण पैदा हुए, वे चार वर्ण थे—अन्त में धर्म पैदा हुआ। सारांश, चातुर्वर्ण्य बदलता रहता है, पर आश्रम की कल्पना स्थायी और अत्यधिक मूल्यवान है तथा वह बहुत बड़ी देन है।

इन चार आश्रमों में वानप्रस्थ आश्रम का अर्थ है—विशेष अवस्था होने के बाद गृहस्थाश्रम त्याग कर सार्वजनिक सेवा के लिए घर से बाहर निकलना। भारतीय संस्कृति की यह सुन्दर योजना है। आज उसकी पूर्णतः उपेक्षा की गयी है। पहले ब्रह्मचर्य की कल्पना थी, पर आज वह भी बची नहीं है। उसके लिए अध्ययन, शिक्षण की कोई योजना नहीं। उसके लिए आवश्यक योग्य शिक्षा और व्रतनिष्ठा का अभाव हो गया है। फिर गृहस्थाश्रम के लिए भी कोई तन्त्र, कोई नियमन नहीं, ऐसी बात नहीं। क्योंकि वह भी तो एक आश्रम है। अतः उसमें भी अतिथि-सेवा, इन्द्रियनिग्रह, अध्ययन, समाज-सेवा ये सारी बातें आती हैं। लेकिन आज ये सब बातें गृहस्थाश्रम में नहीं

रहीं। सिर्फ संसार-प्रवेश (विवाहित होना) ही आज उसका अर्थ रह गया है। जबकि वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। वानप्रस्थाश्रम की भी यही स्थिति हो गयी है। संन्यासी कुछ अवश्य दीखते हैं, पर उनमें बहुत से वेशचारी भी होते हैं। सारांश, यह मूल्यवान चीज हम लोगों के हाथ लगी थी, पर आगे चलकर वह हमारे हाथ में नहीं रही। आज मानव एक बार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, तो फिर उसी में अटक जाता और विषयासक्ति में मग्न रहता है। स्वयं वह घर नहीं छोड़ता। शरीर जीर्ण-शीर्ण होने के कारण ही वह बाहर निकलता है। आज ऐसा ही वीर्यहीन और पुरुषार्थहीन जीवन चल रहा है। भोगवासनाएँ मानव को निवृत्त होने नहीं देतीं। इस कारण आज मानव से गृहस्थी के सिवा काम ही नहीं हो पाता।

तुलसीदासजी ने वर्णन किया है कि

बरबस राज सुतहि नृप दीन्हा।

हरिहित आपु गवन बन कीन्हा ॥

बरबस ही मनु राजा ने अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण कर, राज्य पुत्र को सौंपकर स्वयं वानप्रस्थाश्रम स्वीकार किया। तुलसीदासजी ने यहाँ 'बरबस' याने जबर्दस्ती यही शब्द रखा है। आजकल के मन को यह शब्द जरा कठोर लगता है। यह जबर्दस्ती उसे सहन नहीं होती। इसीलिए लोग कहते हैं, जैसा मन को पसन्द होगा, वैसा ही करूँगा। याने कोई अच्छा मित्र कहे तो उसकी न सुनेंगे। लेकिन यह कोई स्वातन्त्र्य नहीं, गुलामी है। बरबस गुलामी से भी अधिक गुलामी है। कारण मन मानव का नौकर ही है—उसकी इन्द्रिय ही है। मानव को इन्द्रिय पर, मन पर अंकुश रखना चाहिए, तभी काम होगा। सारांश, चित्त जब तक विषयासक्त रहेगा, तब तक शुद्ध सेवा हो नहीं सकती।

पड़ोसी-प्रेम

“प्रभो, पड़ोसी कौन है जिसकी हम मदद करें।”

एक शिष्य ने ईसा मसीह से पूछा।

“जिसे भी सहायता की अपेक्षा हो, वह पड़ोसी है।”

ईसा मसीह का उत्तर था।

“उसे हम कैसे पहचानें, वह रहता कहाँ है?”

शिष्य ने पुनः पूछा।

“तुम बहुत मोटी अकल के हो, बिना दृष्टान्त के नहीं समझोगे।”

प्रभु ईसा ने कहा।

“तो समझाइए गुरुदेव, दृष्टान्त देकर ही समझाइए।”

“लो सुनो। एक मुसाफिर जंगल से होकर निकला।

अँधेरा हो चला था। उसने कदम तेजी से बढ़ाया। किन्तु उस पर तड़ातड़ लाठी बरसने लगी। सिर से खून बहने लगा। वह बेहोश होकर गिर पड़ा। डाकू उसका माल-मत्ता लूटकर नौ दो ग्यारह हो गये।”

इतने में उधर से एक पण्डितजी निकले। घायल मुसाफिर को देखा। पहचानने की कोशिश की। वह कोई अजनबी था। पण्डितजी ने मन-ही-मन कहा—“यह घायल

मेरी जात का नहीं; गोत्र का नहीं। इससे मेरा क्या वास्ता? पड़ा रहे यहीं।” यह कहकर पण्डितजी आगे बढ़ गये। इसके बाद उधर से निकला एक व्यापारी। उसने घायल को देखा। फिर बोला—“न जाने कौन यहाँ गिरा पड़ा है। पर इससे मेरा कोई लेन-देन नहीं है।” वह भी उसकी उपेक्षा कर आगे बढ़ गया।

फिर निकला उधर से एक भोला-भाला किसान। वह घायल के पास पहुँचा। बड़ा दुखी हुआ। उसने घावों को धोया, पट्टियाँ बाँधीं। सहारा देकर उसे बस्ती में ले गया। उसकी दवा-दारू का प्रबन्ध किया। भोजनालय में उसे खिलाया-पिलाया। और भोजनालय के मैनेजर के पास कुछ रुपये इसलिए छोड़ गया कि घायल की अच्छी तरह देख-माल की जा सके।

“अब बताओ उस मुसाफिर का पड़ोसी कौन है?”

शिष्य ने कहा—“किसान!”

ठीक कहते हो। इसी प्रकार वही पड़ोसी है जिसे सेवा की आवश्यकता है। इसके लिए परिचित-अपरिचित का प्रश्न ही नहीं उठता।

दुःस्वप्न

एक दोपहर को एक चिड़ें ने स्वप्न देखा कि, वह उड़ता-उड़ता पारिजात-वन में पहुँच गया है और कल्पद्रुम उससे कुछ ही दूर रह गया है। नींद खुलते ही, वह बेतहाशा उड़ चला। रास्ते में कौवे ने पूछा, तो चिड़ा बोला—“भाई, समय मत खराब करो वह देखो, पारिजात-वन है और वह है कल्पद्रुम। मुझे एकदम वहाँ पहुँचना है।” फिर क्या था, कौवा भी भागा। तीतर, मोर, बटेर, चील, बाज, सभी चिड़ें के ‘कल्पद्रुम’ की

तरफ अविराम भागे। उस दिन क्या हुआ कि, कोई भी पक्षी बिना भागे नहीं रह सका। यह देख, बड़ के पेड़ की कोटर में बैठे एक बूढ़े उल्लू ने अपने नन्हे जिज्ञासु बेटे से ससन्ताप कहा—“अरेरे, अनर्थ हो गया। दुःस्वप्न के पीछे आपा भूल कर भागने का यह रोग मनुष्यों के संसर्ग से हमारे पक्षिसमाज में भी फैल गया। बस, अब भगवान् ही रक्षा करें।”

‘रमणसूक्त’ से

सुनहु करहु जौ तुम्हहि सोहाई

श्री लक्ष्मीनिवास बिरला

रामचरितमानस की रचना चार सौ साल पुरानी हो गई। तुलसीदास उस युग में हुए थे, जब संस्कृत के सिवा भाषा में ग्रंथ लिखने का प्रायः साहस ही नहीं किया जाता था। आम लोग संस्कृत नहीं समझते थे, इसलिए पढ़ने वाले कुछ लोगों तक ही वह सीमित थी। संस्कृत के पंडित होते हुए भी तुलसीदास ने जन-साधारण को राम की कथा सुनाने के लिए भाषा में लिख कर जान-बूझकर खतरा मोल लिया। संस्कृत के पंडितों ने उन्हें मला-बुरा कहा, उनकी निन्दा की। किन्तु सामान्य जनता में रामचरित-मानस इसना अधिक लोकप्रिय होने लगा कि पंडितों को बाध्य होकर अपना मत बदलना पड़ा।

उन्होंने घोषणा की :

आनन्दकानने ह्यस्मिन्

जंगमस्तुलसीतरुः ।

कवितामंजरी यस्य

रामभ्रमरभूषिता ॥

कालांतर में गोस्वामी श्रीमन्ना-
रायणाचार्य ने मानस का संस्कृत में
बड़ा सुन्दर अनुवाद किया।

यह अलौकिक रचना इतने वर्षों
बाद भी आज कहीं अधिक लोकप्रिय

बन गयी है। रामचरित रूपी मानसरोवर में पढ़े और
अनपढ़े सभी सहर्ष गोता लगाते हैं, और जिसकी मुठ्ठी में
जितने रत्न आते हैं, वह निकाल लाता है।

मानस बड़ा ही अगाध है, उसके तल का एक-एक कण
अनमोल मणि है। उसे निरखने और समझने के लिए गहरे
उतरना पड़ता है। पर यह नहीं कि किनारे बैठा हुआ कोई
कोरा ही रह जाय। उसे भी कुछ-न-कुछ मिल ही
जाता है।

बाल्यकाल की लीला के बाद ही, वास्तव में, कथा
राम के वनवास से शुरू होती है। यों सारी ही कथा ज्ञान

एवं भक्ति-रस से परिपूर्ण है, किन्तु अयोध्याकाण्ड का प्रमुख
भाग पितृ-आज्ञा का पालन करना है।

महाराज दशरथ ने गुरु वसिष्ठ से सलाह करके राम
के राज्याभिषेक का निश्चय किया। यह समाचार फैलते
ही अयोध्या भर में बधावे बजने लगे। जहाँ-तहाँ स्त्रियाँ
मंगल गीत गाने लगीं। तुलसीदासजी लिखते हैं, 'कौयल
की-सी मीठी वाणी-वाली, चन्द्रमा के समान मुखवाली और
हरिण के बच्चे के-से नेत्रवाली स्त्रियाँ मंगलगान करने
लगीं।' वसिष्ठजी ने आज्ञा दी, 'नगर में अनेक सुन्दर मंडप
सजाओ, फलों समेत आम, सुपारी और केले के वृक्ष नगर
की गलियों में चारों ओर रोप दो।
मनोहर मणियों के चौक पुरवाओ और
बाजार को खूब सजाओ।'

अयोध्या में यह महोत्सव हो-ही
रहा था कि आनन्द में विमोर राजा
दशरथ ने कैकेयी के महल में जाकर
सुना कि वह तो कोप-मवन में है। वे
सहम गये। डरते-डरते कैकेयी के पास
पहुँचे। बहुत मनाया, पर हठीली
रानी ने राम की शपथ दिलाकर दो
वर माँग लिये, एक तो भरत को

राज, दूसरे राम को चौदह वर्ष का वनवास।

राम ने पिता की आज्ञा का पालन किया। माता
कैकेयी से बोले :

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी।

जो पितु-मातु-बचन-अनुरागी ॥

और माता कौसल्या से विश्वास माँगते हुए कहा—

“पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।” अयोध्या के नागरिक
बड़े क्षुब्ध और रुष्ट थे :

मिलेहि माँझ बिधि बात बिगारी,

जहँ तहँ देहि कैकईहि गारी।



लेखक

सीता और लक्ष्मण के साथ श्रीराम वन को विदा हुए। मन्त्री सुमन्त्र उन्हें गंगा तक छोड़कर जब लौटे तो तुलसीदास कहते हैं कि राम को लौटा न देखकर सारा रनिवास व्याकुल हो गया। राजमहल उनको ऐसा मयानक लगा मानों प्रेतों का निवास-स्थान हो।

प्रश्न अब यह उठता है कि सारी प्रजा, माताओं, मंत्रियों और यहाँ तक कि राजा दशरथ को भी, जिन्होंने अन्त में प्राण ही छोड़ दिये, त्यागकर एक कैकेयी के प्रति वचनबद्ध राजा की आज्ञा मानना राम को उचित था क्या?

उधर भरत ननिहाल में थे। जब लौटे तो देखा, कोई बुरी तरह काँव-काँव कर रहे हैं। गधे और सियार विपरीत बोल रहे हैं। चारों ओर मयानक सन्नाटा है। विक्षुब्ध लोग घरों में बैठे रहे, उनकी अगवानी करने नहीं गए। भरत माता कैकेयी के पास गए और सबका कुशल-क्षेम पूछा। पिता मरण और राम का वनवास सुनकर सन्न रह गए थे। माता कौसल्या ने भरत से कहा, 'बेटा, काल और कर्म की गति अमिट है।' वसिष्ठजी ने आकर कहा, 'राय राजपद तुम्हें कहें दीन्हा,' माता कौसल्या ने भी समझाया, 'पूत पथ्य गुरु आयसु अहई!' मंत्रियों ने त्रिन्ती की— 'कीजिअ गुरु-आयसु अवसि।'

भरत ने प्रजा की तरफ देखा, पर सब चुप थे। भरत का स्वयं का मन भी शोक-युक्त था। बोले, "पितु सुरपुर सिय राम बन, करन कहहु मोहि राजु!" "मोहि राज हठि देइहहु जबहीं, रसा रसातल जाइहि तबहीं।" मुखे तो श्रीराम के पास जाने की ही आज्ञा दीजिए।

भरत श्रीराम के पास चित्रकूट गये और उनकी खड़ाऊँ लेकर लौट आये। खड़ाऊँ राज-सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर उनकी ओर से राज बड़ी अच्छी तरह चलाया। कैकेयी ने भरत के लिए राज माँगा था। भरत ने चौदह वर्ष राज तो किया, पर श्रीराम के एक प्रतिनिधि के रूप में।

ऐसे संघर्ष प्रत्येक मनुष्य के जीवन में आते ही रहते हैं। बड़ों की आज्ञा मानना उचित है या अनुचित! राम ने भी मानी और भरत ने भी आज्ञा मानी, और प्रतिनिधि के रूप में राज भी चलाया।

राम ने आगे चलकर एक प्रसंग पर कहा था :

सुनहु सकल पुरजन मम बानी,
कहुँ न कछु ममता उर आनी।
नहिं अनीति, नहिं कछु प्रभुताई,
सुनहु करहु जो तुम्हहिं सोहाई ॥

प्रभुताई के मय से मेरी कोई बात आप लोग स्वीकार न करें। कहीं भी अनीति की आशंका हो, तो वह बात ग्रहण न करें। सोचकर, विचारकर यदि मन में ठीक जँचे, तो करें।

प्राणी को मिली प्रज्ञा, और इस प्रकार हुआ मनुष्य का निर्माण। उसने नये इतिहास का सृजन आरंभ किया। उसके पास मस्तिष्क था। उसके माध्यम से भगवान् द्वारा सजित जीवों के बीच अपने ढंग से मनुष्य भी नव-सृजनकर्ता बना। उसकी गरिमा का मापदंड उसकी वैचारिक विशिष्टता है।

वह अपने विचारों, आदर्शों, यथार्थों एवं प्रतीकों का अपना संसार बनाता है। उसकी कला और उसके शिल्प उसकी बुद्धि की देन को प्रतिबिंबित करते हैं। इस अर्थ में वह सृष्टिकर्ता की प्रतिमूर्ति-स्वरूप है।

कोई भी उचित निर्णय लेने के लिए विचारों का समुचित उपयोग आवश्यक है। विशेष तौर से व्यस्त लोग सदा ही किसी चीज को ठीक से न सोचने का कुछ-न-कुछ बहाना करते हैं। पश्चिमी साहित्य भी हम देखें तो डिकेन्स ने अपनी 'ब्लीक हाउस' पुस्तक में उनका परिहास करते हुए कहा है, "सोचो, मुखे बिना सोचे हुए बहुत कुछ करना है, जबकि प्रतिदान में उससे बहुत कम उपलब्धि होती है।" सभी कार्यों में विशेष रूप से दो पहलू होते हैं। चिंतन में खो जाना या विचार खोने की स्थिति में होना बुरा है। बहुधा यह कष्टप्रद भी है, किंतु विचार करने से भागना स्पष्ट रूप से मनुष्य के अपेक्षित गुणों को अस्वीकार करना है। शेक्सपीयर ने इन दोनों पहलुओं पर विचार किया है, "वह बहुत सोचता है ... ऐसे व्यक्ति खतरनाक होते हैं।"

(जूलियस सीजर)

जूलियस सीजर का तानाशाही राज्य था, और ताना-शाह को स्वतन्त्र विचार से चिढ़ होती है। दूसरी तरफ 'ओथेलो' में उलटी बात है, "मैं कुछ भी नहीं हूँ, यदि मुझ-में आलोचनात्मक प्रवृत्ति नहीं है।"

बहुधा सभी विपत्तियाँ, जैसा कहा जाता है, खतरनाक नहीं होती हैं। कुछ विपत्तियाँ स्वागत करने योग्य होती हैं, क्योंकि वे मनुष्य की परीक्षा लेती हैं। मनुष्य ऐसी विपत्तियों का सामना करता है, जिनसे या तो समाज का कल्याण होता है या समाज के कल्याण की संभावना होती है। कभी-कभी उच्च विचारों का पूरा मूल्य चुकाना होता है, और ये मूल्य उन विचारों की उच्चता आँकते हैं। इसके साथ ही, मानव-जाति का कल्याण करने के पश्चात् यह सदा के लिए उसकी प्रकृति बन जाती है। बर्डस्वर्थ ने कहा है, “छोटी सेवाएँ वास्तविक सेवाएँ हैं, यदि वे टिकाऊ हों।” वे लोग भी सेवाव्रती हैं, जो चिंतन करते हैं या चिंतन का प्रसार करते हैं। यद्यपि शारीरिक कार्य नहीं करते, तथापि कार्य के लिए सही दिशा और प्रेरणा प्रदान करते हैं। मानसिक कार्य ही आधारभूत कार्य है।

किन्तु चिन्तन चाहे कितने ही अच्छे ढंग का हो, उसमें सारी बातों का समावेश नहीं हो सकता। इसीलिए उसकी सम्पूर्ति करनी पड़ती है। इस तरह मति-भ्रम और विचार-द्वन्द्व पैदा होते हैं। लेकिन चिन्तन की अपूर्णता मात्र विचारक का दोष नहीं है। विचारों में ऐसी प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से होती है। जहाँ तक सृजन का प्रश्न है, कोई भी सृजन अपने-आप में पूर्ण नहीं होता, क्योंकि कुछ भी सरल नहीं है। इसके अतिरिक्त, मौलिक विचारक किसी के आदेश से स्वीकृत पुरानी लीक पर नहीं चल सकता। इस समय एक बड़ा प्रश्न उपस्थित होता है। सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में सत्ता-सम्पन्न लोग चिन्तन के लिए पर्याप्त अवसर नहीं देते। येन-केन-प्रकारेण विविध प्रतिबन्ध रख देते हैं। वे एक निश्चित लीक पर चलने के लिए सुझाव देते हैं, या दबाव डालते हैं। क्रान्तिकारी एवं वास्तविक विचारक ऐसी माँगों की पूर्ति करने में असमर्थ होते हैं। उनका अपना एक दृष्टिकोण तथा अपनी एक अभिलाषा होती है, और इस तरह वर्तमान तथा भावी जनमत द्वारा अपना मूल्यांकन और प्रतिदान चाहते हैं। जिनके हाथ में शक्ति है, उनसे वे कुछ लेकर अपने विचारों को बेचना नहीं चाहते। इस प्रकार विचारों में सदैव एक द्वन्द्व बना रहता है, और यह द्वन्द्व विभिन्न मतों, सिद्धान्तों और परिप्रेक्ष्यों में होता है।

आज मनुष्य के ‘स्वयं’ को अपने तक ही सीमित रखना एक कष्टसाध्य परीक्षण है। वर्तमान समय ने जीवन को निश्चित आदर्शों एवं संस्थाओं में सीमाबद्ध कर दिया है। यह बात नहीं कि प्राचीनकाल में विचार-स्वातंत्र्य पर आक्षेप नहीं होता था। संभवतः वह मानव-स्वभाव के अनकूल था, किन्तु वह आज की तरह जटिल बन्धनों में नहीं बाँधा गया था।

प्रत्येक काल, जलवायु, देश और मानव-हृदय में यह बात आती है कि जीव जन्म लेता है और उसे पार्थिव मृत्यु का भय अवश्य रहता है। यह भयंकर स्थिति प्रत्येक मनुष्य अच्छी तरह समझता है, जब आत्मा किसी राजनैतिक दण्ड-विधान के समक्ष नहीं झुकती। यह निर्णय मनुष्य का विद्रोही व्यक्तित्व स्वयं लेता है, और वह इस बात को स्वीकार नहीं करता कि किसी के दबाववश वह अपनी जिह्वा पर प्रतिबन्ध लगाये, किन्तु कभी-कभी अरुचिकर समझौते की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परीक्षण के अन्तिम क्षणों में भी आत्मविश्वासी आलोचक कभी नहीं झुकता। संतुलित विचारक सुविधाओं के व्यसन को अपने पास नहीं फटकने देता।

• ईमर्सन का कहना है कि जब ईश्वर एक दार्शनिक को इस भूतल पर उतरता है, तो मानव को सतर्कता की आवश्यकता होती है। ये विचार भारतीय विचार-धाराओं तथा परम्पराओं के विशेष समीप हैं। प्राचीन भारत का सम्पूर्ण आध्यात्मिक वाङ्मय ज्ञान को प्रयोग की कसौटी पर कक्षे पर बल देता है और पहले से चली आनेवाली बातों को यथार्थतः स्वीकार नहीं करता। वेद और उपनिषद् स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहन देते हैं। यह बात और है कि वे भी मान्यताओं की बात करते हैं, और यह प्रत्येक युग के लिए अपरिहार्य है। लेकिन सामान्य दृष्टिकोण यह है कि ‘विचार स्वतन्त्र है।’

प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली अनुसन्धानों द्वारा सत्य के उद्घाटन के पक्ष में थी। इसीलिए प्रश्न के लिए ‘जिज्ञासा’ शब्द प्रचलित था। शिक्षक छात्रों को जिज्ञासा करने तथा प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहित कर उनके सन्देहों का समाधान करते थे। दार्शनिक साहित्य वस्तुतः निर्भीक

जिज्ञासा पर आधारित था। इन दार्शनिक ग्रन्थों में वेदों की प्रामाणिकता पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिये गये हैं, यहाँ तक कि ईश्वर के अस्तित्व में भी कभी-कभी अनास्था प्रकट की गयी है। इन सत्त्यों को चुनौती देकर ही विश्व को अग्रगति मिली है। भगवान् बुद्ध भी निर्मीक आलोचना द्वारा ज्ञानोपलब्धि के पक्ष में थे। उन्होंने अपने शिष्यों को स्वयं सोचने के लिए प्रेरित किया और किसी भी वस्तु को सत्य की कसौटी पर कसे बिना स्वीकार करने से मना कर दिया।

‘कोई भी विचार केवल इसलिए स्वीकार नहीं करना चाहिए क्योंकि वह हमारे ग्रन्थों में वर्णित या सर्वमान्य है। इस आधार पर भी उसे नहीं मान लेना चाहिए कि वह हमारे गुरुओं का वचन है।’ यदि भारतीय गणतन्त्र को सुरक्षित रखना है, तो पूर्वोक्त दृष्टिकोण का उपयोग वर्तमान युग तथा गणतान्त्रिक परिवेश में विशेष महत्त्व रखता है। गोस्वामीजी ने ‘कवितावली’ के उत्तरकाण्ड में लिखा है :

बबुर बहेरे को बनाय बाग लाइयत,
रूँघिबे को सोई सुरतरु काटियत है।
गारी देत नीच हरिचन्द्रहू दधीचिहू को,
आपने चना चबाइ हाथ चाटियतु है।
आप महापातकी, हँसत हरि-हरहू को,
आपु है अभागी भूरभागी डाटियतु है।
कलि को कलुष मन मलिन किये महत,
मसक की पाँसुरी पयोधि पाटियतु है॥

अर्थात् स्वयं भाग्यहीन होकर भी वह भाग्यशालियों को लाञ्छित करता है। वह हरिचन्द्र और दधीचि-जैसे महादानियों को भी गाली देता है, जब कि स्वयं अपने चने खुद ही चबा जाता है—एक दाना भी किसी को देना नहीं चाहता। कलियुग के कलुष ने मन को पूरी तरह मलिन कर दिया है। मच्छर की पसलियों के भरोसे वह सागर को पार करने का दुस्साहस करता है।

राज्य एवं व्यक्ति के बीच की स्पर्धा अत्यन्त असन्तुलित तथा असमान है, फिर आत्मा की शक्ति को कम करना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता है। यह सत्य है कि सांसारिक आकर्षण सर्वत्र बिखरे पड़े हैं, और मानव की दुर्बलताएँ समझौता करने के लिए बाध्य

होती हैं। जो मनुष्य भूल न करें या आत्म-हनन न करें, वे बहुत कम हैं, किन्तु हैं कुछ अवश्य। ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ाना आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। यह तभी सम्भव है, जब कि लोग अपने विचारों के प्रति ईमानदार हों। ऐसे गम्भीर और सन्तुलित विचारों की सृजनात्मक भूमिका वृहदारण्यक उपनिषद् में दी गयी है।

सनत्कुमार उपदेश देते हैं, “पृथ्वी, वायुमण्डल, आकाश, जल, पहाड़, देवता तथा मनुष्य सभी अपने ढंग से ध्यानावस्थित होते हैं। मनुष्यों में जिस किसी ने भी महत्ता प्राप्त की है, उसने इसे अपनी ध्यानपग्नता के पुरस्कारस्वरूप प्राप्त किया है। ध्यानावस्था की प्रतिष्ठा करो।” स्पष्ट है कि मनुष्य जब सोचता है, तभी समझता है। बिना चिन्तन किये मनुष्य समझ नहीं सकता। किसी वस्तु को समझने के मूल में चिन्तन हो है, किन्तु मनुष्य के अन्दर विचारों को समझने की इच्छा जाग्रत होना चाहिए।

दूसरों के विचारों का जब हम आदर करते हैं, तब अपने विचारों को भी समादृत करते हैं। रामचरितमानस की शिक्षा भारत को एक अमर शिक्षा है। यदि भारत को प्रतिष्ठित और गौरवमय जीवन बिताना है, तो इसे सर्वोच्च शिक्षा के रूप में मानना होगा तथा इसे श्रद्धापूर्वक हृदयंगम करना होगा।

राम और भरत दोनों ने ही पिता की आज्ञा का पालन किया, किन्तु बिना सोचे-समझे नहीं। पूरे विचार के बाद राम ने तय किया कि जिस सदुद्देश्य को, जिस आदर्श को, उन्होंने जन्म-मरण निमाया, उसके लिए उनका वन जाना जरूरी था। माता कौशल्या को उन्होंने बताया :

“पिता दीन्ह मोहि कानन राजू,
जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू।”

यह तो प्रकट ही है कि उन्होंने महान् स्वार्थ-त्याग किया।

भरत ने भी पितृ-आज्ञा का पालन किया, थोड़े से हेर-फेर के साथ। भरत ने रामजी से बहुत विनती की कि वे अयोध्या लौटें और बोले :

“सब समेत पुर धारिअ पाऊँ,
आपु इहाँ अमरावति राऊँ।”

[शेष पृष्ठ ३२ पर]

राजा और उसका राजधर्म

एक दिन राजा जनक ने रात में यह स्वप्न देखा—
शत्रुओं की एक विशाल सेना ने उनकी राजधानी मिथिला को चारों ओर से घेर लिया है। वे (जनक) युद्ध में परास्त होकर भाग गये और कई दिनों तक वन में इधर-उधर भटकते रहे। अन्त में वे भूख से बहुत व्याकुल होकर एक नगर में पहुँचे। वहाँ उन्होंने द्वार-द्वार पर भोज माँग कर कुछ अन्न इकट्ठा किया। उसे लेकर वे सड़क के किनारे एक हाँड़ी में खिचड़ी पकाने बैठे। खिचड़ी जब पक गयी, तो राजा बाजार में घी माँगने चले गये। आखिर माँगने से थोड़ा-सा घी भी मिल गया। उसे वे बहुत सम्हाल कर ले आये और हाथ-पैर धोकर खिचड़ी उतारने के लिए बैठे। इतने में कहीं से दो साँड़ लड़ते हुए उधर आ निकले। उनके धक्के से राजा की हँडिया गिर पड़ी और उनकी मेहनत की सारी कमाई देखते-देखते मिट्टी में मिल गयी। माग्य का यह खेल देख कर जनक अत्यन्त खिन्न हो गये। वे अपने वैभव के दिनों का स्मरण करके दुर्दिन का भयंकर दृश्य देखने लगे। एक दिन था जब कि, संसार की सारी सम्पत्तियाँ उनके चरणों पर पड़ी रहती थीं, इसी जीवन में एक दिन ऐसा आया कि, उन्हें एक-एक दाने के लिए तरसना पड़ रहा है। अपनी दुर्गति पर इस प्रकार विचार करते-करते राजा को अन्धकारमय भविष्य का ध्यान आया। उन्हें सारी दिशाएँ शून्य दिखाई पड़ीं, संसार में पद-पद पर विपत्तियाँ मुँह खोले खड़ी थीं।

दुर्दैव-ग्रस्त राजा सिर पीटकर रोना ही चाहते थे कि, उनकी आँख खुल गयी। देखा, तो सामने न सड़क थी, न टूटी-फूटी हँडिया। उन्होंने अपने को सजे-सजाये शयनागार में सोने के पलङ्ग पर आराम से लेटा पाया। आस-पास दास-दासियों का दल सिर झुकाये खड़ा था।

कोई पंखा झलता था और कोई हाथ-मुँह धोने के लिए महाराज के आगे गुलाबजल बढ़ाता था। एक ओर प्रभाती गायी जा रही थी, दूसरी ओर मंगलपाठियों का दल मंगल-पाठ करता था। राजा अपने ऐश्वर्य का प्रत्यक्ष रूप देख कर बड़े आश्चर्य में पड़ गये और आँख मूँद कर स्वप्न की दुर्दशा पर विचार करने लगे। उनके मन में यह शंका उत्पन्न हुई कि, जो कुछ स्वप्न में दिखाई पड़ा है, उसको सत्य मानूँ या जो अब दिखाई पड़ रहा है, उसको? बड़ी देर तक वे इसी उधेड़-बुन में पड़े रहे और कुछ भी निश्चय नहीं कर पाये। विकट समस्या थी।

मन में माँति-माँति के तर्क-वितर्क करते हुए राजा उठे और प्रातः कृत्य से निवृत्त होकर राज-सभा में गये। वहाँ उन्होंने बड़ी गम्भीरता से अपने नामी पण्डितों को इस प्रश्न का उत्तर देने को कहा—“यह सत्य है कि, वह?”

पण्डितों को सारी बात का पता तो था नहीं, इसलिए वे इस गूढ़ पहेली को कैसे सुलझाते? सब-के-सब एक वाक्य में उलझ गये। राजा इसके अतिरिक्त और कुछ बताते नहीं थे। दिन भर बुद्धि-पीड़न के बाद पण्डितों ने इस पर विचार करने के लिए कुछ दिनों का समय माँगा। समय निकल गया। सब बड़े-बड़े शास्त्रों का मंथन करने लगे। व्यग्र-चित्त राजा ने बाहर से भी अनेक घुरन्धर पण्डितों को बुला कर उसी काम में जोत दिया। इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर दिये बिना न तो किसी को घर जाने की आज्ञा थी, न किसी अन्य की चिन्ता करने की।

एक दिन राजा जनक पालकी में बैठ कर घूमने निकले। उनके आगे घोड़े पर राजमन्त्री और पीछे अनेक सवार चल रहे थे। नगर के मुख्य-मुख्य मार्गों की सैर

करने के बाद राजा ने एक संकीर्ण गली में जाने का विचार किया। राजमन्त्री आगे बढ़ कर लोगों को रास्ते से हटाने लगे। तब तक पालकी गली के द्वार पर रुकी रही। मन्त्री जी की दृष्टि गली में बैठे हुए एक महाकुरूप नवयुवक पर पड़ी। उन्होंने चिल्ला कर कहा—“अरे कौन है? दूर हट, महाराजाधिराज की सवारी आ रही है।”

नव-युवक ने बैठे-ही-बैठे तिरस्कारपूर्वक उत्तर दिया—“क्या तू अन्धा है? देखता नहीं कि, यहाँ एक व्यक्ति बैठा है? मैं अपने स्थान से क्यों हटूँ? तुम्हारे राजा के लिए यदि रास्ता कम है तो उनसे कहो कि दूसरे रास्ते से जाएँ।”

मन्त्री जी को मानो किसी ने कस कर कोड़ा मार दिया—वे तिलमिला उठे। किन्तु उन्होंने स्वयं बल-प्रयोग करना उचित नहीं समझा और तत्काल लौट कर सब-कुछ राजा जनक को कह सुनाया।

राजा मन्त्री जी की बातों से भड़के नहीं। उन्होंने समझ लिया कि, ऐसा स्पष्ट एवं कठोर उत्तर देने वाला व्यक्ति अवश्य ही स्वाभिमानो और तेजस्वी होगा। अतः उसे आदरपूर्वक बुला लाने के लिए उन्होंने मन्त्री जी को फिर उसके पास भेजा।

राजमन्त्रीजी विवश होकर उस नवयुवक के पास गये और नम्रतापूर्वक बोले—“ब्रह्मचारोजी, पास ही मिथिला-नरेश अपनी पालकी में बैठे हैं और आपको मिलने के लिए बुला रहे हैं।”

नवयुवक ने वक्र दृष्टि से मन्त्री की ओर देखकर कर्कश स्वर में कहा—“जाओ, अपने राजा से कह दो कि, मैं उससे मिलने नहीं आ सकता। यदि वह न्यायासन पर विराजमान होता, तो किसी को भी अपने सामने अधिकार-पूर्वक बुलवा सकता था। लेकिन इस समय तो वह जन-मार्ग पर खड़ा है। यहाँ भी वह अपने को राजा और मुझे एक निर्बल एवं तुच्छ व्यक्ति मानकर अपने पास आने की आज्ञा देता है। क्या यह उचित है? ऐसा व्यक्ति, जो स्वयं न्याय के मार्ग पर नहीं चलता, दूसरों को कैसे चलायेगा। राजा को बता दो कि, सार्वजनिक स्थान में सबके अधिकार बराबर हैं। मैं उसके इस अनुचित आदेश का पालन कभी नहीं कर सकता।”

मन्त्रीजी लाल-पीले हो कर लौट आये और राजा से बोले—“महाराज। वह बड़ा ही दुर्मुख, बड़ा ही उद्दण्ड है—लात का देवता है, बात से नहीं मानेगा। आज्ञा हो, तो बँधवा कर घसीट लाऊँ।”

किन्तु राजा जनक किंचित् भी उत्तेजित नहीं हुए। उलटे, वे उस नवयुवक के पास गये और बोले—“श्रीमान्, मैं आपका परिचय जानता चाहता हूँ—आप कौन हैं, किस प्रयोजन से यहाँ पधारे हैं?”

नवयुवक ने कहा—“मैं विप्रवर कहोड़ का पुत्र अष्टावक्र हूँ। मैंने सुना है कि, राजा जनक के किसी जटिल प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर कोई भी पण्डित नहीं दे पा रहा है, इसलिए राजा यह सोचते रहे हैं कि, इस देश में अब कोई विद्वान् नहीं रह गया। सो मैं उनका संशय मिटा कर यहाँ के विद्वानों का मान बचाने आया हूँ।”

राजा के हर्ष और विस्मय का ठिकाना न रहा। वे उस नवयुवक को दूसरे दिन राज-सभा में पधारने का निमन्त्रण देकर वापस चले गये। दूसरे दिन अष्टावक्र ठीक समय पर राज-सभा में पहुँचे। वहाँ पचासों शास्त्र-शूर पण्डित राजा को घेर कर बैठे थे। अष्टावक्र को देखते ही सब-के-सब खिलखिला कर हँस पड़े। एक तो वे अल्पवयस्क थे, दूसरे महाकुरूप। उनका छोटा-सा शरीर आठ जगह से टेढ़ा-मेढ़ा, बेडौल और भद्दा था। और, ऐसा व्यक्ति पण्डितों की नाक रखने आया था।

उन्हें हँसता देखकर अष्टावक्र भी अट्टहास करने लगे। राजा जनक को बड़ा विस्मय हुआ। अष्टावक्र के अभिमुख हो वे बोले—“विप्रदेव, मेरे सभा-पण्डितों के हँसने का तो एक कारण है, लेकिन आपके हँसने का कारण मैं नहीं समझ सका।”

अष्टावक्र ने कहा—“महाराज! मैं इस मुख-मंडली को देखकर हँस रहा हूँ। ऐसे मुखों की सहायता से आप कैसे इतना बड़ा राज्य चलाते हैं? इनमें तो कुछ भी बुद्धि-विवेक नहीं है। यदि होता, तो ये मेरे बाहरी रूप पर दृष्टि न डालते। ज्ञानी का परिचय उसके ऊपरी अंगों से नहीं, बुद्धि-तत्त्व से मिलता है। भूखा आदमी अन्न को मुख्य मानता है, न कि बरतन को। प्यासा आदमी जल को

महत्त्व देता है, न कि अच्छे-बुरे पात्र को। खेद है कि, ये पंडित-नामी जीव मनुष्य की परीक्षा करना भी नहीं जानते। मेरा तो शरीर ही टेढ़ा है, लेकिन इनकी तो बुद्धि ही कुछ टेढ़ी जान पड़ती है। राजन्, यही मेरे हँसने का कारण है।”

इस फटकार को सुनकर पंडित लोग चुप हो गये। तब अष्टावक्र ने राजा से उनका प्रश्न पूछा। राजा ने प्रश्न दुहरा दिया—“यह सत्य है कि, वह?”

अष्टावक्र क्षण भर के लिए मौन हो गये। फिर मुस्कराते हुए बोले—“राजन्, जैसा प्रश्न है, वैसा उत्तर भी होना चाहिए।—तो अब सुनिए—जैसा यह है, ठीक ऐसा ही वह भी है।”

राजा ने कहा—“आपके इस उत्तर से तो मेरी शंका नहीं मिटी।”

अष्टावक्र ने उत्तर दिया—“लेकिन यही आपके प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर है। इसे समझने की चेष्टा कीजिए। आपकी भूल यह है कि, आप एक सन्देह में उलझ गये और सीधी-सी बात को स्पष्ट न बता कर, गोल-मोल शब्दों में पहेली बुझाने लगे। यदि इन पंडितों के आगे आप सारी बात खोल कर रख देते, तो सम्भवतः इनमें से कोई-न-कोई आपके चित्त का भ्रम दूर कर देता? अब पहले आप अपने प्रश्न का रहस्य बताइये, उसके बाद मैं अपने उत्तर की व्याख्या करूँगा।”

राजा जनक ने स्वप्न का सारा वृत्तान्त बता कर अष्टावक्र से पूछा—‘पण्डित जी, अब बताइये कि, मैं स्वप्न की वार्ता को सत्य मानूँ या प्रत्यक्ष जीवन को?’

अष्टावक्र बोले—मैंने ठीक उत्तर दिया है। दोनों में कोई भेद नहीं है। जैसा स्वप्न था, वैसा ही यह संसार भी है, दोनों ही मिथ्या और क्षणभंगुर हैं। इसका प्रमाण यह है कि, स्वप्न में आपको जो दुःख हुआ था और जागने के बाद जो सुख—दोनों ही इस समय सुलभ नहीं हैं। आप उनका ध्यान कर सकते हैं, उन्हें अब पा नहीं सकते। स्वप्न और संसार में अन्तर इतना ही है कि, एक की असत्यता शीघ्र ही ज्ञात हो जाती है, दूसरे की देर में। मेरा तो विश्वास है कि, संसार के स्वरूप का बोध कराने के लिए ही भगवान् ने स्वप्न-संसार की सृष्टि की है।”

अष्टावक्र के उत्तर से राजा को थोड़ी-बहुत शान्ति मिली। उन्होंने फिर पूछा—“ज्ञानी जी, यदि यह सब सचमुच ही मिथ्या है तो आखिर सत्य क्या है?”

अष्टावक्र ने कहा—‘सत्य तो केवल वह है, जो इन सबका अनुभव करता है। उसे जानने-पहचानने का यत्न कीजिए। उसका नाम है—ब्रह्म या आत्मा। ज्ञान होने पर मनुष्य उलझनों में नहीं फँसता।’

राजा मान गये कि, अष्टावक्र आयु और शरीर से छोटे होकर भी विद्या-बुद्धि से महान् एवं सच्चे सद्गुरु हैं। उन्होंने श्रद्धापूर्वक उनसे ज्ञान का उपदेश देने का आग्रह किया। अष्टावक्र बोले—‘राजन्, मैंने अभी तक आपको जितना ज्ञान दिया है, उसकी गुरु-दक्षिणा देकर तब आगे कुछ माँगिये।’

राजा जनक ने तुरत हीरे-मोती और सुवर्ण से भरे कई थाल भँगवा कर अष्टावक्र के सामने रख दिये। किन्तु अष्टावक्र सारी राज-सम्पत्ति को ठुकराते हुए बोले—‘जनक, हम यहाँ धन या मान के लोभ से नहीं आये हैं। हमें तो यह प्रमाणित करना था कि हमारा देश विद्वानों से शून्य नहीं है। यदि आप मेरे उपदेश से सचमुच सन्तुष्ट हैं, तो मैं जो कुछ माँगूँ, बस वही मुझे दे दीजिये।’

राजा इसके लिए तैयार हो गये। तब अष्टावक्र ने कहा—‘आप मुझे शुद्ध हृदय से अपना तन-मन-धन, तीनों समर्पित कीजिये।’

राजा जनक ने उनके आगे पूर्ण रूप से समर्पण कर दिया। उसी समय कहीं से एक कष्ट-पीड़ित दीन-हीन ब्राह्मण रोता समा में आया। राजा ने उसके दुःख का वृत्तान्त पूछना चाहा, लेकिन तुरत ही उन्हें ध्यान आया कि, मैं तो अपने अंग-प्रत्यंग दूसरे को दे चुका हूँ। अतएव स्वेच्छा से मुँह खोलना भी ठीक न होगा। वे चुप रहे। ब्राह्मण बारम्बार अपनी कष्ट-कथा सुनाकर राजा से धन की याचना करने लगा। राजा ने सोचा कि, सामने जो धन पड़ा है, उसी में से कुछ दे दूँ। किन्तु उसी क्षण उन्हें ध्यान आया कि, धन पर भी तो अब दूसरे का अधिकार है। वे चुप हो रहे। उनका यह व्यवहार देखकर ब्राह्मण सरी समा में उनका धिक्कारने लगा। राजा को इससे बड़ा दुःख हुआ, पर वे

तत्काल यह सोचकर स्वस्थ-चित्त हो गये कि, मैं अपना मन भी तो दूसरे को सौंप चुका हूँ। अतएव किसी की व्यक्तिगत बातों से प्रभावित होना अनुचित है। वे चुपचाप खड़े ही रहे। अष्टावक्र ध्यान से उनकी ओर देख रहे थे। शान्त खड़े राजा से उन्होंने पूछा—‘आप कौन हैं?’

राजा ने कहा—‘जनक।’

अष्टावक्र ने फिर पूछा—‘इस शरीर में जनक जो कहाँ हैं—पेट में, पैर में, सिर में या मुँह में?’

राजा कुछ नहीं बता पाये। तब अष्टावक्र ने कहा—‘अब आप ब्रह्मज्ञान का रहस्य अवश्य समझ गये होंगे।’

राजा ‘मेरा मुझमें कुछ नहीं’ का अनुभव करते हुए बोले—‘गुरुदेव, अब तो मैं सर्वस्व त्यागकर वन को जाना चाहता हूँ—यहाँ रहने की इच्छा नहीं होती।’

अष्टावक्र ने कहा—‘आपके पास क्या है, जिसे त्याग कर संन्यास लीजियेगा?’

राजा फिर चुप हो गये। अष्टावक्र पुनः बोले—‘राजा जनक, आप अपने तन-मन-धन को अब अपना न समझ कर उसे मेरी वस्तु समझिये। आपका सर्वस्व अब पराया हो चुका है। उसकी ममता छोड़ दीजिए। अब मैं आपके हाथों में इसको उसी भाँति सौंपता हूँ, जैसे कोई किसी को अपनी याती सम्हाल कर रखने के लिए देता है। अपने तन-मन-धन को अपनी नहीं, दूसरे की वस्तु समझ कर उसकी यत्न-पूर्वक रक्षा कीजिए। अहंकार त्याग कर सबमें अपने को और अपने में सबको देखिये। यही आप-जैसे लोक-नेता का राजधर्म है। यही ब्रह्मज्ञान है। देहधारी होकर भी आप विदेह बनकर एकाग्रचित्त हो कर्त्तव्य-कर्म करें।’

[पृष्ठ २८ का शेषांश]

भरतजी का बुरा हाल था :

“निसि न नींद नहिं भूख दिन,
भरत बिकल सुचि सोच।”

रामजी ने सब कुछ भरतजी पर ही छोड़ दिया। सारा भार अपने ही ऊपर समझकर भरतजी कुछ कह नहीं सके। अन्त में बोले :

“अब कृपालु जस आयसु होई,
करोँ सीस धरि सादर सोई॥

सो अवलंब देव मोहि देई,
अवधि पारु पावौं जेहि सेई॥

रामजी ने खड़ाई दे दी और भरतजी ने बड़े प्रेम से उन्हें सिर माथे पर लगाया। यह प्रतीयमान है कि राम के वन जाने पर अयोध्या राज-विहीन हो जाती। वहाँ के नर-नारियों का दुःख और शोक से त्राण हुआ तथा राम के राज्य में कोई उत्पात न हो, इस आदर्श को लेकर भरत ने प्रतिनिधि के रूप में राज चलाया। भरत का स्वार्थ-त्याग कितना महान् था कि मिले हुए राज्य को तृणवत् छोड़ दिया।

‘मुमुक्षु’ के शुभचिन्तकों से निवेदन

‘पाठकों की प्रतिक्रिया’ से मुमुक्षु के शुभचिन्तकों को विदित होगा कि दस मास के शैथन्य-काल में ही ‘मुमुक्षु’ ने आशातीत लोकप्रियता प्राप्त कर ली है। उसकी साज-सज्जा, रेखांकन तथा रचना-संकलन से प्रभावित होकर कुछ उदार सहृदय पाठकों ने विशेष सहायता प्रदान की है और कुछ ने आजीवन सदस्यता के शुल्कादि नियमों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण जिज्ञासा प्रकट की है। एतदर्थ हम यहाँ विभिन्न ग्राहक-श्रेणियों के शुल्कादि नियम प्रकाशित कर रहे हैं। साथ ही आशा करते हैं कि मुमुक्षु के प्रत्येक हितैषी कम से कम पाँच ग्राहक अवश्य बनाएँगे।

१. विशेष सहायक—जो सज्जन प्रतिवर्ष (१०१) काशी मुमुक्षु भवन सभा को सहायता प्रदान करेंगे। ऐसे उदार दाताओं को ‘मुमुक्षु’ पत्रिका के अतिरिक्त सभा द्वारा प्रकाशित और प्रचारित साहित्य निःशुल्क प्रदान किया जायगा तथा वर्ष में एक सप्ताह के लिए उन्हें मुमुक्षु भवन में निःशुल्क आवासीय सुविधा प्रदान की जायगी।
२. आजीवन ग्राहक—जो सज्जन एक साथ मनिआर्डर या ड्राफ्ट द्वारा (२५१) भेजेंगे, उन्हें जीवन-भर ‘मुमुक्षु’ प्राप्त होता रहेगा।
३. साधारण ग्राहक—जो सज्जन लागत मूल्य से भी कम वार्षिक शुल्क (१५) मनिआर्डर या पोस्टल आर्डर से भेजेंगे उन्हें वर्ष भर ‘मुमुक्षु’ मिलता रहेगा।
४. सहयोगी ग्राहक—जो सज्जन ‘मुमुक्षु’ के कम से कम १५ साधारण ग्राहक बनायेंगे उन्हें सहयोगी के रूप में निःशुल्क एक वर्ष ‘मुमुक्षु’ पत्रिका मिलती रहेगी।

सूचना—मनिआर्डर, बैंक ड्राफ्ट, पोस्टल आर्डर, स्थानीय चेक ‘कृष्णी मुमुक्षु भवन सभा’ के नाम से हा भेजना चाहिए। —मन्त्री, काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी, वाराणसी-५।

‘मुमुक्षु’ का यज्ञ-विशेषांक

काशी मुमुक्षु भवन सभा ने अपने मुख्य परिसर में शास्त्रीय विधि से एक यज्ञ-मण्डप का निर्माण कराया है जिसके चारों ओर चारों वेदों की मूर्तियाँ स्थापित की गयी हैं। इसके उद्घाटन के उपलक्ष्य में ‘मुमुक्षु’ का लगभग १६० पृष्ठों का एक सचित्र विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है।

जिसमें

‘यज्ञ’ की व्युत्पत्ति, परिभाषा, प्रकार, उनके दृष्ट और अदृष्ट फल तथा विधियों का विस्तारपूर्वक विवेचन होगा। ऋत्विजों, वैदिक आचार्यों तथा इस विषय में रुचि रखनेवालों के लिए यह विशेषांक विशेष रूप से संग्रहणीय होगा।

इन विषयों के अधिकारी विद्वानों के लेख तथा सुझाव सादर आमन्त्रित हैं।

—सम्पादक, ‘मुमुक्षु’

काशी मुमुक्षु भवन सभा

अस्सी, वाराणसी-५

BOWREAH COTTON MILLS CO. LTD.

Registered Office

21, Strand Road. CALCUTTA-700 001 (India)

Cable : BOWREAH (CALCUTTA)

Phone : 22-9601

Telex : 021-7749 (FORT)

22-4696

MILLS

BAURIA-DIST, HOWRAA
WEST BENGAL



INDIA'S FIRST COTTON MILLS NOW OFFERS

A-WIDE AND WONDERFUL RANGE OF
PLAIN & PRINTED
SHIRTINGS, POPLINS, CAMBRICS, SAREES
AND DOBBY IN SYNTHETIC BLENDS

Manufacturers & Exporters of :

**Cotton Dress Materials, Casement Cloth
Rotary Prints Etc. In Wash'n Wear Finish**

Largest Suppliers of :

**Sized Beams To The Powerloom Industry
AND**

**Manufacturers of Yarn In Hanks & Cones
Both From Cotton and Synthetic Blends**



मुमुक्षु

सितम्बर १९८२

माता आनन्दमयी

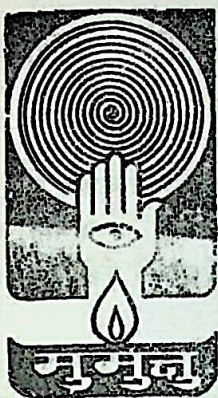
ब्रह्मलोन हुईं



शुक्रवार, २७ अगस्त १९८२ की संख्या, रात्रि का प्रारम्भ, आनन्दमयी आश्रम, किशनपुर (देहरादून), माता आनन्दमयी शय्या पर, विगत तीन मास से अस्वस्थ, अन्न का त्याग, औषधि भी नहीं, तबियत बिगड़ती हुई, चिन्तातुर भक्त माँ के निकट आश्रम में और आश्रम के बाहर। सहसा वज्रपात हुआ, माँ यशः शरीर त्यागकर दिव्यलोक को प्रस्थान कर गयीं। माँ, माँ माँ सब पुकारते ही रह गये, उत्तर मिला माँ को बाहर नहीं अपने भीतर देखो। सचमुच माँ आज देश के जनजन के हृदय में विराजमान हैं।

सारे देश में स्थापित भक्तों के आश्रम, सेवा संस्थान, माँ के बिना सूने रह गये, उनकी स्मृति ही खो गई, वह देश की अन्यतम विभूति थीं। उन्होंने सेवा, तपस्या, साधना और त्याग के माध्यम से देश में आध्यात्मिक चेतना का प्रसार किया। उनके द्वारा स्थापित आश्रम दीन-हीन जनकी सेवा और भगवत् चिन्तन के केन्द्र बने। चिकित्सालय, विद्यालय, देवालय ये सभी आश्रमों के अपरिहार्य अंग हैं। माँ पूर्णतया माँ थीं, औपचारिक शिक्षा-दीक्षा से दूर माँ ने अपने भक्तों को वात्सल्यमय भक्ति प्रदान की। काशी में गंगा तटपर स्थापित माता आनन्दमयी का आश्रम गंगा की धारा में माँ के बिना अपनी छवि विहीन छाया देखता हुआ उदास है। ८७ वर्ष की अवस्था में माँ अपनी काया का त्यागकर दिव्य लोक को प्रस्थान कर गयीं। उनके भक्तों ने रविवार, २९ अगस्त को कनखल आश्रम, हरिद्वार में उन्हें समाधि दी। इस शताब्दी की अलौकिक विभूति अब नहीं रही। 'मुमुक्षु' परिवार माँ की समाधि पर अतिविनीत भाव से श्रद्धा के पुष्प अर्पित करता है।

काशी मुमुक्षु भवन में माता आनन्दमयी के श्रद्धालुओं की एक सभा रविवार, १२ सितम्बर १९८२ को न्यायभूति श्रीचतुर्भुजदासजी पारिख की अध्यक्षता में हुई। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति डा० गौरीनाथ जी शास्त्री ने भावविह्वल हो अभ्युपगम नेत्रों से माँ के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। महा-महोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज मेमोरियल इन्स्टीट्यूट फॉर इण्डियन स्टडीज के सचिव श्रीजगदीश्वर-पाल, 'आज' के सम्पादक, श्रीलक्ष्मीशंकर व्यास, डा० गंगासहाय पाण्डेय, श्रीहेमेश्वरनाथ चक्रवर्ती, श्रीराधेश्याम मिश्र तथा पुरुषोत्तमदास मोदी ने माँ के प्रति भावमयी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। श्रीपारिखजी ने कार्यक्रम का संचालन करते हुए माँ के संस्मरण भी सुनाये।



आध्यात्मिक
तथा
सांस्कृतिक
मासिक

वर्ष १ : अंक १२
आश्विन, सं. २०३९
सितम्बर, १९८२

प्रकाशक

काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी

वार्षिक : पन्द्रह रुपये

एक अंक : डेढ़ रुपया

आजीवन

दो सौ इक्यावन रुपये

‘राम’ नाम का महत्त्व

ब्रह्माभोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वसनं चाव्ययं
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दु सुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा ।
संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनं
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ॥

—रा० च० मा०

राम-नाम रूपी अमृत वेद-रूप समुद्र के मन्थन से उत्पन्न हुआ है। यह काम, क्रोध, मद, मोह आदि कलिमल का नाश करने की शक्ति रखता है। इसमें रिक्तता आती ही नहीं, यह अव्यय है। यह भगवान् शिव के सुन्दर मुख में निरन्तर शोभित रहता है। यह सांसारिक दोष-रूपी रोग की औषधि है। यह केवल सुख प्रदान करता है। माता जानकी का तो यह जीवन ही है। वे पुण्यशील जन धन्य हैं जो निरन्तर इसका पान करते रहते हैं।

श्रीकृष्ण के एक साथ अनेकरूप

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वापित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनाम्
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गः साग्रजः ॥

—भाग०

भगवान् कृष्ण अपने बड़े भाई बलराम के साथ जब कंस की रंगभूमि में आए तब मल्लों (मुष्टिक, चाणूर, शल, तोशल आदि) ने उन्हें वज्र-स्वरूप में, मनुष्यों ने महामानव-स्वरूप में, तरुणियों ने साक्षात् कामदेव-रूप में, गोपों ने अपने स्वजन-रूप में, दुष्ट नृपतियों ने अपने शासक-रूप में, उनके माता-पिता देवकी और वसुदेव ने शिशु-रूप में, भोजराज कंस ने यमराज-रूप में, अंजों ने विराट्-रूप में, योगियों ने परतत्त्व-रूप में और वृष्णिवंशियों ने अपने परदेवता के रूप में देखा ।

इस अङ्क में

'राम' नाम का महत्त्व	१
प्रथम समुद्रयात्रा की उपलब्धियाँ	
श्री रामनारायण उपाध्याय	२
आर्यों की स्वदेशोपासना	३
विज्ञान, शक्ति और पवित्रता	
डा० राधाकमल मुखर्जी	५
चिदानन्द-शक्ति गायत्री	११
जैनधर्म में मोक्ष का स्वरूप	
श्री विनोदकुमार तिवारी	१३
राजधर्म का आदर्श	१५
हर पंक्ति एक मंत्र	१८
गीता का चातुर्वर्ण्य : एक क्रान्तिकारी दृष्टि	
श्रीमहेन्द्रकुमार मोहता	१९
देह माटी की महकती	२२
व्यक्ति और मान्यता	
श्रीपुरुषोत्तमदास हलवासिया	२३
श्रीकृष्ण जन्म स्थान स्मारिका	समीक्षा २४
वेदान्त : एक जीवन दर्शन	
श्रीमती शारदा-शारस्वत	२६
काशी मुमुक्षु भवन समा-समाचार	२९

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से मुमुक्षु भवन काशी मुमुक्षु भवन समा का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

लेखकोंसे—'मुमुक्षु' में प्रायः धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रचनाएँ ही प्रकाशित की जाती हैं। ये रचनाएँ साहित्य की किसी भी विधा में हो सकती हैं। अतः लेखकों से निवेदन है कि वे अपने पास प्रतिलिपि रखकर ऐसी ही रचनाएँ भेजें। अस्वीकृत रचनाओं को लौटाने में हम असमर्थ हैं। स्वीकृत रचनाओं की सूचना पन्द्रह दिनों के भीतर भेज दी जाती है।—सम्पादक

प्रथम समुद्रयात्रा की उपलब्धियाँ

श्री रामनारायण उपाध्याय

समुद्र मंथन की घटना वास्तव में आर्यों और अनार्यों की प्रथम समुद्रयात्रा का वर्णन है। प्राचीन भारतीय साहित्य में हर बात रूपक शैली में कही जाती है। यह भी एक ऐसा ही रूपक है।

कहते हैं, पहली बार आर्यों और अनार्यों ने समुद्रयात्रा का निश्चय किया, तो उनके सामने जहाज बनाने का प्रश्न आया। चूँकि अनार्य हृदय-पुष्ट एवं परिश्रमी थे अतएव जहाज बनाने के लिए वे मंदराचल पर्वत से इतनी लकड़ी काटकर लाये कि समुद्र के किनारे लकड़ियों का पहाड़ खड़ा हो गया, फिर आर्यों की सूझबूझ और अनार्यों की मेहनत से एक विशालकाय जहाज बनकर तैयार हो गया।

जब उसे समुद्र में उतारा गया तो वह ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो साक्षात् मंदराचल पर्वत समुद्र में तैर रहा हो और उसमें बैठे पंक्तिबद्ध मानवों की कतार अपनी-अपनी पतवारों से उसे खेते समय ऐसी लग रही थी मानों जनसमुद्र की रस्सी से मंदराचल पर्वत के द्वारा समुद्र का मंथन किया जा रहा हो।

चूँकि अनार्य सरल-सीधे स्वभाव के थे अतः वे सामने के हिस्से में बैठकर उसे खेने लगे तो इसी से उनका शरीर सूर्य-किरणों से काला पड़ गया। इसे ही शेषनाग को मुँह की ओर से पकड़ना कहा गया है। और, आर्य चतुर-चालक होने से पीछे की ओर सुरक्षित स्थान पर बैठे। इसे ही शेषनाग की पूँछ की ओर से पकड़ना कहा गया है। इस यात्रा में उन्होंने अनेक द्वीपों की खोज की, और वहाँ उन्हें बहुमूल्य सामग्री प्राप्त हुई। उन्हें ही समुद्र मंथन से प्राप्त चौदह रत्न कहा जाता है।

कहते हैं, इस यात्रा में उन्हें किसी द्वीप से 'कौस्तुभ मणि' जैसे बहुमूल्य हीरे-जवाहर और रत्न मिले। कहीं से पांचजन्य जैसे शस्त्र मिले। कहीं से 'ऐरावत' जैसे विशालकाय हाथी मिले। कहीं से कामधेनु की तरह गायें

[शेष पृष्ठ १० पर]

आर्यों की स्वदेशोपासना

श्रीरतनलाल जोशी

भारतीय संस्कृति का केन्द्र-बिन्दु है व्यक्ति। व्यक्ति-रूपी बीज सुन्दर-सुगन्धित पुष्पों में खिले और अमृतोपम फलों में फले, भारतीय संस्कृति की सब से बड़ी सिद्धि यही रही है। अथर्व के 'वचस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम्' से लेकर 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' की कल्पना तक व्यक्ति के सर्वांगपूर्ण निर्माण की ही योजना है। अथर्ववेद का व्यक्ति बड़े गर्व के साथ घोषित करता है—'यथा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः' अर्थात् 'जगत् के सारे तत्त्वों में सब से अधिक यशस्वी तत्व मैं हूँ।' यह 'व्यक्ति' अथवा 'पुरुष' 'शतपथ ब्राह्मण' में जाकर तो और भी ओजस्वी हो जाता है। परमेश्वर के साथ पुरुष की तुलना करते हुए वह कहता है—'पुरुषा वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' अर्थात् 'पुरुष प्रजापति (परमेश्वर) के अत्यन्त समीप हैं।'।

प्रजापति के प्रतिरूप इस व्यक्ति के दो उपास्य रहे हैं—सत्य और स्वदेश। सत्य परम काम्य है और वैसे ही स्वदेश भी। सत्य जहाँ उसके जीवन का ध्रुवतारा है, वहाँ स्वदेश उसके लिए सत्यदर्शन की कर्मभूमि। सत्य की रक्षा के लिए प्राचीन आर्य सर्वस्व का त्याग करने को तत्पर रहता है, वहाँ स्वदेश की रक्षा के लिए भी वह प्राण तक होम देता है।

आर्यों के संकल्प में स्वदेश केवल जननी-जन्मभूमि या पूर्वज-भूमि ही नहीं है, वह उसके लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के परम फलों की फसल पैदा करनेवाला उर्वर खेत भी है। इस खेत पर आर्यों को गर्व है—

धन्यास्ते भारते वर्षे जायन्ते ये नरोत्तमाः।

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्नुवन्ति महाफलम् ॥

—वे धन्य हैं जो भारतवर्ष में जन्म लेते हैं, क्योंकि

इस कर्मक्षेत्र में वे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के सारे परमफल प्राप्त करते हैं (ब्रह्मपुराण)

कर्मदर्शन को जीवन का मूल मानने वाली जाति स्वभावतः स्वातन्त्र्य-प्रिय जाति होती है। कर्मयोग और स्वातन्त्र्य का आन्धोन्याश्रम सम्बन्ध है।

वैदिक साहित्य में स्वदेश के पर्यायवाची हैं—पृथिवी, भूमि, मातृभूमि, राष्ट्र और स्वराज्य। 'यजुर्वेद' में आकाश को पिता और पृथिवी को माता के रूप में पूजा गया है—'द्यौर्मै पिता पृथिवी मे माता—'आकाश मेरे पिता और पृथिवी मेरी माता है।' मातृरूपा यह पृथिवी प्राचीन आर्यों के लिए जड़ पदार्थ नहीं है। आजीवन पोषण और शरण देनेवाली माँ निर्जीव पदार्थ कैसे हो सकती है? उपकारों से दूढ़, कृतज्ञ आर्यों के सामने यह प्रश्न सदैव प्रज्वलन्त रहा है। माँ के ममत्व को स्मरण करता हुआ अथर्ववेद का किसान मातृभूमि से अनुनय करता है—

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।

मा ते ममं विमृश्वरि मा ते हृदयमपिपम् ॥

—माँ-धरित्री, मैं तुम्हें जहाँ से भी खोदूँ, तुम्हारा वह अंग हरा-भरा हो जाए। मैं तुम्हारे मम पर आघात न करूँ, मैं तुम्हारे हृदय को संतप्त न करूँ।

माता-पुत्र के ममत्व सम्बन्ध को नीचे के मंत्र में और भी मार्मिकता से स्पष्ट किया गया है। मातृभूमि का स्वरूप-निदर्शन करते हुए वेदकालीन आर्य कहता है—

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥

—अश्विनो ने जिसे नापा और विष्णु ने जहाँ विचरण

किया, वह माता भूमि मुझे इस प्रकार दुध पिलाये जैसे मैं अपने बालक को पिलाती है ।

उपर्युक्त उदाहरण पृथिवी-सूक्त का है । पृथिवी-सूक्त अथर्ववेद का अत्यन्त सरस एवं राष्टानुराग-प्रेरक काव्यांग है जिस में अन्नपूर्णा पृथिवी की महिमा का स्तवगान है । अथर्वा ऋषि-प्रणीत इस सूक्त के ६३ मंत्रों में तत्कालीन आर्य-नागरिकों के स्वदेश-प्रेम की अति उदात्त उद्गार-स्रोतस्विनी है । मातृभूमि के रूप, उसके उपकार, उसकी उदारता के साथ-साथ उसकी रक्षा की भी प्रतिज्ञाएँ हैं । अथर्ववेद का आर्य पृथिवी से गो, अन्न, मणि, रत्न, आरोग्य आदि के साथ शत्रुओं के विरुद्ध संरक्षण भी माँगता है । इस सर्वदात्री मातृभूमि के लिए वैदिक सर्वस्व त्याग करने को तत्पर रहता है—

“.....प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम”

—‘हे माता, मैं तेरे संरक्षण के लिए सदैव जागरूक हूँ और तुझ पर सर्वस्व अर्पण करने के लिए तैयार हूँ।’

स्वातन्त्र्य-प्रेम के साथ शौर्य अनिवाय रूप से सम्बद्ध है । स्वातन्त्र्य पग-पग पर अपनी कोमत माँगता है । पराक्रम के अटल संकल्प पर उस की नींव होती है । प्राचीन आर्य स्वतन्त्रता के चरदानों से परिचित थे । स्वतन्त्रता के तट पर बैठ कर वे ऐश्वर्य एवं यश-कीर्ति के घूँट पी चुके थे । स्वातन्त्र्य की छाया में उन्होंने भौतिक श्री के साथ-साथ आत्मा का श्रेय भी प्राप्त किया था । ऐसे कल्पवृक्ष को वे नीरोग और अविच्छिन्न ही नहीं रखते थे, उसे उत्तरोत्तर हरा-मरा और फलवान् रखने का प्रयत्न भी वे करते रहते थे । स्वदेश और स्वतन्त्रता—जड़ और चेतन्य—को एकरूप करके उन्होंने स्वराज्य की आवतारणा की । आर्यों के लिए स्वराज्य जहाँ साकार भूगोल था, वहाँ वह परात्म-तत्त्व का निराकार प्रतीक भी था । ऐसे स्वराज्य का उपासक आर्य चुनौती देते हुए कहता था—

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्वनं

न मृत्यवेवतस्थे कदाचन ।

—मैं साक्षात् इन्द्र हूँ । मेरा वैभव कौन छीन सकता है ? मेरा निर्माण मृत्यु के लिए नहीं हुआ, मैं अजरामर हूँ ।

अपने स्वराज्य के रक्षार्थ आर्य सदैव जागरूक रहते थे । वेदों में स्वातन्त्र्य-रक्षार्थ आर्यों के युद्धों का सांगोपांग विवरण है । ऋग्वेद के छठे मण्डल में ७५ वें सूक्त के अंतर्गत आर्यों के विषय शस्त्रों एवं रण-कौशल का अत्यन्त प्रेरक वर्णन है । आर्य ऐसे पुत्रों की कामना करते थे जो वीर हों और शत्रुनाश में, उनकी सहायता करें—‘सुवीरा-वयम् जयेम’ और ‘मम पुत्राः शत्रुहणः’—प्रार्थनाजलियों में यह अमिलाषा स्पष्ट है । पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी इन युद्धों में भाग लेती थीं । खेल ऋषि की पत्नी विश्वला अपने पति के साथ रणांगण में गयी थी । युद्ध करते-करते उस का एक पैर टूट गया था । वृत्र की माता दनु भी युद्ध में गयी थी और उसे इन्द्र के हाथों वीर-गति मिली थी । नमुचि ने तो स्त्रियों की एक टुकड़ी ही सुसज्ज कर रखी थी जो देवासुर-संग्राम में लड़ी थी ।

प्राचीन आर्यों के लिए राष्ट्र-रक्षा केवल स्वजाति या स्वधर्म रक्षा की ही सार्थकता नहीं थी । वह उस के लिए ऋषि-ऋण चुकाने वाली तपस्या थी ।

आर्य-धारणा के अनुसार ऋषियों ने आदिकाल में तपोबल से राष्ट्र का निर्माण किया था, उसे धन-धान्य एवं बल-विक्रम से अनुशाणित किया था । अथर्ववेद में इस का उल्लेख है । पुराण और काव्य-साहित्य में भी इस ऋषि-ऋण को सर्वोपरि दायित्व माना है ।

‘तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।’.....तप के द्वारा ही राजा राष्ट्र-रक्षा में समर्थ है । आर्यों का यह दृढ़ विश्वास था । वेदों में वर्णित राजतन्त्र में ऐसे तपोव्रती व्यक्ति को ही गणाध्यक्ष या राजा चुना जाता था । ऋग्वेद में स्पष्ट है—‘वयं तद्वः सम्राज आवृणीमहे पुत्रो न बहुपाय्यम्’ अर्थात्, ‘हे देव, हम आप को राजा वरण करते हैं, क्योंकि आप पुत्रवत् प्रजा की रक्षा करते हैं ।’ कालिदास के ‘रघुवंश’ में तो इस भावना को चरमोत्कर्ष मिला है—

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि ।

स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥

—प्रजा को सदाचरण-शिक्षण देने, उसकी रक्षा करने

[शेष पृष्ठ १७ पर]

विज्ञान, शक्ति और पवित्रता

डा० राधाकमल मुखर्जी

[गतांक से आगे]

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि कुछ तन्त्रों में शरीर के भीतरी अवयवों के सूक्ष्म स्पन्दनों, प्रवृत्तियों तथा इच्छाओं और उनसे भी ऊँची मानसिक अवस्थाओं का खास-खास शक्तियों एवं देवियों के रूप में विस्तृत एवं सर्वांगपूर्ण वर्णन मिलता है। इन्द्रियों तथा इच्छाओं के विषयों का, जिनके सम्बन्ध में मनुष्य साधारण व्यवस्था चाहता है, एक आदर्श और भावमय रूप हो जाता है। इस प्रकार इन्द्रियों की, मनोभावों की और इच्छाओं की देवियाँ स्वयं इच्छाओं और प्रवृत्तियों को पूर्ण करती हैं, काम-विकार तथा अहंकार की वृत्तियाँ जो हृदय को इतना व्यथित कर देती हैं, इस आदर्श भूमिका में पहुँच कर पूरी तौर से चरितार्थ हो जाती हैं। शास्त्र कहते हैं—‘देवो भूत्वा यजेद्देवम्’, अर्थात् साधक भिन्न-भिन्न देवियों की उपासना तद्रूप होकर करे और उस भाव को पूरी तौर से अपना ले, जिस भाव की अभिव्यक्ति उपास्य देवी के अन्दर हो रही है। मन्त्रशास्त्र में भिन्न-भिन्न देवियों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मनोभावों और मनोवृत्तियों का विधान किया गया है। जो साधक किसी विशेष आचार अथवा प्रक्रिया के अनुसार विशेष प्रकार का आचरण करता है उसको देवी के यहाँ से उसी के अनुसार उत्तर मिलता है। इस प्रकार देवी और साधक के बीच एक प्रकार का परस्पर व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिससे अन्त में चलकर क्रमशः मानसिक सन्तोष और समता आ जाती है। फिर साधक को मूर्तियाँ अथवा भावमय पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं जो उसके धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार उसके मनोभावों तथा संकल्प से बनते हैं। ये बायस्कोप के

चित्रों की भाँति त्वरित गति से उसके सामने नहीं आतीं, जिस प्रकार स्वयं साधक के मस्तिष्क की कल्पनाएँ सामने आती हैं। यहाँ मूर्तियाँ मिल कर एक विचित्र आकार-प्रकार धारण कर लेती हैं और चेष्टापूर्वक निर्धारित किये हुए ढंग पर सजायी जाती हैं। इस प्रकार मनोराज्य में मूर्तियों का ध्यान एवं भावना करने से साधक को आनन्द और शान्ति का अनुभव होता है। उसकी अन्तश्चेतना पूजा और ध्यान की विधि से निश्चित की हुई एक विशेष प्रणाली में प्रवाहित होती है और वहाँ उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। अब तक व्यक्तिगत समागम का जो भाव इतना सुस्पष्ट और घनिष्ठ था वह धीरे-धीरे शिथिल होने लगता है। उसके स्थान में अब उच्च कोटि के ध्यान और विवेक का उदय होता है और अन्त में जा कर साधक की आत्मा उसकी विचारधारा अथवा पूर्व के संस्कारों के अनुसार निराकार अथवा विश्वरूप में लय हो जाती है।

जो लोग क्रियाकलाप के विशद विस्तार तथा उपासना की विधि से पूर्णतया परिचित नहीं हैं उनको ऊपर के बताये हुए सिद्धान्तों का रहस्य समझाना कठिन ही नहीं, असम्भव होगा। फिर भी ‘तन्त्रराज-तन्त्र’ में दिये हुए विधान का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है, जिससे इन तत्त्वों का किंचित् स्पष्टीकरण हो सकेगा। उस पद्धति के अनुसार जिस यन्त्र की पूजा की जाती है उसे मानव-शरीर और विश्व ब्रह्माण्ड तथा मनुष्य (वस्तुतः जो कुछ पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है, और जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है।) एवं ब्रह्म—शक्ति, आकार अथवा आत्मा का भी प्रतीक माना जाता है। इस प्रकार वह यन्त्र भगवती महामाया के निज-स्वरूप और विश्वरूप

का प्रतीक है। यन्त्र में नौ त्रिकोण और वृत्त एक के भीतर एक इस प्रकार बैठे हुए होते हैं और केन्द्र में एक बिन्दु होता है। यह केन्द्र ही भगवती महामाया का रूप है जो व्यष्टि में आत्मरूप से और विश्व में परमात्मरूप से विद्यमान है। त्रिकोणों के कोणों में तथा उनको विभाजित करने से जो दूसरे कोण बनते हैं, उनमें उन खास-खास देवियों का निवास है जो मन और प्राण की विविध क्रियाओं तथा व्यापारों की अभिव्यक्तियाँ हैं। इन शक्तियों की सूची के देखने से ही इस बात का पता चल जायेगा कि इस यन्त्र के द्वारा किन-किन बातों का संकेत किया गया है और उस सांकेतिक प्रक्रिया का क्या स्वरूप है। इस सांकेतिक प्रक्रिया से यन्त्र साधक को एक विशुद्ध मनोवृत्ति का रूप धारण कर लेता है। स्वयंसाधक ही यन्त्र बन जाता है तथा ध्यान की व्यावहारिक प्रक्रिया और शास्त्रविहित संयम एवं साधना के द्वारा वह अपने को इसी रूप में अनुभव भी करता है। उदाहरणार्थ, जब साधक अनेक शक्तियों से घिरी हुई रेखाओं, वृत्तखण्डों, त्रिभुजों और कमलदलों पर ध्यान जमाता है तो वह और-और वस्तुओं के साथ-साथ पाप और पुण्य, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, आसक्ति, हठ को साकार शक्तियों, मन और इन्द्रियों, नाड़ियों, प्राण, वायु और प्राणियों की देह-भेद रहने वाली अग्नि, अहंकार, ज्ञान, धृति और स्मृति की देवियों, शब्द, स्पर्श, दृष्टि, स्वाद, घ्राण की देवियों तथा आनन्द, त्याग, एकाग्रता और वैराग्य की देवियों, विश्व-चेतना और विश्व-संवेदन की देवियों, पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड के उपादानों को देवियों और अन्त में ब्रह्म अथवा माया-महेश्वर का ध्यान करता है और विश्वव्यापक शक्ति का ही नाम है और जिसमें सारे भूत प्राणी जीवन धारण करते हैं और जिसके द्वारा सबका संचालन होता है। शास्त्रविहित पद्धति से पूजा कर चुकने पर साधक को चाहिए कि वह अपने को भगवती के तुल्य—नहीं, नहीं, अपने को उनका स्वरूप ही समझे। ध्यान में बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् में प्रवेश करना होता है। मूर्ति पहले तो स्थूल होती है, इसके अनन्तर उसकी शब्द के रूप में अभिव्यक्ति होती है और अन्त में जब पूजा और पूजा का फल उसके चरण में चढ़ाया जाता है तब वह निराकार हो जाती है। इस अवस्था में ज्ञाता,

ज्ञान और ज्ञेय एक-रूप हो जाते हैं। अब उपासक आत्मरूप हो जाता है, वह देवीस्वरूप बन जाता है, वह अपनी ही पूजा करता है। उसका शरीर, जो पराशक्ति का बाना धारण कर लेता है अनन्त विश्व, अखण्ड ब्रह्माण्ड बन जाता है। यन्त्रों को सामने रख कर जो शब्द बार-बार दुहराये जाते हैं, उनसे भी जीवात्मा और विश्वात्मा की एकता का बोध होता है। वे शब्द इस प्रकार हैं—‘आहुति ब्रह्म है, हव्य-पदार्थ भी ब्रह्म है, ब्रह्म-रूप होता ही आहुति छोड़ता है। जो ब्रह्म को आहुति देने में तन्मय हो जाता है, वही ब्रह्म-सायुज्य को प्राप्त होता है।’

इस सम्प्रदाय में ईश्वर शक्तिरूप है और जगदम्बा के रूप में प्रकट होता है जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों तथा चराचर जीवों को अनन्त आकाश में उत्पन्न करती, पालन करती है और अपने अनन्त गर्भ में समेट लेती है। वह आधार भी है, शक्ति भी है। फिर भी वह देश और काल से परे है। वह सबसे परे है और उसका परात्पर रूप जाना नहीं जा सकता। तन्त्रयान नामक बौद्ध-सम्प्रदाय में ‘निर्वाण’ ‘निरात्मा देवी’ के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। उपासक अपनी संज्ञा और ज्ञान को मिटा कर देवी के अन्दर उसी प्रकार लीन हो जाता है जैसे नमक का पुतला समुद्र में घुल जाता है। बौद्धों के ‘महासुख-तन्त्र’ में साधन-रूप ‘देवता’, जिसका स्वरूप ‘करुणा’ है, अपनी वधू ज्ञानरूप ‘महायोगिनी’ के साथ संयुक्त हो जाता है—जो वस्तुतः शून्य है। इन दोनों का जो एक रूप है, उसके चारों ओर छोटी-छोटी अनेक देवियाँ हैं जो परमेश्वर के ही अंग हैं और ध्यान के द्वारा उसी में लीन कर दी जाती हैं। इस प्रकार मातृ-पूजा के सम्प्रदाय में ईश्वर के विश्वरूप तथा अलौकिक रूप—दोनों के सिद्धान्तों का अन्तर्भाव हो गया है, जिनसे उपासक के हृदय की तृप्ति नहीं होती थी। किन्तु उत्पादिका शक्ति के रूप में भगवती महामाया सदा एकरस रहने वाले परात्पर तत्त्व का सक्रिय विश्वात्मक रूप है। इस रूप में उसकी पूजा करने में सभी रूपों और आकारों की पूजा हो जाती है।

“हे देवी ! मुझ पर दया करो । तुम्हीं से सारे पदार्थों और आकारों की उत्पत्ति होती है और तुम्हीं सबका

आधार हो, तुम्हीं भौतिक जगत् का रूप धारण करने वाली क्रियाशक्ति हो, जीवमात्र का जीवन हो। सत्ता ही तुम्हारी तुम्हारा स्वरूप है और इच्छा ही क्रियारूपिणी है। तुम क्या हो और क्या करती हो यह हम लोग नहीं समझ सकते, शब्द और आकाश के रूप में तुम्हें नमस्कार। स्पर्श और वायु के रूप में तुम्हारे चरणों में प्रणाम। सृष्टि और अग्नि के रूप में तुम्हारे चरणों में प्रणाम। रस और जल के रूप में तुम्हारे चरणों में प्रणाम। गन्ध-गुणवाली पृथ्वी के रूप में तुम्हें प्रणाम। श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा एवं नासिका के रूप में तुम्हें नमस्कार। मुख, भुजा, चरण और गुह्येन्द्रियों के रूप में तुम्हें प्रणाम। बुद्धि, अहंकार और मन के रूप में तुम्हें प्रणाम। समस्त विश्व के रूप में तुम्हें बार-बार नमस्कार।

आधुनिक विज्ञान की कृपा से अब हम इस सिद्धान्त से परिचित होते जा रहे हैं कि संसार की प्रत्येक वस्तु, उदाहरणतः तितली के पंखों के रंग अथवा बहुत सारी मछीन, किसी अति सुन्दरी रमणी के पवित्र विचार अथवा किसी गिरजाघर का तोप से उड़ाया जाना—यह सब कुछ शक्ति के एक रूप का दूसरे रूप के साथ सम्बन्धमात्र है। नर-नारी, कीट-पतंग, खाद्य-उदार्थ, पृथिवी और नक्षत्र—ये सब-के सब शक्ति के सर्वव्यापी और दुर्निवार नृत्य में उलझे हुए हैं। आजकल मनुष्य सर्वत्र इस जड़-जगत् और मानव-प्रकृति का जो उसे ज्ञान है उसके अनुसार वस्तु-तत्त्व को अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है।

वैज्ञानिक प्रक्रिया का उद्देश्य वस्तु-तत्त्वों का वर्गीकरण, उनके पारस्परिक सम्बन्धों तथा क्रमों की तुलना और अन्त में जाकर कुछ संक्षिप्त सूत्रों अथवा नियमों का रच लेना है, यद्यपि ये नियम ऐसे नहीं होते जिन्हें मानने के लिए प्रकृति की क्रियाएं बाध्य हों। ठीक जैसा मि० हाबसन ने कहा है, जहाँ तक प्राकृतिक विज्ञान से सम्बन्ध है यह कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है कि किसी एक नियम के साथ-साथ उसी के अनुरूप प्रकृति के अन्दर रहने वाला एक निश्चित सम्बन्ध-समूह भी होता है। प्राकृतिक विज्ञान को लेकर इस बात की कल्पना करने की तो और भी कम आवश्यकता है कि उस-उस नियम के अनुरूप वस्तु-तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्धों का भी एक समूह होता है। विज्ञान ज्यों-ज्यों

उन्नति करता जाता है त्यों-त्यों वह अधिक सूक्ष्म होता जाता है। क्रमशः उसका रूप भावनात्मक व्यवस्थामात्र रह जाता है, जो सूक्ष्मीकरण की एक ऐसी प्रक्रिया से उपलब्ध होती है जिसमें हमारे सिद्धान्तों के कुछ अंशों का बहिष्कार हो जाता है और उन पर ध्यान नहीं दिया जाता। इस प्रकार विज्ञान और धर्म में कोई विरोध नहीं रह जाता। इतना ही नहीं, जिस समय ये दोनों ही आगे बढ़ कर सांकेतिक भावों में परिणत हो जाते हैं, इनमें सर्वथा सामंजस्य और मेल हो जाता है। विज्ञान में एक प्रकार के तत्त्वों का निरूपण है और धर्म में दूसरे प्रकार के तथ्यों का। विज्ञान और धर्म की प्रारम्भिक अवस्थाओं में दोनों के सिद्धान्तों के स्वरूप तथा श्रेणी में अवश्य भेद रहेगा—दोनों सर्वथा भिन्न प्रतीत होंगे, परन्तु आगे चलकर जब उनके द्वारा सूक्ष्म तत्त्वों का विवेचन होता है उस समय प्राकृतिक विज्ञान तथा धर्म एक ही प्रकार के संकेतों के द्वारा वस्तु-तत्त्व का निरूपण करते हैं। वस्तु-तत्त्व के सम्मुख विज्ञान और धर्म दोनों मूक और निःसहाय हो जाते हैं। ईश्वर को उत्पादिका-शक्ति के रूप में पूजने की जो भावात्मक पद्धति है वह वैज्ञानिक विचार-धारा से बहुत अधिक मेल खाती है, क्योंकि विज्ञान तो इसी बात पर जोर देता है कि जड़-प्रकृति-शक्ति का ही रूपान्तर है तथा सजीव एवं निर्जीव सभी पदार्थों की प्रत्येक क्रिया उस आणविक शक्ति का ही एकतम रूप है, जिसके द्वारा यह शून्य व्याप्त है। विज्ञान सत्तामात्र को 'शक्ति' का ही विभ्रम-विलास मानता है। धर्म का भी ठीक यही सिद्धान्त है, यद्यपि उसकी भावना अधिक व्यापक है। विज्ञान की दृष्टि में शक्ति एक अन्धप्रवाह है जो मनुष्यजीवन के मूल्य तथा महत्व का कुछ भी ख्याल नहीं रखता। धर्म में ईश्वर शक्ति-रूप में समस्त गुणों की मूर्ति है। भारतीय भाषाओं में समस्त मानवीय गुणों और भावों को स्त्री-रूप में व्यक्त किया गया है। वे सभी पदार्थ जिनके लिए स्त्रीवाचक शब्दों का प्रयोग हुआ है, भगवती शक्ति के ही रूप हैं।

इस प्रकार शक्ति-रूप में ईश्वर सृष्टि को उत्पन्न करता है, पालन करता है और संहार करता है। जिस समय समस्त जीव और व्यक्त जगत् मूल अन्धकार में लीन हो जाते हैं, उस समय सर्वव्यापक अनन्त के प्रवाह में बहते

हुए विश्व-ब्रह्माण्ड की अनन्त नीरवता में वही विद्यमान रहती है। जिस शब्द ने सर्वप्रथम विश्व में प्राण का संचार किया वह शब्द भी उसी का रूप है। प्रकाश और अन्धकार की भाँति दिन में उसके अघर खुल जाते हैं और रात्रि में मुकुलित हो जाते हैं। उसका माल चन्द्रमा से सुशोभित है। विश्व के अनन्त आकाश में उदीयमान सहस्र सूर्यों का-सा उसका तेज है। उसकी अगाध कुक्षि में अनन्त आकाश में रहनेवाले अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अन्तर्हित रहते हैं। यही नहीं, मानवीय मनोभावों, अभिलाषाओं और सिद्धियों के रूप में जीवन का आन्तरिक अभिप्राय भी वही है। इस प्रकार वह मनुष्य को अज्ञान के बन्धन से मुक्त कर देती है। मुक्ति देने के समय वह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हो कर रहती है। उसका शरीर ही समस्त विज्ञान और दर्शन स्वरूप है। परन्तु विश्व के रहस्य की भाँति उसका मन परम गहन एवं अचिन्त्य है। इस प्रकार तत्त्वदर्शी ऋषि उसकी अज्ञेयरूप में उपासना करते हैं। ऐश्वर्यदायिनी के रूप में वह त्रिभुवन की निधि से सुसमृद्ध रहती है। देवालयों और गिरजाघरों के मण्डपों में, रमणियों के वस्त्राभरणों में और घरों की सजावट में यह कला के रूप में रहती है। प्रेम के उल्लास में वह स्मेरमुखी विकसितयौवना मुग्धांगना के रूप में विद्यमान रहती है। उसके दसोले मदमरे नेत्र प्रेम के उन्माद में थिरकते हैं और वह मदिरा की प्याली हाथ में लिये मस्त हो कर झूमती है। सौन्दर्य के विकास की क्रिया भी वही है और वे समस्त ललित कलाएँ एवं प्रसाधन जो जीवन को मधुर, सुन्दर और आनन्दमय बनाते हैं, उसी के रूप हैं। काम भी उसी का रूप है। पारिवारिक सुख के रूप में भी वही दृष्टिगोचर होती है। मिल्न-मिल्न जातियों, व्यवसायों और जीवन-निर्वाह के साधन भी वही बनी हुई है। वही जगज्जननी है, जो मानव-जगत् में शान्ति, आनन्द, सौन्दर्य और सुख-समृद्धि का रूप धारण किये हुए है।

ईश्वर मंगलमय है, कल्याणमय है। जगदम्बा की प्रार्थना का साधारण-से-साधारण रूप जो हमें धर्म के द्वारा मिलता है, वह इस प्रकार है — 'मां तुम कल्याणमयी हो, कल्याणदायिनी हो। तुम्हीं सब कामनाओं और अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाली हो।' अनन्त आकाश में ब्रह्माण्ड-

रूपी कमल इतस्ततः तैरते रहते हैं और अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की जननी आदि-शक्ति उनके अन्दर निवास करती है।

ईश्वर ही सनातन कुमारो है, जो खिले हुए कमलों के गुच्छे के समान नवीन और कोमल है और जिसके नेत्र-रूपी कमल विश्वरूप जल में तैरते रहते हैं। यह मनुष्यों की ओर प्रेमपूर्ण एवं करुणामयी दृष्टि से देखती है और उसकी वाणों में सन्ध्याकालीन मन्द-मन्द, वायु का सुकोमल संगीत मरा हुआ है। जब मनुष्य की आँखें उसकी आँखों के स्पर्श में आती हैं और उसके अघर मनुष्य के अघरों पर थिकरने लगते हैं, तब वह उसकी आत्मा को अपने में और अपनी आत्मा को उसके अन्दर देखने लगता है। यहाँ तक कि उसका पुरुषभाव भी मिट जाता है और संसार के सभी पदार्थ मधुर और कोमल हो जाते हैं।

माता का स्नेह भी ईश्वर का ही रूप है। सभी संकटों में मनुष्य अपनी छोटी-छोटी भुजाओं से माता के गले में लिट कर उसकी गोद में एक मुग्ध शिशु की भाँति निश्चित हो कर सोता है और उसकी अलकावली समयरूप वायु में फहराती रहती है।

ईश्वर आदि-जननी है। जब उसका विश्व नृत्य प्रारम्भ होता है तब उसके श्याम चिकुर बिखर कर असंख्य सूर्य-रहित आकाशों का रूप धारण कर लेते हैं। बड़े-से-बड़े सूर्य से लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र परमाणु तक सब कोई अनेक प्रकार के पैतरे बदलते हुए उसके साथ नाचते रहते हैं। उसके चंचल चरण सभी स्थानों को व्याप्त किये रहते हैं और जब वह पैतरा बदलती है, उस समय उस स्थान और समय के परिवर्तन के साथ-ही-साथ दहकते हुए स्फूर्लिंग आकाश-मार्ग में अनिश्चित रूप से भिन्न-भिन्न गति से घूमने लगते हैं, चक्कर काटने लगते हैं।

माता के रूप में ईश्वर उत्पादिका-शक्ति है, जो मन और जड़-प्रकृति में, नहीं-नहीं, आकारमात्र में तथा सौन्दर्य और वाणों में व्यक्त है। शक्ति-रूप में वह शक्ति को प्रेरित करती है, माता के रूप में वह त्याग की, आत्मोत्सर्ग की,— बीज के लिए वृक्ष के आत्मोत्सर्ग की, बच्चों के लिए जीवनमात्र के उत्सर्ग की, सन्तान और मनुष्यमात्र के लिए मनुष्य के उत्सर्ग की, समाज के लिए जातियों के उत्सर्ग

की और मावी सन्तति के लिए समाजों के उत्सर्ग की प्रेरणा करती है।

उत्पादिका-शक्ति के रूप में ईश्वर प्रकाश है, व्यक्त ऊष्मा है, आकर्षण है, वह विद्युत्-प्रवाह है जिसमें अशेष ब्रह्माण्ड बहुते रहते हैं। दिव्य प्रेम तथा बोध भी वही है, वही विश्व की योनि है। उसी से विविध देश, काल और शक्ति का आविर्भाव होता है, वह उसका मूल उत्स है — वहीं से विविध तेजोमय अथवा धूम्रवर्ण विश्वों तथा विविध मानासक एवं स्थूल भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

ईश्वर का शक्ति रूप कभी-कभी बहुत भीषण और भयावना होता है। वही युवक के हृदय में प्रेम को जागृत करती है और वही अपनी सर्वोपरि एवं स्वतन्त्र इच्छा से उसकी प्रेयसी को छोन लेती है। संहारिणी शक्ति भी वही है। क्रोध के आवेश में जब वह उत्तेजित हो उठती है तो प्रखर तेज से युक्त सूर्य भी सौरमण्डल से इस प्रकार च्युत हो जाते हैं जैसे वृक्षों से पत्तियाँ झड़ जाती हैं। उसकी विकराल आकृति को देख कर भिन्न-भिन्न प्रकार की वन-स्पतियाँ और जीव, समाज और संस्कृतियाँ उसके सर्वांगीसी मुख में प्रवेश कर जाती हैं। ईश्वर ही इन्द्रियों के द्वारा गुंथे हुए फूलों के हार का धागा है और इन्द्रियों की प्रत्येक क्रिया उसी को इस माला का उपहार चढ़ाती है।

ईश्वर को मन और जड़-प्रकृति के भीतर ओतप्रोत मान लेने पर इन्द्रियों के विषय और भोग दोनों पवित्र हो जाते हैं। वे ईश्वर के शरीर के ही अंग बन जाते हैं और परम पवित्र एवं श्रद्धा की वस्तु हो जाते हैं। इसी प्रकार धार्मिक भाव में भोगमात्र में ईश्वरार्पण-बुद्धि हो जाती है, सारे सुख ईश्वर के प्रसादरूप बन जाते हैं और सारे कर्म यज्ञरूप हो जाते हैं। काम की उस प्रबल उन्मादिनी शक्ति का भी, जिससे वैराग्य सदा दूर भागता है, रूपान्तर हो जाता है। यदि यह सच है कि मनुष्य के मनोभावों और संकल्प की अस्थिरता का उसके मिथुन-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा यदि यह भी सच है कि पुरुष का स्त्री के साथ अथवा स्त्री का पुरुष के साथ घनिष्ठ-से-घनिष्ठ सम्पर्क हुए बिना दोनों में से कोई भी अपनी मनोवैज्ञानिक उन्नति को चरमावस्था को नहीं पहुँच सकता तो धर्म में पति-पत्नी-सम्बन्ध की अवहेलना नहीं होनी चाहिए। बल्कि एक

व्यावहारिक धर्म में तो पति-पत्नी-सम्बन्ध के लिए अवश्य स्थान होगा। संसार के बहुत बड़े भाग में पुरुष और स्त्री के बीच भाव-साम्य अथवा आध्यात्मिक सहानुभूति बहुत कम देखने में आती है और एक दूसरे की सूक्ष्म मनोवृत्तियों तथा भावों की अभिव्यक्ति के अनुकूल बनने की चेष्टा की कभी देखी जाती है। ऐसी दशा में विवाह में विवाह का आध्यात्मिक रूप नहीं हो सकता।

धार्मिक साधना में पुरुष और स्त्री का घनिष्ठ सम्बन्ध एवं साहचर्य होने से तथा पति-पत्नी-सम्बन्ध को त्याज्य न समझ कर आध्यात्मिक साहचर्य के लिए उपयोगी तथा जीवन को उन्नत बनानेवाली शक्ति के रूप में समझने से पति-पत्नी सम्बन्ध का रूप निरा वासनात्मक न रह कर उससे कहीं ऊँचा हो जाता है, फिर विवाह का रूप केवल शारीरिक सम्बन्ध-मात्र नहीं रह जाता। इससे मनुष्य के अन्दर जो सबसे बड़ा और सर्वोत्तम गुण है—अर्थात् परम-तत्त्व यानो ईश्वर के प्रति प्रेम—वह स्थिर हो जाता है। जो मनुष्य प्रेम से परहेज करता है अथवा सांसारिक स्नेह और आध्यात्मिकता के परस्पर असम्बद्ध विभागों में अपने जीवन को विभक्त कर देता है वह पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार मिथुन-प्रेम की गणना धार्मिक अनुभूति के रूप में होनी चाहिए। इस तरह पति-पत्नी-सम्बन्ध को धार्मिक अनुभव के रूप में बहुत ऊँचा स्थान दिया जाता है। इसलिए मनुष्य को प्रार्थना करनी चाहिए पति-पत्नी सम्बन्ध से मुक्त होने की नहीं, अपितु उसकी बुराइयों से बचने की। ऐसा होने से उसके मिथुन-जीवन में धार्मिक साहचर्य का भाव आ जायगा, जिससे संयोग की प्रगाढा-वस्था में भी वह उत्तेजना अथवा चंचलता का अनुभव नहीं करेगा और पूर्ण पुरुषत्व के साथ अक्षुब्ध शान्ति का संयोग रहेगा जो दोनों में से किसी के लिए हानिकर नहीं होगा। ईश्वर की भावना एक परम शक्ति के रूप में करनी चाहिए, जिसका रूप प्रेम की उत्कट वासना भी है और परम दिव्य समाधि की निर्विकल्प अवस्था भी। कोई भी वस्तु अपवित्र नहीं है, क्योंकि ईश्वर के चरण सर्वत्र हैं। 'तुम्हीं मेरी आत्मा हो। मेरी बुद्धि हो तुम्हारी संगिनी है। मेरे प्राण तुम्हारे सेवक हैं, सहचर हैं। मेरा यह शरीर हो तुम्हारा घर है। सांसारिक विषय-भोगों की समृद्धि ही तुम्हारी

पूजा है। निद्रा ही समाधि है। मेरा चलना-फिरना तुम्हारी प्रदक्षिणा है। मैं जो कुछ बोलता हूँ, वह सब तुम्हारी स्तुति है और जो कुछ मैं करता हूँ वह सभी तुम्हारी आराधना है।—यही सबसे बड़ी उपासना है, सबसे महान् समर्पण है।

अज्ञानियों की दृष्टि में ईश्वर होवा है, मूर्ति है अथवा पूजा है, बुद्धिमानों के लिए वही रहस्यमय है और उसके हजारों नाम हैं। बच्चे के लिए ईश्वर क्रीड़ा-सहचर है, खेल का साथी है, वही युवक के लिए प्रेम और सौन्दर्य से पूर्ण मधुर क्रीडामयी रमणी है। सांसारिक मनुष्यों के लिए ईश्वर सांसारिक वासनाओं का पवित्र रूप है और इच्छाओं की पूर्ति की कला और कर्मकाण्ड है। मानव-समाज के नेताओं के लिए ईश्वर—त्याग और आत्मोत्सर्ग की सर्वश्रेष्ठ मूर्ति है। वृद्धों के लिए ईश्वर सर्वस्व और एकमात्र सहारा है।

ईश्वर के शरीर की रचना मनुष्य की निगूढ़तम एवं अत्यन्त तीव्र इच्छाओं और आकांक्षाओं से हुई है। वासना की उत्कटता में, ज्ञान की अक्षुब्धता में और क्रियाशीलता के कड़े-से-कड़े समय में ईश्वर मनुष्य के साथ है। और जब दुर्भाग्य या मृत्यु से वासना पूर्ण नहीं होती, क्रिया निष्फल

हो जाती है, और मनुष्य अपने को काल की बालुकामयी भूमि में पड़ा हुआ पाता है—उस स्थिति में भी वह ईश्वर को कल्याणमय मानता हुआ उनकी उपासना करता है। उसका ज्ञान जब यह सोचकर कांपने लगता है कि यह विश्व जो उसको सफलता तथा आपत्तियों का केन्द्र है—एक-न-एक दिन साधारण जीवों की भांति समस्त सौर-मण्डल के अवश्यम्भावी नाश के समय नष्ट हो जायगा—उस समय भी ईश्वर तो सर्व सत् के रूप में विद्यमान रहता है। सर्व-ग्रासी काल और देश में ईश्वर का सनातन नृत्य होता है। जीवन और मृत्यु, सृष्टि और प्रलय उसके सर्वदा कोमल एवं अनवरत रूप से होनेवाले स्वर एवं ताल से युक्त नृत्य के नमूने हैं। जब वह अन्धकारमय अनन्त आकाश में शान के साथ सपाटे से पद-संचालन करता है उस समय सहस्र-सहस्र ब्रह्माण्ड और जीव कमल-पुष्पों की भांति उत्पन्न हो जाते हैं और ईश्वर उनके चुम्बन में विरम जाता है और उसका यह चुम्बन ही सृष्टि की सुषमा और आशा है। जब वह निश्चेष्टता की शान में तेजी से पुनरावर्तित होता है—सहस्र-सहस्र ब्रह्माण्ड और जीव अपनी स्वल्प दिनचर्या समाप्त कर उसके सर्वग्रासी मुख में समा जाते हैं, उस समय न जगत् ही रहता है न मनुष्य ही, और ईश्वर संवेदना, विचार और स्वप्न से शून्य हो जाता है।

[पृष्ठ २ का शेषांश]

मिलीं। कहीं से 'उच्चैःश्रवा' की तरह घोड़े मिले। कहीं-कहीं उन्हें वनस्पतियों में 'कल्पवृक्ष' मिले। कहीं श्रेष्ठ चिकित्सा में पारंगत 'धन्वन्तरि' मिले। कहीं रमा और लक्ष्मी की तरह रूपवती अप्सराएँ मिलीं। कहीं पर 'सुरा' मिली तो कहीं सुस्वादु 'फलों का अमृत' रस पान करने को मिला। कोई द्वीप पूरे समय 'चांदनी' से जगमगाता

मिला। कहीं 'सारंग' धनुषधारी वन्यजातियाँ मिलीं तो कहीं 'काल पुरुष' की तरह आदिकाल के आदिम मनुष्य को देखकर वे अपनी यात्रा से लौट आये।

इस समुद्रयात्रा से प्राप्त श्रेष्ठ वस्तुओं की उपलब्धि के 'अमृत' का पान तो आयों ने किया और बेचारे अनायों को असफलता का विष पीकर रह जाना पड़ा।

—लक्ष्मी श्रम की सहचरी, बुद्धि की बहन और साहस की पत्नी है। —शान्तिपर्व

चिदानन्द-शक्ति गायत्री

('देवी भागवत' के द्वादश स्कन्ध के नवें अध्याय की एक कथा का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर)

अतीत में एक बार, अनावृष्टि के कारण, भूलोक में भयंकर अकाल पड़ा। चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गयी। कोई ऐसा घर शेष नहीं बचा, जिसमें दो-चार व्यक्ति क्षुधा-पीडित हो कर काल-कवलित न हुए हों। जठरानल ने ऐसा बीमत्स रूप लिया कि, माताएँ अपने प्राण-प्रिय बच्चों तक को मार कर क्षुधा-शान्ति करने लगीं।

प्राण का कोई उपाय न देख एवं देववर्ग को भी असमर्थ पाकर भूमण्डल के सभी निवासियों ने निर्णय किया कि, महर्षि गौतम बहुत लम्बे काल से महाशक्ति गायत्री के अर्चन में संलग्न हैं—उन्हीं के पास चलो। वे ही हम लोगों का कष्ट निवारण कर सकेंगे।

चारों दिशाओं से संतप्त व्यक्तियों को आर्तभाव से शरण आया देख, महर्षि का दयालु हृदय करुणा से पिघल उठा। उन्होंने उन्हें अमयदान देते हुए कहा—मेरे दुर्दैव-पीडित बन्धुओ, आप यहीं आश्रम में निवास करें। मुझसे जो भी सेवा सम्भव होगी, निश्चय हो, मैं उससे कभी पीछे न हटूँगा।

महर्षि के हृदय में करुणा की जाड़-सी आ गयी, सजल नयन एवं द्रवित कण्ठ से अपनी चिन्मया आराध्यदेवी गायत्री के ध्यान में डूब गये। उनके प्रकम्पित मुख से स्तवन की ऋचाएँ धारा-प्रवाह व्यक्त हो रही थीं—

नमो देवि महाविद्ये वेदमातः परात्परे।

व्याहृत्यादिमहामन्त्ररूपे प्रणवरूपिणी ॥

साम्यावस्थात्मिके मातर्नमो ह्रींकाररूपिणि।

स्वाहास्वधास्वरूपे त्वां नमामि सकलार्थदायम् ॥

भक्तकल्पलतां देवीमवस्थात्रयसाक्षिणीम्।

हे देवी, महाविद्ये, वेदमाता-परात्परे, तुमको प्रणाम है। व्याहृति आदि महामन्त्र के रूपवाली, प्रणवरूपिणी, साम्यावस्था में स्थित, माता ह्रींकाररूपिणी को प्रणाम है।

स्वाहा-स्वधा, सब अर्थों को देने वाली, देवि, तुम्हें प्रणाम है। हे देवि, तुम मत्तों के लिए कल्पवृक्ष और उनकी तीनों अवस्थाओं की साक्षी हो। अतः मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

महर्षि गौतम की आर्त प्रार्थना सुनकर परम चैतन्य शक्ति, गायत्री उनके समक्ष साक्षात् प्रकट हुई और उन्हें एक पूर्ण पात्र देकर बोलीं—“ऋषि, मैं तुम्हारी भक्ति-अर्चना से अति प्रसन्न हूँ। यह पूर्णपात्र लो। जो भी कामना तुम करोगे, यह पूर्ण पात्र उसकी पूर्ति करेगा।”

महर्षि को पूर्णपात्र प्रदान कर तुरीयातीतस्वरूपा, महादेवी गायत्री, अन्तर्धान हो गयीं। गौतम के इच्छा-नुसार उस पात्र से विविध प्रकार के अन्न और षट्स पदार्थों के ढेर प्रकट हुए। महर्षि ने वे पदार्थ अपने अतिथियों को बाँट दिये।

महर्षि गौतम के आश्रम में बसी यह प्रजा, चिन्ताहीन हो कर, अब सर्वप्रकार से धर्म-चर्चा और यज्ञ-अनुष्ठान आदि मोक्ष धर्मों में लग गयी। उनके धर्मकार्यों से सन्तुष्ट हो, एक दिन इन्द्रराज ने देवगण से कहा—“धन्य हैं गौतम ऋषि। इस समय तो वे हमारे लिए मानो कल्पवृक्ष ही हैं। नहीं तो, ऐसे दुष्काल में हम देवगणों को हविष अपण कहीं प्राप्त हो सकते थे।

इस प्रकार, बारह वर्षों तक महर्षि गौतम इस धरती की प्रजा का सुचारु रूपेण पालन करते रहे।

महर्षि गौतम की ऐसी विशद कीर्ति-प्रशस्ति सुन कर नारद जी को भी उन्हें देखने की इच्छा हुई। अतः एक दिन घूमते-घूमते वे महर्षि गौतम के आश्रम में आ पहुँचे। महर्षि के आतिथ्य के प्रति प्रसन्नता प्रकट करते हुए, वे बोले—“मुनिवर, देवराज इन्द्र एक दिन आपकी बड़ी प्रशंसा करते थे। उनके मुख से आपकी प्रशस्ति सुन कर, मेरी इच्छा आपके दर्शन करने को हो गयी। ऋषिवर,

आप धन्य हैं। अपनी तपस्या के उपार्जन को भी आप लोकसेवा में लगा रहे हैं।

मयंकर दुर्मिक्ष के समय जिन ब्राह्मणों को महर्षि गौतम ने आश्रय दे रखा था, उन्होंने जब महर्षि की यशकीर्ति की यह पताकाछा देखी, तो उनको ईर्ष्या होने लगी और, वे महर्षि को पतित करने के अवसर खोजने लगे।

उन्होंने माया से एक ऐसी वृद्धा गौ उत्पन्न की, जो मृत्यु के निकट पहुँच रही थी। वह गौ जब यज्ञशाला में प्रवेश करने लगी, तो महर्षि ने उसे भगाने के लिए 'हुँ-हुँ' शब्द किया, जिसे सुनते ही वह वहीं गिर पड़ी और मर गयी।

महर्षि, चारों ओर अपनी निन्दा होते देख, बहुत ही दुःखी हुए। उनके अन्तश्चक्षुओं ने उन्हें बता दिया कि, यह सब इन ब्राह्मणों की ही करतूत है। ततः क्रोध के आवेश में उन्होंने उन कृतघ्न ब्राह्मणों को शाप दे दिया—“तुम लोगों ने मेरे साथ छल किया है। अतः भविष्य में, तुम सब परात्पर शक्ति गायत्री के अनुग्रह से वंचित और धर्म-विमुख होकर, अधम हो जाओगे तथा पाखण्डाचार में जीवन व्यतीत करते हुए महादुःख और घोर नरक के अधिकारी बनोगे।”

शाप दे कर महर्षि गौतम जगदम्बा गायत्री का दर्शन करने मन्दिर में गये। महर्षि को क्षुब्ध देख कर भगवती उन्हें शान्त करते हुए बोलीं—“ऋषि-प्रवर, क्षमा सब शक्तियों का मूल है। क्षमा से बड़ा कोई पुरुषार्थ नहीं, कोई यज्ञ नहीं, कोई धर्म नहीं। मैं क्षमा के ही वशीभूत हूँ।

विप्रवर, क्षमा का अवलम्ब लो और मेरे प्रसाद से सर्व अभीष्ट को प्राप्त करो।” देवी शक्ति के ऐसे स्नेहपूर्ण उद्गार सुनकर महर्षि गौतम को अपने पर बड़ी ग्लानि हुई और वे जगन्माता से बार-बार क्षमा-याचना करने लगे।

उधर, शापदग्ध होने के कारण, सभी ब्राह्मण वेद-विहित कर्मों और मोक्ष-धर्म का भूल गये—यहाँ तक कि, जगदम्बा गायत्री की महिमा को भी स्मृति में रखने में वे अक्षम हो गये।

अन्ततः अपनी अधम स्थिति से वे ब्राह्मण बड़े सन्तप्त हुए और महर्षि के चरणों में नत-मस्तक होकर बारम्बार क्षमा-याचना करने लगे। महर्षि की कृपा तो पहले से ही जागरित थी। उन्होंने ब्राह्मणों से सप्रेम कहा—“विप्रो, मेरी वाणी मिथ्या नहीं हो सकती। एक युग तक तुम्हें शाप की यह यन्त्रणा भागनी ही पड़ेगी। इससे मुक्ति पाने का बस एक उपाय है—वह है, महामाया गायत्री की उपासना। तुम समर्पित गायत्री की अर्चना में लीन हो जाओ।”

इस कथा को कह कर महर्षि व्यास ने राजा जनमेजय से कहा—“हे राजन्, इस जगत् में सर्वसन्तापों से मुक्ति का एकमात्र साधन देवी भगवतो गायत्री की उपासना ही है।

नित्या चोपासना शक्तेर्या विना तु पतत्यधः।

सर्वमुक्तं समासेन यत्पृष्टं तत्त्वयाऽनघ॥

—गायत्री-रूप शक्ति की उपासना ही परम उपासना है। इस अर्चना के बिना प्राणो अधःस्थान में पतित होता है।”

पूजा में बाधा

प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।

—पूज्यों की पूजा की उपेक्षा से मनुष्य का सम्पूर्ण श्रेय विनष्ट हो जाता है।

—कालिदास

यः अर्थशुचिः, स शुचिः।

—जिसके जीवन में आर्थिक शुचिता है, उसका सम्पूर्ण जीवन पुनीत-पवित्र है।

—मनु

जैन धर्म में मोक्ष का स्वरूप

श्री विनोदकुमार तिवारी

जैन धर्म और दर्शन के अनुसार निर्वाण या मोक्ष स्वभाव दशा एवं आत्मपूर्णता की प्राप्ति है। वस्तुतः हमारा जो निजस्वरूप है उसे प्राप्त कर लेना अथवा हमारी बीजरूप क्षमताओं को विकसित कर आत्मपूर्णता को प्राप्त कर लेना ही मोक्ष है। जैन दार्शनिकों के मान्यतानुसार मोक्ष अथवा निर्वाण ही परम सुख है। यद्यपि अत्यन्त दृढ़तापूर्वक तो नहीं, फिर भी मुक्ति की अवस्था के सम्बन्ध में निश्चयात्मक वर्णन किया गया है कि इसमें असीम चेतना, विशुद्ध चिन्तन, परम स्वातन्त्र्य एवं स्थिर आनन्द जैसे गुण विद्यमान रहते हैं। जीव का पुद्गल से संयोग ही बन्धन है और इसके विपरीत उसका पुद्गल से वियोग ही मोक्ष है। बन्धन में पुद्गल के कण जीव की ओर आकृष्ट होने लगते हैं और इन कणों को आत्मा की ओर प्रवाहित होने से रोकने पर ही मोक्ष की ओर प्रवाहित करने से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। जीव में कुछ कण अपना निवास बना चुके रहते हैं, अतः ऐसे पुद्गल कणों का उन्मूलन भी मोक्ष के लिए परमावश्यक है। नये पुद्गल के कणों को जीव की ओर प्रवाहित होने से रोकने की प्रक्रिया 'संवर' कही जाती है और पहले उपस्थित कर्मों के नाश करने को 'निर्जरा' कहा जाता है। कर्म पुद्गल से छुटकारा पाने के लिए नये पुद्गल के कणों को रोककर संचित पुद्गल के कणों का नाश करना पड़ता है। जो जीव राग, द्वेष तथा मोह से रहित होकर सुख और दुःख से साम्य की भावना प्राप्त कर विकारों से रहित हो जाता है, उसकी आत्मा में कर्म पुद्गलों का प्रवेश तथा उससे उत्पन्न बन्धन नहीं होते। मुक्तावस्था सब मनोयोगों से रहित होने के कारण आचरण-शून्य हो जाती है, उसका अपने जीवन में कोई स्वार्थ नहीं रहता और न उसकी सहायता करने की रुचि ही रहती है।

मुक्तावस्था के ऊपर कारण-कार्यभाव का कोई बन्ध नहीं है। कर्म पुद्गलों से मुक्त होने से जीव सर्वज्ञ सर्वदृष्ट होकर मुक्ति का अनुभव करने लगता है। इस अवस्था में वह औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा अव्यक्त भावों से भी मुक्त हो जाता है। तत्पश्चात् वह ऊपर लोक की सीमा पर्यन्त पहुँच जाता है। आलोकाकाश में धर्मास्तिकाय के न रहने के कारण 'जीव' लोक के परे नहीं जा सकता और न पुनः वहाँ से लौटकर वह संसार में ही आता है। 'मुक्त जीव' धरमात्मा के साथ एक नहीं हो जाता, वह 'सिद्ध-शिला' में अनन्तकाल के लिए वास करता है।

जैन विचारकों ने मोक्षप्राप्ति के लिए कुछ मार्ग बतलाए हैं। इन उपायों में अन्य दर्शनों की तरह जैन दर्शन न सिर्फ अकेले ज्ञान और आचरण पर जोर देता है, बल्कि आस्था की भी आवश्यकता बतलाता है। जब तक व्यक्ति 'सम्यक् ज्ञान', 'सम्यक् दर्शन' और 'सम्यक् चरित्र' का सहारा नहीं लेता, वह मोक्ष के विषय में सोच भी नहीं सकता। मोक्ष मार्ग का निरूपण करते हुए "सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्राणि मोक्षमार्गः" कहा गया है। मोक्ष की प्राप्ति तीनों के सम्मिलित सहयोग से ही सम्भव है। इस कारण से इसे जैन धर्म के 'त्रिरत्न' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। चूँकि इन तीनों के बिना मोक्ष की कल्पना तक बेकार है, अतः इनकी व्याख्या अपेक्षित है।

सम्यक् दर्शन का साधारणतः अर्थ यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा की भावना रखने से लिया जाता है। जहाँ कुछ व्यक्तियों में यह स्वामाविक होता है, वहीं कुछ इसे विद्योपाजन और अभ्यास द्वारा सीखते हैं। जैन दृष्टि के अनुसार सम्यक् दर्शन ही ज्ञान एवं चरित्र को उनका सम्यक् रूप प्रदान करता है। वस्तुतः आत्मप्रतीति या

आत्मस्वरूप की ओर उन्मुखता ही सम्यक् दर्शन है, जिसके प्रकाश में अन्य तत्त्वों के बोध की या प्रतीति की सार्थकता है। कोई भी व्यक्ति सम्यक् दर्शन का भागी तभी हो सकता है जबकि वह अपने आपको विभिन्न अन्धविश्वासों से मुक्त कर लेता है, क्योंकि यदि आस्थाएँ भ्रान्त हैं तो सम्यक् चरित्र का अधिकांश मूल्य समाप्त हो जाता है। सम्यक् दर्शन का अभिप्राय विशेष रूप से यह है कि संशय, जो आध्यात्मिक विकास में बाधक होता है, बिल्कुल दूर हो जाए। उनके अनुसार सम्यक् दर्शन का अर्थ बौद्धिक विकास है। प्रख्यात जैन दार्शनिक मणिमित्र का कथन है कि जैन मत युक्तिहीन नहीं, बल्कि युक्तिपधान है।

जिस ज्ञान के माध्यम से जीव और अजीव के मूल तत्त्वों का सविशेष ज्ञान होता है, उसे सम्यक् ज्ञान कहा जाता है। जीव और अजीव के अन्तर को न समझने के फलस्वरूप बन्धन का प्रादुर्भाव होता है, जिसे रोकने के लिए ज्ञान परमावश्यक है। यह ज्ञान दोषरहित तथा संशयहीन है। सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति में कुछ कर्म बाधक प्रतीत होते हैं, अतः उनका नाश भी आवश्यक है, क्योंकि कर्मों के पूर्ण विनाश के पश्चात् ही सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति की आशा की जा सकती है। सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति पथ-प्रदर्शक के प्रति श्रद्धा और विश्वास से ही सम्भव है। जैन धर्म में तीर्थंकर को पथ-प्रदर्शक कहा गया है, अतः उनके प्रति श्रद्धा और आस्था का भाव रखना अति आवश्यक है।

सम्यक् चरित्र से हितकर कार्यों का आचरण और अहितकर कार्यों का वर्जन होता है। मोक्ष के लिए तीर्थंकरों के प्रति श्रद्धा और सत्य का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि अपने आचरण का संयम ही परमावश्यक है। सम्यक्

चारित्र्य से व्यक्ति के मन, वचन और कर्म पर नियन्त्रण होता है। सम्यक् चारित्र्य के पालन से ही जीव अपने कर्मों से मुक्त हो जाता है। कर्म के द्वारा ही व्यक्ति अपने दुःख और बन्धन का सामना करता है, अतः कर्मों से मुक्ति पाने का अर्थ है बन्धन और दुःख से छुटकारा पाना। मोक्ष मार्ग में सबसे महत्त्वपूर्ण चीज सम्यक् चारित्र्य ही कहा जा सकता है। जैन शास्त्रियों ने सम्यक् चारित्र्य के पालन के लिए कई आचरणों को आवश्यक बतलाया है, जिनमें हिंसा का त्याग, नम्रवाणी बोलना, शरीर, वाणी और मानसिक संयम की आवश्यकता, क्षमा, शौच, तप, संयम, त्याग, सरलता और ब्रह्मचर्य का पालन तथा सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि से प्राप्त दुःख के सहन करने की योग्यता आवश्यक है। सम्यक् चारित्र्य के लिए पंच महाव्रत अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का पालन भी परमावश्यक माना गया है।

मानव मोक्षानुभूति के योग्य उपरोक्त कर्मों को अपनाकर ही हो सकता है। इससे कर्मों का आस्रव जीव में बन्द हो जाता है तथा पुराने कर्मों का नाश हो जाता है। कारण जीव अपनी स्वामाविक अवस्था को प्राप्त करता है। मोक्ष का अर्थ सिर्फ दुःखों का विनाश ही नहीं है, बल्कि आत्मा के अनन्त चतुष्टय, अर्थात् अनन्त ज्ञान, शक्ति, दर्शन और आनन्द की प्राप्ति से भी है। जीवन की यह अन्तिम अवस्था निष्क्रियता की होती है, परन्तु इसमें पूर्ण ज्ञान और शाश्वत शान्ति रहती है। जिस प्रकार बादल के हटने से आकाश में सूर्य आलोकित होता है, उसी प्रकार मोक्ष की अवस्था में आत्मा अपनी पूर्णताओं को पुनः प्राप्त कर लेती है।

त्याग

अपने जिज्ञासु पुत्र कच के निरन्तर पूछने पर बृहस्पति ने कहा—‘वत्स, त्याग ही परम कल्याण का साधन है, तू त्याग का अवलम्ब ले।’ किन्तु सर्वस्व त्याग देने पर भी जब कच को परमानन्द को अनुभव न हुआ, तो वह फिर बृहस्पति के पास पहुँचा। देवगुरु कच के सारे विभ्रम को समझ गये। सस्मित बोले—‘तात, त्याग का अर्थ वस्तु का त्याग नहीं, उस वस्तु-सम्बन्धी ममत्व एवं अहंकार का त्याग है। जब तक जीवन है, वस्तु की अपेक्षा तो अनिवार्य है। अतः वस्तु त्याज्य नहीं, त्याज्य है वस्तु की भोगवासना, उसकी संग्रह-लिप्सा।’ —‘अपरोक्षानुभूति’ के आधार पर

राजधर्म का आदर्श

(एक प्राचीन कथा)

एक समय चक्रवर्णेण नाम के एक राजा हुए थे। वे बड़े ही धर्मात्मा, सत्यवादी, स्वावलम्बी, अव्यवसायशील, त्यागी, विरक्त, ज्ञानी, भक्त, तेजस्वी, तपस्वी और उच्च कोटि के अनुमवी महापुरुष थे। वे राज्य के द्रव्य को दूषित समझ कर उसे स्वयं अपने और अपनी पत्नी के काम में नहीं लाते थे। प्रजा से जो-कुछ कर लिया जाता था, वह सारा-का-सारा प्रजा की ही सेवा में लगा दिया जाता था। रामराज्य की भाँति उनके राज्य में कोई दुःखी नहीं था, सभी सब प्रकार से सुखी थे।

वे अपने शरीर-निर्वाह के लिए पृथक् खेती किया करते थे। वे अपने ही खेत में उपजे हुए अन्न से अपना भरण-पोषण करते थे। अपने ही खेत में उपजी हुई रुई का वस्त्र बना कर पहनते, खेत में उपजे हुए गन्नों का ही गुड़ बना कर खाते और अपने खेत में उपजे हुए अन्न, फल, शाक को ही भोजन के काम में लाते थे। उनका जीवन एक सीधे-सादे सदाचारी किसान के जैसा था। छह घंटे शयन के सिवा उनका सारा समय ईश्वरभक्ति, परोपकार, राजकार्य और कृषि के कार्यों में ही बीत जाया करता था।

एक दिन नगर के बहुत-से धनी व्यापारियों की स्त्रियाँ गहनों तथा रेशमी वस्त्रों से सजी-धजी अनेक दादियों से घिरी हुई रानी का दर्शन करने के लिए उनके पास आईं। उन स्त्रियों ने कहा—‘रानी जी ! आपके जैसे वस्त्र तो हमारी मजदूरनियाँ भी नहीं पहनतीं। आप हमारी दासियों को देखिये—कैसे वस्त्राभूषण पहने हैं। आपके वस्त्राभूषण तो हम लोगों से भी बढ़कर होने चाहिए। जैसे ये हमारी दासियाँ हैं, उसी प्रकार हम लोग तो आपकी दासी के समान हैं। आपके स्वामी एक बड़े मारी सम्राट् हैं, आप उनसे थोड़ा-सा भी संकेत कर देंगी, तो वे आपके लिए हम लोगों से बढ़ कर वस्त्राभूषण की व्यवस्था कर देंगे।—

आप हमारी स्वामिनी हैं, इसलिए आपको इस वेष में देख कर हमें दुःख होता है।’ रानी के चित्त पर उनकी बातों का बड़ा असर हुआ।

रात्रि में जब महाराज आये, तब रानी ने उनसे अनुरोध किया, मेरे पहनने के लिए बहुमूल्य वस्त्र और भूषण मंगा दीजिए। राजा ने उत्तर दिया—‘कैसे मंगा दूँ ? व्यवहार में लाना तो दूर रहा, मैं राज्य के पैसों को छूटा भी नहीं—उससे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।’ रानी भी बहुत उच्च कोटि की पवित्र स्त्री थीं, किन्तु वस्त्राभूषणों से सजी-धजी धनिकों की स्त्रियों का उन पर काफी असर पड़ चुका था, अतः उन्होंने कहा—‘चाहे जैसे भी हो। आप सम्राट् हैं और मैं आपकी पटरानी हूँ। मेरे लिए तो एक सम्राट् की पटरानी के योग्य वस्त्राभूषण मंगाने की कृपा आपकी करनी ही होगी।’

पत्नी की प्रीति से प्रेरित राजा ने सोचा—‘रानी कितना भी आग्रह क्यों न करें, मैं राज्य के द्रव्य को तो किसी भी हालत में उपयोग में ला नहीं सकता। किन्तु मैं सम्राट् हूँ, दुष्ट, अत्याचारी और बलवान् राजाओं से कर ले सकता हूँ।’ यह सोचकर उन्होंने परराष्ट्रों तथा अधीनस्थ राज्यों के कार्य का सम्पादन करनेवाले मन्त्री को बुलवाया और कहा—‘मन्त्री जी, आप राक्षसराज रावण के पास जाइये और कहिये कि, राजा चक्रवर्णेण की ओर से मैं आया हूँ—उन्होंने मुझे आप से करके रूप में सवा मन सोना प्राप्त करने के लिए आपके पास भेजा है।’

सम्राट् की आज्ञा पाकर मन्त्री कुछ आदमियों को लेकर रथ में बैठ समुद्र के किनारे पहुँचे और फिर जलयान के द्वारा समुद्र के उस पार पहुँच कर लंका में प्रवेश किया। राजसभा में जाकर उसने बड़ी नम्रता और सम्यता के साथ सम्राट् चक्रवर्णेण का सन्देश सुनाया। सन्देश को

सुनते ही रावण हँसा और उसने समासदों से कहा—‘देखो, ऐसे मूर्ख राजा भी संसार में अभी हैं, जो ऋषि, देवता, राक्षस आदि सभी से कर लेनेवाले मुक्ष जैसे बलवान सर्व-स्वतन्त्र महाम् सप्ताट् से भी कर की आशा रखते हैं।’ उसने क्रुद्ध होकर राजा चक्ववेण के दूत को कैद करना चाहा किन्तु समासदों के अनुरोध करने पर उसे छोड़ दिया।

तदन्तर रावण जब रात्रि में मन्दोदरी के पास महल में गया, तब उसने हँस कर मन्दोदरी से विनोद करते हुए सारी घटना कह सुनायी। मन्दोदरी ने दुःख प्रकट करते हुए कहा—‘स्वामिन् ! आपने बहुत बुरा किया। चक्ववेण को मैं जानती हूँ—वे सत्यवादी और धर्मात्मा राजा हैं। उनका चक्र सदा चलता रहता है। जो उनकी आज्ञा का पालन नहीं करता, उसका अनिष्ट हो जाता है।’

रावण बोला—‘तू बड़ी डरपोक है। मामूली मनुष्य राजाओं से तू इतना भय करती है। मैं ऐसे क्षुद्र राजाओं की कुछ भी पारवाह नहीं करता।’

रानी ने कहा—‘कल प्रातःकाल मैं आपको चक्ववेण का प्रभाव दिखलाऊँगी’।

प्रातः होते-होते ही राजा के साथ मन्दोदरी महल की छत पर गयी, जहाँ वह रोज कबूतरों को अनाज डाला करती थी। अनाज चुगने वहाँ बहुत-से कबूतर आया करते थे। मन्दोदरी ने दाने चुगते हुए पक्षियों से कहा—‘राजा रावण की दुहाई है, खबरदार ! दाने न चुगना।’ किन्तु वे चुगते ही रहे। फिर रानी ने राजा से कहा—‘देखिये, आप की दुहाई देने पर भी ये सब दाने चुगते ही रहे।’ रावण ने कहा—‘मूर्ख ! ये पक्षी बेचारे क्या समझें ?’ मन्दोदरी बोली—‘अब आप राजा चक्ववेण के प्रभाव को देखिये।’ फिर उसने पक्षियों से कहा—‘सावधान ! चक्ववेण की दुहाई है, कोई दाने न चुगना।’ इतना सुनते ही सब पक्षियों ने एक साथ चुगना बन्द कर दिया। उनमें से एक कबूतर बहरा था—वह कुछ भी सुन नहीं पाता था, अतः उसने दाना उठा लिया। ज्यों ही उसने दाना उठाया, त्यों ही उसकी गर्दन टूट गयी। रानी ने रावण से कहा—‘देखिये, राजा चक्ववेण की दुहाई पर सबने दाने चुगने बन्द कर दिये। एक बहरे कबूतर ने न सुनने

के कारण दाना उठा लिया, जिससे चक्ववेण के चक्र से उसका मस्तक कट कर गिर गया।’ फिर रानी पक्षियों से बोली—‘मैं चक्ववेण की दुहाई हटा लेती हूँ, अब दाने चुगो।’ तुरन्त ही सब पक्षी दाने चुगने लगे।

इधर राजा चक्ववेण के मन्त्री ने समुद्र के किनारे एक छोटे परिमाण में नकली लंका की रचना की। घुली हुई मिट्टी की वूँदों को टपका-टपका कर उसी से लंका के परकोटे, बुर्ज और दरवाजों आदि का निर्माण किया। परकोटे के चारों ओर कंगूरे भी काटे गये एवं उस परकोटे के भीतर लंका को राजधानी और नगर के प्रसिद्ध बड़े-बड़े मकानों को भी छोटे आकार में रच करके दिखाया गया। इन सबकी रचना करने के बाद वह पुनः रावण की सभा में गया और उससे बोला—‘मैं आपको एक कौतूहल दिखलाना चाहता हूँ। आप मेरे साथ समुद्र-तट पर चलिये।’ रावण कौतूहल देखने को उत्सुक हो गया और समासदों को साथ लेकर समुद्र-तट पर गया, जहाँ उस मन्त्री ने छोटे आकार में नकली लंका की रचना की थी।

उसने रावण से पूछा—‘यह ठीक-ठीक आपकी लंका की नकल है न ?—इस लंका से आपको मैं अभी एक कौतूहल दिखाता हूँ। देखिये, इस लंका के पूर्व द्वार के कंगूरों को मैं राजा चक्ववेण की दुहाई देकर गिराता हूँ, इसके साथ ही आप अपनी लंका के पूर्व द्वार के कंगूरे गिरते हुए देखेंगे।’ इतना कहने के बाद मन्त्री ने ‘राजा चक्ववेण की दुहाई है’ कह कर अपनी रचना लंका के पूर्व द्वार के कंगूरे गिरा दिये। उनके गिरने के साथ-साथ ही रावण की असली लंका के पूर्व द्वार के कंगूरे गिरते हुए दिखायी दिये। रावण को बड़ा आश्चर्य हुआ।

राजा चक्ववेण के मन्त्री ने कहा—‘राजन् ! राजा चक्ववेण के प्रभाव का चक्र चलता है। मैं अकेले ही आपकी लंका को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए काफी हूँ। अभी राजा चक्ववेण की दुहाई देकर आपकी लंका को क्षणमात्र में एक हाथ के झटके से नष्ट किये देता हूँ। आप उस लंका की रक्षा कर सकें, तो करें। यदि आपको लंका की रक्षा करनी है, तो कर के रूप में सच्चा मन साना दे दीजिए—इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है।’

रावण ने सोचा—‘मेरे देखते-देखते क्षण-मात्र में पुनः

द्वार के कंगूरे गिर गये, जो धातु-निर्मित और बहुत ही मजबूत थे। इसी प्रकार सारी लंका को नष्ट करना इसके बायें हाथ का खेल है।' यह सोचकर रावण ने सवा मन सोना कर के रूप में देना स्वीकार कर लिया।

मन्त्री सवा मन सोना लेकर राजा चक्कवेण के पास वापस लौट आया। उसने राजा-रानी के पास जा कर सवा मन सोना उनके सामने रख दिया और कहा—'आपकी आज्ञा से रावण से कर के रूप में सवा मन सोना ले आया हूँ।' राजा के यह पूछने पर कि तुमने यह सोना कैसे प्राप्त किया, उसने आद्योपान्त सारी घटना उनको कह सुनायी।

यह घटना सुनकर रानी को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन पर इसका प्रभाव पड़ा। उन्होंने राजा से पूछा—'यह क्या बात है?' राजा ने कहा—'हम लोग स्वावलम्बी हो कर परिश्रम-पूर्वक खेती करके अपना निर्वाह करते हुए वैराग्य और त्यागपूर्वक अपना जीवन बिताते हैं और निष्काम भाव से प्रजा के धन को प्रजा की सेवा में लगा देते हैं—अपने व्यक्तिगत कार्य के लिए राज्य के पैसे को कभी छूते तक भी नहीं, इसी का यह सब प्रभाव है।'।

यह सुनकर रानी का दिल बदल गया। वे बोलीं—

'स्वामिन्, मैं बहुमूल्य वस्त्राभूषण नहीं पहनूंगी। जिस प्रकार अब तक नियम से रहती आयी हूँ, वैसे ही रहूंगी—कुछ भी परिवर्तन नहीं करूँगी। मैंने आपसे जो-कुछ दुराग्रह किया, उसके लिए मैं क्षमा प्रार्थना करती हूँ। मेरे अपराध को क्षमा आप क्षमा करें और इस स्वर्ण को वापस लौटा दें।'।

राजा ने उनकी बात मानकर मन्त्री से कहा—'मन्त्री, इस घन को जहाँ से तुम लाये थे, वहीं वापस कर दो।' राजा की आज्ञा होते ही मन्त्री वह स्वर्ण लेकर लंका-पति रावण के पास पुनः गया और सभा में जाकर बोला—'महाराज चक्कवेण ने आपका यह स्वर्ण वापस लौटा दिया है। उनकी पत्नी को बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहनने की जो अभिलाषा हो गयी थी, वह मगवत्कृपा से अब नहीं रही। अतः अब इसकी आवश्यकता नहीं है।'।

इस बात को सुन कर रावण के हृदय पर चक्कवेण के त्याग का और भी असर पड़ा। उसने स्वर्ण रखकर मन्त्री को आदर-सत्कारपूर्वक विदा किया। चक्कवेण का प्रभाव यक्ष, राक्षस, देवता, मनुष्य, ऋषि-मुनि, पशु-पक्षी आदि सभी पर था।

[पृष्ठ ४ को शेषांश]

और पालने के कारण दिलीप वस्तुतः प्रजा के पिता थे। संसारी माता-पिता तो केवल जन्म देने वाले होते थे।

राष्ट्र-शक्ति की महिमा से परिचित आर्य जाति अपने राष्ट्र को आमूल अटलता एवं सुदृढ़ता देने की कामना किया करती थी। ऋग्वेद का आर्य अपनी मातृभूमि में अनुप्राणित राष्ट्र-चैतन्य की अटल-अविचल स्थिरता के लिए इस प्रकार प्रार्थना करता था—

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।

ध्रुवं ते इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयताम् ध्रुवम् ॥

—वरुणदेव हमारे राष्ट्र को अचल बनावें, बृहस्पति हमारे राष्ट्र को स्थैर्य प्रदान करें, इन्द्र हमारे राष्ट्र को अडिग रखें और अग्नि हमारे राष्ट्र को अविचल दृढ़ता के साथ धारण करें।

आजीवन इसी तपस्या में लीन प्राचीन भारत का नागरिक जीवन की गोघूलि में भी जो कामना करता था, उसका शब्द-शब्द स्वदेश-भक्ति का स्वर्ण-प्रतीक है। विरक्ति वेला में यह अनुरक्ति सहस्रगुणे आह्लाद में व्यक्त होती है—

गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य

ब्रह्मज्ञानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।

किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः

कण्डूयन्ते जरठहरिणाः शृंगमंगे मदोये ॥

—'जीवन का वह सौभाग्य-दिवस कब आएगा, कब मैं गंगा तट की हिमाचल-शिला पर पद्मासन लगा कर ब्रह्मानन्द में लीन समाधिस्थ बैठूँगा और वहाँ के बूढ़े हिरन मेरे अंगों को अपने सोंगों से खुजलाएँगे।'।

हर पंक्ति एक मन्त्र

श्री पीयूषपाणि प्रसाद द्वारे

जीवन की संख्या है, न राम में मन लगता है, न आराम में, न काम में, न विश्राम में, कहीं मन लगावे जिसमें खो जाऊँ सब कुछ भूल जाऊँ ।

काशी के निकट स्थित यह तपोवन अपने नाम के अनुकूल ही था हम लोग जितनी देर इसमें घूमे, लगा कि किसी और ही लोक में विचर रहे हों, घूमकर लौटे तो फिर बाबा की कुटी पर रुके, चलते समय मैंने बाबा से कहा—आशीर्वाद दीजिए । ददा ने कहा—दीक्षा दीजिए । मामी ने विनय की—कोई गुरुमन्त्र दीजिए । जीजा जी ने कहा कि—कुछ ऐसा बताइये जिसे पढ़ते-पढ़ते मन न अघाये । जितना ही पढ़ा जाये उतना ही नया रस मिले । जीजा चुप बैठे थे, हमसब अपनी बात कह चुके तो उन्होंने बाबा के चरणों पर माथा टेकते हुए कहा—

जिन्दगी की साँझ है मेरी । न राम में मन लगता है न आराम में, न काम में, न विश्राम में । कहीं मन लगा दें, जिसमें खो जाऊँ, सब कुछ भूल जाऊँ ।

बाबा ने सरसरी दृष्टि हमलोगों पर डाली, अपने हाथ की एक पुरानी मैली तथा फटी सी पोथी को माथे से लगा कर सम्मानपूर्वक यथास्थान रख दिया, फिर बोले—आप सबके अनुरोध भिन्न हैं, शायद अभिलाषा, आकांक्षा और कामना भी भिन्न हों । पर मैं क्या करूँ ? मेरे पास तो हर बात का एक ही उत्तर है, सबके लिये, चाहे वह जिस भाव से आये, और जो चाहे एक ही निवेदन, अनुरोध और उत्तर है । उसके पहले कि हमलोग अपनी जिज्ञासा व्यक्त करें, इस अनेकता में एकता के विषय में बाबा ने वही अपनी पोथी, जो कुछ समय पूर्व पढ़ रहे थे सामने कर दी । फिर स्पष्ट रूप से कहा—यह रामचरितमानस यानी रामायण है ।

हमलोगों को आश्चर्य-मुग्ध देखकर बाबा कहते गये—मैंने जीवन में इसे पढ़ा है । केवल इसे ही और मुझे लगता है मैंने सब कुछ पढ़ डाला । यही मेरे लिए जीवन में शाश्वत रहस्यों की कुंजी है । इसी को मैं श्रृंगुसंहिता मानता हूँ, इसी को ज्ञानकोष, इसकी हर पंक्ति एक मन्त्र है । बाबा गंभीर स्वर से कहते जा रहे थे । यदि मुझसे कुछ जानना चाहते हो, माँगना चाहते हो तो मैं रामचरितमानस हूँगा । इस कल्पवृक्ष को पा लेने पर तुम्हें कुछ पाने के लिए न रह जायेगा । बाबा का चरण छूकर सब लोग घर वापस चले आये और डी० सी० जीजाजी मन ही मन इस घटना को सोचते चले आ रहे थे और अन्त में घर पहुँचते-पहुँचते साँझ हो गयी ।

कई वर्षे हो गये इस घटना के । तब से बहुत कुछ हेर-फेर हो गया है इस जीवन में । पर एक विश्वास ज्यों का त्यों है जो अब भी दृढ़ से दृढ़तर होता जा रहा है प्रतिदिन । वह यह कि रामचरितमानस की हर पंक्ति पर दृष्टिपात करता हूँ तो मुझे लगता है कि मंत्रों के बीच, आश्वासनों की छाया में आसीन होंऊँ । ये ही आश्वासन मूल्यवान् थाती के रूप में मेरे जीवन को गरिमामय बनाये हुए हैं ।

गीता का चातुर्वर्ण्य

एक क्रान्तिकारी दृष्टि

श्री महेन्द्रकुमार मोहता

श्रीमद्भगवद्गीता विश्व का अद्वितीय दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें वर्णित स्थितप्रज्ञ और आसक्तिरहित मनुष्य के आदर्श की विश्व में कोई तुलना नहीं। फिर भी जो लोग गीता के मर्म को मली-माँति नहीं समझते, वे इसकी आलोचना करते हैं। प्रस्तुत लेख में ऐसी कुछ आलोचनाओं पर विचार किया गया है।

आलोच्य श्लोकों में निम्नलिखित प्रमुख है :

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्वद्यकर्तारमव्ययम् ॥ ४।१३

इस श्लोक के आधार पर यह कहा जाता है कि गीता वर्ण-विभाजन का समर्थन करती है और वर्ण-व्यवस्था के समर्थकों को यह कहने का भी अवसर मिल जाता है कि चारों वर्णों का विभाजन स्वयं ईश्वर का किया हुआ है। परन्तु यदि विचार किया जाय तो इस श्लोक का ऐसा कोई आशय नहीं है। मुख्य बात तो यह है कि यह वचन किस सन्दर्भ में कहा गया है। चौथे अध्याय में आरम्भ से ही श्रीकृष्ण अर्जुन को यह समझाते हैं कि पृथ्वी पर धर्म की स्थापना करने के लिए निराकार ब्रह्म अपनी योगमाया से प्रत्येक युग में अवतार लेता है :

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे । ८

निर्गुण ब्रह्म अकर्ता होता है। हमारे उपनिषदों में जगह-जगह पर कहा गया है कि परमात्मा और उसी का स्वरूप आत्मा भी, अकर्ता उदासीन और साक्षी है। प्रश्न उठता है कि यदि साधारणतया अकर्ता ब्रह्म के द्वारा

सब लोकों के सृजन का कर्म किया जाता है तो उसका परिणाम क्या होगा ? क्या यह कर्म अन्य साधारण कर्मों की भाँति बन्धनप्रद होगा ? यदि नहीं, तो क्यों नहीं ? इसी शङ्का का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस सारी सृष्टि को उत्पन्न करने वाले मुझको तुम अकर्ता ही समझो ? क्योंकि—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ॥ ४।१४

मुझे वे कर्म लिम्पायमान नहीं करते क्योंकि मेरी इन कर्मों के फल में कोई स्पृहा नहीं है। वास्तव में चौथे अध्याय में श्रीकृष्ण विस्तार से इस तथ्य को समझाते हैं कि बन्धकत्व गुण-कर्म में नहीं वरन् कर्म के पीछे लगी भावना में है। वे पहले भी कह चुके हैं कि :

न कर्मणामनारम्भान् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते । (३।४)

केवल कर्मों को न करने से ही पुरुष नैष्कर्म्य पद लाभ नहीं करता।

इसी तथ्य के दूसरे अङ्ग को समझाते हुए वे कहते हैं कि :

कर्मण्यकर्मं यः पश्येदकर्मणि च कर्मं यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ ४।१८

अर्थात् जो मनुष्य अकर्म में कर्म एवं कर्म में अकर्म देखता है वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही युक्त है और सब कर्मों को अच्छी प्रकार करने वाला है।

यह श्लोक बड़ा ही महत्वपूर्ण है पर इसकी, विषय व्याख्या करना प्रस्तुत लेख का विषय नहीं है। संक्षेप में,

श्रीकृष्ण बताते हैं कि कर्म को इस प्रकार करना चाहिए कि वह अकर्म बन जाय अर्थात् बांधे नहीं। आसक्ति और कर्मफल के त्याग से ही ऐसा होना सम्भव है। अगले पाँच श्लोकों में श्रीकृष्ण बताते हैं कि किस प्रकार कर्म का अकर्म बनाया जाता है, दूसरे शब्दों में कर्म का स्वाभाविक गुण-बन्धकत्व नष्ट किया जाता है। यह तरीका है : कामना और संकल्प छोड़ना (४।१४), कर्मफल के प्रति आसक्ति हटाना, सदा सन्तुष्ट रहना और किसी के आश्रित न होना (४।२०), आधारहित होना, मन और बुद्धि को अपने वश में रखना, सब संग्रहों को त्यागना (४।२१) जो कुछ मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहना, सुख-दुःख रूपी द्वन्द्वों के परे होना, ईर्ष्या न करना, सफलता-असफलता में समभाव रखना (४।२२), आसक्ति छोड़ना, चित्त को ब्रह्म-ज्ञान में अवस्थित रखना और समाज के हित की चेष्टा रूपी यज्ञ करना (४।२३)। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ऐसी मनोवृत्ति रखने वाले के कर्म, कर्म नहीं रहते, उसे बांधते नहीं और उस कर्ता को कोई पाप नहीं लगता।

जिस विषय की इस अध्याय में चर्चा हुई है, उसका उल्लेख ऊपर किया गया। अब आलोच्य श्लोक पर फिर से आइये। श्रीकृष्ण का आशय है कि मुक्त परमात्मा को भी सृजन-कार्य बन्धन में नहीं डालता क्योंकि मुझे भी उस कर्म के प्रति आसक्ति नहीं है। यह सारा जगत् ईश्वर का ही बनाया हुआ है इस तथ्य को बताने के लिए ही उन्होंने कहा—‘चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं’ आदि। अर्थात् ये जो गुण और कर्मों के भेद से चार वर्णों के मनुष्य हैं, वे सब मेरे ही बनाये हुए हैं। चार वर्णों के उल्लेख का आशय है—समस्त प्रजा। अर्थात् ऐसा नहीं है कि उच्च समझे जाने वाले ब्राह्मण आदि ही ईश्वर के बनाये हुए हैं। सभी मनुष्य ईश्वर से उत्पन्न हैं। वस्तुतः सभी प्राणियों की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है। यदि कोई कहे कि भारत के पच्चीसों राज्यों के निवासी ईश्वर के बनाये हुए हैं तो इसका अर्थ यह तो नहीं होगा कि राज्यों का विभाजन ईश्वर ने किया है। श्लोक में यह कहीं नहीं कहा गया है कि वर्ण-विभाजन ईश्वर ने किया। वस्तुतः वर्ण-व्यवस्था की अच्छाई-बुराई की चर्चा ही नहीं हो रही थी। गीताकार ने तो केवल तत्कालीन सामाजिक संगठन

के सन्दर्भ में मात्र इतना ही कहा है कि चारों वर्ण ईश्वर के बनाये हुए हैं।

इस श्लोक के आलोचक यह भी कहते हैं कि वर्ण-व्यवस्था के समर्थन से निम्न वर्ण के व्यक्तियों पर अत्याचार और अन्याय का समर्थन भी हो जाता है। यह विचार गीता के विचारों के कितना विपरीत है, यह तो गीता के समुचित अध्ययन से ही मालूम होगा। गीताकार कहते हैं :

विद्याविनयसंपन्नो ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (५।१८)

विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में और चंडाल में पण्डितगण समदृष्टि रखते हैं; उसी तरह गौ, हाथी और कुत्ते में भी समभाव रखते हैं।

गौ को भारतवासी पवित्र मानते हैं और कुत्ते को अपवित्र। हाथी सबसे बड़ा जानवर होने के कारण पद, प्रतिष्ठा का प्रतीक है। इस प्रकार इस श्लोक का तात्पर्य है कि बाह्य पवित्रता, अपवित्रता और प्रतिष्ठा में भी पण्डित समभाव वाले होते हैं।

ब्राह्मण और चंडाल में समभाव रखने की शिक्षा देने वाला ग्रन्थ क्या वर्ण-व्यवस्थाजनित निम्न वर्णों के प्रति अन्याय का समर्थक हो सकता है ?

और भी विचार करें। गीता में भगवान् ने स्थान-स्थान पर स्पष्ट किया है कि सभी भूत-प्राणियों में उनका निवास है और ज्ञानी को सब भूत-प्राणियों से एकात्म-भाव रखना चाहिए। जैसे :

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ ६।२९

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ६।३०

अर्थात् योगयुक्त व्यक्ति सब भूत-प्राणियों में उस एक ही परमात्मा के अंश आत्मा को स्थित देखता है और एक ही परमात्मा में सब भूत प्राणियों का देखता है; इस कारण वह सब में समदर्शी होता है। जो मुझे सर्वत्र स्थित देखता है और सभी को मुझमें स्थित देखता है, मैं उससे कभी ओझल नहीं होता, न ही वह मुझसे ओझल होता है।

ईशावास्य-उपनिषद् में भी कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ (६)

अर्थात् जो मनुष्य सब प्राणियों को परमात्मा में और परमात्मा को सब प्राणियों में निरन्तर देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता ।

सब प्राणियों में एक ही ईश्वर की सत्ता विद्यमान मानने वाला ग्रन्थ किसी वर्ग विशेष को नीचा बता नहीं सकता । दूसरा आलोच्य श्लोक है :

मां हि पाथं व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
१।३२

अर्थात् मेरे आश्रित होकर जो कोई भी हो, निम्न श्रेणी का हो या स्त्री, वैश्य तथा शूद्र हो, वह भी परम गति प्राप्त कर लेता है ।

इस विषय में आलोचक कहते हैं कि इससे स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों की हीनता का समर्थन होता है ।

विचारणीय है कि गीता में स्थल-स्थल पर सब प्राणियों को बराबर बताया गया है । यह भी कहा गया है कि ईश्वर सब में समभाव रखते हैं :

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः । (१।२९)

“मैं सब प्राणियों में समभाव रखता हूँ; न कोई मेरा प्रिय है न द्वेष-माजन ।”

गीता सब में समभाव रखने का उपदेश देती है । यह तक कि—

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते । (६।९)

अर्थात् साधु और पापी में समान बुद्धि रखने वाला व्यक्ति विशिष्ट है ।

जो गीताकार साधक को साधु और पापी में समभाव रखने की शिक्षा देता है, क्या वह स्वयं किसी वर्ग को “पापयोनि” कह सकता है ? इसलिए इस शब्द का अर्थ “निम्न समझी जाने वाली श्रेणी” है, न कि वस्तुतः निम्नश्रेणी ।

अब आइये स्त्री आदि वर्गों के उल्लेख पर । स्मरणीय है कि उस युग में वेदों का ही अधिक सम्मान था और यह मान्यता भी थी कि वेद पढ़ने का अधिकार केवल उच्च वर्गों को ही है । किन्तु गीता का आदर्श तो इस मान्यता के बिल्कुल विपरीत है । वह कहती है कि हमारे द्वार तो सबके लिए समान रूप से खुले हैं । सब को अधिकार है कि गीता में वर्णित धर्म का आचरण करे और ईश्वर-परायण होकर मुक्ति का भागी बने । यहाँ संकीर्णता कहाँ ? यहाँ तो उदारता स्पष्ट है । इतना अवश्य है कि गीताकार ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को दृष्टिगत रख कह दिया है कि निम्न समझी जाने वाले वर्ग भी मोक्ष के अधिकारी हैं । इस कथन में सामाजिक व्यवस्था का उल्लेख मले ही हो, समर्थन कदापि नहीं है ।

जब कि गीता सभी प्राणियों में ईश्वर का समान भाव से अस्तित्व मानती है, तो स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों में भी न मानने का प्रश्न ही कहाँ ? तब गीता की दृष्टि में ये वर्ग हेय हो ही कैसे सकते हैं ?

ज्ञान

जब ज्ञान इतना अहंकारी बन जाये कि रो न सके, इतना गम्भीर बन जाये कि हँस न सके, और इतना आत्मकेन्द्रित बन जाये कि वह अपने अतिरिक्त अन्य किसी की चिन्ता न करे तो यह ज्ञान अज्ञान से भी कहीं अधिक भयानक हो उठता है ।

—महात्मा सुकरात

देह माटी की महकती

राम में जब से रमा है, दिव्य मेरा मन ।
देह माटी की महकती—हो गई चन्दन ॥

मुँद गयीं पलकें लगी कुछ देखने मन में ।
स्वास पर उभरे नये स्वर गीत नव लय में ॥
साधना की पंखुरी पर शक्ति का नर्तन ।
देह माटी की महकती हो गयी चन्दन ॥

भाल पर उगने लगा शिव नेत्र का टीका ।
जगत का व्यापार निर्मम हो गया फीका ॥
भावना अनुभूतियों का कर रही वन्दन ।
देह माटी की महकती—हो गयी चन्दन ॥

कामना ने चेतना का जब किया चुम्बन ।
वासनाओं का स्वयं ही हो गया मर्दन ॥
नील नभ की अंजली से शान्ति का वर्षण ।
देह माटी की महकती—हो गयी चन्दन ॥

चक्र से नव चक्र पर आत्मा लगी चढ़ने ।
सूक्ष्म से अति सूक्ष्म को अन्तर लगा गढ़ने ॥
देह से देही उठा सब छोड़ कर बन्धन ।
देह माटी की महकती—हो गयी चन्दन ॥

सत्य के आकाश पर चैतन्य का चिन्तन ।
ध्यान में एकाग्र मन, आनन्द आवर्तन ॥
मोक्ष मानस चेतना का कर रहा अर्चन ।
देह माटी की महकती—हो गयी चन्दन ॥

—श्रीमती, माधवीलता शुक्ल

व्यक्ति की मान्यता

श्री पुरुषोत्तमदास हलवासिया

जननेता स्व० जयप्रकाश नारायण ने कलकत्ता में एक संगीष्ठी का आह्वान किया था, 'व्यवसाय के सामाजिक दायित्व' (स्पेशल रिस्पॉन्सिबिलिटीज आफ बिजनेस) के अन्तर्गत। उसके संदर्भ में एक अंतरंग बैठक में स्व० जयप्रकाशजी ने संस्था द्वारा लिये जाने वाले कार्यक्रमों पर चर्चा की थी। अनेक परिचित मित्रों ने अपने चिन्तनशील विचार रखे। मर्यादा और अनुशासन के विभिन्न विचार सामने आये। व्यवसाय के साधनों से लेकर समाज के प्रति उसके उत्तरदायित्व सही तरीके से चलते रहें इसके लिए नियमों के निर्धारण पर चर्चा हुई। कुछ उत्साही मित्रों ने व्यवसाय द्वारा समाज पर दबाव की चर्चा भी की और इसी संदर्भ में व्यक्ति की मान्यता का आधार क्या है, इसे भी निश्चित किये जाने की आवश्यकता पर चर्चा हुई। समाज में आई विकृतियों को दूर करने हेतु या उसे रोकने के लिए चिन्तनशील सामाजिक प्राणी सदा विचार करते रहते हैं। उनका प्रभाव कितना होता है यह तो समाज में व्याप्त व्यवस्था से मालूम हो सकता है। प्रायः ऐसे विचार व्यक्ति तक ही सीमित रह जाते हैं। सामाजिक संगठनों में इन विषयों पर गंभीरता से विचार नहीं होता और फिर मिलते हैं तो अल्पाहार में सभी बातें गौण हो जाती हैं। कोई ठोस आचार संहिता बनती नहीं और जो कुछ बनती है वह निमती नहीं। वस्तुतः आज किसी के पास समय नहीं है जो नियमित रूप से किसी एक सामाजिक विषय का चिन्तन मनन अध्ययन कर स्वयं में दृढ़तापूर्वक उसे चलाने की क्षमता उत्पन्न करे। एक साथ अनेक समस्याओं के विषय में चिन्तित रहते हुए यह संभव भी कैसे हो सकता है? अपने व्यवसाय से, परिवार से, मनोरंजन से समय मिले तभी तो यह संभव है। फिर दो व्यक्तियों का एक ही सुविधाजनक समय निकालना अत्यन्त ही कठिन है। कहा है—

तुम्हें गैरों से कब फुरसत, हम
अपने गम से कब खाली।

चलो बस हो चुका मिलना,
न तुम खाली न हम खाली ॥

ऐसी स्थिति में कैसे समाज का चिन्तन हो? उसमें उत्पन्न होने वाली समस्याओं का विचारपूर्ण समाधान कैसे हो? समाज की व्यवस्था के लिए संगठन का विकास और उत्थान किस प्रकार हो? यह आपाधापी का काम नहीं है और न ही किसी एक घटना को लेकर आन्दोलन या जन समा द्वारा संभव हो सकता है।

सबसे पहले तो यह समझने की आवश्यकता है कि समाज में चार पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—में से किसकी कमी है और किसकी प्रबलता है। जिसकी कमी हो उसका पुनर्स्थान करना और जिसकी प्रबलता हो उसे सही मार्ग पर ले चलने की प्रेरणा देना। सामाजिक एषणा किस दिशा में जा रही है इस पर विचार करते समय उसके गन्तव्य मार्ग और छोर के विषय में सोचना अत्यन्त आवश्यक है। मार्ग यदि सामाजिक हित के लक्ष्य पर पहुँचता है तो उसे सार्थक मानते हुए उस पर चलने वालों को प्रोत्साहित करना चाहिए। उसको समाज में मान्यता प्राप्त हो यह प्रयत्न करना चाहिए। सामाजिक हित के साथ सार्वजनिक और राष्ट्रीय हित का ध्यान रखना भी अनिवार्य है। इस बात को सावधानी रखना जरूरी है कि सामाजिक हित साधन से सार्वजनिक और राष्ट्रीय अहित तो नहीं हो रहा है। यदि हमारा कार्य हमें इतर समाज से विलग करने की ओर ले जाने वाला हो तो भी उसमें परिवर्तन करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिए।

प्रायः देखने में आता है कि प्रादेशिकता की भावना का लाभ उठाते हुए राजनैतिक और सामाजिक महात्वाकांक्षी व्यक्ति भाषाई तथा जातीय विवाद को उमाड़कर लोगों के सामने आना चाहते हैं। उस समय वे राष्ट्र और इतर समाज का ध्यान नहीं रखते और इस प्रकार के कार्य अन्त में जाति और वर्ग विशेष को एकांगीपन की ओर ले जाने

[शेष पृष्ठ ३० पर]

श्रीकृष्ण जन्म-स्थान स्मारिका

भागवत भवन प्रतिष्ठा समारोह के अवसर पर प्रकाशित 'श्रीकृष्ण जन्म स्थान स्मारिका' अपनी साज-सज्जा, उत्कृष्ट छपाई, एवं सुपाठ्य सामग्री और सुरुचिपूर्ण चित्रावलियों के साथ जितनी मनोहारी है उतनी ही मर्म-स्पर्शिणी एवं भारतीय संस्कृति के अविच्छिन्न अंग, भक्ति भाव को भी जागरित करती है। धर्मसम्राट् अनन्तश्रीस्वामी करपात्री जी महाराज का प्रतिष्ठा समारोह के अवसर पर श्रीकृष्ण-जन्म स्थान-सेवा-संस्थान के नाम प्रेषित आशीर्वाद धर्मप्राण मानव की हृदयतन्त्रों को संकृत कर देता है। स्वामी जी के अनुसार अनन्त ब्रह्माण्ड जिसके एक रोम-विवर में परिस्पन्दित होते रहते हैं, जो मुनियों का ध्यानैक-गोचर है, जिसका श्रुति केवल तात्पर्य छवि या वर्णन करती है, तादृश ब्रह्म ही जिस मधुर स्थली को प्राप्त कर देश-कालानवच्छिन्न होने पर भी देश-काल के बद्ध हुआ, मन-वाणी का अविषय होने पर ब्रजवासियों का समस्तेन्द्रियों का विषय बनकर क्रीड़ा किया, धन्य है वह भूमि जिसका आज जन्मोत्सव मनाया जा रहा है।

भागवत-भवन प्रतिष्ठा समारोह के आयोजकों एवं इस महान्, पवित्र, धार्मिक तथा ऐतिहासिक स्थान का सर्वाङ्गीण उद्धार कर इसे पुनः विशाल एवं शताब्दियों तक विश्व-वासियों को आध्यात्मिक तथा विश्वकल्याणमयी प्रेरणा का अजस्र स्रोत बनाने में जिन महानुभावों ने धन अथवा श्रम या सत्-प्रेरणा से कार्य किया है वे सभी पूज्य एवं स्मरणीय हैं। इस पुनीत कार्य में डालमिया परिवार का प्रयास स्तुत्य है। श्रीयुत जयदयाल जी डालमिया के नाम अपने आशीर्वादन में स्वामी शान्तानन्द सरस्वती ने लिखा 'श्रीकृष्ण जन्मस्थली को पुनः जाग्रत करने में कई महा-पुरुषों ने अपना विशेष प्रयास किया। जिसमें पं० मदनमोहन

मालवीय जी की प्रेरणा स्तुत्य है और धर्मप्राण श्री जुगल-किशोर बिड़लाजी ने उसके उद्धार का शुमारम्भ करके विशेष सक्रिय रूप से भाग लेकर उसे कार्यान्वित किया।' श्री देवधर शर्माजी ने सारे कार्य की देख-रेख का भार अपने ऊपर लेकर जिस निष्ठा और मनोयोग से सम्पन्न कराने में योगदान किया वह अनुकरणीय है। श्री एवं श्रीमती पोद्दार का योगदान अत्यन्त सराहनीय रहा है।

इस स्मारिका के प्रकाशनोत्सव पर अनन्त श्री स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती के उद्गार अत्यन्त मननीय और हृदयग्राही हैं। मन्थन से निष्पन्न वस्तु जिसमें रहे, उसका नाम मथुरा है। इसमें निवास करने वाले कुसाधन एवं निस्साधन लोगों का भी श्रीकृष्ण ने उद्धार किया है, जैसे कुब्जा, माली आदि की ऐसे भगवान् की वृन्दावनीय एवं मधुर-लीलाओं का स्मरण दिलाने वाली यह स्मारिका निश्चित रूप से अपने उद्देश्य में सफल होगी। प्रधान-मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपने सन्देश में लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के माध्यम से धर्म और कर्म की व्याख्या करके मानवता को एक नयी दिशा प्रदान की। श्रीकृष्ण जन्मस्थान के पुनरुद्धार कार्य को देखकर श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने कहा कि पुनरुद्धार कार्य इस बात का प्रमाण है कि हिन्दू समाज अमृत का पुत्र है, मृत्युंजयी है और हर पराजय को विजय में बदलने को शक्ति रखता है।

इस स्मारिका में ऐसे लेखों और उद्धरणों का समावेश किया गया है जो बरबस पाठकों का मन अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। ये लेखन केवल भक्तों और धर्म-प्राण व्यक्तियों के परिपोष के लिए हैं, प्रत्युत इनसे उन प्राणियों को प्रेरणा मिलेगी जो अपने को जीवित

समाज का एक अंग समझते हैं। इसे पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानो हम मथुरा में पहुँच गये हों और वहाँ की महिमा का स्वयं अनुभव कर रहे हों। पद्मपुराण; पाताल खण्ड के ७३वें अध्याय के कुछ श्लोक मथुरा की महिमा पर प्रकाश डालते हैं—सचमुच मथुरा धन्य है, जो जन्म, मौज्जीब्रत, मृत्यु, और दाह संस्कारों द्वारा मनुष्य को चार प्रकार की मुक्ति प्रदान करती है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि सचमुच,

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥

सत्सङ्ग की महिमा का वर्णन श्रीमद्भागवत में इस प्रकार है 'जगत् में जितनी आसक्तियाँ हैं, उन्हें सत्सङ्ग नष्ट कर देता है। भगवान् की स्वीकारोक्ति है कि सत्सङ्ग जिस प्रकार मुझे वश में कर लेता है, वैसा साधन न योग है, न सांख्य, न धर्मपालन और न स्वाध्याय।' श्रीकृष्ण की मथुरा-लीला का वर्णन इस स्मारिका में इतना सजीव है कि पाठक इसे पढ़ते समय स्वयं को भूलकर कृष्णमय हो जाता है। श्रीकृष्ण की मथुरा-लीला कतिपय प्रसङ्गों यथा रजकोट्टार, माली, सुदामा पर कृपा, कंस की घबराहट, कुबलयापीड का उद्धार, सुन्दरी कुब्जा के घर, अक्रूर पर कृपा आदि का ऐमा मनोरम शब्दचित्र मिलता है जिसे पढ़ते-पढ़ते पाठक आत्मविमोह हो उठता है।

श्री वियोगी हरि का शब्दचित्र भक्तों के 'सौभाग्य' तो अप्रतिम है। श्री वियोगी हरि लिखते हैं—'प्यारे! उस रात मरुप्रदेश की एक पगली ने तुम्हें अपने रङ्ग-महल में छिपाकर तुम्हारे साथ कैसी चौसर खेली थी। तभी तो तुम उस बावली के 'सजन' कहे जाते हो।' साहित्य की एक अनोखी विधा, मर्मस्पर्शिनी। श्री वियोगी हरि की लेखनी का एक और चमत्कार 'वात्सल्य और सूरदास' में मिलता है। सूर जैसा वात्सल्य-स्नेह का भावुक चित्रकार 'न भूतो न भविष्यति', यह धारणा भी श्री वियोगी हरि की है और सम्भवतः सभी पाठक इसी मत के होंगे। श्री वियोगी हरि की लेखनी जितनी पठनीय है उतनी ही सुशुचिपूर्ण और प्रभावशाली। 'अर्थ का प्रयोजन' शीर्षक से लिखी गयी कहानी बड़ी ही प्रभावो-

त्पादक है। इस कहानी में ब्राह्मण युवक के मुख से धर्म की व्याख्या इस प्रकार कराई गयी है, 'अपने समीप जो शक्ति, जो साधन, जो क्षमता है, उसके सदुपयोग का नाम धर्म है।' सचमुच यह व्याख्या कितनी यथार्थवादी है और आज के पथभ्रष्ट मानव के लिए कितनी सजीव।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का निबन्ध 'श्रीकृष्ण-जन्मभूमि अथवा कटरा केशवदेव' से श्रीकृष्ण की जन्म-भूमि के वास्तविक स्थल पर पूरा प्रकाश पड़ता है। इसमें इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि कटरा केशवदेव स्थित 'कृष्ण चवूतरा' ही श्रीकृष्ण की वास्तविक जन्मभूमि है। इस प्रकार यह स्मारिका भागवत-श्रवण-प्रतिष्ठा समारोह पर प्रकाश डालने के साथ-साथ एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक अभिलेख को प्रस्तुत करती है।

स्मारिका उन चार मन्दिरों के निर्माण पर प्रकाश डालती है, जिनके ध्वंसावशेष पुरातत्व की अमूल्य थाती के रूप में अब भी आकर्षण के केन्द्र बने हुए हैं। भगवान् का गर्भगृह जो कभी खण्डहरों में दबा पड़ा था, श्रीकृष्ण चवूतरे के जीर्णोद्धार के समय अकस्मात् खुदाई में प्राप्त हो गया और आज भी वह यात्रियों के दर्शनार्थ सुरक्षित है। स्मारिका में दी गयी चित्रावलियाँ स्वयं में अपना गौरव रखती हैं। श्रीकृष्ण-जन्मस्थान के जीर्णोद्धार का शुभारम्भ सर्वप्रथम स्वामी श्री अखण्डानन्दजी के श्रमदान से हुआ था और सम्बन्धित चित्र में पूज्यपाद श्री स्वामीजी फावड़ा चला रहे हैं। एक अलग चित्र में श्री बाबूलाल बजाज, श्री रूपकिशोर एवं श्री फूलचन्द खण्डेलवाल, श्रमदान करते दिखाये गये हैं। स्मारिका में निदेशक, राजकीय संग्रहालय, मथुरा के निदेशक द्वारा प्राचीन काष्ठ शिल्प का वर्णन सजीव है।

सेठ श्री रामकृष्ण डालमिया द्वारा निर्मित श्री केशवदेव मन्दिर के उद्घाटन अवसर पर श्री हनुमान-प्रसादजी पोद्दार के उद्गार अत्यन्त हृदयग्राही हैं। इस अवसर पर श्री पोद्दारजी ने कहा, हमारा बड़ा सौभाग्य है कि जिस भारतभूमि में भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए, उसी में आज हम भी जीवन धारण कर रहे हैं और तुच्छ मच्छर के अतन्त आकाश में उड़ने के सदृश उनके गुणगान का वह प्रयास कर रहे हैं। श्रीकृष्ण चवूतरे के जीर्णोद्धार

के अवसर पर श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने अपने सन्देश में कहा था, 'मथुरा शोक भूमि नहीं है।' भगवान् श्रीकृष्ण का जन्मस्थान भारत की जीवन शक्ति और दृढता का प्रतीक है, हमें इस पर गर्व करना चाहिए; प्रत्येक आक्रमणकारी ने इसको विध्वंस किया, परन्तु यह बार-बार उठ खड़ा होता गया।

स्मारिका श्री केशवदेव मन्दिर के प्रांगण में श्रीकृष्ण चबूतरा एवं गर्भगृह के दोनों ओर लगी वाटिका की छवि का वर्णन करती है। स्मारिका इस स्थल पर बने लीला-मञ्च पर भी प्रकाश डालती है। श्रीमती कृष्णादेवी डालमिया द्वारा निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय विश्राम-गृह और उसकी साज-सज्जा का विशद वर्णन भी स्मारिका में मिलता है। स्मारिका में स्पष्ट उल्लेख है कि 'भागवत भवन' निर्माण का संकल्प मन में कैसे उठा और किस प्रकार सेठ श्री जुगलकिशोर बिरला द्वारा निर्मित गीता मन्दिर मथुरा के तत्कालीन व्यवस्थापक श्री देवधर शर्मा के सुझाव को मानकर कटरा केशवदेव में ही 'भागवत भवन' के निर्माण का निश्चय किया गया। इसका शिलान्यास ११ फरवरी १९६५ को पूज्य माईजी के कर-कमलों द्वारा श्रीरामजी लालजी शास्त्री के आचार्यत्व में सम्पन्न हुआ।

स्मारिका में मथुरा के परवर्ती इतिहास पर भी प्रकाश डाला गया है। भागवत भवन के निर्माण कार्य में आयी कठिनाइयाँ और उनका निराकरण किस प्रकार

हुआ, इसका विशद वर्णन इस स्मारिका में मिलता है। भागवत भवन के विभिन्न मन्दिरों तथा तीन महान् आत्माओं, श्री जुगलकिशोर बिरला, महामना पं० मदन-मोहनजी मालवीय एवं श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार के चित्र न केवल आकर्षक अपितु प्रेरणादायक भी हैं। श्रीकृष्ण-शोधपीठ पुस्तकालय एवं बाल-गोपाल शिक्षा-सदन को चित्रों सहित प्रकाश में लाने का कार्य इस स्मारिका की विशेषता है। देश-विदेश के प्रमुख दर्शनार्थियों एवं जन्म-स्थली के विभिन्न आयोजनों का सचित्र वर्णन इस स्मारिका के प्रमुख आकर्षण हैं। श्री वियोगी हरि द्वारा लिखित 'श्री जुगलकिशोर बिरला' अनुपम है। श्री वियोगी हरि लिखते हैं; मुख पर सदा सौम्यता, प्रसन्नता एवं तेजस्विता, नेत्रों में छलछलाती दया व करुणा, अन्तर में सात्विकता तथा आर्यत्व के प्रति श्रद्धा व भक्ति-भावना, सत्पात्रों को कुछ-न-कुछ देते रहने की तत्परता, हिन्दू-धर्म और संस्कृति के प्रति सच्ची निष्ठा, बात के धनी, स्वाभाविक विनय-शीलता—यह रेखाचित्र है जुगलकिशोर बिरला का। मथुरा के घाटों एवं दर्शनीय स्थानों के चित्र बड़े ही मन-मोहक हैं। भागवत भवन-प्रतिष्ठा समारोह चित्रावली की अपनी अलग विशेषता है। सचमुच यह स्मारिका एक ऐसी थाती के रूप में हमारे सामने आती है जो पठनीय, मननीय तो है ही, साथ ही जो हमें अपने गौरवमय अतीत का स्मरण कराते हुए वर्तमान और भविष्य में भी हमारा पथ प्रदर्शन करने में समर्थ है।

ग्रन्थ सम्पादक

श्रीहितशरण शर्मा, एम ए०, साहित्यरत्न

प्रकाशक

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान : सेवा-संस्थान, कटरा केशवदेव, मथुरा

वेदान्त : एक जीवन दर्शन

श्रीमती शारदा सारस्वत

वेदान्त भारतीय संस्कृति का मूल आधार है। योग-वाशिष्ठ के अनुसार जब राजा राम को वैराग्य उत्पन्न हुआ तो गुरु वशिष्ठ ने उन्हें समझाया कि राम ! संसार का त्याग भगवत् प्राप्ति के लिए आवश्यक नहीं है। संसार और परमात्मा अलग-अलग नहीं हैं। इसी प्रकार युद्धक्षेत्र में अर्जुन के वैराग्य को भी कृष्ण ने कर्मयोग की शिक्षा देकर दूर किया था। हमारे देश का यह धर्ममूलक दर्शन ही हमारी सम्यक्ता व नीति को प्रभावित करता रहा है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना हमें वेदान्त से मिली है। अपना-पराया भूलकर प्राणी मात्र की मंगल कामना, हमारे देश की परम्परा है। चाहे हम किसी भी धर्म को मानते हों परन्तु दर्शन का घरातल एक ही है।

वेदान्त उपनिषद् की उपज है। उपनिषदों के अनुसार सांसारिक व स्वर्ग के सुख-स्थायी सुख नहीं हैं। स्थायी सुख की प्राप्ति केवल मोक्ष से ही संभव है। बिना अध्यात्म ज्ञान के मोक्ष पाना कठिन है। कर्म बन्धनों का अन्त केवल ज्ञान से संभव है और ज्ञान ही मोक्ष दे सकता है। 'एको पुत्रा द्वितीयो नास्ति' के अनुसार ईश्वर एक ही है, चाहे उसे विष्णु कहें या शिव। इसी परमात्मा को आद्य शंकराचार्य ने नारायण कहा है।

यह ईश्वरीय ज्ञान तो मन, हृदय और चेतना का विषय है। उसे जानने के लिए संसार छोड़ना जरूरी नहीं है। जीवन अनुभवों के लिए है, इसकी पूर्णता उपयोग से जुड़ी है। कामनाओं की तृप्ति त्याग से नहीं भोग से होती है। तृप्ति ही संन्यास है। प्रिय वस्तु के त्याग व घृणा की भावना से अभिभूत मन ईश्वर का समझने में असमर्थ है। जीवन की निराशा आलस्य व अकर्मण्यता जगाती है।

ऐसे व्यक्ति समाज के लिए बोझ बन जाते हैं। भ्रान्तियाँ जीवन को दिशाहीन कर देती हैं। कर्तव्यों को भुलाकर ईश्वर को पाने की बात करना स्वयं की मखौल उड़ाना है। 'मैं' और 'मेरा' भुलाकर, सत्य के बल पर जीया गया जीवन ही आध्यात्मिक ज्ञान का पात्र हो सकता है।

वेदान्त को मानने वाला और ठीक-ठीक समझने वाला अनुभव करता है कि परमात्मा मेरे अन्दर और बाहर विद्यमान है। "काग और गौरैया मेरे सगे सहादेर हैं, ये समुद्र और पर्वत मेरे समाज के हैं। जहाँ जहाँ तक देख पाता हूँ, सब मेरे बन्धु बांधव हैं"। मैं यह शरीर नहीं आत्मा हूँ।

आज हमारे सारे कष्ट इसी लिए तो हैं कि हमने अपने को शरीर से जुड़ा मान लिया है। हमें केवल उसी के सुख की चिन्ता है। यदि यह समझ लें कि हमारा जीवात्मा इन इन्द्रियों से लिप्त शरीर से अलग है तो सारी परेशानियाँ मिट जायें। इने समझने के लिए बुद्धि की जिज्ञासा हो काफी नहीं है। मन की पवित्रता भी चाहिए। केवल स्वच्छ पानी में ही अपना प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। जब आत्मा की शान्ति और संयम नष्ट हो जाते हैं तो आत्मा का अस्तित्व शरीर में खो जाता है। कामनाओं के वज्र उसे धुँधला कर देते हैं।

यह सुन्दर शरीर एक उपकरण है। जीवात्मा इसी के द्वारा संकल्प पूरे करता है। नवीन कर्म करता है। उसी प्रकार आत्मा भी परमात्मा का उपकरण है। इसी के द्वारा वह सृष्टि के विभिन्न अनुभव लेता और देता है। आत्मा में और सृष्टि के कण, कण में उसका निवास है। उस रहस्य को ठीक-ठीक जानना ऋषिमुनियों के ही बल-वृत्ते की

बात है। हमारे लिए केवल इतना ही काफी है कि यह शरीर आत्मा के लिए है। उसका हित-साधन ही इस जीवन का लक्ष्य है। हमारा अपना आत्मा से अलग कोई अस्तित्व नहीं, कोई मूल्य नहीं।

हर विचार कर्म में बदलता है। हर कर्म परिणाम देता है। यह प्रकृति का नियम है, यही विकास का रहस्य है। यह सृष्टि का विकास कर्मों का ही परिणाम है।

कर्म केवल भाग्य बनाता है यह सोचना गलत है। पिछले कर्मों का परिणाम वर्तमान है। जैसा बोया वैसा काटना है। परन्तु आज तो हम अच्छे बीज बोने को स्वतन्त्र हैं। जीवन की हर दुर्घटना भाग्य का फेर नहीं होगी। कर्म का परिणाम कभी-कभी तो तुरन्त मिलता है। हर घटना प्रकृति के अनुशासन से बँधी है। इस जीवन के कर्म, विचार व पश्चात्ताप हमारा चरित्र बनाते हैं। यह चरित्र प्रभु के बाद भी आत्मा से जुड़ा रहता है। अगले जीवन की प्रकृति उसी आधार पर बनती है। यही विकास का क्रम है। पुराना हिसाब आगे बढ़ता है जिसे साफ करने को हर समय स्वतन्त्र हैं। हमारी संस्कृति की ये धारणाएँ अवैज्ञानिक नहीं हैं। जिस प्रकार छोटा सा कंकर फेंकने से पानी में लहर उठती है और गोल फेरा बनाती बढ़ती जाती है, उसी तरह मन का छोटे से छोटा विकार, कम्पन विश्वशान्ति को प्रभावित करता है। वेदान्त का उद्देश्य विश्व का विकास और कल्याण है। हम सब भावी जगत् के निर्माता हैं। यदि हम सब शुभ विचारों से प्रेरित कर्म में रत रहें तो आने वाली पीढ़ी भी अपने स्वरूप कर्म और विचारों में उन्नत होगी।

यही चिर आनन्द व मोक्ष का मार्ग है। मोक्ष कोई लोक या स्थान नहीं है, यह एक अवस्था है। सारे भेदभाव का अन्त होने पर ही यह स्थिति उपजती है। जिस तरह नौद आने पर इन्द्रियाँ आत्मा में खो जाती हैं उसी तरह सारे विकारों का अन्त आत्मा को परमात्मा में मिला देता है।

हमारे ऋषि-मुनि इन्हीं रहस्यों की खोज में वन-गमन करते थे। वहाँ आश्रम बना कर वे सपरिवार रहते थे। निर्जन क्षेत्र की असीम शान्ति में अध्ययन, चिन्तन, मनन

व साधना सरल रहती थी। कम-से-कम में जीवन यापन करते और लोक-कल्याण के लिए सुख-शान्ति का मार्ग खोजते वे स्वयं सब ओर से निर्लस हो जाते थे। हमारे धर्मशास्त्र और दर्शन की ये उपलब्धियाँ उन्हीं के उपायों के परिणाम हैं।

परन्तु हर युग की आवश्यकताएँ उसकी परिस्थितियों के आधार पर बनती हैं। उसी के अनुसार धर्म-कर्म के रूप बदलते हैं। आज का समय चिन्तन नहीं कर्म का है। प्राचीन चिन्तकों के एकान्त जीवन को हमने जीवन से पलायन समझ लिया है। जीवन को क्षणमञ्जर मान कर हम या तो सौतिकता में डूब गये या जीवन से निराश हो गये।

इसी निराशा से हमें शंकराचार्य ने उबारा था। अहम् ब्रह्मस्मि की बात कह कर उन्होंने हमें कर्म की प्रेरणा दी। 'हम अमृत के पुत्र हैं' का विश्वास जगाकर उन्होंने हमें फिर उठाकर खड़ा कर दिया। यही वेदान्त का सार है। कर्म से ही अपना व संसार का कल्याण है।

वेदान्त एक कर्मदर्शन है। जिम्मेदारियों से भाग कर किसे ईश्वर मिला है। हम बुद्ध का उदाहरण दें तो उनके पलायन ने उन्हें अनात्मवाद, अनीश्वरवाद और जीवन की क्षणमञ्जुरता की निराशा दी है। ऐसी मन स्थिति से कौन कर्म के लिए प्रेरित होगा? वेदान्त जीवन को भरपूर जीने को प्रेरणा देता है। मृत्यु का भय इसमें कहीं नहीं है। मृत्यु तो जीवात्मा की यात्रा का एक पड़ाव है। इस पड़ाव से ही कर्म-क्षेत्र में परिवर्तन होता है। जीवन तो सर्वभूत हिते रतः के निमित्त है। जगत् को मिथ्या और भ्रम मान कर उसका अनादर नहीं करना है। विश्व से ईश्वर की एकात्मकता ही जीवन को ईश्वर से जोड़ती है।

वेदान्त का दर्शन जानने के लिए अपनी चेतना को जगाना जरूरी है। उपजाऊ भूमि में ही बीज अंकुरित होते हैं। कर्म-काण्ड के जाल में बँधा जीवन इस दर्शन को बड़ी कठिनाई से झेल पाता है। भ्रम जाल में उलझे संसार-त्यागियों ने धर्म को व्यवसाय बना लिया है। इसके [शेष पृष्ठ ३२ पर]

काशी मुमुक्षु भवन समा-समाचार

जुलाई-अगस्त १९८२

देवस्थान पूजा स्थायीकोष

श्रीविजयकृष्ण अग्रवाल, चुनार २१०१.००

मुमुक्षु (आजीवन सदस्यता) ३५१.००

श्रीनन्दकिशोर सिंहल, बम्बई
श्रीहरिराम अजितसरिया, गौहाटी
श्रीकमलकुमार कानोड़िया, कलकत्ता
श्री एस. के. राजगढ़िया, कलकत्ता

मुमुक्षु (सहयोगी)

श्रीकमलाकान्त तिवारी, कलकत्ता ने
१७ ग्राहक बनाये।
श्रीगम्भीर सिंह पी. जादेजा भावनगर ने
१० ग्राहक बनाये।
श्रीहरिराम अजितसरिया, गौहाटी ने
५० ग्राहक बनाये।

स्थायी-भंडारा कोष

श्रीगोबर्धनदास जालान, कलकत्ता (कच्चा)
कमला चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता (कच्चा)
श्रीरामअवतार सराफ ,, (कच्चा)

अन्नक्षेत्र स्थायी कोष

श्रीपीरामल रामजीवन, बाँकुड़ा
द्वारा श्रीनन्दलाल सुहासरिया ५०००.००
कमला चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता ११००.००
श्रीचुन्नीलाल टीबड़ेवाल, हवड़ा ११००.००

उत्तर काशी अन्नक्षेत्र

कमला चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता ११००.००

मुमुक्षु भवन आयुर्वेदिक दातव्य औषधालय

कमला चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता के सहयोग से
स्थायी कोष हेतु २०.०००.००
मासिक सहायता १.०००.००
स्थापना हेतु २.५००.००

स्थायी भंडारा

कच्चा भंडारा हेतु १२५०.०० और पक्का भंडारा
हेतु ३०००.०० जमा कराने पर इस राशि की एफ. डी.
बैंक में बनवाली जाती है और इससे प्राप्त व्याज की
आय से वर्ष में एक दिन निश्चित तिथि को दाता की
ओर से ईश्वर मठ के स्वामियों को भंडारा करा दिया
जाता है।

- श्रीमती यशोदा देवी, मुमुक्षु भवन (कच्चा) १३.७.८२
- ब्रह्मीभूत स्वामी ईश्वरानन्दजी तीर्थ की आराधना
(कच्चा) १५.७.८२
- श्रीगोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता (कच्चा) २०.७.८२
- स्वामी विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती (जजस्वामी)
(कच्चा) २२.७.८२
- श्रीमती यशोदा देवी, मुमुक्षु भवन (कच्चा) २.८.८२
- श्रीगोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता (कच्चा) १९.८.८२

अस्थायी भंडारा

- श्रीमती रक्मिणी बाई, मुमुक्षु भवन (कच्चा) ६.७.८२
- श्रीमती जान्हवी देवी, गाजीपुर (पक्का) १२.७.८२
- श्रीबाबूलाल सराफ, कलकत्ता (कच्चा) २३.७.८२
- श्रीमती श्यामा देवी सिन्हा, पटना (कच्चा) २४.७.८२
- श्रीस्वामी रामानन्द तीर्थ, देवरिया (पक्का) २५.७.८२

६. श्रीसत्यनारायण उपाध्याय, गाजीपुर (कच्चा) १९.७.८२
 ७. श्रीमती यशोदादेवी केडिया, वाराणसी १.८.८२
 ८. श्रीमती सरस्वतीदेवी पोद्दार ,, ४.८.८२
 ९. श्रीमती गिरी देवी जैन, वाराणसी (कच्चा) १०.८.८२
 १०. श्रीमती कमली बाई जालान,

वाराणसी (कच्चा) १३.८.८२

११. श्री स्यामलाल प्रभाकर, नई दिल्ली (पक्का) १६.८.८२
 १२. श्री नौरङ्गलाल अग्रवाल, लखनऊ (पक्का) १७.८.८२
 १३. श्री केशवप्रसाद त्रिपाठी, बाँदा (कच्चा) १८.८.८२
 १४. श्री रामदत्त जी अग्रवाल, हिसार (कच्चा) २०.८.८२
 १५. श्री वृजलाल खेमका, वाराणसी (कच्चा) २१.८.८२
 १६. श्री गायत्रीस्वरूप ब्रह्मचारी,

मुमुक्षु भवन (कच्चा) २३.८.८२

मन्दिर

स्वामी गणेश्वरानन्द जी तीर्थ, स्वामी कपिलदेवानन्द

जी तीर्थ तथा स्वामी विष्णुदेवाश्रमजी द्वारा नियमित कथा प्रवचन, श्रावणोत्सव, जन्माष्टमी महोत्सव, राधाष्टमी उत्सव, रुद्राभिषेक । एक मास तक ब्रज के भक्तों द्वारा रासलीला ।

वितरण

१. श्रीरामकुमार बजाज द्वारा प्रति एकादशी को फल आदि ।
 २. बाढ़ के समय तुलसी मानस मन्दिर द्वारा आवासियों को पूड़ी-साग ।

भुवालका जन-कल्याण ट्रस्ट के सहयोग से
 सञ्चालित होमियोपैथिक चिकित्सालय

जुलाई—नये रोगी ५१४, पुराने रोगी ३१३७

अगस्त—नये रोगी ४८३, पुराने रोगी २३३६

(बाढ़ के कारण रोगी नहीं आ सके)

[पृष्ठ २३ का शेषांश]

की प्रक्रिया में डाल देते हैं । देश और समाज के हित में संकुचित मनोवृत्ति से काम न लेकर विशाल हृदय से काम लेना सबके लिए हितकर होता है । भाषा का सम्मन जहाँ तक समाज के संगठन को दृढ़ करने के लिये किया जाय वहाँ तक तो ठीक है लेकिन उसके द्वारा राजनैतिक हित साधन करना अनुचित है । इसी प्रकार प्रादेशिकता को भी राजनैतिक लाभ के लिये उमाड़ना अहितकर है ।

व्यक्ति की महात्वाकांक्षा की सीमा नहीं है । कहा है—

इच्छति शती सहस्र, सहस्री लक्ष्मीहते ।

लक्षाधिपः तथा राज्यम् राज्यात् स्वर्गमीहते ॥

इच्छाओं को संयत रखना सहज नहीं उनका बढ़ते रहना यह मानव प्रकृति है लेकिन उनकी प्राप्ति के लिए अनैतिकता का सहारा लेना ही मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है । समाज में उनकी अनैतिकता को सराहना नहीं मिलती, मले ही कुछ लोग उसके आर्थिक या राजनैतिक सामर्थ्य का लाभ उठाने हेतु उसका सम्मान करते

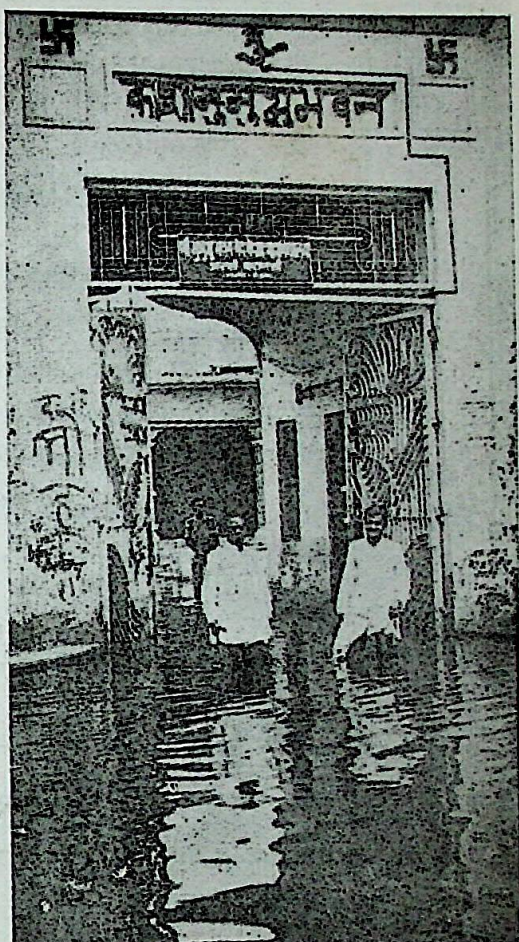
रहें । उसकी मान्यता समाज में स्वार्थ के बचीभूत होकर होती है । यदि वही व्यक्ति उन सामर्थ्यों से हीन हो जाय तो भी क्या समाज उसका सम्मान उसी प्रकार करेगा ? क्या वह मान्यता स्थायी रहेगी ? यदि नहीं तो क्यों ?

व्यक्ति की मान्यता का आधार नैतिकता होने से यह स्थिति नहीं बन सकेगी । यदि समाज में नैतिकता का प्रभाव विस्तृत करना है तो इसी को व्यक्ति की मान्यता का मापदण्ड मान कर चलने से समाज और साथ ही व्यक्ति का भी उत्थान होगा । इसी मार्ग पर चलते हुए मर्यादाओं की प्रतिष्ठा होगी, व्यक्ति कर्तव्य परायण होकर सहृदयता एवं सहिष्णुता के साथ समाज में व्याप्त अज्ञान, अन्याय और अभाव की पीड़ा को दूर करने में सक्षम हो सकेगा । चारित्रिक विकास के साथ सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठापना भी संभव है । व्यक्ति के गुण-कर्मों का विकास जितना अधिक होगा उसकी मान्यता भी उतनी ही अधिक होगी । भगवान् वेदव्यास ने कहा है—

धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ।

काशी में भीषण बाढ़

चार वर्ष के अन्तराल के पश्चात् पुनः इस बार काशी में गंगा अपने तट-बंधों को तोड़ती हुई नगर में प्रवेश कर गई। सन् १९४८ की बाढ़ से १९७८ की बाढ़ बढ़कर थी और इस बार की बाढ़ १९४८ से अधिक और १९७८ से कम थी। २० अगस्त से ६ सितम्बर तक इसका प्रभाव बना रहा। अस्सी, लंका और नगवा क्षेत्र में इसका विशेष प्रभाव रहा। गोदौलिया, लक्सा, गुरुबाग, रामापुरा सभी तरफ जल भर गया। १९७८ में वेग से जल आया और वेग से निकल गया, किन्तु इस बार धीरे-धीरे बढ़ा और धीरे-धीरे घटा। मुमुक्षु भवन परिसर में जल प्रवेश कर गया। किन्तु भवन के कक्ष जल से अछूते रहे। भवन-परिसर के दक्षिण में नाले की तरफ काफी मिट्टी डलवाई गयी थी इस कारण बाढ़ का जल भवन में प्रवेश नहीं कर सका। मुख्य द्वार पर छाती तक जल भर गया था। अस्सी से नौका द्वारा आवागमन होता था। मुमुक्षु भवन के समस्त आवासियों के लिए आवश्यक सामग्री की व्यवस्था कर दी गयी थी।



‘मुमुक्षु’ का यज्ञ-विशेषांक

काशी मुमुक्षु भवन सभा ने अपने मुख्य परिसर में शास्त्रीय विधि से एक यज्ञ-मण्डप का निर्माण कराया है जिसके चारों ओर चारों वेदों की मूर्तियाँ स्थापित की गयी हैं। इसके उद्घाटन के उपलक्ष्य में ‘मुमुक्षु’ का लगभग १६० पृष्ठों का एक सचित्र विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है।

जिसमें

‘यज्ञ’ की व्युत्पत्ति, परिभाषा, प्रकार, उनके दृष्ट और अदृष्ट फल तथा विधियों का विस्तारपूर्वक विवेचन होगा। ऋत्विजों, वैदिक आचार्यों तथा इस विषय में रुचि रखनेवालों के लिए यह विशेषांक विशेष रूप से संग्रहणीय होगा।

इन विषयों के अधिकारी विद्वानों के लेख तथा सुझाव सादर आमन्त्रित हैं।

—सम्पादक, ‘मुमुक्षु’
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी-५

With best compliments from :

Gram : ROCKETPLY
CALCUTTA

Phone: 22-0713
22-4061
23-5804

WOOD CRAFT PRODUCTS LIMITED

9/1. R. N, Mukherjee Road.

Birla Building, 7th Floor,

Calcutta-700 001

Manufacturers & Exporters :

Rocketply, Commercial Plywood, Decorative Plywood,

Block Board & Flush Doors

Plywood Works :

P. O. Jeypore

Dist Dibrugarh

Upper Assam

CALCUTTA PLYWOOD MANUFACTURING COMPANY

P. O. Ledo

Dist. Dibrugarh

Upper Assam

MIKIR HILLS SAW & PLYWOOD FACTORY

P. O. Diphu

Dist. Karbi Anglong

(Assam)

[पृष्ठ २८ का शेषांश]

विरीत संसार में रहकर अपने दायित्वों को निमा कर ईमानदारी से जीने वाले लोग इसे सरलता से समझ लेते हैं।

वे जानते हैं, संसार विराट पुरुष का ही रूप है। जीवन में सबको प्यार करते, दूसरों के लिए जीते और कर्म करते-करते यह दृष्टि अपने आप उत्पन्न हो जाती है। अपने-पराये के भेद दूर हो जाते हैं। अपना स्वरूप स्वयं स्पष्ट होने लगता है। आत्मा की भूख स्वार्थपूर्ति से शान्त नहीं होती। व्यक्ति अपने लिए नहीं, अपने प्रिय-पात्रों के लिए जीता है। परिवार में बैठकर हमें गांव की, देश की चिन्ता होती है। दूसरों की छाया के लिए हम पेड़ लगाते हैं, प्यास के लिए कुएं खोदते हैं। मोक्ष शब्द से अनजान आदमी भी दूसरों के लिए कष्ट सहते देखा जाता है। देश हित के लिए लोग मर मिटते हैं। इस सब के पीछे कौन सा दर्शन है। केवल आत्मा की तृप्ति

का प्रयास है। यही वास्तविक आनन्द है।

सूर्य गर्मी देता है, बादल वर्षा करते हैं, जीवों के संयोग से जन्म और चेतना के अन्त से मृत्यु होती है। सारी प्रकृति उसी की है। इस सबको मिथ्या कहकर भागना ईश्वर से विमुख होना है। परमात्मा ने कर्म की स्वतन्त्रता व सामंथ्य दी है। इस पुरस्कार को भुलाकर केवल इन्द्रिय तथा भौतिक सुखों में जीवन को नष्ट कर देना भारी भूल होगी।

भावी जीवन के विश्राम का ध्यान रखकर अपने व्यग्रहार व कर्म निश्चित करना व संसार की उन्नति में, निर्माण में योग देना ही वेदान्त दर्शन है। इस जगत् के विकास का दायित्व हमारे कंधों पर है। हम प्रकृति के अङ्ग हैं, पीढ़ियों का विकास व मानवता का निखार हमारे कर्मों पर ही निर्भर होगा।



रामकथा का अन्वेषक नहीं रहा

फादर कामिल बुल्के का १७ अगस्त १९८२ को दिल्ली में हृदय गति रुक जाने से ७३ वर्ष की अवस्था में निधन हो गया। बेल्जियम में जनमे फादर बुल्के ने अपने जीवन का अधिकांश समय (४७ वर्ष) भारत में बिताया। हिन्दी तथा संस्कृत भाषा का अध्ययन करते हुए भारतीय वाङ्मय तथा संस्कृति का गहन अध्ययन किया और प्रयाग विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० कर राम-कथा के स्रोत तथा विकास पर शोध कर राम-कथा के बिखरे सूत्रोंको एकत्र किया। जो कार्य किसी भारतीय को करना चाहिए था वह उन्होंने किया। वे सही माने में सन्त थे। उनका अँगरेजी-हिन्दी कोश विश्व-विश्रुत है और उनके निष्ठावान व्यक्तित्व का परिचायक है। भारत सरकार ने उन्हें पद्मभूषण से अलंकृत किया। मुझे उनका अपार स्नेह प्राप्त था। जब भी काशी आते थे मेरे यहाँ अवश्य पधारते थे। एक बार मैं उनके राँची स्थित मानेरसा हाउस में उनसे मिलने गया। उनको सूचना भेजकर बाहर दरामदे में बैठ गया। उनको आने में थोड़ी देर हुई, आते ही बोले, “मैंने बाइबिल का हिन्दी अनुवाद किया है उसका प्रूफ देख रहा था, कहीं कोई अशुद्धि न रह जाय नहीं तो मेरे प्रभु मुझ से नाराज हो जायेंगे, इसलिए मुझे आने में विलम्ब हुआ, क्षमा करेंगे।” उनकी निष्ठा, उनकी सरलता, उनकी सहृदयता हर एक के मन में बसी हुई है। उनकी पवित्र स्मृति मुझे पुलकित और प्रेरित करती रहती है। उन्हें निश्चय ही भगवान् का सायुज्य प्राप्त होगा ‘मुमुक्षु’ परिवार की ओर से उनके प्रति हार्दिक श्रद्धाञ्जलि। —पु० दा० मो०

कमला चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता के सहयोग से नव-स्थापित

मुमुक्षु भवन आयुर्वेदिक दातव्य औषधालय

कमला चैरिटी ट्रस्ट, ७ लायन्स रेञ्ज, कलकत्ता के ट्रस्टी सर्वश्री रघुनन्दनप्रसाद जी डालमिया तथा श्यामसुन्दर जी डालमिया ने अत्यन्त कृपा पूर्वक मुमुक्षु भवन में आयुर्वेद चिकित्सा के प्रेमियों के लिए आयुर्वेदिक दातव्य चिकित्सालय की स्थापना हेतु बीस हजार रुपये का स्थायी कोष प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त ट्रस्ट से प्रति मास एक हजार रुपये मासिक प्रदान करते रहेंगे। स्थापना में जो व्यय होगा वह भी ट्रस्ट बहन करेगा। कांशी मुमुक्षु भवन सभा के समस्त पदाधिकारियों तथा सदस्यों की ओर से डालमिया जी तथा उनके परिवार के समस्त सदस्यों के प्रति आभार।

Jaykaylon

जे. के. सिन्थेटिक्स लि.

रजि० ऑफिस : कमला टावर, कानपुर फैक्ट्री : कोटा : (राज.)



निर्माता:

नायलॉन एवं पोलियेस्टर, मोनो एवं मल्टीफिलामेंट धागे वार्पनिटिंग, बुनाई और होजरी के लिए, मछली के जाल तथा औद्योगिक व सुरक्षा के प्रयोग के लिए मजबूती से बटे हुए धागे, पोलियेस्टर स्टेपल फाइबर, नायलॉन टायर कार्ड, ऐक्रोलिक फाइबर तथा सीमेंट इत्यादि

डिवीजन

नायलॉन डिवीजन, कोटा

जे०के० स्टेपल एण्ड टोज, कोटा

जे०के० ऐक्रोलिक्स, कोटा

जे०के० टायर कार्ड, कोटा

सिन्थेक्स ट्यूब वक्स (काप डिवी.) कानपुर

जे०के० सीमेंट वक्स, निम्बाहेड़ा

फाबरटेक इन्जीनियर्स एण्ड मैन्युफैक्चरर्स,
दादरो, गाजियाबाद

निर्माता

नायलॉन पालिएस्टर मोनो एण्ड
मल्टीफिलामेंट धागेनायलॉन एवं पोलिएस्टर स्टेपल रेशे और टोज
ऐक्रोलिक टोज ऊनी और सूती प्रणाली के लिएनायलॉन यार्न कार्ड और औद्योगिक
टायर प्रयोग के कपड़े

मेटेबिक काप्स

पोर्टलैंड सीमेंट

केमिकल प्लांट्स तथा मानव निर्मित रेशा
उद्योग के लिए मशीनरी

विक्री कार्यालय :

कानपुर, बम्बई, सुरत, दिल्ली, लुधियाना,
अमृतसर, वाराणसी कलकत्ता, सलेम और अहमदावाद

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए श्री पुष्पोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित
तथा आनन्दकानन प्रेस, वाराणसी में मुद्रित ।

